एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
मुख्य कार्यालय . रामनगर, नई दिल्ली-११००५५
शोरूम ४/१६-बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२

शाखाएँ :

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ-२२६००१
२८५/जे, विपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट
कलकत्ता-७०००१२
मुल्तान बाजार, हैदराबाद-५००००१
ब्लैकी हाउस,
१०३/५, वालचन्द हीराचन्द मार्ग,
बम्बई-४००००१
खजाची रोड, पटना-८००००४

माई हीरा गेट, जालन्धर-१४४००८
१५२, अन्ना सलाए, मद्रास-६००००२
३, गाँधी सागर ईस्ट,
नागपुर-४४०००२
के० पी० सी० सी० बिल्डिंग,
रेसकोर्स रोड, बंगलौर-५६०००६
६१३-७, महात्मा गांधी रोड,
एर्नाकुलम, कोचीन-६८२०३५

मूल्य : १२० ००

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली-११००५५ द्वारा प्रकाशित तथा
राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर नई दिल्ली-११००५५ द्वारा मुद्रित ।

प्राक्कथन

लगभग ३५ वर्षो से हिन्दी साहित्य मे शोध-कार्य का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। हिन्दी साहित्य के प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण रचनाओ का सृजन हो रहा है। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यालोचन के आधार पर हिन्दी साहित्यालोचन के विविध रूपो का विशिष्ट तथा व्यवस्थित रूप मे अध्ययन किया गया है। अब तक के स्वीकृत तथा प्रकाशित शोध-प्रबन्धो ने साहित्यालोचन के अध्ययन की विविध दिशाओ मे पर्याप्त प्रगति की है। ये शोध-प्रबन्ध मूलत दो प्रकार के है एक तो वे जिनमें सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष का युगपद् अध्ययन रहता है, दूसरे वे जो केवल आधुनिक हिन्दी-आलोचना के क्रम-विकास के विभिन्न रूपो का विवेचन प्रस्तुत करते है।

प्रथम वर्ग मे प्रयाग विश्वविद्यालय से १९३७ में डी० लिट् के लिए स्वीकृत डा० राम शकर शुक्ल 'रसाल' का "हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास", लखनऊ विश्वविद्यालय से पीएच० डी० के लिए १९४७ मे स्वीकृत डा० भगीरथ मिश्र का "हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास", आगरा विश्वविद्यालय से पीएच० डी० के लिए १९५१ मे स्वीकृत डा० भगवतस्वरूप मिश्र का "हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास" तथा दूसरे वर्ग में पीएच० डी० के लिए डा० राज किशोर कक्कड के आगरा विश्वविद्यालय से १९५७ में स्वीकृत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना का विकास—सन् १८६८ से सन् १९४३ तक" के अतिरिक्त काशी विश्वविद्यालय से १९५७ मे स्वीकृत डा० राम दरश मिश्र का "आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तिया", राजस्थान विश्वविद्यालय से १९५९ मे स्वीकृत डा० वेंकट शर्मा का "आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास", दिल्ली विश्वविद्यालय से १९५९ मे स्वीकृत डा० सुरेशचन्द्र गुप्त का "आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्य सिद्धान्त", बिहार विश्वविद्यालय से १९६० मे स्वीकृत डा० हरिमोहन मिश्र का "आधुनिक हिन्दी आलोचना", सागर विश्वविद्यालय से १९६१ मे स्वीकृत डा० रामाधार शर्मा का "हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना का विकास" आदि शोध प्रबन्ध आते है।

प्रथम वर्ग के शोध-प्रबन्धो मे से पहले का सम्बन्ध अधिकाशत अलकार-सम्प्रदाय के विवेचन से है, दूसरे मे हिन्दी काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तो का पाडित्यपूर्ण अध्ययन है तथा तीसरे मे भारतीय साहित्य-शास्त्र की विस्तृत भूमिका देकर हिन्दी साहित्यालोचन का प्रवृत्तिगत अध्ययन किया गया है। दूसरे वर्ग मे या तो सामान्य रूप मे काल-क्रमानुसार अथवा समीक्षा की विभिन्न शैलियो के आधार पर आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियो

का अध्ययन किया गया है, जैसे डा० राम दरश मिश्र तथा डा० वेकट शर्मा के शोध-प्रवन्धो मे या आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्य सिद्धान्तो का अध्ययन हुआ है, जैसे डा० सुरेश चन्द्र गुप्त के शोध-प्रवन्ध मे।

अभी हिन्दी आलोचना के ऐतिहासिक क्रम-विकास का सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन इतने सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक तथा वस्तु-निष्ठ रूप मे प्रस्तुत नही हो सका है, जितना पाश्चात्य जगत् मे पाश्चात्य-समालोचना का हुआ है। यद्यपि उपयु्क्त शोध-प्रबन्धो ने इस दिशा मे पर्याप्त मूल्यवान योगदान दिया है फिर भी अभी भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा के सदर्भ मे हिन्दी काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष की उपलब्धियो का उचित आकलन होना शेष है। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्पराओ तथा उपलब्धियो का तुलनात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्यालोचन पर उसके प्रभाव, भारतीय काव्यसम्प्रदायों की पृथक्-पृथक् वस्तु-समीक्षा, इन सम्प्रदायो का परस्पर तुलनात्भक अध्ययन तथा आधुनिक हिन्दी-आलोचना के सदर्भ मे इन सम्प्रदायो के विकास का पूर्ण तथा सर्वाङ्गीण अध्ययन अभी होना है। इसी प्रकार सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के एक साथ मिश्रित अध्ययन की अपेक्षा उनका पृथक्-पृथक् वैज्ञानिक तथा समग्र रूप मे अध्ययन भी होना शेष है।

डा० राज किशोर कक्कड ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे स० १९२५ से स० २००० तक व्याप्त आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे आलोचना के विकास का अध्ययन काल-क्रम, आलोचक तथा आलोचना की विभिन्न शैलियो को आधार मान कर, परम्परागत सरणियो से नही किया है। इन्होने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण रूपो मे विषय को विभाजित कर, अपने अध्ययन को मूल्यवान बना दिया है।

१ आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे काव्य के अन्तरग तथा बहिरग स्वरूप का निरूपण करने वाले भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायो का विकास।

२ आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे साहित्य तथा उसके विविध रूपो की आलोचना का विकास।

३ आधुनिक हिन्दी मे व्यावहारिक आलोचना का विकास।

४ हिन्दी-साहित्य के इतिहासो मे विभिन्न आलोचना-सम्बन्धी प्रवृत्तियो का विकास।

५ आधुनिक हिन्दी के आलोचको की आलोचना-सम्बन्धी मान्यताओ का अध्ययन।

लेखक ने आठो काव्य-सम्प्रदायो के ऐतिहासिक क्रम-विकास का पृथक्-पृथक् विवेचन तथा विश्लेपण आधुनिक हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के विवेकपूर्ण अध्ययन से उपलब्ध मौलिक तत्त्वो के आधार पर किया है। इन सम्प्रदायो के विकास-क्रम के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत उनके मूलभूत तत्त्वो पर पडने वाले भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्या-लोचन के विभिन्न सिद्धान्तो तथा तत्त्वो के प्रभावो का भी गम्भीरता के साथ अध्ययन किया गया है। लेखक की मान्यता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्पराओ तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के कतिपय प्रभावो के पडने पर भी आधुनिक हिन्दी मे इनका विकास

हिन्दी के निजी रचनात्मक साहित्य के विशेष योगदान के फलस्वरूप एक मौलिक तथा विशिष्ट रूप में हुआ है। यह इस प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण अश है।

साहित्य और उसके विविध रूपो कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक तथा एकाकी से सम्बन्धित आलोचना के स्वरूप-विकास का विवेचन इस शोध-प्रबन्ध मे व्यवस्थित रूप में किया गया है। यह अध्ययन यद्यपि हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य के आधार पर किया गया है तथापि भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के प्रभावो का आकलन भी इसमें मिलता है। साथ ही व्यावहारिक आलोचना के अध्ययन के अन्तर्गत आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियो तथा व्यक्तिगत विशिष्टताओ के अतिरिक्त हिन्दी आलोचकों के आलोचना-सम्बन्धी विशिष्ट दृष्टिकोणो को स्पष्ट करने का लेखक ने सफल प्रयास किया है।

लेखक का विचार है कि साहित्य के इतिहास का मूलाधार आलोचना ही है। इतिहास की रूपरेखा का निर्माण, उसका मूल्याकन, काल-विभाजन की समीक्षा, प्रवृत्तियो तथा परम्पराओ का विवेचन, इतिहासकारो के विशिष्ट आलोचनात्मक सिद्धान्तो तथा दृष्टिकोणो पर निर्भर है। इसलिए उसने इस शोध-प्रबन्ध मे हिन्दी-साहित्यालोचन मे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो के आलोचनात्मक दृष्टिकोणो, सिद्धान्तो, आधारो, समस्याओ तथा स्थापनाओ का विवेचन कर, साहित्य के इतिहास के आलोचनात्मक अध्ययन को एक नये ढग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य मे आलोचना के स्वरूप के विभिन्न अगो के विवेचन के अन्तर्गत, लेखक ने यह मत व्यक्त किया है कि ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि आलोचनाए आलोचना के स्वतन्त्र भेद न होकर केवल व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक शैलिया मात्र है। हिन्दी के अधिकाश आलोचको की भाति वह अभिव्यजनावादी, यथार्थवादी, सौष्ठववादी तथा प्रगतिवादी आदि प्रवृत्तिमूलक आलोचनाओ को भी आलोचना के स्वतत्र भेद के रूप मे न अपना कर केवल उन्हे साहित्य के विशिष्ट रूप तथा परिवर्तनशील प्रवृत्तिया मात्र मानता है, जिनके आधार पर निर्णयात्मक आलोचना प्राय अपना कार्य सम्पादित करती है।

डा० कक्कड से मेरा प्रथम परिचय मेरठ तथा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के एक लोकप्रिय कवि के रूप मे लगभग ३५ वर्ष पूर्व हुआ था। तभी से मेरा उनके जीवन की गतिविधि से निकट सम्पर्क बना हुआ है। वे इस समय उत्तर-प्रदेश सरकार की हिन्दी-समिति तथा अन्य कतिपय समितियो के सदस्य है और भारत सरकार की हिन्दी सलाहकार समिति तथा उसके कार्यकारी दल के आमन्त्रित सदस्य रह चुके है। इसी बीच उन्होने साहित्य के साथ साथ सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक फलित-ज्योतिष को भी अपने अध्ययन तथा चिन्तन का विषय बना लिया है। मुझे इस विषय का विशेष ज्ञान नही है, किन्तु यह सर्वविदित है कि इस क्षेत्र में उनके कृतित्व को काफी मान्यता प्राप्त हुई है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन तथा चिन्तन का परिणाम है। आधुनिक हिन्दी आलोचना के विकास के महत्त्वपूर्ण रूपो के वस्तुनिष्ठ अध्ययन तथा पुष्ट प्रमाणो पर आधारित अपने स्वतत्र निष्कर्षो

निवेदन

"आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना का विकास—सन् १८६८ से सन् १९४३ तक" नामक ग्रन्थ मेरे आगरा विश्वविद्यालय से १९५७ में पीएच० डी० के लिए स्वीकृत, इसी शीर्षक के शोध-प्रबन्ध का सशोधित रूप है। इस विषय पर कार्य करने की अनुमति यद्यपि मुझे सन् १९४५ मे ही प्राप्त हो गई थी, तथापि यह शोध-प्रबन्ध वास्तव मे सन् १९५२ मे सन् १९५६ के बीच मे ही लिख कर पूर्ण हो सका। इसके विलम्ब से लिखे जाने तथा प्रकाशित होने के कारणो में से, साहित्यिक अध्ययन तथा अध्यापन के अतिरिक्त, मेरा फलित-ज्योतिष के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष के अध्ययन तथा चिन्तन मे अनवरत सलग्न रहना भी एक प्रमुख कारण है। मेरा विचार है कि इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु, विवेचन-विश्लेषण तथा स्थापनाओ की मौलिकता पर इसके विलम्बित प्रकाशन का कोई विशेष प्रभाव नही पडा है, क्योकि आलोचना सम्बन्धी अन्य प्रकाशित शोध-प्रबन्धो से इसकी दिशा प्राय भिन्न है।

इस ग्रन्थ की रूप-रेखा, आकार-प्रकार, विषय-वस्तु-विवेचन सम्बन्धी कठिनाइयो को दूर करने मे मुझे देश के जिन गण्यमान्य विद्वानो से सहायता प्राप्त हुई है, मैं उन सब के प्रति आदरपूर्वक अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हू। स्व० प० नन्द दुलारे वाजपेयी जी की स्नेहपूर्ण प्रेरणा ने सदैव ही इस ग्रन्थ के लेखन तथा प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया था, किन्तु दुर्भाग्य से आज इसके प्रकाशन के अवसर पर, यह उनके प्रत्यक्ष आशीर्वाद से वचित है। स्व० प० कृष्णानन्द पत, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ, के कुशल तथा स्नेहपूर्ण निर्देशन मे मैंने इस शोध-कार्य को सम्पन्न किया था, किन्तु आज वे भी इस ससार मे नही है। इसलिए इस अवसर पर उनकी पावन स्मृति के चरणो पर, मै अपनी कृतज्ञता तथा श्रद्धा के सुमन चढाता हू। इसके अतिरिक्त, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डा० दीन दयाल गुप्त, प० विश्व नाथ प्रसाद मिश्र प० अयोध्या नाथ शर्मा, डा० मुशी राम शर्मा, डा० हरवश लाल शर्मा, डा० केशरी नारायण शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र, डा० राम कुमार वर्मा, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय आदि अनेक विद्वानो से मुझे सब प्रकार की प्रेरणा, सम्मति तथा सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिए मैं उन सब का हृदय से अत्यत आभारी हू। बन्धुवर डा० ससार चन्द्र तथा डा० नित्यानन्द शर्मा ने मुझे प्रेरित करके, इस ग्रन्थ के सशोधन करने मे ही प्रवृत्त नही किया, वरन् इसके प्रकाशन के प्रबन्ध का भार भी कुछ अशो मे वहन किया। इसके लिए मैं उनका स्नेह से स्मरण करता हू। मित्रवर डा० रामेश्वर लाल खडेलवाल, डा० राम प्रकाश अग्रवाल, डा० विश्व नाथ गौड, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० विश्व नाथ मिश्र, डा०

गोवर्धन नाथ शुक्ल आदि अनेक मित्रो को प्रकाशन के विलम्ब के लिए सफाई देने मे, लगातार झूठे सच्चे बहाने बनाने के लिए, मैं उनके समक्ष क्षमाप्रार्थी हू तथा उनके स्नेह का कृतज्ञतापूर्ण अभिनन्दन करता हू।

परिश्रम के साथ काम मे जुट जाने की जितनी प्रेरणा मुझे श्री मदन मोहन, भूतपूर्व प्राचार्य, मेरठ कालिज, मेरठ तथा भूतपूर्व उप-कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, मे प्राप्त हुई, वह अविस्मरणीय है। मैं उनके प्रति अपनी आदरपूर्ण कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, डा० नगेन्द्र के प्रति, जिनके प्रभावशाली व्यक्तित्व मे इस युग की आलोचनात्मक प्रतिमा पाडित्य-श्री से सम्पन्न होकर मूर्तिमान हो गई है, मैं विशेष रूप से, अपनी स्नेह तथा आदरपूर्ण कृतज्ञता व्यक्त करता हू। उन्होंने अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी, इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिख कर मुझ पर अपना स्नेहपूर्ण अनुग्रह प्रदर्शित किया है।

जीवन मे सब प्रकार की सफलता, सुख-समृद्धि तथा प्रेरणा की अक्षय स्रोत अपनी पत्नी लीला जी का, उनके निषेध करने पर भी, उल्लेख करना मैं इसलिए आवश्यक समझता हू कि बिना उनकी सहायता के तो, मैं इस ग्रन्थ का कदाचित् एक भी पृष्ठ सरलता से लिखने मे अपने आपको असमर्थ पाता। मेरी पुत्री कु० शशि कान्ता एम०ए० बी०एड० तथा पुत्र रवि कान्त का उल्लेख किए बिना भी मेरा मन नही मानता, क्योकि दोनो ने ही बडी तत्परता तथा उत्साह से प्रतिलिपि करने, प्रूफ दोहराने तथा प्रूफो को डाक से भेजने आदि छोटे बडे कार्यों मे मेरा हाथ बटाया है।

मैं उन सभी विद्वान लेखको तथा प्रकाशको का, जिनके मूल्यवान ग्रन्थो की सामग्री का इस ग्रन्थ के विषय-विवेचन मे किसी भी प्रकार से उपयोग हुआ है, हार्दिक आभार मानता हू।

अन्त मे, मैं एस० चन्द० एण्ड कम्पनी, राम नगर, देहली के स्वामी, श्री श्याम लाल गुप्त के प्रति अपना विशेष आभार प्रदर्शित करता हू, जिन्होने अपने व्यक्तिगत सरक्षण मे, सुरुचिपूर्ण रूप मे, इस ग्रन्थ का प्रकाशन-कार्य सम्पन्न किया है तथा मुझे सब प्रकार का सौहार्दपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ की त्रुटियों, अपूर्णताओ तथा अभावो के लिए, मैं इसके सहृदय पाठको तथा विद्वज्जनो से विनम्रता के साथ क्षमा-याचना करता हू।

राज किशोर कक्कड

मेरठ कालिज मेरठ, (उ० प्र०)
शरद पूर्णिमा, सम्वत् २०२५

विषय-सूची

आधुनिक रीतिकार

आधुनिक आलोचक

प्रकरण ३

काव्य के अन्तरंग का विवेचन करने वाले सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय

आधुनिक रीतिकार

आधुनिक आलोचक

ध्वनि सम्प्रदाय

प्रकरण ६

गद्य

कहानी

निबन्ध

प्रकरण ७

नाटक

एकांकी नाटक

प्रकरण ८

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रकरण ९

व्यावहारिक आलोचना

आमुख

विषय का महत्त्व

लगभग पिछले तीन दशाब्दो मे हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे निरन्तर शोध-कार्य हो रहा है। साहित्य के विभिन्न अगो, भाषा, भाषा-विज्ञान, हिन्दी साहित्य का इतिहास, विभिन्न काव्य-धाराओ का विकास, विभिन्न कवियो तथा लेखको का साहित्य, विशेष कृतियो का अध्ययन, साहित्य के विभिन्न रूपो का अध्ययन, लोक-साहित्य, वर्ग विशेष के कवि-समूहो का अध्ययन आदि विषयो पर विशेष रूप मे कार्य हुआ है। किन्तु आलोचना के क्षेत्र मे रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा शोध-कार्य की प्रगति प्राय धीमी रही है। डा० राम शकर शुक्ल 'रसाल' के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास' तथा डा० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' नामक शोध-प्रबन्धो के अतिरिक्त डा० छैल विहारी लाल गुप्त 'राकेश' का 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे रस शास्त्र का अध्ययन, डा० भोला शकर व्यास का 'ध्वनि सिद्धान्त का विस्तार', डा० ओम प्रकाश कुलश्रेष्ठ का 'हिन्दी साहित्य मे अलकार', डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी का शृगार रस सम्बन्धी प्रवन्ध, स्व० डा० जानकीनाथ सिह 'मनोज' का 'हिन्दी छन्द शास्त्र' और डा० पुत्तूलाल शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्दोयोजना', आदि विषयो पर भी शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए है।

इस प्रकार ये शोध-प्रवन्ध दो प्रकार के है, एक तो सामान्य रूप मे काव्य-शास्त्र का विकास प्रस्तुत करने वाले तथा दूसरे अलकार, रस, ध्वनि आदि काव्य सम्प्रदायो के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करने वाले। 'रसाल' जी के शोध-प्रबन्ध का सम्बन्ध भी अलकार-सम्प्रदाय से ही अधिक है। डा० भगीरथ मिश्र के शोध-प्रवन्ध मे हिन्दी के सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा खोज के आधार पर प्राप्त नवीन-सामग्री के उपयोग पर अधिक ध्यान दिया गया है। उसमे सामान्य रूप मे आचार्यो, रीतिकारो तथा आधुनिक आलोचको के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी मतो और सिद्धान्तो का कुशल तथा विद्वत्ता-पूर्ण विवरण दिया गया है। यह प्रबन्ध एक विशेष दिशा मे वाछनीय, सफल तथा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। किन्तु यह हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्पूर्ण काल को लेकर चलता है, केवल किसी एक काल को नही। भारतीय काव्य-सम्प्रदायो के विकास का पृथक्-पृथक् अध्ययन तथा विवेचन इसकी शोध-सीमा के वाहर प्रतीत होता है। हिन्दी मे इन सम्प्रदायो के विकास के अध्ययन का अभाव अभी तक वना है। सस्कृत मे भी इन सम्प्रदायो के ऐतिहासिक क्रम-विकास का कार्य पूर्ण रूप मे नही हुआ है। जव सस्कृत मे काव्य-सम्प्रदायो के विकास

का अध्ययन करने वाले इने-गिने ग्रन्थ ही लिखे गए हैं तो हिन्दी में इनका पूर्ण अभाव आश्चर्यजनक नहीं है। हिन्दी में जो ग्रन्थ काव्य-सम्प्रदायों के विकास पर लिखे गए हैं, वे संस्कृत में काव्य-सम्प्रदायों का विकास अविकास में निरूपित करते हैं, हिन्दी के साहित्य में नहीं। आधुनिक विद्वानों ने इस अभाव का अनुभव तथा इसकी पूर्ति की आवश्यकता समझी है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें काव्य के बाह्य स्वरूप तथा अन्तःस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले आठों भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदायों का आधुनिक हिन्दी साहित्य में विकास कदाचित् सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है। इस शोध-प्रबन्ध की यह भी विशेषता है कि इन सम्प्रदायों के विकास के स्वरूप पर भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के साथ-साथ हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य के प्रभाव का अध्ययन भी किया गया है।

इसी प्रकार आलोचना के उद्भव और विकास पर डा० भगवत् स्वरूप मिश्र का एक शोध-प्रबन्ध सन् १९५८ में प्रकाशित हुआ है। सम्पूर्ण हिन्दी आलोचना के सामान्य विकास का अध्ययन प्रस्तुत करने वाला कदाचित् यह पहला शोध-प्रबन्ध है। इसमें हिन्दी-आलोचना की पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत-आलोचना के विकास-सूत्रों का निदर्शन करके, हिन्दी के प्रमुख आलोचकों के साथ-साथ विशिष्ट प्रकार की आलोचनाओं की शैलियों के विकास का इतिहास भी विद्वत्तापूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी आलोचना के विकास के मूल में जो विभिन्न भारतीय तथा पाश्चात्य प्रभाव निहित हैं, उनके अध्ययन तथा विवेचन की आवश्यकता बनी है। हिन्दी आलोचना के तीन निर्णायक तत्त्व हैं—संस्कृत-साहित्यालोचन, पाश्चात्य-साहित्यालोचन तथा हिन्दी का निजी रचनात्मक-साहित्य। हिन्दी आलोचना के विकास का पूर्ण स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता, जब तक इन तीनों तत्त्वों का हिन्दी आलोचना के विकास में पृथक्-पृथक् योग दिखाकर, उसके अंग-प्रत्यंग की बनावट तथा पूर्ण शरीर की गठन का चित्र प्रस्तुत न किया जाए। इस दिशा में यह शोध-प्रबन्ध प्रथम प्रयास है। इसमें भारतीय काव्य-सम्प्रदायों तथा साहित्य के प्रत्येक रूप की पृष्ठभूमि में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन की रूपरेखा का अध्ययन किया गया है।

---

१ (अ) 'हाईवेज एण्ड बाईवेज आव् लिटरेरी क्रिटीसिज्म', स० स० कुप्पुस्वामी (सन् १९४५)।

(आ) स्टडीज इन दी हिस्ट्री आव् संस्कृत पोयिटिक्स (सन् १९२५)—एस०के०डे।

(इ) 'सम आस्पेक्ट्स आव् लिटरेरी क्रिटीसिज्म आर दी थ्योरी आव् रस एण्ड ध्वनि' सन् १९२९,—डा० ए० संकरन।

२ 'पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों की वस्तु-समीक्षा का कार्य उन्हें अभी करना है और इसके पश्चात् विभिन्न सम्प्रदायों की निष्पत्तियों को ऐतिहासिक क्रम-विकास की भूमि पर ला रखना है।" 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास', ले० डा० भगवत् स्वरूप मिश्र, 'प्राक्कथन नन्ददुलारे वाजपेयी, (सन् १९५८ ई०) पृ० १०।

आलोचना के दो प्रमुख स्वरूप है, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। हिन्दी मे अभी तक इसके पृथक् स्वरूपो के सागोपाग विकास का अध्ययन करने का प्रयत्न नही हुआ है। एक ही स्थान पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना की प्रवृत्तिया दिखाने मे स्पष्टता का प्राय अभाव रहता है। हिन्दी मे पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यालोचन के प्राचीन तथा अर्वाचीन रूपो के अध्ययन मे प्रधानता प्राय सैद्धान्तिक आलोचना के विकास-प्रदर्शन की ही रही है। किन्तु व्यावहारिक आलोचना की विविध शैलियो तथा पद्धतियो के स्वरूप के अध्ययन के अभाव मे, न तो वर्तमान हिन्दी आलोचना का मूल्याकन हो सकता है और न उसके भविष्य की सम्भावनाओ का पूर्ण अध्ययन। सैद्धान्तिक आलोचना मे केवल सिद्धान्तो तथा मानदण्डो के स्वरूप निर्माण तथा विकास का अध्ययन होता है। व्यवहार रूप मे आलोचना किन-किन शैलियो तथा पद्धतियो को अपना कर समृद्ध होती जा रही है, इसके अध्ययन की आवश्यकता भी हिन्दी साहित्य मे बनी हुई है। इस दिशा मे भी प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे हिन्दी मे पहली बार विशेष मौलिक कार्य करने का प्रयत्न किया गया है।

विषय की सीमाएं

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना का विकास प्रस्तुत करना है। आधुनिक काल मे हिन्दी समालोचना के विकास का कुछ विशिष्ट सरणियो द्वारा विवेचन करने वाला हिन्दी मे यह पहला शोध-प्रबन्ध है। वास्तव मे, आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी आलोचना परम्परागत मार्ग पर ही चल रही थी। भारतीय काव्य-सम्प्रदाय-चिन्तन के विकास मे ही, न तो इसका कोई विशेष योगदान था, न साहित्य के विभिन्न रूपो की आलोचना का निर्माण ही हुआ था। इसमे केवल विभिन्न सम्प्रदायो, विशेषकर अलंकार, रस, ध्वनि आदि के लक्षणो तथा उदाहरणो का निर्देश मात्र दिया जाता था। हिन्दी आलोचना का वास्तविक विकास आधुनिक काल मे ही हुआ है, जब हिन्दी का रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क मे आकर नवीन सिद्धान्तो, वादो परिस्थितियो तथा व्यक्तित्वो के प्रभाव-स्वरूप उत्तरोत्तर समृद्धि के पथ पर अग्रसर होने लगा। इसीलिए इस शोध-प्रबन्ध मे केवल आधुनिक काल की सीमा मे ही हिन्दी-आलोचना का विकास प्रस्तुत करने का लक्ष्य रखा गया है। इस मे सम्वत् १९२५ से सम्वत् २००० तक अर्थात् विक्रम की बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उसके पूर्वार्द्ध के उत्तरार्द्ध का ही केवल समय लिया गया है। हिन्दी की आलोचना के वास्तविक विकास का यही काल है। बीसवी शताब्दी के प्रथम २५ वर्षो मे भी हिन्दी आलोचना मे रीति-कालीन परम्परा का ही निर्वाह होता रहा, इसलिए उसको शोध की परिधि से बाहर ही रखा गया है। सम्वत् २००० (सन् १९४३ ई०) तक का समय लेने का उद्देश्य केवल विक्रम की बीसवी शताब्दी के अन्त तक आलोचना का विकास दिखाना है। इक्कीसवी शताब्दी के गत तेरह वर्षो का समय इतना निकट है कि उसकी गतिविधि का यथार्थ आकलन होना यदि कठिन नही तो भ्रामक तथा दुसाध्य अवश्य हो सकता है। आख के अत्यधिक निकट के नाक, कान आदि अग दिखाई नही देते। आधुनिक हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध मे प्रमुख हिन्दी आलोचको का

भी यही मत है[1]। इसलिए इस शोध-प्रबन्ध मे सम्वत् २००० तक की सीमा ही बाधी गई है। सम्वत् २००० तक का समय लेने मे एक कठिनाई का भी अनुभव हुआ है। इस युग के आलोचको ने सम्वत् २००० के पश्चात् भी अनेक ऐसे ग्रन्थो का प्रकाशन किया है, जिससे उनकी विचारधारा मे परिवर्तन हुआ है। इस शोध-प्रबन्ध मे आलोचको के स० २००० के पश्चात् की विचारधारा के विकास तथा परिवर्तन के निरूपण की ओर ध्यान नही दिया गया है। इससे समकालीन आलोचको के विचारो के पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत नही हो सके है। आधुनिक काल की किसी भी सीमा को लेकर चलने मे समकालीन कवियो, लेखको तथा आलोचको के सम्बन्ध मे यह कठिनाई सदैव ही बनी रहेगी। मेरा विचार है कि सवत् २००० के पश्चात् की आलोचना का सागोपाग विवेचन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है।

विषय का स्पष्टीकरण

७५ वर्षो के समय की सीमा के अतिरिक्त भी इस प्रवन्ध मे वस्तु-विवेचन की भी स्पष्ट सीमाए निर्धारित की गई है। आलोचना का दो रूपो मे विकास प्रस्तुत किया गया है—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक आलोचना का विकास प्रमुख आलोचको के शीर्षक देकर, उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के प्रमुख तत्त्वो का सोदाहरण निरूपण करके, प्रस्तुत नही किया गया है। इस प्रकार की तो हिन्दी आलोचना-निरूपण की परम्परा सी वध गई है। प्रस्तुत प्रवन्ध की शैली तथा विषय-वस्तु इस परम्परा का अतिक्रमण करके एक मौलिक तथा अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण मार्ग अपनाती है। इसमे सैद्धान्तिक आलोचना के विकास का अध्ययन दो प्रकार से किया गया है। एक तो भारतीय साहित्यालोचन के काव्य के वाह्य-स्वरूप के अलकार, रीति, गुण तथा वक्रोक्ति नामक सम्प्रदायो तथा उसके अन्तरग-पक्ष के रस, ध्वनि, अनुमिति तथा औचित्य नामक सम्प्रदायो का आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विकास प्रदर्शित करके तथा दूसरे साहित्य तथा उसके आधुनिक रूपो कविता, उपन्यास, कहानी, निवन्ध, नाटक, एकाकी-नाटक सम्बन्धी आलोचना के सर्वागीण विकास का अध्ययन प्रस्तुत करके। अभी तक भारतीय साहित्यालोचन का क्रम-विकास उस वैज्ञानिक और विकासमूलक भित्ति पर स्थापित नही हो सका है, जैसा कि पाश्चात्य साहित्यालोचन का। हिन्दी आलोचना के स्वरूप के विकास के लिए भारतीय साहित्यालोचन की विभिन्न सम्प्रदायो की रूप-रेखा, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, ऐतिहासिक क्रम-विकास तथा तुलनात्मक वस्तु-सम्पत्ति का निरूपण होना अनिवार्य है। इस कार्य की महत्ता तथा आवश्यकता की ओर प्रमुख आधुनिक आलोचको का ध्यान जा रहा है[2]।

---

१ "आज का हिन्दी साहित्य हमारे लिए इतना निकट है कि उसको ठीक-ठीक नही देख सकते। साख्यकारिका मे वताया गया है कि अत्यन्त दूर और अत्यन्त नजदीक ये दोनो अवस्थाए प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे वाधक है।"
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, स० १९४०, पृ० १३४

२ "सच पूछिए तो अव तक रीति, रस, अलकार आदि विविध भारतीय मतो की रूपरेखा भी स्पष्ट नही की जा सकी, उनका पारस्परिक सम्वन्ध, उनका ऐतिहासिक क्रम-विकास तथा तुलनात्मक वस्तु-सम्पत्ति का निरूपण तो आगे की साधनाए है।" 'हिन्दी आलोचना, उद्भव और विकास', डा० भगवत्स्वरूप मिश्र, 'प्राक्कथन' ले० नन्द-दुलारे वाजपेयी, पृ० १०।

मैंने आधुनिक हिन्दी आलोचना मे सस्कृत साहित्य-शास्त्र के अतरग तथा वहिरग काव्य का पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक विकास-क्रम दिखाने का प्रयत्न किया है। अनुमिति तथा औचित्य सम्प्रदायो को सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया गया है, क्योकि अनुमिति कोई सम्प्रदाय न होकर केवल रस के प्रसग मे साधन रूप मे विवेचित हुई है तथा औचित्य सम्प्रदाय के रूप मे विकसित नही हुआ है, वरन् उसकी सत्ता की व्यापकता साहित्यालोचन का अग वन गई है। हिन्दी साहित्यालोचन के अन्तर्गत केवल अलकार तथा रस-सम्प्रदायो के विकास प्रदर्शन के प्रयत्न अधिक किए गए है। किन्तु ऐसा लक्ष्य लेकर चलने वाले जो ग्रन्थ है, वे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को आधार वनाकर चलते है तथा आधुनिक काल के साहित्य तक ही सीमित नही है, इसलिए उनमे उन काव्य सम्प्रदायो के विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन की सम्भावनाएँ कम है। आधुनिक हिन्दी मे विभिन्न काव्य सम्प्रदायो के ऐतिहासिक विकास क्रम का अध्ययन इस प्रबन्ध मे पहली बार व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इन सभी सम्प्रदायो के विकास पर भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के पृथक्-पृथक् प्रभावो का अध्ययन करने का भी प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार साहित्य के विभिन्न रूपो से सम्बन्ध रखने वाली आलोचना भी अधिकाश मे, पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यालोचन और हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य के आधार पर विकसित हुई है। यह आलोचना भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो आलोचनाओ का समाहार करते हुए भी स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुई है। इसकी इसी विशेषता का इस शोध-प्रवन्ध मे साहित्य के विभिन्न रूपो की आलोचना के अन्तर्गत प्रदर्शन किया गया है। साहित्य के विभिन्न रूपो की आलोचना का भी एक विशिष्ट रूप मे हिन्दी मे पहली बार इस शोध-प्रवन्ध मे विवेचन किया गया है तथा तत्सम्बन्धी कतिपय मौलिक स्थापनाए भी की गई है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली आलोचना का विकास पृथक् प्रकरण मे दिखाया गया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास, वृत्त-सग्रह मात्र नही है। उनके स्वरूप का मूलाधार-तत्त्व आलोचना है। उसकी रूप-रेखा का निर्माण, मूल्याकन, काल-विभाजन, प्रवृत्ति-विवेचन आदि विशिष्ट आलोचनात्मक दृष्टिकोणो पर निर्भर है। हिन्दी साहित्यालोचन मे साहित्य के इतिहासो की मूलाधार आलोचना के विभिन्न दृष्टिकोणो, आधारो तथा रूप-परिवर्तनो के अध्ययन का प्रयत्न अभी तक नही किया गया था। इस शोध-प्रवन्ध मे विस्तार के साथ उसका पहली बार नवीन दृष्टिकोण से गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अन्तिम प्रकरण मे व्यावहारिक आलोचना के विकास का अध्ययन किया गया है। हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना को सैद्धान्तिक आलोचना से पृथक् करके, उसका वस्तुगत विवेचन भी हिन्दी मे पहली वार, भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन तथा हिन्दी की शैलियो के निजी सदर्भ मे इस शोध-प्रवन्ध मे किया गया है। इस प्रकार विपय-वस्तु के अधिकाधिक महत्त्व ने इस प्रवन्ध को एक विशिष्ट मौलिकता प्रदान की है। पाश्चात्य-साहित्यालोचन की ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक

मनोविश्लेषणात्मक आदि शैलियों के रूप में आलोचना का विकास इस प्रवन्ध की शोध-परिधि की सीमा से, दो कारणों से वाहर रखा गया है, एक तो इस प्रकार का प्रयत्न डा० भगवतस्वरूप मिश्र द्वारा हो चुका है, दूसरे इन सभी शैलियों को हिन्दी आलोचना के स्वरूप को समझाने के लिए मैंने अनुपयुक्त समझा है। मेरा विचार है कि ये सब शैलियां पाश्चात्य-रचनात्मक साहित्य के आधार पर पाश्चात्य साहित्यालोचन की उपज हैं। उनका ज्यों का त्यों आरोप हिन्दी साहित्य पर नहीं होना चाहिए। हिन्दी साहित्य की आलोचना की निजी विशिष्ट शैलियां इनसे पृथक् भी हो सकती हैं, जैसे द्विवेदी काल की परिचयात्मक, प्रशंसात्मक आदि शैलियां। किन्तु यह विवेचन विषय की सीमा में सम्मिलित नहीं किया गया है। हिन्दी के कुछ शोध-प्रवन्धों में 'आलोचना' का विवेचन विषय-प्रवेश में आलोचना का प्रारम्भिक ज्ञान मात्र देने तथा स्वरूप स्पष्ट करने के लिए किया गया है, किन्तु इस प्रवन्ध में आलोच्य-काल के आलोचकों के आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया गया है तथा आलोचना-सम्वन्धी कतिपय समस्याओं पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

शोध-प्रवन्ध की शैली

प्रस्तुत प्रवन्ध में आधुनिक हिन्दी आलोचना के तीन विशिष्ट रूपों का विकास प्रस्तुत किया गया है—(१) भारतीय सम्प्रदायों का विकास, (२) साहित्य के विभिन्न रूपों की आलोचना का विकास, तथा (३) व्यावहारिक आलोचना का विकास। प्रत्येक सम्प्रदाय तथा साहित्य के रूप के प्रारम्भ में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के अनुसार उसकी पृष्ठ भूमि देनी आवश्यक समझी गई है, क्योंकि इन दोनों पृष्ठ भूमियों के आधार पर ही इनके स्वरूप के अंग-प्रत्यंग का विवेचन युक्तियुक्त रूप में सम्भव हो सकता है।

आधुनिक साहित्य के किसी भी रूप के विवेचन में एक वहुत वड़ी कठिनाई स्वाभाविक ही है। लेखक को अधिकांश समकालीन लेखकों तथा आलोचकों की कृतियों, विचारों तथा दृष्टिकोणों पर विचार तथा निर्णय प्रस्तुत करने पड़ते हैं। मैंने अपने विवेचन में सभी आधुनिक आलोचकों के विचारों तथा सिद्धान्तों का निष्पक्ष वस्तुपरक विश्लेषण मात्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके व्यक्तित्व की ओर से आंखें फेर ली हैं।

इस शोध-प्रवन्ध में आलोचकों के क्रम में भी कुछ कठिनाइयों का मुझे अनुभव हुआ है। प्रत्येक सम्प्रदाय तथा साहित्य के रूप के विकास में आलोचकों के क्रम में उनके काल, साहित्य में स्थान तथा महत्त्व का सामान्यतः ध्यान रखा गया है। किन्तु फिर भी किसी सम्प्रदाय तथा साहित्य के रूप के विवेचन में कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचकों को भी इसलिए वाद में स्थान मिला है कि उनकी कृतियों का प्रकाशन वाद में हुआ है। आलोचकों के क्रम को विशेष महत्त्व न देकर उनके आलोचना के विकास में योग को ही महत्त्व दिया गया है। कुछ ऐसे आलोचकों का भी समावेश कहीं-कहीं किया गया है, जिनका आलोचना

या साहित्य के इतिहास मे विशेष महत्त्व नही है। यह इसलिए किया गया है कि उनमे किसी विशिष्ट दिशा मे प्रगति के कुछ चिन्ह मिलते है। -

प्रबन्ध का आकार

तीन महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक विषयो को प्रबन्ध की सीमा मे समाहित करने के कारण प्रबन्ध का आकार स्वभावत ही बढ गया है। वास्तव मे ये तीनो विषय किसी शोध-प्रबन्ध के पृथक्-पृथक् विषय के उपयुक्त है। २६५ पृष्ठो मे भारतीय सम्प्रदायो का हिन्दी मे विवेचन स्वत ही एक पृथक् शोध-प्रबन्ध है, किन्तु मैने इसे ही पर्याप्त नही समझा है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे शोध के विशेष अभाव की अनुभूति से ही साहित्य के विभिन्न रूपो से सम्बन्धित आलोचना के विकास का विवेचन किया गया है। व्यावहारिक आलोचना का सैद्धान्तिक आलोचना से पृथक् विकास का अध्ययन तो पाश्चात्य साहित्यालोचन के अन्तर्गत भी बहुत कम दिखाई पडता है। हिन्दी के लिए तो यह पूर्ण-तया नवीन प्रयास है। प्रबन्ध की सीमा के विस्तार के भय का अतिक्रमण होने पर भी इस विकास की रूप-रेखा भी प्रस्तुत की गई है। यह व्यावहारिक आलोचना के विस्तार-पूर्वक वैज्ञानिक क्रम-विकास के निदर्शन का प्रयत्न है। इसके विस्तार की सम्भाव-नाओ से परिचित होने पर भी मुझे शोध-प्रबन्ध की सीमा मे ही रहना उपयुक्त लगा है। मैं हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य की निजी आलोचना के विकास को भी अपने प्रबन्ध की सीमा मे लेना चाहता था, किन्तु अध्ययन की गहराई पर पहुचने पर, मैं इसकी महत्त्वपूर्ण सम्भावना से इतना प्रभावित हुआ कि उसे पृथक् विषय के योग्य समझा। इसलिए उसे शोध की परिधि मे नही ले सका। प्रबन्ध को अनावश्यक विस्तार न देने का प्रयत्न प्रत्येक पक्ति मे परिलक्षित होगा, फिर भी तीन विषयो के पृथक् विवेचन का विषय लेने के कारण इतना विस्तार स्वाभाविक था। अधिक सकोच विषय-विवेचन के महत्त्व को निश्चय ही कम कर देता। वास्तव मे ये तीनो पृथक् विवेचन, पृथक्-पृथक् शोध-प्रबन्ध ही है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की कुछ विशेषताएं

इस शोध-प्रबन्ध मे ९ प्रकरण है। प्रथम प्रकरण मे आलोच्य-काल मे आलोचको के आलोचना के स्वरूप, परिभाषा, उपादेयता, शैली, प्रकार, आधार, मानदण्ड, उद्देश्य, आलोचक के गुण, दोष, कर्त्तव्य, अधिकार, महत्त्व, कार्य-पद्धति आदि विषयो का विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर किया गया है। इसमे अन्य शोध-प्रबन्धो तथा ग्रन्थो से यह नवीनता है कि आलोचना का भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार परिचयात्मक विवेचन देकर ही कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझी गई है, वरन् इस काल के, आलोचको के आलोचना सम्बन्धी उपर्युक्त विषयो के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है तथा उनकी भ्रान्तियो का भी निर्देश किया गया है।

आलोचना के प्रकारो के विवेचन मे, आलोचना के प्रकारो के सम्बन्ध मे भ्रान्तियो का निर्देश करके यह स्पष्ट किया गया है कि इन आलोचको ने आलोचना के प्रकारो के

विवेचन मे तीन आधारो को ग्रहण किया है, पाश्चात्य साहित्यालोचन के प्रकार, पाश्चात्य काव्य के वाद तथा हिन्दी का रचनात्मक साहित्य । इन्होने पाश्चात्य साहित्यालोचन की कुछ शैलियो मे जैसे ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, मनोविश्लेपणात्मक, तुलनात्मक, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि को आलोचना के स्वतन्त्र प्रकार माना है। वास्तव मे ये व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक शैलिया मात्र है, जो अपने मे स्वत पूर्ण नही है । इसी प्रकार इन आलोचको ने सौष्ठववादी, अभिव्यजनावादी तथा यथार्थवादी आलोचनाए पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर मानी हैं, जो असगत हैं। मेरी मान्यता है कि ये वाद तथा सिद्धान्त, आलोचना के प्रकार नही है, निर्णयात्मक आलोचना के आधार मात्र हैं। इस काल मे हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर आलोचना के प्रकारो के निर्माण के भी क्षीण प्रयत्न हुए । इस प्रकार इस प्रकरण मे आलोचना सम्बन्धी समस्त विवेचन के विकास के आधार पर मौलिक तथा प्रामाणिक स्थापनाए की गई हैं।

दूसरे तथा तीसरे प्रकरण मे आठो भारतीय काव्य-सम्प्रदायो के विकास का विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर प्रस्तुत किया गया है । इसकी मौलिकता यह है कि इसमें केवल सस्कृत-साहित्य के सम्प्रदायों का ही विकास नही प्रस्तुत किया गया है, वरन् हिन्दी के अन्तर्गत इन सम्प्रदायों के विकास का अध्ययन, पाश्चात्य तथा भारतीय-साहित्यालोचन और हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य के विभिन्न रूपो के सदर्भ मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे यह भी निर्देश किया गया है कि पाश्चात्य देशो के नवीन वादो (अभिव्यजनावाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद आदि), काव्य के नवीन सिद्धान्तो (कला, सौन्दर्य, नैतिकता आदि), नवीन दर्शनो (मार्क्स, फ्राइड आदि) के आधार स्वरूप इनमें कौन से तत्त्वो का विकास हुआ है तथा कौन से तत्त्व, विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा आधुनिक विकसित ज्ञान के प्रकाश मे नष्ट हो गए हैं। वास्तव मे हिन्दी में इन सम्प्रदायो के विकास का एक विशिष्ट स्वरूप है, जिसका प्रदर्शन करना इस प्रबन्ध की विशेप मौलिकता है। इस काल मे दो प्रकार के आलोचको ने इन सम्प्रदायो के विकास मे योग दिया है। एक तो पुरानी परम्परा का पालन करने वाले रीतिकार तथा दूसरे आधुनिक शैली के आलोचक। प्रत्येक सम्प्रदाय के विकास मे पहले आधुनिक रीतिकारो तथा बाद मे आधुनिक आलोचको का विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा फिर दोनो की उपलब्धियो की व्याख्या की गई है।

दूसरे प्रकरण मे काव्य के बाह्य-स्वरूप के सम्प्रदाय, अलकार, रीति, गुण तथा वक्रोक्ति की मौलिक विशेपताओ का निरूपण किया गया है। अलकार-सम्प्रदाय के विवेचन मे पाश्चात्य-साहित्यालोचन के अनुसार अलकार-विधान मे कल्पना का स्थान, सौन्दर्य के साधक के रूप मे अलकारो का स्थान, उपमान तथा प्रतीको का अन्तर, प्रतीको का महत्त्व, मूर्त्त के लिए सूक्ष्म, सूक्ष्म के लिए मूर्त्त-विधान, अलकार तथा अलकार्य का भेद, आकार-साम्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य का महत्त्व आदि विषयो के विवेचन के ऐतिहासिक विकास-क्रम का अध्ययन तथा मूल्याकन किया गया है। भारतीय रीति-सम्प्रदाय का विकास, पाश्चात्य शैली के स्वच्छन्दतावादी, सौन्दर्यवादी, अभिव्यक्तिवादी तथा समाज-

शास्त्रीय विचारो के क्रमिक विकास के प्रभावस्वरूप विभिन्न तत्त्वो के विकास के सदर्भ मे प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार गुण सम्प्रदाय के विकास के अन्तर्गत उसकी उपलब्धियो, अभावो तथा विशिष्टताओ का उल्लेख भारतीय तथा पाश्चात्य-साहित्यालोचन के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर किया गया है। आलोच्य-काल से पूर्व वक्रोक्ति का विवेचन केवल शब्दालकार तथा अर्थालकार के अन्तर्गत होता था। किन्तु इस काल मे मेरी स्थापना है कि इसका विशेष विकास क्रोचे के अभिव्यजनावाद तथा अन्य काव्य-सिद्धान्तो की गम्भीर तुलना के साथ हुआ है तथा इसके अस्तित्व की प्रतिष्ठा छायावादी-काव्य के मूल मे की गई है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय की विषय-वस्तु का विवेचन-परीक्षण इस युग मे पाश्चात्य-साहित्यालोचन के सदर्भ मे एक नए रूप मे किया गया है।

तीसरे प्रकरण मे काव्य के अन्त स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले रस, ध्वनि, अनुमिति तथा औचित्य सम्प्रदायो का विकास प्रस्तुत किया गया है। मेरी मान्यता है कि इस युग मे रस सम्प्रदाय का अध्ययन परम्परागत सरणी को त्याग कर विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि का आधार लेकर हिन्दी मे पिछले युगो की अपेक्षा ही अधिक विस्तृत नही हुआ है, वरन् सस्कृत काल से भी कुछ दिशाओ मे अधिक प्रगतिशील हुआ है। इस युग के आलोचको ने भावो के आधार, विस्तार, स्वरूप, प्रक्रिया, प्रकार, मूल-शक्ति, उत्पत्ति, सचारी भावो की परिभाषा, वर्गीकरण, सख्या, नवीन सचारी भावो का निर्देश, स्थायी भावो से उनके सम्बन्ध, स्थायी तथा सचारी भावो के अतिरिक्त नवीन भावो की कल्पना, आलम्वन का अनन्त विस्तार, विभिन्नता तथा व्यापकता, रसानुभूति के विभिन्न स्वरूपो तथा कोटियो का विवेचन तथा साधारणीकरण की विभिन्न समस्याओ का मौलिक विवेचन किया गया है। इस प्रकार इन आलोचको ने दर्शन, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा काव्य के नवीन वादो तथा सिद्धान्तो के आधार पर रस-सिद्धान्त की कई शताब्दियो की परम्परा से स्वीकृत मान्यताओ तथा धारणाओ को तर्कपूर्ण रीति से खडित करके नवीन मतो की स्थापना की है। काव्य की रचना-प्रक्रिया के अध्ययन के साथ रस-सिद्धान्त का समन्वय भी प्रस्तुत करने के प्रयत्न किए गए है। इसी प्रकार इस युग के आलोचको ने ध्वनि-सम्वन्धी विभिन्न समस्याओ को मनोविज्ञान के आधार पर नई तर्कपूर्ण शैली मे सुलझाने का प्रयत्न किया है तथा ध्वनिकार के सिद्धान्तो की नवीन व्याख्या करके उसकी मान्यताओ मे भी सशोधन प्रस्तुत किए है। छायावादी काव्य के अन्तर्गत ध्वनि का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रवन्ध मे यह स्थापना की गई है कि विभिन्न प्रभाव पडने पर भी, भारतीय-काव्य-सम्प्रदायो का आधुनिक हिन्दी-साहित्या-लोचन मे एक विशिष्ट तथा नवीन रूप मे विकास हुआ है।

चौथे प्रकरण मे आधुनिक युग मे साहित्य सम्वन्धी विवेचन के विकास को भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के सदर्भ मे प्रस्तुत किया गया है। इस युग मे हिन्दी मे साहित्य के स्वरूप, मूल-तत्त्व, लक्ष्य, प्रयोजन, रचना-प्रक्रिया, भेद आदि का अभूतपूर्व विवेचन तथा विकास हुआ है। साहित्य के विभिन्न रूपो की आलोचना के विकास के लिए

साहित्य के प्रति आलोचको के विशिष्ट दृष्टिकोणो तथा साहित्य सम्बन्धी आलोचना के विकास का अध्ययन आवश्यक था। साहित्य-सम्बन्धी-आलोचना के विकास का इस रूप मे विवेचन भी इस प्रबन्ध की एक मौलिकता है।

पाचवे, छठे तथा सातवे प्रकरण मे साहित्य के विभिन्न रूपो से सम्बन्ध रखने वाली आलोचना का विवेचन हुआ है, जो प्रस्तुत प्रबन्ध की एक नवीनता है। पाँचवें प्रकरण मे कविता-सम्बन्धी आलोचना के क्षेत्र मे विकास का स्वरूप चित्रित किया गया है तथा उसके विभिन्न निर्णायक तत्त्वो का विवेचन हुआ है। आधुनिक युग मे हिन्दी मे कविता सम्बन्धी विवेचन का प्रसार सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश काल के विवेचन की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत रूप मे हुआ है। इसमे पहली बार काव्य-रचना की प्रक्रिया, कल्पना तथा सौन्दर्य के तत्त्वो का विवेचन हुआ है तथा काव्य के स्वरूप, छन्द, तुक, विषय, लक्ष्य, वर्गीकरण, फल, कारण आदि का विशेष मौलिक विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के विभिन्न-काव्य के प्रकारो, जैसे रीति-परम्परावादी, इतिवृत्तात्मक, छायावादी, रहस्यवादी, प्रयोगवादी, प्रगतिवादी का भी गम्भीर तथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार कविता सम्बन्धी आलोचना के विकास का पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यालोचन और हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध पहली बार गम्भीर विवेचन करके आधुनिक आलोचको की उपलब्धियो का मूल्याकन करता है।

छठे प्रकरण मे गद्य साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध सम्बन्धी आलोचना के विकास को प्रस्तुत किया गया है। इसमे उपन्यास, कहानी, निबन्ध की परिभाषा, उत्पत्ति, तत्त्व, विषय, भेद, वर्गीकरण, उद्देश्य, भाषा, शैली, प्रकार, दोष, महत्त्व आदि का विवेचन, भारतीय तथा पाश्चात्य-साहित्यालोचन और हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के प्रभाव के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। मेरी मान्यता है कि इन तीनो प्रभावो को अश रूप मे समाहित करने पर ही इनका स्वरूप एक विशिष्ट दिशा मे विकसित हुआ है। गद्य-साहित्य-सम्बन्धी आलोचना के इस स्वरूप के विकास तथा उसके प्रभावो और उपलब्धियो का विवरण देने का भी इस शोध-प्रबन्ध मे मौलिक प्रयास हुआ है।

सातवे प्रकरण मे नाटक और एकाकी-नाटक सम्बन्धी आलोचना के अन्तर्गत जो विभिन्न समस्याओ पर आधुनिक युग मे विचार हुआ है, उसका विवेचन किया गया है। हिन्दी के नाट्यालोचन मे पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्यालोचनो तथा अग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी नाट्य-साहित्य के आधार पर विवेचन किया गया है। इस युग का नाट्यालोचन नाट्य-शास्त्र और दशरूपक की परम्परा मे होते हुए भी न तो पूर्णतया भारतीय-परम्परा का है न पाश्चात्य का तथा अपनी निजी विशिष्टता रखता है। एकाकी नाटको का विवेचन भारतीय की अपेक्षा पाश्चात्य-साहित्यालोचन से अधिक प्रभावित होने पर भी हिन्दी एकाकी नाटको की समस्याओ पर मौलिक रूप से विचार प्रस्तुत करता है। इस प्रकार नाटक तथा एकाकी नाटक सम्बन्धी आलोचना के स्वरूप का निरूपण भी साहित्य के अन्य रूपो के स्वरूप की आलोचना के समान यहा नवीन रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

आठवे प्रकरण मे हिन्दी साहित्य के इतिहासो के आलोचनात्मक-विकास की विशिष्टताओ का निरूपण किया गया है। इन इतिहासो का विकास किस प्रकार वृत्त-मग्रहो से लेकर पूर्ण इतिहासो तक पहुचा है, इसका ऐतिहासिक क्रम-विकास प्रस्तुत करते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास की समस्याओ, मानदण्डो, आदर्शो, मतभेदो, काल-विभाजनो तथा प्रकारो का विवेचन हिन्दी मे प्रथम वार मौलिक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे इतिहास सम्वन्धी उपलब्धियो तथा अभावो का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। हिन्दी माहित्य के इतिहास का इस रूप मे विवेचन भी हिन्दी साहित्यालोचन के अन्तर्गत पहली बार किया जा रहा है।

नवे प्रकरण मे हिन्दी मे सैद्धान्तिक आलोचना से पृथक् व्यावहारिक आलोचना का विकास प्रस्तुत करते हुए उसके निजी स्वरूप का प्रदर्शन किया गया है। हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना भारतीय आलोचना की परम्परा मे विकसित होती हुई तथा पाश्चात्य प्रभावो को ग्रहण करती हुई, अपने निजी मौलिक रूप मे विकसित हुई है। इसके इमी स्वरूप का विकास, विभिन्न प्रवृत्तियो तथा व्यक्तिगत विशिष्टताओ के निर्देश सहित यहा हुआ है। यह भी हिन्दी मे पहला ही प्रयत्न है।

दिसम्वर, १९५६

प्रकरण १

आलोचना

भारतीय साहित्यालोचन मे आलोचना सम्बन्धी साहित्य का विकास

भारतीय साहित्यालोचन मे आलोचक अथवा भावक (रसिक) का विवेचन कवि के विवेचन के साथ ही हुआ है। सस्कृत आचार्यो ने कवि तथा आलोचक मे एक ही प्रतिभा की सत्ता मानी है, जो विभिन्न रूपो मे कार्य करती है। इनका विचार है कि काव्य-निर्माण मे समाधि (जो काव्य-रचना के आन्तरिक प्रयत्न का नाम है) तथा अभ्यास (जो बाह्य-प्रयत्न का नाम है) कार्य करते है तथा इन दोनो के कारण ही कवि मे कवित्व-रचना की शक्ति उत्पन्न होती है, जो काव्य-निर्माण का प्रधान कारण है।[1] वे मानते है कि इसी काव्य की शक्ति से प्रतिभा उत्पन्न होती है और जिसमे यह प्रतिभा उत्पन्न होती है वही व्युत्पन्न होता है।[2] वे इस प्रतिभा को दो प्रकार की मानते है, कारयित्री तथा भावयित्री।[3] कारयित्री-प्रतिभा, सहजा, आहार्या तथा औपदेशिक नामक तीन प्रकार की होती है और कवि-कर्म मे उपकारक होती है और भावयित्री-प्रतिभा भावक या आलोचक की उपकारक होती है तथा कवि के श्रम, कवि-कर्म तथा उसके अभिप्राय या भाव आदि का भावन, विवेचन तथा स्पष्टीकरण करती है। इसी के कारण कवि का काव्य व्यापार रूपी वृक्ष फलित होता है अन्यथा वह अफलित ही रह जाता है।[4] वे आलोचक के कार्य का महत्त्व कवि के कार्य से किसी प्रकार कम नही मानते। आलोचक भी कवि का समानधर्मी होता है तथा वह कवि के समान ही हृदय रखने के कारण उसके भावो की ज्यो की त्यो अनुभूति प्राप्त करता है। इसीलिए वह सहृदयी है। अलोचक सहृदयता तथा भावुकता के गुणो के कारण सहृदय तथा भावक भी कहा गया है।

प्राचीन आचार्यो ने आलोचना की परिभाषा की अपेक्षा आलोचक, सहृदय अथवा रसिक की परिभाषाएँ दी है। अभिनवगुप्त उस व्यक्ति को सहृदय कहते है, जो कवि के हृदय के साथ साम्य (सवाद) धारण करता है, जिसका मन मुकुर काव्य के

१ समाधिरान्तर प्रयत्नो वाह्यस्त्वभ्यास.। तावुभावपि शक्तिमुदभासयत। सा केवल काव्ये हेतु" काव्य-मीमासा ले०—राजशेखर, प्र०—राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ० २६।

२ देखिए वही, पृ० २६।

३ सा च द्विधा 'कारयित्री' 'भावयित्री' च। वही, पृ० २९।

४ देखिये वही, पृ० ३१।

अनुशीलन के अभ्यास से विशद् हो जाता है तथा जो वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है।[1] इसी प्रकार विज्जका नामक एक प्रौढा स्त्री के विचार से सच्चा रसिक सहृदय वह व्यक्ति है, जो कवि के व्यजना-द्योतित गूढ अभिप्राय. को समझ कर शब्दो के द्वारा अपने हृदय के उल्लास की सूचना ही नही देता, वरन् अपने रोमाचित अगो द्वारा चुपके से अपने हृदय की आनन्दलहरी का पता भी बताता है।[2]

प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे आलोचक का महत्व कवि से किसी प्रकार कम नही माना जाता था। राजशेखर ने भावक का कवि के लिए विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। उनके विचार से वह कवि का स्वामी, मन्त्री, मित्र, शिष्य तथा आचार्य है। वह स्वामी की भाँति उसके काव्य के उन गूढ भावो तथा सुन्दरताओ का साक्षात् कर लेता है, जिनका कवि स्वय साक्षात् करने मे असमर्थ होता है तथा अधिकार पूर्वक उनकी ऐसी व्याख्या करता है, जो कवि स्वय करने मे असमर्थ होता है। मित्र की भाति, वह उसके काव्य को अधिक रसपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण बनाने का परामर्श देता है तथा उसके गुणो की प्रशसा और दोषो का निर्देश करके उसे दोष रहित बनाने मे सहायता देता है। शिष्य की भाति वह उससे बहुत से तथ्यो को ग्रहण करता है तथा आचार्य की भाँति काव्य सम्बन्धी बहुत-सी बातो का ज्ञान देता है।[3] वे मानते है कि सच्चे आलोचक मे यह गुण होता है कि वह काव्य पढते हुए उसके अन्तर्गत निहित उन सत्यो, तथ्यो तथा मर्मो का भी उद्घाटन कर देता है, जो स्वय कवि-हृदय मे भी उत्पन्न नही होते।[4] वे सत्काव्य उसे ही कहते हैं जो किसी आलोचक के हृदय को प्रभावित कर दे तथा उसके मानस-पटल पर अकित हो जाए।

इस प्रकार वे आलोचक के कार्य का विशेष महत्त्व स्वीकार करते है। उनका विचार है कि उसके विवेचन तथा भावन के बिना कवि का काव्य निष्फल होता है और उसके भावो का मर्म तथा उसका अभिप्राय स्पष्ट नही होता। वे उसी आलोचक को कवि के काव्य-सौन्दर्य को प्रकट करने की क्षमता रखने वाला मानते है, जो कवि के भावो तथा विचारो का मानसिक प्रत्यक्षीकरण करके उससे तादात्म्य स्थापित करता है, उसके काव्य सौन्दर्य को व्यक्त करता है, रसास्वादन की योग्यता रखता है,

---

१ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनो मुकुरे ।
वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता ते हृदय सवाद भाज सहृदया.। लोचन, पृ० ११।

२ कवेरभिप्रायम शब्दगोचर स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम ।
वददभिरगै : स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णी भवतो ऽयमजलि ॥ देखिये 'भारतीय साहित्य-शास्त्र प्रथम खण्ड (स० २००७), पृ० ३६२।

३ स्वामी मित्र च मन्त्री च शिष्यश्चार्य एव च ।
कवेर्भवति ही चित्र कि हि तद्यन्न भावक । काव्य-मीमासा (स० २०११), पृ० ३४।

४ सत्काव्ये विक्रिया काञ्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ता ।
सर्वाभिनय-निर्णीतो दृष्टो नाट्य सृजा न या ॥ वही, पृ० ३४।

उसके शब्दो की रचना अथवा शब्द-गुम्फन-विधि का विवेचन करके उनको स्पष्ट करता है, उसकी सूक्तियो से आनन्दित तथा आह्लादित होता है, उसके काव्य के रसामृत का पान करता है, काव्य रचना के गूढ अर्थ या तात्पर्य को ढूंढ़ निकाल कर स्पष्ट करता है तथा उसके काव्य के सौन्दर्य से स्वयं प्रभावित होकर उसको चारो ओर प्रसारित करके लोकप्रिय बनाता है।

भारतीय साहित्यालोचन मे इस विषय मे भी विचार प्रकट किए गए है कि कारयित्री प्रतिभा एक ही व्यक्ति मे होती है अथवा पृथक्-पृथक् व्यक्तियो मे। राजशेखर साधारणतः कवित्व तथा भावकत्व की पृथक्-पृथक् शक्ति का व्यवहार मानते है। किन्तु उनका विचार है कि कभी-कभी किसी एक प्रतिभावान व्यक्ति मे इनकी अभिन्नता दिखाई पडती है।[1] वे मानते है जब कवि भावक भी होता है तो वह सब प्रकार से श्रेष्ठ काव्य का रचयिता होता है तथा उसकी ससार मे विशेष रूप से प्रतिष्ठा होती है।[2] वे यह भी मानते है कि साहित्य तथा अलकार शास्त्र के अध्ययन, अनुशीलन तथा अभ्यास से आलोचको का हृदय परिमार्जित हो जाता है तथा वे कवि के समान हृदय वाले हो जाते है। उन्होने कवि की उपमा पारस से देकर यह बताया है कि वह अपनी कारयित्री प्रतिभा से लौकिक वर्ण्य-विषयो को अलौकिक आनन्द देने वाला बना देता है तथा भावक, निष्पक्ष रूप मे कवि के गुणो तथा दोषो का ऐसा नीर-क्षीर विवेचन प्रस्तुत करता है, जैसे कसौटी कचन की शुद्धता का निर्णय करती है।

भारतीय साहित्यालोचन मे आलोचको के भेदो का भी विवेचन हुआ है। 'सदुक्ति कर्णामृत' मे मगला नामक विद्वान् ने अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी नामक दो प्रकार के आलोचको का उल्लेख किया है। वामन ने भी यह दो भेद माने है। किन्तु राजशेखर ने आलोचको के चार प्रकार माने है। इनमे से प्रथम अरोचकी है, जिन्हे किसी की भी अच्छी से अच्छी कविता नही जचती। यह अरोचकता दो प्रकार की होती है, स्वाभाविकी, जो सैकड़ो सस्कारो से भी दूर नही हो सकती तथा दूसरी ज्ञान-योनि अथवा ज्ञान-जन्य, जो समझ-बूझ कर होती है तथा जिसके कारण किसी विशिष्ट काव्य-रचना पर रोचकता उत्पन्न होती है।[3] दूसरे आलोचक सतृणाभ्यवहारी होते हैं, जो नए होने के कारण सब रचनाओ पर कुतूहलवश अपना सर्वत्र मत प्रकट कर देते है, विवेकहीन होने के कारण गुणो तथा दोषो को पृथक् नही कर सकते है, आलोच्य-रचना मे से बहुत कुछ छोड देते है तथा बहुत कुछ ग्रहण कर लेते है और इसके परिणामस्वरूप वास्तविकता को नही देख सकते।[4] तीसरे मत्सरी होते है, जो

---

१ देखिए वही, पृ० ३२।
२. देखिए वही, पृ० ३१।
३. देखिए 'काव्य मीमासा' पृ० ३२।
४. देखिए वही, पृ० ३३।

देखते हुए भी आँख मूद लेते है तथा दूसरे के गुणो का वर्णन करने मे मौन रहते है । चौथे आलोचक तत्वाभिनिवेशी होते है, जो विवेक तथा विश्लेषण के आधार पर गुणो का ग्रहण तथा दोषो का त्याग करते हैं, शब्दो की रचना तथा गुम्फन का विधिपूर्वक विवेचन करते है, सूक्तियो से आह्लादित होते हैं, काव्यरसामृत का पान करते हैं और रचना के गूढ तात्पर्य को खोज निकालते है । ऐसे आदर्श तथा विवेकी आलोचक हजारो मे एक होते है ।

राजशेखर का उपर्युक्त विभाजन मनोवैज्ञानिक नही है तथा केवल आलोचको के मानसिक स्तर और मनोवृत्तियो पर आधारित है । यह मनोवृत्तिया किसी मे कम तथा किसी मे अधिक होती है । राजशेखर ने आलोचको का वर्गीकरण इनकी अधिकता के आधार पर किया है । अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी आलोचको को पूर्ण रूप से आलोचक नही कहा जा सकता । कोई आलोचक पूर्ण रूप से अरोचकी तो हो ही नही सकता तथा सतृणाभ्यवहारी आलोचक भी साधारण पाठक से भिन्न नही है । जो प्रत्येक रचना पर कुतूहलपूर्वक अपना मत प्रकट कर देते है, ऐसे तो बहुत से पाठक होते है तथा वे आलोचक की परिभाषा मे नही बध सकते ।

मनोवृत्तियो के आधार पर किए गए उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त राजशेखर ने दो प्रकार के अन्य आलोचक, वाग्भावक तथा हृदय-भावक और माने हैं । इन आलोचको को आधुनिक आलोचक दो प्रकार से ग्रहण करते है, एक तो इस रूप मे कि वाग्भावक तो शब्दो के द्वारा काव्य के गुणो तथा दोषो का वर्णन करता है तथा हृदय-भावक, उसे वाणी द्वारा व्यक्त न करके, हृदय मे ही काव्य का भावन करता है तथा दूसरे इस रूप मे कि वाग्भावक, भाषा (कलापक्ष) का विवेचन तथा हृदय-भावक काव्य के हृदय-पक्ष अथवा रस (भाव पक्ष) का विवेचन करता है । इनका यह वर्गीकरण, मानव-रुचि-भेद तथा शैली के आधार पर किया गया है ।

इस प्रकार भारतीय साहित्यालोचन मे कवि तथा आलोचक की एक सी महत्ता मानी गई है तथा आलोचना को भी काव्य के समान ही प्रतिभा-प्रदत्त माना गया है । इसमे आलोचको के कार्य का महत्त्व प्रतिपादन करके, भावक की भावना को काव्य के स्पष्टीकरण के लिए अनिवार्य समझा गया है । इसमे आलोचको के विशिष्ट कार्यो का भी निर्देश किया गया है तथा इस तथ्य का भी विवेचन किया गया है कि कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा एक ही व्यक्ति मे होती है अथवा भिन्न मे । भारतीय आचार्यो ने आलोचना के वर्गीकरण की अपेक्षा आलोचको का वर्गीकरण, मनोवृत्ति, शैली आदि के आधार पर किया है ।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे आलोचना सम्बन्धी साहित्य का विकास

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे आलोचना की कोई सार्वभौम तथा सर्वसम्मत परिभाषा नही मिलती क्योकि वास्तव मे साहित्य का कोई अग, जब तक पूर्ण विकासावस्था को पहुँचकर स्थिर स्वरूप-सम्पन्न नही हो जाता, उसकी कोई निश्चित परिभाषा नही

हो सकती। आलोचना की निश्चित परिभाषा भी इसीलिए नही बन पाई कि सभ्यता, सस्कृति, रुचि-भेद, दार्शनिक-सिद्धान्त, परिस्थितियो तथा भौगोलिक परिवर्तनो के कारण साहित्य के साथ-साथ इसकी भी रूप-रेखा परिवर्तित होती जाती है। इस प्रकार साहित्य के विभिन्न युगो मे कवियो तथा आलोचको ने तत्कालीन परिस्थितियो, रचनात्मक-साहित्य के स्वरूपो, विचारो तथा सिद्धान्तो और रुचियो के अनुसार आलोचना के स्वरूप की व्याख्या की है।

जब साहित्य स्वय अपने स्वरूप का विवेचन करता है तो आलोचना का जन्म होता है।[1] आलोचना का विस्तार साहित्य के समान ही व्यापक है। आलोचना के दो रूप है, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक मे साहित्य के सिद्धान्त, दर्शन तथा नियमो की रचना होती है तथा व्यावहारिक मे कृतियो की व्यावहारिक आलोचना। सैद्धान्तिक आलोचना के विशेष भेद नही है। मोल्टन ने साहित्य के दर्शन तथा सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखने वाली आलोचना को 'स्पेक्यूलेटिव' कहा है।[2] पाश्चात्य साहित्यालोचन मे प्रमुख रूप से व्यावहारिक आलोचना को दो रूपो मे अपनाया गया है, निर्णय करना तथा व्याख्या करना। आलोचना का अग्रेजी शब्द 'क्रिटिसिज्म' है, जो ग्रीक धातु से बना है तथा जिसका अर्थ निर्णय करना अथवा विभिन्नताओ का निरीक्षण करना है। प्राचीनतम अथवा आधुनिकतम साहित्य मे आलोचना की कला निर्णय पर ही आश्रित रही है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' ने आलोचना उस कला को कहा है, जो साहित्य अथवा ललित कलाओ की किसी कलात्मक वस्तु के गुणो तथा मूल्यो का निर्णय करती है।[3] विक्टर ह्यूगो भी उस कार्य को आलोचना कहते है, जिसके द्वारा किसी रचना की अच्छाई तथा बुराई परखी जाती है।[4] रिचाड्र्स आलोचक बनने से मूल्यो के निर्णायक बनने का ही अभिप्राय समझते है।[5]

किसी कला-कृति का निर्णय या तो व्यक्तिगत रुचि या कुछ स्वीकृत विचारो अथवा नियमो के आधार पर हो सकता है।[6] इसके लिए निर्णायक मे विशेष ज्ञान,

---

१. 'लिट्ररी क्रिटिसिज्म इज लिट्रेचर डिसकसिंग इटसेल्फ' दी मोर्डन स्टेडी आव् लिट्रेचर (सन् १६१५), पृ० २२१।

२ देखिए वही, पृ० २२२।

३ क्रिटिसिज्म इज दी आर्ट आव जजिग दी क्वालीटीज एण्ड वेल्यूज आव एन ऐस्थेटिक आवजेक्ट; वेदर इन लिट्रेचर और दी फाइन आर्ट्स, इट इन्वोल्वज दी फोरमेशन एन्ड एक्सप्रेशन आव ए जजमेन्ट" 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' (सन् १६४७) भाग ६, पृ० ७२७।

४. देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर' (१६४३), पृ० १३३।

५ "टू सैट अप एज ए क्रिटिक इज टू सेट अप ऐज ए जज आव वैल्यूज"—आई० ए० रिचाड्र्स, 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर' शिपले (१६४३), पृ० १३६।

६ देखिए 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर' (१६४३) शिपले, पृ० १३३।

विश्लेषण, विवेचन तथा तुलना की शक्ति अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त उसे भावना-शक्ति की भी विशेष अपेक्षा होती है। जॉनसन का विचार है कि किसी कला-कृति का सौन्दर्य उस पर इतना आधारित नहीं है, जितना पाठक तथा दर्शक की कल्पना-शक्ति पर। निर्णयात्मक आलोचना के आधारभूत सिद्धान्त या नियम रचनात्मक साहित्य के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होते जाते है।[1] पाश्चात्य साहित्यालोचन मे निर्णयात्मक आलोचना के नियमों का क्रमश आधार शास्त्रीय (क्लासिकल) साहित्य, नव-शास्त्रीय (नियो क्लासिकल) साहित्य, पुनरुत्थानवादी साहित्य, स्वच्छन्दतावादी (रोमान्टिक) साहित्य तथा सौन्दर्य, कला, सत्य और नैतिकता आदि के विभिन्न नवीन वाद और समाजवादी सिद्धान्त तथा विचार है। आर्नल्ड का विचार है कि यह नियम तथा सिद्धान्त सद्साहित्य की रचना-प्रक्रिया तथा उसकी कला की खोज के आधार पर बनते है। कालरिज का भी यही विचार है कि यह नियम, रचित-साहित्य के निर्णय करने की अपेक्षा साहित्य की रचना करने मे सहायक होने चाहिए।[2] जॉनसन की भी मान्यता है कि साहित्यालोचन के नियमो के द्वारा साहित्य-रचना नही होती वरन् रचनात्मक-साहित्य ही के द्वारा नियमो का निर्माण होता है।

इस प्रकार निर्णयात्मक आलोचना के रूढ-नियमो का धीरे धीरे विरोध होने लगा तथा नियमो के आधार पर निर्णय करने की अपेक्षा रचना की व्याख्या पर भी ध्यान दिया जाने लगा। लैसिंग का विचार है कि कवि की प्रतिभा नियमो के ऊपर है। जो कुछ प्रतिभाशाली मनुष्य कर डालता है, नियम बन जाते है। उसके अन्तस्तल मे सब नियमो का साक्ष्य होता है तथा वह उन्ही नियमो को अपनाता है, जो उसके भावो को व्यक्त करने मे उपयोगी सिद्ध होते है।[3] मोल्टन का विचार है कि व्याख्यात्मक आलोचना के बिना निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नही होता।[4] इसी प्रकार कार्लायल का कथन है कि "आलोचना प्रेरित तथा अप्रेरित व्यक्ति के मध्य मे व्याख्याता का कार्य करती है तथा सिद्ध-पुरुष और ऐसे श्रोताओ के बीच मे व्याख्याता का काम करती है, जो उसके शब्दो की मधुर ध्वनि की सराहना करते है किन्तु उनके गहरे अर्थों को समझ नहीं पाते।"[5] व्याख्यात्मक आलोचना मे आलोचक का सम्बन्ध रचनाकार की अपेक्षा कलाकृति से होता है तथा वह उसके व्योरो की अपेक्षा

---

१ देखिए वही, पृ० १३६।

२ देखिए वही, पृ० १३६।

३ 'देखिए 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' (प्रथम संस्करण) ले०—श्रीलीलाधर गुप्त (१९५२), पृ० ६४।

४ 'नो जुडीशियल क्रिटीसिज्म केन बी आव ऐनी वैल्यू व्हिच हेज नोट बीन प्रिसीडेड बाई दी क्रिटीसिज्म आव् इन्टरप्रिटेशन" दी माडर्न स्टेडी आव् लिट्रेचर" ले०—मोल्टन सन् १९१५, पृ० ३२३।

५ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर,' (१९४३) शिपले, पृ० १३६।

उसके पूर्ण रूप की व्याख्या करता है।[1] कजामिया, व्याख्यात्मक आलोचना का यह उद्देश्य वताते हैं कि यह किसी रचना की प्रेरक-शक्ति का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करके उसकी व्याख्या करती है, उसकी रचना के विकास-क्रम का मानसिक पुन-निर्माण करती है तथा उसके भविष्य की सम्भावनाओ का सकेत करती है।[2] एबर-क्राम्वी, सत्समालोचना के लिए, आलोचक की मर्म भेदिनी-दृष्टि, रचनाकार के प्रति सहानुभूति, कवि की मनोदशा को ग्रहण तथा अनुभव करने की शक्ति, व्यावहारिक ज्ञान तथा नीर-क्षीर विवेचन करके अपने निर्णयो तथा मतो की अभिव्यक्ति की शक्ति आदि गुणो की आवश्यकता मानते है।[3] आर्नल्ड के विचार से आलोचना के लिए कौतूहल तथा तटस्थ और निष्पक्ष मानसिक-प्रक्रिया की आवश्यकता है, जिसके आधार पर यह सर्वोत्तम, ज्ञात तथा चिंतित विचारो का ज्ञान प्राप्त करती है।[4]

पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे व्याख्यात्मक-आलोचना की सहायक, ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, आगमनात्मक आदि पद्धतियो का भी विकास हुआ है, जिनके आधार पर व्याख्यात्मक आलोचना सफल होती है। ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा किसी साहित्य पर पडे हुए जाति, परिस्थिति, युग, व्यक्ति, जीवन, सस्कृति, देशगत विशिष्टता, भौगोलिक स्थिति तथा ऐतिहासिक अविच्छिन्न परम्परा के प्रभावो का अध्ययन होता है।[5] जीवन-चरितात्मक आलोचना मे कृति को उसी प्रकार कृतिकार का जीवनमूलक विस्तार माना जाता है, जैसे फल पेड का जीवन मूलक विस्तार होता है।[6] इस आलोचना से कलाकार तथा उसकी कृति मे सामजस्य स्थापित होता है तथा यह उनके पारस्परिक अर्थपूर्ण सम्बन्ध को स्थापित करती है।[7] इसमे जीवन की घटनाओ तथा उनके द्वारा निर्मित व्यक्तित्व तथा उसके आधार पर रचित साहित्य, तीनो के पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्वरूप का विवेचन होता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा कृति का अध्ययन कृतिकार की प्रकृति तथा उसके मस्तिष्क की विभिन्न प्रक्रियाओ के अध्ययन के आधार पर किया जाता है। यह

---

१ देखिए 'दी मार्डन स्टेडी आव् लिट्रेचर' ले०—मोल्टन (सन् १६१५), पृ० २८६।

२ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर' (१९४३) शिपले, पृ० १३६।

३. देखिए 'प्रिंसिपल्स आव लिट्ररी क्रिटीसिज्म' ले०—ऐवरक्राम्बी सन् १६४२, पृ० १२१।

४ देखिए 'मेकिंग आव लिट्रेचर' (१९४८) पृ० २६९ तथा 'भारतीय-साहित्य-शास्त्र' ले०—वलदेव उपाध्याय (स० २००७) प्रथम खड, पृ० ३६६।

५ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर' (१६४३) ले० शिपले, पृ० १३६।

६. देखिए 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' ले०—लीलाधर गुप्त (१६५२), पृ० १०८।

७ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर, ले०—शिपले (१६४३), पृ० १३६।

फ्रायड, एडलर, युग आदि मनोविज्ञान के आचार्यों के सिद्धान्तो का आधार लेकर चलती है। आगमनात्मक आलोचना मे विषय-वस्तु का अवलोकन, विश्लेषण, वर्गीकरण और व्यवस्थापन होता है तथा साहित्य के नियम उसी से उस प्रकार लिए जाते हैं जैसे प्रकृति के नियम प्रकृति ही प्रदान करती है। यह पद्धति हमारा ध्यान उन सिद्धान्तो पर जमाती है, जो किसी कृति के ब्योरो को सम्बद्ध करते तथा उनका एकीकरण करते है।

निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक आलोचना के अतिरिक्त साहित्य की रचना से सम्बन्ध रखने वाली प्रमुख आलोचना प्रभावात्मक-आलोचना है। प्रभावात्मक आलोचना मे आलोचक का कार्य किसी कलाकृति की उपस्थिति मे सवेदनाओ को ग्रहण करके उनकी अभिव्यक्ति करना होता है।[१] इस प्रकार एक ही कलाकृति से अनेको आलोचको मे विभिन्न प्रकार की सवेदनाएँ उत्पन्न हो सकती है तथा उन्हे उनको व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार है। यही प्रभावात्मक आलोचको की कला है तथा इसके आगे आलोचना नही जाती।[२] इस आलोचना मे आलोचक की अभिव्यक्ति स्वय एक कला-कृति होती है।[३] रोजेटी, प्रभाववादी कला को एक क्षण का वह स्मारक मानते है, जो साहित्य अथवा कला के जगत मे स्थायित्व प्राप्त करता है।[४]

इस प्रकार पाश्चात्य-साहित्य मे आलोचना दो प्रकार की है, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक के अन्तर्गत साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन होता है। व्यावहारिक आलोचना के प्रमुख प्रकार तीन है तथा अन्य प्रकार उनकी सहायक शैलियाँ मात्र है।[५] प्रथम प्रकार रचनात्मक आलोचना है, जिसका आधार रचना है। प्रभावात्मक आलोचना इसका प्रमुख भेद है। दूसरा प्रकार, निर्णयात्मक आलोचना है, जिसके नियम, मानदण्ड तथा सिद्धान्त प्रत्येक युग तथा साहित्य मे परिवर्तित होते रहते है। इन नियमो के दो स्थूल विभाजन हो सकते है, शास्त्रीय (क्लासिकल) तथा उत्तर-शास्त्रीय। उत्तर-शास्त्रीय नियमो के अनेक भेद काव्य सिद्धान्तो तथा वादो के आधार पर हो सकते है, जैसे पाश्चात्य साहित्यालोचन मे स्वच्छन्दतावादी, सौन्दर्यवादी, अभिव्यजनावादी, मूल्यवादी, यथार्थवादी आदि तथा सत्य और नैतिकता से सम्बन्ध

---

१ 'दी फर्स्ट रिक्वीजिट आव दी क्रिटिक इज, देट ही शुल्ड बी केपेबिल आव रिसीविंग इम्प्रैशन्स, दी सेकन्ड, देट ही शुड बी ऐबिल टु एक्सप्रेस एण्ड इम्पोर्ट देम' "हिस्ट्री आव इगलिश क्रिटिसिज्म" ले०—सन्ट्सबरी पृ० ४११, तथा 'दी न्यू क्रिटिसिज्म' ले०—स्पिन्गार्न, पृ० ४२७-४२८।

२ देखिए 'दी न्यू क्रिटिसिज्म' ले०—स्पिनगार्न, पृ० ४२८।

३ देखिए 'दी मार्डन स्टेडी आव् लिट्रेचर' (सन् १६१५), पृ० ३०१।

४ देखिए 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' ले०—लीलाधर गुप्त (१६५२), पृ० ४८।

५ देखिए वही, पृ० ४३।

रखने वाले । आलोचना का तीसरा प्रकार व्याख्यात्मक है, जिसकी प्रमुख सहायक आलोचना की पद्धतियाँ, ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आगमनात्मक आदि है। कुछ आलोचको ने इन्हे आलोचना के पृथक् तथा स्वतन्त्र प्रकार माना है, किन्तु वास्तव मे ये व्याख्यात्मक-आलोचना की सहायक शैलियाँ है।

आलोच्य-काल मे हिन्दी में आलोचना सम्बन्धी साहित्य का विकास

आलोच्य-काल से पूर्व आलोचना के विवेचन का हिन्दी मे कोई उल्लेखनीय साहित्य नही था। भारतीय-साहित्यालोचन के अनुरूप सहृदय, समीक्षक, भावक आदि का परिचयात्मक विवरण मात्र यत्र तत्र दिया जाता था। आलोच्य-काल के प्रारम्भ मे समीक्षा के तत्वो के विवेचन तथा विश्लेषण के स्थान पर भारतीय-साहित्यालोचन के अनुरूप केवल आलोचक के कर्म, गुण, दोष, महत्त्व, कार्य-पद्धति आदि का विवेचन होता रहा। इसमे प्राय. राजशेखर की 'काव्य मीमासा' का आधार लिया गया। प०रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व सत्समालोचना के सामान्य-निरूपण तथा प्रेरणा के अतिरिक्त आलोचना के स्वरूप, प्रकार, उद्देश्य आदि का गम्भीर विवेचन प्राय नही हुआ।

शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दरदास के आलोचना सम्बन्धी गम्भीर-विवेचन के पश्चात् प्रायः सभी प्रमुख आलोचको ने आलोचना के स्वरूप, परिभाषा, उपादेयता शैली, आधार, उद्देश्य आदि का भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्डो के आधार पर विवेचन किया। इन आलोचको पर पाश्चात्य साहित्य का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता गया, किन्तु प्राय. भारतीय-साहित्यालोचन का भी आधार लिया जाता रहा। श्यामसुन्दरदास आदि कुछ आलोचको ने दोनो साहित्य-शास्त्रो, का समन्वित रूप प्रस्तुत किया। अधिकाश मे, आलोचना के स्वरूप, परिभाषा, उद्देश्य आदि के विवेचन मे दोनो साहित्यालोचनो के तत्त्वो को व्यक्तिगत रुचि के अनुसार अपनाया जाता रहा। भारतीय-साहित्यालोचन मे आलोचक के प्रकारो का तो विवरण है किन्तु व्यावहारिक आलोचना की पद्धतियो तथा प्रकारो का विवेचन नही है। व्यावहारिक रूप मे उसमे सूक्ति, वृत्ति, कारिका, टीका, भाष्य आदि व्यावहारिक आलोचना की पद्धतियाँ प्रचलित थी। इन आलोचको द्वारा इन पद्धतियो का विवेचन नही हुआ तथा इनके स्थान पर पाश्चात्य-आलोचना के प्रकारो तथा पद्धतियो का विवेचन किया गया। इसमें भी प्राय. निर्भान्तता तथा मतसाम्य का अभाव रहा। जिन प्रमुख आलोचको ने आलोचना के सिद्धान्तो पर अपने विचार प्रकट किए है, वे निम्नाकित है —

गंगा प्रसाद अग्निहोत्री

अग्निहोत्री जी समीक्षा के लिए गुण-दोष-दर्शन की विशेष आवश्यकता समझते है।[1] उनका विचार है कि अच्छी समालोचना के लिए समालोचक को मूल ग्रन्थ का ज्ञान, सत्य-प्रीति, शात-स्वभाव, पाडित्य तथा सहृदयता की आवश्यकता

---

१ देखिए 'समालोचना' (स० १९९६), पृ० २६।

है।[१] उसे गुणो तथा दोषो की अभिव्यक्ति साहस के साथ करनी चाहिए। वे मानते है कि दोष-दर्शन से रचयिता का अनहित नही होता। वे प्रत्येक व्यक्ति मे रचयिता के दोष देखने की स्वतन्त्रता मानते है।[२]

महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने आलोचना के स्वरूप, परिभाषा तथा उद्दृश्य और आलोचक के स्वरूप, कर्त्तव्य, अधिकार, महत्त्व, आलोचना की प्रक्रिया तथा गुण और दोष विवेचन आदि विषयो पर यत्र तत्र विचार प्रकट किए है। वे किसी वस्तु या विषय के सभी अशो पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना कहते है तथा इसे तब तक सम्भव नही मानते जब तक कवि और समालोचक के हृदयो मे कुछ देर के लिए एकता स्थापित न हो जाए।[३]

वे आलोचक के पद को उच्च तथा पवित्र मानते है, उसे कवि से अधिक महत्त्व देते है और उसकी सौन्दर्यानुभूति की क्षमता को कवि से किसी प्रकार कम नही मानते। उनका विचार है कि आलोचक का कार्य बडे महत्त्व का है, क्योकि वह कवियो के गूढाशयो को स्पप्ट करता है, पुस्तको की शिक्षाओ का ज्ञान कराता है, कृतियो के सौन्दर्य की सूक्ष्म-बारीकियो को प्रकट करता है तथा अन्य पुस्तको से उनकी तुलना करता है। वे मानते है कि उसके द्वारा कवि के गूढ तत्वो को प्रकाश मे लाने से ही कवि का श्रम व्यर्थ नही जाता तथा समाज के हित की हानि नही होती। उसके द्वारा कवि के उद्देश्य को प्रकट करने तथा समाज को उसके भावो और विचारो से परिचित कराने से ही समाज अपनी एक बडी हानि से बच जाता है तथा इसीलिए समाज मे उसका विशेष मान तथा प्रतिष्ठा होती है।[४]

उन्होने आलोचक के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का भी विवेचन किया है। वे आलोचक की उपमा न्यायाधीश से देते है। उनका विचार है कि जैसे न्यायाधीश राग, द्वेप तथा पूर्व संस्कारो से दूर रहकर न्याय करता है, उसी प्रकार आलोचक को भी निप्पक्ष होकर कार्य करना चाहिए।[५] वे मानते है कि आलोचक को ग्रन्थकार या कवि के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए, निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करने चाहिएँ, सर्व-साधारण को कवि या ग्रन्थकार के उद्देश्य से परिचित करा देना चाहिए और उसके गूढाशय को प्रकट कर देना चाहिए।

आलोचक की आलोचना शैली के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि आलोचक की वस्तु-स्थापन-शैली, मनोरजकता, नवीनता तथा उपयोगिता का उसकी आलोचना

१ देखिए वही, पृ० २९।
२ देखिए वही, पृ० ४५।
३ देखिए 'कालिदास और उनकी कविता' (स० १९९१), पृ० ११२।
४ देखिए वही, पृ० १३।
५ देखिए 'आलोचनाजलि' (सन् १९३२), पृ० १।

शैली के निर्माण मे विशेष हाथ रहता है। वे आलोचना मे अनर्गल बातो तथा उक्तियो को सर्वथा त्याज्य मानते है तथा उसकी भाषा का तुली हुई अथवा सतुलित होना आवश्यक समझते हैं, क्योकि उनका विचार है कि ऐसी ही भाषा मे गहरा चिन्तन तथा मूल्याकन ठीक होता है। वे मानते है कि आलोचक के कथन, स्पष्ट, सोद्देश्य, तर्कसम्मत तथा साधिकार होने चाहिएँ।[1]

उन्होने सत्समालोचना के लिए आलोचना की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा तुलनात्मक, तीनो शैलियो का प्रयोग विधेय माना है। ऐतिहासिक-पद्धति के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "कवि की कविता किस समय की है, उस समय देश की क्या दशा थी, तत्कालीन लोगो के आचार-विचार तथा व्यवहार कैसे थे ·· इन बातो को अच्छी तरह जाने बिना समालोचित लेख के कर्त्ता पर अन्याय होने का बडा डर रहता है।"[2] मनोवैज्ञानिक पद्धति की आवश्यकता मानते हुए वे कहते है कि आलोचक को कवि या लेखक के हृदय मे प्रवेश करके उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए। वे मानते हैं कि जब तक आलोचक को यह मालूम न होगा कि अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या दशा थी, उसका क्या आशय था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने यह उक्ति कही थी, तब तक वह उस उक्ति की ठीक-ठीक समालोचना नही कर सकता। व्याख्यात्मक आलोचना को मान्यता देते हुए वे कहते हैं कि आलोचक मे इतनी तीव्र दृष्टि होनी चाहिए कि वह आलोच्य वस्तु के अन्तरतम मे प्रविष्ट होकर उसके उन तत्त्वो का विश्लेषण करे, जिनकी ओर सृजन के समय कवि की दृष्टि नही गई हो। वे आलोचना का उद्देश्य मत का निर्माण तथा रुचि का परिष्कार करना मानते है। वे आलोचना की तुलनात्मक-पद्धति को भी महत्त्व देते है तथा उसके लिए परिस्थिति, व्यक्ति, लक्ष्य, कल्याणकारिता आदि पर विचार करना आवश्यक समझते है।

वे आलोचक का व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होना आवश्यक समझते है तथा यह मानते हैं कि उसे आलोच्य-वस्तु मे अपने हृदय की भावनाओ तथा आकाक्षाओ को नही देखना चाहिएँ। उनका विचार है कि आलोचना मे अनर्गल बाते तथा उक्तिएँ नही आनी चाहिए।[3] इस प्रकार द्विवेदी जी के आलोचना-सम्बन्धी-विचार भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो प्रकार की आलोचना-शैलियो पर आधारित है। आलोचक के कार्य, गुण, स्वरूप आदि का विवेचन उन्होने भारतीय-साहित्यालोचन के आधार पर तथा आलोचना की कार्य-पद्धति का उल्लेख पाश्चात्य-साहित्यालोचन के अनुरूप किया है।

---

1 देखिए 'समालोचना समुच्चय' (सन् १९३०), पृ० २००, २११ तथा २३३।
२. 'कालिदास और उनकी कविता' (स० १९९१), पृ० ११२।
३. देखिए 'समालोचना समुच्चय' (१९३०), पृ० २३५।

मिश्र बन्धु

मिश्र बन्धुओं ने भी द्विवेदी जी की भाँति आलोचना के कार्य को विशेष महत्त्व दिया है। वे इस कार्य को सरल नहीं समझते तथा इसके लिए आलोचकों में विद्वत्ता, सहृदयता, अध्ययन तथा मनन की आवश्यकता मानते हैं। आलोचक के सम्बन्ध में उनका विचार है कि "वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रन्थों को भली-भाँति समझ सके और उनके विषयों से अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता, के अतिरिक्त समालोचक को मूल-ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय देना पड़ेगा। अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नहीं हो सकता।"[1]

उन्होंने समालोचना की उपादेयता का भी निर्देश किया है। उनका विचार है कि यह साधारण पाठक में औचित्य को बढ़ाती है। उससे उचित तथा उपयोगी वस्तुओं के चुनाव में विशेष सहायता मिलती रहती है। वह जीवन और मान्य-ग्रन्थों को बल देती है।[2] उसका कार्य गुरु का सा होता है, क्योंकि वह यह सिखाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी हो सकती है तथा समाज में आदर पा सकती है और किस प्रकार की क्लिष्ट होती है। वे मानते हैं कि जिस समाज तथा उसके साहित्य में जितना समालोचना का जोर होगा, उतना ही उसका प्रभाव होगा। उनके विचार में समालोचना का उद्देश्य ग्रन्थों के ठीक-ठीक गुण-दोष बताकर मनुष्यों की साहित्यिक रुचि की उन्नति करना है।

पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी ने आलोचना की परिभाषा, उसके मानदण्ड तथा दोषों का विवेचन किया है। उनका समालोचना से अभिप्राय कवि के काव्य के गुण-दोषों पर विचार करने तथा उसकी उत्कृष्टता और हीनता के निर्णय करने से है।[3] उनका विचार है कि ऐसे आलोचक ही एक कवि के काव्य को दूसरे के गुणों से पृथक् करके देख सकते हैं, जिनमें भाषा-विज्ञान का ज्ञान, तुलनात्मक दृष्टि, कविता की नब्ज की पहचान, रीति के मार्ग का अनुसरण, ध्वनि का ज्ञान, रस का स्वाद तथा सहृदयता आदि गुणों का समावेश होता है।[4] उनकी आलोचना की परिभाषा तथा स्वरूप-विवेचन प्राचीन भारतीय परम्परा तथा तत्कालीन विचार-धारा से सम्बद्ध है। इसीलिए वे रस, अलंकार, भाषा, गुण, दोष, लक्षणा तथा व्यंजना को काव्या-लोचन के मानदण्ड मानते हैं।

---

१ 'हिन्दी नवरत्न' (सं० १९६८) भूमिका, पृ० १९।
२. देखिए वही, पृ० १९।
३ देखिए 'मतिराम ग्रन्थावली' (सन् १९०१) तृतीयावृत्ति. पृ० १९।
४. 'बिहारी की सतसई' (सं० १९७५), पृ० ३४।

वे आलोचक का कर्त्तव्य किसी ग्रन्थ-कर्त्ता के उद्देश्य विशेष को प्रकट करना मानते हैं। उनका विचार है कि किसी प्राचीन लेखक को आदर्श मानकर अन्य लेखको की आलोचना करना अनुचित है। इस प्रकार वे आलोचना की आगमनात्मक शैली की उपयोगिता की ओर थोडा बहुत सकेत करते है। उनकी आलोचना का युगानुकूल एक विशिष्ट आदर्श था। वे पक्षपातपूर्ण आलोचना के विरोधी है तथा यह मानते है कि यदि आलोचक एक कवि को बड़ा तथा दूसरे को छोटा प्रदर्शित करने मे लगेगा तो वह पक्षपातपूर्ण आलोचना ही लिख सकेगा। वे मानते है कि आलोचक को अपने को विद्वान् तथा अपने प्रतिपक्षी को मूर्ख नही समझना चाहिए। वे सत्कवि को कुकवि तथा कुकवि को सत्कवि सिद्ध करना आलोचना नही मानते। उनके युग मे आलोचना के नाम पर खरी-खोटी बहुत सी बाते कही जाती थी, इसलिए उन्होने आलोचना के नाम पर ऐसी खरी-खोटी बातो को आलोचना कहना अनुचित समझा है।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने समीक्षा की व्युत्पत्ति के आधार पर उसे 'अच्छी तरह देखना या विचार करना' माना है। उनके विचार से यह केवल विचारात्मक ही हो सकती है, कल्पनात्मक या भावात्मक नही।[1] उनका आलोचना का आदर्श बहुत ऊँचा है। वे अपने तथा अपने पूर्ववर्ती युग की समालोचना-पद्धति के अनुसार केवल गुण-दोषो का प्रदर्शन करना ही आलोचना नही मानते। उनका विचार है कि स्थायी आलोचना वही होती है, जिसमे कवि की विचारधारा मे डूब कर उसकी विशेषताओ का दिग्दर्शन तथा उसकी अन्तर्वृत्तियो की छानबीन होती है।[2] वे उच्चकोटि की ऐसी आधुनिक शैली की आलोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्म-ग्राहिणी प्रज्ञा के अतिरिक्त, लक्षणा, व्यजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक्-धारणा आवश्यक समझते है।[3] इस प्रकार वे सत्समालोचना के लिए प्राचीन साहित्य-शास्त्र के विभिन्न-सम्प्रदायो तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन और मानसिक शक्तियो की तीव्रता को आवश्यक समझते है। वे हिन्दी आलोचना का स्वतन्त्र विकास चाहते है। इसके लिए उनका विचार है कि विदेशो के आलोचना-सिद्धान्तो की सामग्री की वडी परीक्षा तथा व्यापक-दृष्टि से विवेचन होने के पश्चात् ही उन्हे अपनाना चाहिए, जिससे हिन्दी-आलोचना के स्वतन्त्र तथा व्यापक विकास मे बाधा न पहुँचे।[4] वे आलोचको के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा मानते हैं कि कवियो पर आलोचको का बहुत प्रभाव पडता है, क्योकि बहुत से कवि उनके आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करते हैं।[5]

---

१. देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ सं० २००२, पृ० १७७।
२. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृ० ५८२।
३. देखिए वही, पृ० ५८५।
४ देखिए वही, पृ० ६४१।
५. देखिए वही, पृ० ६३९।

उन्होने समालोचना के प्रमुख प्रकार, निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, प्रभावाभिव्यजक आलोचना पर अपने विचार प्रकट किए है। उनका विचार है कि निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक आलोचना, समालोचना के प्रमुख प्रकार है किन्तु वे केवल निर्णयात्मक आलोचना के प्रयोग को ठीक नही समझते। उनका विचार है कि "केवल निर्णयात्मक समालोचना की चाल बहुत कुछ उठ गई है। अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियो की श्रेणी बाँधना, उन्हे नम्बर देना, अब एक वेहूदा बात समझी जाती है।"[1] उनका विचार है कि निर्णयात्मक-आलोचना के आधार-स्वरूप जो नियम होते है, वे रचना के प्रतिबन्ध के लिए नही होते वरन् उसकी सुगमता के लिए होते है।[2] वे यह नही मानते कि साहित्यालोचन के लक्षणो तथा नियमो का उपयोग कठोर तथा गहरे बन्धन की भाँति होना चाहिए। इसकी अपेक्षा वे इन्हे विचार की व्यवस्था तथा काव्य-सम्बन्धी-चर्चा की सुविधा के लिए समझते है।

व्याख्यात्मक आलोचना के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि इसमे किसी ग्रन्थ की बातो को एक व्यवस्थित रूप मे सामने रख कर उसका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण होता है तथा यह काव्य-वस्तु तक परिमित रहकर, उसके अग-प्रत्यग की विशेपताओ को ढूँढ निकालती है तथा भावो की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करती है। उनका विचार है कि इसके अन्तर्गत ही ऐतिहासिक आलोचना आती है, जिसमे सामाजिक, राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक परिस्थितियो का प्रभाव देखा जाता है। उन्होने मनोविज्ञान, दर्शन, विज्ञान आदि के आधार पर आलोचना की विभिन्न पद्धतियो का निर्देश किया है।[3] वे तुलनात्मक--आलोचना को आलोचना का चरम लक्ष्य नही मानते तथा उसे साहित्यिक व्याख्या का ही सहायक मानते है। वे उसी साहित्य की तुलना को उचित मानते हैं, जिसमे भाव-साम्य हो।

वे प्रभावात्मक-आलोचना को सच्ची आलोचना नही मानते तथा उसे भावात्मक होने के कारण आलोचना की परिभापा से बाहर समझते है। उनका विचार है कि "प्रभावात्मक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नही है। न ज्ञान के क्षेत्र मे उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र मे। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक-ठीक हृदयगम करने मे सहारा मिले, इसलिए नही कि आलोचक की भाव-भगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरजन करे।"[4] वे उसे व्यक्तिगत वस्तु मानते है तथा उसका सम्बन्ध आलोचक के हृदय पर पडे काव्य के प्रभाव से मानते है। उनका विचार है कि सच्ची आलोचना व्यक्तिगत वस्तु

---

१. देखिए वही, पृ० ५८३।
२. देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ (सं० २००२), पृ १०३।
३. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९), पृ० ५८२-५८३।
४ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृ० ६२६।

नही है। वह केवल आलोचक की ही वस्तु नही है, अन्य पाठको से भी उसका सम्बन्ध होता है।

वे आलोचक के लिए विद्वत्ता तथा प्रशस्त रुचि दोनो का होना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि न तो रुचि के स्थान पर विद्वत्ता कार्य कर सकती है न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। इसलिए वे विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना तथा रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक आलोचना दोनो को आवश्यक समझते है। उन्होने स्पिर्न्गन की भाँति एक को पुरुष तथा दूसरी को स्त्री, एक को सक्रिय तथा दूसरी को निष्क्रिय आलोचना कहा है।[1] उनका विचार है कि निर्णयात्मक आलोचना उन साधनो की उपयुक्तता पर विचार करती है, जिनके द्वारा कोई अनुभूति एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचती है तथा प्रभावात्मक आलोचना उन साधनो की सिद्धि की अवस्था तथा स्वरूप का निरीक्षण करती है। वे कहते है कि यदि एक ओर साधन के सम्बन्ध मे जो नियम बनते है, उनमे पूर्णता होती तथा दूसरी ओर आलोचना के समय, यदि हृदय लोक-सामान्य-भाव भूमि पर सदा पहुँच जाया करता, तो इन दोनो आलोचनाओ मे कोई झगडा न होता। वे सच्ची आलोचना के लिए इन दोनो प्रकार की आलोचना मे सामजस्य होना उचित समझते हैं, क्योकि इस प्रकार हृदय तथा बुद्धि दोनो एक साथ मिल कर चलते है तथा आलोचना मे पूर्णता आ जाती है।[2]

श्यामसुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास जी का आलोचना के सम्बन्ध मे विचार है कि "साहित्य क्षेत्र मे, ग्रन्थ को पढकर उसके गुणो तथा दोषो का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।"[3] उनके विचार से आलोचना साहित्य के विविध रूपो के अतिरिक्त आलोचनात्मक ग्रन्थो की भी हो सकती है। वे मानते है कि जब साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है। उनका कथन है कि "साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वय करने लगता है तो समालोचना का जन्म होता है।"[4] वे साहित्य के अन्तर्गत समालोचना का स्वाभाविक तथा महत्त्वपूर्ण स्थान मानते है।

उनके विचार से आलोचना का लक्ष्य आलोचक द्वारा किसी ग्रन्थ और उसके कर्त्ता का वास्तविक अभिप्राय समझकर उसे दूसरो को समझाना है। इस प्रकार वे आलोचना के दो कार्य मानते है, कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या करना

---

१ देखिए 'काव्य मे रहस्यवाद' (स० १९८९), पृ० ६५।
२. देखिए वही, पृ० ६६।
३ 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृ० ३१८।
४. वही, पृ० ३३४।

तथा उसके सम्बन्ध मे किसी मत को स्थिर करना। वे उन विद्वानो से सहमत नही है, जो आलोचक का कार्य केवल कृति की व्याख्या करना मानते है तथा अपना कोई मत प्रकट करना नही। ऐसे विद्वानो के वे इस विचार से सहमत नही है कि इस प्रकार के मत की अभिव्यक्ति से दूसरो पर प्रभाव पडता है। उनका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रन्थ के विषय मे, उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके इस मत से लोग लाभ भी उठा सकते है।"[1] वे मानते है कि गुणो तथा दोषो के विवेचन मे आलोचक का मत और निर्णय स्वत. ही आ जाता है तथा वह व्याख्या से भिन्न नही रहता।

वे आलोचना का विशेष महत्त्व तथा उपादेयता मानते है। उनका विचार है कि 'भिन्न रुचिर्हिलोक:' वाले सिद्धान्त के अनुसार सभी लोग अपने अलग-अलग मत के अनुसार किसी ग्रन्थ को अच्छा या बुरा कहते है। इसलिए स्थिर मत करने मे सबके लिए असमर्थता तथा कठिनता होती है। इस कठिनता को दूर करने मे अच्छे तथा विद्वान लेखक-आलोचक के मत का मूल्य होता है। वे यह भी नही मानते कि आलोचना से नए साहित्य की सृष्टि मे बाधा पडती है, क्योकि उनका मत है कि यह बाधक-तत्त्व ही प्रकारान्तर से साधक बन जाते है। उनका विचार है कि आलोचना साहित्य की पथ-प्रदर्शक तथा सहायक है और सदा साहित्य के पीछे चल कर उसका नियन्त्रण तथा शासन करती है। वे लिखते है कि 'आलोचना का अकुश लोगो को मनमाने रास्ते पर चलने से रोकता और उन्हे ठीक मार्ग पर 'चलने के लिए बाध्य करता है'.... 'जब वे कोई नया मार्ग ढूँढ लेते है तब आलोचक उस मार्ग के कटक आदि दूर करके उसे परिष्कृत करने लगते है और लोगो को गड्ढे मे गिरने से बचाने का उद्योग करते है।"[2] वे किसी ग्रन्थ की वास्तविक महत्ता तथा सर्वप्रियता, प्रचार के आधार पर नही मानते वरन् शिक्षित तथा परिष्कृत रुचि वाले समझदारो की सम्मति को महत्त्व देते है।[3] यह कार्य श्रेष्ठ आलोचक विशेष रूप मे कर सकते हैं।

वे आलोचक का विद्वान, बुद्धिमान, गुणग्राही और निष्पक्ष होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि आलोचक की लेखक तथा कवि के प्रति सहानुभूति रखनी आवश्यक है। वे लिखते है कि 'समालोचक यदि विद्वान न होगा तो वह ग्रन्थ के गुण न समझ सकेगा, यदि वह बुद्धिमान न होगा तो नीर-क्षीर के विवेक मे असमर्थ होगा और यदि वह निष्पक्ष न होगा तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा।"[4] वे आलोचक को विनय सम्पन्न, कवि-हृदय, साहित्यिक-रुचि-सम्पन्न तथा राग-द्वेप-रहित होना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि आलोचना

---

१ 'साहित्यालोचन' (स०१९९९), पृ० ३१९।
२ वही, पृ० ३२५।
३ वही, पृ० ३२८।
४ देखिए 'वही', पृ० ३२३।

एक प्रकार की कला है, जिसके लिए आलोचक के लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा आवश्यक होती है। वे आलोचक मे सरसता के गुण का भी विशेष महत्त्व स्वीकार करते है। उनका विचार है कि "आलोचक तथा कवि दोनो ही एक लोक के······एक मधुमति भूमिका के रहने वाले, एक जाति के और एक समान हृदय वाले व्यक्ति है, क्योकि दोनो ही प्रकाशमयी चेतना के दर्शन कराते है।[1]" किन्तु वे दोनो की कला मे यह अन्तर मानते है कि कवि की कला अभिव्यजना-प्रधान तथा आलोचक की कला विवेचना-प्रधान होती है।

उन्होने आलोचको के दोपो का भी विवेचन किया है। उनका विचार है कि आलोचक का निश्चित-शब्दावली न रखना, शब्दो का उचित अर्थ न समझकर आगे बढना, शब्दो की सच्ची-शक्ति न समझना, वक्ता, बोधव्य, प्रसग आदि का विचार न करना, काव्य के अग-प्रत्यग के विवेचन मे पूर्ण न होना तथा उसकी आत्मा की अवहेलना करना, विषय तथा निश्चित मानतुला का ज्ञान न रखना, लक्ष्य भ्रष्ट हो जाना, भाषा शैली की गहनता तथा अस्पष्टता, पूर्वपक्ष का पक्षपातपूर्ण स्थापन, मर्मस्थल का ज्ञान न होना, रूढि का आग्रह करना आदि उसके दोष है। उनका विचार है कि आलोचना के क्षेत्र से व्यक्तित्व तथा रुचि-वैचित्र्य का सर्वथा निष्कासन नही हो सकता।

उन्होने आधुनिक-समालोचना के चार प्रकार माने है, सैद्धान्तिक (स्पैक्यूलेटिव), व्याख्यात्मक (इनडक्टिव), निर्णयात्मक (जूडीशियल) तथा स्वतन्त्र या आत्मप्रधान, फ्री या (सबजेक्टिव) इसके अतिरिक्त उन्होने इसका एक और स्थूल-विभाजन दो प्रकारो मे किया है, एक शुद्ध सिद्धान्त तथा दूसरा उसका प्रयोग।

सैद्धान्तिक आलोचना के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि सिद्धान्त का आधार केवल परम्परा-प्राप्त रूढि, कवि-समय और तर्कपूर्ण नियम ही नही होने चाहिए वरन् रचनात्मक-साहित्य भी होना चाहिए। वे मानते है कि जब सिद्धान्तो मे कोई दोष या कमी खटके तो तुरन्त मूल-आधार अर्थात् साहित्य की ओर दृष्टि डालनी चाहिए। वे इस पक्ष मे है कि सिद्धान्त को सदैव स्वतन्त्र-साहित्य के आधार पर परखते रहना चाहिए।

वे व्याख्यात्मक या विश्लेषणात्मक आलोचना को सब से महत्त्वपूर्ण मानते है क्योकि अन्य चारो प्रकार की आलोचनाएँ इसी पर अवलम्बित रहती है। उनका विचार है कि यह आलोचना न्यायपूर्ण, बुद्धिसगत, समीचीन तथा श्रेष्ठ है, क्योकि इसके द्वारा कृति के महत्त्व का निर्णय होता है, सिद्धान्त-स्थिर होते है तथा उसके स्वरूप का ज्ञान होता है।[2] इसमे कृति को समष्टि रूप मे देखा जाता है, रचना से

---

१. साहित्यालोचन (स० १९९९), पृ० ३४४।
२. देखिए वही, पृ० ३३७।

चलकर रचयिता के आशय तक पहुँचा जाता है, अन्त साक्ष्य का आधार लिया जाता है, उदारता का व्यवहार होता है तथा यह प्रस्तुत-रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर निर्भर होती है। उनका विचार है कि इस आलोचना मे नियमो का उल्लघन दोष नही है, क्योकि प्रतिभाशाली कवि नियमो के उल्लघन से ही नवीन नियमों का विकास करते है। वे इस आलोचना मे यह ठीक समझते है कि बिना किसी प्रकार का निजी ऊहापोह किए हुए, किसी कृति मे आए हुए साक्ष्य के आधार पर ही आलोचक को अपनी आलोचना आधारित करनी चाहिए।

वे निर्णयात्मक आलोचना को भले बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति मे बाधक मानते है। उनका विचार है कि यह आलोचना व्याख्या के बिना न्यायपूर्ण और उचित नही हो सकती तथा इसमे कला के एक ही अग का मूल्य निर्धारण हो सकता है, उसके सम्पूर्ण स्वरूप, उपादान, उपकरण, माध्यम आदि का नहीं। वे उन आलोचको को जो केवल नियमो के आधार पर सम्मति स्थिर करते है निकृष्ट कोटि का आलोचक मानते है। उनका विचार है कि आलोचक को नियमो के बन्धन के आधार पर साहित्य की धारा बदलने की चेष्टा न करके केवल साहित्य के नैसर्गिक-नियमो को यथासम्भव प्रकट करना चाहिए तथा व्यक्तिगत मत-निरूपण को दूर रखते हुए साहित्य के स्वभाव का निरूपण करना चाहिए।

आत्म-प्रधान अथवा स्वतन्त्र आलोचना के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि इसमे ग्रन्थ या ग्रन्थकार की प्रधानता नही रहती वरन् आलोचक का दृष्टिकोण ही प्रधान रहता है तथा इसके द्वारा आलोच्य ग्रन्थ से हमारा ज्ञान-वर्धन नही होता वरन् आलोचक के सम्बन्ध मे होता है, क्योकि यह विवेचन की पद्धति की अपेक्षा आलोचक की रुचि या अरुचि पर आधारित होती है।[१] इन आलोचना के प्रकारो के अतिरिक्त वे आलोचना के लिए तुलना तथा ऐतिहासिक दृष्टि, विश्व-रुचि तथा मानव-आदर्श की भावना का ध्यान रखना आवश्यक समझते है। तुलना के बारे मे उनका विचार है कि एक ही काल, एक सी सीमा तथा लोक-रुचि के कवियो की परस्पर तुलना हो सकती है।

प्रेमचन्द्र—

प्रेमचन्द जी आलोचना के स्वरूप के अन्तर्गत विचार, तुलना, निर्णय, बुद्धि, प्रेम, आनन्द, कृतज्ञता आदि के अशो का आधार मानते हैं।[२] वे आलोचना का उद्देश्य साहित्य को इस प्रकार से परखना मानते है कि जिससे वह अधिकाधिक सत्य तथा सुन्दर के समीप पहुंच सके। उनका विचार है कि आलोचना का लक्ष्य साहित्य को अपनी सीमा मे रखने की व्यवस्था करना है तथा साहित्य के रस प्रवाह की बाधक

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १९९९) पृ० ३४२।
२ देखिए 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४), पृ० ३०।

वस्तुओं को प्रदर्शित करके निकाल देना है। उनके विचार से इसी कार्य के सम्पादन करने के कारण ही वह साहित्य का अग मानी जाती है। उनका विचार है कि सत्समालोचना के लिए आलोचक को ससार के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।[१]

जय शकर प्रसाद—

प्रसाद जी हिन्दी आलोचना मे भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओ का मिश्रण होने के कारण उसे अव्यवस्थित मानते है। उनका विचार है कि इसमे भारतीय की अपेक्षा पाश्चात्य-प्रभाव अधिक है तथा भारतीयता की तो केवल कभी-कभी दुहाई मात्र दी जाती है।[२] वे मानते है कि किसी देश के साहित्य की आलोचना को उस देश की सस्कृति को अपना आधार बनाना चाहिए, क्योकि वह उस देश की सामूहिक चेतना, मानसिक शील, शिष्टाचार तथा मनोभावो से सम्बद्ध रखती है तथा सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।[३] वे हिन्दी आलोचना के लिए भारतीय रुचि-भेद, ज्ञान तथा सौन्दर्य-बोध का आधार ग्रहण करना आवश्यक समझते हैं।

नन्द दुलारे वाजपेयी—

वाजपेयी जी ने पाश्चात्य-समालोचना की प्रसिद्ध-परिभाषाओ का विवेचन करके आलोचना के सम्बन्ध मे अपना विचार प्रकट किया है। वे मेथ्यू आर्नल्ड की इस परिभाषा को कि 'ससार के सर्वोच्च ज्ञान एव विचार के जानने और प्रचार करने का निर्लिप्त प्रयत्न ही समालोचना है" उचित नही समझते है, क्योकि ससार मे न तो निर्लिप्त प्रयत्न ही सम्भव हो सकते है और न ससार भर के सर्वोच्च ज्ञान तथा विचार का एकत्रीकरण सम्भव है। इसी प्रकार उन्होने वाल्टर पेटर की इस परिभाषा को कि "सौन्दर्य का निरीक्षण, उसका पृथक्करण तथा उसका अभिव्यजन ही सच्ची समालोचना है" इस सशोधित रूप मे स्वीकार किया है कि 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' का समुचित अन्वेषण, पृथक्करण तथा अभिव्यजना ही सच्ची समालोचना है।[४] इसी को वे भारतीय समालोचना का सनातन आदर्श मानते है।

वाजपेयी जी समालोचना के लिए ऐसी विद्वता की आवश्यकता समझते है, जो विचारशील तथा विवेकपूर्ण अध्ययन से प्राप्त हो सकती है। इस विचारशील अध्ययन के लिए वे भाषा-ज्ञान तथा साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता समझते हैं। भाषा-ज्ञान से उनका तात्पर्य हिन्दी के सम्यक् ज्ञान तथा साहित्य ज्ञान से हिन्दी

१ देखिए वही, पृ० ६२।
२ देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (सन् १६६६), पृ० ३।
३ देखिए वही, पृ० ५।
४. देखिए माधुरी ७ वर्ष खंड १, सख्या १, पृ० ११०।

साहित्य के भारतीय भावो तथा विचारो के क्रमवद्ध ज्ञान से है। इस प्रकार वे हिन्दी समालोचना के लिए आलोचक के पाश्चात्य भावो तथा विचारो की अपेक्षा भारतीय भावो तथा विचारो तथा हिन्दी भाषा के ज्ञान पर विशेष जोर देते है। विद्वता के अतिरिक्त वे आलोचना के लिए निष्पक्ष-विवेचन पर भी जोर देते हैं तथा इसके लिए सयम तथा सुरुचि की विशेष आवश्यकता मानते हैं। उनका विचार है कि आत्म-विज्ञान से संयम की हानि तथा छिद्रान्वेपरण से सुरुचि का नाश होता है।[1] उन्होने आलोचक मे व्यक्तिगत-रुचि तथा आग्रह का विरोध किया है[2] तथा उसके तटस्थ रहने को आवश्यक माना है। किन्तु वे तटस्थता को निर्विकल्प (एवसोल्यूट) नही मानते, क्योकि उनके विचार से आलोचक अपने बाहरी तथा भीतरी, सामाजिक तथा व्यक्तिगत सस्कारो से तथा एक समय और वर्ग से अपना सम्बन्ध नही तोड़ सकता। इस सम्बन्ध मे उनका कथन है कि 'इस तटस्थता से मेरा मतलब यह नही है कि वह अपनी सामाजिक और सस्कार-जन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नही है। इससे तो समीक्षक के अपने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। मेरा मतलब सिर्फ यह है कि इन व्यक्तिगत पहलुओ के होते हुए भी जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है, समीक्षक को तटस्थता कायम रखनी चाहिए।'[3] तटस्थता से उनका यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिकता से आलोचक का सम्पर्क ही छूट जाय। वे समालोचना मे सदिग्धता को लाभदायक समझते है। उनका विचार है कि 'एक ही दृष्टिकोण ससार मे नही होता' ऐसा विचार करके जो आलोचना लिखी जाएगी वह सकीर्णता से सर्वथा-रहित होने की अधिक सम्भावना रखेगी।"[4]

वे समालोचक के कार्य को बहुत पवित्र मानते है। उनका विचार है कि समालोचक अन्धो को रास्ता दिखाता, भूले-भटको को सन्मार्ग पर लाता और परिष्कृत-भूमि मे उन्हे चलाता है। इतना ही नही, कभी-कभी तो वह पथ-प्रचलित कवियो, औपान्यासिको आदि को भी सत्पथ-पथी बनाने का सदुद्योग करता है, साथ ही उनके सकुचित तथा अव्यवस्थित दृष्टिकोण को दुरुस्त करता है।[5] वे उसके लिए मौलिकता, गम्भीरता, न्यायशीलता आदि गुणो को आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि

---

१ "आत्म विज्ञापन की अभिलाषा सयम की पुरानी वैरिन है और छिद्रान्वेषण की प्रवृति तथा सुरुचि का भी यही सम्बन्ध है। अत इन दोनो कुसस्कारो का बहिष्कार सुसमालोचना के लिए अतीव श्रेयस्करणीय होगा।"

वही, पृ० ११३।

२ वही, पृ० ६०।

३. वही पृ० ६०।

४ वही, पृ० ११४।

५ देखिए माधुरी, ७ वर्ष, खड १, सख्या १, पृ० ६४।

आलोचक को महत्त्वपूर्ण या दार्शनिक व्याख्याएँ, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म रूप मे या तो भारतीय दर्शन के अनुसार या पाश्चात्य सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक आधार पर करनी चाहिए। वे उसके लिए यह अनिवार्य मानते है कि उसे किसी भी समस्या के व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रश्नो की खोज-बीन करनी चाहिए। वे मनोवैज्ञानिक, साँस्कृतिक तथा समाज-शास्त्रीय अध्ययन को आलोचना का आवश्यक अग मानते है तथा उसमे व्यक्तिगत, सामाजिक या युगानुकूल आदर्शो का महत्त्व नही मानते। वे व्यक्तिगत रुचियो तथा प्रेरणाओ से ऊपर उठकर किसी कृति की आलोचना करना तथा आलोचना के लिए किसी युग-विशेष के माप-दण्डो तथा साहित्यिक मान्यताओ की अपेक्षा सार्वजनिक मापदण्डो का प्रयोग करना उचित समझते है। उनका विचार है कि नवीन आलोचना की शैलियो का परिवर्तन नवीन सामाजिक समस्याओ के परिवर्तन के आधार पर होता रहना चाहिए।[1] वे मानते है कि आलोचक को अपने सामने आलोच्य-विषय तथा वस्तु की रूपरेखा स्पष्ट रखनी चाहिए तथा उसके साहित्यिक वैशिष्ट्य का निरूपण अवश्य करना चाहिए।

वाजपेयी जी आलोचना का आधार, ऐतिहासिक वस्तु-स्थिति, सामाजिक विकास-क्रम, रचयिता के व्यक्तित्व तथा विचारधारा के साथ, रचना के मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक उपकरणो के अध्ययन आदि तत्वो को मानते है। वे किसी कृति की विशेषता का अनुरजित निरूपण हीन-कार्य मानते है। उनके विचार से दोष-दर्शन तथा निन्दा वाली आलोचना गाधी जी के शब्दों मे 'ड्रेन इन्स्पेक्टर्स रिपोर्ट' है तथा पूर्णतया निराधार या निस्सार आलोचना केवल 'ड्रेन' है। वे समालोचना के क्षेत्र मे दलबन्दी के पक्ष मे नही है। वे मानते है कि सच्ची समीक्षा को उस भावना-भूमि पर विशेप रूप से स्थिर होना चाहिए, जिस पर स्थिर होकर कवि का कार्य प्रणीत हुआ था। उनका यह भी विचार है कि आलोचना किसी पूर्व निश्चित, दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त के आधार पर नही हो सकती। वे मानते है कि आलोचना का 'पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसधान। इस कार्य मे उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म-सौन्दर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धान्त-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धान्त तो उसमे बाधक ही बन सकते है।"[2]

वे आलोचक का आलोच्य-युग की प्रवृत्तियो से तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक समझते है किन्तु उनका विचार है कि यदि अपना अलग मत तथा रुचि बनाकर कोई कवि काव्यालोचन मे प्रवृत्त होगा तो वह कवि के सौन्दर्य के दर्शन करने की अपेक्षा अपने मन की छाया ही उस रचना मे देखेगा। सिद्धान्त तो परिवर्तनशील होते है तथा उनके बारे मे कभी मतैक्य नही होता, पर सौन्दर्य के

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य-बीसवी शताब्दी' (प्रथम सस्करण), पृ० ८३।
२. देखिए वही, पृ० ८३।

सम्बन्ध में कभी दो राय नहीं हो सकतीं। वे मानते हैं कि सूक्ष्म बुद्धि से उद्भावित समीक्षा, परिष्कृत, स्वस्थ तथा पुष्ट मस्तिष्क की ही उपज हो सकती है तथा यह ऐसे आलोचक के द्वारा लिखी जा सकती है, जिसने जीवन-तत्व का अनुसंधान किया है। वे मानते हैं कि "आलोचक को साहित्य में जीवन की समुज्ज्वल आह्लादनी अभिव्यक्ति देखनी होती है। उसे इस बात का निरीक्षण करना पड़ता है कि कवि ने जीवन-सौन्दर्य की कला पाठकों के हृदय में खिला दी है या नहीं। एकमात्र आदर्श अन्तः रचना में प्राणों के स्वरूप का दर्शन करना......उसी की समीक्षा करना होना चाहिए। अतः प्रत्येक रचना का व्यक्तित्व, उसकी निजता, उसकी प्रमुख आकृति, उसका तारतम्य समझ लेने के पश्चात् ही उसकी आलोचना की जानी चाहिए।"[1]

आलोचना के विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में उनका विचार है कि इसकी मनोवैज्ञानिक शैली, स्वस्थ, बाह्यमुखी तथा स्वच्छन्द साहित्य का मानदण्ड नहीं है, क्योंकि यह एकांतिक तथा व्यक्तिमुखी है। उनका मत है कि प्राचीन काल में धर्म तथा दर्शन के साथ उस युग की समस्त विकासोन्मुखी संस्कृति जुड़ी हुई थी। उस संस्कृति के सम्पूर्ण विकास का लेखा लगाए बिना, किसी कवि या उसके काव्य का मनोविश्लेषण के आधार पर अनुशीलन करना भयानक एकांगिता है।[2] वे इसकी केवल यह उपयोगिता मानते हैं कि इसके द्वारा साहित्यिक निर्माण तथा आस्वादन की प्रक्रिया में मानव की आदि जातवृत्ति (काम वृत्ति) के स्थान का निर्धारण हो सकता है तथा साहित्य की उन शैलियों तथा रचना-प्रकारों को भी समझा जा सकता है, जिनमें अस्वस्थता-जन्य कल्पनाओं और प्रतीकों का बाहुल्य होता है।[3] इसी प्रकार उन्होंने वर्गवादी, समाज-शास्त्रीय आलोचना की भी सीमाएँ मानी हैं। उनका विचार है कि वह सूर, तुलसी जैसे महान् कवियों की अपार प्रतिभा को अपने सिद्धान्तों की सीमा में नहीं समा सकती, क्योंकि इनकी प्रतिभा वर्ग-विभाजन के दर्शन के ऊपर उठकर समस्त मानवता की वस्तु है। इसी प्रकार उन्होंने जीवन-चरितात्मक-आलोचना का भी बहिष्कार किया है। वे किसी जीवनी के आधार पर कुछ साहित्यिक-निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं मानते। उनका अन्य प्रमाणों द्वारा पुष्ट होना आवश्यक है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मिश्र जी मम्मट की भाँति आलोचना या समीक्षा का तात्पर्य किसी साहित्यिक रचना का अन्तर्भाष्य करना मानते हैं (अन्तर्भाष्य समीक्षा अवान्तरार्थ विच्छेदश्च सा——काव्य मीमांसा) उनका विचार है कि भारतीय समीक्षा-शास्त्र रस के आधार पर आधारित होने के कारण पुष्ट आधार पर स्थित है। वे काव्य की

---

१. 'देखिए हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी' प्रथम संस्करण, पृ० १५१।
२. देखिए 'आधुनिक साहित्य' (सं० २००७), पृ० १२।
३. देखिए 'महाकवि सूरदास' प्राक्कथन (सन् १९५२), पृ० १२।

प्रक्रिया की दो स्थितियाँ मानते हैं, एक तो भाव-मग्न होने की तथा दूसरे प्रशस्ति गाने की। पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति मान लेने से केवल प्रशस्ति ही की स्थिति सामने आती है। रस की अनुभूति होने के कारण ही हमारे यहा आलोचक सहृदय कहा जाता है। वे भी शुक्ल जी की भाँति समीक्षा को साहित्य का बुद्धि-पक्ष मानते हैं क्योकि वह भाव की अपेक्षा विवेचन की शैली से चलती है। वे उसका शास्त्र-सम्मत तथा लोक-सम्मत होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि आलोचना मे पाश्चात्य मान-दण्डो के साथ भारतीय मानदण्डो का आधार लेना आवश्यक है।[1]

वे आलोचना का यह प्रयोजन तथा महत्त्व मानते है कि आलोच्य-व्यक्ति तथा रचना की विशेषता से साहित्य के अध्येता पूर्णतया परिचित हो और उसके गुण दोषो के विवेचन से भावी प्रणेता सभले।[2] उन्होने निर्णयात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक तथा परिचयात्मक-आलोचना पर अपने विचार प्रस्तुत किए है। उन्होने परिचयात्मक तथा तुलनात्मक आलोचना को निर्णयात्मक आलोचना का सहायक माना है। वे तुलनात्मक-आलोचना मे केवल साम्य तथा वैषम्य का ही प्रदर्शन आवश्यक नही समझते, क्योकि केवल इनसे ही कृतियो या कवियो का पृथक्-पृथक् पूर्ण उद्घाटन सम्भव नही है। उन्होने विश्लेषणात्मक आलोचना की विशेष महत्ता मानी है क्योकि इसके द्वारा निरपेक्षता से गुणो तथा दोषो का विवेचन तथा रचयिताओ की भिन्न-भिन्न विशेषताओ का सूक्ष्मता के साथ उल्लेख होता है। वे इस आलोचना के लिए पाडित्य तथा सहृदयता की आवश्यकता समझते है।

वे प्रभाववादी-आलोचना का विरोध करते है क्योकि यह विना निश्चित सिद्धान्तो का आधार लिए हुए उद्गार के रूप मे प्रस्तुत होती है। यह अपरिचित रूप भी प्राप्त कर सकती है, क्योकि इस आलोचना मे जितने प्रकार के आलोचक होगे उतने प्रकार की आलोचनाएँ होगी। वे आलोचक के दो रूप, पाठक तथा विचारक मानते हैं तथा यह समझते है कि आलोचक को विचारक के रूप मे यह भी सोचना पडता है कि कोई कविता पढकर उसके हृदय मे वे भावनाएँ क्यो जगी तथा उसका मन उसमे क्यो लीन हुआ। वे केवल आलोचक की रस-दशा के वर्णन को आलोचना नही कहते। वे इस आलोचना को खडनात्मक तथा मडनात्मक आलोचना का एक रूप मानते हं, जिसका आधार रचयिता के सम्बन्ध मे पूर्व-निश्चित मत या उसके काव्य का सुखात्मक या दुखात्मक प्रभाव है।

राम शकर शुक्ल 'रसाल'—

शुक्ल जी ने 'आलोचनादर्श' नामक पुस्तक मे आलोचना की परिभाषा, अर्थ, उद्देश्य, रूप, भाषा, शैली, आलोचना के रूप, आलोचक के गुण तथा कर्त्तव्य आदि का विवेचन किया है। वे भी आलोचना को किसी वस्तु के सम्यक् प्रकार से देखने

---

१ देखिए 'वाड्मय विमर्श (स० १९९९), पृ० १६८।
२ देखिए 'वाड्मय विमर्श (स० १९९९), पृ० १६७।

की व्यवस्था मानते है।[1] उनका विचार है कि किसी वस्तु का सागोपाग निरीक्षण करके तथा उसकी बाह्यान्तरिक समस्त बातो पर विचार करके उसके ज्ञानानुभव का ऐसा निरूपण करना कि उसका पूरा परिचय सभी व्यक्तियो को मिल जाय, आलोचना कहलाता है।[2] वे आलोचना का मूल-अर्थ निर्णय करना मानते है तथा आलोचक उस सुयोग्य-व्यक्ति को कहते है, जो निर्णायक के समान किसी रचना के गुणो और दोषो का यथोचित निरीक्षण तथा विश्लेषण करके उनके ही आधार पर उस रचना का निर्णय करता है।[3] वे लिखते है कि "यदि साहित्य को मानव जीवन, प्रकृति और कला की ज्ञानानुभूति का भिन्न-भिन्न रूपो मे विवेचन या चित्रण कहे और उसे इन सबका स्पष्टीकरण या प्रकाशन ही मान लें तो आलोचनात्मक साहित्य को उस विवेचन, चित्रण या स्पष्टीकरण का काव्यात्मक निर्णय और प्रदर्शन कह सकते है।[4] वे आलोचना मे स्वय मत-प्रकाशन को उसका प्राण-तत्व तथा आलोच्य-ग्रन्थ के सम्यक् अवलोकन (सूक्ष्म परिचय, निरूपण आदि) को उसका शरीर तथा गुण-दोष-निदर्शन, कला-कौशल-प्रकाशन आदि को उसके अग-प्रत्यग कहते है।[5] वे आलोचना को व्यक्तिगत, प्रभावपूर्ण तथा आत्मगत सत्य मानते है।[6] उन्होने आलोचना मे रुचि-पार्थक्य तथा विचार वैलक्षण्य की स्वाभाविक अनिवार्यता मानी है, क्योकि उनके विचार से आलोचना आलोचक के व्यक्तित्व का ही प्रकाशन है। वह व्यापक और सर्वमान्य नही हो सकती, क्योकि आलोचको की योग्यता, रुचि, प्रतिभा आदि के वैलक्षण्य एव पार्थक्य के कारण जो अन्तर उनके मूल्यो, प्रभावो और उनकी प्रतिष्ठा आदि मे पडता है वही उनकी आलोचनाओ मे भी पडता है।

वे आलोचना को कला तथा विद्या दोनो ही समझते है तथा उसके दो प्रकार, सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक मानते है। उनका विचार है कि आलोचना का विकास प्रयोगात्मक रूप से होकर सैद्धान्तिक विज्ञान की ओर आया है।[7] उनके मतानुसार आलोचना की कला अपने गवेषणात्मक (इन्डक्टिव) रूप से विकसित होकर शास्त्रीय रूप मे परिणत होती हुई पहले स्थिर हो गई है तथा फिर निर्णयात्मक रूप को प्राप्त हुई है। यह विज्ञान तथा कला दोनो ही रूपो मे चलती रहती है तथा इसे निगमनात्मक तथा आगमनात्मक दोनो शैलियो से कार्य लेना पडता है।

उनका विचार है कि आलोचना किसी साहित्यिक-रचना के कौशल, गुण, दोष और उसकी विशेषताओ की निर्णायक है।[8] वे उसमे विषय का वास्तविक ज्ञान,

---

१ देखिए 'आलोचनादर्श' (सन् १९३८), पृ० २।
२ देखिए वही, पृ० ३।
३ देखिए वही, पृ० ७।
४. वही, पृ० ९, १०।
५. देखिए वही, पृ० ५१।
६ देखिए वही, पृ० २५७।
७ देखिए वही, पृ० १४।
८ देखिए वही, पृ० ६।

सहानुभूति, न्याय-निष्ठा, सुरुचि, भावुकता या सहृदयता तथा शिष्टतापूर्ण लोकानुभूति, रुचि, सद्भावना, अन्तर्दृष्टि, निष्पक्षता, सतर्कता, विचारधारा का संस्कृत होना तथा निर्णय का नियन्त्रित तथा शिष्ट होना आवश्यक मानते है। उनका विचार है कि सत्समालोचना एक सुयोग्य, समर्थ, अनुभवी व्यक्ति ही कर सकता है। वे मानते है कि आलोचक हमारा पथ-प्रदर्शक, मित्र, सहचर तथा शिक्षक है, जो ज्ञानानन्द प्राप्त करने मे रुचि ही उत्पन्न नही करता वरन् स्वय स्वाध्याय के पथ की ओर अग्रसर होता है।[1] वे मानते है कि आलोचक को आलोचना करने से पूर्व अपना एक दृष्टिकोण नही निश्चित करना चाहिए वरन् रचयिता के दृष्टिकोण को ही अपनाना चाहिए। उनका विचार है कि उसे ग्रन्थकार से अपना रुचि-साम्य भी कर लेना चाहिए क्योकि उसके बिना भी आलोचना यथोचित निष्पक्ष, सत्य और शिष्ट नही हो सकती।[2] उसे केवल शास्त्रीय-नियमो की चरितार्थता ही नही देखनी चाहिए वरन् मौलिक, नवीन, रुचिर तथा रोचक विशेषताओ पर भी दृष्टिपात करना चाहिए।

उनका मत है कि कवि की भाँति आलोचक भी जन्म से ही पैदा होते है। वे आलोचक मे शुद्ध-हृदय तथा विमल-मन का योग, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, सत्यप्रियता, वास्तविकता, तथ्य-निष्ठता, वचन का माधुर्य पूर्ण होना, गुण-ग्राहकता, सुधार की भावना, दोष-परिमार्जन, सम तथा सूक्ष्म दृष्टि, निष्कपटता, शान्ति, धैर्य, गम्भीरता, उदारता, सहृदयता, सरसता, भावुकता, सौन्दर्य-उपासना, प्रकृति-प्रेम, लोकानुभूति, मन या मस्तिष्क की स्वच्छता, सद्ग्रन्थो का अवलम्बन, बुद्धि की तीव्रता, तर्क-शक्ति, स्थिर-बुद्धि, एकाग्रता, प्रज्ञा, वाक्-पटुता या प्रत्युत्पन्नमति, बहुज्ञता, बहुश्रुतता, मानसिक-नियन्त्रण, साहित्य-ज्ञान, विद्योपार्जन आदि गुणो का होना आवश्यक समझते है। वे मानते है कि सुयोग्य-लेखक को किसी कृति मे यह देखना चाहिए कि उसमे ग्रन्थकार ने धर्म, सभ्यता और साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया है तथा उसने अपने नए-नए प्रयोगो, शब्दो, पदो, लोकोक्तियो, चातुर्य-चमत्कारो आदि से भाषा तथा शैली मे क्या नवीनताए उत्पन्न की है।[3] उसे किसी रचना मे रचनाकार के उद्देश्य, उत्पादक-साधन तथा मौलिकता आदि बातो का भी पता लगाना चाहिए। उसे किसी आलोच्य-वस्तु मे लेखक के ज्ञान, अनुभव तथा चरित्र के अतिरिक्त देश, समाज अथवा जनता का प्रतिबिम्ब भी देखना चाहिए।

उनका विचार है कि आलोचक को भिन्न प्रकार की आलोचना-शैलियो के लिए भिन्न प्रकार की भाषा-शैलियो का प्रयोग करना चाहिए। वे आलोचक की भाषा मे स्पष्टता, गूढता-हीनता, अनलकृतता, सरलता, स्वाभाविकता, उपयुक्तता, सत्यता, प्रभावोत्पादकता, रोचकता तथा भावपूर्णता का होना अनिवार्य मानते है।

---

१. देखिए वही, पृ० ६७।
२ देखिए वही, पृ० ७५।
३. देखिए वही, पृ० १७६।

उनका विचार है कि आलोचक में आलोचना की विविध शैलियो के उपयोग की क्षमता होनी चाहिए तथा उसके वाक्य सीधे-सादे, स्वल्प, स्वाभाविक तथा इतिवृत्त-पूर्ण होने चाहिए।

उन्होंने किसी कृति का निरीक्षण करने के लिए भी आलोचको के कुछ कर्त्तव्य निर्धारित किए हैं। वे कहते हैं कि आलोचक को आलोच्य-वस्तु या रचना के विषय मे अपने आपको एक सीमा मे रखना चाहिए, उसमे व्यर्थ का शब्दाडम्बर, वाग्जाल तथा वितण्डावाद नही लाना चाहिए, उसको आवश्यकता से अधिक विस्तार नही देना चाहिए तथा मर्यादा अर्थात् सहृदयता, शिष्टता, सद्भावना तथा सुरुचि का ध्यान रखना चाहिए। वे उसमे सूक्ष्म तर्क-बुद्धि, दिव्य दूर-दर्शिता, मानव-प्रकृति-पटुता, कल्पना-कुशलता, जीवनानुभूति मे स्वाभाविक सत्यता आदि के गुण अनिवार्य मानते हैं। उनका विचार है कि आलोचक के विभिन्न रूप होते हैं। वह वैज्ञानिक की भाँति किसी रचना के आधार पर व्यापक-नियम निश्चित करता है, टीकाकार के रूप मे रचना को समझता तथा समझाता है, न्यायाधीश की भाँति मूल्य तथा स्थान का निर्णय करता है, वकील की भाति उसका पक्ष प्रतिपादित, परिपुष्ट या सिद्ध करता है। वह अपनी आलोचना मे ऐतिहासिक और दार्शनिक के रूप मे भी उपस्थित होता है।

आलोचना की उपादेयता के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि आलोचना द्वारा पाठक तथा लेखक उन दोषो से सावधान हो जाते हैं, जिनसे किसी रचना मे अरुचिकर एव अनीप्सित कलुषता आ जाती है। आलोचना के द्वारा किसी ग्रन्थ का सौन्दर्य इस प्रकार प्रकट हो जाता है कि वह ग्रन्थ दूसरो के लिए पूर्णतया सुबोध, सुगम और सरल हो जाता है। सत्समालोचना किसी रचना को उसके रचयिता से भी अधिक चमका देती है तथा उसकी जटिल और दुर्बोध-ग्रन्थियो को खोलकर रचना को सुबोध बना देती है। इसके द्वारा कवि या लेखक की मार्मिक प्रतिभा प्रकट हो जाती है तथा स्वय आलोचक की प्रवृत्ति, रुचि, प्रकृति, योग्यता तथा आत्मा के विषय मे भी हमारा ज्ञान बढ जाता है। वे मानते हैं कि आलोचना से साहित्य की समृद्धि होती है, लेखको तथा कवियो को प्रोत्साहन मिलता है, गद्य की तर्कपूर्ण विवेचन करने की शैली परिपक्व होती है, साहित्य तथा उसके रसास्वादन दोनो ही मे सहायता मिलती है तथा जनता को सुपाठ्य-पुस्तको का सचयन करने मे पथ-प्रदर्शन मिलता है। इससे देश, समाज तथा साहित्य का भी हित होता है क्योंकि यह साहित्य तथा समाज का सुधार, सशोधन तथा सस्कार भी करती है।

आलोचना के प्रमुख उद्देश्य के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि किसी सौन्दर्य-पूर्ण वस्तु या विषय के गुण अथवा उसके मूल्य का निर्धारण करना, उसके सम्बन्ध मे अपना पक्षपात-हीन निर्णय देना, उसके सुखद सौन्दर्य तथा उसकी रोचक विशेषताओ को प्रकट करना, उसमे रुचिरता तथा रोचकता की खोज करके उन्हे स्पष्ट करना आलोचना का उद्देश्य है।[1]

---

१ देखिए 'आलोचनादर्श' (१९३८), पृ० ६।

उन्होने शास्त्रीय, विश्लेषणात्मक, प्रभावात्मक, जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, विषय-विवेचनात्मक, ऐतिहासिक, सौष्ठववादी, यथार्थवादी, वैज्ञानिक तथा सिद्धान्तानुवेषणी आलोचनाओ का विवरण दिया है। उनका विचार है कि शास्त्रीय आलोचना मे आलोच्य-कृति को शास्त्रीय कसौटी पर कसा जाता है तथा विश्लेषणात्मक आलोचना मे उसका विश्लेषण करके उसके गुणो और दोषो के आधार पर निर्णय दिया जाता है। वे विश्लेषणात्मक-आलोचना को शास्त्रीय आलोचना के अन्तर्गत मानते है, क्योकि इसका आधार शास्त्रीय होता है।

वे प्रभावात्मक या अनुभूतिव्यंजक आलोचना के दो रूप, वैयक्तिक तथा सामाजिक मानते है। उनका विचार है कि वैयक्तिक आलोचना मे रचना के उन प्रभावो पर प्रकाश डाला जाता है, जो केवल आलोचक पर पडते है तथा दूसरी सामाजिक आलोचना मे किसी रचना के समाज पर पडने वाले प्रभावो का वर्णन होता है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक-आलोचना के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि इसमे किसी लेखक या कवि की जीवनी को भली प्रकार जानकर तथा उसकी परिस्थिति, समाज, योग्यता, अनुभूति, प्रकृति, मनोवृत्ति, स्वभाव, व्यवहार, चरित्र आदि का यथोचित एव यथासम्भव पूर्ण परिचय प्राप्त कर चुकने पर, उसकी रचना पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाती है और रचयिता तथा रचना दोनो की तुलना करके, दोनो के सामजस्य का निर्णय किया जाता है। इस आलोचना मे वे जीवन-चरितात्मक तथा ऐतिहासिक दोनो आलोचनाओ का मिश्रण मानते है, जो असगत है। वास्तव मे मनोवैज्ञानिक आलोचना का सम्बन्ध लेखक के मन की प्रक्रिया के अध्ययन से ही है।

अभिव्यजनावाद से उनका तात्पर्य यह है कि इसमे केवल किसी रचना की अभिव्यजना, पद्धति देखी जाती है तथा इसमे रचना का महत्त्व, उसकी भाषा और शैली के ही महत्त्व पर सर्वथा आधारित रहता है। वे सौष्ठववादी तथा रोमाटिक आलोचना उसे कहते है, जो अन्त प्रकृति के चित्रण तथा उसकी व्याख्या को ही प्रधान मानती है और वाह्य-प्रकृति आदि को गौण रूप मे स्वीकार करती है। वे इसका सम्बन्ध भाव, भाषा, शैली, सभी के वैचित्र्य से मानते है। उनका विचार है कि उसमे कल्पनाओ तथा भावनाओ के सुन्दर रूपो और सौन्दर्यानन्द की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के दर्शन होते है। कोमलता या मार्दव (डेलीकेसी), स्निग्धता (स्मूथनेस), ललित लावण्य तथा सरल कान्ति (ग्रेस) सुन्दर तथा सुखद भाव, भावनाओ की मार्मिक अनुभूति, माधुर्यपूर्ण मजुलता आदि सभी गुणो को वे इन आलोचनाओ के अग मानते है। उनके विचार से रचना मे सौष्ठव की खोज कर उसे स्पष्ट करना इस आलोचना का लक्ष्य है। इस आलोचना मे भी वे यह मानते है कि आलोचक किसी नियम से बाध्य नहीं होता तथा अपना निजी मत प्रतिपादित करता है। आलोचक को इस प्रकार की आलोचना मे रचना के अन्दर ही नियम प्राप्त होते है, उसके बाहर नहीं। उनका कथन है कि "रचना मे रचयिता के मन (हृदय और मस्तिष्क) के रहस्यो या मर्मो की छानवीन एव गवेषणा करते हुए उसके प्रभावो को

पूरी स्वतन्त्रता के साथ देखकर ही अपना मत-निर्धारित करना इस वाद का मूल मर्म है।[1] उनका विचार है कि यथार्थवादी आलोचना का जन्म सौष्ठववाद के विरोध मे हुआ है। इसमे चित्रण मे वास्तविकता, स्वाभाविकता, सत्यता तथा स्पष्टता के साथ वाह्य-प्रकृति, सृष्टि और उसके पदार्थों का प्राधान्य होता है।[2] वे मानते है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य मे सौष्ठव की ही प्रमुखता है।

इन आलोचना के प्रकारो के अतिरिक्त वे हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर एक और प्रकार मानते है। इस विषय-विवेचनात्मक शैली नामक नए प्रकार के अन्तर्गत किसी रचना के सम्बन्ध मे कोई मत नही दिया जाता तथा विषय का विवेचन करके उसका निर्णय पाठको पर छोड़ दिया जाता है।[3]

रसाल जी के आलोचना के प्रकारो के विभाजन मे स्पष्टता नही है क्योकि इन्होने काव्य के सिद्धान्तो तथा वादो, आलोचना के पाश्चात्य प्रकारो तथा हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर आलोचना के प्रकारो का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इनके पाश्चात्य-आलोचना के प्रकारो मे एक प्रकार की आलोचना के स्वरूप के लक्षण दूसरे प्रकार के अन्तर्गत भी सम्मिलित कर लिए गए है। पाश्चात्य-काव्य के वादो का आलोचना के प्रकारो से कोई सम्बन्ध नही है। उन वादो के सिद्धान्त केवल आलोचना के आधार या मानदण्ड बन सकते है, आलोचना के विभिन्न प्रकार नही बन सकते।

शिवनाथ

शिवनाथ जी ने आलोचना का अर्थ विवेचन या विश्लेषण माना है।[4] उनका विचार है कि प्राचीन काल मे इसका अर्थ दोष-दर्शन, गुण-कथन तथा गुण-दोष-निर्धारण था। वे तुलना तथा सहानुभूति को इसके स्वरूप के अन्तर्गत नही मानते।[5] वे आलोचना के नाम पर सहानुभूति-प्रदर्शन अथवा दोष का गुण के रूप मे प्रतिपादन उचित नही समझते।

वे प्रमुखत आलोचना के तीन प्रकार, निर्णयात्मक, विवेचनात्मक (इन्डक्टिव) तथा प्रभावाभिव्यजक मानते है। वे निर्णयात्मक-आलोचना को केवल रुचि पर निर्भर नहीं समझते। उनका विचार है कि बिना विवेचन के निर्णयात्मक आलोचना सफल नही हो सकती तथा इसमे आलोचना के सिद्धान्तो का भी चिन्तनपूर्ण स्थान होता है। इसी प्रकार उन्होने व्याख्यात्मक-आलोचना का प्रधान-लक्ष्य, किसी कृति का मूल्योद्घाटन करना माना है। उनका विचार है कि इसमे बाह्य-सिद्धान्तो का

---

१ देखिए 'आलोचनादर्श' (१९३८), पृ० २४८।
२ देखिए वही, पृ० २४५।
३ देखिए वही, पृ० २११।
४ देखिए 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (स० २०००), पृ० १२५।
५ देखिए वही, पृ० १२५।

सन्निवेश न होकर आलोच्य-रचना को ही सिद्धान्त समझा जाता है। इस प्रकार की आलोचना के लिए वे आलोचक मे निरीक्षण-शक्ति तथा व्यापक काव्य-मर्मज्ञता की आवश्यकता समझते है। वे मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक आलोचना को भी इस आलोचना के अन्तर्गत समझते है, क्योकि इसमे इन आलोचना-शैलियो का आधार लिया जाता है।

वे मोल्टन की प्रभावाभिव्यजक आलोचना की परिभाषा को अपनाकर उसकी दो रूपो मे व्याख्या करते है, एक तो यह कि इसमे विचार या विवेचन की अपेक्षा किसी रचना के, हृदय पर पडे विचारो की अभिव्यक्ति होती है, दूसरे यह कि इसमे प्रभावो की व्यजना भावात्मक शैली मे होती है, जिसके कारण आलोचना एक स्वतन्त्र-रचना के रूप मे प्रस्तुत होती है। वे इस प्रकार की समालोचना को व्यक्त करने वाली भावात्मक शैली से सहमत नही है। वे इसे व्यक्तिगत वस्तु नही मानते क्योकि उनका विचार है कि एक रचना का प्रभाव अनेक व्यक्तियो पर समान रूप से पडता है तथा सत्समालोचको द्वारा प्रस्तुत होने पर एक रचना की आलोचना मे विशेष अन्तर नही पडता। हम इनकी इस धारणा का समर्थन नही कर सकते, क्योकि यह तथ्य मनो-विज्ञान के विरुद्ध है कि एक रचना का एक ही प्रकार का प्रभाव पाठको पर पड़ेगा। वास्तव मे काव्य में विभिन्न तत्वो का समावेश होता है तथा प्रत्येक तत्व अपने विशिष्ट रूप मे पाठक पर प्रभाव डालेगा। इसी प्रकार पाठक भी एक काव्य को अपने विभिन्न दृष्टिकोण से देखता है। यह आवश्यक नही है कि वह रचनाकार के दृष्टिकोण को ही अपनाए। इसलिए प्रभाववादी आलोचना एक व्यक्तिगत वस्तु है। उन्होने मोल्टन द्वारा निर्देशित सैद्धान्तिक-आलोचना का भी उल्लेख किया है। उनके विचार से इसके अन्तर्गत साहित्य के सिद्धान्त तथा दर्शन आते है।[1]

डा० रामकुमार वर्मा

वर्मा जी आलोचना के बिना साहित्य का कोई महत्व नही मानते। उनका विचार है कि समालोचना ही साहित्य मे जान डालती है, उसमे सौन्दर्य के अस्तित्व को खोज निकालती है तथा उसकी गूढतम भावनाओ और विचारो का पता लगाती है।[2] वे आलोचना के आवश्यक अग, आलोच्य-विषय से लेखक की पूर्ण जानकारी, निष्पक्षता, कृतिकार की अपेक्षा कृति का विचार करने की प्रवृत्ति, शिष्ट तथा सभ्य भाषा का प्रयोग, केवल प्रशसा तथा निन्दा करने की प्रवृत्ति का अभाव आदि मानते है।

गगा प्रसाद पाडेय

पाडेय जी आलोचना को साहित्य मे सौन्दर्य-सम्पादन की रुचि का फल कहते है।[3] उनका विचार है कि आलोचना मे कोई बात व्यक्तिगत नही होती क्योकि इसके

---

१ देखिए 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (सं० २०००), पृ० २२८।

२. देखिए 'साहित्य समालोचना' (सन् १९४२), पृ० १३२।

३. देखिए 'काव्य-कलना' (१९४१), पृ० ९।

जितने विषय, सिद्धान्त, आदर्श तथा उद्देश्य हैं, वे सबके लिए समान होते है तथा उनका सब के लिए सामाजिक मूल्य होता है। इसमे व्यक्तिगत सत्य की अपेक्षा सार्वजनिक सत्य का ही प्रतिपादन होता है।

वे आलोचक का जीवन, निश्चिन्त, सरस तथा नि स्वार्थ होना आवश्यक समझते हैं[1] तथा उसके लिए मनोविज्ञान का ज्ञान, विश्व-साहित्य का अध्ययन, उदार चित्त-वृत्ति तथा निजी रुचि का होना अनिवार्य मानते है।[2] वे मानते है कि आलोचक साहित्य मे सुरुचिपूर्ण साहित्य की स्थापना कर सकता है, क्योकि साहित्य एक कला है, जो मनुष्य प्रणीत है और जो कुशल कारीगरो द्वारा सुन्दर से सुन्दर बनाई जा सकती है। उसे रचियता के हर एक भाव, शब्द तथा वाक्य मे उसके मस्तिष्क की अनोखी उपज नही देखनी चाहिए तथा व्यक्ति की अपेक्षा कृति को ही देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे अपनी बात निर्भीकता से कहनी चाहिए, परिचय और व्यक्तिगत राग द्वेष को दूर रखना चाहिए तथा उसके पास कृति को समझने की परिपूर्ण बुद्धि तथा परखने के साधन होने चाहिए।

उपर्युक्त आलोचको के अतिरिक्त अन्य आलोचको ने भी आलोचना के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए है। कालिदास कपूर आलोचना मे प्रकाश और छाया, गुण और अवगुण, दोनो का सम्मिश्रण उचित मानते है। वे आलोचक मे सहृदयता, साहस, धैर्य, कृतियो के देश-काल की सामाजिक-स्थिति से परिचय, लेखको के जीवन से जानकारी तथा प्राचीन आलोचना-पद्धतियो का ज्ञान आवश्यक समझते हैं।[3] इसी प्रकार नलिनी मोहन सान्याल का विचार है कि साहित्य-जगत मे आलोचक का विशेष महत्त्व है तथा उसमे उच्चकोटि की स्वाभाविक-शक्ति, भाषा की विभिन्न शैलियो, नाना रसो आदि का ज्ञान तथा कविता के उत्कर्षापकर्ष को जानने की अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। उनका विचार है कि समालोचक को मूल सृष्टि की पुन. सृष्टि करनी पडती है। नगेन्द्र जी समालोचना को अपने मूल रूप मे ऋणी पाठक का कृतज्ञता प्रकाशन मानते है।[4] उनका विचार है कि आलोचक को अपने अनुभवो तथा धारणाओ का साहित्य के नियमो के अनुकूल साधारणीकरण अवश्य करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-काल के आलोचको ने आलोचना की परिभाषा, स्वरूप, उपादेयता, शैली, प्रकार, आधार, मानदण्ड, उद्देश्य, आलोचक के गुण, दोष, कर्त्तव्य, अधिकार, महत्त्व, कार्यपद्धति आदि विषयो का विवेचन किया है।

---

१ देखिए वही, पृ० १२।

२ देखिए वही, पृ० १५।

३ देखिए 'साहित्य समीक्षा' (१९३३), पृ० १७।

४. देखिए 'साकेत-एक अध्ययन' (१९४७), निवेदन।

इनका आलोचना के स्वरूप के सम्बन्ध मे यह विचार है कि आलोचना किसी वस्तु का सभी अंगो मे ज्ञान प्राप्त करना, सागोपाग निरीक्षण करना तथा उसकी बाह्य और आन्तरिक सब बातो पर विचार करके उसके सम्बन्ध मे अपने ज्ञानानुभव का निरूपण करना है। किसी ग्रन्थ पर अच्छी तरह विचार करना, उसके गुणो तथा दोषो को परखना, उस पर अपना मत प्रकट करना, कवि की उत्कृष्टता तथा हीनता का निर्णय करना, कवि की विचारधाराओ मे डूबकर उसकी विशेषताओ का दिग्दर्शन करना तथा उसकी अन्तर्वृत्तियो की छानबीन करना, किसी कृति का निर्णय, विवेचन, विश्लेषण तथा अन्तर्भाष्य करना और सत्य, शिव, सुन्दरम् का समुचित अन्वेषण, पृथक्करण तथा अभिव्यजन करना, वे आलोचना के लक्षण मानते है। इस प्रकार ये आलोचना का कार्य सम्यक्-निरीक्षण, विवेचन, विश्लेषण, विचार, विशेषताओ का दिग्दर्शन, अन्तर्वृत्तियो की छानबीन, निर्णय, सत्य, शिव तथा सुन्दरम् का अन्वेषण और अभिव्यजन, मत प्रकाशन, ज्ञानानुभव का निरूपण तथा अन्तर्भाष्य करना मानते है। इनकी आलोचना की परिभाषा मे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो साहित्यालोचनो का आधार ग्रहण किया गया है।

आलोचना के स्वरूप के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि आलोचना कल्पनात्मक तथा भावात्मक होने की अपेक्षा विचारात्मक है, साहित्य का बुद्धिपक्ष है, रस पर आधारित है, कला तथा विद्या दोनो है तथा सौन्दर्य-सम्पादन की रुचि का फल है। इनका विचार है कि आलोचना सर्वमान्य तथा व्यापक नही हो सकती, क्योकि इनमे आलोचको का रुचि-पार्थक्य, विचार-वैलक्षण्य तथा व्यक्तित्व-भेद रहता है। ये इनमे विचार, तुलना, निर्णय, प्रेम, आनन्द, कृतज्ञता, सौन्दर्यानुभूति, सदिग्धता, सहानुभूति आदि तत्व मानते है। श्यामसुन्दर दास का मोल्टन की भाति विचार है कि साहित्य जब अपने स्वरूप का स्वय विश्लेषण करता है, तो आलोचना का जन्म होता है। ये मानते हैं कि आलोचना रचनात्मक साहित्य की ही नही वरन् आलोचनात्मक ग्रन्थो की भी हो सकती है।

आलोचना की उपादेयता के सम्बन्ध मे इनका मत है कि यह साहित्य तथा समाज का सुधार, सशोधन तथा सस्कार करती है, उचित तथा उपयोगी वस्तुओ के चुनाव में सहायक होती है, औचित्य को बढाती है, जीवन तथा मान्य ग्रन्थो को चुन देती है, किसी रचना को चमका देती है, दुर्बोध ग्रन्थियो को सुबोध तथा स्पष्ट करती है, साहित्य को समृद्धि तथा साहित्यकार को प्रोत्साहन प्रदान करती है, तर्कपूर्ण विचार तथा विवेचन की वृद्धि करती है, रसास्वादन मे सहायता पहुँचाती है, पठनीय पुस्तको के सचय मे सहायक होती है तथा गुरु का कार्य करके शिक्षा तथा उपदेश देती है और सशोधन करती है।

इसी प्रकार आलोचना के उद्देश्य के सम्बन्ध मे इन आलोचको का विचार है कि इसका उद्देश्य कवि की कृति के वास्तविक अभिप्राय को समझकर तथा उसकी व्याख्या करके दूसरो को समझाना, उसके भावो को ठीक-ठीक हृदयगम कराना,

मत का निर्माण तथा प्रकाशन करना, पाठको की रुचि की उन्नति तथा उसका परिष्कार करना, रस प्रवाह की बाधक वस्तुओ का निर्देश करके उन्हे पृथक् करना, साहित्य को उसकी मर्यादा मे सीमित रखना, कला का अध्ययन करके उसमे सौन्दर्यानुसधान करना, जीवन की समुज्ज्वल आह्लादमयी अभिव्यक्ति के तथा रचना के अन्त-प्रदेश मे प्राणो के स्वरूप के दर्शन करना, किसी कृति मे सत्य, सौन्दर्य, रुचिरता, रोचकता, लोक-मगल के दर्शन करके उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति करना तथा किसी कृति को समझकर उसकी व्याख्या, पक्षपातहीन निर्णय तथा मूल्यांकन करना है।

इनका विचार है कि आलोचक मे न्यायपूर्ण आलोचना करने के लिए कुछ विशेष गुणो का होना आवश्यक है। ये मानते है कि उसमे शुद्ध हृदय तथा विमल मन का योग, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, सत्य-प्रियता, वास्तविकता, तथ्य-निष्ठता, वचन का माधुर्यपूर्ण होना, गुण-ग्राहकता, सुधार की भावना, दोष-परिमार्जन करने की शक्ति, सम तथा सूक्ष्म दृष्टि, निष्कपटता, शान्ति, धैर्य, गम्भीरता, उदारता, सहृदयता, सरसता, भावुकता, सौन्दर्य-उपासना, प्रकृति-प्रेम, लोकानुभूति, प्रज्ञा-बुद्धि, वाक्-पटुता, उपस्थित्तोरता, विद्वत्ता, बहुज्ञता, बहुश्रुतता, मानसिक-नियत्रण, साहित्यिक-ज्ञान, विद्योपार्जन, आलोच्य-विषय की जानकारी, भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान का ज्ञान, विश्व-साहित्य का विस्तृत अध्ययन तथा मनन, उदारचित्त-वृत्ति, प्रशस्त निजी-रुचि, प्राचीन आलोचना-पद्धतियो का ज्ञान, कविता के उत्कर्षापकर्ष को जानने की शक्ति, निष्पक्षता, ग्रन्थकार के प्रति सहानुभूति, तुलनात्मक दृष्टि, कविता की नब्ज की पहचान, सूक्ष्म अन्वीक्षणबुद्धि, मर्म ग्राहिणी-प्रज्ञा, मानसिक शक्तियो की तीव्रता, आधुनिक ज्ञान विज्ञान का अध्ययन, न्यायनिष्ठा, सुरुचि, भावुकता, सद्भावना, अन्तर्दृष्टि, सतर्कता, सस्कृत-विचारधारा, नियन्त्रित तथा शिष्ट निर्णय, शिष्टता, सतुलन, सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि, सिद्धान्त-निरपेक्षता, युग की प्रवृत्तियो से तादात्म्य, बुद्धिमानी, गुणग्राहकता, विनय-सम्पन्नता, रागद्वेष-हीनता, मानव प्रकृति-पटुता, कल्पना-कुशलता, जीवनानुभूति मे स्वाभाविक सत्य के दर्शन करने की क्षमता, सूक्ष्म तर्क-बुद्धि आदि गुण होने अनिवार्य है। इसी प्रकार इनका विचार है कि आलोचक की आलोचना तथा वस्तु स्थापन-शैली भी परिमार्जित तथा पुष्ट होनी चाहिए। वे उसके लिए यह आवश्यक समझते है कि उसका कथन स्पष्ट, तर्क-पूर्ण, सोद्देश्य तथा साधिकार हो, भाषा सतुलित, स्पष्ट, गूढताहीन, अनलकृत, स्वाभाविक, उपयुक्त, प्रभावोत्पादक, रोचक, विचार तथा भावपूर्ण हो तथा वाक्य सीधे-सादे, स्वल्प, स्वाभाविक तथा इतिवृत्तपूर्ण हो।

इन आलोचकों ने आलोचको मे कुछ दोषो का भी निर्देश किया है। इनका विचार है कि अच्छे आलोचक मे व्यक्तिगत राग-द्वेष, निश्चित शब्दावली का अभाव, शब्दो के उचित अर्थो को समझने की शक्ति का अभाव, शब्दो की सच्ची शक्ति न पहचानना, वक्ता, बोधा, प्रसग का विचार न करना, काव्य की आत्मा की अवहेलना करना, विषय तथा मानतुला का अनिश्चय तथा अज्ञान, भाषा शैली की गहनता

तथा अस्पष्टता, पूर्व पक्ष का पक्षपातपूर्ण स्थापन, काव्य के मर्म-स्थल का अज्ञान, रूढि का आग्रह, अनुरजित विशेषताओ का निरूपण, आत्म-विज्ञापन, छिद्रान्वेषण, व्यक्तिगत-रुचि का आग्रह, दोष-निन्दा-कथन, दलबन्दी, पूर्व निश्चित मत का आग्रह, आलोच्य-वस्तु को अपने हृदय की भावना मे रग कर देखना, अनर्गल बातों तथा उक्तियो का समावेश, पक्षपातपूर्णता, सुकवि को कुकवि सिद्ध करना, अपने को विद्वान तथा लेखक को मूर्ख समझना, खरी खोटी सुनाना आदि दोष नही होने चाहिए।

आलोचक के साहित्य-जगत मे विशेष महत्त्व का भी इन्होने निरूपण किया है। इनका विचार है कि आलोचक का समाज मे महान् तथा उच्च स्थान है, क्योकि वह महानतम साहित्य का निर्णायक है, उसकी सौन्दर्यानुभूति की क्षमता कवि से अधिक है, वह गूढाशयो को प्रकट करता है, शिक्षाओ का ज्ञान कराता है, सौन्दर्य की सूक्ष्म बारीकियाँ प्रकट करता है, कवि के श्रम को सफल बनाता है, उसके उद्देश्य को प्रकट करके भावो तथा विचारो से परिचित कराता है, समाज का हित करता है, साहित्य का मार्ग स्वच्छ करता है, अन्धो को रास्ता दिखाता है, भूले-भटको को सन्मार्ग पर लाता है, सकुचित तथा अव्यवस्थित-दृष्टिकोण को दूर करता है, साहित्य पर नियत्रण तथा शासन करता है, उसमे जान डालता है, सौन्दर्य के अस्तित्व को खोज निकालता है, रचना मे गूढतम भावनाओ का पता लगाता है, वैज्ञानिक की भाति नियम बनाता है, टीकाकार के रूप मे किसी रचना की व्याख्या करता है, न्यायाधीश के रूप मे मूल्याकन करता है तथा वकील की भाँति उसका पक्ष परिपुष्ट या सिद्ध करता है।

इसी प्रकार आलोचको के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे इनका विचार है कि उन्हे कवि या लेखक के हृदय मे प्रवेश करके उसके प्रत्येक रूप का पता लगाना चाहिए, उसके हृदय की अवस्था, उसके आशय तथा उक्ति के उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, कवि के हृदय से एकता प्राप्त करके उसकी रचना प्रक्रिया, उसकी धर्म, साहित्य, सभ्यता को प्रभावित करने की शक्ति, उसकी शैली के शब्दो, पदो, लोकोक्तियो, चमत्कारो की विशेषताओ तथा नवीनताओ के सौन्दर्य को देखना चाहिए, उसकी रचना मे उसके उद्देश्य, उत्पादक-साधन, मौलिकता, ज्ञान, अनुभव, समाज और जनता के प्रतिबिम्ब को उपस्थित करने की शक्ति को देखना चाहिए, प्रशसा तथा गुणों और दोषो का निष्पक्ष-विवेचन करना चाहिए, प्रत्येक रचना मे उसका व्यक्तित्व, निजता, प्रमुख आकृति तथा तारतम्य समझ कर उसकी आलोचना करनी चाहिए, सार्वजनिक सत्य का प्रतिपादन करना चाहिए, शास्त्र-सम्मत तथा लोक-सम्मत विचार प्रकट करने चाहिए, राग-द्वेष तथा पूर्व-सस्कारो से दूर रह कर कवि के प्रति न्याय करना चाहिए, कवि के मित्र, सहचर, पथ-प्रदर्शक तथा शिक्षक बन कर उसके ग्रन्थो को सहृदयता से समझ कर तथा उसके विषय की जानकारी प्राप्त करके, सूक्ष्म-बुद्धि से उद्भावित समीक्षा करनी चाहिए, परिष्कृत, स्वस्थ तथा पुष्ट मस्तिष्क के द्वारा जीवन तत्व का अनुसधान करना चाहिए, आलोच्य-विषय तथा

वस्तु की रूप रेखा स्पष्ट रखकर, साहित्य के वैशिष्ट का निरूपण करना चाहिए और मनोरजक, नवीन तथा उपयोगी वस्तु-स्थापन-शैली को अपनाकर गहरे-चिन्तन के आधार पर मूल्याकन, मौलिक, नवीन तथा रुचिर, कवि की विशेपताओ का दिग्दर्शन, अन्तर्वृत्तियो की छानबीन तथा भिन्न प्रकार की आलोचनाओ मे भिन्न प्रकार की शैलियो का प्रयोग करना चाहिए।

आलोचना की विभिन्न शैलियो का निर्देश करके उनकी विशेषताओ पर भी इन आलोचको ने विचार प्रकट किए है। प्राय सभी हिन्दी आलोचको ने निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक तथा प्रभावाभिव्यजक अथवा आत्म-प्रधान आलोचना को मान्यता दी है। इसके अतिरिक्त अन्य आलोचना के भेदो की मान्यता तथा उनके स्वरूप-विवेचन मे इनमे साम्य नही है। द्विवेदी जी ने इन आलोचनाओ के अतिरिक्त, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा तुलनात्मक आलोचना, शुक्ल जी ने ऐतिहासिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा विज्ञान-सम्बन्धी, श्यामसुन्दर दास जी ने सैद्धान्तिक, शुद्ध-सिद्धान्त-सम्बन्धी तथा प्रयोग-सम्बन्धी, मिश्र जी ने विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक परिचयात्मक, शिवनाथ जी ने विवेचनात्मक, सैद्धान्तिक, रसाल जी ने शास्त्रीय, विश्लेषणात्मक जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, विषय-विवेचनात्मक, ऐतिहासिक, सौष्ठव-वादी, यथार्थवादी, वैज्ञानिक, सिद्धान्तानुवेषिणी, आलोचना के प्रकारो को मान्यता दी है। इस प्रकार इन लेखको ने आलोचना के विभिन्न प्रकार तीन आधारो पर स्थिर किए है, एक तो पाश्चात्य-आलोचना के प्रकारो के आधार पर, दूसरे पाश्चात्य-काव्य के वादो तथा धाराओ पर, तीसरे हिन्दी के निजी साहित्य के आधार पर। हिन्दी के निजी साहित्य पर आलोचना के प्रकार का क्षीण प्रयत्न केवल रसाल जी का है, जिन्होने विषय विवेचनात्मक आलोचना के एक विशेष प्रकार को मान्यता दी है। आलोचना-के इन विभिन्न प्रकारो के स्वरूप के सम्बन्ध मे इनके विचार इस प्रकार है :—

निर्णयात्मक आलोचना, व्याख्या तथा विवेचन के अभाव मे सार्थक तथा न्यायपूर्ण नही हो सकती। प्राचीन नियमो का अनुसरण करने के कारण यह साहित्य की प्रगति मे बाधक भी हो सकती है। इसलिए यह आलोचक, साहित्य के नैसर्गिक नियमो को महत्त्व देते है। शुक्लजी का विचार है कि निर्णयात्मक आलोचना के नियम, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नही होते वरन् रचना की सुगमता, विचार की व्यवस्था तथा काव्य-सम्बन्धी सुभीते के लिए होते है। वे साहित्य के नियमो का बुद्धि तथा विद्वत्ता पर आधारित होना तथा साधनो की उपयुक्तता से सम्बद्ध होना आवश्यक मानते है। श्यामसुन्दर दास जी का विचार है कि कला के सम्पूर्ण स्वरूप का एक साथ मूल्याकन नही हो सकता।

इन आलोचको ने व्याख्यात्मक आलोचना को सब प्रकार की आलोचनाओ से विशेष महत्त्वपूर्ण माना है तथा ऐतिहासिक, तुलनात्मक, जीवन-चरितात्मक, मनो-विश्लेषणात्मक आदि प्रकारो को इस पर आधारित समझा है। इनका विचार है कि यह आलोचना न्यायपूर्ण, बुद्धि-सगत, समीचीन तथा श्रेष्ठ है क्योकि इससे कृति के

महत्त्व का निर्णय होता है, सिद्धान्त स्थिर होते है, स्वरूप का ज्ञान होता है, कृति को समष्टि रूप मे देखा जाता है, रचना से रचयिता के आशय पर पहुँचा जाता है, अन्तः साक्ष्य के आधार तथा उदारता के व्यवहार के साथ प्रस्तुत-रचना का पर्यवेक्षण तथा व्यवस्थित स्पष्टीकरण होता है, भावो की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या होती है तथा काव्य-वस्तु तक परिमित न रह कर कृति के अग-प्रत्यग की विशेषताए देखी जाती है।

आलोच्य-काल के प्रायः सभी आलोचक प्रभावात्मक या आत्म-प्रधान आलोचना का विरोध करते है। इनका विचार है कि यह आलोचना सच्ची आलोचना नही है, क्योकि यह भावात्मक, रुचि पर आधारित, निष्क्रिय, व्यक्तिगत, साधन की अपेक्षा सिद्धि से सम्बद्ध, सिद्धान्तरहित, उद्गार रूप मे व्यक्त तथा सजीले पद-विन्यास से पूर्ण होती है। इन आलोचको का विचार है कि यह आलोचना न ज्ञान के क्षेत्र में ठीक-ठिकाने की है न भाव के, इसमे आलोचक का दृष्टिकोण प्रमुख रहता है, ग्रन्थकार का नही, यह ग्रन्थ की अपेक्षा ग्रन्थकार के बारे मे ज्ञानवर्धन करती है, इसमें आलोचक की रस दशा का वर्णन होता है, यह खडनात्मक तथा मडनात्मक आलोचना का एक प्रकार है, सुखात्मक तथा दु खात्मक प्रभावो को देखती है, विवेचन की अपेक्षा रुचि पर निर्भर रहती है, इसमे प्रभावो की व्यजना भावात्मक शैली मे होती है तथा आलोचना स्वतन्त्र रचना के रूप मे होती है। शिवनाथ जी, शुक्लजी की भाति इसे व्यक्तिगत वस्तु नही मानते। रसाल जी इसके दो रूप, वैयक्तिक तथा सामाजिक मानते है।

इन तीन आलोचनाओ के अतिरिक्त व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक आलोचनाए, ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी व्याख्या की गई है। ऐतिहासिक आलोचना के सम्बन्ध मे इन आलोचको का विचार है कि इसमे राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक परिस्थितियों का प्रभाव देखा जाता है, तुलनात्मक मे भाव-साम्य के आधार पर एक ही काल, सीमा, लोक-रुचि के कवियो की परस्पर तुलना होती है तथा ऐतिहासिक दृष्टि, विश्व-रुचि तथा मानव-आदर्श की भावना का ज्ञान रखा जाता है। जीवन-चरितात्मक आलोचना मे जीवन के आधार पर साहित्यिक निष्कर्ष निकाले जाते है तथा मनो-विश्लेषणात्मक आलोचना मे लेखक की प्रकृति, मनोवृत्ति, स्वभाव, व्यवहार तथा रचना और रचयिता की तुलना की जाती है तथा सामजस्य स्थापित किया जाता है। रसाल जी मनोवैज्ञानिक आलोचना मे जीवन-चरितात्मक आलोचना के कार्यो का भी मिश्रण कर देते है। उनका विचार है कि लेखक की जीवनी को जानने का कार्य तथा उसकी परिस्थिति, समाज, योग्यता आदि का अध्ययन भी मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत ही होता है। हमारा विचार है कि इसका अध्ययन जीवन-चरितात्मक आलोचना के अन्तर्गत ही आता है। नन्द दुलारे वाजपेयी जी इस आलोचना को व्यक्तिमुखी तथा एकागिक मानते है, क्योंकि यह धर्म तथा दर्शन का आधार

न लेकर केवल अन्त प्रकृति पर आधारित है। वे इसकी केवल यह उपयोगिता मानते है कि इससे मानव की आदिजात वृत्तियो के स्थान तथा महत्त्व का निर्धारण होता है। हमारा विचार है कि व्याख्यात्मक आलोचना की सभी शैलिया, ऐतिहासिक जीवन-चरितात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, तुलनात्मक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आदि एकागी है, क्योकि ये अपने मे पूर्ण नही है। हिन्दी के इस काल के कुछ आलोचको ने इन्हे आलोचना के प्रकार के रूप मे माना है। वास्तव मे ये आलोचना की केवल शैलिया है, जो व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक मात्र है। आलोचक इनकी सहायता से ही किसी कृति का अन्त विश्लेषण करके उसकी ऐसी साङ्गोपाङ्ग व्याख्या करता है कि जिस पर उस कृति का निर्णय अथवा मूल्याकन सम्भव होता है।

रसाल जी ने पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे मान्य इन आलोचनाओ के अतिरिक्त पाश्चात्य-काव्य के वादो के आधार पर अभिव्यजनावादी, सौष्ठववादी तथा यथार्थवादी आलोचना के प्रकार माने है। अभिव्यजनावादी मे काव्य की अभिव्यजना देखी जाती है तथा सौष्ठववादी अथवा रोमान्टिक मे रचना का सौष्ठव देखा जाता है। इसमे आलोचक किसी नियम से बाध्य नही होता तथा अपना व्यक्तिगत मत प्रतिपादित करता है। वे इस आलोचना मे अन्त प्रकृति का चित्रण, मार्मिकता, रचना की आत्मा, भाव, भाषा, शैली के वैचित्र्य के दर्शन, सौन्दर्यानन्द की अनुभूति, कोमलता, मार्दव, स्निग्धता, ललित-लावन्य, सरस-कान्ति, सुन्दर तथा सुखदायक भावनाओ की मार्मिक अनुभूति, माधुर्यपूर्ण मजुलता आदि विशेषताए मानते है। हम रसाल जी के इस विचार से पूर्णतया असहमत है कि एक भाषा के साहित्य के किसी प्रकार की विशेषताओ के आधार पर अन्य भाषा के साहित्य की आलोचना के प्रकारो का निर्माण हो सकता है। वास्तव मे सौष्ठववाद मे किसी विशिष्ट प्रकार के काव्य की विशेषताए ही है, वह आलोचना का कोई प्रकार नही है। इस प्रकार यदि आलोचना के प्रकारो का निर्माण हो सकता हो तो न जाने ससार के काव्य के कितने स्वरूप तथा वाद है और उन सब पर ही आलोचना के प्रकार बन सकते है। स्वय पाश्चात्य साहित्यालोचन मे इस प्रकार के आलोचना के प्रकारो को नही अपनाया गया है। यदि इसी प्रकार आलोचना के प्रकार बनने सम्भव हो, तो हिन्दी के काव्य-साहित्य की विभिन्न प्रवृतियो के आधार पर छायावादी, इतिवृत्तात्मक, आधुनिक-रीतिवादी, प्रयोगवादी आलोचना के प्रकार हो सकते है। इसी प्रकार की एक आलोचना प्रगतिवादी है, जो प्रगतिवादी-काव्य के सिद्धान्तो के आधार पर खडी है। ऐसी आलोचनाओ के सम्बन्ध मे हमारा विनम्र निवेदन है कि न तो यह आलोचना के कोई प्रकार है न आलोचना की शैलिया ही है। इन काव्य के वादो तथा धाराओ के सिद्धान्तो का प्रयोग, निर्णयात्मक आलोचना मे निर्णय करने के लिए हो सकता है तथा होना है। जिस प्रकार के काव्य का निर्णय या मूल्याँकन करना हो उसे उसी प्रकार के काव्य की विचारधारा तथा वाद के सिद्धान्तो के सदर्भ मे रख कर देखना होता है। इसमे भी अधिकाश हिन्दी के आलोचको मे यह भ्रम रहा है कि वे हिन्दी

के साहित्य के निर्णय तथा मूल्याकन के लिए भी पाश्चात्य यथार्थवादी, रोमान्टिक, अभिव्यजनावादी काव्य के सिद्धान्तो का आधार लेना उचित समझते है। हमारा विचार है कि निर्णयात्मक आलोचना के लिए भी हिन्दी के इतिवृत्तात्मक, वीर-भावात्मक, भक्ति-भावात्मक, रीतिवादी, आधुनिक-रीतिवादी, छायावादी, प्रयोगवादी, प्रगतिशील आदि काव्यो के सिद्धान्तो का ही आधार लेना चाहिए। किसी विशेष भाषा के साहित्य का मूल्याकन उसी भाषा के साहित्य के स्वरूप तथा विचारधाराओ के आधार पर हो सकता है, किसी अन्य भाषा के साहित्य के आधार पर नही।

रसाल जी ने हिन्दी के साहित्य के आधार पर आलोचना की 'विषय-विवेचनात्मक' नामक एक शैली की कल्पना की है, जिसमे विषय का विवेचन करके उसका निर्णय पाठको पर छोड दिया जाता है। ऐसी कोई शैली हिन्दी मे सर्वमान्य नही हुई है। यदि आलोचक, विषय का विवेचन करके निर्णय पाठको पर छोड देता है, तो हिन्दी साहित्य के आधार पर आलोचना की वह कोई पृथक् शैली नही है, वरन् वह व्याख्यात्मक आलोचना के ही अन्तर्गत आ जाती है।

यद्यपि हिन्दी आलोचना के प्रकारो के विवेचन मे प्राय' पाश्चात्य साहित्यालोचन का आधार लिया गया है, किन्तु फिर भी प्रौढ आलोचको ने इस बात की सदैव आवश्यकता का अनुभव किया है कि हिन्दी आलोचना का स्वतन्त्र तथा व्यापक विकास होना चाहिए। रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रसाद जी आदि का विचार है कि किसी देश के साहित्य की आलोचना उस देश की सस्कृति पर आधारित होनी चाहिए, क्योकि वह उस देश की सामूहिक-चेतना, मानसिक शील, शिष्टाचार तथा मनोभावो से सम्बद्ध है तथा सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है। ये हिन्दी-आलोचना के लिए भारतीय रुचि-भेद, ज्ञान तथा सौन्दर्य-बोध का आधार आवश्यक समझते है। इन विचारो का प्रतिपादन होने पर भी आलोच्य-काल तथा उसके बाद मे भी, न तो आलोचना के विवेचन मे हिन्दी के साहित्य का आधार ही लिया गया, न उसके प्रकारों के चिन्तन मे। आलोच्य-काल के पश्चात् भी हिन्दी साहित्य का निजी आलोचनाशास्त्र नही बन सका है, उसका चिन्तन अधिकाश मे पाश्चात्य-चिन्ता से प्रभावित है। आलोच्य-काल के पश्चात् इस दिशा मे विशेष प्रगति होने की सम्भावना दिखाई पड़ने लगी है।

प्रकरण २

काव्य-सम्प्रदायों का विकास

सस्कृत साहित्य मे काव्य-सम्प्रदायो का विकास

सस्कृत साहित्य की आलोचना का सामान्यत आठ सम्प्रदायो मे विकास हुआ है। इनमे चार सम्प्रदायो का सम्बन्ध काव्य के अन्तरग तत्व अर्थात् प्राणभूत तत्व से है तथा चार का उसके बाह्य स्वरूप अर्थात् शरीर पक्ष से है। काव्य के अन्तरग पक्ष के सम्प्रदायो मे सबसे व्यापक औचित्य सम्प्रदाय है, जिसके अन्तर्गत रस, ध्वनि तथा अनुमिति आदि अन्य अन्तरग पक्ष के सम्प्रदाय समन्वित हो जाते है। औचित्य के मूलाधार पर ही ध्वनि तथा रस अवलम्बित होते है। औचित्य के बिना न तो रस का पूर्ण उत्कर्ष होता है न ध्वनि मे गम्भीरता तथा महत्ता आती है। इसके अन्तर्गत ही रस तथा ध्वनि का समुचित विकास होता है तथा वे पूर्णत्व को प्राप्त होते हैं। इसलिए इसका महत्त्व काव्य के प्राण-तत्व के अन्तर्गत विशेष रूप मे माना गया है।

औचित्य के पश्चात् काव्य के अन्तरग पक्ष मे रस सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व-पूर्ण स्थान है, क्योकि किसी भी अन्य सम्प्रदाय ने इसकी किसी प्रकार से अवहेलना नही की। अन्तरग पक्ष के सभी सम्प्रदायो मे इसका शीर्ष स्थान माना गया है। ध्वनि सम्प्रदाय के अनुयायी रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते है तथा उसके विरोधी आचार्य कुन्तक और महिम भट्ट भी काव्य मे उसकी सत्ता का बहिष्कार नही करते। ध्वनि सम्प्रदाय ध्वनि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानता है और अनुमिति सम्प्रदाय अनुमान या अनुमिति के द्वारा। अनुमिति सम्प्रदाय वास्तव मे समस्त ध्वनि विरोधी सम्प्रदायो का उपलक्षण है, क्योकि ध्वनि सम्प्रदाय व्यजना के द्वारा रस की उत्पत्ति मानता है तथा अनुमिति सम्प्रदाय अनुमान के द्वारा। अनुमितिवाद व्यजना को नही मानता और व्यजना के सारे प्रपच को अनुमान के द्वारा ही सिद्ध करता है। महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रन्थ के द्वारा इसी अनुमिति का महत्त्व सम्पादित किया है।

इसी प्रकार काव्य के बाह्य स्वरूप के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण वक्रोक्ति सम्प्रदाय है। वक्रोक्ति, कवि के कथन का एक विशिष्ट प्रकार है। इस पर आश्रित होने वाले रीति, गुण तथा अलकार सम्प्रदाय है। वक्रोक्ति की सीमा मे सबसे महत्त्व-पूर्ण स्थान रीति-सम्प्रदाय का है, जो वामन द्वारा विशेष रूप मे प्रतिपादित हुआ था।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना था। यह रीति गुणो पर आश्रित होती है। आचार्य दण्डी ने सर्व प्रथम गुणो का विवेचन किया था। यह गुण काव्य के स्थायी धर्म माने गए और अलकार उसके स्थायी तत्व समझे गए। इस प्रकार काव्य के बाह्य पक्ष के सम्प्रदायो मे रीति के पश्चात्, महत्त्व की दृष्टि से गुण तथा अलकार सम्प्रदायो का स्थान आता है। काव्य के बाह्य पक्ष के ये सम्प्रदाय वक्रोक्ति पर आश्रित है।

सस्कृत साहित्य के इन आठो सम्प्रदायो का विकास हिन्दी साहित्य मे भी किसी न किसी रूप मे होता रहा है। पूर्व-आलोच्य-काल मे हिन्दी की आलोचना प्राय पूर्ववर्ती सस्कृत-आलोचना से ही प्रभावित रही तथा वस्तु और शैली दोनों प्रकार से उसके ही चरण-चिन्हो का अनुसरण करती रही।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे काव्य-सम्प्रदायो का विकास

आलोच्य-काल से पूर्व, हिन्दी मे काव्य के बाह्य तथा अन्तरग स्वरूप का विवेचन करने वाले सम्प्रदायो के विकास का निरीक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि इस काल का सम्प्रदाय सम्बन्धी विवेचन, परम्परागत तथा प्रथानुसार एक विशिष्ट दिशा मे ही चलता रहा। इसमे गम्भीर चिन्तन तथा मौलिक उद्भावनाओ का प्रायः अभाव ही रहा। जो कुछ नवीनता अथवा मौलिकता दिखाई भी पडती है किसी विशेष महत्त्व की नही है। इन आचार्यो मे इतनी प्रतिभा नही थी कि वे नई दिशा की ओर कदम बढाते या अपने युग की सीमा के पार भी अपनी दृष्टि डाल सकते। केशव दास आदि प्रसिद्ध आचार्यो की विशिष्टता भी नए तथ्यो की उद्भावना करने मे इतनी नही है जितनी पुराने ज्ञान की व्यवस्था के साथ व्याख्या करने मे है।

इन आचार्यो के विषय प्राय. एक से ही थे जिनमे रस, अलकार, गुण, दोष रीति, वृत्ति, ध्वनि, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि विशेष उल्लेखनीय है। रसो मे शृगार रस का विवेचन विस्तार के साथ हुआ है। शृगार रस के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त नायिका-भेद का निरूपण भी इस काल के विषय-क्षेत्र की प्रमुख विशेषता है। सम्प्रदायो मे अलकार तथा रस का विवेचन प्रमुख तथा ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण तथा औचित्य का विवेचन गौण रहा है। शैली के विचार से इस युग मे रीति-ग्रन्थ अथवा लक्षण-ग्रन्थ लिखकर लक्षणो तथा उदाहरणो की ही शैली अपनायी गई है। उदाहरणो मे विभिन्न छन्दो का भी प्रयोग किया गया है। कुछ आचार्यो ने गद्य का प्रयोग करके पद्य मे लिखे अपने लक्षणो की ही व्याख्या की है, कुछ ने अपने लक्षणो तथा उदाहरणो मे सस्कृत के आचार्यो के अनुवाद दिए है तथा कुछ ने मौलिक रूप मे लक्षण तथा उदाहरण दिए है।

हिन्दी के इन आचार्यो ने सस्कृत के अतिरिक्त, पूर्ववर्ती हिन्दी के आचार्यो का भी अनुसरण किया है। यह साहित्य विशेष रूप मे राजदरबारो के आश्रय मे रचा गया है तथा उस समय की बौद्धिक भावना की विशिष्टता का सूचक है। इस युग

मे उसी कवि को मान मिल सकता था जो कवित्व के साथ आचार्यत्व का भी प्रदर्शन करके एक आध लक्षण-ग्रन्थ लिख सके। इनमे भारतीय काव्य-सम्प्रदायों के विकास मे योग देने वाले कवि दो प्रकार के हैं, रीतिवद्ध तथा रीति-मुक्त। रीतिवद्ध कवियो ने तो रीति-ग्रन्थ लिखकर सम्प्रदायों के विकास मे योग दिया है तथा रीति-मुक्त कवियो ने रीति-ग्रन्थ न लिखकर भी विभिन्न सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का व्यवहार रूप मे अधिक प्रयोग करके, उन्हे मान्यता दी है।

आलोच्य-काल मे हिन्दी मे काव्य सम्प्रदायो का विकास

आलोच्य-काल के पूर्व से ही अंग्रेजी राज्य के विस्तार के साथ जम जाने तथा पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क मे आने के कारण हिन्दी मे भी नई रुचि, नए आदर्श, नए प्रश्न तथा नए सिद्धान्त सामने आने लगे थे। प्राचीन काव्य-सम्प्रदायो का विकास तो इस काल मे भी हुआ पर धीरे-धीरे उन सम्प्रदायो के भाव तथा कला पक्ष दोनो पर ही नया-प्रभाव पडने लगा। हम यहा यही अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार इन सम्प्रदायो के विकास मे प्राचीनता तथा नवीनता का सम्मिश्रण हुआ है और पाश्चात्य आलोचना की धाराओ से सजीवन पाकर इनमे कौन-कौन-से तत्व विकसित हुए हैं तथा कौन-कौन-से समय के चरणो के नीचे दबकर नष्ट हो गए है।

आधुनिक युग बौद्धिकता तथा विज्ञान का युग है। इस युग के इन दो तत्वो ने विश्व साहित्य मे आमूल परिवर्तन उपस्थित किए है। गद्य के अधिकाधिक प्रयोग तथा छापेखाने के आविष्कार ने काव्य सम्बन्धी चिन्तन को नवीन शैली, स्पष्टता तथा विस्तार प्रदान किया है। पुरानी रूढि के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न होने पर भी उसमे निहित वे भारतीय तत्त्व भी अपना लिए गए, जो समय की कसौटी पर उपादेय सिद्ध हुए और विश्व के समृद्ध साहित्य के सम्मुख अपनी विशिष्टता प्रमाणित कर सके। धर्म के क्षेत्र मे जिस प्रकार राजा राम मोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा नवीन तथा प्राचीन का समन्वय होकर युगानुकूल धर्म की स्थापना हुई, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे भी आचार्यो ने नवीन तथा प्राचीन का सम्मिश्रण करके काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायो को युगानुकूल रूप मे अपनाया, उसमे परिष्कार किए, उनकी व्याख्या की तथा उनका पाश्चात्य-साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन करके यथासाध्य पुनर्-निर्माण किया। ये सम्प्रदाय नवयुग की प्रखर बुद्धि की कसौटी पर खरे उतरते गए। आलोच्य-काल के पश्चात् भी पाश्चात्य सिद्धान्तो के साथ-साथ तुलनात्मक रूप मे तथा प्रौढ शैली मे इन सम्प्रदायो का विकास हो रहा है। इस दिशा मे कार्य करने वाले नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र बलदेव उपाध्याय, गुलाबराय आदि विद्वान प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है।

आलोच्य-काल के विभिन्न सम्प्रदायो के विकास मे योग देने वाले, दो प्रकार के आलोचक है, एक तो पूर्णतया रीति की शैली को अपनाकर रीति-ग्रन्थ लिखने वाले, दूसरे आधुनिक आलोचक, जिन्होने रीति-ग्रन्थ न लिखकर आधुनिक शैली की

सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत इन सम्प्रदायो के विभिन्न सिद्धान्तो का स्वतन्त्र रूप मे विवेचन किया है। प्रत्येक सम्प्रदाय के विकास मे रीतिकार आलोचको के उपरान्त आधुनिक आलोचको का वर्णन किया गया है।

इस काल के रीतिकार-आलोचको द्वारा भी प्रायः दो प्रकार के ग्रन्थ इन सम्प्रदायो के विकास स्वरूप लिखे गए, एक तो पुरानी परम्परा का निर्वाह करने वाले तथा दूसरे पुरानी परम्परा मे युगानुकूल परिवर्तन उपस्थित करने वाले। पुरानी परम्परा के ग्रन्थो मे तो कोई तात्विक अन्तर नही है किन्तु नवीन विशेषताएँ लेकर चलने वाले ग्रन्थो मे अधिकाधिक गद्य का प्रयोग, लक्षणो, व्याख्याओ तथा विवेचनो मे किया गया है। उदाहरण, ब्रजभाषा अथवा खड़ी बोली मे दिए गए है। गद्य के विवेचन मे अधिकाधिक खडी बोली का प्रयोग हुआ है। इन आलोचको ने सस्कृत के आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ तथा हिन्दी के केशवदास, भिखारी दास, देव आदि का आधार अपेक्षाकृत अधिक लिया है। यह आधार लक्षणो तथा उदाहरणो दोनो मे ही लिया गया है। नवीन युग के प्रभाव-स्वरूप उदाहरणो मे शृगारिकता के स्थान पर देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, जातीयता आदि की भावनाएं अपनायी गई है। नायक-नायिकाओ के वर्णन मे भी नई-नई नायिकाओ की कल्पना, शृंगार के अतिरिक्त, राष्ट्रीयता के आधार पर भी की गई है। अग्रेजी साहित्य के काव्य-शास्त्र से भी स्थान-स्थान पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रन्थो मे काव्य के रस की अपेक्षा काव्य-शास्त्र की व्याख्या का उद्देश्य अधिक निहित है। इन रीतिकारो ने विभिन्न सम्प्रदायो अथवा सिद्धान्तो की व्याख्या, सैद्धान्तिक रूप में ही की है तथा इनका काव्य मे व्यावहारिक प्रयोग नही किया है। इनका आलोचना के व्यवहार-पक्ष से कोई विशेष सम्बन्ध नही है। आधुनिक प्रभाव के कारण इनके लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यो से अधिक स्पष्ट तथा पूर्ण है, विवेचन अधिक गम्भीर तथा वैज्ञानिक है और उदाहरण अधिक समुचित है।

इन आधुनिक रीतिकारो के ग्रन्थो के दो प्रकार के स्वरूप है, एक तो विशिष्ट सम्प्रदायो से सम्बन्ध रखने वाले तथा दूसरे सभी काव्यागो का विवेचन करने वाले। विशेष सम्प्रदायो से ही सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थो मे अलंकार तथा रस पर अधिक ग्रन्थ लिखे गए है। इस युग मे प्राचीन रीति-ग्रन्थो की भी अधिक खोज हुई, जिससे इन रीतिकारो को पर्याप्त सामग्री का आधार मिला। आधुनिक शिक्षा मे इन ग्रन्थो की उपादेयता ने भी इन रचयिताओ का दृष्टिकोण बदल दिया। प्राचीन काव्य शास्त्र के अध्ययन के लिए इनमे से कुछ ग्रन्थ विशेष उपादेय सिद्ध हुए। सभी काव्यागो का विवेचन करने वाले ग्रन्थो मे प्राय विभिन्न सम्प्रदायो के अतिरिक्त नायक-नायिका भेद आदि का वर्णन भी हुआ है। इनकी विशेषताएं सामान्यत पहले ग्रन्थो की भाति ही है। पुरानी परम्परा मे युगानुकूल परिवर्तन करने वाले लेखको मे डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल', गुलाबराय, हरिऔध का नाम उल्लेखनीय है। केवल रीतिकालीन

परम्परा का निर्वाह करने वालो मे लछिराम, कविराज मुरारीदान, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुन दास केडिया, जगन्नाथ प्रसाद भानु, आदि प्रमुख है।

आधुनिक आलोचको मे सम्प्रदायो के विकास मे योग देने वालो मे प्रमुख मिश्रबन्धु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, नन्द दुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, गुलावराय, डॉ० नगेन्द्र आदि विद्वान प्रमुख है। इन आलोचको का काव्य-शास्त्र के प्रति नवीन दृष्टिकोण है। इनका मानसिक वातावरण नवीन था, जिसके कारण यह परम्परा प्राप्त सिद्धान्तो को भी विश्व साहित्य के विकसित तथा उत्तरोत्तर समृद्ध होने वाले साहित्य के पुरातन तथा नवीन सिद्धान्तो के प्रकाश मे देख सके। इनकी आलोचना के मान-दंड युगानुकूल है, जो इस युग के बौद्धिक विस्तार, भावात्मक गम्भीरता तथा काल्पनिक ऊचाई के आधार पर निर्मित हुए है। इनके सिद्धान्त इस युग के रचनात्मक साहित्य का आधार लेकर तथा इसके प्रतिपल परिवर्तित स्वरुप के श्वासो से सजीवन प्राप्त करते रहे है। यही इनका पुरातन रूढिवादी रीतिकारो से स्पष्ट अन्तर है।

इनके द्वारा हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य मे पहली बार सैद्धान्तिक आलोचना का रचनात्मक साहित्य से अन्तर मिटना प्रारम्भ हुआ है। पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ संस्कृत के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य मे ही सम्बद्ध थे। केवल कहीं-कहीं हिन्दी की प्रवृत्ति का ध्यान करके कुछ नवीन विचारो का समावेश हो जाता था। किन्तु इस युग के आलोचको ने हिन्दी के नवीन साहित्य के व्यापक सदर्भ मे सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का पुनराख्यान किया है। हिन्दी काव्य की विभिन्न विचारधाराओ तथा वादो के अनुयायियो ने सम्प्रदायो का चिन्तन अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से करके, उनके तत्वो का सर्वांग निरुपण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि पूर्व छायावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी लेखको तथा कवियो ने इन्हे अपने सिद्धान्तो तथा आदर्शो के प्रकाश मे परख कर, इनके स्वरुप के विभिन्न तत्वो का विश्लेषण किया है। शताब्दियो के चिन्तन से बने-सवरे सम्प्रदायो के बौद्धिक क्षितिज को नवयुग की इस व्यापक चेतना से विस्तार प्राप्त हुआ है।

इन नवीन आलोचको मे से किसी ने भी इन सम्प्रदायो के विकास पर कोई ग्रन्थ लिखा नहीं लिखा। इनका सम्प्रदाय चिन्तन इनकी सैद्धान्तिक या व्यावहारिक आलोचनाओ के अन्तर्गत ही मिलता है। इनकी आलोचनाएँ इनके विभिन्न ग्रन्थो तथा लेखो मे फैली हुई मिलती है। इन्होंने आलोचना के क्षेत्र से पद्य का निर्वासन ही नहीं कर दिया वरन् खड़ी बोली गद्य को गहनतम वैज्ञानिक विचारो की अभिव्यक्ति का साधन भी बना दिया है। इनका इन सम्प्रदायो के प्रति दृष्टिकोण, पाश्चात्य देशो के नवीन वादो, काव्य के नवीन सिद्धान्तो, नवीन दर्शनो, तथा आलोचना की नवीन पद्धतियो, से विशेष प्रभावित हुआ है। इन्होंने इस विवेचन मे मनोविज्ञान-शास्त्र का सर्वाधिक आधार लिया है, जिससे इनका विवेचन पूर्णतया वैज्ञानिक तथा बौद्धिक हो गया है।

हिन्दी मे इन आठो सम्प्रदायो के विकास का अध्ययन, इनके दोनो वर्गो, अर्थात् काव्य के वाह्य-उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन करने वाले सम्प्रदायो तथा अन्तरग अथवा प्राणभूत तत्व का विवेचन करने वाले सम्प्रदायो को पृथक्-पृथक् लेकर किया गया है। इनमे भी पहले काव्य के वाह्य-उपकरण का विवेचन करने वाले, अलकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति सम्प्रदायो का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

काव्य के वाह्य-उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन करने वाले सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय

सस्कृत साहित्य मे अलकार सम्प्रदाय का विकास

सस्कृत साहित्य मे अलकारो का उद्गम भी रस की भाति वेदो से माना जाता है। रुद्रदामन के शिला लेख से यह ज्ञात होता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी मे साहित्य का अलकृत होना अनिवार्य माना जाने लगा था। इसके पश्चात् भरत के 'नाट्य शास्त्र' के १७वे अध्याय मे ३६ लक्षणो का उल्लेख मिलता है, जिसका समावेश नाट्य-काव्य मे होना विधेय बताया गया है। इन लक्षणो मे से हेतु, लेश, आशी आदि कुछ लक्षण बाद मे दण्डी द्वारा अलकार रूप मे अपनाए गए। इनके 'भूषण' नामक प्रथम लक्षण मे ही गुणो तथा अलकारो के बीज थे। भरत ने 'नाट्य शास्त्र' मे उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक, चार अलकारो का उल्लेख किया है।

भरत के पश्चात् भामह ने अलकारो का क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक विवेचन किया। इनके अनुसार अलकार काव्य का प्राण है और अलकार का प्राण वक्रोक्ति है। इन्होने रस तथा भाव का स्वतन्त्र अस्तित्व नही माना है तथा उसे प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वित् और समाहित अलकारो मे ही समाविष्ट किया है।[1] इनके अनुसार शब्द तथा अर्थ का नाम अलकार है।[2] इन्होने ३८ अलकारो का वर्णन भी किया है। दण्डी ने अलकारो को काव्य की शोभा करने वाले धर्म माना है (काव्य शोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श २/१)। ये वक्रोक्ति की अपेक्षा अतिशय को अलकारो का प्राण मानते है।[3] इनका अतिशयोक्ति से तात्पर्य अतिशय-उक्ति या लोकोत्तर-चमत्कार से है। इनके विचार से अलकार काव्य के शाश्वत धर्म है। ये भी भामह के समान अलकारो तथा गुणो मे कोई भेद नही मानते।[4] ये नाटक के ६४ अको, वृत्तियो के १६ अको तथा नाट्य शास्त्र के ३६ लक्षणो को अलकार के अन्तर्गत मानते हैं।

---

१ सैपासर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थों विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्य. को अलकारोऽनयाविना। काव्यालकार २।८५

२ वक्राऽभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति ॥ भामह-काव्यालकार १।३६।

३ अलकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम् ॥ काव्यादर्श २/२२०।

४ देखिए 'हिस्ट्री ऑव सस्कृत पोइटिक्स,' ले०—पी० वी० काणे (सन् १९२३), पृ० ३७५।

दण्डी के पश्चात् उद्‌भट ने भामह के सिद्धान्तो की गम्भीर व्याख्या की तथा अलकारो की सख्या ३८ से ४१ तक पहुँचा दी। इन्होने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास नामक अलकारो की कल्पना की तथा अनुप्रास के भेदो की वृद्धि की। इन्होने श्लेप के दो भेद, शब्द-श्लेप तथा अर्थ-श्लेप और उपमा के अनेक भेद किए। वामन ने अलकारो को काव्य के नित्य धर्म के रूप मे स्वीकार किया। उनके विचार मे गुण काव्य की शोभा करने वाले धर्म है तथा अलकार काव्य मे उत्कर्ष प्रदान करने वाले। इन्होने 'औपम्य' को समस्त अलकारो का मूल माना है।

अलकार सम्प्रदाय मे रुद्रट का विशिष्ट स्थान है। इन्होने वैज्ञानिक रूप मे अलकारो का चार प्रकार का वर्गीकरण किया है, वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेप। ये काव्य मे रस-सिद्धान्त के प्रयोग को विधेय मानते हुए भी अलकारो के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते है। इन्होने अर्थालकारो की सख्या ५० तथा शब्दालकारो की ५ मानी है। इनके अलकारो के लक्षण भामह, दण्डी, उद्‌भट से भी अधिक शुद्ध तथा वैज्ञानिक है। इनके नवीन अलकार, मत, साम्य एव पिहित है।

रुद्रट के पश्चात् ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय होने पर अलकारो का पूर्ववत् महत्त्व नही रहा। वे स्वय सिद्ध न रहकर रस-ध्वनि के साधन मात्र रह गए। वे न तो काव्य के अनिवार्य अग ही रहे और न स्वतन्त्र महत्त्व के अधिकारी ही। उनका महत्त्व रस तथा ध्वनि के उत्कर्षक के रूप मे ही रह गया। जिस काव्य मे शब्द-चित्र अर्थात् वाच्य-चित्र रूप अलकार ही हो वह अधम माना गया है।

भोज ने शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार नामक अलकारो के तीन प्रकार माने तथा उपमा, रूपक, अपन्हुति को शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनो ही वर्गो मे माना। आचार्य मम्मट ने यद्यपि 'ध्वन्यालोक' का अनुकरण किया तथापि उन्होने काव्य को सालकार माना है। उनके विचार से जो धर्म काव्य के अगो, शब्द तथा अर्थ के द्वारा कभी-कभी उपस्थित रहने वाले रस का उपकार करते है वे धर्म, हार आदि के समान काव्य शरीर की शोभा बढाने वाले अलकार कहलाते है तथा उनके अनुप्रास, उपमा आदि अनेक भेद होते है।[1] इनके विचार से अलकार काव्य के अस्थिर धर्म है। इन्होने ८ शब्दालकार तथा ६२ अर्थालकार माने है तथा पाच नवीन अलकार, अतद्‌गुण, माला, दीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम की भी कल्पना की है। आचार्य रुय्यक ने रुद्रट के वर्गीकरण को अपूर्ण मानकर अलकारो के ६ भेद किए: (१) सादृश्य-गर्भ, (२) विरोध गर्भ, (३) शृंखलाबद्ध, (४) न्याय मूल, (५) गूढार्थ प्रतीतिमूल, तथा (६) शकर। इनके चार नए अलकार, विकल्प, उल्लेख, काव्यार्थपत्ति तथा विचित्र है। वाग्भट्ट प्रथम ने पिछले अलकारो मे से केवल ४ शब्दालकार तथा ३५ अर्थालकारो का वर्णन किया है।

---

१ उपकुर्वन्ति त सन्त ये अगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलकारास्ते अनुप्रासोपमादयः॥ काव्य प्रकाश ८।६७।

जयदेव ने अलकारो को विशेष मान्यता दी। उनका कथन है कि जो काव्य को अलकार विहीन अगीकार करते है वे यह क्यो नही मानते कि अग्नि उष्णता रहित होती हे।[1] ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना के बाद अलकार का महत्त्व काव्य मे गौण होता गया। परवर्ती आचार्यों ने अलकारो के विवेचन मे कोई नवीनता नही प्रस्तुत की। वे पूर्ववर्ती आचार्यो के मतो की व्याख्या मात्र ही करते रहे। जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि ने अलकार सम्प्रदाय के महत्त्व को पुनर्जाग्रत करने के प्रयत्न किए। विश्वनाथ के विचार से अलकार केवल शब्द और अर्थ के वे अस्थिर धर्म हैं, जो शोभा की वृद्धि करने वाले है, रसादि का उपकार करने वाले है तथा जो अगद (आभूषण) आदि की भाति अलकार कहलाते है।[2] इन्होने ६० अलकारों का वर्णन किया है। अप्पय दीक्षित ने १२० अलकारो का वर्णन किया है। पडित राज के 'रस गगाधर' मे उत्तरालकार तक ७० अर्थालकारो का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के पश्चात् अलकारो का महत्व कम हो गया। सस्कृत के परवर्ती आचार्यो ने प्राय. अपने पूर्ववर्ती आचार्यो तथा उनके ग्रन्थो के आधार पर अपना अलकार विवेचन करना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार धीरे-धीरे अलकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत चिन्तन का अपेक्षाकृत अभाव तथा रूढिवादिता के चिन्ह दिखाई पडने लगे। किसी-किसी आचार्य मे कोई मौलिक उद्भावना भी दीखती है। अलकार विवेचन की इसी प्रवृति का सूत्र हिन्दी के आचार्यो ने पकडा। कुछ विद्वानो का यह विचार भ्रमपूर्ण है कि हिन्दी के आचार्यों मे रूढिवादिता तथा मौलिक चिन्तन के अभाव की प्रवृत्ति रही और सस्कृत मे सदैव ही मौलिक चिन्तन के आधार पर इस सम्प्रदाय का विकास होता गया।[3] वास्तव मे सस्कृत साहित्य के परवर्ती आचार्यो मे से अधिकाश मे, न मौलिक चिन्तन की ही प्रवृत्ति थी न अलकार सम्प्रदाय का स्वतन्त्र विकास करने की। वे रूढिवादी हो गए थे। उनकी यही परम्परा रीतिकाल के हिन्दी आचार्यो को मिली, जिनके आधार पर ही उन्होने इस सम्प्रदाय का विषय-स्थापन, शैली-निरूपण, वर्गीकरण, लक्षणो का वर्णन आदि किया।

---

१ अगीकरोति य· काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती॥ चन्द्रालोक १/८।

२ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन.
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्ते अगदादिवत्। साहित्य दर्पण १०।१।

३ 'उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक विचित्र सयोग घटित हुआ। सस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम की एक सक्षिप्त उद्धरणी हो गई'—'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल, (सम्वत १९९९), पृ० २५८-२५९।

पूर्व आलोच्य-काल में हिन्दी मे अलंकार-सम्प्रदाय का विकास

हिन्दी मे यद्यपि केशव से पूर्व भी अलकार पर ग्रन्थ रचे गए तथा रचनात्मक साहित्य मे अलकारो का विशेष महत्त्व माना जाता रहा किन्तु शास्त्रीय रूप मे अलकारो को महत्त्व प्रतिपादन करने का श्रेय केशव को ही है। उनका विचार है कि कविता सुजाति, सुलक्षण सहित, सुन्दर वर्णनो से युक्त, रसपूर्ण तथा सुन्दर वृत्तो से युक्त होने पर भी अलकार के अभाव मे सुशोभित नही होती।[1] उन्होने अलकार तथा अलंकार्य का कोई भेद न मानकर वर्ण्य-विषय को भी अलकार के अन्तर्गत माना है। उन्होने सामान्य तथा विशिष्ट दो प्रकार के अलकार माने है तथा शब्द और अर्थ के आधार पर अलकारो का वर्गीकरण नहीं किया है। उन्होने शब्द और अर्थ के कुल ३७ अलकारो का वर्णन किया है। उनके अलकारो के वर्गो, भेदो तथा लक्षणो से उनके मौलिक चिन्तन का पता लगता है।

केशव काव्य के रस तथा ध्वनि तत्व का कही विरोध नही करते है। फिर भी रामचन्द्रिका मे अलकारो के बाहुल्य तथा चमत्कार की प्रवृति के कारण और आनन्द-वर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ के मतो को छोडकर दण्डी, राजानक रुय्यक आदि आचार्यो के ग्रन्थो का आधार ग्रहण करने के कारण, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी प्रवृति अलकार को विशेष महत्त्व देने की थी। उनकी 'कवि-प्रिया' मे अलकारो का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है तथा 'रसिक-प्रिया' मे शृगार रस की प्रधानता है। उन्होने अपने ग्रन्थो मे किसी भी मत का खण्डन नही किया है तथा केवल कवि-रीति का निरूपण मात्र किया है। केशव का लक्ष्य क्योकि काव्यागो का विवेचन करना नही था, इसलिए उनके लक्षणो, उदाहरणो तथा भेदो के निरूपण मे कही अव्याप्ति तथा कही अतिव्याप्ति दोष आ गया है।

केशव की 'कवि-प्रिया' के पश्चात् अलकार सम्बन्धी विशेष महत्त्व का ग्रन्थ 'भाषा भूषण' है जो 'चन्द्रालोक' के आधार पर लिखा गया है। इसमे एक ही दोहे मे पूर्वार्द्ध मे अलकार का लक्षण तथा उत्तरार्द्ध मे उदाहरण, सरल तथा सुबोध भाषा मे दिया गया है। इसमे शब्दालकारो की अपेक्षा अर्थालकारो का प्राधान्य है। इसमे चार शब्दालकारो तथा सौ अर्थालकारो का वर्णन किया गया है।

मतिराम ने अलकार-निरूपण मे 'कुवलयानन्द' की शैली का अनुसरण किया है। उनकी अलकारो की परिभाषा यह है।

"रस अर्थन ते भिन्न जो, शब्द अर्थ के माहि।
चमत्कार भूषण सरिस, भूषण मानत ताँहि॥"

---

१ यदपि सुजाति, सुलक्षणी, सुवरन, सरस, सुवृत्त
भूषण बिन न विराजई, कविता, बनिता, मित्त॥ 'कवि-प्रिया', पृ० २४
(सन् १९२४), प्र० लखनऊ।

भूपण ने भी 'कुवलयानन्द' की शैली अपनायी है तथा दोहो मे अलंकारो के लक्षण देकर विभिन्न छन्दो मे उनके उदाहरण दिए है। उन्होने वामन की भाति उपमा को सब अलकारो मे महत्व दिया है। उन्होने ९५ अलकारो का वर्णन किया है। देव, रस तथा ध्वनि सिद्धान्त के अनुयायी है किन्तु उन्होने काव्य-शास्त्र के सभी अंगो का विवेचन किया है। उन्होने ३९ अलकार माने है तथा शेष को इन्ही का भेद मान लिया है। केशव की भाति उन्होने भी अर्थहीन अलकारो को मृतक या प्रेत काव्य कहा है (मृत काव्य बिन अर्थ के, कठिन अर्थ को प्रेत)। उनके विपरीत ये अलकारो मे उपमा और स्वाभावोक्ति को मुख्य मानते है।

भिखारी दास ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' मे १०० अर्थालकारो तथा १२ प्रमाणालकारो का वर्णन किया है। इनका अलकार निरूपण 'कवि-प्रिया' और 'भाषा भूपण' दोनो ग्रन्थो से विस्तृत तथा प्रौढ है। इन्होने अलकारो को वाच्य तथा व्यग्य दोनो प्रकार का ही माना है तथा उनका व्यवस्थित रूप मे विभाजन किया है। इन्होने भी केशव की भाति ३७ अलकारो का वर्णन किया है यद्यपि उनके भेदो-पभेदो को मिलाकर उनकी सख्या बढ जाती है। इन्होने तुक का विवेचन मौलिक रूप मे करके उसे अनुप्रास से पृथक् माना है। तुक हिन्दी काव्य मे निजी वस्तु है, इस लिए इन्होने इसका सागोपाग वर्णन किया है। काव्य मे ध्वनि तथा व्यग्य को प्रधानता देने पर भी इन्होने अलकारो का विशेप महत्त्व माना है।

आलोच्य-काल के पूर्व हिन्दी के आचार्यो ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के ग्रन्थो के आधार पर अलकारो का विवेचन किया है। अनुकरण के प्रधान ग्रन्थ, चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश, कुवलयानन्द आदि रहे है। यद्यपि इनके लक्षणो मे प्राय, कही अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष आ गया है तथापि इनकी मौलिकता का परिचय इनके द्वारा की गई नए-नए अलकारो की उद्भावना, लक्षणो, भेदोपभेद-निर्णय, वर्गीकरण तथा सख्या के विचार मे प्राप्त होता है। सस्कृत के आचार्यो की भाति अलकारो के मूल मे कुछ विशिष्ट अलकारो को मानने की इनकी भी प्रवृति रही है किन्तु इस विषय मे इन्होने कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नही किया है। इन्होने सस्कृत आचार्यो के प्रसिद्ध ग्रन्थो की शैलियो को ही अपनाया तथा कोई विशिष्ट प्रकार की निजी मौलिक शैली का सूत्रपात नही किया। अलकारो का विवेचन करने वाले इन आचार्यो के तीन प्रकार के ग्रन्थ है, पहले लक्षणो तथा उदाहरणो की शैली मे लिखे गए ग्रन्थ, जिनका उद्देश्य अलकारो का विवेचन करना था। दूसरे सभी काव्यागो के विवेचन के साथ अलकारो का वर्णन करने वाले ग्रन्थ तथा तीसरे अलकारो का प्रत्यक्ष विवे-चन न करके अपनी काव्य-शैली के द्वारा अलकारो का महत्त्व-प्रदर्शन करने वाले ग्रन्थ जैसे रहीम, विहारी तथा भूपण के। इन्होने हिन्दी के पूर्ववर्ती आचार्यो के ग्रन्थो का भी अनुकरण किया है तथा कही-कही उनसे अपनी सहमति या असहमति प्रकट की है। इन्होने कही-कही मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए है। इस प्रकार इनका

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मिश्र जी क्रोचे की भांति अलंकारों को काव्य में शोभा उत्पन्न करने के लिए अभिव्यञ्जना से चिपकी हुई वस्तु मात्र नहीं मानते। अभिव्यंजना या उक्ति में अलंकार चिपक ही कैसे सकता है? शुक्ल जी की भांति उनका विचार है कि यदि बाहर से चिपका हुआ रह जाए तो वह सदा उक्ति से अपनी पृथक् सत्ता बनाए रहेगा और यदि भीतर से उसका चिपकना माना जाए तो वह उक्ति का अंग ही होगा। वे वामन की भांति अलंकारों को काव्य का अविच्छेद तत्व तथा नित्य धर्म मानते हैं।

लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'

'सुधांशु' जी ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक ग्रन्थ में 'अलंकार' शीर्षक के अन्तर्गत अलंकार पर कुछ संस्कृत आचार्यों के मत देकर अलंकारों की संख्या तथा परिभाषा का विवेचन किया है। उन्होंने अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख विषयों का आधुनिक दृष्टिकोण से विश्लेषण तथा विवेचन किया है। काव्य के बाह्य पक्ष के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है "भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य-वस्तु की प्रकृति पर विचार न कर एक प्रधान विषय की अवहेलना की है। उसकी सारी प्रतिभा काव्य-वस्तु के विधान में ही खर्च हुई है।"[१] 'सुधांशु' जी का यह विचार उपयुक्त नहीं है। उन्होंने काव्य-वस्तु का तात्पर्य स्पष्ट नहीं किया। यदि काव्य-वस्तु से तात्पर्य काव्य के विषय पक्ष से है तो रस, ध्वनि, औचित्य आदि सम्प्रदायों ने काव्य-वस्तु का विवेचन काव्य-वस्तु के विधान के सम्प्रदाय, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि से कम नहीं किया, जिसके परिणाम स्वरूप काव्य-वस्तु-विधान के सम्प्रदाय, काव्य-वस्तु के सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत आ गए। हां, प्रारम्भ में काव्य-वस्तु के विधान का विवेचन अधिक रहा। उत्तर-ध्वनि-काल में इसके विपरीत कम रहा। फिर तो काव्य-वस्तु का उसके विधान के साथ साध्य-साधक सम्बन्ध ही माना जाने लगा।

इसी प्रकार इनका दूसरा विचार भी समुचित प्रतीत नहीं होता कि "जो अलंकार पहले काव्य की शोभा के लिए साधन रूप से प्रयुक्त होते थे, वे ही परम्परा चल पड़ने के कारण काव्य के साध्य बन गए।"[२] यह बात संस्कृत के कुछ अलंकार-वादी आचार्यों तथा हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवियों के लिए तो ठीक है भी, पर संस्कृत साहित्य के उत्तर-ध्वनि-काल में तो प्रायः अलंकार ध्वनि तथा रस के साधन मात्र ही बन गये थे, स्वयं साध्य नहीं रहे थे। वे काव्य के नित्य धर्म न रहकर अस्थिरधर्म हो गए थे। हिन्दी में भी द्विवेदी काल के पश्चात् प्रायः ऐसा ही रहा।

---

१. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (तृतीय संस्करण), पृ० ७।
२. वही पृष्ठ ८।

शब्दालकार है, अनुप्रास तथा चित्र। उनके अलकार निरूपण का आधार केशव की ही भाति 'चन्द्रालोक' है। उनके अधिकाश लक्षण और उदाहरण प्राय स्पष्ट है। कही-कही वे अशुद्ध हो गए है, जैसे तद्रूप का उदाहरण व्यतिरेक का उदाहरण बन गया है।[1] उन्होने अपने पूर्ववर्ती रीतिकारो से अधिक अलकारो का निरूपण किया है। रीतिकाल के अन्तिम आलकारिको के ग्रन्थो मे उनके ग्रन्थ का उल्लेखनीय स्थान है।

कविराजा मुरारीदान

मुरारीदान जी का 'जसवन्त जसो भूषण' आधुनिक अलकार-ग्रन्थो मे विशिष्ट स्थान रखता है। इन्होने इस ग्रन्थ की रचना मे अग्निपुराण, नाट्य-शास्त्र, चिन्तामणिकोप, चन्द्रालोक आदि ग्रन्थो का आधार लिया है, काव्य-प्रकाश, रस-गगाधर आदि का नही। इसलिए अन्य रीतिकालीन ग्रन्थो मे दिए हुए लक्षणो से इनके लक्षणो मे कुछ अन्तर है। इन्होने भाषा के कवियो मे से विहारी, जसवन्तसिह, मतिराम, केशव आदि का आधार लिया है।

कविराजा ने अपने ग्रन्थ मे अन्य आचार्यों से किसी न किसी प्रकार की नवीनता का समावेश करने का प्रयत्न किया है। वे पुराने ग्रन्थो के पिष्टपेषण से वचकर कोई नवीन युक्ति निकालने के फलस्वरूप अलकारो के नामार्थ मे ही लक्षण ढूढने मे सलग्न हो गए है।[2] उन्होने लिखा है कि "अलकारो के नामार्थ मे ही लक्षण है, किन्तु इस रहस्य को प्राचीनाचार्यो ने नही समझा। प्राचीनाचार्यो को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यो लिखते?"[3] इस आधार पर उन्होने प्राचीन आचार्यों के लक्षणो पर आक्षेप किए है तथा अलकारो के लक्षण तथा व्याख्या, उनकी व्युत्पत्ति के आधार पर निकाली है।

अलकारो के नामार्थ के आधार पर उनके लक्षण, पूर्ण तथा स्पष्ट नही हो सके है। उनके इस सिद्धान्त के व्यवहार मे अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष का आ जाना स्वाभाविक है। वे स्वय इस सिद्धान्त का पूर्ण पालन नही कर सके है तथा नामो की व्युत्पत्ति के अतिरिक्त, उन्हे अन्य प्रकार से लक्षणो को स्पप्ट करना पड़ा है। उनके अलकारो के नामो की व्युत्पत्ति वहुत अशो मे 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर ही है। कविराजा का यह विचार कि प्राचीनो के ध्यान मे अलकारो के नाम का साक्षात् अर्थ नही आया था, भ्रामक है।[4] नामो के भीतर चाहे कितना ही अर्थ हो वे लक्षणो का स्थान नही ले सकते, लक्षणो की आवश्यकता सदैव ही उनके स्पष्टीकरण तथा

---

१ देखिए 'रावणेश्वर कल्पतरु' (सन् १८९२), भारत जीवन प्रेस से मुद्रित, पृ० ८६-९०।

२. देखिए 'जसवन्त जसोभूषण', प्रस्तावना, पृ० २०२।

३. वही, पृ० २०३।

४ देखिए वही, पृ० १७२।

स्वरूप विश्लेषण के लिए पडती है। केवल नामो से ही लक्षण देने मे अलकारो का यथार्थ ज्ञान असम्भव है। नाम से ही लक्षण देने के कारण इनका अतिशयोक्ति का लक्षण —

"लघन सीमा लोक कौ, अतिशय जानहु भूप।
अतिशय की उक्ति वहै अतिशयोक्ति को रूप॥"

अत्युक्ति के लक्षण —

"मिथ्या भूत उदारता, शूरतादि को भूप।
अचरजकारी वर्ननजु, अत्युक्ति को रूप॥"

से एक हो गया है। अलकारो के नामो मे लक्षण देखने की प्रवृति पूर्ववर्ती कवियो मे थी, पर वे भ्रम, सन्देह, स्मृति, दृष्टान्त आदि कुछ ही अलकारो के लक्षण, नामो पर छोडते थे।

सुमिरन, भ्रम, सदेह को, लच्छन प्रगटै नाम (काव्य-निर्णय)
दृष्टान्तालकार सो, लक्षण नाम प्रमान (काव्य-रसायन)

कविराजा चित्रकाव्य को शब्दालकारो के अन्तर्गत नही मानते[१] क्योकि इसमे लेख का ही चमत्कार है, अन्य कोई विशेषता नही है। 'जसवन्त जसो भूषण' मे अर्थालकारो मे उपमा को सर्वप्रथम स्थान देकर उसके नाम के आधार पर उसकी व्युत्पत्ति तथा लक्षण दिया गया है। उपमा का तात्पर्य है, समीपता करके किया हुआ मान अर्थात् विशेष ज्ञान। वे उपमा मे वर्णनीय वस्तु की समता का निर्णय होना मानते है तथा उनका विरोध करते है, जिन्होने विना अक्षरार्थ का विचार किए उपमा का स्वरूप साधर्म्य माना है। इन्होने उपमा को प्रथम रखकर फिर अन्य अलकारो को अकारादि-क्रम से रखा है। इसमे किसी वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नही है। न तो एक वर्ग के अलकार ही साथ दिए है, न महत्त्वपूर्ण अलकारो को पृथक् स्थान ही दिया गया है। वर्णमाला के क्रम से इन्हे रखने पर भी उपमा को शीर्ष-स्थान देने का भी कोई सतोपजनक कारण नही दिया गया है।

इन्होने कुछ नवीन अलकार जैसे अतुल्ययोगिता, अनवसर, अप्रत्यनीक, अपूर्वरूप, अभेद, नियम आदि का अपनी ओर से आविष्कार किया है, किन्तु इनमे से अभेद तथा नियम को छोडकर शेप या तो प्राप्त अलकारो के विपरीत या एक दूसरे के विपरीत है। उनके ग्रन्थ मे ८१ अलकार हैं, जिनमे से १ शब्दालंकार तथा ८० अर्थालकार है। उनका अन्य अलकारो का वर्णन रूढिगत है। पद्य मे पहले लक्षण लिखकर फिर उन्ही लक्षणो को गद्य मे भी लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने पद्य लिखकर प्राचीन परम्परा का पालन मात्र किया है। मौलिकता तथा नवीनता का ही ध्यान रखने के कारण उनका विवेचन स्पष्ट नही हो पाया हैं।

---

१ देखिए 'जसवंत जसोभूषण', प्रस्तावना, पृ० ७६।

उन्होने दूसरो की आलोचना करके लक्षणो मे व्यर्थ का अनावश्यक विस्तार किया है। उनके ग्रन्थ मे केवल यही नवीनता है कि उन्होने नामो के आधार पर लक्षण लिखे हैं, पर इमसे उनका अलंकार-शास्त्र के विकास मे कोई विशेष योग नही मिलता।

कन्हैया लाल पोद्दार

पोद्दारजी ने अपनी 'अलकार मजरी' मे जो सर्वप्रथम स० १६५३ मे प्रकाशित हुई थी तथा जिसका दूसरा परिवर्द्धित सस्करण 'काव्य-कल्पद्रुम' के द्वितीय भाग के रूप मे स० १६८० मे प्रकाशित हुआ था, अलकारो का विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। यह ग्रन्थ सस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है। पोद्दारजी ने पहले दण्डी के आधार पर अलकार को काव्य के शोभाकारक पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया है तथा फिर दूसरी परिभाषा मे उसे लोगो की साधारण व बोलचाल की स्वाभाविक शैली से भिन्न शैली मे, किसी वक्तव्य का अनूठे ढग तथा चमत्कार के साथ वर्णन करना माना है। इस परिभाषा मे भामह की वक्रोक्ति तथा दण्डी की अतिशयोक्ति, जिन्हे आनन्दवर्द्धन भी स्वीकार करते है तथा जिनका एक ही अर्थ है "किसी वक्तव्य को लोकोत्तर अतिशय से कहना" का आधार लिया गया है। इस प्रकार उन्होने एक नई समन्वयात्मक परिभाषा देने का प्रयत्न किया है, जिसमे कोई विशेप मौलिकता नही है। 15934

इस ग्रन्थ के विस्तृत प्राक्कथन मे 'अलकार क्या है', 'अलकारो के नाम तथा लक्षण', 'सस्कृत साहित्य के प्राचीन अलकार-ग्रन्थ', 'अलकारो का क्रम विकास', 'अलकारो का वर्गीकरण' तथा 'हिन्दी साहित्य मे अलकार ग्रन्थ' शीर्षक से अलकारो का सक्षिप्त इतिहास दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि इस प्रकार का अलकारो का इतिहास हिन्दी मे पहली बार लिखा गया है। इसमे केवल सस्कृत ग्रन्थो का परिचयात्मक विवरण मात्र ही दिया गया है, अन्य कोई विशेष मौलिकता नही है।

सस्कृत काल मे अलकारो के क्रमिक विकास के अन्तर्गत चार स्पष्ट कालो का उल्लेख किया गया है, 'पहला प्रारम्भिक विकास काल' जो नाट्य शास्त्र से भामह तक का काल है, दूसरा 'द्वितीय विकास काल' है जो छठी से आठवी शताब्दी तक का काल है, जिसमे भामह के ३८ अलकारो मे दण्डी, उद्भट तथा वामन के १४ अलकारो का और समावेश किया है, तीसरा, आठवी से बारहवी शताब्दी तक का काल है, जिसमे रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक आदि आलकारिको ने अलकारो की सख्या को ५२ से १०३ तक पहुँचा दिया है तथा चौथा काल 'अलकारो के विकास का उत्तर अर्थात् अन्तिम काल' है जो तेरहवी से १७वी शताब्दी तक फैला हुआ है तथा जिसमे जयदेव ने 'चन्द्रालोक' मे १६ नवीन अलकारो का तथा विश्वनाथ ने ७ नये अलकारो का योग दिया है तथा पडितराज जगन्नाथ ने इनकी सख्या १८० तक बढा दी है। उनका यह काल-विभाजन मौलिकता लिए हुए है, यद्यपि इन्होने इसका कोई

आधार स्पष्ट नही किया है। 'रस-गगाधर' के पश्चात् साहित्य के अन्तर्गत किसी काव्य-सम्प्रदाय का क्रमिक अध्ययन, विश्लेषण तथा गवेषणा, इस ग्रथ मे ही सर्वप्रथम हुआ है।

इसके पश्चात् इन्होने तीन विवरण-तालिकाये देकर यह निर्देश किया है कि किन आचार्यो ने किस-किस नाम के कितने अलकार लिखे है तथा परवर्ती आचार्यो ने उनमे कितने तथा कौन-कौन से ग्रहण किए है तथा कितने छोड दिए है। तीसरी तालिका मे नवीन आविष्कृत अलकारो का विवरण देकर यह भी बताया गया है कि ये अलकार किसने ग्रहण किए है तथा किसने नही। इनके न ग्रहण करने के कारणो पर भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार अलकारो के वर्गीकरण को स्पष्ट करते हुए रुद्रट के वर्गीकरण को वैज्ञानिक मानकर भी विशेष महत्त्वपूर्ण नही माना है, क्योकि इससे बहुत से अलकारो के मूल तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान नही होता। इनसे अधिक वैज्ञानिक तथा यथार्थ वर्गीकरण रुय्यक तथा मखक का समझा गया है।

उनका विचार है कि हिन्दी के "अलकार ग्रन्थो" मे, जो कुछ स्थूल रूप मे लिखा है, वह अधिकाँश मे सस्कृत के ग्रन्थो के आधार पर ही है। स्वय उनका ग्रथ भी इसका अपवाद नही है। हिन्दी के अलकार ग्रन्थो का निर्देश करते हुए इन्होने प्राय सभी ग्रन्थो मे ही किसी न किसी प्रकार के अभाव तथा दोषो का ही उल्लेख किया है। कदाचित् यह उस युग की आलोचना की प्रवृत्ति के कारण अथवा अपने पाडित्य के प्रदर्शन के कारण किया गया हो। इन्होने अपनी कृति की महत्ता प्रकट करते हुए दूसरो पर उसमे से ही सामग्री ग्रहण करने का आक्षेप भी लगाया है।'अलकार-प्रकाश' और 'काव्य कल्पद्रुम' के पश्चात् अलकार विषय के जो हिन्दी मे अन्य लेखको द्वारा ग्रन्थ लिखे गये हैं, प्राय उनमे बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनो ग्रन्थो से ही ली गई हैं।"[1]

उन्होने कविराजा मुरारीदान के अलकारो की नवीनता का खण्डन विद्वत्तापूर्ण तथा प्रामाणिक रूप मे किया है। उनका विचार है कि किसी भी वस्तु का सर्वागीण लक्षण वही कहा जा सकता है, जिसके द्वारा उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो। लक्षण-निर्माण की असावधानी से अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव दोष उत्पन्न हो जाते है, जैसे 'जसवन्त-भूषण' मे हो गए है। इसी प्रकार से उदाहरण भी जरा सी असावधानी से अशुद्ध हो जाते है। विशेष रूप मे उन अलकारो के उदाहरणो मे जिनमे समानता होती है, यह सम्भावना अधिक होती है। उन्होने अपने ग्रन्थ मे तीन प्रकार के उदाहरण, स्व-रचित, अनूदित तथा दूसरो के दिये है। स्व-रचित उदाहरण थोडे हैं तथा अनूदित अधिक। ये अनूदित उदाहरण सस्कृत के काव्यो तथा लक्षण-ग्रन्थो दोनो से ही लिए गए हैं। हिन्दी ग्रन्थो के उदाहरण केवल

---

१ काव्य कल्पद्रुम, 'प्राक्कथन', द्वितीय भाग (स० १९९३), पृष्ठ ५२।

दोप-दर्शन के लिए दिए गए है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के कवियो के उदाहरण देने मे इन्होंने कुछ हीनता का या पाडित्य-प्रदर्शन की कमी का अनुभव किया है।

'अलकार मजरी' के अष्टम स्तवक मे ६ शब्दालंकारो का वर्णन किया गया है। उनके भेदो, प्रभेदो की व्याख्या विभिन्न आचार्यो के मतो के आधार पर की गई है। मम्मट के अनुसार श्लेष के शब्दालकार तथा अर्थालकार होने का विवेचन किया गया है। इसकी तुलना भी मम्मट के अनुसार ही अन्य अलकारो से की गई है। पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र का विवेचन अन्य चार अलकारो (वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, अनुप्रास) की अपेक्षा सक्षिप्त है। नवे स्तवक मे अर्थालकारो का वर्णन है, उपमा के कुछ भेदो को ग्राह्य समझकर विस्तार से समझाया गया है तथा कुछ का चलता वर्णन मात्र कर दिया गया है। इसमे प्रमाण के ८ तथा रस भाव के ७ अलकारो का वर्णन नही दिया गया है। विरोध तथा विरोधाभास को एक कर दिया गया है तथा मुरारीदान की भाति परिवृत्ति के विपरीत अपरिवृत्ति नामक अलकार की उद्भावना की गई है। दशम स्तवक मे ४ ससृष्टि, १०० अर्थालकार तथा सकर अलकारो का वर्णन किया गया है। इन अलकारो के वर्णन मे हिन्दी के आचार्यो के मतो का भी उल्लेख करके, कही-कही उनके उदाहरणो की आलोचना की गई है। उन्होने कुछ ऐसे अलकारो के भेद भी दिए है जो अन्य किसी आचार्य ने नही दिए है, जैसे उपमा के श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा, सम्मुच्चयोपमा आदि, रूपक के समस्त, वस्तु-विषयक, एक देशी व वर्ती, युक्त, अयुक्त, हेतु तथा अतिशयोक्ति का कारणातिशयोक्ति।[1] उन्होने अलकारो के भेदो के प्रदर्शन की ओर विशेष रुचि दिखाई है, जैसे अतिशयोक्ति के कम-से-कम ६ तथा व्यतिरेक के २४ भेद दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बताया है कि सस्कृत के किस आचार्य ने इन भेदो का किसके अन्तर्गत अन्तर्भाव किया है।

'अलकार मजरी' अपने विषय की विशेष उपादेय पुस्तक है। इसका विवेचन पाडित्यपूर्ण शैली मे सस्कृत आचार्यो के समान ही किया गया है। इसमे मौलिक विचारों का, हिन्दी के अन्य अधिकाश ग्रन्थो के समान ही अभाव है। इसमे अपने युग की आवश्यकता के अनुसार सरल तथा व्याख्यात्मक शैली अपनाने का ध्यान नही रखा गया है। उदाहरणो के अतिरिक्त सारा विषय गद्य मे ही है। लक्षणो मे पदो के अर्थ देने, शब्दार्थ करने तथा विवेचन करने आदि की सभी शैलियों का प्रयोग किया गया है। यह ग्रन्थ सस्कृत की लेखन परम्परा का ही हिन्दी रूप है।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

'भानु' जी के 'काव्य-प्रभाकर' नामक ग्रन्थ के नवम मयूख मे अलकारो का विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ मे पहली बार अग्रेजी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई

१ देखिए 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' (स० २००५), डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ १६६।

पडता है तथा अग्रेजी की भूमिका से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अग्रेजी पढे-लिखे पाठको को भी ध्यान मे रखकर लिखा गया है। 'साहित्य दर्पण', 'काव्य-प्रकाश', 'मदार मरन्द चम्पू' आदि ग्रन्थो मे दिए गए अलकारो के लक्षणो का निर्देश करने के पश्चात् स्वय उन्होने अलकारो की अपनी यह परिभाषा दी है, "व्यग्य और रस मे भिन्न जो अर्थ-चमत्कृति चित्त को अत्यन्त आह्लादकारक है, उसे ही अलकार कहते हैं।"[1] उनके विचार से अलकार काव्य के शोभाकारक न होकर शोभावर्द्धक है तथा वे विना चमत्कार के कही नही हो सकते। वे अलकार को काव्य का वाह्य स्वरूप मानते है, क्योकि उसका आभास हृदय ही मे होता है —

"व्यग अरु रस ते भिन्न जो, हृदय रूप सरसाहि।
चमत्कार भूषण सरिस, सोई भूषण आहि॥"

इसका यह तात्पर्य नही कि वे अलकार को ही काव्य का हृदय मानते हो। उनकी यह उक्ति उनकी सम्पूर्ण ग्रन्थ मे फैली हुई धारणा के मेल मे नही है। वे वास्तव मे अलकारवादी नही है। उन पर मम्मट तथा विश्वनाथ का ही विशेष प्रभाव है। वैसे उन्होने केशव के अनुसार अलकार-हीन काव्य को नग्न भी कहा है।

उन्होने अलकारो के तीन मुख्य भेद माने है, पहले शब्दालकार मे ८ उपभेद तथा भेदोपभेद, दूसरे अर्थालकार मे १०० भेद तथा तीसरे उभयालकार मे दो भेद, ससृष्टि तथा सकर का वर्णन है। इन अलकार के लक्षणो मे कोई विशेष मौलिकता नही है, केवल विस्तार से उनके नाम, सस्कृत के लक्षण, लक्षणो के पदो के अर्थ, सस्कृत के उदाहरण, भाषा के लक्षण, भाषा के उदाहरण तथा भावार्थ देकर अन्त मे अन्यान्य उदाहरणो के शीर्षक से अनेक पूर्ववर्ती कवियो के सुन्दर उदाहरण दिए है। इस प्रकार उन्होने सस्कृत तथा हिन्दी दोनो भाषाओ मे ही अलकारो का वर्णन किया है। लक्षणो से अधिक उदाहरणो के चयन मे कुशलता दिखाई है। हिन्दी के सभी छोटे-बड़े कवियो से उदाहरण लिए गए है। कही-कही गद्य के व्यावहारिक उदाहरणो के अतिरिक्त सस्कृत तथा फारसी के उदाहरण भी दिए गए है।

उन्होने उपर्युक्त विवेचन के लिए तीन विशेषताओ, सूचना, प्रश्नोत्तर, फुटनोट का समावेश किया है, सूचना शीर्षक से या तो दो या अधिक अलकारो का पारस्परिक भेद दिखाया है या कुछ ध्यान रखने योग्य वातो का उल्लेख किया है।[2] प्रश्नोत्तर द्वारा किसी विषय को स्पष्ट किया गया है तथा 'फुटनोट' के द्वारा कही-कही अपना मत प्रगट किया गया है।[3] इस प्रकार उनका ग्रन्थ उस विवेचन पद्धति के प्रारम्भिक स्वरूप का सकेत करता है, जो परवर्ती काल मे विकसित हुई। इससे

१ काव्य-प्रभाकर (स० १९६६), पृ० ६७३।
२ देखिए वही, पृ० ५९३ तथा ५५१।
३ देखिए वही, पृ० ५८८।

पता चलता है कि पुरानी रूढि के विरुद्ध इस काल मे स्पष्टीकरण, व्याख्या तथा विवेचन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था।

इस ग्रन्थ मे अलकारो का वर्णन प्राय 'साहित्य दर्पण' के आधार पर दिया गया है, किन्तु शब्दालकार पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासमक, श्लेप, प्रहेलिका तथा चित्त और उपमा के चार भेद पूर्णा, लुप्ता, रशना तथा माला का वर्णन उनसे पृथक् है। रस तथा भाव के अलकारो को न मानते हुए भी इस ग्रन्थ मे अपनी सम्मति के साथ उनका विवरण भी 'भूषण-चन्द्रिका' के आधार पर दे दिया गया है, जिससे कि पाठक इनसे अनभिज्ञ न रहे। इन सातो मे उन्होने इसलिए अलकारता नही मानी है कि "ये सब रस-विषयक है और रस-व्यग्य के अन्तर्गत है एव व्यग्य अलकारो से पृथक् है।"[1]

इस ग्रन्थ की विशेषता न तो मौलिकता मे है, न पाडित्य मे, वरन् सब प्रकार के ज्ञान का एक स्थान पर सग्रह करके, विपय की अधिक-से-अधिक जानकारी कराने की शैली के प्रयोग मे है। वास्तव मे यह सारा ग्रन्थ काव्यागो का वृहत्-कोष मात्र है। इन्होने हिन्दी के आचार्यो के उदाहरण, पोद्दारजी की भाति, केवल दोष दर्शन मात्र के लिए नही दिए है। 'काव्य प्रभाकर' के अलकार निरूपण मे लेखक का उद्देश्य, विपय को सहज ही हृदयगम कराने का रहा है, जिसमे वह पूर्णतया सफल हुआ है। विवेचन के प्रारम्भिक रूप के समावश, विषय के सरल तथा सुगम प्रतिपादन, आचार्यत्व, पाडित्य-प्रवृत्ति के त्याग, उदाहरणो के द्वारा विषय को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति तथा विषय को सुगम बनाने के उपायो के प्रयोग से यह ग्रन्थ अपना निजी मूल्य रखता है।

भगवान दीन 'दीन'

दीन जी के ग्रन्थ 'अलकार मजूषा' का प्रथम प्रकाशन स० १९७३ मे हुआ था। इसका बहुत समय तक विशेष प्रचार रहा। यह हिन्दी के परीक्षार्थियो के लिए इस उद्देश्य को लेकर लिखा गया था कि उसे प्रत्येक विद्यार्थी सकोच रहित होकर पढ सके क्योकि इसमे अश्लील उदाहरणो का समावेश नही है। प्राचीन ग्रन्थो की अपेक्षा इसमे जो विशेषताएँ स्वय लेखक ने अपने वक्तव्य मे बताई है, वे यह है. (१) अलकारो की अत्यन्त स्पष्ट और सरल पद्य मे लिखी गई परिभाषाए, (२) आवश्यकतानुसार उनकी गद्य मे विशद व्याख्या, (३) प्रत्येक अलकार के कई उदाहरण, (४) उदाहरणो का प्राचीन काव्य से चयन, (५) अलकारो की बारीकिया और भेद गद्य मे समझाना, (६) मर्यादापूर्णता तथा श्लीलता, (७) कई अलकारो के सम्बन्ध मे प्राचीनो मे भेद और अपनी स्वतन्त्र सम्मति का निर्देश करना, (८) अलकारो का दोप-निरूपण, (९) हिन्दी के अलकारो की उर्दू, फारसी तथा अग्रेजी भाषा के अलकारो के साथ तुलना, तथा (१०) अलंकारो के दोषो का वर्णन करना।

---

[1] काव्य-प्रभाकर (सं० १९६६), पृ० ६१९।

दीन जी अलकारो को काव्य का आवश्यक अग मानते है। उनकी अलकार की परिभाषा यह है "किसी वाक्य के वर्णन करने का 'चामत्कारिक' ढग अलकार कहलाता है।" दूसरे शब्दो मे "जिस सामग्री से किसी वाक्य मे रोचकता व चमत्कार आ जाए वह सामग्री 'अलकार' कहलाती है।"

उन्होने १० शब्दालकार, अनुप्रास, चित्र, पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, प्रहेलिका, भाषा-समक, यमक, वक्रोक्ति, वीप्सा तथा श्लेष का वर्णन किया है। उन्होने 'चित्र काव्य' मे अलकार-तत्त्व नही माना है। इसमे उन्हे केवल कवि चतुराई तथा परिश्रम ही दिखाई पड़ता है। शब्दालकारो मे भेदो की अधिकता के अतिरिक्त कोई विशिष्टता नही है। इन अलकारो के वर्णन मे दास तथा केशव का ही प्रभाव है। दूसरे पटल मे १०८ अर्थालकारो का वर्णन है। अर्थालकारो मे सबसे प्रमुख स्थान उपमा को दिया गया है जिसे वे अलकारो मे सर्वोत्तम तथा अनेक अलकारो का मूल मानते है। मालोपमा, रसनोपमा, अनन्वयोपमा, उपमेयोपमा तथा ललित उपमा को पृथक् स्वतन्त्र अलकार माना गया है। उन्होने केशव की सकीर्णोपमा को ललितोपमा मे समाविष्ट करके अपनी विशेष चिन्तन शक्ति का परिचय दिया है। तीसरे पटल मे ससृष्टि तथा सकर अलकार और उसके भेदो का वर्णन है। सकर के थोड़े से उदाहरण नमूने के तौर पर ही दिए है। उन्होने रसवत् अलकार को अलकार नही माना है, इसलिए इसके लक्षण, उदाहरण भी नही दिए है। चौथे पटल मे अलकारो के दोषो का वर्णन है। शब्दालकारो मे अनुप्रास के ३ दोषो तथा यमक के दोषो का वर्णन है तथा अर्थालकारो मे उपमा के ११ दोष, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति तथा अन्योक्ति के दोष दिए गए है।

दीन जी ने दोहो मे सरल तथा स्पष्ट रूप से अलकारो से लक्षण देकर प्राचीन कवियो के सुन्दर-सुन्दर उदाहरण, दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, बरवै, आदि अनेक छन्दो मे इस प्रकार से दिए है कि अलकारो के लक्षण जहा अस्पष्ट है, वे भी स्पष्ट हो जाते है। स्थान-स्थान पर इन अलकारो का दूसरे सादृश्य रखने वाले अलकारो से अन्तर स्पष्ट किया गया है तथा उनके उर्दू तथा अग्रेजी के पर्यायवाची नाम भी दिए गए है। उनसे इनकी तुलना या विवेचन का प्रयत्न नही किया गया है। कही-कही उदाहरण मे पूरे पद न देकर एक या दो चरण ही दिए गए है। दीन जी ने प्राचीन प्रथा को त्याग कर उदाहरण रीतिकालीन कवियो के ही न देकर सूर, तुलसी आदि भक्त कवियो तथा भूषण आदि वीर रस के कवियो के भी दिए है। उदाहरणो के सम्बन्ध मे यह नवीनता का समावेश है। ऐसा विद्यार्थियो के सकोच भाव को दूर करने के लिए किया गया है। उन्होने भी भानु जी के समान बोलचाल की गद्य के उदाहरणो से विषय को स्पष्ट किया है। लक्षणो को उदाहरणो द्वारा समझाने की इनकी शैली अध्यापको जैसी है। कही-कही ध्यान देने योग्य बातो को अलग-अलग गिना कर, प्रतिपादित-विषय को कण्ठस्थ करने की भी सुविधा दी गई है।[१]

---

१. देखिए 'अलकार मजूषा,' पृ० ५०, नवम सस्करण।

दीन जी के विवचन मे कुछ स्थलो पर शिथिलता भी दिखाई पड़ती है। कही-कही उनके उपस्थित किए गए उदाहरण लक्षणो से नही मिलते, जैसे समतद्रूप रूपक[1] तथा अतियोशक्ति के।[2] एक आव स्थल पर दीन जी ने अलकारो के परम्परागत लक्षणो से भिन्न लक्षण भी दिए है, जैसे स्मरण अलकार का लक्षण नवीन है।

परम्परागत लक्षण .—

> "सहश वस्तु लखि सदृश की, सुधि आवे जेहि ठौर।
> सुमिरन भूसन तेहि कहै, सकल सुकवि सिर मौर॥"

के स्थान पर उन्होने अधिक व्यापक निम्नाकित परिभाषा दी है :—

> "कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कछु, सुधि आवै कछु खास
> सुमिरन ताकौ भाषिये, बुधवर सहित हुलास।"

उन्होने सहश वस्तु को देखकर सहश वस्तु की सुधि आने मे ही यह अलकार न मानकर सब दशाओ मे कुछ देख, सुन, सोच तथा स्मरण करके सहश वस्तु की सुधि आने मे स्मरण अलकार माना है। इसी प्रकार से वक्रोक्ति, श्लेष आदि के लक्षणो से विपय स्पष्ट नही होता। सूचना द्वारा विषय स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार 'अल्प' अलकार मे आपने परम्परागत परिभाषा मे आधेय की अपेक्षा आधार के सूक्ष्म वर्णन के स्थान पर मनोरजक वर्णन को ही कविराजा मुरारीदान की भाँति पर्याप्त माना है।[3] इसी प्रकार उत्प्रेक्षा को बलपूर्वक देखना मानकर 'सभावना' शब्द को छोड दिया है, जिससे लक्षण मे कुछ अन्तर नही पडता। उन्होने काव्यलिंग अलकार को अन्य आचार्यो की भाँति हेतु अलकार का प्रकारान्तर नही माना है। 'तिरस्कार' नामक एक नए अलकार के अतिरिक्त उन्होने क्रम अलकार के तीन भेद यथाक्रम, भगक्रम, विपरीतक्रम की भी नई उद्भावना की है। भंगक्रम मे तो कोई चमत्कार नही है। भारतीय साहित्य मे तो वह दोप है। हाँ, विपरीतक्रम मे कुछ विशिष्टता अवश्य है। वक्रोक्ति को उन्होने शब्दालंकार तथा अर्थालकार दोनो ही माना है। अत्युक्ति के प्रेमात्युक्ति, विरहात्युक्ति आदि कई भेद दिए हैं। रसवत् आदि को अलकार नही माना है।

दीन जी ने अलकारो के सरल तथा स्पष्ट लक्षणों तथा उनके अनेक सरस सुन्दर तथा उपयुक्त उदाहरणो से अलकारो का स्पष्ट ज्ञान कराने का सफल प्रयास किया है। उन्होने अलकारो के सम्बन्ध मे कोई विशेष गम्भीर विवेचन तो प्रस्तुत नही किया है पर जहा वहा टिप्पणी देकर अपने विशिष्ट मत का प्रदर्शन अवश्य किया है। पुराने विपय को नवीन शैली तथा नए साधनो से सुगम बनाने मे वे

---

१ देखिए अलकार मजूपा, पृ० ५७, पाचवा संस्करण।
२ देखिए वही, पृ० ६४, पाचवा सस्करण।
३ देखिए वही, पृ० १५२।

सफल हुए है। उनकी 'अलकार मजूषा' अपनी विशेष उपादेयता के कारण ही इतनी लोकप्रिय बन गई थी। भानु जी की अपेक्षा उनका अलकारो का वर्णन सक्षिप्त होते हुए भी स्पष्ट, सुगम तथा सरल है।

पंडित राम शकर शुक्ल 'रसाल'

'रसाल' जी का 'अलकार पीयूष' नामक ग्रन्थ जो उनके शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी अलकार शास्त्र का विकास' का परिवर्द्धित रूप है, दो भागो मे प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ काव्यालकारो के वैज्ञानिक एव व्यवस्थित अन्वेषण के फलस्वरूप लिखा गया है तथा कुछ नवीन और मौलिक सिद्धान्तो को प्रमाण द्वारा पुष्ट करके प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह पूर्ववर्ती ग्रन्थो का ही आधार ग्रहण करके लिखा गया है, पर इसमे इसकी विशिष्ट मौलिकता भी दिखाई पडती है। 'भाषा भूषण' की भाति यह भी केवल अलकार निरूपण का ही ग्रन्थ है किन्तु उससे कही अधिक समृद्ध है। इसमे सस्कृत के विभिन्न प्रमुख आचार्यो के मतो के उल्लेख सहित एक-एक अलकार पर तुलनात्मक रूप मे विशेष विवेचन हुआ है। लेखक द्वारा कही भी अपना निजी मत लादने का प्रयत्न नही किया गया है। प्रत्येक अलकार पर विभिन्न आचार्यो के लक्षण देकर तथा उनके मत का साम्य और वैषम्य दिखाकर उनका ऐतिहासिक विकास-क्रम स्पष्ट किया गया है। इसमे अलकारो के भेदो तथा प्रभेदो का पूर्ण विवरण देकर साम्य रखने वाले अलकारो के भेदो का भी प्रदर्शन हुआ है।

सस्कृत तथा हिन्दी के अलकार-शास्त्र का इतिहास देकर अलकार पीयूष मे यह दिखाया गया है कि रस और ध्वनि का अलकार से कब और क्या सम्बन्ध रहा है। इसमे अलकारो के वर्गीकरण के अध्ययन मे उनके मूल आधारो तथा कारणो के निश्चय करने का भी प्रयत्न किया गया है। उन्होने स्वय अपना नवीन वर्गीकरण, उसका आधार तथा कुछ नवीन अलकारो जैसे मिश्रालकार, आद्यानुप्रास, स्रापालकार आदि तथा वर्ण-कौतुक के भेद, वैचित्र्य-विनोद, व्यवस्था-वैचित्र्य, गुप्तोद्घाटन, वचन-वक्रता, जिज्ञासा, वाक्छल आदि के निर्देश भी दिए है। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध मे काव्यालकार के वर्ण्य-विषय, इसका महत्त्व, इतिहास तथा विकास, अलकारो की सख्या का विकास, उनका वर्गीकरण तथा उनके मूलतत्त्वो का विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के वर्णित अलकार चार प्रकार के है, शब्दालकार, रसालकार, भावालकार तथा अर्थालकार। अन्त मे कुछ ऐसे अलकारो का भी निर्देश दिया गया है, जो कुछ आल-कारिको ने तो माने है तथा कुछ ने नही।

'रसाल' जी सिद्धान्त रूप से अलकारवादी है तथा अलकारो का लक्ष्य भाषा को अलकृत करना तथा काव्य मे वैलक्षण्य उपस्थित करना मानते है। वे रस भावादि की प्रधानता केवल नाटक मे ही मानते है काव्य मे नही।[1] उनके विचार से काव्य मे

---

१ देखिए 'अलंकार पीयूष' (सन् १९२९) पृ० १८।

केवल अलकारो का ही महत्त्व है, जिनके द्वारा भाषा, रस, भाव, विचार आदि काव्यागो को सौन्दर्य-वैचित्र्य प्राप्त होता है। वे अलकारो का प्रयोग पद्य के अतिरिक्त गद्य काव्य के विभिन्न रूपो, उपन्यास, नाटक, आख्यायिका एव व्यवहार आदि मे भी उचित समझते है। उनका अलकार सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रारम्भिक आचार्यो, भामह, दण्डी, उद्भट की भाति है, किन्तु वे काव्य मे अलकारो का प्रयोग भाषा के सौन्दर्य, प्रौढता, परिष्कृति, व्यवस्था, सज्जा, सर्वप्रियता, चमत्कार, मनोरजकता, असाधारण तथा आकर्षक प्रभाव के लिए मानकर, रीति को ही विशेष महत्त्व नही देते वरन् भाषा मे वैलक्षण्य तथा उक्ति-वैचित्र्य को आवश्यक मानकर ध्वनि को भी महत्त्व देते है। इस प्रकार 'अलकार पीयूष' मे अलकार, काव्य-रीति तथा ध्वनि के साधन स्वरूप भी मान लिए गए है। दण्डी के अनुसार उन्होने अलकारो को काव्य की शोभा बढाने वाला कहा है, किन्तु आगे चल कर अन्य आचार्यो के विचारो को प्रकट करके यह भी स्वीकार किया है कि अलकार, काव्यात्मा रूपी रस का उत्कर्ष कराने वाले है और इनमे अर्थादि मे वैचित्र्य तथा चमत्कार उत्पन्न होता है। उन्होने काव्य के अन्तरग तथा बाह्य रूपो का भी वर्णन किया है तथा यह बताया है कि रस, ध्वनि वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त, काव्य के अन्तरग-सौन्दर्य से सम्बन्ध रखते है तथा अलकार आदि उसके बाह्य स्वरूप के अग है।[1] इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के लिये अलकारो की विशेष महत्ता मानते हुए भी उनकी दृष्टि रीति, ध्वनि तथा रस पर भी टिकी है चाहे उनकी निजी रुचि काव्य के बाह्य स्वरूप की ओर ही अधिक है।

'रसाल' जी ने अलकारो की परिभाषा के अन्तर्गत शब्दालकारो के आधारभूत सिद्धान्तो का विवेचन किया है। पुनरुक्ति से यमक तथा अनुप्रास, प्रयत्न लाघव मे वृत्ति तथा रीति, उच्चारसाम्य से श्रुत्यनुप्रास, कौतुक-कुतूहल प्रियता से चित्रकाव्य आदि, जटिलता प्रियता से वक्रोक्ति, अन्योक्ति और विभावनादि तथा कुतूहल उत्पन्न करने की प्रवृत्ति से दृष्टकूट, प्रहेलिका आदि अलकारो की उत्पत्ति हुई है। हिन्दी के आचार्यों मे मतिराम तथा भिखारीदास की परिभाषा का उल्लेख करके उन्होने भिखारीदास की परिभाषा (कहू वचन कहू व्यग्य मे परे अलकृत आय) को वैज्ञानिक, व्यापक सर्वांगपूर्ण और शुद्ध परिभाषा नही माना है। यह परिभाषा शब्दालकारो पर ठीक घटित नही होती।

उन्होने अलकार शास्त्र को शास्त्र तथा कला दोनो ही माना है, शास्त्र इस लिए कि यह सत्काव्य के लिए आवश्यक एव उपयुक्त नियमो की खोज करके यह बताता है कि किन गुणो तथा लक्षणो पर सत्काव्य आधारित होता है और कला इस लिए कि यह सत्काव्य का पथ दिखाने के लिए नियम निर्धारण करता है तथा काव्य के दोषो को दूर करके उत्तम काव्य को जन्म देता है। इनका यह निर्णय उपयुक्त नही प्रतीत होता क्योकि कवियो को सत्काव्य का मार्ग दिखाना कला की अपेक्षा कवि शिक्षा

---

१ देखिए अलकार पीयूष', पृ० २८।

के अन्तर्गत अधिक आता है। इसके अतिरिक्त काव्य के दोषो तथा गुणो की खोज अथवा नियम-निर्धारण सभी कुछ शास्त्र के अन्तर्गत आता है, कला के नही। कला या तो 'मानसिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है' या केवल शिल्प या सगीत है ('कला शिल्प सगीत मदैय'-अमर कोष)। इसलिए काव्यालकार-शास्त्र, शास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो रूपो के अन्तर्गत ही आता है। काव्यालकार-शास्त्र को कला मानने का आधार कदाचित् कविप्रिया, काव्यकल्पलता, अलकारशेखर आदि पुस्तको से लिया गया होगा, जिसमे कवि शिक्षा भी दी गई है। उन्होने 'काव्य-शास्त्र' के नाम का इतिहास बताते हुए भामह, वामन तथा दण्डी की भाति उसे काव्यालकार शास्त्र ही कहना उचित समझा है। 'अलकारपीयूष' मे काव्यशास्त्र को काव्यालकार शास्त्र कहने का विशेष तर्क नही दिया गया है। कदाचित् अलकारो की विशेष महत्ता मानने के कारण ही उन्होने उसे शास्त्र के साथ-साथ कला भी माना हो।

उन्होने इस ग्रन्थ मे विशेष खोज, अध्ययन तथा विश्लेषण के आधार पर सस्कृत अलंकार-शास्त्र का इतिहास दिया है, जो विस्तृत तथा तर्क-पूर्ण शैली मे लिखा गया है। इसमे 'रस मजरी' तथा 'अलकार मजरी' का भी आधार लिया गया है किन्तु इतने विचार-पूर्ण ग्रन्थ मे यदि हिन्दी के इन ग्रन्थो के कुछ सामान्य भाव दिखाई पडते है, तो वह केवल भाव साम्य ही हो सकता है भावापहरण नही।[1] यह इतिहास यद्यपि विशेष अलकृत तथा भावात्मक रूप मे आरम्भ होता है पर इसमे इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा विवेचन तथा विश्लेषण की अधिक सामग्री है। उनका विचार है कि रीति और गुण सम्प्रदायो का अर्थालकारो की अपेक्षा शब्दालकारो पर अधिक प्रभाव पडा है तथा वृत्यनुप्रास के तीन मुख्य भेद गौडी, पाचाली, वैदर्भी आदि रीतियो के नाम पर ही प्रचलित हुए है।[2] यह सत्य है, क्योकि रीति तथा गुणो का सम्बन्ध शब्दो ही से अधिक है इसलिए उन्होने शब्दालकारो पर ही विशिष्ट प्रभाव डाला है। उनकी इस प्रकार की सूझे उनको अन्य आलकारिको से विशिष्टता प्रदान करती है। उन्होंने यह भी बताया है कि सस्कृत काल के पश्चात् अलकारो के शैथिल्य का कारण प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ का जन्म तथा विकास है। इस बात का कोई आधार नही है। वास्तव मे अलकार की महत्ता तो रस तथा ध्वनि सिद्धान्त के स्थापित हो जाने के पश्चात् स्वय ही कम हो गई थी। इसका भाषा से कोई सम्बन्ध नही है। अपभ्रश के तो प्राय सभी प्रसिद्ध काव्यो मे अलकारो का प्रयोग किया गया है।

'अलकार पीयूष' मे हिन्दी के अलकार-शास्त्र का इतिहास, सक्षिप्त तथा अपूर्ण है। इसकी अलकार शास्त्र के विकास की बाधाए भी कुछ तर्कसगत नही है। मुसलमानो के आक्रमण से उत्पन्न अशान्ति, हिन्दू मुसलमानो के सघर्ष तथा हिन्दुओ के धार्मिक आन्दोलनो से काव्य शास्त्र के विकास मे यदि बाधा पडती, तो काव्य का

---

१ डॉ० भगीरथ मिश्र का 'काव्य शास्त्र का इतिहास' (स० २००५), पृ० २१०।

२ देखिए वही, पृ० ७०।

उत्कर्ष ही इतना कैसे सम्भव था। इनके इस इतिहास मे हिन्दी के कुछ प्रमुख आचार्य जैसे चिन्तामणि, सूरति मिश्र, श्रीपति, सुखदेव आदि का उल्लेख नही है। इसमे काव्यालंकार-शास्त्र के ग्रन्थो के दो विभाजन किए गए हैं। इन विभाजनो के अन्तर्गत किया हुआ कवियो का विभाजन भी दोषपूर्ण है। इसमे मतिराम, देव इत्यादि को एक-दो काव्यागो का विवेचन करने वाला कहकर ही बात समाप्त कर दी गई है। देव को केवल अलकारवादी ही कह दिया गया है। इसमे केवल मतिराम, भूषण, भिखारीदास, लछिराम का ही थोडा-सा विवेचन किया गया है। विकास के स्वरूप को वैज्ञानिक रूप मे स्पष्ट करने के लिए जिस तुलनात्मक तथा तर्क-पूर्ण विवेचन की अपेक्षा होती है, वह इसमे नही है। आचार्यों के अलकार-निरूपण के विवेचन मे उदाहरण भी नही दिए गए हैं।

उनके स्वरचित उदाहरण 'रसाल' जी की भाति अधिक रमणीय नही है। लक्षणो को स्पष्ट करने के लिए सुन्दर उदाहरण नही चुने गए है। उदाहरण देने के पश्चात् व्याख्या द्वारा लक्षणो को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न नही किया गया है। इसलिए यह परीक्षण भी नही हो सकता कि वे उपयुक्त है या नही। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'अलकार-पीयूष' प्राचीन पद्धति तथा नवीन आलोचना के ग्रन्थो के मध्य की शृखला स्थापित करता है और अलकार-सम्प्रदाय के विकास मे अपना विशेष स्थान रखता है।

सीताराम शास्त्री

शास्त्री जी का 'साहित्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ उनके सस्कृत के 'साहित्योद्देश्य' नामक काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ के आधार पर स्वतन्त्र रूप मे हिन्दी मे स० १९८० मे लिखा गया था। इस ग्रन्थ मे सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का आधार लिया गया है पर विशेष रूप मे 'काव्य प्रकाश' की ही विवेचन-पद्धति तथा विषय को अपनाया गया है। इसमे सस्कृत साहित्य शास्त्र के अपनाए गये १३ विषयो मे अलकारो का भी वर्णन किया है। इसकी भाषा तथा शब्दावली जटिल है तथा शैली पडिताउ। इसमे कोई विशेष मौलिकता नही है। उदाहरण भी सस्कृत ग्रन्थो के ही दिए गए हैं।

सेठ अर्जुनदास केडिया

केडिया जी ने स० १९८७ मे ३८२ पृष्ठ का एक अलकार ग्रन्थ 'भारती-भूषण' लिखा। वे अलकारवादी हैं। उन्होंने केशव का 'जदपि सुजाति' दोहा मुख-पृष्ठ पर दिया है तथा अलकारो को वेद के समान अनादि बताया है।[1] उन्होंने अलकारो के सम्बन्ध मे लिखा है कि "शब्द मे चित्ताकर्षक रमणीयता के उत्पादक अलकार हैं। इतना ही नहीं, वरन् काव्य के समस्त अगो मे सर्वश्रेष्ठता का सेहरा भी इनके सिर

---

१ देखिए 'भारती भूषण' (सं० १९८७) वक्तव्य, पृ० २९।

बाधा जा सकता है।"[1] उन्होने अलंकार से हीन सरस्वती (वाणी) को विधवातुल्य माना है।[2] उन्होने अपने मत की पुष्टि 'चन्द्रालोक', 'कविप्रिया', 'अलकार-आशय', 'अग्निपुराण' आदि से की है।

इस ग्रन्थ की अन्य अलकार ग्रन्थो से कुछ विशिष्टताए है। अन्य बहुत से ग्रन्थो मे अलकारो के भेदो के लक्षण दिए गए है, पर इसमे सभी अलकारो के मूल लक्षण इस प्रकार से दिए गए है कि उनके जितने भेद है, उन सबमे वे घटित हो जाएँ। इसमे प्रथम बार अलकारो के प्रत्येक भेद को भी उदाहरण मे घटाया गया है। इसके उदाहरण अन्य पुस्तको की भाति 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' के उदाहरणो के अनुवाद नही है। इसमे प्राय मौलिक उदाहरण ही दिए गए है, अनूदित नही। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो के विपरीत इसमे कठिन अलकारो के कम-से-कम दो उदाहरण अवश्य दिए गए है। इस ग्रन्थ मे लक्षणो का उदाहरणो से समन्वय भी प्रस्तुत किया गया है तथा प्रत्येक उदाहरण की स्पष्ट व्याख्या की गई है। अलकारो के लक्षण, उनकी तुलना तथा अन्य सूचनाएँ आदि यथासाध्य सरल, सीधी तथा रोचक भाषा मे दी गई है। मिलते-जुलते अलकारो की भिन्नता-बोधक सूचनाए अधिक सख्या मे विस्तारपूर्वक दी गई है। इस ग्रन्थ मे कुल ७५० उदाहरण है, जिनमे ३७५ स्वय लेखक के द्वारा रचित है। इनके अतिरिक्त इसमे कुछ शोध की हुई नवीन बातें भी स्थान-स्थान पर दी गई है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ गई है।[3] अन्य उदाहरणो के साथ-साथ लेखक ने स्वय अपने निजी उदाहरण भी दिए है। इस ग्रन्थ मे समसामयिको की अपेक्षा प्राचीनो से तथा हिन्दी के आचार्यों की अपेक्षा सस्कृत के आचार्यो से उदाहरण ग्रहण करना अधिक उपयुक्त समझा गया है। लेखक ने भानु जी की भाति अन्य आचार्यो के सुन्दर उदाहरणो की अपेक्षा अपने निजी तथा प्राचीनो के कुछ सुन्दर उदाहरण देकर पुस्तक मे कुछ जटिलता उत्पन्न कर दी है। अपने निजी उदाहरण देकर ग्रन्थ मे नवीनता लाने से कोई विशेष लाभ नही हुआ प्रतीत होता है। इसके रूपकातिशयोक्ति, सहोक्ति, पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि के उदाहरण छायानुवाद मात्र है। अलकारो के विवेचन मे समसामयिक आचार्यो भानु, दीन तथा पोद्दार जी का आधार न लेकर जसवन्तसिंह भूषण, मतिराम, मुरारीदान तथा उत्तमचन्द भण्डारी से ही सहायता ली गई है। पुस्तक मे केवल दो-तीन ही खडी बोली के उदाहरण आए है।

उन्होने अलकारो के भेदो मे एक बात का विशेष ध्यान रखा है कि वे हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है या नही तथा हिन्दी के व्याकरण से मेल खाते है या नही। इस प्रकार सस्कृत का अनुकरण छोडने के कारण तथा हिन्दी की प्रकृति के आधार पर

१ देखिए 'भारती भूषण' (स० १९८७) वक्तव्य, पृ० २८।

२ देखिए वही, पृ० ३६।

३ देखिए वही, पृ० ३०।

अलकारो का विश्लेषण करने से उन्होने अलकार के विवेचन मे एक विशेष मौलिकता का सचार किया है। लाटानुप्रास के अन्त की सूचना मे उन्होने बताया है कि सस्कृत व्याकरण मे लाटानुप्रास के 'पद' और 'नाम' की आवृत्ति के विचार से दो भेद किए जाते हैं पर हिन्दी व्याकरण मे सस्कृत के पद तथा नाम का कोई स्थान नही है, इसलिए उन्होंने शब्द और वाक्यो के आधार पर ही लाटानुप्रास के दो भेद किए है। इसी प्रकार से उन्होने यथासख्य अलकार का कोई भेद नही माना है। सस्कृत मे समास और उसके परिणामस्वरूप अन्वय आदि की जटिल परिपाटी के कारण, उसके शब्द और अर्थ दो भेद किए गए थे। किन्तु हिन्दी मे ऐसी कोई परिपाटी न होने के कारण, इसकी आवश्यकता भी नही है। जिन आचार्यों ने ये भेद दिए थे, वे इन भेदो का पर्याप्त स्पष्टीकरण करने मे असमर्थ रहे हैं।

'भारती भूषण' मे ८ शब्दालकार, १०० अर्थालकार और ८ उभयालकारो के अतिरिक्त सूचनाओ मे गौण रूप से चार अलकार, वैणसगाई(अनुप्रास मे) देहरी दीपक (आवृत्ति दीपक मे) उदाहरण (दृष्टान्त मे) जाति (स्वभावोक्ति मे) माने गए है। इन सब अलकारो के भेद-प्रभेद आदि के योग मे कुल २७५ अलकार माने गए हैं।[1] शब्दालकारो में वीप्सा का वर्णन 'काव्य-निर्णय' या 'अलकार-मजूषा' के आधार पर है। इनके अन्य अलकार भी प्राय प्राचीनो द्वारा मान्य रहे हैं। इसमे चित्र अलकार को आवश्यक विस्तार दिया गया है। राजस्थानी के 'वैणसगाई' अलकार का (जो अनुप्रास के समान है) उसमे समावेश करके स्तुत्य कार्य किया गया है। प्रान्तीय बोलियो या भाषाओ के अलकारो को हिन्दी के अन्य अलकारो मे स्थान देना एक बडे अभाव की पूर्ति करना है। अभी इस दिशा मे बहुत कुछ कार्य होना है। इनका यह प्रयत्न सराहनीय है। इसके अतिरिक्त, इसमे अनुप्रास मे व्यजन-साम्य के साथ स्वर-साम्य का पक्ष ग्रहण करके भी रूढि के त्याग तथा नवीनता के अपनाने का प्रयत्न किया गया है। परवर्ती काल मे गिरिजाकुमार माथुर आदि प्रयोगवादियो ने व्यावहारिक रूप मे अनुप्रास का इसी प्रकार से सौन्दर्य प्रकट किया है।

केडिया जी भानु तथा दीन जी की भाति नवीनता को न अपनाकर शास्त्रीय शैली का ही अनुसरण करते हैं। कृष्ण विहारी मिश्र 'भारती भूषण' की भूमिका मे इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे प्राय. ठीक ही लिखते हैं कि 'इसकी शैली प्राचीनता की परिपाटी मे बधी हुई है। आजकल अग्रेजी ढग से पुस्तको को आकर्षक बनाने का जो उद्योग किया जाता है वह इसमे बहुत कम है।'[2] फिर भी उनका विचार है कि अलकारो और उनके लक्षणो को सरल, स्पष्ट और अविवादास्पद बनाने मे उन्होंने कोई बात उठा नही रखी है।

केडिया जी ने स्वय स्वीकार किया है कि उनकी पुस्तक मे पुरातन आचार्यों का आधार लिया गया है तथा उन्होने तो पुराने ग्रन्थो का परिष्कार और थोडा बहुत

१ देखिए 'भारती भूषण' (स० १९८७), पृ० ४०।
२ देखिए वही पृ० ५६।

परिवर्तन तथा परिवर्द्धन करके उन्हे प्रकाशित मात्र कर दिया है। उन्होंने किसी नवीन अलकार का अन्वेषण नही किया है। वे इस सम्बन्ध मे स्वय लिखते हैं कि "हमने तो आजकल के बने हुए समस्त आभूषणो को एकत्र करके केवल जाचा है। अपूर्ण एवं टूटे-फूटे गहनो को गलाकर ग्राह्य अलकारो का सस्कार किया है। इन्हे सर्वांग सुन्दर बनाया है, माजकर चमकाया है और आवश्यकतानुसार इनमे नए-नए रूप भी अपनी ओर से जडे है।"[1] इस ग्रन्थ मे सूचना आदि द्वारा विषय को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन का भी प्रयास किया गया है। किन्तु फिर भी, सस्कृत के उद्धरणो तथा शास्त्रीय शब्दों के प्रयोग से इस ग्रन्थ मे दुरूहता तथा जटिलता अधिक आ गई है। इसलिए यह ग्रन्थ 'अलकार मंजूषा' की भाँति लोकप्रिय नही हो सका। क्लिप्ट टीका-टिप्पणी से विषय और भी पकड से बाहर हो गया है। फिर भी शास्त्रीय शैली मे नवीनता के पुट ने इस ग्रन्थ को महत्वपूर्ण बना दिया है। शास्त्रीय शैली का अनुसरण करने पर भी अलकारो के लक्षण, पोद्दार जी की भाति, गद्य में ही लिखे गए हैं। इन लक्षणो की भाषा मे शास्त्रीय शब्दो के प्रयोग के साथ-साथ सरल तथा सुगम शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार 'भारती भूषण' मे प्राचीनता तथा नवीनता दोनो का समन्वय दिखाई पडता है।

बिहारी लाल भट्ट

भट्ट जी का 'साहित्य सागर' स० १९९४ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे आरम्भ में ही कुछ प्रश्न देकर उनके उत्तरो के रूप मे विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसकी दसवी तथा ग्यारहवी तरग मे शब्दालकारो तथा अर्थालकारो का वर्णन विचार-पूर्ण रीति से किया गया है। बारहवी तरग के अन्तर्गत उभयालंकार तथा चित्रालकार का वर्णन किया गया है। चित्रालकार के वर्णन मे अग्न्यास्त्रबन्ध (बन्दूक) व्याघ्रबन्ध आदि के नए चित्रो का समावेश किया गया है। इसमे विषयानुसार संस्कृत के बहुत से ग्रन्थो का आधार लिया गया है तथा अन्य बहुत से लक्षण ग्रन्थो की भाति इसमे भी लक्षण, गद्य की अपेक्षा पद्य मे ही दिए गए हैं। इसके विवेचन मे कोई विशिष्टता नही है, केवल प्राचीन ज्ञान को परम्परागत शैली मे समझाया गया है।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धुओ के 'साहित्य पारिजात' (स० १९९७) नामक ग्रन्थ का मुख्य विषय अलकार-निरूपण है, जो विशेष विस्तार के साथ किया गया है। इसमे प्रत्येक अलकार का विश्लेषणात्मक शैली मे विचार किया गया है तथा रीतिकालीन आचार्यो के मतो के उद्धरण देकर उन्हे स्पष्ट करने का प्रयत्न करके, अलंकारो के अवान्तर भेदो की स्पष्ट व्याख्या की गई है।

---

१ देखिए 'भारती भूषण' (स० १९८७), पृ० ४३।

उन्होने अलकारो के तीन प्रमुख भेद, शब्दालंकार, अर्थालकार तथा मिश्रालंकार माने हैं। इनके मिश्रालकार की परिभाषा 'रसाल' जी से भिन्न है। इसे उन्होने प्रधान वर्गीकरण मे उभयालकार के स्थान पर रखा है। उनके विचार से मिश्रालंकार में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनो प्रकारो के या इनमे से केवल एक ही भाति के एक से अधिक अलंकारो का मिश्रण रहता है।[1] इनकी मिश्रालकार की परिभाषा 'रसाल' जी से पृथक् है। ये मिश्रालकार उसे कहते हैं जिसमे एक ही प्रकार के दो अलकार इस प्रकार मिलकर एक हो जाते हैं कि वे अपनी प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट सत्ता के दिखाई देने पर भी पृथक् नही किए जा सकते। इन दोनो अलकारो मे यह भी अन्तर माना गया है कि उभयालकार शब्द और अर्थ दोनो से सम्बन्ध रखता है और मिश्रालंकार केवल अर्थालकारो से ही सम्बन्ध रखता है। उभयालकार मे कभी तो शब्दालंकार का तत्त्व और कभी अर्थालंकार का अंश अपनी विशिष्ट प्रधानता रखता है किन्तु मिश्रालंकारो मे अर्थालकारो के दोनों अशो मे समान प्रधानता रहती है। इस कारण मिश्रालंकार को सकर और ससृष्टि नामक अलंकारो से भी पृथक् माना गया है। सकर तथा संसृष्टि की सत्ता दो प्रकार के न्यायों, नीर क्षीर न्याय तथा तिल-तन्दुल न्याय पर आधारित है, किन्तु मिश्रालकार की सत्ता किसी न्याय विशेष पर आधारित न होने के कारण इनसे सर्वथा पृथक् है। मिश्रालंकार मे दो अलंकार इस प्रकार आपसमे मिल जाते हैं कि वे एक नए रूप को प्राप्त हो जाते हैं पर 'संकर' मे ऐसा नही होता है। 'रसाल' जी ने मिश्र तथा उभय दोनो अलकारो को एक-दूसरे से पृथक् अलंकार माना है किन्तु मिश्रवन्धुओ ने इन्हे एक माना है तथा इन्हे ससृष्टि और सकर से भी भिन्न नही समझा है।

'साहित्य पारिजात' मे कुल १२४ अलकारो का वर्णन है। इसके उदाहरण पोद्दार तथा रसाल जी के उदाहरणो से अधिक सुन्दर तथा उपयुक्त प्रतीत होते है। उनके अलकार विवेचन के अन्तर्गत कुछ मौलिक उद्भावनाएं भी है। उन्होने चतुर्थ प्रतीप का व्यतिरेक से, एक दूसरी परिभाषा देकर, अन्तर स्पष्ट किया है। उन्होने इसकी उदाहरण द्वारा व्याख्या भी की है।[2] उन्होने रूपक के साग, निरंग और परम्परित भेदो को मुख्य न मानकर अभेद, तद्रूप तथा इनके भी अधिक, सम तथा न्यून नामक भेदो को ही प्रमुख माना है। वे उपमा के भी साग, निरग और परम्परित भेद मानते हैं। उनका विचार है कि इन्ही परम्परित आदि से रूपको मे उपमावचक शब्दो के समावेश करने से इन्हीं नामो की उपमाएं हो सकती हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है।

इसी प्रकार उन्होंने भ्रान्तिमान की परम्परागत परिभाषा कि 'इसमे एक वस्तु को देखकर दूसरी का भ्रम होता है' को न मानकर यह लक्षण दिया है कि

१. देखिए 'साहित्य पारिजात' (सं० १९९७), पृ० ४७।
२. देखिए „ „ „ , पृ० ६८।

भ्रान्ति अलकार वहा होता है जहा सादृश्य से उत्पन्न होने वाले कल्पित भ्रम का वास्तविक वर्णन हो।[1] इनकी यह परिभाषा परम्परागत परिभाषा से निश्चय ही अधिक उपयुक्त है। उनका भ्रान्तापन्हुति का लक्षण भी आचार्यों से भिन्न है। वे कहते है कि भ्रान्तापन्हुति मे किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रान्ति के बहाने से किसी अन्य द्वारा वह कथन दूसरा ठहराये जाने पर सत्य वस्तु कहकर उसका स्पष्टीकरण होता है।[2] वे वक्रोक्ति को वैसे तो शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनो प्रकार का मानते है पर श्लेष अलकार की भाति इसे भी अर्थालकार के अन्तर्गत ही रखते है।

इनके अलकार विवेचन मे कुछ स्थानो पर परिभाषा तथा उदाहरण मे मेल नही दिखाई देता। इन्होने कुछ अलकारो के लक्षणो मे आचार्यों के मतभेदो का उल्लेख करके अपना मत दिया है तथा स्थान-स्थान पर विभिन्न अलकारो के परस्पर भेदो को स्पष्ट किया है। इन्होने द्वितीय पर्यायोक्ति को अलकार की अपेक्षा ध्वनि ही माना है तथा विशेषोक्ति आदि कुछ अलकारो मे अलकारता भी सिद्ध की है। पिहित, गूढोक्ति आदि कुछ अलकारो को वे पृथक् अलकारता नहीं मानते है। उन्होने रसवदादि अलकारो के अलकारत्व पर विचार करते हुए 'काव्य-प्रकाश' के मतानुसार यह माना है कि रसादि का उपकार केवल रसवदादि अलकार ही नही वरन् प्राय सभी अलकार करते है। उनके विचार से इनकी गणना असलक्ष्य क्रम अपराग व्यग्य के अन्तर्गत होनी चाहिए। उन्होने अलकारो का वैज्ञानिक वर्गीकरण न मिलने के कारण अपना कोई वर्गीकरण नही दिया है।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि यह उपर्युक्त आधुनिक रीतिकार आलोचक दो प्रकार के हैं, एक तो पूर्णतया परम्परागत शैली के आधार पर अलकार-निरूपण करने वाले तथा दूसरे प्राचीन और नवीन का सम्मिलित रूप लेकर चलने वाले। इनमे से प्रथम प्रकार के आलोचको का अलकार सम्बन्धी विवेचन पूर्ववर्त्ती आचार्यों तथा कवियो से किसी विशेष रूप मे भिन्न नही है। वे पुरानी परम्परा के ही आधुनिक रूपमात्र है। उन्होने प्राय सैद्धान्तिक रूप मे ही यह विवेचन किया है, व्यावहारिक मे नही। उनके ग्रन्थो मे कुछ ग्रन्थ केवल अलकारो के ही है, जैसे 'जसवन्त भूषण', 'भारती भूषण' आदि तथा कुछ अन्य काव्यागो की आलोचना करने वाले है, जैसे 'काव्य-प्रभाकर', 'साहित्य सागर', 'साहित्य सिद्धान्त' आदि। अलकारो के स्वतन्त्र ग्रथो के रचयिता प्राय काव्य मे अलकारो की महत्ता मानने वाले है। इन रीतिकारो ने पूर्ववर्त्ती आचार्यो की भाति अलकार विवेचन के लक्षण, उदाहरण, भेदोपभेद, निर्णय, वर्गीकरण, सख्या-विचार आदि को अपने विवेचन का विषय बनाया है। इन्होने भी उनकी ही भाँति नवीन अलकारो की उद्‌भावनाये की है

---

१ देखिए 'साहित्य पारिजात', पृ० ९१ (स० १९९७)।
२ देखिए वही , पृ० १०१।

तथा अलंकारो के मूल मे कुछ विशिष्ट अलकारो का विवेचन किया है। इन्होने भी अपने ग्रन्थो को किसी एक ग्रन्थ का आधार न बनाकर कुछ विशेष ग्रन्थो से अपनी सामग्री का चयन किया है। इन विषयो के विवेचन मे कही-कही तो कुछ प्राचीन आचार्यो से मतभेद अथवा सहमति प्रकट की गई है तथा कही कुछ मौलिक विचारो की उद्भावना भी की गई है।

इन रीतिकारो के लक्षण तथा उदाहरण पूर्ववर्त्ती लेखको से स्पष्ट है। इनमे लक्षणो की पूर्ण व्याख्या करने की शैली नही अपनायी गई है। कही पद्य मे लक्षण देकर गद्य मे व्याख्या की गई है और कही सस्कृत तथा हिन्दी के लक्षणो को साथ-साथ देकर व्यर्थ का विस्तार बढाया गया है। दूसरे लेखको से अनावश्यक तुलना भी की गई है। नवीन प्रणाली से लक्षण देने के प्रयत्न भी किए गए है। कविराज मुरारीदान ने शब्दो की व्युत्पत्ति के आधार पर लक्षणो का निर्माण किया है, यद्यपि वे उसमे असफल रहे है क्योकि नामो के अन्तर्गत लक्षणो की पूर्णता होना असम्भव है। उनकी बाह्य व्याख्या की सदैव अपेक्षा रहती है। इन लेखको मे नवीनता के प्रयत्न तो दिखाई पडते है पर उनकी सीमित प्रतिभा उन्हे किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य को प्रस्तुत कराने मे सहायक नही होती। इन्होने नवीन अलकारो की भी कल्पना की है, जो प्राय प्राप्त अलकारो की विपरीतता या एक-दूसरे की विपरीतता के आधार पर बने है। विपर्यय मात्र के आधार पर अलकारो का निर्माण चमत्कार-प्रदर्शन मात्र है। नवीन अलकारो का निर्माण तो रचनात्मक-साहित्य की नवीनतम अभिव्यक्ति के निरीक्षण तथा परीक्षण के आधार पर ही हो सकता है।

इन आलोचको पर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव बहुत कम है। इनका लक्ष्य अलकार सम्प्रदाय के विभिन्न विषयो का परिचयात्मक विवरण देकर, उसके ज्ञान की व्याख्या तथा प्रसार करना ही था, उसकी विभिन्न समस्याओ का गवेषणात्मक विवेचन तथा विश्लेषण करना नही। न तो वे इसके योग्य ही थे और न उनका युग ही उन्हे इसकी प्रेरणा देता था। इनके ग्रन्थ राजाओ तथा सामन्तो की अपेक्षा प्राय. सामान्य पाठको अथवा विद्यार्थियो के लिए लिखे जाने लगे थे। इसलिए उनका लक्ष्य विषय का स्पष्टीकरण तथा ज्ञान का प्रसार ही अधिक था, विवेचन नही। इन लेखको मे पाडित्य-प्रदर्शन की रुचि तथा गर्व की भावना अधिक थी, इसीलिए इन्होने समकालीन लेखको के उदाहरण केवल दोषप्रदर्शन के लिए ही दिए है। इनकी प्रवृत्ति एक ही लक्षण के लिए अनेक उदाहरण देने की है। इनके लक्षणो तथा उदाहरणो मे सब स्थानो पर उचित साम्य नही है। कही-कही उदाहरण लक्षणो के पूरी तरह मेल मे नही दिखाई पडते।

प्राचीनता तथा आधुनिकता का सम्मिश्रण लेकर चलने वाले लेखको मे कन्हैयालाल पोद्दार, रामशकर शुक्ल 'रसाल', भगवान दीन तथा मिश्रबन्धु उल्लेखनीय है। इनके अलकार-निरूपण पर आधुनिक विवेचन-शैली की छाप है। इन्होने केवल लक्षण तथा उदाहरण देने तक ही अपने को सीमित न रखकर, इसमे स्वतन्त्र आलोचना

का भी समावेश किया है। इन्होने अलकार का विषय, अलकार शास्त्र का महत्त्व, इतिहास, अलकारो का विकास, अलकारो की सख्या का विकास आदि विषयो का निरूपण अपने ग्रन्थो की भूमिका के रूप मे किया है। इस विवेचन मे परवर्ती काल की सी गम्भीरता तथा वैज्ञानिकता तो नही है, फिर भी नवीनता अवश्य मिलती है। भानुजी ने भी लक्षणो के अतिरिक्त फूटनोट, सूचना तथा प्रश्नोत्तर के प्रयोग की आवश्यकता, विषय के स्पष्टीकरण के लिए समझी थी। इस सम्प्रदाय के विषय मे खोज, अध्ययन तथा विश्लेषण की प्रवृत्ति भी अधिकाधिक बढने लगी। अलकार-विवेचन को समयानुकूल बनाने के लिए उदाहरणो के विषय अधिकाधिक श्लील, शिष्ट तथा मर्यादित होने लगे। दीन जी ने इसका विशेष ध्यान रक्खा। रीतिकाल के कवियो की अपेक्षा भक्तिकालीन कवियो के उदाहरणो का चयन किया गया। इनके ग्रन्थो मे खड़ी बोली के उदाहरणो का भी आधिक्य है। यह उदाहरण प्राय स्पष्ट, सुगम तथा सरल है। इन आलोचको ने पाडित्य तथा आचार्यत्व की प्रवृत्ति के स्थान पर विषय को स्पष्ट तथा सुगम बनाकर हृदयंगम कराने का लक्ष्य ही समक्ष रखा है। इसलिए इनके ग्रन्थो मे सस्कृत तथा हिन्दी के अतिरिक्त, अग्रेजी, फारसी तथा उर्दू के भी उदाहरण दिए गए है। इनका विवेचन तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक है। नवीन लक्षणो का प्रतिपादन करने की इनमे विशेष प्रवृत्ति मिलती है। मिश्रबन्धुओ मे यह विशेषता सर्वोपरि है। रसाल जी ने तुलनात्मक रूप मे अलकारों का स्पष्टीकरण करके, इस विवेचन मे प्रौढता का समावेश किया है।

इन आलोचको ने हिन्दी की प्रवृति के अनुसार भी अलंकारो के भेदो का निरूपण किया है। केडिया जी ने लाटानुप्रास के 'पद' और 'नाम' के स्थान पर शब्द तथा वाक्य के अनुसार भेद किए हैं। प्राचीन आचार्यों मे से पूर्व-ध्वनि-काल तथा उत्तर-ध्वनि-काल दोनो कालो के आचार्यों का ही आधार लिया गया है। अग्नि पुराण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, कवि-प्रिया, काव्य-निर्णय आदि का अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा अधिक आधार लिया गया है। इनके द्वारा अलकार-विवेचन, लक्षण तथा उदाहरण के स्तर से ऊँचे उठकर वैज्ञानिक विश्लेषण के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गया तथा अलकारो के आधारभूत सिद्धान्त, 'अलकार शास्त्र कला है या शास्त्र,' 'लक्षणो का तुलनात्मक अध्ययन', 'अन्य सम्प्रदायो का अलकारो के निर्माण मे प्रभाव,' आदि विषयो का आधुनिक आलोचना की तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक शैली मे विवेचन हुआ है। इस काल मे अलकार सम्प्रदाय का विकास अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा अधिक हुआ है। अलकार विवेचन को परम्परागत शैली से नवीन आलोचना के विस्तृत क्षेत्र मे लाने का श्रेय इन्ही आलोचको को है।

आधुनिक-आलोचक

पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी रसवादी हैं और काव्य मे सरलता, स्पष्टा तथा मनोरंजकता के समर्थक होने के कारण स्वभावत ही अलकारो के अनावश्यक प्रयोग को नही मानते

है। उनका विचार है कि कविता के प्रभावोत्पादक होने के लिए उसका सरल तथा स्पष्ट होना अनिवार्य है। वे इसके लिए उसमे शब्दालकारो की अपेक्षा स्वाभावोक्तियों का ही होना आवश्यक समझते है। वे शब्दालकार का काव्य मे महत्त्व न मानते हुए लिखते है कि "अनुप्रासादि शब्दालकारो से कुछ आनन्द मिलता है। यह सत्य है, परन्तु सहृदयता-व्यजक और सरस स्वाभावोक्तियो से जितना चित्त चमत्कृत तथा प्रसन्न होता है उतना इन बाह्य आडम्बरो से कदापि नही होता।···अनुप्रास आदि शब्दाडबर कविता के आधार नही है, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाए या उससे कोई अपरिमेय हानि पहुँचे।"[1]

द्विवेदी जी लक्षण ग्रन्थो की शैली के ही विरुद्ध नही हैं वरन् अलकार, गुण, रीति आदि को भी काव्यालोचन के लिए गौण महत्त्व का मानते है।[2] उनका विचार है कि अलकारो का प्रयोग इस युग मे नवीन रूप मे होना चाहिए। नई कविता के लिए नए अलकारो की आवश्यकता है। 'भारती भूषण' की प्रस्तावना मे इनका एक पत्र उद्धृत है, जिसमे वे इस विचार को व्यक्त करते है "भारती को कुछ नवीन भूषणो से अलकृत करने मे हमे सकोच नही करना चाहिए" फिर क्या कारण है कि बेचारी भारती के जेवर वही, भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के समय के ज्यो के त्यो बने हुए है? भारती को क्या नवीनता पसन्द नही? नही तो न सही। हो तो केडिया जी कुछ नए भूषणो की खोज या कल्पना करने की भी कृपा करे। ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न ढग है! क्या इनके सिवा बोलने और लिखने मे सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अन्य ढग हो ही नही सकता!"[3]

इस प्रकार द्विवेदी जी ने अलकारो का पूर्ववर्त्ती रीतिकारो की भाँति विवेचन न करके, कविता के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए प्रसगवश ही कही-कही पर इनके सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट किया है। इनके इन विचारो को कि अलकारों का काव्य मे गौण स्थान है, शब्दालकार आडम्बर मात्र है, काव्य मे स्वाभावोक्ति आवश्यक है तथा अलकार भाषण के भिन्न-भिन्न ढग है प्राय प्रत्येक परवर्त्ती लेखक ने किसी न किसी रूप मे मान्यता दी है। इन लेखको ने अधिक शब्दालकारो के प्रयोग को आडम्बर मात्र समझकर स्वाभाविक रूप मे भावो का उत्कर्ष करने वाले अलकारो को ही ग्रहण किया है। इनके समकालीन प्रेमघन जी ने भी 'आनन्द कादम्बनी' मे अनुप्रास आदि अलकारो की अनावश्यकता बताते हुए लिखा है कि इन शब्दालकारो से कवियो का ध्यान, विचारो की अपेक्षा, ध्वनि की ओर अधिक हो जाता है।[4] इसी प्रकार 'कवि वचन सुधा' मे अलकारो के विषय निरूपण को अधिक

१. देखिए 'विचार-विमर्श' (सन् १९३१), पृ० १।
२. देखिए वही , पृ० ४५।
३. देखिए 'भारती भूषण' (स० १९८७), पृ० ४१।
४. देखिए 'आनन्द कादम्बनी' (स० १९६४)।

महत्व नही दिया गया है। वास्तव मे 'द्विवेदी युग' का दृष्टिकोण अलकारो के सम्बन्ध मे रीतिकाल की अपेक्षा परिवर्तित होता जा रहा था, यद्यपि रीतिकालीन परम्परा के विभिन्न काव्याग तथा अलकार सम्बन्धी ग्रन्थ अब भी लिखे जा रहे थे।

पडित रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी काव्य मे चमत्कार तथा अलकारो का गौण स्थान मानने वाले आचार्य हैं। रसवादी होते हुए भी उन्होने अलकारो को काव्य का विशेष साधन माना है। उनके विचार से अलकार काव्य के साधन मात्र हैं, साध्य नही हैं। काव्य का साध्य वास्तव मे रस है। इसे भुलाकर अलकारो को ही साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता कहलाने योग्य नही रहती।[1] वैसे उन्होने कुछ अन्य स्थलो पर अलकारो का काव्य मे विशेष महत्त्व भी माना है। उन्होने अलकारो के विषय मे लिखा है कि "इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढाती है। कही-कही तो इनके बिना काम ही नही चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन है, साध्य नही।"[2] चाहे कही-कही पर इन अलकारो के बिना काम न चले पर, फिर भी वे इन्हे काव्य का प्राण न मान कर काव्य के साधन ही मानते हैं। इस प्रकार इनका मत अलकारवादी आचार्यों भामह, दण्डी, उद्भट की अपेक्षा मम्मट, विश्वनाथ आदि से मिलता है।

अलकारो की परिभाषा देते हुए उन्होने 'कविता क्या है' निबन्ध मे लिखा है "वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढाकर दिखाना पडता है, कभी उसके रूप रग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप रग मिलाकर, तीव्र करने के लिये समान रूप धर्मवाली और और वस्तुओ को सामने लाकर रखना पडता है। कभी-कभी बात को घुमा फिराकर कहना पडता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढग अलकार कहलाते है।"[3] इस प्रकार अलकार वस्तु या व्यापार तथा भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के भिन्न-भिन्न विधान तथा कहने के ढग हैं। इनका सम्बन्ध वर्ण्य या प्रस्तुत विषय की वर्णन करने की पद्धति से है, वर्ण्य-विषय से नही। 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध मे वे स्पष्ट लिखते हैं "मैं अलकार को वर्णन प्रणाली मात्र मानता हू, जिसके अन्तर्गत किसी-किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु निर्देश अलकार का काम नही है।"[4] उन्होने अलकारो को वर्णन की प्रणाली अथवा कहने के ढग माना है, जो किसी वस्तु के रूप, आकार, गुण तथा क्रिया को बहुत बढाकर दिखाने तथा तीव्र

---

१ देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृष्ठ २४७।
२ देखिए वही पृष्ठ २४७।
३ देखिए वही पृष्ठ २४६-२४७।
४ देखिए वही (सं० २००२), पृष्ठ ५।

करने के लिये प्रयोग मे आते है। उनका विचार है कि भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलकार है।[1] शुक्ल जी अलकारो को काव्य का साधन मात्र मानकर, उनका सम्बन्ध वर्ण्य-विषय से केवल इतना दिखाते है कि वे उसके अन्तर्गत आने वाली वस्तु, रूप, गुण, आकार तथा क्रिया को उत्कर्ष पर पहुँचाकर दिखाते है। इस प्रकार वे अलकार के मूल मे अतिशयोक्ति को मानते है। उन्होने अलकारो को रस के साधन मात्र ही न कहकर भाव, वस्तु तथा व्यापार आदि सबको उत्कर्ष पर पहुँचाने के साधन माना है। इस प्रकार रस की सिद्धि मे अलकार भावो को ही उत्कर्ष पर नही पहुँचाता वरन् वस्तु या व्यापार का भी उत्कर्ष करता है। अलकार कलापक्ष तथा भावपक्ष दोनो को उत्कर्ष पर पहुँचाकर रस की सिद्धि मे सहायक होता है।

शुक्ल जी जिस कथन मे केवल 'वस्तुत्व' या 'प्रमेयत्व' हो उसी को अलकार नही मानते। अलकार मे रमणीयता का होना अनिवार्य है। अलकार कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली मात्र है। इस प्रकार अलकार प्रस्तुत की शोभा या विशेषता को ही बढाने वाला है। इसमे प्रस्तुत ही प्रधान होता है और अप्रस्तुत या अलकार गौण; परन्तु प्रस्तुत मे रमणीयता लाने का साधक अलकार ही है। इस प्रकार वे काव्य मे अलकार की प्रधानता मानने वाले आचार्यों के आलोचक है तथा तर्कपूर्ण रूप मे प्रस्तुत (अलकार्य) की प्रधानता स्थापित करते है। उन्होने जयदेव जैसे चमत्कार-वादियो के मत की आलोचना की है। वे दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों की भाँति अलकार मे चमत्कार की अपेक्षा रमणीयता की प्रधानता मानते है। इसका कारण बताते हुए वे लिखते है कि "अलकार मे रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिए कहते है कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नही, शब्द-कौतुक और अलकार सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है।...भावानुभव मे वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलकार की रमणीयता है।"[2] इस प्रकार वे अलकार मे शब्द-कौतुक तथा वर्णन की विलक्षणता या चमत्कार-प्रदर्शन की अपेक्षा भाव की अनुभूति को तीव्र करने का गुण मानते है। उनका विचार है कि अलकार पहले से सुन्दर अर्थ को ही शोभित कर सकता है। जो अर्थ पहले से सुन्दर नही है, उसका उत्कर्ष वह नही कर सकता। उन्होने लिखा है कि "सुन्दर अर्थ की शोभा बढाने मे जो अलंकार प्रयुक्त नही, वे काव्यालकार नही। वे ऐसे हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने मे रखा हुआ गहनो का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असपृक्त अलकार चमत्कार या तमाशे है।"

---

१. देखिए 'गोस्वामी तुलसीदास' (सन् १९४०), पृष्ठ १६१।
२. 'गोस्वामी तुलसीदास' (सन् १९४०), पृष्ठ १६२।
३. 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृष्ठ २५१।

अलकार तभी सार्थक हो सकता है, जब वह किसी भाव या सुन्दर भावना को उत्कर्ष प्रदान करने मे योग दे। उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य को अवश्य ही रमणीय बनाना चाहिये। उनका मत है कि 'जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलकार लादकर सुन्दर नही हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव मे अलकारो का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नही खडा कर सकता।'[1] केवल एक शब्द-साम्य के बडे-बडे खेल-तमाशे अलकार नही होते। अलकारो द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। उन्होने आचार्यों द्वारा अपने मत की पुष्टि के लिए 'काव्य शोभाकर' 'शोभातिशायी' 'अलमर्थमलकर्त्तु' आदि उद्धरण भी दिए है। इस प्रकार वे अलकारो का सम्बन्ध पूर्व-ध्वनि-कालीन आचार्यों की भांति चमत्कार मात्र से न मानकर उसी को अलकार मानते है, जो वस्तु को रमणीय बनाए। 'रमणीय' शब्द के अन्तर्गत वे पडितराज जगन्नाथ की भाति काव्य का चरम उत्कर्ष मानते है।

अलकारो की उत्पत्ति के बारे मे उनका विचार है कि प्राचीन आचार्यों ने उन्हे काव्य मे से चुनकर उनके लक्षण बना लिए है। ये अलकार अथवा कथन की शैलिया न जाने कितनी हो सकती है। इसलिए अलकार भी उतने ही नही हैं, जितने ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। बहुत से स्थलो पर कवि ऐसी शैली का अवलम्बन कर सकता है, जिसके प्रभाव या चमत्कार की ओर न तो किसी आचार्य का ध्यान ही गया होता है और न उसका कोई नाम ही होता है।[2] इस प्रकार वे अलकारो की अनेक सम्भावनाए मानते हैं। उन्होने कुछ अग्रेजी के ऐसे अलकारो के नाम भी दिए हैं, जो हिन्दी मे नही हैं पर अग्रेजी मे व्यवहार मे लाए जाते है जैसे सिनकडोची (Synecdoche), मेटानमी (Metonomy) तथा हाईपेलेज (Hypallage) आदि।[3] नवीन अलकारो की अनेक सम्भावनाए मानने के साथ-साथ उनका यह भी विचार है कि पुराने अलकार भी समय के साथ-साथ नष्ट हो सकते है। उन्होने अलकारो की कोई निश्चित सख्या निर्धारित नही की है।

शुक्ल जी का विचार है कि अधिकतर अलकारो का विधान सादृश्य के आधार पर होता है।[4] असाम्य मूलक अलकार जैसे विभावना, विरोधाभास, असगति आदि की सख्या कम है। वे सादृश्य की योजना दो दृष्टियो से मानते है, स्वरूप बोध के लिए और भाव तीव्र करने के लिए।[5] अधिकतर सादृश्य योजना का विधान भावो को तीव्र करने के लिए ही होता है पर कभी-कभी अगोचर तथ्यो को स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत करने के लिए जब कवि सादृश्य का प्रयोग करता है, तब उससे अगोचर तथ्यो

---

१. 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृष्ठ २५१।
२. 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६), पृष्ठ ११९।
३ देखिए 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६), पृ० ११९-२२०।
४ देखिए 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६), १३५।
५. देखिए वही , पृष्ठ १०३।

का स्वरूप बोध हो जाता है। इस प्रकार काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए सादृश्य योजना से स्वरूप बोध तथा भावोत्तेजना दोनो ही की पूर्ति होनी चाहिए। शुक्ल जी ने लिखा है कि 'स्वरूप बोध के लिए भी काव्य मे जो सदृश वस्तु लाई जाती है, उसमे यदि भाव उत्तेजित करने की शक्ति भी हो तो काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा हो जाती है।'[1] सादृश्य योजना मे इस बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रस्तुत जिस प्रकार के भाव का उत्तेजक हो अप्रस्तुत (उपमान) भी उसी प्रकार के भावो को उत्तेजित करे।

उपमानो के सम्बन्ध मे विचार प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि उपमानों को प्रस्तुत के आकार आदि का ही निर्देश न करके उसके सौन्दर्य की अनुभूति बढाने में सहायक होना चाहिए। उन्होने उन प्राचीन परम्परागत उपमानो का बहिष्कार ठीक समझा है, जो सौन्दर्य आदि की अनुभूति तथा रस मे सहायक नही होते और वस्तु आदि का आकार मात्र निर्दिष्ट करके रह जाते है, जैसे जाघो की उपमा के लिए हाथी की सूंड, नायिका की कटि की उपमा के लिए भिड या सिंहनी की कमर इत्यादि। इनसे आकार प्रकार का बोध ही होता है, सौन्दर्य की भावना उत्पन्न नही होती। वे नए उपमानो के विरोधी नही है। किसी वस्तु, गुण, क्रिया, भाव, पात्र के सम्बन्ध मे नए उपमानो का प्रयोग हो सकता है यदि वे उपमान इनमे रमणीयता उत्पन्न करके उत्कर्ष प्रदान कर सकें। उनका मत है कि "भारतीय काव्य-पद्धति मे उपमान चाहे उदासीन हो, पर भाव के विरोधी कभी नही होते।"[2]

शुक्ल जी का विचार है कि प्रस्तुतो की सादृश्य योजना रस विरोधी अप्रस्तुतो द्वारा नही होनी चाहिए। ऐसे उपमानो से चाहे वाग्वैदग्ध्य तथा शब्द क्रीडा के द्वारा मनोरजन हो जाए, पर भावो की तीव्र अनुभूति नही हो सकती, जो अलंकार का प्राथमिक लक्ष्य है। कवि को अप्रस्तुतो के ढूढने मे कुशलता का परिचय देना आवश्यक है। अप्रस्तुत ऐसे होने चाहिए, जो उलझे हुए, जटिल, संकेतगर्भ न हो तथा जिनके रूप, गुण, व्यापार, आकार तथा प्रकार का शीघ्र बोध हो जाए। उनका विचार है कि काव्य मे ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते है, जो सामान्यत. प्रत्यक्ष रूप मे परिचित होते है और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का सस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है।"[3] उन्होने अप्रस्तुत-विधान मे आकार-साम्य ही सब कुछ नही माना है। वे प्रत्यक्ष रूप मे प्रचलित उपमानो का प्रयोग इसलिए आवश्यक बताते हैं कि वे स्वभावतः ही भाव, वस्तु या व्यापार का उत्कर्ष, स्वाभाविक तथा सरस रूप मे कर सकते हैं।

शुक्ल जी ने साम्यमूलक अलकारो मे तीन प्रकार का साम्य माना है, सादृश्य (रूप या आकार का साम्य) सोधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्द-

१. देखिए 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६), पृष्ठ १०३।
२. देखिए वही . , पृष्ठ १०७।
३ देखिए 'भ्रमरगीतसार' (स० १९८८), पृष्ठ ३७।

साम्य (दो भिन्न वस्तुओ का एक ही नाम होना)[1] इनमे से शब्द-साम्य को तो वे चमत्कार, शब्द-क्रीडा, वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध रखने वाला मानकर अच्छा नही समझते। इसी के कारण उन्होने केशव के काव्य को निम्न कोटि का माना है। अन्य दो प्रकारो, सादृश्य तथा साधर्म्य मे, वे प्रभावसाम्य छिपा हुआ मानते हैं। उनका विचार है कि कही-कही तो वाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यान्तर प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतो का सन्निवेश कर दिया जाता है।"[2] वह अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप मे या प्रतीकवत् होते हैं। प्रतीको का प्रयोग अच्छी कविता मे सदैव होता आया है। यह प्रतीक दो प्रकार के माने गए हैं। एक तो मनोविकारो या भावो को जगाने वाले (Emotional Symbols) और दूसरे भावनाओ या विचारो को जगाने तथा उत्तेजित करने वाले। उनका विचार है कि काव्य मे प्रयुक्त होने वाले परम्परागत प्रतीको के स्वरूप मे ही कुछ न कुछ व्यजना रहती है। वे सहस्रो वर्षों से भारतीय जनता की कल्पना के अग और भावो के विषय बने रहे हैं। इस लिए उनमे विशेष प्रकार के भावो या मनोविकारो को जगाने की शक्ति सचित है। कुछ प्रतीक सार्वभौम होते हैं तथा कुछ विभिन्न देशों के वातावरण तथा प्रकृति के अनुकूल होते हैं।

शुक्ल जी उपमानो तथा प्रतीको मे यह अन्तर मानते हैं कि प्रतीको मे तो भावना जाग्रत करने की शक्ति निहित रहती है तथा उनका आधार, सादृश्य या साधर्म्य नही होता है, जबकि उपमानो का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही होता है तथा उनमे भावना जाग्रत करने की शक्ति निहित नही रहती। इस प्रकार उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि के उपमान तथा प्रतीक एक ही वस्तु नही हैं। सब उपमान प्रतीक नही हो सकते, क्योकि सब मे भावनाओ को जाग्रत करने की शक्ति निहित नही होती, चाहे उनमे किसी विषय के सादृश्य या साधर्म्य का पूर्ण विचार रखा गया हो, जैसे कटि की उपमा के लिए सिंह या भिड की कमर के उपमान मे सादृश्य तो है पर प्रतीकत्व (भावना को जाग्रत करने की शक्ति) नही है। इसलिए शुक्ल जी सत्काव्य के लिए अप्रस्तुत या उपमान मे प्रतीकत्व की विशेष आवश्यकता मानते हैं।

शुक्ल जी अलकारगत सादृश्य या साम्य की योजना नर तथा प्रकृति के मध्य करना सर्वोत्कृष्ट मानते है। उनका विचार है कि नर तथा प्रकृति पृथक् सत्ता मे होते हुए भी साम्य तथा एकता के सूत्र मे बधे है। इसलिए साम्य-विधान मे नर के लिए प्रकृति का सहारा लेना स्वाभाविक तथा सगत है। नर और प्रकृति पृथक् होते हुए भी साम्य तथा एकता के सूत्र मे बधे हैं। उन्होने लिखा है कि "साम्य का आरोप भी नि सन्देह एक बडा विशाल सिद्धात लेकर काव्य मे चला है। वह जगत के अनन्त रूपो या व्यापारो के बीच फैले हुए उन मोटे और महीन सम्बन्ध सूत्रो की झलक सी दिखाकर

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृष्ठ ७४९।

२ देखिए वही , पृष्ठ ७५०।

नर सत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है, अखिल सत्ता के एकत्व की आनन्दमयी भावना जगाकर, हमारे हृदय का बन्धन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलिया, सामने पाते है, तब हमे ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौन्दर्य धारा से मनुष्य भी और पेड-पौधे भी रूप रग प्राप्त करते है।"[1] नर और प्रकृति की यह साम्य भावना हमारे हृदय का प्रसार करने वाली तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे गूढ सम्बन्ध की धारणा को पुष्ट करने वाली है। जहाँ यह साम्य भावना प्राकृतिक वस्तु या व्यापार से प्राप्त, सच्चे आभास के आधार पर खडी होती है, वही सच्चा मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करती है। उनका विचार है कि "प्रकृति अपने अनन्त रूपो तथा व्यापारो के द्वारा अनेक बातो की गूढ या अगूढ व्यजन करती रहती है। इस व्यजना को न परखकर या ग्रहण करके, जो साम्यविधान होगा वह मनमाना आरोप मात्र होगा।"[2] इस प्रकार के मनमाने आरोप हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श नही करते, केवल वैचित्र्य या कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं।

प्रकृति की इस व्यजना को ग्रहण कराकर साम्य-विधान करने मे कल्पना का विशेष हाथ रहता है। कल्पना ही इन अप्रस्तुत वस्तुओ के सस्कार हृदय मे जमाती है[3] तथा प्रकृति के अनन्त रूपो और व्यापारो की व्यजना को ग्रहण कराकर साम्य-विधान करने मे योग देती है। शुक्ल जी का विचार है कि ठीक और सच्ची व्यजना के अतिरिक्त प्रकृति के रूपो और व्यापारो पर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप होगा, वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलकार मात्र होगा, चाहे वह अलकार के किसी बँधे साँचे मे ढले या न ढले। प्रकृति पर किए गए आरोप को अलकार इसलिए माना जाता है कि वह प्रकृति के वास्तविक मर्म की व्यजना करने वाली वस्तु के अतिरिक्त कोई वस्तु होगी और उससे वर्णन मे रमणीयता भी आ जायेगी जो अलकार का प्रधान धर्म है। प्राचीन भारतीय आचार्यो के विरुद्ध पाश्चात्य आल-कारिकों ने इन आरोपो को अलकार की श्रेणी मे ही रखा है। प्रकृति के रूपो और व्यापारो पर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप होगा वह तो अलकार होगा ही, पर प्रस्तुत के विभिन्न स्वरूपो का गोचर रूप मे प्रत्यक्षीकरण कराने के लिए भी प्रकृति के रूप और व्यापार का प्रयोग होता है। सूक्ष्म भावना को मूर्त्त तथा मूर्त्त को सूक्ष्म रूप मे प्रस्तुत करने मे प्रकृति के भिन्न रूपो और व्यापारो का प्रयोग होता है। इसका विधान लक्षणा तथा 'साध्यवसान रूपक' दोनो ही के द्वारा होता है।[4]

शुक्ल जी ने प्राचीन आचार्यो की भाति अलकारों के न तो पुराने वर्गीकरण अपनाए है, न नवीन वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। अपनी अलकारो की दी हुई

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृ० ८४४।
२ देखिए वही , पृ० ७५२।
३ देखिए 'भ्रमरगीतसार' (स० १९८८) , पृ० ३०।
४. देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२) पृ० ७२।

परिभाषा के अनुसार उन्होने गोस्वामी जी के अलकारो का विवेचन चार प्रकार से किया है। (१) भावो की उत्कर्ष व्यजना मे सहायक, (२) वस्तुओ के रूप सौन्दर्य, भीषणत्व आदि का अनुभव तीव्र कराने मे सहायक, (३) गुणो का अनुभव तीव्र कराने मे सहायक, (४) क्रिया का अनुभव तीव्र कराने मे सहायक। प्रथम के अन्तर्गत उन्होने निश्चयालकार, हेतूत्प्रेक्षा, पार्यायोक्ति, विभावना, उपमा, रूपक, असगति, व्याजनिन्दा आदि का उल्लेख किया है। द्वितीय मे प्रस्तुत वस्तु और आलकारिक वस्तु मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होना आवश्यक माना है। इसमे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, उल्लेख, भ्रम, निदर्शना, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, मीलित, उन्मीलित, अतद्गुण, प्रतीप, हीनभेद रूपक आदि अलकार होते है, तृतीय मे अलकार के लिये लाई हुई वस्तु और प्रसंग प्राप्त वस्तु का धर्म या तो एक ही होता है, या अलग-अलग कहे जाने पर भी दोनो के धर्म समान होते है अथवा एक के धर्म का उपचार दूसरे पर किया जाता है।[1] इसमे ललितोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, तुल्ययोगिता, सहोक्ति, अप्रस्तुत प्रशसा, ललित आदि का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ मे व्यतिरेक, स्मरण आदि का उल्लेख हुआ है। इस विवेचन से एक प्रकार का स्थूल वर्गीकरण स्वय ही सामने आ गया है, जो आचार्यों के वर्गीकरण की परम्परा से भिन्न है। यह वर्गीकरण प्रस्तुतो के विभिन्न तत्वो के उत्कर्ष के आधार पर है, प्राचीनो की भाति अलकारो के मूल के आधार पर नही। यही इनके इस प्रकार के वर्गीकरण की नवीनता है।

शुक्ल जी सस्कृत आचार्यो द्वारा निर्धारित कुछ अलकारो जैसे स्वाभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति को काव्य नही मानते। स्वाभावोक्ति मे केवल प्रस्तुत के रूप, वस्तु, क्रिया आदि का ही वर्णन होता है, जो केवल प्रस्तुत का वर्णन होने के कारण अलकार की श्रेणी मे नही आ सकता। वह तो रस के क्षेत्र मे ही रहेगा, क्योकि किसी वस्तु विशेष से किसी अलकार प्रणाली का सम्बन्ध नही हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नही रह सकती। उसका काम वस्तुनिर्देश न होकर रस की व्यवस्था करना है। उन्होने मम्मट, राजानक रुय्यक आदि के लक्षणो का विवेचन किया है तथा अपने विचार का समर्थन कुन्तक से किया है। इसी प्रकार सागरूपक के सम्बन्ध मे उनका यह विचार है कि इसमे सादृश्य और साधर्म्य का पूर्ण निर्वाह नही हो सकता, जैसा निरग रूपक मे रहता है।[2]

शुक्ल जी के उपर्युक्त अलकार विवेचन से यह ज्ञात होता है कि वे अर्थालकारो की काव्य मे उपयोगिता के तो समर्थक थे उनका प्रयोग चमत्कार के लिए न मानकर रमणीयता के लिए अर्थात् भाव, गुण, रूप आदि का उत्कर्ष प्रदान करने के लिए ही मानते थे। वे शब्दालकार को काव्य मे विशेष महत्त्व नही देते, क्योकि

---

१ देखिए 'गोस्वामी तुलसीदास' (स० १९४०), पृ० १७०।

२. देखिए 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६), पृ० १११।

इससे रमणीयता की अपेक्षा चमत्कार की ही अधिक सृष्टि होती है। शब्द-साम्य को तो वे तमाशे खड़ा करना मानते हैं।[1]

डा० श्यामसुन्दर दास

उन्होने 'साहित्यलोचन' मे 'काव्य का विवेचन' नामक अध्याय मे अलकार के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए है। वे भी शुक्ल जी की भाति रसवादी है। उनके विचार से 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए सस्कृत मे अलकारो की विशेष रूप से योजना की गई है।'[2] वे मानते है कि अलकारो का प्रयोजन किसी वर्णन को विशेष रूप मे आकर्षक बनाना है। अलकार, रमणीय अर्थ के प्रतिपादन अथवा रस निष्पत्ति मे सहायक होते है। उनका उद्देश्य काव्य को रसमय करके आस्वाद्य बनाना तथा चित्त को किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत करना है। कथन की किसी शैली तथा भावो की किसी उड़ान के कारण अलकार किसी प्रबल मनोवेग के द्वारा चित्त को चमत्कृत करते हैं।

वे भी शुक्ल जी की भाति यह मानते है कि अलकारो की न तो कोई गणना की जा सकती है न सीमा ही बाधी जा सकती है। अलकारो की रुचि तथा प्रयोगों मे देश तथा काल के भेद से बहुत से भेद हो जाते है। एक युग की सुरुचि के द्वारा अपनाए जाने वाले अलकार दूसरे युग मे हेय समझे जा सकते है, इसलिए काव्य मे देश, युग तथा पात्र आदि का ध्यान रखकर अलकारो की योजना करनी उचित होती है। उनकी यह धारणा नवीन साहित्य के अनुकूल तथा युक्ति-युक्त है।

उन्होने काव्य के उपकरणो मे सौन्दर्य, रमणीयार्थ, अलंकार, रस तथा भाषा को स्थान दिया है तथा अलकार और गुण, काव्य के रमणीयार्थ के उपकरण माने हैं। काव्य-सौन्दर्य काव्य के रमणीयार्थ के द्वारा ही व्यक्त होता है और अलकार इसके सहायक होते हैं। इस प्रकार उन्होने पाश्चात्य 'सौन्दर्य' की भावना को रमणीयार्थ के साथ एकाकार करके अलकारो को उनका साधन माना है। उन्होने शुक्ल जी की भाति अलकारो को रस या ध्वनि का साधन न कहकर रमणीयार्थ का सहायक माना है तथा मम्मट की अपेक्षा पडितराज का अनुकरण किया है। उनकी अलकार की परिभाषा के दो तत्व हैं, रस अथवा रमणीयार्थ के प्रतिपादन मे सहायता पहुँचाना तथा चित्त को किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत करना। यह कार्य वे कथन की शैली तथा भावो की उडान द्वारा करते है। कथन की शैली कहकर वे भामह तथा दण्डी के लोकोत्तर चमत्कार की ओर ही सकेत करते है। अलकार भावो की उडान किस प्रकार कर सकते हैं, इसका उन्होने विवेचन नही किया है। इस प्रकार वे 'कल्पना' से अलकारो के सम्बन्ध का निर्देश नही कर पाये है।

---

१. देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृ० २४०।
२. देखिए 'साहित्यलोचन' (स० १९९९), पृ० ६४।

जयशकर प्रसाद

प्रसाद जी काव्य मे अभिव्यजना की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। वे अभिव्यजना को अनुभूति का ही परिणय मानते हैं तथा सुन्दर अनुभूति की अभिव्यक्ति को ही सुन्दर मानते हैं। काव्य मे जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा होती है वह सौन्दर्यमयी तथा संकल्पात्मक होने के कारण श्रेय होती है तथा वही रचना कौशल मे व्यक्त होकर प्रेय रूप धारण कर लेती है। उनके विचार से रूप के आवरण मे सन्निहित रहने वाली वस्तु प्रधान है, रूप नही।[1] इस प्रकार वे अभिव्यक्ति को अनुभूति से असम्वद्ध नही करते। काव्य मे पूर्ण अभिव्यक्ति, जिसमे अलकार-कौशल, विशिष्ट-पद-रचना आदि का भी समावेश होता है, तभी होती है जब उसमे आत्मानुभूति की प्रधानता हो।

इस प्रकार वे अलकारो को काव्य मे गौण स्थान देते है तथा प्रमुख वस्तु, अनुभूति की तीव्रता, तन्मयता तथा आनन्द की मात्रा को मानते है। जितने ये उत्कर्ष पूर्ण होगे काव्य सौष्ठव उतना ही समृद्ध होगा। काव्य मे अलकारो का समावेश अनुभूति की तीव्रता की मात्रा के आधार स्वरूप स्वाभाविक रूप मे ही हो जाता है। इस प्रकार वे अलकारो को काव्य मे स्पष्ट रूप मे साधन भी स्वीकार नही करते क्योकि वे तो अनुभूति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं। रीतिकालीन काव्य मे जिन अलकारो का रुचि तथा औचित्य के आधार पर अधिक प्रयोग हुआ, वे इनकी इस मान्यता के अन्तर्गत वास्तविक अलकार नही हैं। प्रसाद जी भी शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास जी की भाति अलकारो को (जो सौन्दर्य तथा अर्थ का बोध करते हैं) व्यवहार पर निर्भर मानकर परिस्थिति तथा काल के अनुसार परिवर्तनशील मानते हैं। उनके विचार से अलकार आनन्दवादी धारा की अपेक्षा साहित्य की विवेक अथवा तर्कवादी धारा के अग हैं।

पडित नन्द दुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी भी अन्य आलोचको की भाति रसवादी है तथा काव्य मे अभिव्यंजना की अपेक्षा अनुभूति की तीव्रता को महत्त्व देते है। इस सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "काव्य और कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यजना का ही सौन्दर्य नही हैं, अभिव्यजना काव्य नही है। काव्य अभिव्यजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव जगत और मानव वृत्तियो से है, जबकि अभिव्यजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्य प्रकाशन से है।"[2] अलकारो का सम्बन्ध अभिव्यजना से है, जो केवल सौन्दर्य प्रकाशन मात्र है और भाव जगत से पृथक् तत्व है। अलंकार तथा भाव अथवा मानव वृत्तिया एक नही है। वे काव्य मे ऐसी अभिव्यक्ति को उचित मानते है, जो अनुभूति

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—'प्रसाद' (स० १९९६), पृ० २५-२६।
२ 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' प्रथम सस्करण, पृ० ५८।

की तीव्रता तथा हृदय स्पर्शिता के गुण से सम्पन्न हो। इस प्रकार शुक्ल जी की भाति इनके द्वारा भी वही अलकार उचित माने गए है, जो अनुभूति की तीव्रता उत्पन्न करने वाले अथवा हृदय का स्पर्श करने वाले है। परम्परागत अलंकार इस कार्य के योग्य नही है। अनुभूति की तीव्रता से सम्बन्ध रखने वाले अलकार ही वास्तव मे अलकार हैं। उनके विचार से अलकार काव्य-साधना की पहली सीढी मात्र है। मूर्ति-पूजा की भाति वे चरमसाधन नही है। चरम सिद्धि तो वे ही हो नही सकते। अलकार केवल चित्र है तथा चित्रो की सहायता को वे केवल एक सीमा तक ही विधेय मानते है।[1] इस प्रकार वे अन्य रसवादियो की भाति अलकारो को काव्य की शोभा अथवा उसका अपेक्षित साधन नही मानते। वे उनकी भाति अलकारो को 'रस सिद्धि का साधक, अपनी कामधेनु का गोपाल'[2] नही बनाते। उनका निश्चित विचार है कि अलकार काव्य के चरम साधन नही है, न ही वे उसके अनिवार्य तत्व हैं। वे यह आवश्यक नही समझते कि बिना अलकारो के महान् रचनाए हो ही नही सकती। विश्व की उत्कृष्टतम रचनाएँ अलकार विहीन होती हुई भी हृदय पर प्रभाव डालने वाली हुई है। इसलिए प्रभावोत्पादकता या रस के उत्कर्ष के लिए अलकार विशेष रूप से अनिवार्य उपकरण नही है। अनिवार्य होना तो दूर रहा, वे तो कभी-कभी उत्कृष्ट कविता मे बाधक अथवा अहितकारी भी हो जाते है। उनका विचार है "इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही काम करते है, जो दूध मे पानी। कविता फीकी पड जाती है। वह अपना सत्य स्वरूप खोकर नकली आवरण धारण करती है और अनेक प्रकार से पतित होती है।"[3] अलकार विहीन काव्य की उत्कृष्टता तथा प्रभाव के सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है कि "कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलकार विहीन हो जाती है, वहाँ वह वेगवती नदी की भाति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह मे अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहा बह जाते है और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।[4]

इनका अलकारो के स्वरूप का विवेचन सकुचित न होकर व्यापक है। अलकारो के बधे हुए सकुचित स्वरूप को वे आधुनिक काल के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त मानते है। नए जीवन तथा नए काव्य के लिए वे प्राचीन अलकारो को अनुपयुक्त मानते है। वे अलकारो को शब्द की भगिमा अथवा अभिव्यक्ति के विशाल तथा विविध क्षेत्र के नवीन तत्वो के अन्तर्गत समझते है। इस प्रकार वे अनुभूति तथा अभिव्यक्ति, रस तथा अलकार मे पूर्ण सामजस्य के पक्षपाती है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' प्रथम सस्करण, पृ० ६८।
२. देखिए वही, पृ० ६८।
३ देखिए वही, पृ० ६९,।
४. देखिए वही, पृ० ६८।

'सुधाँशु' जी भी शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास जी की भाँति अलंकारो को भाव-प्रकाशन के भिन्न साँचे मानते है।[1] इनका मुख्य उद्देश्य भावो को तीव्र करना है। यह काव्य मे उक्ति-व्यंजना की पूर्णता और बोधगम्यता के सहायक हैं। यह वस्तु से पृथक् रहकर भावोत्तेजन मे योग देते है। यह अभिव्यनावादियो के समान उक्ति के अग नही है। असम, अधिक, अनुमान, असम्भव, उल्लेख, उदाहरण, उल्लास, उदात्त, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिग, तिरस्कार, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिशेष, परिसख्या, पर्याय, प्रहर्षण, भ्रान्ति, भाविक, मुद्रा, युक्ति, लेश, लोकोक्ति, विप्सा, विरोध, विषादन, विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय, सामान्य, सूक्ष्म, स्वाभावोक्ति, स्मरण, सन्देह, हेतु आदि ऐसे अलकार है, जिनकी वस्तु या भाव से पृथक् सत्ता नही हो सकती है। उनका मत है कि "उक्ति मे स्वाभाविक रूप से मिला हुआ जो चमत्कार आ जाता है, उसके लिए अलकार की सज्ञा अनुपयुक्त ही नही, उलझन को बढ़ाने वाली भी है।"[2] वे अलकार का उद्देश्य वस्तु का बोध मात्र कराना नही मानते है। ऐसा मानने से तो साधारण से साधारण उक्ति मे भी अलकारत्व मानना पड़ेगा। यदि वस्तु या भाव के साथ अलकारो को युक्त न किया गया होता, तो उनकी सख्या भी इतनी अधिक न होती।

अलकार विवेचन के क्षेत्र को विस्तार देते हुए उन्होने बहुत सी नवीन समस्याओ का समाधान किया है। श्यामसुन्दर दास जी ने उस शक्ति का विवेचन नही किया था, जिसके आधार पर अलकार अपना कार्य सिद्ध करते है। सुधाँशु जी ने शुक्ल जी की भाँति उस शक्ति को कल्पना माना है। भाव तथा अलकार का सम्बन्ध बताते हुए उन्होने कहा है कि भाव की महत्ता स्वतन्त्र रहने मे ही है पर "कभी-कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप मे प्रकट करने के लिए 'कल्पना' का आश्रय लेना पड़ता है और यही उसमे अलकारत्व मिलता है। इस प्रकार काव्य मे अलकारत्व कल्पना की सहायता से आता है, जो भावो को तीव्र करने के लिए सहायक रूप मे प्रयुक्त होती है। इस प्रकार स्मरण, भ्रम, सन्देह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ-मात्र है। इनमे अलकारत्व मानना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जैसा आदर, आश्चर्य, घृणा, पश्चाताप आदि के भावो को प्रकट करने मे वीप्सालकार मानना। भाव के अतिरिक्त सौन्दर्य-विधान का नाम ही अलकार है, जो कल्पना की सहायता से हो सकता है। इसलिए "जिस अलकार विवान मे कल्पना की सहायता नही रहती उसमे अलकारत्व मानने या मनाने का दुराग्रह नही होना चाहिए।"[3]

भाव के क्षेत्र के अतिरिक्त अलकारो ने न्याय के क्षेत्र पर भी अधिकार किया है। काव्यार्थापत्ति, ससृष्टि, सकर, एकवाचकानुप्रवेश, सकर, न्याय के आधार पर ही खड़े

---

१. 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' (तृतीय सस्करण; पृष्ठ-८५।
२. वही पृष्ठ ८७।
३. वही पृष्ठ ८९।

किए गए है जैसे काव्यार्थापत्ति, दडपूपिका न्याय, ससृष्टि, तिल-तन्दुल न्याय, सकर नीर क्षीर न्याय, एकवाचकानुप्रवेश, नृसिहाकार न्याय तथा अगागि भाव-सकर, बीज-वृक्ष न्याय के आधार पर स्थिर हैं।

भाव तथा न्याय के अतिरिक्त अलकारो ने वाणी का भी आधार लिया है। काकुवक्रोक्ति अलकार स्पष्ट रूप मे वाणी के क्षेत्र मे पहुँचता है। कुछ अलकार जैसे सूक्ष्म और पिहित क्रिया से सम्बद्ध है, क्योकि इनमे क्रिया चेष्टा की विशेषता रहती है, किसी भाव को तीव्र करने की नही। इनको अलकार मानने से अलकार की परिभाषा मे यह सशोधन करना पडेगा कि अलकार केवल भाव को ही अलकृत नही करते वे क्रिया का भी मन्डन करते हैं। शुक्ल जी इसकी पहले ही व्याख्या कर चुके है। इसी प्रकार भाविक अलकार व्याकरण के एक अग 'काल-विभाग' का आधार लेता है।

उन्होने अलकारो का प्राचीन वर्गीकरण छोडकर अपना मौलिक वर्गीकरण दिया है तथा भाव, न्याय, काल, वाणी तथा क्रिया से सम्पर्क रखने वाले अलकारो का निर्देश किया है। उनका न्याय क्षेत्र तो रुय्यक का न्याय मूल वर्ग है। अन्य क्षेत्र अलकारो के आन्तरिक तथा वाह्य स्वरूप के आधार पर विभाजित न होकर कार्य के माध्यम द्वारा विभाजित हुए है। किन्तु इस विभाजन के द्वारा सारे अलकारो का वर्गीकरण नही हो सकता। फिर भी अलकारो के आधार के विवेचन के अन्तर्गत क्रिया के क्षेत्र का निर्देश करना इनकी विशिष्ट मौलिकता है।

उनका विचार है कि वैसे तो भाषा का शब्द-बाहुल्य भावो को तीव्र बनाने मे सहायक होता है पर कुछ अलकार जैसे श्लेष, वक्रोक्ति, विवृतोक्ति, गूढोक्ति, समासोक्ति आदि भाषा के शब्दाभाव पर ही निर्भर है। यदि एक शब्द से एक से अधिक अर्थों की व्यक्ति न हो तो इन अलकारो का अस्तित्व ही सन्देह मे पड जाता है। इनका यह कथन अधिक तर्क युक्त इसलिए नही जान पडता कि जिन शब्दो का इन अलकारो मे प्रयोग होता है, उनके भाषा मे अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। उपरोक्त अलकार शब्दाभाव पर आश्रित नही है वरन् चमत्कार तथा जटिलता या गूढताप्रियता पर निर्भर है। उनका विचार है कि काव्य मे प्रत्येक स्थल पर अलकारो का उपयोग करना अनिवार्य नही है। भावोत्तेजन मे जहाँ सहायता की आवश्यकता हो, वहा इनका व्यवहार हो सकता है। पुराने ढग के अलकारो का प्रयोग आवश्यक नहीं है। वे कहते हैं कि "नए-नए विविक्त अलकार यदि निर्मित किए जाए तो उनसे काव्य का गौरव ही बढेगा।"[1] अलकारो की उत्पत्ति अभाव के कारण है। उनका यथार्थ प्रयोजन यह है कि वे प्रभाव डालने की अधिकाधिक क्षमता प्राप्त करके भावो को पुष्ट करते है। इनकी सार्थकता भावो के प्रेषक या उत्तेजक बनाने मे ही है। अलकारों का कार्य कवि के हृदय के भाव को पाठक के हृदय मे प्रेषित करना है। वे केवल

---

१ 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' (तृतीय सस्करण), पृष्ठ ९३।

इसी उद्देश्य से काव्य मे प्रयुक्त हो सकते हैं। इस प्रकार उन्होने प्राचीन आचार्यों की भाँति अलकारो के विभिन्न मूल-अलकारो का विवेचन छोड अलकारो के अस्तित्व के मूल की ही युक्ति-सगत खोज की है। उनका विचार है कि अलकारो के प्रयोग के मूल कारण को ही न समझने के कारण अलकार वादियो ने काव्य को अलंकारो से लाद दिया।

उनके विचार से भी शुक्ल जी की भाँति अलकारो का समावेश व्यग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ मे है। वे उसी चमत्कार मे अलकारत्व मानते है, जो व्यग्यहीन हो। यदि इसमे व्यग्य की प्रधानता होगी तो वह अलकार की अपेक्षा ध्वनि के अन्तर्गत आ जायेगा। इस विषय मे उनका ध्वन्यालोककार से मतभेद है। उन्होने लिखा है कि 'ध्वन्यालोक' मे अलकार और अलकार्य का अन्तर मानकर ध्वनि के अवान्तर भेदो मे कही व्यग्य, अलकार्य रखा गया है और कही अलकार माना गया है, किन्तु वाच्यार्थ मे ही अलकार मानना युक्तियुक्त है।"[१] उन्होने गुणीभूत-व्यग्य को भी इसीलिये कि उसमे वाच्य और व्यग्य समान होते है, अलकार के रूप मे माना है। उनका विचार है कि जिस अर्थ को समझने के लिए वाच्यार्थ से दूर जाना पड़े, वह अलकार नही माना जा सकता, चाहे अलकार्य मान लिया जाए।

अप्रस्तुत-योजना मे सादृश्य तथा साधर्म्य के अतिरिक्त उनसे उत्पन्न प्रभाव की क्षमता पर उन्होने अधिक जोर दिया है। उनका मत है कि "सादृश्य और साधर्म्य रहने पर भी यदि अप्रस्तुत योजना मे प्रभाव की क्षमता नही, तो वह किसी काम की नही।"[२] उन्होने रस की प्रतीति मे बाधक होने वाली अप्रस्तुत-योजना को काव्य की दृष्टि से दूषित माना है। उसे रस की प्रतीति मे सदैव सहायक होना आवश्यक है। अप्रस्तुत योजना मे यह भी आवश्यक नही है कि सादृश्य के लिये आकार, प्रकार या वजन के माप तोल की जरूरत पडे और साधर्म्य के लिए वस्तु के कार्य या गुण की पूर्ण समानता रहे। यदि सादृश्य या साधर्म्य के सकेत मात्र से भाव का प्रसार हो जाए तो उनके पूरे आरोप की आवश्यकता नही है। सादृश्य-विधान के लिए प्रयुक्त कल्पना को तर्क के आश्रय की आवश्यकता नही। तर्क-पूर्ण विचार, सादृश्य-विधान मे घातक है। हिन्दी मे अभिव्यजनावाद के प्रभाव के कारण सादृश्य या साधर्म्य का पूर्णतया तिरस्कार करके, तज्जन्य प्रभाव का ही साम्य दिखलाया जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का इतना भेद मिट जाता है कि यह पता नही चलता, कि प्रस्तुत का वर्णन हो रहा है या अप्रस्तुत का। वे प्रस्तुत की अवहेलना करके केवल अप्रस्तुत की योजना की प्रवृत्ति को काव्य के लिए उपयुक्त नही समझते। उनका विचार है कि "जिस कविता मे जीवन की अनुभूति नही रहेगी, केवल कल्पना का बवडर रहेगा, उसके अर्थ की अस्पष्टता उसका नित्य स्वरूप है। अप्रस्तुत योजना

---

१. 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' (तृतीय सस्करण), पृष्ठ ९६।
२ वही पृष्ठ ९७।

बुरी बात नहीं, किन्तु प्रस्तुत की बिल्कुल उपेक्षा कर देने से वर्णन का आधार नही रह जाता। सारी कविता हवाई जहाज हो जाती है। प्रस्तुत के आधार पर जो अप्रस्तुत योजना की जाती है, वह निश्चय ही मार्मिक होती है।"[१] वे अप्रस्तुत योजना मे व्यग्य-व्यजक भाव को उपयुक्त नही मानते। उसमे रूप-साम्य ध्येय न होकर व्यजना ही ध्येय होती है तथा अलकार के भीतर ध्वनि का प्रवेश दूर तक हो जाता है।

उन्होने अप्रस्तुत योजना मे कल्पना का तो विशेष आधार माना ही है पर उसके साथ हृदय की अनुभूति का सामजस्य भी आवश्यक समझा है। हृदय की गम्भीर तथा मार्मिक अनुभूति, कल्पना के साहचर्य से अधिक प्रभावपूर्ण हो जाती है। अप्रस्तुत योजना बिम्ब-विधायक होनी चाहिए। ऐसी अप्रस्तुत-योजना ही चित्त पर प्रभाव डालती है। इसलिए उन्होने अलकारो मे शुद्ध तथा प्रधान अलकार, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि को माना है। वे आरोपित वस्तु या तथ्य मे ही अलकार मानते है। वे आधुनिक काल मे उपमा की दो विशेषताएँ मानते है, प्रथम तो मूर्त्त की सूक्ष्मोपमा तथा द्वितीय सूक्ष्म की मूर्तोपमा। उनका विचार है कि सुक्ष्म की भी रमणीय अप्रस्तुत योजना है तो कठिन, पर मनोविज्ञान के ज्ञान के आधार पर निर्मित हो सकती है।

इसी प्रकार प्रतीको की परिभाषा देते हुए सुधाशु जी लिखते है "प्रतीको के स्वरूप मे कुछ न कुछ ऐसी व्यजना रहती है, जिससे भावनाओ को विकास के सकेत मिलते है।"[२] प्रतीक केवल अर्थ की अभिव्युक्ति ही नही भावनाओ का उद्‌बोधन भी करते है। यह दो प्रकार के है, भावोत्पादक (Emotional) तथा विचारोत्पादक (Intellectual)। वैसे प्रायः सब भावोत्पादक प्रतीको मे विचार मिले रहते है तथा सब विचारोत्पादक प्रतीको मे भाव मिले रहते है। इनके दो भेद केवल इसलिए किये गए है कि भाव या विचार की प्रधानता या गौणता प्रकट हो सके। प्रतीक के लिए यह आवश्यक नही है कि वह कोई गोचर वस्तु हो। उसमे सबसे बडी बात यह होनी चाहिए कि वह भाव या विचार को जगाने मे समर्थ हो। प्रतीक तथा उपमान का अन्तर बताते हुए वे भी शुक्ल जी की भाति कहते है कि "प्रतीक और उपमान मे सबसे बडा अन्तर यही है कि प्रतीक के लिए सादृश्य के आधार की आवश्यकता नही, केवल उसमे भावोद्‌बोधन की शक्ति रहनी चाहिए, पर उपमान मे सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है।"[३] प्रतीक स्वरूप उपमान काव्य में भावोत्तेजन में विशेष रूप मे सफल होते है, केवल आकार, प्रकार या नाप जोख से मिले हुए उपमान भावबोध कराने मे ही समर्थ है। भावोत्तेजन कराने वाले

---

१. देखिए 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' (तृतीय सस्करण) पृष्ठ १०१।
२. देखिए वही पृष्ठ ११६।
३. देखिए वही पृष्ठ ११८।

उपमान, प्रतीक-स्वरूप होते है। हिन्दी मे आजकल बहुत से लाक्षणिक प्रतीक प्रचलित हैं। ऐसे लाक्षणिक प्रतीको के विधान मे प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने के लिए धर्म के स्थान मे धर्मी का उल्लेख होता है। इस प्रकार प्राचीन काव्य परम्परा के उपमानो मे जैसे नाक के लिए सुग्गे की चोंच, कमर के लिए सिंह या भिड़ आदि में रमणीयता नही है। वे रस के बाधक है।

सूक्ष्म भावो की मूर्त्तता के सम्बन्ध मे उनका यह विचार है कि हृदय के सूक्ष्म भावो मे यदि मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण की योग्यता लाई जाए तो स्वभावत उसकी प्रभविष्णुता बढ जाती है। जब सूक्ष्म भावो की अनुभूति विशेष गम्भीर हो जाती है और उनकी गम्भीर व्यजना अभीष्ट होती है तो सूक्ष्म भावो को मूर्त्त बनाया जाता है। इसी प्रकार अमूर्त्त विधान मे किसी मूर्त्त वस्तु के अनेक गुणो को भावात्मक बनाते समय किसी एक ही प्रयोजनीय गुण पर दृष्टि रहनी चाहिए। मूर्त्त के अमूर्त्त विधान की आवश्यकता बताते हुए उन्होने लिखा है कि "स्थूल वस्तु के प्रति जब मनोवृत्ति को गम्भीर करना अभीष्ट होता है या पाठको को विचार तत्पर करना होता है, तब वस्तु की मूर्तिमत्ता को हटाकर केवल उसकी भावात्मक सत्ता का विधान किया जाता है।"[1]

सुमित्रानन्दन पत

पत जी ने भी काव्य मे रस को ही श्रेष्ठता प्रदान की है तथा वे काव्य मे इसी को साध्य मानते है। उनका विचार है कि अलकारो का कार्य केवल काव्य की भाषा को अलकृत करना ही नही है, भावो की पूर्ण अभिव्यक्ति मे सहायक होना भी है। पत जी कहते हैं कि "अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है, भाषा की पुष्टि के लिए राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है। वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति है, पृथक् स्थितियो के पृथक् स्वरूप, भिन्न आवश्यकताओ के भिन्न चित्र है···वे वाणी के हास, अश्रु, श्वाँस, पुलक, हाव-भाव है। जहाँ भाषा की जाली केवल अलकारो के चौखटे मे फिट करने के लिए बुनी जाती है वहाँ भावो की उदारता शब्दो की कृपण-जड़ता मे बधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह "इकसार हो जाती है।"[2]

इस प्रकार उनके विचार से अलकारो का उद्देश्य केवल वाणी को शोभा प्रदान करने का ही नही है। वे भावो की पूर्ण तथा यथार्थ अभिव्यक्ति के माध्यम है। उनके द्वारा भाषा ही समृद्ध नही होती वरन् उसमे सगीतात्मकता भी आ जाती है। यह अलकार सब स्थितियो मे एक ही प्रकार से प्रयुक्त नही होने चाहिए। भिन्न स्थलो पर उनके भिन्न रूपो के प्रयोग की आवश्यकता होती है। रीतिकालीन कविता की भाँति प्रत्येक स्थान पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास की भरमार

१ देखिए 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' (तृतीय सस्करण), पृष्ठ १३० ।
२. देखिए 'पल्लव' की भूमिका (सन् १९२६), पृष्ठ २६ ।

कर देना उचित नही। भिन्न-भिन्न प्रसगो मे इनका चित्र बदलता रहना चाहिए। इनका प्रयोग भावानुकूल होना ठीक है। विशेष भावो के लिए विशेष प्रकार के अल-कार प्रयुक्त होने चाहिए। जहा भाषा अधिक-से-अधिक अलकारो मे जडी होती है वहाँ भावो की सजीवता भी जडवत् हो जाती है। जिस प्रकार सगीत के सात स्वर केवल राग की अभिव्यक्ति मे योग देते है उसी प्रकार से अलकारो का अपने लिए कोई महत्त्व नही है। वे लक्षणा, व्यजनादि शब्द शक्तियो तथा विशेष छन्दो के सम्मिश्रण तथा सामजस्य से, विशिष्ट प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति मे सहायक होते है। इस तथ्य को पत जी अपनी काव्यात्मक भाषा मे प्रकट करते हुए लिखते है कि "जहा उपमा, उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपन्हुति, गूढोक्ति अपने-अपने लिए हो जाते" जैसे पक्षी का प्रत्येक पख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उडू—वे अभीप्सित स्थान मे पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वय अभीप्सित विषय बन जाते हैं, वहा बाजे के सब स्वरो के साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वो के प्रलय मे लुप्त हो जाता, काव्य के साम्राज्य मे अराजकता पैदा हो जाती, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिहासन से उतार दी जाती और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राज-कर्मचारी, शब्दो की छोटी-मोटी सेनाए सग्रहीत कर, स्वय शासक बनने की चेष्टा मे विद्रोह खडा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[1]

इस प्रकार पत जी भी अलकारो को भाषा की समृद्धि तथा सगीतात्मकता के लिए आवश्यक मानते हुए, उनको काव्य मे साध्य नही वरन् साधन ही मानते है। उनका विचार है कि यह अलकार अपना कार्य साधन (भावो की अभिव्यक्ति) शब्दो की विभिन्न शक्तियो तथा छन्दो के सामजस्य से पूर्ण करते हैं। इस प्रकार उन्होने अलकारो के कार्यक्षेत्र मे शब्द-शक्तियो के अतिरिक्त, जिनका आधार कल्पना है, छन्दो की भी सहयोगिता मानी है। किन्तु वास्तव मे छन्दो का समन्वय प्रत्येक स्थिति मे अलकारो के कार्य का साधक नही होता। छन्दहीन कविता मे भी अलकार शब्द-शक्तियो द्वारा अपना कार्य सम्पादन करते है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय

'अज्ञेय' जी रूढ अर्थ मे अलकारवादी नही है, पर नए-नए उपमान तथा प्रतीको की उन्होने अधिक आवश्यकता समझी है। उनका विचार है कि प्राचीन समय मे समाज सीमित था। समाज के सभी सदस्यो का जीवन एकरूप होता था और उनमे विचार सयोजनाओ के सूत्र भी मिले-जुले होते थे। इसलिए कोई एक शब्द उनके मन मे प्राय समान चित्र या विचार का भाव उत्पन्न करता था किन्तु आज विस्तृत समाज की जटिलता के कारण जीवन परिपाटियो मे घोर वैषम्य है और फलतः भाषा का पुराना व्यापकत्व अब नही रहा है। आज ऐसे शब्द कम हैं, जो एक

---

१ देखिए 'पल्लव' की भूमिका (सन् १९२६), पृष्ठ २७।

ही प्रकार के चित्र या भाव उत्पन्न करते हो। आज के कवि की सबसे बडी समस्या यह है कि वह अपनी उलझी हुई सवेदना की सृष्टि को पाठक तक अक्षुण्ण पहुंचा सके। आज का कवि भाषा की क्रमश सकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाडकर उसमे नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।[1] प्रयोगवादियो की सबसे बडी समस्या यही है कि "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता मे पहुँचाया जाए।"[2] अज्ञेय जी पर फ्रायड का प्रभाव है। उन्होने मनोविज्ञान के स्वप्न-प्रतीको का प्रयोग काव्य मे उपयुक्त माना है। उन्होने लिखा है कि "आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओ से लदा हुआ है और वे कल्पनाए सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"[3] 'अज्ञेय' जी ने नए प्रतीको की योजना पर जोर दिया है तथा नए उपमान ढूंढने को उचित समझा है। नए उपमानों के विषय मे उनका विचार उनकी इन पक्तियो मे इस प्रकार व्यक्त हुआ है···

"अगर मे तुमको
ललाती साझ के नभ की अकेली तारिका
अब नही कहता,
या शरद् के भोर की नीहार न्हायी कुई
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नही कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गए हैं
देवता इन प्रतीको के कर गए है कूच
कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है-
अगर मे यह कहूँ—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा मे कलगी छरहरे बाजरे की
(क्यो तुम नही पहचान पाओगी)"

इस प्रकार काव्य के पुरातन विधानो के प्रति इनकी प्रतिक्रिया, भाव तथा विषय के क्षेत्र के अतिरिक्त, काव्य शैली मे भी हुई है और वे अलंकारो मे नवीन-

---

१ देखिए 'तार सप्तक' (सन् १९४३), पृष्ठ ७५।
२ देखिए वही पृष्ठ ७५।
३ देखिए वही पृष्ठ ७६।

उपमानो पर अधिक जोर देते हैं। उनका विचार है कि ऐसे उपमान विश्व के किसी भी क्षेत्र से चुने जा सकते हैं। इन प्रतीको मे उन्होंने यौन-भावना का आधिक्य स्वाभाविक रूप से ही माना है।

प्रभाकर माचवे

माचवे जी ने 'तार सप्तक' मे अपने वक्तव्य मे आधुनिक काव्य मे मौलिक कल्पना की आवश्यकता बताते हुए लिखा है कि "नवोन्मेष से विस्फूर्जित और उत्तेकित कल्पना की हिन्दी मे कमी है। उसके लिए हमे अपना अलकार-विधान सामूल बदलना होगा, उपमान माजने होगे, रूपको की कलई खोलनी होगी, उत्प्रेक्षाएं सचमुच भाव के उत्स से उत्प्रेरित है या नही यह देखना होगा।"[1] माचवे जी का निश्चित विचार है कि "हमारी कविता मे पाए जाने वाले अधिकाश कल्पना चित्र या बिम्ब (Images) बच्चो के से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परम्परागत होते हैं।"[2] वे इन शाब्दिक(Verbal)सहस्मृत (Associational) तथा परम्परागत बिम्बो(Traditional Images) के स्थान पर राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रियिक, आवेगाश्रित और अभिजात-बिम्बो की सृष्टि आवश्यक मानते हैं। यदि ऐसे अलकारो का प्रयोग होने लगेगा तो हमारे अलकार अधिक वैज्ञानिक, आधुनिक और वैशेषिक हो जाएगे। वे भी निरे अलंकार-साख्य से निरलकार काव्य-रचना को अच्छा समझते है।

गिरजा कुमार माथुर

माथुर जी ने शब्दालकारो मे व्यजनो के ध्वनि-सौन्दर्य को केवल रीतिकालीन रूढि मात्र समझा है। वे अनुप्रास की व्यंजन-ध्वनियो से उत्पादित सगीत को कविता मे सगीत नही मानते। वे व्यजन-ध्वनियो से निर्मित संगीत को बाह्य, अस्थायी एव मृत मानते हैं। उनके विचार से "वह आकार का सगीत है, शब्द की आत्मा का सगीत नही। शब्द की आत्मा स्वर-ध्वनि है, इसी कारण उस पर अवलम्बित सगीत आतरिक, गम्भीर और स्थायी है। वह आकाश तत्व का संगीत है।"[3] उन्होने छन्दो मे स्वरो के सम्पूर्ण प्रभाव के आधार पर उनका निश्चित रूप एवं आकार इस प्रकार निर्धारित किया है।" 'आ' ध्वनि का रूप है विस्तार, 'इ' ध्वनि का रूप है आनत, ऊँचाई, 'ऊ' ध्वनि मे दूरी, 'ए' ध्वनि मे ऊर्ध्वगति, 'ओ' ध्वनि मे वस्तु का 'व्योम' तथा भीम प्रवाह, और 'ऊ' मे गहराई और गाभीर्य है।"[4] इस प्रकार उन्होने शब्दो के परम्परागत सौन्दर्य जिसे वे आकार का सौन्दर्य मात्र मानते हैं, से भिन्न, उनकी आत्मा के सौन्दर्य से, काव्य के वातावरण का निर्माण करना उचित समझा है। उन्होंने

---

१ देखिए 'तार सप्तक' (सन् १९४३), पृष्ठ ५२।
२ देखिए वही , पृष्ठ ४१।
३. देखिए वही , पृ० ४१।
४. देखिए वही , पृ० ४१।

इन स्वरो की शक्ति, स्वरूप, रग तथा प्रभाव के गुणो की स्थापना करके काव्य के वातावरण के निर्माण मे इनको आधार बनाया है। उनके स्वर-ध्वनि-विधान मे व्यंजनो की आवृत्ति केवल राग मात्र का चमत्कार नही है। उनका उद्देश्य काव्य में वाह्य चमत्कार उत्पन्न करने की अपेक्षा शब्दो की आत्मा के आधार पर काव्य का अलंकरण करना है। व्यावहारिक रूप मे वे इन स्वर-ध्वनियो के प्रयोग करने मे विशेष सफल हुए हैं। इस प्रकार उन्होने शब्दालकारो के आन्तरिक-सौन्दर्य को व्यक्त करके तथा व्यजनो की अपेक्षा स्वरो के सौन्दर्य तथा स्वरूप को प्रतिष्ठित करके हिन्दी के शब्दालकारों को एक नवीन तथा मूल्यवान तत्व से विभूषित किया है, जिसकी सम्भावनायें अनन्त है। इन अलकारो के प्रति इनका दृष्टिकोण पूर्णतया नवीन है।

उपरोक्त विवेचन का साराश यह है कि आधुनिक आलोचक प्राय· रसवादी है। उन्होने अलकारो के विषय मे अपने विचार प्रसगवश ही व्यक्त किए है। उनके द्वारा अलंकारो पर कोई पृथक् ग्रन्थ नही लिखे गए। वे अलकारो को पूर्ववर्ती अधिकांश आलोचको की भाति काव्य मे प्रमुख स्थान न देकर गौण स्थान ही देते हैं। नन्द दुलारे वाजपेयी, 'अज्ञेय' आदि कुछ आलोचको ने तो उत्कृष्ट काव्य मे अलकारो की अनिवार्यता भी नही मानी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी आदि कुछ आलोचको ने नई कविता के लिए नए-नए अलकारो का प्रयोग अनिवार्य समझा है। उनका विचार है कि जब नवयुग की कविता ही बदल गई है तो उसके अलकार भी बदलने चाहिए।[1] द्विवेदी काल मे अलकरण की अपेक्षा स्वाभावोक्ति को महत्त्व दिया जाने लगा था। पंडित पद्म सिंह शर्मा तथा कृष्ण विहारी मिश्र स्वाभावोक्ति को महत्त्व देते थे। इस युग मे शब्दालकारो की अपेक्षा अर्थालकारो का महत्त्व अधिक समझा गया। शब्दालकारो को काव्य मे केवल आडम्बर मात्र ही माना गया।

शुक्ल जी जैसे कुछ आलोचको ने अलंकारो को काव्य मे साध्य की अपेक्षा साधन मनाने पर भी इनकी प्रभावोत्पादकता की शक्ति को स्वीकार किया है।[2] उनके विचार से अलकार वस्तु, व्यापार, गुण तथा भाव के उत्कर्ष वर्द्धक है।[3] शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास ने उन्हे रमणीयार्थ के उत्कर्षक के रूप मे स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होने मम्मट (वाक्य रसात्मक काव्य) की अपेक्षा पडितराज जगन्नाथ के (रमणीयार्थ प्रतिपादक. शब्द. काव्य) दृष्टिकोण को अपनाया है। श्यामसुन्दर दास जी ने पाश्चात्य प्रभाव के अनुसार रमणीयार्थ मे सौन्दर्य की भावना का भी समाहार करके अलकारो को उसका साधन माना है। उन्हे वस्तु के बोधक मात्र के रूप मे इस काल मे किसी आलोचक ने स्वीकार नही किया है। 'सुधांशु' जी ने

---

१ देखिए 'भारतीभूषण' (स० १९८७), पृ० ४१।

२ देखिए 'गोस्वामी तुलसीदास' (सन् १९४०), पृ० १६१।

३· देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृ० २४७।

पाश्चात्य साहित्यालोचन के अनुसार अलंकारों के अस्तित्व की कसौटी 'कल्पना' मानी है। वे जिस अलंकार में कल्पना का तत्व न हो उसमें अलंकारत्व नहीं मानते।[१]

इस काल में अलंकारों की संख्या का निर्धारण पुराने आचार्यों की भांति न होकर नवीन रूप में हुआ है। इन आलोचकों का विचार है कि जब अलंकार, कथन की शैलियाँ मात्र है तो उनकी संख्या की कोई सीमा भी नहीं हो सकती। इसलिए इनके द्वारा अलंकारों के विकास की अनेक सम्भावनाएं मानी गई हैं। प्रायः सभी आलोचकों ने नए-नए अलंकारों की सम्भावनाएं मानी हैं। उनका विचार है कि अलंकारों की योजना, देश, काल तथा पात्र के अनुसार होनी चाहिएं, क्योंकि देश तथा काल के परिवर्तन से अलंकारों में भी परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नई कविता के लिए नए अलंकारों की आवश्यकता का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है तथा शुक्ल जी ने नवीन अलंकारों की अनेक सम्भावनाएं मानी हैं।

इन आलोचकों ने परम्परागत-उपमानों को आधुनिक-काव्य के सर्वथा अनुपयुक्त समझा है। इनके द्वारा अलंकारों के क्षेत्र में वे ही उपमान उचित समझे गए हैं, जिनकी रमणीयता, भव्यता, विशालता आदि के संस्कार, जनसाधारण के हृदय पर पड़े हुए हों। इन्होंने अप्रस्तुत-विधान के लिए प्रकृति के अनन्त रूपों तथा व्यापारों का ग्रहण इसलिए उपयुक्त समझा है कि वह गूढ़ व्यंजना की उत्पत्ति में सहायक होता है।[२]

प्रकृति के बाह्य-उपमानों को यह आलोचक केवल मनमाने आरोप मात्र समझते हैं। 'सुधांशु' जी ने अप्रस्तुत की योजना के लिए प्रस्तुत का आधार आवश्यक समझा है, क्योंकि वे मानते हैं कि अभिव्यंजना का निश्चित आधार अनुभूति ही होती है।[३] इनका विचार है कि अप्रस्तुत योजना में कल्पना तथा अनुभूति का ही आधार होता है। इन्होंने अप्रस्तुत-विधान में आकार-साम्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य का महत्त्व विशेष रूप में माना है तथा उन्हीं उपमानों को सुन्दर समझा है, जिनमें बिम्ब-ग्रहण कराने की शक्ति होती है।

इस काल में पाश्चात्य प्रतीकवाद के प्रभाव-स्वरूप, हिन्दी में उपमानों की अपेक्षा प्रतीकों के अधिकाधिक प्रयोग पर ज़ोर दिया जाने लगा। प्रतीकों का उपमानों से अधिक महत्व प्रतिपादित किया गया। शुक्ल जी ने सत्काव्य में अप्रस्तुत या उपमान में प्रतीकत्व की विशेष आवश्यकता समझी है। प्रतीकों में भावना को जाग्रत करने की शक्ति तथा उपमानों में केवल सादृश्य या साधर्म्य माना

---

१. देखिए 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (तृतीय संस्करण), पृ० ८९।
२. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९), पृ० ७५२।
३. देखिए 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (तृतीय संस्करण), पृ० १०१।

गया है ।' प्रयोगवादी कवियो ने प्रतीको मे यौन-भावना का आधार स्वीकार किया है, जो फ्रायड के प्रभाव के कारण है ।

प्रतीको के अतिरिक्त इन आलोचको द्वारा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के दूसरे तत्व कल्पना का विवेचन अलकारो के प्रसग मे प्रभूत रूप मे किया गया है । इनके विचार से कल्पना, अप्रस्तुत वस्तुओ के सस्कार हृदय मे जमाती है तथा प्रकृति के अनन्त रूपो और व्यापारो की व्यजना को ग्रहण करा कर, साम्य विधान कराने मे योग देती है । पत जी ने कल्पना का उल्लेख न करके, शब्दो की विभिन्न शक्तियो तथा छन्दो के सम्मिश्रण तथा सामन्जस्य द्वारा, अलकारो का भावो की अभिव्यक्ति मे सहायक होना माना है । शब्द की शक्तियो मे भी कल्पना का कार्य होता है । अलकार की उत्पत्ति मे छन्दो का आधार अन्य लेखको ने नही माना है, क्योकि अलकार तो विना छन्द के भी होते है । यह भी अनिवार्य नही माना जा सकता कि छन्दो के सामन्जस्य से अलकारो मे विशिष्टता आ ही जाएगी ।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के प्रभाववश, हिन्दी मे नवीन अलकारो का भी समावेश किया गया है । मानवीकरण, ध्वन्यात्मकता आदि पाश्चात्य अलकारो का प्रयोग छायावादी काव्य मे प्रचुरता से हुआ है । इसी प्रकार प्रकृति के रूपो और व्यापारो पर आरोपित होने वाले भाव, तथ्य आदि भी अलकार माने गए । अमूर्त्त भावना के लिए मूर्त्त, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमानो का प्रयोग भी पाश्चात्या साहित्य-शास्त्र के अनुसार विधेय माना गया है । इस प्रकार परम्परागत विचार-पद्धतियो से हटकर, इन आलोचको ने इस क्षेत्र मे चिन्तन के नए मार्ग खोले हैं ।

प्रसाद जी ने अलकारो को अभिव्यक्ति का एक अग मात्र न मानकर, अनुभूति का साधक माना है । यह परिभाषा भी पाश्चात्य दार्शनिक क्रोचे की शब्दावली मे व्यक्त हुई है । किन्तु रामचन्द्र शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास जी से भिन्न नही है । प्रसाद जी ने अलंकारो को अनुभूति का अग मान लिया है । हिन्दी मे पाश्चात्य-काव्य-सिद्धान्तो के आधार पर ही यह विवेचन भी प्रारम्भ हुआ कि अलकारो का स्थान अनुभूति के अन्तर्गत हैं या अभिव्यक्ति के । शुक्ल जी अलकार तथा अलकार्य का भेद मानते हैं । उन्होने अलकारो को वस्तु के अन्तर्गत नही माना है । प्रसाद जी ने स्पष्ट ऐसा नही कहा है ।[1] वाजपेयी जी ने भी अलकारो को भाव अथवा मानव वृत्तियो से पृथक् माना है । विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा 'सुधांशु' जी ने अभिव्यजना-वादियो की भाति, अलकारो को उक्ति का अग नही माना है । सुधाशु जी ने इस तथ्य का युक्तियुक्त विवेचन भी किया है ।[2] इस प्रकार अधिकाश आधुनिक आलोचको ने क्रोचे के मत से भिन्न, अलकारो को उक्ति से पृथक् माना है ।

---

१ देखिए 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध'—'प्रसाद' (स० १९९६), पृ०२५-२६ ।

२. देखिए 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' (तृतीय सस्करण), पृ० ७ ।

वाजपेयी जी ने शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास आदि आलोचको की भाति अलकारो को काव्य के साधक के रूप मे अनिवार्य नही माना है। उनका विचार है कि उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही कार्य करते हैं, जो दूध मे पानी।[1] वे कहते है कि काव्य की उत्कर्षपूर्ण स्थिति मे सभी सम्प्रदाय, अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि मटियामेट हो जाते है तथा इन सब की सत्ता ही नही रहती। वे अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की काव्य के लिए अनिवार्यता नही मानते।

इन आलोचको ने अलकारो का प्राचीन वर्गीकरण छोडकर उनका नवीन आधार पर वर्गीकरण किया है। 'सुधाशु' जी ने इनका भाव, न्याय, काल, वाणी तथा क्रिया के आधार पर वर्गीकरण किया है। अलकारो मे प्रस्तुत की प्रधानता तथा अप्रस्तुत की गौणता तर्क के आधार पर स्वीकृत की गई है। इनके द्वारा मानोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर अलकारो के मूल मे अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति का विवेचन भी किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-काल के अलकार विवेचन मे भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओ का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय विचार-पद्धति के अनुसार अलकारो की सख्या के विवेचन के परिणाम-स्वरूप अलकारो की अनतता स्थापित की गई है। अलकारो के मूल मे किसी विशेष अलकार के विवेचन के साथ-साथ कल्पना-शक्ति का भी विवेचन किया गया है, यद्यपि कल्पना तथा मूल-अलकारो की प्रक्रिया का स्पष्ट तथा वैज्ञानिक सम्बन्ध इन आलोचको द्वारा स्थापित नही हो सका है। इनके द्वारा रस तथा रमणीयार्थ के साधन के रूप मे अलकारो की स्वीकृति करके प्राय· उत्तर-ध्वनि-कालीन सस्कृत आचार्यों की परम्परा का ही निर्वाह हुआ है। अलकारो का वर्गीकरण, लक्षणो का विवेचन आदि परम्परागत शैली मे ही किया गया है। इस काल मे अलकारो की नई उद्भावनाए नही हुई वरन् केवल अलकारो के स्वरूप का वैज्ञानिक विवेचन ही किया गया। अलकारो मे 'कल्पना' का स्थान, सौन्दर्य के साधक के रूप मे अलकारो का महत्त्व, उपमान तथा प्रतीको का अन्तर तथा प्रतीको का महत्त्व, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त, अमूर्त्त के लिए मूर्त्त-विधान, अलकारो की अनिवार्यता, अलकार तथा अलकार्य का भेद, आकार-साम्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य का महत्व आदि विषय इन आलोचको द्वारा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आधार पर विवेचित हुए।

इस प्रकार इन आधुनिक आलोचको के अलकार-विवेचन के विशेष तथ्य ये है :—

१—अलकार भाव प्रकाशन के साचे हैं तथा इनकी सख्या का कोई निर्धारण नही हो सकता। वे अनेक है। इसलिए नवीन अलकारो का ग्रहण विधेय है।

२—इनका उद्देश्य भाव, सौन्दर्य, अनुभूति, राग आदि को तीव्र करना है।

---

१ 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' (प्रथम सस्करण), पृ० ६९।

३—रस अथवा रमणीयार्थ साध्य है तथा अलकार उनके साधक अथवा उत्कर्ष हैं।

४—क्रोचे के मतानुसार अलकार उक्ति के अग नही माने गए हैं। अलंकार तथा अलकार्य मे भेद माना गया है।

५—अलंकार वस्तु का बोध मात्र नही कराते वरन् भावो की तीव्र अनुभूति भी कराते हैं।

६—प्राय सभी आधुनिक आलोचक रसवादी हैं। इन्होने अलकारो का काव्य मे गौण स्थान ही माना है।

७—कुछ आलोचको ने उत्कृष्टतम काव्य के लिए अलकारो की अनिवार्यता नही मानी है।

८—नई कविता के लिए नए अलकारो की आवश्यकता मानी गई है। अलकार देश, काल के अनुकूल परिवर्तित होने वाले है। वे सब कालो के लिए समान नही होते हैं।

९—अलकारो का कार्य-साधन 'कल्पना' करती है। बिना कल्पना के अलंकारो मे काव्यत्व नही होता।

१०—अप्रस्तुत विधान के लिए प्रकृति के अनन्त रूपो तथा व्यापारो का गुण ही गूढ व्यजनाकारी समझा गया है।

११—अप्रस्तुत योजना मे आकार-साम्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य का महत्व विशेष रूप मे होता है।

१२—उपमानो की अपेक्षा प्रतीको का प्रयोग वाछनीय समझा गया है। प्रतीको मे भावो को जाग्रत करने की विशेष शक्ति तथा उपमानो मे केवल सादृश्य तथा साधर्म्य ही माना गया है।

१३—पाश्चात्य नवीन अलंकारो को ग्रहण किया गया है। मूर्त्त के लिए सूक्ष्म तथा सूक्ष्म के लिए मूर्त्त उपमान, नवीन सवेदना की प्रेषणीयता के लिए अनिवार्य समझे गए हैं।

रीति सम्प्रदाय का विकास

सस्कृत साहित्य मे रीति सम्प्रदाय का विकास

रीति सम्प्रदाय का विकास सस्कृत साहित्य के अन्तर्गत दो भागो से विभाजित किया जा सकता है (१) पूर्व-ध्वनि काल, तथा (२) उत्तर-ध्वनि-काल। पूर्व-ध्वनि-काल मे वामन के द्वारा रीति, काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित हो गई थी[1] तथा उसका गम्भीर और वैज्ञानिक विश्लेषण तथा विवेचन किया गया था।

१. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' 'काव्यालकार सूत्र' वामन १।२।६।

काव्य के वस्तु तथा रीति नामक दो तत्वो मे से रीति की प्रधानता स्थापित की गई थी, यद्यपि वस्तु का भी विरोध नही किया गया था। उनके विचार से रीति का अर्थ "विशिष्ट पद-रचना' था।[1] उन्होने रीति को गुणो पर आश्रित किया था।[2] गुण शब्द तथा अर्थ के धर्म माने गए थे।[3] उनको रस के आश्रित नही माना गया था। कान्ति गुण का अग होने के कारण रस ही गुणो के आश्रित हो गया था (दीप्ति रसत्व कान्ति)। अलकारो से गुणो का महत्त्व अधिक माना जाने लगा था। गुण काव्य के नित्य धर्म के रूप मे अपनाए गए थे तथा अलकार अनित्य। गुणो के अभाव मे काव्य की शोभा नही मानी गई थी। अलकारो को काव्य के सौन्दर्य-वर्द्धक के रूप मे माना गया था, उत्पादक के रूप मे नही।

रीति शब्द से पूर्व, भारत ने प्रवृति, बाण ने शैली, भामह ने काव्य, दण्डी ने मार्ग आदि इसके विभिन्न नाम रखे थे। आनन्दवर्द्धन ने रीति को सघटना की सज्ञा दी। राजशेखर ने प्रवृति, रीति तथा वृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश करके इनका सामन्जस्य स्थापित किया था। भोज ने इन्हे कवि-गमन-मार्ग का नाम दिया। मम्मट ने वृत्तियो तथा रीतियो का एकीकरण स्थापित किया था। इनकी वृत्ति की परिभाषा यह है "वृत्ति नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार है।"[4] उन्होने तीन गुणो मे अन्य गुणो को समाविष्ट करके रीति, वृत्ति तथा गुणो का भी एकीकरण प्रस्तुत कर दिया।[5] विश्वनाथ ने रीति को 'पदो की सघटना' अथवा 'अगसस्थान' का नाम दिया।[6] इस प्रकार प्रवृत्ति, रीति, वृत्ति आदि शब्दो का समय के साथ-साथ एकाकार हो गया। इन सब नामो मे प्रत्येक शब्द अपने मूल तत्व के आधार का सूचक था। पर इनमे से रीति शब्द की प्रधानता अन्त तक बनी रही।

भरत ने प्रवृतियो के विभाजन का आधार वेश, भाषा, आचार तथा वार्ता को माना था।[7] बाण ने भौगोलिक आधार पर भाषा के विचार से इनका वर्गीकरण किया था। इनके विभाजक आधार, गुण तथा अलकार थे। गौड तथा प्रतीच्य मे गुणो का आधार और उदीच्य तथा दाक्षिणात्य मे अलकारो का महत्त्व स्वीकार किया गया था।[8] भामह तथा वामन ने उनके एक अन्य प्रकार के विभाजन का आधार गुण को

१ 'विशिष्ट पद-रचना रीति' वही १।२।७
२ 'विशेषो गुणात्मा' वही १।२।८
३ 'काव्य शोभाया कर्तारो धर्मा गुणा.' वही ३।१।१
४ 'वृत्तिनियतवर्णगतो रस विषयो व्यापार' (काव्य प्रकाश ९) सू० १०५।
५ 'एतास्तिस्रो वृत्तय· वामनादीना मते वैदर्भी गौडी पाचाल्याख्या रीतियो मता' वही सू० १११
६ 'पद संघटना रीतिरगसस्या विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीना' (साहित्य दर्पण) ९।१
७ 'पृथिव्या नाना देश वेषभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्ति.' नाट्य शास्त्र १४।३६
८ देखिए 'हर्ष चरित्र'—१।२

माना । रुद्रट के समय तक प्रायः इनका भौगोलिक आधार पाया जाता है। उन्होने समासो को रीति के मूल तत्व के रूप मे स्वीकार किया तथा रस के साथ रीति के प्रयोग की चर्चा करके रस का भी उनके मूल मे अप्रत्यक्ष आधार माना।

आनन्दवर्धन ने रुद्रट की भाति रीति का मूल तत्व समास ही माना है। उन्होने गुणो तथा समासो दोनो को ही रीति का मूल तत्व मान कर गुणो को इनका आन्तरिक तथा समास को बाह्य तत्व समझा है। उन्होने रस के अतिरिक्त औचित्य को भी रीति का नियामक हेतु माना है तथा उसके तीन भेद, वक्तृ, वाच्य तथा विषय किए है। राजशेखर ने समास के अतिरिक्त अनुप्रासो को भी रीति का मूल तत्व माना है। उनके तीन कल्पित नए आधार-तत्व, योगवृत्ति, उपचार तथा योगवृत्ति-परम्परा को भी मान्यता मिली है। कुन्तक ने रीतियो का सम्बन्ध स्वभाव से जोड कर, सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम स्वभाव के अनुसार इनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। मम्मट ने रीति का एक नया तत्व वर्ण-गुम्फ माना, क्योकि उन्होने प्रत्येक गुण का सम्बन्ध वर्गो से स्थापित कर दिया था। इस प्रकार वे रस, गुण-वर्ण-गुम्फ आदि को रीति का मूल तत्व मानते है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने वर्ण-सयोजना शब्द-गुम्फ तथा समास को रीति के मूल तत्व के रूप मे ग्रहण किया। इस प्रकार सस्कृत साहित्यालोचन के अन्तर्गत अलकार, गुण, समास, औचित्य, अनुप्रास, स्वभाव, वर्ण-गुम्फ, वर्ण-सयोजना आदि रीति के मूल तत्व माने गए।

भरत ने भौगोलिक आधार पर चार प्रवृतियो का उल्लेख किया था, आवन्ती, दाक्षिणात्या, उड्रमघी तथा पाँचाली।[1] यह नामकरण प्रातो के आधार पर था। बाण ने चार शैलियो के नाम उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्या तथा गौड़ रखे थे। भामह ने केवल दो काव्य, वैदर्भ तथा गौड माने है। दण्डी ने भी इन्ही दो को मार्गो का नाम दिया है। वामन ने वैदर्भी तथा गौडी के अतिरिक्त पाचाली को भी तीसरी रीति माना है। रुद्रट ने इनमे एक चौथी रीति, लाटी का समावेश किया। आनन्दवर्धन के समय तक रीतियो का भौगोलिक आधार पूर्णतया मिट गया। उन्होने असमासा, मध्य समासा तथा दीर्घ समासा नामक तीन रीतियो को स्वीकार किया है। भोज ने दो और रीतियाँ आवन्तिका तथा मागधी मानी है, पर उनका विशेष प्रचार नही हुआ। इस प्रकार उत्तर-ध्वनि-काल मे मम्मट के पश्चात् 'केवल तीन रीतिया, वैदर्भी, गौडी तथा पाचाली ही मान्य हुई, जिनके नाम तो भौगोलिक आधार पर रहे पर विकास, काव्य के उपादानो को ग्रहण करके हुआ।

उत्तर-ध्वनि-काल मे आचार्यों का ध्यान रीतियो के बाह्य वर्णन तथा वर्गीकरण की ओर से हटकर उनके मूल तत्व के सूक्ष्म विश्लेषण मे लग गया। रीतिया रस, रूप, सौन्दर्य का साधन मानी जाने लगी। उनमे वस्तु तत्व की प्रधानता जाती रही। वे रसाभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। समास, अनुप्रास, वर्ण-गुम्फ, गुण आदि

---

१. देखिए 'नाट्य शास्त्र' १४।३६

उनके मूल तत्व निर्धारित होने पर भी वे रसादि की उत्कर्षक मानी जाने लगी। काव्य मे वस्तुतत्व की प्रधानता का विचार होने लगा तथा काव्य मे वस्तु को साध्य और रीतियो को उसका साधन समझा जाने लगा। वामन ने रीतियो को विशिष्ट पद-रचना कहा था और गुणो के साथ उसका नित्य सम्बन्ध माना था। यह बात उत्तर-ध्वनि-काल के प्राय सभी आचार्यो ने भी मानी है। किन्तु वामन रीति को शब्द और अर्थ के शोभाकारक गुणो के रूप मे मानते थे। वे रीतियो को अपने आप मे सिद्ध समझते थे। उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यो ने गुणो को रस के धर्म के रूप मे स्वीकार करके रीति को रस का माध्यम माना।[1] वे रीति को शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाला चमत्कार मानते थे। यह ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुणो द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त तथा परिव्याप्त करती हुई उसे रस दशा तक पहुँचाने का साधन मात्र समझी गई।

पूर्व-ध्वनि काल के आचार्य अलकार तथा अलकार्य का भेद न करके समस्त शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य को अलकार मानते थे, पर उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यो ने अलकार तथा अलकार्य, वस्तु तथा रीति, प्राण तथा शरीर का स्पष्ट भेद करके रस-ध्वनि को काव्य का प्राणतत्व और रीति को उसका अग-सस्थान अथवा बाह्य स्वरूप माना। रीति काव्य का अग-सस्थान बन गई तथा उसके बाह्य अग, वर्ण-सयोजन, पद-रचना, शब्द-गुम्फ, समास आदि हो गए और गुण, स्वभाव आदि उसके आतरिक अग माने जाने लगे। इन बाह्यागो का समन्वय आतरिक अगो से हो गया तथा इन आतरिक अगो के समन्वित रूप के आश्रय से रीति, रस-ध्वनि की अभिव्यक्ति का साधन हो गई। इस प्रकार उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यो ने रीति के द्वारा, गुण, अलकार आदि का भी रस-ध्वनि से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे रीति सम्प्रदाय का विकास

अलकार तथा रस सम्प्रदाय की भाति रीति को काव्य की आत्मा के रूप मे हिन्दी के आचार्यो ने स्वीकार नही किया, किन्तु उन्होने व्यावहारिक रूप मे काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए रीति, गुण, पद-रचना तथा निर्दोषता आदि की ओर विशेषरूप मे ध्यान दिया। रसवादी कवियो ने भी रस के उत्कर्ष के लिए रीति को व्यावहारिक रूप मे मान्यता दी। स्वय, विद्यापति, सूर, तुलसी आदि ने रीति के विभिन्न तत्वो का काव्य मे प्रयोग करते हुए सत्काव्य के लिए उसके महत्त्व को स्वीकार किया। रीति की ओर अधिक प्रवृत्ति होने के कारण नन्ददास को 'जडिया' की उपाधि मिली है। रीति-काल के प्रमुख कवियो ने अपने काव्य मे रीति की महत्ता का विशेष ध्यान रखा है।

इस काल मे रीति का सैद्धान्तिक विवेचन मम्मट के आधार को ग्रहण करके वृत्तियो के रूप मे ही हुआ। यह वृत्ति-विवेचन वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत हुआ है। चिन्तामणि रीति को काव्य की आत्मा न मानकर उसे अर्कसूरि की भाति (स्वभा-

१. 'पदसघटना रीतिरगसस्था विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्' (साहित्य दर्पण) ६।१

वैरिव रीतिभि) काव्य का स्वभाव तथा उत्कर्ष-वर्द्धक तत्व मानते है। वे स्पष्टत. रसवादी है तथा शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर और रस को उसका उसका प्राण मानते है। उनका विचार है कि अलकारादि काव्य के आभूषण है, गुण, शौर्यादि गुणो के समान है तथा वृत्तियाँ उसकी वृत्ति के समान है। इस प्रकार वे रीति को काव्य का बाह्य-अग न मानकर आन्तरिक अग मानते है। उन्होने रीति से वृत्ति को अधिक व्यापक नही माना है।

देव का रीति वर्णन चिन्तामणि तथा कुलपति मिश्र की अपेक्षा मम्मट की परम्परा से हटकर है। वे रीतियो को काव्य के रस से अभिन्न मानते है तथा उन्हे काव्य का द्वार कहते हैं (ताते पहले बरनिए, काव्य द्वार रसरीति)। उन्होने अन्य आचार्यो के प्रतिकूल रीति और गुणो का पार्थक्य मिटा कर उन्हे एक कर दिया है तथा प्रसाद, ओज, माधुर्य को ही रीति नाम से अभिहित किया है। दास ने मम्मट की भाँति रीतियो का वर्णन न कर वृत्तियो का ही विवेचन किया है। जगतसिह ने मम्मट की अपेक्षा वामन का अनुकरण किया है। इस प्रकार आलोच्य-काल से पूर्व रीति का विवेचन अधिकाश मे मम्मट के अनुकरण पर ही हुआ। रीति के विवेचन मे इस युग के आचार्यो ने कोई विशेष मौलिक योग नही दिया है। वे केवल, पुरातन ज्ञान का ही परिचयात्मक विवरण अपनी रुचि के अनुसार देते रहे।

आलोच्य-काल मे हिन्दी मे रीति सम्प्रदाय का विकास

इस काल मे रीति सम्प्रदाय के विकास की भी स्पष्टत. दो धाराएँ दिखाई पड़ती है। पहली उन आधुनिक रीतिकारो की जिन्होने परम्परागत रूप मे रीति का विवेचन प्राचीन आचार्यो के आधार पर किया है तथा दूसरी नवीन आलोचको की, जिन्होने पाश्चात्य आलोचना के नवीन सिद्धान्तो तथा प्राचीन आचार्यो के मतो का वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन दोनो प्रकार के आलोचको ने ही रीति को काव्य की आत्मा के रूप मे ग्रहण नही किया। आधुनिक रीतिकारो को प्राय मम्मट का ही मत मान्य रहा। इस काल मे रीति तथा वृत्ति की प्राय अभिन्नता मानी गई। इस सम्प्रदाय का विवेचन अलकार तथा रस सम्प्रदायो की अपेक्षा अधिक विस्तृत नही रहा।

आधुनिक आलोचको के रीति विवेचन पर पाश्चात्य काव्य के नवीन सिद्धान्तों तथा विचारधाराओ का पर्याप्त प्रभाव पडा, जिसके फलस्वरूप रीति को शैलीरूप में ग्रहण करके, उसका चिन्तनपूर्ण विवेचन तथा गम्भीर व्याख्या की गई। इनके रीति विवेचन मे पाश्चात्य, शास्त्रीय, स्वच्छन्दतावादी, सौन्दर्यवादी, मनोविश्लेषणवादी तथा समाजवादी सिद्धान्तो का ही प्रभाव नही पडा वरन् हिन्दी के नवीन रचनात्मक-साहित्य, प्राचीन काव्य-शास्त्र तथा हिन्दी भाषा की प्रकृति आदि का भी आधार ग्रहण किया गया। अन्य सम्प्रदायो की भाति आधुनिक आलोचको ने इस सम्प्रदाय का भी नए रूप मे विकास किया। प्राचीन तथा नवीन के सम्मिश्रण से इसके अन्तर्गत विभिन्न तत्वो का समावेश ही नही हुआ, वरन् इसके स्वरूप को भी, अधिकाधिक

भी आ सकते है। पुनरुक्ति मे वर्णावृत्ति तथा पदावृत्ति भी मानी गई है, जो वृत्तियों तथा गुणो के स्वरूप-निर्माण का अग है।

उनका विचार है कि रीतियो का प्रभाव अर्थालकारो पर कुछ नही पडा है। उन्होने शब्दालकारो को ही विशेष रूप मे प्रभावित किया है। किन्तु वृत्यनुप्रास का प्रचार तो वास्तव मे रीति तथा गुणो के ही आधार पर बढा है। उनका प्रभाव अर्थालकार पर पडना आवश्यक भी नही है। शब्दो से ही सम्बन्ध होने के कारण वे शब्दालकारो पर ही प्रभाव डाल सकती है। शब्दालकारो तथा रीतियो की पारस्परिक निकटता है।

सीताराम शास्त्री

इनके ग्रन्थ 'साहित्य सिद्धान्त' मे अन्य १३ काव्यागो के समान वृत्ति का वर्णन भी मम्मट के अनुसार ही किया गया है। इसका विवेचन गद्य मे है तथा उदाहरण सस्कृत के दिये गए है।

अर्जुनदास केडिया

केडिया जी ने पोद्दार जी के समान 'भारती भूषण' मे शब्दालंकारो के प्रसग मे अनुप्रास के अन्तर्गत वृत्तियो का वर्णन किया है। उनके वृत्ति-विवेचन मे एक नवीनता यह है कि उन्होने वर्णो के अतिरिक्त वृत्तियो के लिए स्वरो को भी आधार माना है। उनका विचार है कि उपनागरिका तथा कोमला के लिए ह्रस्व स्वर और परुषा के लिए दीर्घ स्वर उपयुक्त होते है।[1] वे समझते है कि स्वर, अनुप्रासवाहक होते है। इस बात को लक्षण के अन्तर्गत न लिखकर उन्होने उपनागरिका वृत्ति की टिप्पणी मे दिया है। इस रूप मे उनका मम्मट से मतभेद है।

बिहारीलाल भट्ट

भट्टजी ने 'साहित्य सागर' (स० १९९४) की नवी तरग में रीति, वृत्ति तथा काव्य-दोष आदि का वर्णन किया है। उनका यह विवेचन विद्वतापूर्ण है। यह प्राचीन शैली मे हुआ है तथा सामान्य मूल्य का है।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धुओ के 'साहित्य पारिजात' मे भी वृत्तियो का वर्णन अनुप्रास के ही अन्तर्गत किया गया है। इसमे भी वृत्तियो के तीन भेद माने गए है—उपनागरिका या वैदर्भी, परुषा या गौड़ी और कोमला या पाचाली। उपनागरिका में चित्तद्रावक वर्णो मे रचना होती है। इसमे माधुर्य गुण की व्यजना करने वाले वर्णो का प्रयोग होता है तथा कोमला या पाचाली मे प्रसाद की व्यंजना करने वाले वर्णो का। मिश्र

---

१. देखिये 'भारती भूषण' (स० १९८७) टिप्पणी, पृष्ठ ८।

बन्धुओं ने सीधे 'काव्य प्रकाश' के लक्षणों को आधार न मानकर दास के 'काव्य निर्णय' को अपना आधार बनाया है। दास का 'काव्य निर्णय' स्वयं मम्मट से प्रभावित है। उनके वृत्ति वर्णन की एक विशेषता, जो अन्य आचार्यों में नहीं पाई जाती, यह है कि अन्य आचार्य लक्षण तथा उदाहरण देते समय हिन्दी की प्रकृति का ध्यान न रखकर, परम्परागत रूप में संस्कृत भाषा की प्रकृति का ही ध्यान रखते थे, किन्तु उन्होंने माधुर्य-व्यंजक वर्णों का विश्लेषण हिन्दी की प्रकृति के ही अनुसार किया है। उन्होंने उदाहरण स्वरूप बताया है कि 'ण' यद्यपि संस्कृत में माधुर्य-व्यंजक है तथापि ब्रजभाषा में नहीं है। इसी प्रकार उनका यह विचार है कि हिन्दी के माधुर्य-व्यंजक वर्णों को हिन्दी की प्रकृति के ध्यान से देखना उचित है।

उपरोक्त विवेचन का सार यह है कि पूर्ववर्त्ती काल के समान ही आलोच्य-काल के प्रारम्भ में इन आधुनिक रीतिकारों के द्वारा, अधिकाँश में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर, अनुप्रास के अन्तर्गत, वृत्तियों अथवा रीतियों का विवेचन होता रहा। इनके द्वारा 'काव्य निर्णय' का भी आधार लिया गया। वृत्तियों और रीतियों को उसी के अनुसार माना जाता रहा। कहीं-कहीं तो 'काव्य प्रकाश' का रूपान्तर मात्र प्रस्तुत कर दिया गया। 'रसाल जी' जैसे ध्वनिवादियों ने 'रीति' को रचना-ध्वनि या वर्ण-ध्वनि के अन्तर्गत माना। रीति को काव्य की आत्मा के रूप में आलोच्य-काल में भी किसी ने ग्रहण नहीं किया। उत्तर-ध्वनि-कालीन विचारधारा के अनुसार रीति को काव्य का अंग-संस्थान अथवा बाह्य-स्वरूप माना गया तथा रस-ध्वनि को उसका प्राणतत्त्व।

रीति के मूल तत्त्व के विवेचन में भी मम्मट का ही मत सामान्य रूप में माना जाता रहा। इन आलोचकों द्वारा गुण, वृत्ति तथा रीति की अभिन्नता मानी गई। 'रसाल जी' ने रीतियों का आधारभूत सिद्धान्त 'प्रयत्न लाघव' माना यद्यपि प्रयत्न-लाघव के अतिरिक्त ध्वनि-साम्य तथा पुनरुक्ति और कुछ अंशों में कौतूहल-प्रियता भी उसके आधार हो सकते हैं। केड़िया जी ने अपने वृत्ति-विवेचन में व्यंजना के अतिरिक्त स्वरों को भी वृत्तियों का आधार मानकर मम्मट से अपना भेद प्रदर्शित किया।

इस काल में हिन्दी की प्रवृत्ति का ध्यान रखकर भी कुछ नवीनता का समावेश किया गया। मिश्रबन्धुओं ने वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत माधुर्य-व्यंजक वर्णों का विश्लेषण हिन्दी की प्रकृति के आधार पर करके यह बताया कि 'ण' यद्यपि संस्कृत में माधुर्य-व्यंजक है पर ब्रजभाषा में नहीं है। इसलिए माधुर्य-व्यंजक वर्णों को हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ही रखना उचित है।

इन आलोचकों के द्वारा रीति का विवेचन प्रायः सैद्धान्तिक रूप में ही किया गया, व्यावहारिक रूप में नहीं। व्यावहारिक रूप में तो यह समय रीति के विरुद्ध ही था। भाषा में विशिष्ट-पद-रचना, वर्ण-संयोजन, शब्द-गुम्फ, समास आदि की प्रति-क्रिया के कारण काव्य में इतिवृत्तात्मकता तथा रूखापन ही अपनाया गया। इस

समय प्रधानता अलकार तथा रस सम्प्रदाय के विवेचन की ही रही। रीति का वर्णन तो अलकारो के अन्तर्गत ही होता रहा। इन रीतिकारो पर पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का भी प्रभाव दिखाई नही पडता। पुरानी परम्परा ही कुछ क्षीण नवीनताओ के साथ चलती रही। रीति के लिए वृत्ति, रीति तथा रचना, केवल तीन नामो का ही उल्लेख हुआ। प्रमुखता 'वृत्ति' की ही रही। सस्कृत काल के अनुसार रीति के मूल तत्त्वो का विवेचन, उसका काव्य के प्राण तथा शरीर (वस्तु तथा रीति) पक्ष मे स्थान, काव्य के उत्कर्ष के लिए उसका मूल्य आदि विषयो का कोई विवेचन इन आलोचको के द्वारा नही हुआ।

आधुनिक आलोचक

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी के रीति विषयक विचार किसी एक ग्रन्थ मे प्राप्त न होकर उनके विभिन्न लेखो तथा ग्रन्थो मे बिखरे हुए है। द्विवेदीजी ने रीति का विवेचन रूढि के अनुसार गुण, रीति, वृत्ति आदि का विवरण मात्र देकर नही किया है, वरन् काव्य भाषा के महत्व का प्रतिपादन करते हुए तथा उसकी शुद्धता पर विशेष बल देते हुए किया है। द्विवेदीजी के समय से ही पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों का विवेचन हिन्दी मे होने लगा था, इसलिए उन्होने रीति को आधुनिक शैली के रूप मे स्वीकार करके, उसके प्रमुख तत्त्व भाषा का ही विवेचन किया है।

द्विवेदीजी के युग मे काव्य की भाषा तथा गद्य की भाषा की समस्या प्रस्तुत थी। काव्य की भाषा ब्रजभाषा तथा गद्य की खडी बोली थी। वे इस अन्तर को मिटाने मे तो प्रयत्नशील रहे ही, साथ ही भाषा के महत्त्व का प्रतिपादन करने मे भी निरतर क्रियाशील रहे। उन्होने यूरिपाइडीज तथा वर्डस्वर्थ जैसे पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार काव्य-भाषा को सरल तथा सादी बनाने का प्रयत्न किया। उनका लक्ष्य खडी बोली को ही गद्य तथा पद्य की भाषा बनाने का था तथा इसी के लिए वे प्रयत्नशील रहे। वे भाषा को व्याकरण सम्मत तथा परिष्कृत बनाने के पक्ष मे थे। उनका विचार था कि शुद्ध भाषा द्वारा ही काव्यात्मक सुन्दर भाव अभिव्यक्ति पा सकते है। जब तक भाषा शुद्ध न होगी उसमे विशिष्ट गुणो का आना सम्भव नही होगा। भाषा को भाव प्रकाशन के योग्य बनाने के लिए उन्होने सस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग पर जोर दिया। उन्होने भाषा मे सरल, भावानुकूल तथा प्रभावपूर्ण शब्दो का प्रयोग विधेय माना। वे लिखते हैं कि "भाव चाहे जैसा ऊँचा क्यो न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दो द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए, जिनसे सब लोग परिचित हो। मतलब यह है कि भाषा बोलचाल की हो। क्योकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पडती है उतनी ही उसकी सादगी कम

हो जाती है।"[1] वे भाषा मे सर्वसम्मत तथा प्रचलित मुहावरो का प्रयोग भी स्तुत्य मानते थे।[2]

इस प्रकार द्विवेदीजी ने रीति (शैली) के भाषा नामक तत्त्व का विवेचन समयानुकूल साहित्य तथा परिस्थितियो के आधार पर करके रीति अथवा शैली का प्रधान तत्त्व भाषा को ही माना है। उनका विचार था कि वही भाषा उत्तम शैली की सूचक हो सकती है, जो शुद्ध, व्याकरण-सम्मत, सरल, सीधी तथा बोलचाल की हो। द्विवेदीजी यूरिपाइडीज की सरल तथा सहज शैली के समर्थक थे, जो वैदर्भीरीति के समीप है। यूरिपाइडीज के समान ही वे बोलचाल की भाषा के प्रयोग को अच्छा समझते थे। उनकी समर्थित शैली रोम की एटिक शैली के भी अनुकूल है। द्विवेदी जी के भाषा सम्बन्धी विचार प्रसाद गुण के अनुकूल है। वे उदात्त, गरिमामय तथा अलकृत भाषा शैली की अपेक्षा सरल, स्पष्ट, प्रचलित, मुहावरेदार तथा शुद्ध भाषा शैली के समर्थक है। इनकी यह शैली सिसरो की प्रसन्न, डायोनिसियस की 'स्मूथ' या 'फ्लोइग' की प्रवाहमयी तथा डिमेट्रियस की प्लेन 'सरल' शैली के अनुकूल है।

वर्डस्वर्थ की भाति द्विवेदीजी के प्रयत्नो से भी हिन्दी मे गद्य तथा पद्य की भाषा पूर्णतया एक सी न हो सकी। स्वय उनकी काव्य-भाषा रूखी तथा गद्यमय थी। वर्डस्वर्थ की भाति वे ग्राम्य भाषा को ही सहज मानव-भाषा नही समझते। उन्होने सहज बोलचाल की स्वाभाविक भाषा को काव्य की भाषा बनाने का आग्रह किया। उन्होने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी आचार्यो के अनुसार भाषा की महत्ता का विवेचन करके काव्य शैली का अथवा रीति के निर्माण मे योग दिया तथा हिन्दी रीति सम्प्रदाय मे भाषा की महत्ता को रीति, वृत्ति तथा गुण से भी आगे रखा। उनका भाषा का विवेचन वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ के आधार पर न होकर उचित शब्द के प्रयोग के आधार पर है। उन्होने भाषा के सौन्दर्य मे व्याकरण का आधार प्राथमिक रूप मे स्वीकार किया। उन्होने भाषा का भाषण से भी सम्बन्ध होना अनिवार्य माना है। इस प्रकार उन्होने रीति-सम्प्रदाय के विकास मे भाषा को उसके प्रमुख तत्त्व के रूप मे स्वीकार करके उसका युगानुकूल विवेचन किया, जिसका इस युग के साहित्य मे विशेष महत्व है। उन्होने परम्परागत शैली मे गुणो, रीतियो तथा वृत्तियो का ही विवेचन न करके, पाश्चात्य आचार्यो द्वारा निर्देशित भाषा के तत्त्वो को भी ग्रहण किया है। उन्होने शैली (रीति) के अन्य तत्त्वो की व्याख्या इसलिए नही की कि उस समय तो भाषा को शुद्ध, व्यवस्थित, सरल तथा समयानुकूल भावो की व्यजक बनाना ही आलोचको का प्राथमिक कार्य था। उनके द्वारा भाषा की

---

१ 'रसज्ञ रजन' (स० १९७९), पृ० ४८।

२ "इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए······हिन्दी उर्दू मे कुछ शब्द अन्य भाषाओ के भी आ गए हैं, वे यदि बोलचाल के है तो उनका प्रयोग सदोष नही माना जा सकता।' 'रसज्ञ रजन' (स० १९७९) पृ० ४८।

सरलता के अधिकाधिक महत्व-प्रतिपादन की इसी प्रवृति ने ही समकालीन काव्य मे इतिवृत्तात्मकता तथा रूखेपन को अधिक-से-अधिक स्थान दिया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी सिद्धान्त रूप मे रसवाद के समर्थक है। उनके लिए उक्ति का चमत्कार निजी महत्त्व नही रखता, भाव अथवा मार्मिक भावना ही महत्त्व की वस्तु है। वे रीति, अलकार, वक्रोक्ति आदि को काव्य की आत्मा तो नही मानते, परन्तु, रस के आश्रित रहकर उनकी सार्थकता अवश्य स्वीकार करते है। रस तथा भाव को सर्वोपरि मानकर उन्होने रीति, अलकार, चमत्कार, वक्रोक्ति आदि सबका सत्काव्य मे स्थान निर्धारित किया है। इनमे से किसी की भी अति होने पर उनके विचार से काव्य, काव्य नही रहता। वे कविता लिखने के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि की निपुणता के विचार मे प्रवृत्त करने वाली उक्ति को काव्य न मानकर सूक्ति मानते हैं।[1] उन्होने काव्य मे विशिष्ट पद-रचना के प्रभाव को स्वीकार किया है। उनका विचार है कि विशिष्ट प्रकार के शब्दो से युक्त भाषा, भाव तथा रस के उत्कर्ष मे सहायक होती है। किन्तु वे उसे वामन की भाति काव्य की आत्मा नही मानते।

उन्होने रीति, गुण, दोष, वृत्ति आदि का परम्परानुसार विवेचन नही किया है। उनके आलोचनात्मक निबन्धो तथा व्यावहारिक आलोचनाओ के अन्तर्गत ही उनके काव्य-भाषा सम्बन्धी विचार प्राप्त होते है। 'कविता क्या है' निबन्ध मे उन्होने काव्य-भाषा के बाह्य तथा आन्तरिक तत्त्वो का भी गम्भीर विवेचन किया है। रीति अथवा शैली के प्रमुखतत्त्व के रूप मे काव्य-भाषा के उन्होने चार मूल तत्त्व स्थिर किए है। उनके विचार से काव्य मे चित्रात्मकता लाने के लिए भाषा का पहला मूल तत्त्व गोचर-रूप-विधान करने वाले शब्दो का प्रयोग है। ये शब्द, अगोचर बातो या भावनाओ को लक्षणा शक्ति के द्वारा स्थूल गोचर रूप मे रखते है। इन शब्दो के द्वारा जो दृश्य प्रस्तुत होता है, वही अर्थग्रहण कराने मे समर्थ है। दूसरा मूल-तत्त्व विशेष-रूप-व्यापार सूचक शब्दो का अधिक प्रयोग है। भावना को मूर्त-रूप मे प्रस्तुत करने मे जाति-सकेत वाले शब्द, तत्त्व-निरूपण के शब्द, शास्त्रीय परिभाषा के शब्द या साम्प्रदायिक शब्द अधिक सफल नही होते। काव्य-भाषा का तीसरा मूल-तत्त्व ऐसे वर्ण-विन्यास का प्रचुर प्रयोग है, जिसका आधार नाद-सौष्ठव हो। नाद-सौन्दर्य का योग, कविता के पूर्ण स्वरूप को खडा करने के लिए आवश्यक है। इसलिए श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य के साधनो का प्रयोग होता है।[2] नाद-सौन्दर्य की साधक वर्ण-विशिष्टता मन के भीतर भाव या रस की धारा का अधिक प्रसार करने के लिए है, चमत्कार या तमाशा खड़ा

---

१ देखिए 'चिन्तामणि' (सन् १६३६), पृष्ठ २३४।

२. देखिए 'चिन्तामणि' भाग० १ (स० २००२), पृष्ठ २४५।

गाने के लिए नहीं।[1] काव्य-भाषा का चौथा मूल तत्त्व, व्यक्तियो के नामो के स्थान पर उनके रूपगुण या कार्य-बोधक शब्दो का अधिक व्यवहार करना है। उनका विचार है कि इन चार तत्त्वो के आधार पर चलने वाली भाषा ही रस तथा भावो को प्रकर्ष प्रदान कर सकती है।

उन्होने शब्द-शक्तियों पर पूर्ण रूप मे प्रकाश नही डाला है। उनका उल्लेख उन्होने केवल उन्ही स्थलो पर किया है, जहा प्राचीन आचार्यो से उनका मतभेद है। उनकी काव्य-भाषा-शैली (रीति) की व्याख्या मे रीतिवादियो के कुछ तत्त्वो के दर्शन भी अप्रत्यक्ष रूप मे हो जाते है, यद्यपि उनका उद्देश्य रीतिवादियो की भाति, भाषा मे रीति की महत्ता का प्रतिपादन करना नही है। उनकी काव्य-भाषा मे विशिष्ट पद-रचना मात्र ही विधेय नही है, काव्य-भाषा का आधार, लक्षणा-शक्ति, कल्पना, नाद-सौन्दर्य, औचित्य, साभिप्राय विशेषणो आदि का प्रयोग भी माना गया है। साभिप्राय विशेषणों के तत्त्व की व्याख्या मे वे शब्दो के औचित्य पर भी जोर देते है।

शुक्ल जी का काव्य-भाषा-शैली-विवेचन पाश्चात्य आचार्य सिसरो, डायोनिसियस, डिमेट्रियस तथा दान्ते आदि मे बहुत कुछ मिलता है। शुक्ल जी ने अलकृत तथा उदात्त भाषा-शैली के स्थान पर सरल, स्पष्ट तथा प्रसन्न शैली को अधिक श्रेयस्कर माना है। उन्होने काव्य-भाषा के अन्य गुणो की अपेक्षा, उसकी भाव तथा रस की सहायक होने की क्षमता पर अधिक ध्यान दिया है। उनका भाषा-शैली (रीति) का विवेचन, पेटर तथा वाल्टर रेले से भी प्रभावित है। उनके भाषा के चार तत्त्व रेले के शब्द के तीन तत्त्वो, (नादगुण, चित्रगुण तथा अर्थगुण) से मिलते हुए है। इनका पहला, दूसरा तथा चौथा तत्व उनके चित्रगुण के अन्तर्गत तथा तीसरा नाद-सौन्दर्य के अन्तर्गत आता है। उसके तीसरे तत्व अर्थगुण की व्याख्या उन्होने पृथक् की है। रेले की भाति ही उन्होने भाषा के आन्तरिक तथा बाह्य दोनो तत्वों पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार उनका शैली (रीति) विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचकों के प्रमुख सिद्धान्तो के अध्ययन तथा विवेचन पर आधारित है।

शुक्लजी ने काव्य-भाषा-शैली (रीति) के उपरोक्त तत्त्वो द्वारा काव्य-भाषा के बाह्य रूप-विधान का अर्थ, भाव तथा रस मे सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होने आनन्दवर्धन जैसे भारतीय तथा पेटर जैसे पाश्चात्य विद्वानो के मतो का ही अनुकरण किया है। उनका रीति-विवेचन वामन के अनुसार वस्तु-परक नही है। वे पेटर के अनुसार बुद्धि-तत्व तथा आत्म-पक्ष का अप्रत्यक्ष रूप मे समन्वय स्थापित करने के पक्ष मे है। उन्होने पाश्चात्य आचार्यों के रीति के प्रमुख तत्व, वैयक्तिकता के गुण, निश्छलता तथा सयम का स्पष्ट विवेचन नही किया है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत रीति की परम्परा मे रचनाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकृत होते हुए भी

१ देखिए 'चिन्तामणि' भाग १ (स० २००२), पृष्ठ २४४।

न तो पुरातन आचार्यों ने उसका विश्लेषण किया है, न अर्वाचीनो ने। शुक्ल जी भी भारतीय परम्परा के अनुसार वैयक्तिक तत्व के विशेष विश्लेषण से दूर ही रहे। भारतीय साहित्य वस्तु-परक ही रहा है, आत्म-परक नही। शुक्ल जी क्रोचे आदि अभिव्यजनावादियो की भाति पूर्णतया शुद्ध आत्म-परक नही है, यद्यपि वे उक्ति के महत्व तथा वस्तु-विधान का सम्बन्ध आत्म-तत्व से भी स्थापित करते चलते हैं। काव्य के अन्य क्षेत्रो की भाति वे इस क्षेत्र मे भी समन्वयवादी ही है, न वामन की भाति केवल वस्तु-परक है, न अभिव्यजनावादियो की भाति पूर्ण आत्म-परक।

उन्होने भी द्विवेदीजी की भाति रीति (शैली) के प्रमुख तत्व, वैयक्तिकता का वर्णन नही किया है। वे रीति (शैली) तथा वस्तु के घनिष्ट तथा सोद्देश्य सम्बन्ध के प्रतिपादन मे लगे रहे। उन्होने शैली के विभिन्न तत्वो की व्याख्या नही की है, केवल उसके भाषा नामक प्रमुख तत्व का ही विवेचन किया है। इस प्रकार उनके रीति-विवेचन मे भी एकागिता है। भाषा मे भी शब्द-योजना, वाक्य-प्रयोग, वाक्यांशो की योजना तथा वाक्य के समन्वित रूप आदि पर भी उनका ध्यान नही गया है। इसी प्रकार उन्होने भारतीय दृष्टिकोण से भाषा के अन्तर्गत, वर्ण-गुम्फ, पद-योजना, विशिष्ट पद-रचना का विशेष विवेचन नही किया है।

श्यामसुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास जी के रीति सम्बन्धी विचार उनके काव्य-शास्त्र सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' के शैली नामक अध्याय मे व्यक्त हुए है। वे भी रीति-वादी नही है। उन्होने भी काव्य मे रीति को प्रमुख न मानकर शुक्ल जी की ही भाति बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व तथा भाव-तत्व को ही प्रधान माना है। शुक्ल जी की भाति उनका दृष्टिकोण भी समन्वयात्मक है। वे वस्तु-तत्व का अभिव्यजनावादियो की भाति पूर्ण बहिष्कार नही करते। उन्होने शैली (रीति) को काव्य का एक आवश्यक अग माना है। उनका भी शैली (रीति) का विवेचन पाश्चात्य काव्य शास्त्र से प्रभावित है। शैली को काव्य का आवश्यक तत्व मानकर ही उन्होने उसका विवेचन किया है। इनके शैली-विवेचन मे भी शुक्ल जी की भाति रीति के बहुत से तत्वो का समाहार हो गया है।

श्यामसुन्दर दास जी बुद्धितत्व, कल्पना-तत्व तथा भाव-तत्व के अतिरिक्त काव्य के चौथे तत्व शैली या रूप-चमत्कार का भी काव्य मे विशेष महत्व मानते है। उनके विचार से शैली (रीति) शब्द-योजना, वाक्याशो का प्रयोग, वाक्यो की बनावट और उनकी ध्वनि का नाम है।[1] यह परिभाषा रीति की परिभाषा के ही अन्तगत आ जाती है। विशिष्ट पद-रचना के अन्तर्गत, शब्द-योजना, वर्ण-गुम्फ, वाक्याशो का औचित्य पूर्ण प्रयोग, वाक्य-रचना तथा शब्द-ध्वनि आदि सभी समाहित है। वे शैली

---

१ 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृष्ठ २९७।

को अर्थ से भिन्न वस्तु नहीं मानते। उनके विचार से शैली को विचारों का परिधान न कहकर, उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत है।[1] इस प्रकार शैली मनुष्य समाज के भावों, विचारों और कल्पनाओं का बाह्य तथा प्रत्यक्ष रूप है।

उन्होंने शैली (रीति) को काव्य की आत्मा, भाव, विचार तथा रस का ही प्रत्यक्ष रूप माना है। इस प्रकार उन्होंने भी काव्यात्मा तथा वस्तु की एकता स्थापित की है। उन्होंने शैली (रीति) को भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी उचित समझा है।[2] इस प्रकार पाश्चात्य आचार्यों की भांति उन्होंने रीति के स्वरूप के अन्तर्गत वैयक्तिक तत्त्व का सर्वप्रथम समावेश किया है। जब कोई लेखक व्यक्तिगत रूप में अपनी भाषा का प्रयोग करता है, तो वही उसकी शैली होती है। इस प्रकार व्यक्तित्व का प्रभाव शैली पर स्पष्ट परिलक्षित हुआ करता है। ऐसा भारतीय आचार्यों ने भी माना है, यद्यपि उसका विश्लेषण नहीं किया है। वे उस शक्ति को शैली मानते हैं जिसके द्वारा लेखक अपनी भाषा, भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सके। इस प्रकार वे रचना-चमत्कार को ही शैली मानते हैं।

उनका विचार है कि शब्द तथा वाक्य ही उत्तम शैली के मुख्य आधार हैं। शब्द के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की भांति, उत्तम शैली के लिए उपयुक्त शब्दों का प्रयोग, वे भी मानते हैं। उनका विचार है कि प्रचुर शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ इस बात का ध्यान आवश्यक है कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार से सजाये गए हैं।[3] वे शब्दों में शक्ति, गुण तथा वृत्ति का विधान मानते हैं, किन्तु उनका विचार है कि सार्थक शब्दों की शक्ति का प्रादुर्भाव भी तभी होता है, जब उनका समुचित रूप में वाक्यों में प्रयोग हो। ऐसी अवस्था में ही वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के योग्य हो सकते हैं तथा उनके गुणों का रूप भी प्रकट हो सकता है।

शैली के विवेचन में वे शब्द के अतिरिक्त वाक्य का स्थान भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा अधिक-से-अधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाले वाक्यों में वाक्योच्चय को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। उनके विचार से वाक्यों की रचना में शब्दों के उपयुक्त प्रयोग के साथ-साथ शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता भी बहुत महत्त्व की है।[4] जटिल विषय के लिए वे छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग वाछनीय समझते हैं। वे मानते हैं कि वाक्योच्चय बहुत लम्बे अच्छे नहीं होते। समीकृत वाक्यों की प्रभावोत्पादकता

---

१. साहित्यालोचन' (सं० १९९९), पृष्ठ २९८।
२. देखिये वही , पृष्ठ ३०१-३०२।
३. देखिए वही , पृष्ठ २९८।
४. देखिए वही , पृष्ठ ३०४।

मानते हुए भी वे वाक्यो मे सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु, अवधारण का सस्थान मानते है अर्थात् इस बात का ध्यान अपेक्षित समझते है कि वाक्य मे हम किस बात पर अधिक जोर दे तथा किस पर कम और उसका प्रयोग कैसे करे। उनका विचार है कि अवधारण को आदि या अन्त मे स्थान देने से वाक्य मे स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य गुण से पूर्ण हो जाता है।[1]

उन्होने पदविन्यास (वाक्यो के समूहो) पर भी विचार किया है। इसके अन्तर्गत वे मुख्य-मुख्य विषय की प्रधान बाते एक ही परिच्छेद मे लाना उचित समझते है। इस प्रकार एक सी बातो की न तो आवृत्ति ही हो सकती है न अति-व्याप्ति। वे वाक्यो के सम्बन्ध मे दो विशेष महत्त्व की बाते बताते है—एक तो वाक्यो का एक-दूसरे से सम्बन्ध तथा सक्रमण और दूसरे वाक्यो के भावो मे क्रमशः विकास या परिवर्तन का होना। उनके विचार से वाक्यो का सघटन इस प्रकार से उत्तम रूप मे होना चाहिए कि पाठक-गण एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले आए और फिर परिणाम पर ही पहुँच कर साँस ले।

श्यामसुन्दर दास जी का शैली या रीति का लक्षण यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव लिए हुए है तथापि वामन की विशिष्ट पद रचना से भिन्न नही है। उनके निर्देशित शैली के मूलाधार तत्व, शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति तथा वाक्य-रचना आदि वामन की विशिष्ट पद-रचना से भिन्न नही है।

उनका रीति-वृत्ति-विवेचन पूर्ण रूप मे शास्त्रीय परम्परा के अनुसार नही है। उन्होने न तो पूर्णतया वामन का अनुसरण किया है, न मम्मट तथा रुद्रट का। वामन से उनका भेद इस बात मे है कि वामन ने तो वैदर्भी रीति को माधुर्य गुण तक ही सीमित न रखकर समग्र गुण सम्पन्न माना है, किन्तु उन्होने उसे माधुर्य गुण का ही पर्याय माना है। उन्होने वैदर्भी मे केवल माधुर्य गुण तथा पाचाली मे प्रसाद गुण स्वीकार किया है। इसी प्रकार मम्मट से उनका यह भेद है कि उन्होने मम्मट के अनुसार माधुर्य गुण की पर्याय वृत्ति को उपनागरिका न मानकर मधुरा कहा है तथा प्रसाद गुण की पर्याय वृत्ति को कोमला न मानकर प्रौढा माना है। यद्यपि रुद्रट के वृत्ति-विवेचन से उन्होने प्रौढा तथा मधुरा वृत्तियो के नाम लिए है, तथापि इसमे भी उन्होने रुद्रट का पूर्ण अनुसरण नही किया है। रुद्रट ने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा नामक पाँच वृत्तियाँ मानी है। पर उन्होने उसके विपरीत तथा मम्मट के अनुसार वृत्तियो का गुणो तथा रीतियो से निश्चित सम्बन्ध माना है। वे रुद्रट के विपरीत रीतियो अथवा वृत्तियो को गुणाश्रित मानते है।

श्यामसुन्दर दास जी का वृत्तियो का विवेचन प्राचीनो की अपेक्षा अधिक सगत ही है। प्रसाद-गुण-विशिष्ट-वृत्ति को कोमला की अपेक्षा प्रौढा कहना अधिक

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृष्ठ ३०६।

उपयुक्त है, क्योंकि प्रसाद-गुण वास्तव मे प्रौढ रचना का द्योतक है। उसके अन्तर्गत केवल कोमला रचना ही नही होती है। इसी प्रकार माधुर्य गुण युक्त वृत्ति को उपनागरिका की अपेक्षा मधुरा कहना भी कही अधिक उपयुक्त है। किन्तु इन वृत्तियो को रीतियो के अनुरूप मानने मे उन्होंने त्रुटि की है। उन्होंने प्रौढ़ा वृत्ति को पांचाली रीति का पर्याय मानने मे भूल की है। वामन ने पाचाली रीति को माधुर्य तथा सौकुमार्य से युक्त माना है, श्यामसुन्दर दास जी के समान प्रसाद गुण से युक्त नही। इसी प्रकार वैदर्भी रीति को मधुरा वृत्ति का पर्याय मानना भी वामन के विरुद्ध है, क्योकि वैदर्भी तो सर्वगुण-सम्पन्न है, केवल माधुर्य गुण युक्त ही नही। इस प्रकार उन्होंने वृत्ति, गुण, रीति आदि के विवेचन मे परम्परा का ही अनुसरण न करके अपनी वैयक्तिक रुचि का भी परिचय दिया है। पर अपनी रुचि तथा वैयक्तिक विचारो की न तो उन्होने व्याख्या की है, न उनके कारण ही दिए हैं। भारतीय रीति-विवेचन का तो उन्होंने केवल परिचय मात्र ही दिया है। वास्तव मे वे पाश्चात्य शैली (रीति) के नवीन सिद्धान्तो की व्याख्या मे ही अधिक तत्पर रहे है।

उन्होंने पहले अंग्रेजी सिद्धान्तो के अनुसार शब्दो और वाक्यो के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत करके, फिर भारतीय सिद्धान्तो का उल्लेख गौण रूप मे किया है। इसका कारण यह है कि उनका विचार है कि हिन्दी साहित्य का भण्डार तो पद्य में ही है, गद्य का तो यह प्रारम्भिक काल ही है। इसलिए हिन्दी-गद्य की शैली पर अंग्रेजी भाषा की गद्य शैली का ही बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इसकी गद्य की कोई निजी शैली नही है।' इसलिए अंग्रेजी सिद्धान्तो का विवेचन इस पर भी लागू होता है। उनकी यह धारणा पूर्णतया मान्य नही है, क्योकि किसी एक भाषा के गद्य की शैली पूर्णतया दूसरी भाषा मे परिवर्तित नही हो सकती। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति, व्याकरण, भाव तथा परम्पराएँ होती है, जो उसकी शैली के निर्माण मे सहायक होती है। उसके गद्य के विवेचन मे उनका आधार भुलाया नही जा सकता। हिन्दी पर यद्यपि अंग्रेजी गद्य का प्रभूत प्रभाव पडा है पर उसको हिन्दी ने अपनी विशिष्टता के अनुरूप ही अपनाया है ज्यो का त्यो न तो अपनाया है, न अपनाया ही जा सकता है।

उन्होंने काव्य शैली मे वृत्तो का विशेष रूप से महत्त्व माना है। उनका विचार है कि वृत्तो का प्रयोग काव्य मे संगीतात्मक गुण लाने के लिए विशेष रूप से आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वृत्तियो तथा शब्दालकारो को संगीतात्मकता के उत्पादक तथा उत्कर्ष-साधक भी माना है। शुक्ल जी के नाद-सौष्ठव के समान, उन्होंने भी शैली मे संगीतात्मकता का विशेष महत्त्व माना है। शुक्ल जी सुकुमार तथा मधुर वर्णो के प्रयोग से नाद-सौष्ठव की उत्पत्ति पर जोर देते हैं,

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (सं० १९९९), पृष्ठ ३१०।

श्यामसुन्दर दास जी वृत्त, वृत्तियाँ तथा शब्दालकार सबके माध्यम से काव्य की शैली मे संगीतात्मकता लाना विधेय मानते हैं।

श्यामसुन्दर दास जी का विचार है कि हिन्दी मे विदेशी भावों तथा विचारो के साथ विदेशी शब्दो को भी इस प्रकार से अपना लेना चाहिए कि उनका विदेशीपन निकल जाए और वे हिन्दी के ही होकर उसके व्याकरण से अनुशासित हो जाएँ।

उनका विचार है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दो के प्रयोग पर निर्भर नही है, जैसा भामह, दण्डी, वामन, मम्मट आदि सभी आचार्यो ने माना है। इन आचार्यो का रीति-विभाजन, शब्दो तथा अर्थो के गुणो के आधार पर था। वामन ने माधुर्य तथा सौकुमार्य के अभाव मे ही गौडी रीति की दुरूहता मानी है। उनके लिए वैदर्भी इसीलिए सर्वग्राह्य है, क्योकि वह सर्वगुण सम्पन्न है। उनका विचार है कि भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दो की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नही है। उनके मत से विचारो की गूढता, विषय-प्रतिपादन की गम्भीरता, मुहावरो की प्रचुरता, आनुषगिक प्रयोगो की योजना और वाक्यो की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणो की स्थिति ही उसे सरल बनाती है।"[1]

तात्पर्य यह है कि श्यामसुन्दर दास जी का रीति-विवेचन केवल भारतीय साहित्य शास्त्र परम्परा पर आधारित नही है। उन्होने पाश्चात्य शैली (रीति) के मूलाधार शब्द, वाक्य, अलकार, पद-विन्यास, वृत्त आदि का भी वर्णन किया है तथा भारतीय शैली के तत्व, शब्द-शक्ति, गुण, रीति, वृत्ति आदि का भी उल्लेख किया है। उन्होने कही-कही भारतीय रीति के तत्वो की तुलना, पाश्चात्य शैली के तत्वो से भी की है। हिन्दी गद्य की कोई विशिष्ट शैली न होने के कारण, उन्होने अग्रेजी गद्य की शैली के आधार पर ही शब्द, वाक्य, पद-विन्यास, परिच्छेद आदि की व्याख्या की है। उन्होने शैली को काव्य का एक प्रमुख तत्व माना है, जो बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व तथा भाव-तत्व के समकक्ष है। उन्होने पाश्चात्य तथा भारतीय शैली का समन्वय करने का विशेष प्रयत्न नही किया है, जैसा आलोच्य-काल के पश्चात् गुलाबराय आदि ने किया है। उनका उद्देश्य तो पाश्चात्य तथा भारतीय रीति के प्रमुख तत्वो का विश्लेषण करके, उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करना है। उनकी शैली (रीति) विवेचन परिचयात्मक कोटि का ही है तथा उसमे गूढ चिन्तन तथा तुलनात्मक गम्भीर विवेचन का प्राय. अभाव है। उन्होने शैली के तत्वो का सरल शब्दो मे केवल स्पष्टीकरण मात्र किया है, उसका गवेषणापूर्ण तथा तुलनात्मक विवेचन नही किया है।

जयशकर प्रसाद

प्रसाद जी रसवादी हैं तथा काव्य मे अभिव्यजना की अपेक्षा अनुभूति को महत्व देते है। वे काव्य मे रीति की अपेक्षा वस्तु-पक्ष के महत्व को मानते है।

---

१ 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृष्ठ ३१७।

उनका विचार है कि रूप के आवरण में सन्निहित रहने वाली वस्तु ही प्रधान होती है रूप नहीं।' आत्मानुभूति की प्रधानता से काव्य की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, जिसमें अलंकार-कौशल के साथ-साथ विशिष्ट पद-रचना आदि भी होती है। अनुभूति की तीव्रता की मात्रा से ही काव्य में रीति अथवा विशिष्ट पद-रचना का सौन्दर्य स्वाभाविक रूप से प्रगट होता है। उनका कथन है कि 'व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है।'[2] वे मानते हैं कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता होती है, वहीं पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है तथा वहीं शब्द का शरीर, कौशल या विशिष्ट पद-रचना से युक्त होकर सुन्दर हो सकता है। वे रीति का सम्बन्ध साहित्य की आनन्दवादी धारा से न मानकर विवेक आदि की तर्कवादी धारा से मानते हैं जो प्रमुखतः दुःखवादी है। आनन्दवादी धारा से उद्भूत तो केवल रस-सिद्धान्त ही है। इस प्रकार वे रीति में बौद्धिकता, विवेक, दुःख, अलंकरण आदि का समावेश मानते हैं।

उन्होंने रीति का कहीं पृथक् विवेचन नहीं किया है, पर उनके रीति सम्बन्धी विचार उनकी काव्य सम्बन्धी धारणा के अन्तर्गत ही प्राप्त हो जाते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से रीति के तत्वों का निर्देश नहीं किया है, पर वे रीति को विशिष्ट पद-रचना के रूप में ही स्वीकार करते हैं। नवीन काव्य की नवीन अनुभूतियों के लिए वे काव्य की भाषा-शैली (विशिष्ट-पद-रचना) को भी परिवर्तनशील मानते हैं। उनके विचार से यह रीति, भाषा अनुभूति से सम्बद्ध है तथा प्रत्येक काल तथा देश के साथ इसके स्वरूप का बदलना स्वाभाविक है। छायावादी काव्य की विशिष्ट पद-रचना, द्विवेदी काल से भिन्न है क्योंकि छायावादी काव्य के आभ्यन्तर वर्णन के लिए उस समय की प्रचलित परम्परागत पद-योजना असफल हो गई थी तथा उनके स्थान पर नवीन शैली, वाक्य-विन्यास तथा भाषा-भंगिमा प्रयुक्त होने लगी थी। इस प्रकार शैली का व्यवहार उन्होंने वाक्य-विन्यास तथा शब्द-योजना से पृथक् किया है। रीति का उल्लेख करते समय उनके ध्यान में पाश्चात्य शैली की अपेक्षा भारतीय रीति अर्थात् विशिष्ट पद-रचना का ही आदर्श था। उनके विचार से यह विशिष्ट पद-रचना अनुभूति के अनुरूप अभिव्यक्त होने के कारण निरन्तर परिवर्तनशील होती है तथा इसका कोई चिरन्तन, एकसा रहने वाला तथा निश्चित रूप भी नहीं हो सकता है।

नन्द दुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी भी आलोच्य-काल के प्रमुख आलोचकों की भाँति प्रमुखतः रसवादी हैं। उन्होंने भी रीति का वर्णन कहीं पृथक् नहीं किया है। उनके काव्य सम्बन्धी विचारों के अन्तर्गत ही उनके रीति सम्बन्धी विचार भी प्राप्त हो जाते हैं।

१. देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (सं० १९९६), पृ० २५-२६।
२. देखिए वही पृ० २१।

वे उत्कृष्ट काव्य के लिए अलकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के साथ-साथ रीति की अनिवार्यता नही मानते है। उनका विचार है कि उत्कृष्ट काव्य की चरम स्थिति मे पहुँच कर तो प्राय. सारे सम्प्रदाय ही मटियामेट हो जाते है।[1] उत्कृष्ट काव्य सारे सम्प्रदायो की विशिष्टताओ को भी अपने मे समेट कर उससे ऊपर रहता है।

वाजपेयी जी काव्य मे रीति आदि वाह्य उपकरणो का इतना ही महत्व मानते है कि वे काव्य मे निहित जीवन-सौन्दर्य की कला को पाठको के हृदय मे प्रस्फुटित कर सके। दूसरे शब्दो मे, वे काव्य के वस्तु-पक्ष के लिए ही रीति-पक्ष को साधक के रूप मे स्वीकार करते है। इस प्रकार वे भी पाश्चात्य विद्वान् पेटर तथा रेले और उत्तर-ध्वनि-कालीन आचार्यों के समन्वयवादी दृष्टिकोण के ही समर्थक है। उन्होने प्रसाद जी की भाँति, रीति के प्रसग मे, अनुभूति का उल्लेख न करके अभि-व्यक्ति को महत्व दिया है तथा उसका सम्बन्ध, सौन्दर्य से माना है। यह सौन्दर्य ही चेतना तथा जीवन है और अभिव्यक्ति इसका ही उन्मेष करती है। उनके विचार से जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए देश तथा काल की शक्तियो का परिचय होना आवश्यक है। प्रसादजी की भाँति वे भी अभिव्यक्ति के स्वरूप को देश काल के अनुरूप ही परिवर्तनशील मानते है।

इस प्रकार वाजपेयी जी ने रीति सम्बन्धी अपनी धारणा को अभिव्यक्ति शब्द के द्वारा ही प्रकट किया है तथा उसको काव्य-वस्तु के आश्रित रखा है, जिसे उन्होने सौन्दर्य कहा है। उनका विचार है कि उत्कृष्टतम काव्य के लिए इन सब सम्प्रदायो की अनिवार्यता नही है। काव्यगत रस, आनन्द तथा सौन्दर्य की चरम स्थिति मे इन सबकी सत्ता का आभास भी नही दिखाई पडता।

सुमित्रानन्दन पन्त

अन्य आधुनिक कवियो की अपेक्षा पन्तजी के काव्य मे पद-रचना-सौन्दर्य अधिक दिखाई पडता है, किन्तु वे भी सिद्धान्त रूप मे रीतिवादी नही है। काव्य मे मधुर पदावली के महत्व को मानते हुए भी वे रीति काव्य की रूढिग्रस्त पद-रचना के घोर विरोधी है। पन्तजी का काव्य, रीति काव्य के प्रति विद्रोह तथा प्रतिक्रिया के रूप मे हो उठा था। इसलिए उन्होने रीतिकाल की रूढिग्रस्त, मर्महीन, परम्परागत तथा विकासहीन पद-रचना के प्रति घोर विरोध का स्वर अपनी शक्तिशाली कवित्वपूर्ण शैली मे उठाया था। उन्होने 'पल्लव' की भूमिका मे इसके सम्बन्ध मे स्पष्ट लिखा है कि "भाव और भाषा का ऐसा शुक्र प्रयोग, राग और छन्दो की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओ की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास तथा तुको की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि, क्या ससार के और किसी साहित्य मे मिल सकती है? घन की

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य, बीसवी शताब्दी' (प्रथम संस्करण), पृ० ६८।

घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की भहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त सगीत तुक की एक ही नहर मे वहा दिया ?"[1]

उनका विचार है कि रीति काल की पद-रचना, माधुर्य तथा सौकुमार्य के गुणों से पूर्ण होने के कारण मधुर चाहे रही हो, पर उसमे अन्य आवश्यक गुणो का बहुत अशो मे अभाव ही रहा है। वह पाचाली रीति के अनुकूल ही रही, उसमे वैदर्भी की सी समग्र-गुण-सम्पन्नता नही आई। इसीलिए, उसमे भावो को व्यक्त करने की उतनी शक्ति न रह गई, जितनी सत्काव्य के लिए आवश्यक होती है। इसीलिए छायावादीकाव्य की नवीन शैली को उसके प्रति विद्रोह करना पडा।

रीति-काल की सीमित माधुर्य से युक्त तथा सौकुमार्य-गुण-सम्पन्न भाषा की सकीर्णता की अनुपयुक्तता बताते हुए, पन्तजी काव्य-भाषा के वक्षस्थल का इतना विशाल होना आवश्यक मानते है कि जिसमे 'पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल, अनिल, आकाश, ज्योति, अन्धकार, वन, पर्वत, नदी, घाटी, नहर, खाडी, द्वीप, उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण शीत प्रधान देशो के वनस्पति वृक्ष, पुष्प, पौधे, पशु-पक्षी, विविध प्रदेशो का जलवायु, आचार, व्यवहार, जिसके शब्दो मे वात-उत्पात, वह्नि-बाढ, उल्का, भूकम्प सब कुछ समा सके, बाधा जा सके, जिसके पृष्ठो पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके।"[2]

पतजी का विचार है कि भाषा मे वर्ण-योजना के चमत्कारो की अपेक्षा अर्थ-गौरव तथा शक्ति का होना अधिक आवश्यक है। यह उन्हे उचित प्रतीत नही होता कि किसी युग मे केवल पाचाली-रीति से युक्त कविता की ही प्रधानता हो। उनके विचार से वैदर्भी, पाचाली, गौडी सभी रीतियो मे काव्य-रचना होनी चाहिए। सर्व-गुण-सम्पन्न-भाषा ही सब प्रकार के भावो तथा रसो की अभिव्यक्ति करने मे समर्थ है। जिस युग मे केवल एक-दो रस की प्रधानता लिए हुए काव्य का सृजन होता है, उस युग की भाषा अधिक शक्तिशाली नही होती। वे काव्य-भाषा की किसी विशेष शैली (रीति) के समर्थक नही है। वे उसकी परिष्कृति समृद्धि, विकास, विविधता तथा अधिकाधिक अर्थ-बोध की सामर्थ्य के पक्ष मे है। उन्होने स्वय अपनी काव्य-भाषा को रूढि के बन्धनो से मुक्त करके, उसे नवीन जीवन की शक्ति और समृद्धि प्रदान की। उन्होने उसे जीवन की नवीन गति-विधियो एव तत्कालीन वातावरण के अनुकूल ही नही बनाया वरन् उसे विभिन्न प्रकार की गुण-सम्पदाओ से भी समृद्ध किया। पन्तजी काव्य की भाषा-शैली को परम्परागत तथा 'शुष्क सिद्धान्तो से अलग करके उसे जीवन की विविधता, व्यापकता, एव नवीन विकास से अनुप्राणित करना उपयुक्त समझते है।

---

१ देखिए 'पल्लव' की भूमिका, (सन् १९२६), पृ० ११।

२ 'पल्लव' की भूमिका (सन् १९२६) प्रथम सस्करण, पृ० १३।

इस प्रकार पन्त जी ने भी नवीन काव्य की व्याख्या के अन्तर्गत ही अपने रीति (शैली) सम्बन्धी विचारो को व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध मे उनकी दो धारणाये है। एक तो यह कि किसी युग की विशिष्ट-पद-रचना सुन्दर गुणो से चाहे कितनी ही सम्पन्न क्यो न हो, पर फिर भी दूसरे युग के पूर्णतया अनुकूल नही हो सकती। उनका स्पष्ट विचार है कि भाषा-शैली अथवा पद-रचना को परिवर्तनशील होना चाहिए, रूढि-ग्रस्त नही। उनकी दूसरी धारणा यह है कि काव्य की भाषा वैदर्भी रीति के समान सर्वगुण-सम्पन्न होनी चाहिए, गौडी तथा पाचाली की भाति एकागी नही। वे मानते है कि जब काव्य का विषय असीम है, तो उसके गुणो की चिरकालीन विशिष्टता स्थापित नही हो सकती। उसमे सब प्रकार के भावो को व्यक्त करने की शक्ति का होना अनिवार्य है। इस प्रकार उन्होने रीति (शैली) के प्रमुख तत्व, भाषा ही का विवेचन करके, उसमे परिवर्तनशीलता, समयानुकूलता, सर्वगुण-सम्पन्नता, रस-सम्पन्नता, भावो के अधिकाधिक व्यक्त करने की शक्ति आदि विशेषताओ की आवश्यकता मानी है।

करुणापति त्रिपाठी

त्रिपाठी जी ने 'शैली' नामक ग्रन्थ मे शैली की यह परिभाषा दी है कि 'शैली' उस साधन का नाम है, जो रमणीय, आकर्षक एव प्रभावोत्पादक रूप से वाक्शक्ति के समस्त, सरस तत्वो की अभिव्यक्ति मे अभिनव तथा उचित शक्ति का सचार करे।"[1] वे शैली के दो उपादान-तत्व मानते है. (१) बाह्यतत्व अर्थात् ध्वनि, शब्द, वाक्यादि तथा (२) अर्थ सम्बन्धी, शब्द-शक्तिया, सरलता, स्पष्टार्थता आदि। वे इस पाश्चात्य मत को स्वीकार करते है कि शैली मे व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। उनके विचार से लेखक की मनोवृत्ति का प्रभाव भी उसके लेखो पर पड़ता है। कुछ दैशिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक आदि मनोवृत्तियाँ लेखक की शैली (भाव, भाषा, रचना-प्रणाली) को बाह्य रूप मे प्रभावित करती है तथा मनोभाव, मनोवेग, अन्त.वृत्तिया, अभ्यास, रुचि, अरुचि, ज्ञान, अनुभव, स्मृतिया, ग्राहकता, भाव, विचार आदि उसकी शैली को आन्तरिक रूप मे प्रभावित करते हैं।

त्रिपाठी जी भारतीय रीति को आधुनिक साहित्य की शैली से भिन्न मानते है। इन दोनो का तात्विक अन्तर वे यह बताते हैं कि रीति तो काव्य-रचना की रीति है और शैली साहित्य की अभिव्यक्ति की प्रणाली है। शैली उस साधन का नाम है, जो वाक्शक्ति की अभिव्यक्ति मे अभिनव तथा समर्थ शक्ति का संचार करे तथा रीति, गुणो के आधार पर की गई विशिष्ट-पद-रचना है। इनका यह भेद-निरूपण मान्य नही है, क्योकि रीति-काव्य की रचना ही विशिष्ट पदो की रचना है। विशिष्ट-पद अभिव्यक्ति का ही एक अंग है। रीति भी अभिव्यक्ति के प्रमुख आधार, पदो या शब्दो के विवेचन के द्वारा, अभिव्यक्ति मे अभिनव तथा समर्थ शक्ति का

१ 'शैली' (स० १९९८), पृ० २९।

सचार करती है। अतएव रीति तथा शैली तत्वत एक है। दोनो का उद्देश्य अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को लेकर चलना है, दोनो ही केवल अभिव्यक्ति के बाह्य-स्वरूप तक न रह कर अर्थ अथवा मीनिंग अथवा आतरिक-स्वरूप का विवेचन करते है तथा बाह्य को आन्तरिक स्वरूप का साधन मानते है। रीति के विवेचन का आधार मूलत वर्ण तथा शब्द है और शैली के वर्ण, शब्द, वाक्य, वाक्याश, अनुच्छेद, परिच्छेद आदि है। किन्तु रीति के वर्ण तथा शब्द के विवेचन मे शैली के इन सब तत्वो का भी मूल है। शैली, रीति के बाह्य-स्वरूप का विकास तथा नवीन विश्लेषण है। वह रीति का पाश्चात्य दृष्टिकोण है, क्योकि पाश्चात्य शैली-विवेचन का भी मूल आधार वर्ण और शब्द ही हैं।

अभिव्यजन प्रणाली के आधार पर वे दो प्रकार की शैलियाँ मानते है, पहली व्यक्ति-प्रधान तथा दूसरी विषय-प्रधान। व्यक्ति-प्रधान शैली मे वैयक्तिकता की स्पष्ट छाप के अतिरिक्त भावाभिव्यजन मे, व्यक्तिगत अनुभूति, रुचि, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और भावना का प्रतिबिम्ब झलकता रहता है तथा विषय-प्रधान शैली मे कृतिकार की स्वकीय वैयक्तिकता, उसके विषय-वर्णन अथवा अभिव्यजन मे लय हो जाती है। इन दोनो के उन्होने तीन स्थूल भेद, रागात्मक, इन्द्रियानुभवात्मक और ज्ञानात्मक अथवा विवेचनात्मक भी माने है।

इस प्रकार त्रिपाठी जी ने भारतीय रीति तथा पाश्चात्य शैली का वर्णन अलग-अलग किया है। वे रीति तथा शैली को भिन्न मानते है, यद्यपि उनकी यह मान्यता विशेष तर्क पूर्ण नही है। उनका शैली का विवेचन पाश्चात्य विद्वानो के मतो का परिचयात्मक विवरण मात्र ही है। फिर भी इस विषय पर एक पूर्ण ग्रन्थ होने के कारण इस सम्प्रदाय के विकास मे 'शैली' का महत्व-पूर्ण स्थान है। ऐसे ग्रन्थ का अब भी अभाव है, जो रीति तथा शैली का तुलनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर सके।

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी का विचार है कि काव्य जब किसी समय मे एक छोटे से समाज की ही थाती था, तब उस समाज के सदस्यो की विचार-सयोजनाओ के सूत्र भी इतने मिले हुए थे कि कोई भी एक शब्द सब के मन मे प्राय एकसा ही समान चित्र या विचार उत्पन्न कर सकता था। किन्तु आज काव्य के पाठको की जीवन परिपाटियो मे इतना वैषम्य है कि उनकी विचार सयोजनाओ में भी समानता नही रही है। इसलिए ऐसे शब्द बहुत कम है, जो सभी पाठको के मन मे एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित कर सकें। इसलिए वे भाषा मे ऐसे शब्दो की आवश्यकता का अनुभव करते है, जिनमे नया, अधिक व्यापक, सारगर्भित अर्थ निहित हो। वे भाषा, शब्द, अभिव्यजना (रीति) को वस्तु-तत्व से अधिक महत्व देते है। उनका विचार है कि जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाए—

यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। उसके बाद इतर समस्याए है कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अध या अन्त या बहिर्मुखी है।"[1] इस प्रकार वे अभिव्यजना की समस्या को विषय पक्ष से अधिक महत्व देते है। इस अभिव्यजना मे भाषा का प्रश्न सर्वोपरि है, जो शैली (रीति) का महत्वपूर्ण तत्व है।

वे उस भाषा को सफल मानते है, जो एक व्यक्ति से अधिक को बोधगम्य हो। वे उस भाषा मे गूढता, अलौकिकता अथवा दीक्षा द्वारा गम्यता (esotericism) का बहिष्कार तो नही करते, किन्तु इन्हे भाषा की शक्ति नही मानते। उनके विचार से ये भाषा के धर्म न होकर आपद्धर्म हैं।

इस प्रकार 'अज्ञेय' जी अभिव्यक्ति की (जो रीति (शैली) का पर्याय है) महत्ता ही नही मानते वरन् उसकी एक नई समस्या को, जिसका समाधान अन्य प्रयोगवादियो ने भी अपने-अपने मतानुसार किया है, महत्व भी देते है। वे काव्य की भाषा को इस युग के जटिल जीवन के अनुकूल तथा गूढ भावो की अभिव्यक्ति के योग्य बनाना चाहते है। वे काव्य-भापा मे गूढता, अलौकिकता अथवा दीक्षा द्वारा गम्यता को महत्व न देकर वामन की गौडी रीति के प्रति अपनी कोई रुचि नही प्रकट करते। किन्तु किसी भाव को व्यक्त करने का यदि कोई अन्य मार्ग न हो, तो वे इसके प्रयोग का भी बहिष्कार नही करते हैं। उनके द्वारा निर्देशित भाषा के गुणो मे अर्थ का नयापन, व्यापकता, सारगर्भिता और अधिकाधिक बोधगम्यता हैं, जिनके कारण वे वैदर्भी तथा पांचाली के अधिक निकट है। पर उनका भाषा का आदर्श भारतीय-साहित्य-शास्त्र की इन रीतियो मे पूर्णतया नही खप सकता। वे इसका विस्तार इनसे भी अधिक करना चाहते है। उन्हे न तो प्राचीन वर्गीकरण मान्य है, न वे उसे इस युग के लिए उपयुक्त मानते है।

उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है कि द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के साथ-साथ भारतीय साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी चिन्तन पर पाश्चात्य विचारो का प्रभाव पडना प्रारम्भ हो गया था। उनके समय मे पाश्चात्य विषयो का गवेषणापूर्ण अध्ययन तो नही हुआ, पर पाश्चात्य समालोचना का प्रभाव स्पष्ट रूप मे पडने लगा। इसीलिए रीति को भी शैली के रूप मे ग्रहण करके, उसका विवेचन आरम्भ हो गया। शैली अथवा रीति के अन्तर्गत पाश्चात्य, शास्त्रीय, स्वच्छन्दतावादी, सौन्दर्यवादी, मनो-विश्लेषणवादी तथा समाज-शास्त्रीय धारणाओ को ग्रहण किया जाने लगा। द्विवेदी जी ने शैली के प्रमुख तत्व, भाषा का विवेचन, स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के अनुसार, वर्डस्वर्थ के विचारो के आधार पर ही किया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन के प्रभाव के साथ ही हिन्दी-साहित्यालोचन के अन्तर्गत एक दूसरी प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना के

१ 'तार सप्तक' (सन् १९४३), पृ० ७५।

अन्तर्गत हिन्दी की निजी प्रकृति तथा उसके रचनात्मक-साहित्य के साथ-साथ समयानुकूल परिस्थितियो का भी अधिकाधिक आधार ग्रहण किया जाने लगा। द्विवेदी जी ने रीति के प्रमुख तत्व, भाषा का विवेचन समय की स्थिति के अनुकूल ही किया है। उन्होने भाषा का प्राथमिक गुण, शुद्धता तथा व्याकरण से अनुरूपता माना है। पाश्चात्य 'शैली' तथा भारतीय 'रीति' के विवेचन के अन्तर्गत भाषा की शुद्धता का विवेचन नही हुआ था, क्योंकि भाषा की ऐसी परिस्थिति, जो द्विवेदी काल मे उपस्थित थी, कभी पहले कही पैदा ही नही हुई थी। किन्तु द्विवेदी जी के समय मे हिन्दी मे भाषा की शुद्धता की समस्या के साथ-साथ, गद्य तथा पद्य की भाषा को एक करने की समस्या भी सामने थी। उन्होने दोनो ही समस्याओ पर अपने विचार प्रकट किए तथा भाषा की शुद्ध, सहज, सरल, सीधी, प्रचलित तथा मुहावरेदार शैली के प्रयोग को उचित समझा। यही शैली पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे निर्देशित शैली तथा भारतीय वैदर्भी-रीति के अनुकूल है। इस प्रकार द्विवेदी-काल से ही रीति का परम्परागत-विवेचन, स्वतन्त्र, नवीन और समयोपयोगी रूप धारण करके अग्रसर होने लगा।

शुक्ल जी का रीति-विवेचन भी पेटर तथा रेले जैसे पाश्चात्य आलोचको से कुछ अशो मे प्रभावित रहा, यद्यपि उन्होने उनके उन्ही तत्वो को स्वीकार किया, जो भारतीय परम्परा के अनुकूल थे। इसीलिए उन्होने भी द्विवेदी जी की भाँति रीति के वैयक्तिक तत्व को प्रधानता नही दी। उन्होने रीति के वस्तु तथा उसके विधान पक्ष, दोनो का समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाकर, रीति की महत्ता केवल अर्थ, भाव तथा रस के उत्कर्षक के रूप मे ही मानी। उन्होने भी शैली के सभी तत्वो का विस्तार-पूर्वक विवेचन न करके केवल भाषा का विवेचन किया तथा उसका रस, भाव और अर्थ से उचित सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होने रीति के पाश्चात्य तत्व, शब्द-योजना, वाक्य-प्रयोग, वाक्याशो की योजना तथा वाक्यो के समन्वित रूप आदि के साथ-साथ भारतीय रीति के वर्ण-सघटन, पद-योजना आदि पर भी विचार नही किया, क्योकि उनका रीति-विवेचन अन्य आधुनिक आलोचको की ही भाति, उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत हुआ है, सैद्धान्तिक रूप मे पृथक् नही।

द्विवेदी जी तथा शुक्ल जी ने रीति अथवा शैली की स्पष्ट परिभाषाएँ नही दी है, किन्तु श्यामसुन्दर दास जी ने शैली को रूप-सौन्दर्य, रूप-चमत्कार अथवा रचना-चमत्कार के अर्थ मे स्वीकार किया है। उन्होने शैली को बाह्य दृष्टि से किसी कवि की शब्द-योजना, वाक्याशो का प्रयोग, वाक्यो की बनावट और ध्वनि के रूप मे ग्रहण किया है।[1] यह परिभाषा भारतीय रीति से भिन्न नही है, जिसमे विशिष्ट-पद-रचना के अन्तर्गत शब्द-योजना, वर्ण-गुम्फ, वाक्यांशो का औचित्यपूर्ण प्रयोग, वाक्य-रचना तथा शब्द-ध्वनि आदि आ जाते हैं। पर वामन की रीति में शब्द की

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (सम्वत् १९९९), पृ० २९७।

अपेक्षा वाक्य या वाक्याश या उनकी अन्विति पर अधिक जोर नही दिया गया है। इस प्रकार श्यामसुन्दर दास जी ने रीति के दोनो प्रमुख तत्व शब्द और वाक्य का विवेचन पाश्चात्य शैली के आधार पर किया है। यही उनकी द्विवेदी जी तथा शुक्ल जी से भिन्नता है, क्योकि उन्होने तो भाषा के ही सामान्य गुणो के विवेचन तक अपने आपको सीमित रखा है।

श्यामसुन्दर दास जी ने काव्य के बुद्धि, कल्पना, भाव नामक तत्वो के अतिरिक्त शैली (रीति) को काव्य का एक चौथा महत्वपूर्ण तत्व माना है। उनका विचार है कि वह काव्य की आत्मा तो नही है, किन्तु काव्य मे अपना एक विशिष्ट महत्व रखती है। वे पाश्चात्य अभिव्यजनावाद से प्रभावित होकर शैली को विचारो का परिधान मात्र न मानकर, उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना ही सगत समझते है। इसी प्रकार वैयक्तिक तत्व को आधार मानकर वे शैली को भाषा का वैयक्तिक प्रयोग भी मानते है। उन्होने विशिष्ट-पद-रचना, शब्द-सयोजन, वर्ण-गुम्फ तक अपने को सीमित न रखकर, शैली के दोनो पाश्चात्य तत्व, शब्द तथा वाक्य को स्वीकार किया है। वे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के मतानुसार शब्दो का महत्व वाक्यो मे ही मानते है। उन्होने शब्द के अन्तर्गत, अवधारणा, वाक्यो का एक-दूसरे से सक्रमण, सघटन, वाक्याशो का समन्वय आदि का समावेश किया है। भारतीय रीति-विवेचन मे उन्होने मम्मट, वामन, रुद्रट आदि से भी कुछ न कुछ नवीनता दिखाई है। उन्होने माधुर्य गुण के लिए परुषावृत्ति और पाचाली रीति आवश्यक मानी है, पर इसका न तो कारण दिया है न व्याख्या ही की है। इस प्रकार हिन्दी मे पाश्चात्य तथा भारतीय दृष्टिकोण से रीति (शैली) का समुचित विवेचन उन्होने ही प्रथम बार किया है। द्विवेदी जी तथा शुक्ल जी ने तो भाषा के तत्वो का सामान्य विवेचन मात्र ही किया था।

प्रसाद जी ने रीति को 'विशिष्ट-पद-रचना' के रूप मे ही स्वीकृत किया है तथा अभिव्यक्ति को अनुभूति से सम्बद्ध माना है। उनके विचार से भाषा, शैली, शब्द-रचना, वाक्य-विन्यास आदि काव्य की अनुभूति के साथ-साथ युगानुकूल रूप में परिवर्तित होते रहते है। उनका कोई स्थायी स्वरूप नही होता। वे रीति को साहित्य की विवेक, दु ख, बुद्धि तथा अलकरण सम्बन्धी धारा के अन्तर्गत मानते है, जो आनन्दवादी धारा से पृथक् है तथा जिसके अन्तर्गत रसवाद आ जाता है। इस प्रकार रसवादी धारा, रीतिवादी धारा से मूलत. ही पृथक् हो जाती है। किन्तु उन्होने रीति को व्यावहारिक रूप मे अनुभूति का परिणय ही माना है। अनुभूति रसवादी धारा से पृथक् हो सकती है, यह उन्होने कही नही कहा है।

वाजपेयी जी ने उत्कृष्ट काव्य के लिए रीति आदि की अनिवार्यता स्वीकार नही की है। उन्होने रीति सम्बन्धी विचार 'अभिव्यक्ति' शब्द के अन्तर्गत ही व्यक्त किए है। वे मानते है कि अभिव्यक्ति (रीति) काव्य-सौन्दर्य की कला को पाठको के हृदय मे खिलाने वाली शक्ति है। इसी प्रकार पतजी ने भी विशिष्ट-पद-रचना को

रूढ न मानकर परिवर्तनशील माना है। उन्होने वैदर्भी रीति को काव्य मे स्पष्ट मान्यता तो नही दी है, पर ऐसी पद-रचना का प्रयोग विधेय माना है, जो सर्वगुण तथा रस-सम्पन्न हो तथा सब प्रकार के भावो को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखती हो।

उपर्युक्त आलोचको के स्वर से विपरीत स्वर मे बोलने वाले 'अज्ञेय' जी है, जो परम्परागत अर्थों मे तो रीतिवादी नही है पर काव्य मे अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति को विशेष महत्व देते हैं। वे काव्य मे भाषा, शब्द, अभिव्यजना, रीति (शैली) को वस्तु-तत्व से अधिक महत्व देते हैं। इस आधार पर प्रयोगवाद को रीति का नया अवतरण कहा जा सकता है। वह पाश्चात्य-साहित्य शास्त्र से रीति के नए आधार लेकर काव्य मे रीति (शैली-अभिव्यंजना) की नवीन रूप मे प्रतिष्ठा करता है। प्रयोगवादियो के विचार से अभिव्यजना की समस्या के अन्तर्गत भाषा की समस्या सब से प्रमुख है। वे गौडी रीति को काव्य के लिए अनुपयुक्त मानते है। इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय के विकास के सम्बन्ध मे मेरे निष्कर्ष यह हैं —

१—आलोच्य-काल मे आधुनिक आलोचको ने प्राय. रीतिवाद को काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार नही किया। प्रयोगवादियो ने उसे काव्य की आत्मा तो स्वीकार नही किया, पर उसका महत्व अनुभूति से अधिक माना। द्विवेदी तथा छाया-वादी काल के आलोचको ने अभिव्यक्ति की अपेक्षा 'अनुभूति' को ही अधिक महत्व दिया।

२—इन आधुनिक आलोचको द्वारा रीति का विवेचन न होकर पाश्चात्य 'शैली' का विवेचन ही प्रमुख रूप मे किया गया है। शैली के अन्तर्गत भी पाश्चात्य शास्त्रीय तथा मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी तथा सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण को अधिक अपनाया गया। द्विवेदी जी ने स्वच्छन्दतावादी, छायावादी युग के आलोचको ने सौन्दर्यवादी (कलावादी) तथा प्रगतिवादियो ने समाजशास्त्रीय विचारो के आधार पर इसका विवेचन किया। अभिव्यक्ति के अन्तर्गत भाषा, पद-रचना, शब्द-योजना, वर्ण-सगठन आदि सबका समाहार किया गया। शैली अथवा रीति की न तो कोई विशिष्ट परिभाषा ही दी गई, न उसके सभी अगो का विश्लेषण-विवेचन किया गया। श्यामसुन्दर दास जी ने शैली को रचना-चमत्कार, विचारो का वाह्य-स्वरूप, भाषा का वैयक्तिक प्रभाव आदि कहा है, जिससे उसका विशिष्ट स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट नही हो सका।

३—इनके द्वारा 'शैली' के प्रमुख तत्व 'भाषा' का विवेचन ही सबसे अधिक हुआ। उसकी शुद्धता, युगानुकूलता, परिवर्तनशीलता, सर्वगुण सम्पन्नता, सब प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य तथा अर्थप्रेषणीयता की आवश्यकता ही प्रति-पादित की गई। केवल श्यामसुन्दर दास जी ने उसके शब्द अथवा वाक्य दोनो आधारो का विवेचन किया।

४—महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रसाद, वाजपेयी, पत आदि विद्वानो ने रीति, अथवा शैली के प्रमुख तत्वो का देश तथा काल के अनुरूप परिवर्तित होना आवश्यक माना है। एक युग की रीति (शैली) अथवा उसके विभिन्न तत्व, दूसरे युग के उपयुक्त नही हो सकते। छायावादियो ने द्विवेदीकालीन भाषा, शैली तथा विशिष्ट-पद-रचना का विरोध इसीलिए किया। काव्य-शैली का सम्बन्ध देश तथा काल की परिस्थितियो अथवा मानव-जीवन के साथ परिवर्तित होता रहता है।

५—रीति अथवा शैली के एक प्रमुख तत्व वैयक्तिकता का विवेचन इस युग मे नही हुआ। इसका कारण भारतीय परम्परागत विचारधारा के अनुसार भारतीय, दृष्टिकोण का व्यक्तिपरक की अपेक्षा वस्तुपरक होना है। श्यामसुन्दर दास जी ने केवल वैयक्तिक तत्व का परिचय मात्र दिया है, शैली के अन्तर्गत उसके आधार का विश्लेषण नही किया है।

६—इनका रीति विवेचन प्राय भारतीय तथा पाश्चात्य, दोनों साहित्य-शास्त्रो के सिद्धान्तो का आधार ग्रहण करके, एक नवीन समन्वित मार्ग पर चला है।

७—इन लेखको की विवेचित 'शैली' भारतीय 'रीति' का ही भारतीय तथा पाश्चात्य अथवा प्राचीन तथा नवीन सिद्धान्तो के समन्वय पर आधारित, युगानुकूल तथा विकसित रूप है।

गुण-सम्प्रदाय

सस्कृत साहित्य मे गुण सम्प्रदाय का विकास

भरत ने नाट्यशास्त्र मे गुणो को दोषो का विपर्यय माना है।[1] उन्होने दोषो का विवेचन पहले किया है तथा उसके पश्चात् गुणो का भी, जो उनके विपर्यय है, विवेचन कर दिया है। अभिनवगुप्त का विचार है कि विपर्यय का अर्थ अभाव है अर्थात् दोष का अभाव गुण है। उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यो का भी यही मत रहा है (महान् निर्दोषतागुण)। भरत के अनुसार ये गुण, अभिनय (काव्य मे भाषा या शैली) को समृद्ध बनाने वाले है तथा रस के आश्रित है। इन्होने गुणो की सख्या १० मानी है।[2] इनके विचार से गुण काव्य के अग है।

दण्डी ने गुणो को एक प्रकार के अलकार माना है। उनके मत से यह काव्य-शोभा के विधायक धर्म है। भरत की भाति इन्होने भी उन्हे रस के आश्रित नही माना है। इनके विचार से शब्द और अर्थ का चमत्कार, गुण का मूल तत्त्व है। दण्डी

१ एते दोपास्तु विज्ञेया सूरिभिर्नाटकाश्रया
एत एव विपर्यस्ता गुणा काव्येषु कीर्त्तिता (नाट्य शास्त्र, १७-९५)।

२ श्लेप· प्रसाद समता समाधि माधुर्यमोज. पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्ति-रुदारेता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।
(नाट्य शास्त्र, १७-९६)।

ने भी भरत के समान दस गुण माने हैं, यद्यपि उनका क्रम उनसे कुछ भिन्न है। इन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण नामक दो भेद किए हैं। इस प्रकार इनके गुणों की संख्या बीस है, दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण।

वामन ने विशिष्ट-पद-रचना ही को काव्य माना है, पर उसके लिए उन्होंने गुण सम्पन्नता को अनिवार्य माना है। वे प्रथम आलंकारिक हैं, जिन्होंने गुणों के शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण नामक दो भेद किए हैं। उन्होंने गुणों को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। उनका विचार है कि शब्द और अर्थ के वे धर्म, जो काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं (काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मागुणाः—का० सू० वृ० ३।१।१) ये गुण नित्य हैं। उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती। गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं। वे रस के आश्रित नहीं हैं, वरन् कान्ति गुण का अंग होने के कारण, रस ही गुण का अंग है (दीप्त रसत्व कान्ति)। वामन ने सारे गुणों का समावेश कान्ति गुण के भीतर कर दिया है। उन्होंने शब्द-गुणों की अपेक्षा अर्थ-गुणों का महत्व अधिक माना है। उनका कहना है कि वैदर्भी में अर्थ-गुण की सम्पत्ति आस्वाद्य होती है।[1]

वामन ने गुणों को काव्य का सर्वस्व माना है। उन्होंने दण्डी से अधिक गुणों की कल्पना को व्यापक रूप दिया है तथा तीनों रीतियों में ही गुणों का समावेश माना है; दण्डी की भांति केवल वैदर्भी में ही नहीं। वैसे तो इनसे पूर्व ही गुण तथा अलंकारों का पृथक् निर्देश होता रहा, पर इन्होंने सबसे पहले इनका पार्थक्य स्पष्ट रूप में व्यक्त किया। उनके विचार से गुण तो काव्य-शोभा के विधायक धर्म हैं तथा अलंकार काव्य शोभा के वृद्धिकारक हैं (तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः)। गुण के अभाव में तो काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं रहता, पर अलंकार के अभाव में रहता है। यदि काव्य में गुण न हो तो अलंकार केवल अपकर्ष ही करता है।

ध्वनिकार द्वारा गुणों के अर्थ में आमूल परिवर्तन हो गया। उन्होंने वामन तथा दण्डी के अनुसार उनका स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर, उन्हें प्रधानभूत रस के (जो अंगी है) आश्रित माना है (तमर्थमवलम्बन्ते ये अंगिनं ते गुणाः स्मृताः)। उनके उपरान्त प्रायः इनका मत ही मान्य रहा तथा गुणों को रस का धर्म ही माना गया, शब्दार्थ का नहीं। उन्होंने गुण को शब्द तथा अर्थ-चमत्कार न मानकर 'चित्त-वृत्ति' माना है। गुण जब चित्त-वृत्ति रूप में स्वीकृत हो गए तथा उनका बाह्य और मूर्त्त रूप न रहा, तो वे चित्त की तीन अवस्थाओं, द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व के अनुसार माधुर्य, ओज, प्रसाद, केवल तीन ही माने गए। भामह भी पहले तीन ही गुण मान चुके थे। ध्वनिकार के पश्चात् अभिनव, मम्मट, हेमचन्द्र आदि ने भी तीन ही गुण माने हैं।

मम्मट ने ध्वनिकार की परिभाषा को और भी स्पष्ट रूप दिया। उनका कथन है "आत्मा के शौर्यादि (गुणों) की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी अचल

---

१. 'तस्यामर्थगुण सम्पदास्वाद्या'—का० सू० वृ०-१।२।२०।

स्थिति धर्म गुण कहलाते है ।"[1] विश्वनाथ आदि अन्य आचार्यों ने इसी परिभाषा को अपने-अपने शब्दो मे व्यक्त किया है । अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण तथा चित्त-द्रुति मे कोई भेद नही माना । उनके विचार से गुण तथा रस भिन्न नहीं है । मम्मट इसके विरुद्ध गुणो को चित्त-द्रुति का कारण मानते हैं । मम्मट ने भी आनन्द तथा अभिनव की भाँति तीन गुणो को ही माना है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ की मान्यताओ का खण्डन किया है । अभिनव गुप्त ने एक ओर तो गुणो को रस का धर्म माना है तथा दूसरी ओर द्रुति आदि के तद्रूप होने के कारण रस को कार्य रूप मे स्वीकार किया है । वह रस के कार्य तथा कारण दोनो ही नही हो सकते । विश्वनाथ के विचार से यह दोप माना गया है कि यदि गुण रस से अभिन्न है, तो उनकी पृथक् सत्ता हो ही नही सकती । पडितराज जगन्नाथ इन दोनो मतो का विरोध करते है तथा गुण को प्रयोजक तथा चित्त-वृत्ति को प्रयोज्य मानते है । मम्मट ने गुण को कारण तथा चित्त-वृत्ति, को कार्य माना है । पडितराज ने गुणो को रस, शब्दार्थ तथा चित्त-वृत्ति रूप माना है ।

सस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे गुण की स्थिति पूर्ण रूप से स्पष्ट नही हुई है । काव्य मे उसकी पृथक् सत्ता तो मानी गई, पर थोडा बहुत सन्देह बना ही रहा है । रस तथा गुण दोनो ही मन. स्थितिया है । 'गुण की स्थिति रस के पूर्व है । इसकी स्थिति रस-परिपाक की प्रक्रिया मे रस दशा से ठीक पहली स्थिति मानी जा सकती है, जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघल कर दीप्त होकर या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती है ।"[2]

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे गुण सम्प्रदाय का विकास

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे गुणो का विकास यद्यपि पूर्ववर्त्ती आचार्यो के प्रदर्शित मार्ग पर चला, फिर भी उसमे अपनी निजी विशिष्टताएँ भी थी । हिन्दी काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत गुणो को काव्य की आत्मा के रूप मे कभी स्वीकार नही किया गया । व्यावहारिक रूप मे काव्य को सरस तथा सुन्दर बनाने के लिए गुणो का समावेश प्राय हिन्दी के सभी महान् कवियो ने किया । विद्यापति, सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियो के काव्य मे विशेष रूप से रसानुरूप विभिन्न गुणो का सौन्दर्य दिखाई पडता है ।

इस काल के अधिकाश आचार्यो का गुण सम्बन्धी सैद्धान्तिक-विवेचन मम्मट के आधार पर हुआ । इन्होने मम्मट के ही आधार पर अन्य गुणो का समाहार केवल

---

१ ये रसस्याङ्गिनोधर्मा शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणा ॥—का० प्र० ८-६६ ।

२ देखो (हिन्दी) का० सू०—ले० डा० नगेन्द्र, पृ० ६७ ।

तीन गुणो के ही अन्तर्गत कर दिया । चिन्तामणि ने वामन के गुणो के लक्षण तथा उदाहरण देकर, उन्हे मम्मट की युक्तियो के आधार पर ही उनके तीन गुणो के अन्तर्गत सम्मिलित कर दिया ।

प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि ।
त्रिविध गुन तिन मै सबै सुकवि लेत मनमानि ॥[1]

मम्मट के विपरीत चिन्तामणि ने माधुर्य गुण को कविता का प्राण माना है । कुलपति मिश्र ने 'रस रहस्य' मे गुणो के माध्यम, वर्ण-रचना तथा समास माने हैं और उन पर वक्ता, वाच्य (अर्थ) तथा प्रबन्ध का नियन्त्रण स्वीकार किया है ।

यद्यपि गुण सब है तऊ रचना बरन समास ।
वक्ता अर्थ प्रबन्धवश उलटे होहि विलास ॥[2]

देव ने रीति और गुण का भेद मिटाकर प्रसाद, ओज, माधुर्य को ही रीति नाम से अभिहित किया है । वास्तव मे गुणो तथा रीतियो के गूढ सम्बन्ध के ही कारण वे इस नामकरण मे प्रवृत्त हुए होगे । इन्होने १० गुणो मे यमक तथा अनुप्रास को भी मिलाकर, इनकी सख्या १२ कर दी । इनका गुण विवेचन भरत तथा वामन की अपेक्षा दण्डी से अधिक मिलता है । इन्होने गुणो का सम्बन्ध वर्णं तथा अर्थ दोनो ही से माना है । इनकी एक और विशेप मौलिकता गुणो के दो भेद, नागर तथा ग्राम्य, मानने मे है ।

दास ने परम्परा से हटकर १० गुणो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है —

१ अक्षर गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद ।

२ दोपाभावरूप गुण—समता, कान्ति, उदारता ।

३ अर्थ गुण—अर्थ, व्यक्ति और समाधि ।

४ वाक्य गुण—श्लेप तथा पुनरुक्ति प्रकाश ।

इनकी वाक्य गुण की उद्भावना मौलिक है, क्योकि अक्षर गुण तथा दोपाभाव रूप गुणो के आधार मम्मट और अर्थ गुणो के आधार वामन है । इन्होने सौकुमार्य को छोडकर पुनरुक्ति प्रकाश नामक एक नये गुण की कल्पना की है । इन्होने गुणो को रस का उत्कर्पक माना है । रस का उत्कर्प न करने पर वे अनुप्रास मात्र रह जाते हैं —

"रस के भूपित करन ते गुण बरने सुखदानि ।
गुन भूपण अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि ॥"[3]

---

१ 'हिन्दी ध्वनालोक', सम्पादक—डा० नगेन्द्र, (सम्वत २०११), पृष्ठ १५२ ।
२ वही वही पृष्ठ १५४ ।
३ वही वही पृष्ठ १६३ ।

इन्होने भी मम्मट की भाँति रीतियो के वर्णन मे वृत्तियो का ही वर्णन किया है। दास तत्व-दृष्टि से गुणो का रस के साथ ही नित्य सम्बन्ध मानते है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे वाह्य-स्वरूप अथवा मूर्त्त रूप को ही प्रमाण मानते है।

इन आचार्यो ने गम्भीरतापूर्वक तुलनात्मक विश्लेषण करके गुण सम्प्रदाय का विकास नही किया। इनके द्वारा दण्डी, वामन तथा मम्मट के आधार पर ही विभिन्न मतो का स्पष्टीकरण तथा परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया। इनके लक्षण-ग्रन्थो मे प्राय स्वतन्त्र और मौलिक विवेचन का अभाव रहा। फिर भी चिन्तामणि, देव, दास, आदि आचार्यो मे कुछ निजी विशिष्टताएँ भी विद्यमान है।

आलोच्य-काल मे हिन्दी मे गुण-सम्प्रदाय का विवेचन

इस काल मे गुण सम्प्रदाय का भी विवेचन करने वाले आलोचक स्पष्टत दो प्रकार के हैं, एक तो रीतिकार, जो रीतिकालीन शैली का अनुसरण करके गुणो का अन्य काव्यागो के साथ विवेचन करते रहे तथा दूसरे आधुनिक आलोचक, जो नए साहित्य की उपज है तथा जिन पर प्राचीन और नवीन दोनो ही साहित्यो तथा उनके विभिन्न वादो और सिद्धान्तो का प्रभाव पडा है। रीतिकारो ने प्राय' गुणो का मम्मट के आधार पर परिचयात्मक विवरण मात्र दिया है। किसी-किसी लेखक ने वामन के गुणो को भी अपनाया है। इस काल मे भी रीति तथा वृत्तियो की अभिन्नता मानी गई है।

आधुनिक आलोचको ने गुणो के विवेचन को अपूर्व विस्तार दिया हैं। इनके द्वारा गुणो को नवीन दृष्टिकोण से परखा गया है तथा समयानुकूल भाषा के नए-नए गुणो की स्थापना हुई है। इनके द्वारा वर्डस्वर्थ, हेनरी ल्यूज, पेटर, रेले आदि विद्वानो के शैली तथा गुण सम्बन्धी विचारो के प्रभावस्वरूप नवीन उद्भावनाएँ भी हुई हे। गुणो का काव्य के लक्ष्य से सम्बन्ध, उनके निर्माण मे परिस्थितियो का योग, गुणो की सख्या, सीमा तथा लक्ष्य; उनका मनोवैज्ञानिक-आधार तथा रस से सम्बन्ध आदि विपयो को भी इनके विवेचन मे अपनाया गया है। इस काल के आधुनिक रीतिकारो तथा आलोचको का गुण-सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार है :—

आधुनिक रीतिकार

लछिराम

लछिराम ने अपने ग्रन्थ 'रावणेश्वर कल्पतरु' के नवें कुसुम मे गुणो का वर्णन किया है। उन्होने पहले मम्मट के अनुसार माधुर्य, ओज, प्रसाद नामक तीन ही गुणों का वर्णन करके, बाद मे प्राचीनो के मतानुसार दस गुणो का भी उल्लेख किया है उनके गुणो का विवेचन 'रस गगाधर' के आधार पर हुआ है।

कविराज मुरारीदान

उनका उद्देश्य केवल अलकारो का वर्णन करना था, इसलिए उन्होने बहुत सक्षिप्त तथा साधारण रीति से गुणो का वर्णन अपने ग्रन्थ 'जसवन्त जसोभूषण' मे किया है।

कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी ने 'रस मजरी' के षष्ठ स्तवक मे गुणो का वर्णन किया है, जिसके अन्तर्गत गुण का लक्षण, स्वरूप, गुण तथा अलकार का पारस्परिक भेद, गुणों की सख्या तथा माधुर्य, श्रोज और प्रसाद नामक तीन गुणों का वर्णन किया गया है। उनका गुणो तथा वृत्तियो का लक्षण मम्मट का अनुवाद मात्र है। भरत के अनुसार वे गुणो को दोषो का अभाव मानते हैं (अतएव विपर्यस्ता) इस प्रकार उनका मत वामन से नही मिलता, जो गुणो का अभावात्मक न मानकर भावात्मक मानते है (काव्य शोभाया: कर्त्तारो गुणा·)। उन्होने मम्मट की भाति केवल तीन गुण माने है तथा गुण और अलकार के भेद-प्रदर्शन मे भी, उन्ही के सिद्धान्त का अनुसरण किया है। वे उनके अनुसार ही गुणो को रस का धर्म मानते है, क्योकि गुण रस के साथ नित्य रहते है तथा अलकार रस का साथ छोडकर नीरस काव्य मे भी रहते है। गुण सदैव रस का उपकार करते है पर अलकार सदैव नही करते।[1] गुण नित्य है तथा अलकार अनित्य।

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

'रसाल' जी ने शब्दालकार के जो आधारभूत सिद्धान्त, पुनरुक्ति, प्रयत्न-लाघव ध्वनि-साम्य, कौतुक-कौतूहल-प्रियता तथा जटिलता-प्रियता माने है, वे गुणो के मूल मे भी माने जा सकते है। ये तत्व वामन द्वारा स्वीकृत रीति के बहिरग, शब्द-गुम्फ, पद-योजना, वर्ण-योजना आदि तत्वो के मूल मे भी दिखलाई पडते हैं। इनमे पुनरुक्ति, प्रयत्न-लाघव तथा ध्वनि-साम्य का तो विभिन्न गुणो के स्वरूप-निर्माण के मूल मे विशेष स्थान है। ये तत्व शब्दालकारो के आधारभूत सिद्धान्त है। शब्दालकारो का सम्बन्ध शब्दो से है। अतएव शब्दो के गुणो के मूल मे विशेष रूप मे उनके ये सिद्धान्त माने जा सकते है। उन्होने इन सिद्धान्तो का कोई वैज्ञानिक विवेचन नही किया है। ये शब्द-गुणो के बाह्य स्वरूप के मूल हो सकते है, आन्तरिक के नही।

'रसाल' जी का विचार है कि रीतियो ने शब्दालकारो को तो प्रभावित किया है पर उनका अर्थालकारो पर प्रभाव नही पडा है। रीतियो का आधार गुण है, इसलिए रीति और गुण के आधार पर वृत्यनुप्रास जैसे अलकारो का स्वरूप अधिका-

---

१ 'रस मजरी' षष्ठ स्तवक (स० १९९८), पृ० ३८३।

धिक विकसित हुआ है। शब्द-गुणो का सम्बन्ध शब्दो से विशेष रूप मे होने के कारण उन्होने वृत्यनुप्रास जैसे शब्दालकारो के स्वरूप मे ही योग दिया, अर्थालंकारों के नही।

सीताराम शास्त्री

उनके ग्रन्थ 'साहित्य-सिद्धान्त' मे अन्य १३ काव्यागो के साथ-साथ गुणो का भी पण्डिताउ शैली मे, पद्य की अपेक्षा गद्य मे सामान्य विवेचन हुआ है, जो जटिलता के कारण अधिक स्पष्ट नही है।

अर्जुनदास केडिया

उन्होने 'भारती भूषण' मे उपनागरिका वृत्ति की टिप्पणी मे वृत्तियो मे व्यजनो के अतिरिक्त स्वरो का भी आधार माना है। उनका विचार है कि स्वरो के ह्रस्व स्वरूप उपनागरिका तथा कोमला मे और दीर्घ रूप परुषा वृत्ति मे उपयुक्त जान पडते है। उन्होने गुणो का स्पष्ट नाम लेकर यह बात नही कही, पर वास्तव मे गुणो मे स्वर तथा व्यजन दोनो का आधार उन्हे पूर्णता पर पहुँचाता है। उनके विचार से माधुर्य तथा प्रसाद गुणो मे स्वरो के ह्रस्व रूप तथा ओज गुण मे दीर्घ रूप विधेय है। केडिया जी का विचार युक्तिसगत है, क्योकि एक प्रकार से मूल आधार तो स्वरो का ही होना चाहिए, क्योकि उनमे अधिक स्वाभाविकता होती है। वर्ण-योजना, पद-बन्ध या शब्द-गुम्फ मे, जो शब्द-गुणो के मूल तत्व है, स्वरो का भी व्यजनो की भाँति आधार लिया जाता है। प्रयोगवादी कवियो ने विशेषकर परवर्त्ती काल मे स्वरो का विशेष आधार लेकर अपने काव्य-सौन्दर्य को बढाया है।[1]

विहारीलाल भट्ट

भट्ट जी 'साहित्य-सागर' की नवी तरग मे गुणो का वर्णन करते हुए, उन्हे भाषा से सम्बन्ध रखने वाला विषय मानते है। यह ठीक ही है। गुणो का सम्बन्ध भाषा से ही है, क्योकि यह गुण शब्दो के है। शब्दो अथवा भाषा के माध्यम से ही गुण रस के उपकारक होते है। उन्होने मुख्य तीन गुण मानकर उन्ही से दस गुण निकाले है। उनका गुण-विवेचन प्राचीन परिपाटी पर हुआ है।

मिश्रबन्धु—

मिश्रबन्धुओ के मतानुसार काव्य के सौन्दर्य का विशेष मानदण्ड, पदलालित्य, पद-मैत्री तथा अर्थ-गाम्भीर्य है। उन्होने मम्मट के तीन गुणो तक ही सीमित न रह कर हिन्दी कवियो के काव्य मे पूर्ववर्ती आचार्यो के गुणो का भी निरीक्षण किया

---

१. देखिए 'तार सप्तक' (सन १९४३), पृ० ४१।

है तथा जिनमें अधिक गुण पाये हैं, उसके काव्य की ही सराहना की है।[1] उनकी व्यावहारिक आलोचना में गुणों का विशेष आधार ग्रहण किया गया है।

उन्होंने गुणों के वर्णन में एक और नवीनता का यह समावेश किया है कि गुणों के विभाजन में संस्कृत भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा की प्रकृति का ध्यान रखना भी आवश्यक माना है। उनका विचार है कि माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणों के वर्णों का विभाजन हिन्दी भाषा की प्रकृति के आधार पर होना चाहिए, क्योकि जो वर्ण संस्कृत में किसी गुण के व्यंजक हों, हिन्दी में न भी हो सकते है जैसे 'ण' संस्कृत में माधुर्य व्यंजक है, किन्तु हिन्दी में नही है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि आधुनिक रीतिकारो ने भी अपने पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यो की भाँति गुणो को रीति की ही भाँति काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार नही किया है। इस काल का गुणो का विवेचन विशेष शिथिल रहा, क्योंकि इन आचार्यों का ध्यान गुणों की अपेक्षा अलकार तथा रस सम्प्रदाय के विवेचन में अधिक लगा हुआ था।

इन आचार्यो के द्वारा सामान्यत. रीति की भाँति गुणो का विवेचन भी मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर, उसके समन्वयात्मक रूप को अपना कर, किया जाता रहा। उसमें न तो कोई नवीन चिन्तन दिखाई पडता है, न मौलिक प्रतिपादन। रचनात्मक काव्य के क्षेत्र में भी काव्य गुणों की सीमा, ओज, प्रसाद, माधुर्य के प्रदर्शन तक ही रही। इन लेखकों की व्यावहारिक आलोचना के भी प्राय. ये तीन गुण ही आधार थे। काव्य की उत्कृष्टता इन गुणो के समुचित समावेश पर आधारित थी। मिश्रबन्धु आदि आलोचकों ने मम्मट के तीन गुणों की अपेक्षा वामन के दस गुणो को अपनी व्यावहारिक आलोचना का आधार बनाया। इनके द्वारा गुणो का सम्बन्ध रीतियों तथा वृत्तियों से, मम्मट के अनुसार ही स्वीकार किया जाता रहा। इन रीतिकारों के द्वारा किसी नए गुण की उद्‌भावना नहीं की गई।

आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट की भाँति ही गुणो के लक्षण तथा स्वरूप, गुण तथा अलकार का भेद, गुणों की सख्या आदि विषयो का निरूपण होता रहा। 'रसाल' जी ने शब्दालकारों के आधारभूत सिद्धान्त, पुनरुक्ति, प्रयत्न-लाघव ध्वनि-साम्य, कौतुक-कौतूहल-प्रियता का जो निर्देश किया, वे गुणो के भी, किन्ही अंशो में, आधारभूत सिद्धान्त हो सकते है।

---

१ "प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, समाधि, कांति और उदारता नामक गुण देव की रचना में पाए जाते हैं। कहीं-कही ओज का भी चमत्कार है। पर्यायोक्ति, सुर्वमिता, सुसम्मिता, संक्षिप्तनादि गुणो की भी आपकी रचना में बहार है।"

'नवरत्न' (स० १९६८), पृष्ठ २९ तथा

देखिए 'मिश्रबन्धु विनोद' (स० १९८३), पृष्ठ २९९-३००।

केडिया जी ने व्यजनो के अतिरिक्त स्वरो को भी गुणो का आधार मानकर, माधुर्य तथा प्रसाद गुणो मे स्वरो के ह्रस्व रूपो तथा ओजगुण में दीर्घ रूपो को मान्यता दी। इस प्रकार परवर्त्तीकाल मे, काव्य-भाषा के सौन्दर्य के मूल मे, जो स्वरो की प्रतिष्ठा प्रयोगवादियो ने की, उसके प्रारम्भिक दर्शन इनके विवेचन मे होते है।

इनके द्वारा गुणो का सम्बन्ध अर्थ की अपेक्षा भाषा से ही अधिक माना गया। मम्मट के अनुसार अर्थ गुणो को इनके द्वारा भी गुण नही माना गया। मिश्रबन्धुओ ने गुणो का विश्लेषण हिन्दी की प्रकृति को ध्यान मे रखकर करना उचित समझा, क्योकि हिन्दी तथा सस्कृत भाषा की प्रकृतियो मे विशिष्ट अन्तर है।

इस प्रकार इन रीतिकारो ने परम्परागत रूप मे ही गुणो का विवेचन किया तथा प्राप्त-ज्ञान के सोदाहरण परिचयात्मक-विवरण के अतिरिक्त कोई मौलिक-तथ्य प्रस्तुत नही किया। इनका दृष्टिकोण रीतिकालीन था तथा प्रतिभा अपेक्षाकृत रीति-काल के आचार्यो से भी सीमित थी। इनमे उस काल के देव, चिन्तामणि तथा दास जैसे आचार्यो की सी विशिष्टताएँ भी नही थी। इसलिए इनका गुणो का विवेचन केवल सामान्य परिचयात्मक विवरण तक ही सीमित रहा, आलोचनात्मक नही बन सका।

आधुनिक आलोचक

प० महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने गुणो के विवेचन मे सबसे पहले शुद्धता का महत्त्व स्थापित किया है। उनका विचार है कि शुद्ध, व्याकरण-सम्मत तथा साहित्यिक भाषा ही गुण सम्पन्न हो सकती है, अशुद्ध नही। उनके विचार से जब तक भाषा शुद्ध नही होगी तब तक उसमे अन्य गुणो का आना सम्भव नही है। काव्यात्मक तथा सुन्दर भाव शुद्ध भाषा द्वारा ही प्रतिपादित हो सकते है। उन्होने प्राचीनो के गुणो का वर्णन न करके भाषा सम्बन्धी अपने निजी तथा समयानुकूल विचार व्यक्त किए। उनका विचार है कि भाषा मे सरल तथा प्रभावपूर्ण शब्दो का प्रयोग आवश्यक है। पेचीदा भाव भी भाषा मे ऐसे शब्दो द्वारा प्रकट होने चाहिए, जो प्रचलित तथा बोलचाल के हो। इस प्रकार, उन्होने काव्य की भाषा को क्लिष्टता से दूर रखने का उपदेश दिया है। उन्होने काव्य-भाषा मे सरलता के साथ सुबोधता का होना भी आवश्यक समझा है। उनका विचार था कि कविता की भाषा जितनी बोलचाल से दूर जा पडती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है।[1] इस प्रकार वे भाषा मे शुद्धता के साथ-साथ सरलता, सुबोधता, सीधापन तथा बोलचाल की सादगी का होना आवश्यक मानते है।

द्विवेदी जी ने भाषा के इन गुणो का न तो विशेष रूप मे भारतीय आचार्यो के अनुसार ही विवेचन किया, न पाश्चात्य आचार्यो के। उनका भाषा के गुणो का

१ "रसज्ञ रजन" (स० १९३६), पृष्ठ ४६-४७।

वर्णन उनके विभिन्न,लेखो तथा "रसज्ञ रंजन" के निबन्धो मे, काव्य-भाषा-विवेचन के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रकार उन्होने युगानुकूल काव्य भाषा के गुणो का मौलिक तथा स्वतन्त्र रूप में विवेचन किया है, परम्परागत रूप मे नही।

द्विवेदी जी द्वारा निर्देशित भाषा के गुणो के भारतीय तथा पाश्चात्य आधार ढूंढे जा सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक नही हैं कि उन्होने अध्ययन के आधार पर सोच विचार कर उनका आधार लिया हो। उन्होने तो केवल समयानुकूल साहित्यिक परिस्थितियो के अनुरूप इन गुणो का निर्देश मात्र किया है। उनकी सरलता की भावना मे अरस्तू का परस्पीक्यूटी (Perspecuity) का गुण है, जो वास्तव में प्रसाद गुण के समान ही है।[1] अरस्तू की ही भाति वे अप्रचलित शब्दो के स्थान पर प्रचलित शब्दो तथा मुहावरो का प्रयोग विधेय मानते हैं। उनका भाषा का सरलता तथा सहजता का गुण डिमेट्रियस के प्रसन्न-मार्ग के गुणो के अन्तर्गत तथा यूरिपाइडीज के सरलता तथा सहजता के गुणो के समान है, जो भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रसाद गुण के समान ही है। यूरिपाइडीज के समान ही वे बोलचाल की भाषा के प्रयोग को अच्छा समझते थे। उनके भाषा के गुण क्विन्टिलियन की 'ऐटिक शैली' के गुणो के भी अनुकूल है, जिसमें भावो की नैसर्गिक अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दो द्वारा होनी अनिवार्य है। इस प्रकार उन्होंने शुद्धता, सरलता, सुबोधता, स्पष्टता, सहजता आदि गुणो का उल्लेख पाश्चात्य आचार्यो के प्रभाववश, समकालीन काव्य तथा भाषा की स्थिति को देखते हुए किया है। उनके ये गुण हेनरी ल्यूज के सरलता के नियम के अन्तर्गत, पेटर के मस्तिष्क पक्ष के अन्तर्गत तथा रेले के शैली के बाह्य-तत्व के गुणो के अन्तर्गत हैं। द्विवेदी जी ने काव्य के आत्मपक्ष के गुण, निश्छलता, सयम, वैयक्तिकता की अपेक्षा बुद्धि-पक्ष के गुणो का निर्देश किया है।

भारतीय गुणो मे से उनकी भाषा का आदर्श प्रसाद गुण के अधिक समीप है। वे भाषा का भाव से सम्बन्ध मानते हैं। उनकी भाषा के गुणो का वामन के अर्थ-गुण प्रौढि, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, क्रान्ति आदि मे समाहार हो सकता है। इन शास्त्रीय गुणो के अतिरिक्त उनके द्वारा निर्देशित भाषा की शुद्धता, उनका निजी मौलिक गुण है, जिसके बिना अन्य सारे गुण निरर्थक होते हैं। इसकी व्याख्या प्राचीन आचार्यो ने नही की थी। इस प्रकार गुणो का विवेचन द्विवेदी जी के समय से ही परम्परागत मार्ग छोड़कर, युग की आवश्यकताओ के अनुकूल, सामयिक साहित्य का आधार लेकर, चलने लगा। द्विवेदी जी के पश्चात् रीतिकारो की भाति, हिन्दी मे मम्मट को आधार मान कर केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणो का ही विवेचन नही किया गया है वरन् नए-नए काव्य-गुणों की ओर भी उनका तथा उनके परवर्ती आलोचको का ध्यान गया है।

---

१ देखिए 'रिह्टोरिक्स' बुक ३, प्रकरण २।

प० रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने काव्य की भाषा के चार तत्वों का उल्लेख किया है —(१) गोचर रूप-विधान करने वाले शब्दो का प्रयोग, (२) विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्दो का प्रयोग, (३) ऐसे वर्ण-विन्यास का प्रयोग, जिसका आधार नाद-सौष्ठव हो, तथा (४) व्यक्तियो के नामो के स्थानो पर उनके रूप, गुण या कार्य-बोधक शब्दो का प्रयोग। इस प्रकार उनके अनुसार शब्दो के प्रमुख गुण, गोचर, रूप गुण, कार्य-व्यापार विधायकता तथा नाद-सौष्ठवता है।

शुक्ल जी द्वारा निर्देशित भाषा के इन गुणो का सम्बन्ध भारतीय आचार्यो के प्रमुख भाषा के तत्वो तथा गुणो से भिन्न नही है। उनका निर्देशित पहला तत्व गोचर रूप-विधान करने वाले शब्दो का प्रयोग, भाषा की लक्षणा शक्ति पर निर्भर है।' शुक्ल जी का विचार है कि 'लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार प्रदान का विधान प्राय सब देशो के कवि-कर्म मे पाया जाता है।"[२] उनका काव्य-भाषा का प्रथम तत्व दण्डी के समाधि गुण से मिलता है। दण्डी समाधि को काव्य का सर्वस्व मानते हैं। गोचर रूप-विधान करने वाली शब्दावली के प्रयोग मे एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर सम्यक् आधान या उपचार होता है। यही दण्डी का समाधि गुण है। इसी प्रकार शुक्ल जी का दूसरा तथा चौथा तत्व-विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्दो का प्रयोग तथा साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग, वामन द्वारा निर्देशित ओज नामक अर्थ-गुण के अन्तर्गत, अर्थ प्रौढि के समान है, जिसमे कभी विशेष्य को उभारने के लिए व्यास और समास पद्धतियो का प्रयोग होता है तथा कभी साभिप्राय विशेषणो का। उनका पहला, दूसरा तथा चौथा तत्व वामन के समाधि गुण के समान भी है। वामन का समाधि गुण अर्थ दृष्टि पर आधारित है अर्थात् अर्थ को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए चित्त का अवधान करता है। इसकी ओर शुक्ल जी का विशेष ध्यान है। वे शब्दो के प्रयोग मे अर्थ-दृष्टि का विशेष ध्यान रखते है तथा शब्द का भाव से अटूट सम्बन्ध मानते है। उनका तीसरा तत्व नाद-सौन्दर्य के आधार पर की गई वर्ण-योजना भी शब्द-गुण, माधुर्य, कान्ति, उदारता आदि से मिलता है। माधुर्य गुण मे पद, पृथक् और श्रुति-मधुर होते है, इसलिए नाद-सौन्दर्य मे सहायक होते हे। उदारता मे भी पद नृत्य सा करते हैं तथा कान्ति मे पद-औज्ज्वल्य की विशेषता रहती है। इस प्रकार, यद्यपि शुक्ल जी का गुण-विवेचन उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत, स्वाभाविक रूप मे, प्रसंगवश ही आ गया है तथा प्राचीनो से पूर्णतया भिन्न है तथापि उसमे अप्रत्यक्ष रूप मे उनके द्वारा निर्देशित गुणो का भी समाहार हो गया है।

उनका गुण-विवेचन इसी प्रकार पाश्चात्य आचार्यो के शैली-विवेचन से भी मिलता है। शुक्ल जी के गुण-विवेचन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे काव्य

१ देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृष्ठ २३८।
२ देखिए वही पृष्ठ २३९।

के केवल वस्तु या शैली तत्व पर ही जोर नही देते। वे दोनो तत्वो का सामजस्य श्रेयस्कर समझते हैं। उनके काव्य-गुणो का सम्बन्ध कोरा शब्द-प्रयोग या विशिष्ट-पद-रचना से नही है। उन्होने प्रत्येक काव्य-गुण का लक्ष्य, भाव या रस का उत्कर्ष करना माना है। उनका भाषा के बाह्य तथा आन्तरिक गुणो का विवेचन पाश्चात्य आचार्य पेटर तथा रेले से मिलता है। उनके शैली के बाह्य गुणो के अनुसार ही उन्होने नाद-गुण, चित्र-गुण तथा अर्थ-गुण का विवेचन किया है। उनके निर्देशित गुण, गोचर-रूप, गुण, कार्य तथा व्यापार-विधायकता और नाद-सौष्ठवता रेले के समान ही हैं। गोचर रूप, गुण, कार्य, व्यापार-विधायकता का गुण रेले के चित्र तथा अर्थ-गुण के समान है, क्योकि इस गुण मे रूप, गुण, कार्य व्यापार के बिम्ब ग्रहण कराने की शक्ति के साथ-साथ अर्थ-ग्रहण कराने की भी शक्ति समाहित है। इन आचार्यो के भाषा के आन्तरिक तत्वो मे से वैयक्तिक तत्व के गुण, निश्छलता, सयम, आत्म-निषेध आदि का कोई उल्लेख न करके, उन्होने केवल भाव, रस, अर्थ का वर्णन किया है। इस प्रकार उनका गुण-विवेचन वस्तु-परक ही है, आत्म-परक नही। इस प्रकार वे पाश्चात्य विचार-प्रणाली की अपेक्षा भारतीय भावाधारा के अधिक निकट रहे है।

शुक्ल जी के उपर्युक्त चार काव्य-गुणो मे अरस्तू के परस्पीक्यूटी तथा प्रोप्राइटी दोनो ही का समावेश है। साभिप्राय विशेषणो के तत्व की व्याख्या मे वे शब्दो के औचित्य पर जोर देते है, जो अरस्तू का प्रोप्राइटी नामक गुण ही है। अरस्तू के अतिरिक्त, उनका गुण-विवेचन सिसरो, डायोनीसियस, डिमेट्रियस तथा दान्ते आदि आचार्यो से भी मिलता है। उनके काव्य-भाषा के चार-तत्व इन आचार्यों के किसी न किसी तत्व के अन्तर्गत अवश्य आ जाते हैं।

इस प्रकार यद्यपि शुक्ल जी का गुणो का विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य, दोनो आचार्यो के मतो से मिलता है, तथापि वह उनकी निजी विशिष्टता से युक्त ही है। वे पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्री आलोचको के समान काव्य मे अभिव्यजना मात्र पर ही जोर न देकर, वस्तु, भाव, रस का ही सदैव विशेष ध्यान रखते है। उनके अनुसार काव्याभिव्यजन, भाषा-गुण, शैली आदि स्वय सिद्धिया नही है, वे रस, भाव तथा वस्तु के साधन मात्र हैं। यदि काव्य की भाषा उनके निर्देशित चार गुणो के अनुरूप रहकर, रस तथा भाव का प्रकर्ष करती है तो ही सर्वोत्तम है, अन्यथा नही। भाषा के प्रत्येक गुण का रस, भाव तथा वस्तु से सम्बन्ध मानने मे वे आनन्द, अभिनव तथा मम्मट के समन्वयात्मक आदर्श को ही ग्रहण करते है तथा गुणो को रस के स्थायी उत्कर्षक-तत्व के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनके भाषा के उपर्युक्त गुण, शब्द की विशिष्टता से अधिक सम्बन्ध न रख कर अर्थ के ही गुण है। वे भाषा मे अलकरण अथवा उदात्त गुण होने के पक्ष मे कभी नही रहे तथा सरलता, स्पष्टता, प्रसन्नता शुद्धता, चित्रमयता, नाद-सौष्ठवता तथा मूर्त्तता आदि पर ही विशेष ध्यान देते रहे। भाषा के अन्य सारे गुणो से अधिक उन्होने उसकी भाव तथा रस की सहायक होने की योग्यता पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होने द्विवेदी जी की भाँति यह विवेचन

नही किया कि काव्य की भाषा सरल हो या गम्भीर, साधारण जनता की भाषा हो या सस्कृतनिष्ठ। सिद्धान्त रूप मे वे बोलचाल की भाषा को काव्य के उपर्युक्त नही मानते थे।

श्याम सुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास जी शब्द तथा वाक्य को उत्तम शैली (रीति) के मुख्य आधार मानते है। वे शब्दो मे शक्ति तथा वृत्ति के साथ गुणो का भी विधान मानते है। उनका विचार है कि शब्दो के सार्थक होने पर भी वाक्यो मे पिरोये जाने पर ही उनके गुण स्पष्ट होते है। इस प्रकार उन्होने पहली बार शब्दो के गुणो का वाक्यों के सम्बन्ध मे निर्देश किया है। अब तक हिन्दी के आचार्य शब्द का अर्थ से सम्बन्ध बताकर, उसके विशेष गुणो का निर्देश करते रहे थे। पर वाक्य के अन्तर्गत आकर ही शब्द मे गुण स्पष्ट होते है, इसकी ओर श्यामसुन्दर दास जी ने ही स्पष्ट रूप से सकेत किया। उनका विचार है कि शब्दो मे प्रभावोत्पादकता का गुण वाक्य मे प्रयुक्त होने पर ही पैदा हो सकता है, वाक्य से पृथक् नही।

इस प्रकार श्यामसुन्दर दास जी गुणो का शब्दो से और उनके द्वारा वाक्यो से सम्बन्ध मानते है, क्योकि गुण प्रधानतथा रस का उत्कर्ष करने वाले रस-धर्म है तथा रसो की प्रधानता वाक्यो मे ही होती है। वे भी मम्मट के अनुसार माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुण ही मानते हैं, किन्तु उन्होने वैदर्भी को वामन की भाति समग्र गुण युक्त न मानकर केवल माधुर्य गुण से ही युक्त माना है तथा पाचाली मे माधुर्य तथा सौकुमार्य न मानकर प्रसाद गुण ही स्वीकार किया है।

उन्होने गुणो तथा रसो के सम्बन्ध का विवेचन भी किया है, जो परम्परागत रूप मे नही है। माधुर्य गुण, शृगार, करुण तथा शान्त रसो को परिपुष्ट करता है, किन्तु अवस्था विशेष मे कोई धीरोदात्त नायक ओजस्वित होकर यदि कुछ कहे, तो उसमे ओज गुण होना आवश्यक तथा उपयुक्त होगा। इसी प्रकार रौद्र तथा वीर रस की परिपुष्टि के लिए गौडी रीति का अनुसरण वाँछनीय नही हो सकता है। उनके विचार से कुछ विशिष्ट अवसरो पर गुणो मे परम्परागत रसो के अतिरिक्त अन्य रसों के समावेश से, काव्य मे विचक्षणता तथा कवि की कुशलता आ सकती है।[1] इस प्रकार उन्होने मम्मट आदि आचार्यों से अपना मतभेद प्रस्तुत किया है। गुणो तथा रसो के सम्बन्ध मे यह उनका मौलिक विचार है, किन्तु यह रस के सिद्धान्त पर सही नही उतरता। माधुर्य गुण मे ओज गुण का समावेश किस प्रकार से होगा तथा फिर माधुर्य गुण मे क्या विचक्षणता तथा कुशलता उत्पन्न होगी, इसका उन्होने निर्देश नही किया है। इसके अतिरिक्त विरोधी गुणो के पारस्परिक सम्मिलन से विरोधी रसो का परिपाक असम्भव है। माधुर्य गुण से रौद्र तथा वीर रस का पूर्ण परिपाक असम्भव है। उनकी निर्देशित, जो विचक्षणता या कवि-कुशलता होगी

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (सन् १९४२), पृ० ३१०।

वह रस की अपूर्ण स्थिति मात्र होगी, पूर्ण परिपाक की स्थिति नही। रसो तथा गुणो के पारस्परिक सम्बन्ध का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन, अभिनव, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने किया है, वह इनके विचार की अप्रामाणिकता सिद्ध करता है। रस विवेचन को वे स्वय पूर्ण. संगत, व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक मानते है।[1]

उन्होने रीति (शैली) के गुणो के पाश्चात्य विभाजन की तुलना भारतीय विभाजन से करते हुए माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को पाश्चात्य विभाजन से अधिक सगत, व्यापक और सुव्यवस्थित माना है। पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किए हुए शैली के गुणो के दो भाग प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक है। प्रज्ञात्मक के अन्तर्गत प्रसाद तथा स्पष्टता और रागात्मक मे शक्ति, करुण और हास्य को गिनाया है। इनके अतिरिक्त उन्होने लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली (रीति) के विशिष्ट गुणो मे स्थान दिया है। उनका विचार है कि यह विभाजन भारतीय विभाजन की अपेक्षा वैज्ञानिक नही है। वे लिखते हैं, "हमारे यहाँ आचार्यो ने इन गुणो और शब्दालकारो को रसो का परिपोषक तथा उत्कषर्क-साधक मानकर इस विभाग को सर्वथा सगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अन्तरात्मा के अन्तर्गत भावो को मुख्य स्थान देकर, रसो को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बडी ही सुन्दर हो गई है।"[2] उनका यह विचार समर्थनीय है। पाश्चात्य विभाजन के प्रमुख तीन रूपो, बुद्धि-पक्ष, राग-पक्ष तथा कला-पक्ष मे से कला-पक्ष तो बुद्धि के अन्तर्गत ही आ जाता है। बुद्धि-पक्ष का सम्बन्ध शब्दो की बाह्य कला, औचित्य और स्पष्टता आदि से तथा राग-पक्ष का ओज, तीव्रता, ध्वन्यात्मकता, शक्ति, करुण और प्रसाद आदि से है। इस विभाजन से कही उपयुक्त वामन का शब्द तथा अर्थ के १० गुणो का विभाजन है। उनके अर्थ गुणो मे राग-पक्ष के तत्व भी सन्निहित हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में गुणो का रसो से जो सम्बन्ध स्थापित हुआ है उससे अधिक विकास-पूर्ण चिन्तन पश्चिम मे नही हुआ है। उसमे जो पूर्णता है, वह पाश्चात्य आचार्यो के शैली विवेचन मे अभी नही आई है।

वे भी शुक्ल जी की भाति काव्य मे सगीतात्मकता के गुण का विशेष महत्त्व मानते है। इसके लिए वे वृत्त, वृत्तियाँ तथा शब्दालकार, सबका माध्यम के रूप मे प्रयोग विधेय मानते है। वृत्त केवल पद्य मे ही सहायक हो सकते है, गद्य काव्य मे नही। इसके अतिरिक्त वृत्तहीन मुक्तक काव्य मे भी सगीतात्मकता अथवा नाद सौन्दर्य रहता है, जो स्वरो के कलापूर्ण प्रयोग के आधार पर होता है। स्वरो मे सुर और लय के कलापूर्ण आधार से यह सौष्ठव उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार शब्दालकारो के प्रयोग के बिना भी काव्य मे शब्दो के चयन, स्वरो तथा वाक्याशो

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (सन् १९४२), पृ० ३१५।
२ देखिए वही पृ० ३१५।

के समुचित तथा विशिष्ट प्रयोगमात्र से नाद-सौष्ठव उत्पन्न हो सकता है। इनके विपरीत शुक्ल जी ने सुकुमार तथा मधुर वर्णों के प्रयोग से नाद-सौष्ठव की उत्पत्ति पर जोर दिया था। ये दोनो विद्वान् विभिन्न साधनो के प्रयोग का विवेचन एक ही साध्य को सामने रखकर करते है।

वे शैली (रीति) के परम्परागत शब्द और अर्थ के गुणो के अतिरिक्त विचारो की सरलता, विषय-प्रतिपादन की सरलता, मुहावरो की उपयुक्तता, वाक्यो की सरलता तथा आनुषगिक प्रयोगो की समुचित योजना आदि गुणो को भी भाषा की सरलता का कारण बताते है। प्रकारान्तर से यह सब गुण, शब्द तथा अर्थ के गुणो के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाते है। इन गुणो का सम्बन्ध शब्दो की अपेक्षा वाक्यो से अधिक है। उन्होने सुन्दर भाषा के लिए शब्दो के अतिरिक्त, वाक्यो के गुणो का भी निर्देश किया है।

जयशंकर 'प्रसाद'

'प्रसाद' जी व्यजना को अनुभूतिमयी प्रतिभा का परिणाम मानते है। उनका विचार है कि अनुभूति की तीव्रता की मात्रा मे रीति, गुण, विशिष्ट-पद-रचना आदि का सौन्दर्य स्वाभाविक रूप मे व्यक्त हो जाता है। उन्होने अपने लेखो मे गुणो का पृथक् निर्देश नही किया है। वे अभिव्यक्ति के ही अग है तथा स्वाभाविक रूप मे अनुभूति के परिणामस्वरूप व्यक्त होते रहते है। गुण भी मनुष्य की अनुभूतियो की भाँति परिवर्तनशील तथा विभिन्न प्रकार के होते है। एक युग अथवा काल के गुण दूसरे युग अथवा काल के पूर्णतया अनुरूप नही हो सकते।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी आधुनिक काव्य के लिए रीतिकाल की माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण-सम्पन्न भाषा के प्रयोग को उपयुक्त नही मानते है। उनका विचार है कि साहित्य के इतिहास के प्रत्येक काल मे सर्वगुण-सम्पन्न भाषा का होना अनिवार्य है। यह आवश्यक नही है कि रीतिकाल की भाति प्रत्येक युग मे केवल एक ही प्रकार के गुण से युक्त भाषा मे काव्य-रचना होती रहे। इस प्रकार की भाषा के प्रयोग से केवल एक ही प्रकार के भाव, काव्य मे अधिकांश रूप से व्यक्त होते रहेगे। काव्य की भाषा सर्वगुण-सम्पन्न वैदर्भी के समान होनी चाहिए, जिसमे ससार के सभी राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक, सास्कृतिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक भावो के व्यक्त करने की पूर्ण शक्ति हो। उनके मत से सर्वगुण-सम्पन्न काव्य-भाषा ही सत्काव्य को जन्म दे सकती है।

पन्त जी के विचार से काव्य-भाषा मे परिष्कृति, समृद्धि, विकास, शक्ति तथा अधिकाधिक अर्थ-बोध की सामर्थ्य आदि गुण होने चाहिए। काव्य की भाषा को नवीन जीवन तथा युग के वातावरण के अनुकूल तथा नवीन गुणो से सम्पन्न होना

चाहिए। नए युग के नवीनता-सम्पन्न-जीवन के नए-नए भावो की अभिव्यक्ति के लिए काव्य-भाषा का नवीन गुणो से पूर्ण होना अनिवार्य है, अन्यथा वह युगानुकूल भावो की अभिव्यक्ति मे असमर्थ रह जाएगी।

पन्त जी ने काव्य-भाषा के लिए भाव और भाषा की मैत्री अथवा एकता की आवश्यकता मानी है। उनका विचार है कि "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पडती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएं, जो बोलते हो। सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पडे, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आखो के सामने चित्रित कर सके, जो झकार मे चित्र, चित्र मे झकार हो, जिनका भाव सगीत-विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम मे प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सू घते ही सासो द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश मे समा जावे·· ···।"[१]

इस प्रकार पन्त जी काव्य-भाषा मे चित्रात्मकता, सस्वरता, सरसता, माधुर्य, झकार, सगीतात्मकता तथा प्रेषणीयता आदि गुणो का होना आवश्यक मानते है। इनके काव्य-भाषा के यह गुण अर्थ प्रौढि, सौकुमार्य, श्लेष, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, कान्ति, उदारता आदि भारतीय गुणो से मिलते है। "जिनका सौरभ सू घते ही सासो द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश मे समा जावे" तथा 'जिनका भाव-सगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम मे प्रवाहित हो सके" आदि शब्दो मे वामन के अर्थव्यक्ति नामक गुण की ओर सकेत है। जिन शब्दो मे तुरन्त अर्थ की प्रतीति कराने की क्षमता होती है उनमे अर्थव्यक्ति नामक गुण होता है। रीतिकाल की काव्य-भाषा के प्रति अरुचि तथा उज्ज्वलता (नवीनता) की ओर प्रवृत्ति कान्ति गुण के समान है। सस्वर शब्दो अथवा बोलने वाले शब्दो से वामन के उदारता, सौकुमार्य, तथा माधुर्य आदि गुणो की ओर सकेत है। इस प्रकार पन्त जी ने केवल सौकुमार्य तथा माधुर्य गुणो पर ही जोर न देकर प्राय वामन के सभी गुणो को काव्य-भाषा मे अपनाने का पक्ष लिया है। छायावादी कवियो ने द्विवेदी युग की काव्य-भाषा की इतिवृत्तात्मकता, रुक्षता तथा रसहीनता की प्रतिक्रिया-स्वरूप, ऐसी समृद्ध लाक्षणिक भाषा-शैली की प्रतिष्ठा की कि जो भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यो द्वारा निर्देशित सभी गुणो से सम्पन्न हुई।

पन्त जी का चित्रात्मकता का गुण रेले के चित्र-गुण से, सस्वरता, झकार, माधुर्य तथा सगीतात्मकता का गुण, नाद-गुण (मैलोडी) से तथा प्रेषणीयता आदि गुण, अर्थ-गुण से मिलते हुए है। उनका 'जो झकार मे चित्र, चित्र मे झकार हो' वाला वाक्य 'टू फाइन्ड वर्ड्स फार ए मीनिंग एन्ड टू फाइन्ड ए मीनिंग फार वर्ड्स' से मिलता है।[२]

---

१ 'पल्लव' की भूमिका (सन् १६२६), पृ० २६।

२ देखिए 'स्टाइल', लेखक—रेले (सन् १६२३), पृ० ६३।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

'सुधांशु' जी काव्य-भाषा मे दो गुणो की विशेष आवश्यकता मानते है, अर्थ वोध की शक्ति तथा सगीतात्मकता। अर्थ वोध के लिए वे स्पष्टता का गुण आवश्यक समझते हैं। सगीतात्मकता के महत्त्व के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि धनुप पर चढकर जिस प्रकार वाण अधिक शक्ति सम्पन्न और तीव्र बन जाता है, उसी प्रकार राग के द्वारा पद, विचित्र आकर्पण और शक्ति प्राप्त करता है। अपने सामर्थ्य के वल पर जहाँ तक पद, नही पहुँच सकते, राग की सहायता से वह उस अज्ञात स्थान तक भी पहुँच जाते है। राग मे मिलकर पद अपने वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन करने लगता है।' इस प्रकार वे पाश्चात्य नाद-सौष्ठव तथा अर्थ-गुण को मान्यता देकर नाद-सौष्ठव को अर्थ-गुण का सहायक मानते है।

पडित करुणापति त्रिपाठी

त्रिपाठी जी ने अपने ग्रन्थ 'शैली' के छठे अध्याय मे पाश्चात्य गुणो का विवेचन किया है। वे भी पाश्चात्य गुणो के दो विभाजन, बौद्धिक तथा रागात्मक मानते है। बौद्धिक के अन्तर्गत, शुद्धता, सरलता तथा औचित्य को आवश्यक न मानकर केवल स्पष्टता तथा अलकृति को सम्मिलित करते हैं तथा रागात्मक के अन्तर्गत मर्मस्पर्शिता एव सजीवता को वे पाश्चात्य विद्वान् कैम्बैल के गुण, स्पष्टता (परस्पीक्यूइटी), सजीवता (विवेसिटी), लालित्य (ऐलिगैन्स), उल्लास (ऐनिमेशन), लय (म्यूजिक), तथा मिन्टो के सरलता (सिम्पलिसिटी), स्वच्छता (क्लीअरेन्स), प्रभावोत्पादकता (स्ट्रेन्थ) मर्मस्पर्शिता (पैथोस), प्रसग-सम्वद्धता (हार्मनी) और स्वर लालित्य (मैलोडी) का उल्लेख करके, केवल सरलता, स्वच्छता, स्पष्टता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता एव लय नामक ६ गुणो को मानते है। सरलता मे तथ्य के वोध की शक्ति होती हैं, स्वच्छता मे अभिव्यक्ति की पूर्णता, स्पष्टता मे भावो को हृदय तक पहुँचाने की शक्ति होती हैं, प्रभावोत्पादकता मे भाव की भव्यवता तथा लोक-सामान्य की अनुभूति होने के अतिरिक्त, अभिव्यजन प्रणाली की शक्ति भी होती है शिष्टता मे सुरुचिपूर्णता, परिष्कृति, स्निग्धता तथा सस्कृति का समावेश और ग्राम्यत्व और अश्लीलता का अभाव होता है तथा लय मे ध्वनि-लय तथा ताल-लय का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त उन्होने विनोद नामक गुण को भी मान्यता दी है।

उन्होने अपने ग्रन्थ 'शैली' के सातवे अध्याय मे भारतीय गुणो का इतिहास देकर अन्त मे मम्मट के तीन गुण, माधुर्य, ओज, प्रसाद को मान्यता दी है। वे ओज के अन्तर्गत, अशैथिल्य, दीप्ति, प्रौढता तथा प्रभावोत्पादकता, प्रसाद मे भाव स्पष्टता, अर्थ की विमलता तथा सरलता, और माधुर्य मे विनोदमयता, मनोरमता आदि को

१ 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त'-(सन्-१९४२), पृ० ८५।
२ देखिए 'शैली' ले०-प० करुणापति त्रिपाठी, एम० ए० (स० १९९८), पृ० ११४।

मानते है। इस प्रकार उन्होने केवल पृथक् रूप मे पाश्चात्य तथा भारतीय गुणो का ऐतिहासिक वर्णन करके प्रमुख गुणो की व्याख्या की है, दोनो प्रकार के गुणो का तुलनात्मक अध्ययन नही।

अज्ञेय

'अज्ञेय' जी 'तार सप्तक' के अपने वक्तव्य मे आधुनिक काव्य की सबसे बडी आवश्यकता ऐसे शब्दो के अधिक प्रयोग की बताते है, जो प्राय. विभिन्न स्तर के पाठको मे एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित कर सके। वे आधुनिक काव्य-भाषा मे नया, अधिक व्यापक तथा सारगर्भित अर्थ भरना चाहते है। उनके विचार से भाषा की सम्पूर्ण समाज के लिए बोधगम्यता तथा अर्थ की नवीनता, व्यापकता तथा सारगर्भिता उसके प्रधान गुण है। यह बोधगम्यता तथा अर्थ की व्यापकता मम्मट के विचारानुसार प्रसाद गुण के अन्तर्गत आ सकती है। इनके यह गुण वामन के शब्द, गुण, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति के समान है। वे भाषा की गूढता, अलौकिकता अथवा दीक्षा द्वारा गम्यता को, जो वामन के ओज, श्लेष, उदारता नामक गुणो के समान है, काव्य रीति मे गौण स्थान देते है पर उनका सदैव बहिष्कार करना भी उचित नही मानते। इनके उपर्युक्त गुण रेले के अर्थ गुण तथा बुद्धि-पक्ष के अन्तर्गत आते है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि गुणो का विवेचन महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के समय से ही परम्परा का मार्ग छोडकर नवीन क्षेत्रो मे स्वतन्त्रता के साथ विचरण करने लगा। द्विवेदी जी ने गुणो का शास्त्रीय विवेचन न करके, काव्य-भाषा मे उन्ही गुणो की आवश्यकता का निर्देश किया है, जिन्हे वे युग की परिस्थितियो के अनुकूल रचित रचनात्मक-साहित्य के लिए आवश्यक समझते थे। भाषा की शुद्धता उनका मूलभूत गुण था, जिसके अभाव मे कोई अन्य गुण प्रविष्ठ नही हो सकता। इसके अतिरिक्त उन्होने सरलता, सहजता सीधापन, सुबोधता, मुहावरो के उचित समावेश, असलियत, आदि गुणो की व्याख्या की है। उनके इन गुणो पर भारतीय, ओज, प्रसाद, माधुर्य की अपेक्षा पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी तथा सौन्दर्यवादी आलोचक वर्ड्स्वर्थ, हेनरी ल्यूज, पेटर, रेले आदि का प्रभाव अधिक है। किन्तु पाश्चात्य आचार्यो के गुणो मे से उन्होने उन्ही गुणो को अपनाया है, जो भारतीय विचाराधारा तथा सामाजिक परिस्थितियो के मेल मे है। भाषा के वैयक्तिक तत्व के गुण निश्छलता, सयम आदि का विवेचन उन्होने नही किया है। भारतीय गुणो मे से उनके निर्देशित गुण, प्राय प्रसाद गुण के अन्तर्गत ही आ जाते है।

शुक्ल जी ने भाषा के गुणो को अर्थ, भाव तथा रस के उत्कर्षक के रूप मे ग्रहण किया है। वे उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्यो के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाते है। यही पाश्चात्य विद्वान् प्लेटो, पेटर तथा रेले आदि का भी मत है। उन्होने शब्दो के चार गुण माने है, गोचर रूप-विधान की शक्ति, विशेष रूप व्यापार की

सूचना देने की शक्ति, नाद-सौष्ठव तथा नामों के रूप, गुण या कार्य की बोधकता का गुण। इन चारो मे से नाद-सौष्ठव के अतिरिक्त, एक ही गुण, गोचर रूप, गुण, कार्य, व्यापार-विधायकता अथवा बोधकता ऐसा है, जिसमे शेष तीनो का समाहार हो जाता है। ये दो प्रकार के गुण पाश्चात्य विद्वान् रेले से मिलते है। उनका नाद-सौष्ठव उसके नाद-सौष्ठव (मैलोडी) के समान है[1] तथा उनके गोचर रूप, गुण, कार्य, व्यापार, विधायकता के गुण के अन्तर्गत, उसके चित्र तथा अर्थ गुण आ जाते है। रेले ने भी इनके सम्मिलित प्रभाव पर ही अपना ध्यान रखा है।[2] गोचर रूप, कार्य, गुण, व्यापार के विधान के द्वारा कवि बिम्ब-ग्रहण कराकर अर्थ की ही व्यजना करता है। शुक्ल जी भाषा के गुणो का अर्थ के साथ अटूट सम्बन्ध भी पाश्चात्य विद्वानो की ही भाँति मानते है। उनके विचारो से गुणो का लक्ष्य अर्थ की अभिव्यक्ति है।[3] किन्तु वे अर्थ तक ही सीमित न रहकर भाव तथा रस से भी उनका सम्बन्ध मानते है। इस प्रकार उनके भाषा के गुण, शब्द गुण होने पर भी अर्थ के उत्कर्षक है। वे कल्पना को प्रेरित करके उसके द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराकर, काव्य के आलम्बन (विषयो) को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करके तथा भावो की उद्दीप्ति द्वारा रस-निष्पत्ति मे योग देते है। वे चित्त की दीप्ति, द्रुति, व्याप्ति आदि की अपेक्षा कल्पना का अधिक आधार लेते है। उन्होने पाश्चात्य आचार्यों के भाषा के वैयक्तिक गुण निश्छलता[4] (सिन्सीयरिटी) सयम (रेस्ट्रेन्ट) आत्म-निषेध[5] (सेल्फ-डिनायल), नियन्त्रणपूर्ण कठोरता (आस्टेरिटी) आदि का विवेचन इसीलिए नही किया कि वे भारतीय परम्परागत आदर्शों के अनुसार व्यक्ति की अपेक्षा वस्तुपरक ही अधिक थे।

श्यामसुन्दर दास जी भाषा के लिए शब्दों की महत्ता का रेले के समान ही प्रतिपादन करते हुए, शब्दो मे शक्ति तथा वृत्ति के साथ गुणो का भी उल्लेख करते हैं। उनका विचार है कि शब्दो की सार्थकता होने पर भी, उनके गुणो की स्पष्टता

---

१ "ऑव नो लैस इमपोर्ट इज़ दी पावर ऑव मैलोडी, ह्विच चूजैज, रिजेक्ट्स एण्ड आर्डर्स वर्ड्स फार दी सेटिसफेक्शन देट ए कन्निगली वेरीड रिटर्न ऑव साउण्ड केन गिव टू दी इअर" "स्टाइल" ले०—वाल्टर रेले (सन् १६२३) पृ० १४।

२ "बिसाइडज देयर चाइम इन दी इअर एण्ड दी इमेजेज देट दे पुट बिफोर दी माइन्डस आइज, वर्ड्स हेव फार देयर लास्ट एण्ड ग्रेटेस्ट पजेशन, ए मीनिंग" वही पृ० १७।

३ (क) "लैन्गुएज इट हेज़ बीन शोन, इज टू बी फिटेड टू थाट………… " वही पृ० ६१।

(ख) "मैटर एण्ड फार्म आर नोट सो सैपेरेबिल एज़ दी पापुलर फिलोसोफी वुड हेव देम…… " वही पृ० ६२।

४ "दी मौस्ट सरप्राइजिंग करेक्टरस्टिक ऑव दी राइट पोयिटिक डिक्शन…. इज इट्स मैचलेस सिन्सीरियटी" वही पृ० ८६।

५ देखिए वही पृ० ६४।

वाक्यों में प्रयुक्त होने पर ही होती है। इस प्रकार वे गुणों का वास्तविक आधार शब्दों की अपेक्षा वाक्यों को मानते हैं। उन्होंने वैदर्भी में समग्र गुण न मानकर केवल माधुर्य को स्वीकार किया है तथा पांचाली में केवल प्रसाद गुण की ही स्थापना की है। वे गुणों में परम्परागत रसों के अतिरिक्त अन्य रसों के समावेश से भी काव्य में विचक्षणता अथवा काव्य-कौशल की उत्पत्ति मानते हैं। वे शैली के गुणों के पाश्चात्य, प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक नामक दो भागों को भारतीय गुणों के विभाजन से अधिक वैज्ञानिक नहीं मानते। उन्होंने कला-पक्ष को लालित्य के अन्तर्गत रखा है, जिसमें वे माधुर्य और सस्वरता का भी समावेश मानते हैं।

पन्त जी एक युग के गुणों को अन्य युगों के उपयुक्त नहीं मानते। वे भाषा में प्रायः अनन्त गुणों का समावेश मानते हैं। उनके विचार से जितना जीवन और जगत का विस्तार है, काव्य-भाषा में उतने ही विस्तार के साथ गुणों का समावेश होना चाहिए अन्यथा नवीन भावों; विचारों तथा संवेदनाओं की पूर्ण तथा उचित अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा की शक्ति विकसित नहीं हो सकेगी। उनके चित्रात्मकता, सस्वरता, सरसता, माधुर्य, झंकार, संगीतात्मकता तथा प्रेषणीयता के गुण पाश्चात्य प्रभाव पर आधारित होने पर भी भारतीय गुणों से मिलते-जुलते हैं।

'अज्ञेय' आदि प्रयोगवादी कवि भाषा में गूढ़ता, जटिलता, अलौकिकता आदि के स्थान पर बोधगम्यता, अर्थ की व्यापकता, सार गर्भिता आदि को आवश्यक गुण मानते हैं। वे भाषा में ऐसे गुणों का समावेश उचित सभझते हैं, जो सब प्रकार के बुद्धि के स्तरों के लिए भावों को सुगम तथा सरल बना दे।

इस विवेचन के अनुसार मेरे निष्कर्ष यह हैं :—

(१) इन आलोचकों द्वारा शब्द तथा अर्थ गुणों का परम्परागत रूप में वर्णन नहीं हुआ है। काव्य-भाषा पर विचार करते हुए प्रसंगवश कवियों ने गुणों पर भी अपने विचार प्रस्तुत कर दिए हैं। सैद्धान्तिक रूप में गुणों का विवेचन कम हुआ है।

(२) मम्मट आदि उत्तर-ध्वनि-कालीन आचार्यों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपना कर गुणों का लक्ष्य, अर्थ, भाव तथा रस का उत्कर्ष करना माना गया है।

(३) इनके द्वारा नवीन रचनात्मक साहित्य तथा परिस्थितियों के अनुकूल नए-नए गुणों की उद्भावना की गई है, जो प्राचीन गुणों से पूर्णतया स्वतन्त्र न होने पर भी अपनी निजी विशिष्टताएँ रखते हैं।

(४) इनके गुण-विवेचन पर स्पष्ट तथा विशेष रूप में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का प्रभाव पड़ा है। इनके द्वारा पाश्चात्य, स्वच्छन्दतावादी, सौन्दर्यवादी, समाज-शास्त्रीय विद्वानों के मतों को ग्रहण करके नए-नए गुणों की उद्भावना की गई है।

(५) इनके द्वारा पाश्चात्य तथा भारतीय आदर्शों के समन्वय के आधार पर भी नवीन गुणों का सृजन किया गया है।

(६) इनके द्वारा भारतीय आदर्श के अनुकूल शैली के केवल वस्तु-तत्व सम्बन्धी उन गुणो की व्याख्या हुई है, जो भाव तथा रस के उत्कर्षक है। उसके वैयक्तिक तत्व के गुण, निश्छलता, सयम, आत्म-निषेध आदि पर विचार नही किया गया है।

(७) इन्होने शैली मे वाक्य का महत्वपूर्ण स्थान माना है तथा शब्दो के गुणो की प्रभावोत्पादकता, वाक्य मे प्रयुक्त होने पर ही मानी है, वाक्य से पृथक् रह कर नहीं।

(८) इन्होने यद्यपि भारतीय गुणो की अपेक्षा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे स्वीकृत गुणो का ही अधिकाश उल्लेख किया है तथापि न तो उनकी वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, तर्कपूर्ण तथा व्यवस्थित व्याख्या की है, न भारतीय काव्य-शास्त्र मे निर्देशित गुणो से उनका तुलनात्मक विवेचन ही किया है। इसीलिए इनके गुण विवेचन मे कही-कही स्पष्टता का अभाव है।

(९) इन्होने गुण तथा रस के सम्बन्ध का विवेचन गम्भीर रूप मे नही किया है। इस सम्बन्ध मे अभिनव, मम्मट, पण्डितराज जगन्नाथ के मतो की भी गम्भीर तथा स्पष्ट व्याख्या नही हो सकी है। गुणो की चित्तवृत्ति रूप मे स्थापना, उनका द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति नामक मन स्थितियो के रूप मे निर्देश तथा रस से उनके कारण-कार्य, प्रयोजन-प्रयोज्य आदि सम्बन्धो का विश्लेषण, विवेचन तथा विचार इनके द्वारा समुचित रूप मे नही किया गया है, जैसा आलोच्य-काल के पश्चात् डॉ० नगेन्द्र आदि ने किया।[1]

(१०) इन्होने प्रभाववादियो की भाँति काव्य गुणो का न तो मानसिक प्रक्रिया के मूर्त प्रतीक के रूप मे वर्णन किया है, न सौन्दर्यवादियो के अनुसार उन्हे अभिव्यक्ति के अग के रूप मे स्वीकार किया है।

(११) ये नवीन-काव्य की भाषा के गुणो की कोई सीमा नही मानते है। इनका विचार है कि जैसे जीवन और जगत का विस्तार असीम है उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति करने वाली भाषा के लिए भी नवीन से नवीन गुणो की उद्भावना अनिवार्य है। एक युग की भाषा के गुण दूसरे युग के भावो को अभिव्यक्ति देने मे असमर्थ है। इनके मत से एक ही प्रकार के गुणो का निर्वाह साहित्य मे सदैव नही हो सकता।

(१२) इनके द्वारा प्रमुख रूप मे जिन गुणो का उल्लेख किया गया है वे शुद्धता, सरलता, सुबोधता, सीधापन, बोलचाल की सादगी, गोचर रूप, गुण, कार्य, व्यापार-विधायकता, नाद-सौष्ठव, चित्रात्मकता, सस्वरता, सरसता, माधुर्य, झकार, सगीतात्मकता, प्रेषणीयता, अर्थ की नवीनता, व्यापकता तथा सारगर्भिता आदि है,

---

१ देखिए 'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र', ले०—डा० नगेन्द्र (स० २०११), पृ० ५८-८० ।

जिनका सम्बन्ध दण्डी तथा वामन के गुणों तथा पाश्चात्य चित्र, नाद-सौष्ठव तथा अर्थ गुणों से भी है।

(१३) इन्होंने मम्मट की भांति अन्य गुणों को कुछ मूल गुणों में समाविष्ट करके मूल भूत गुणों का वर्णन नहीं किया है वरन् उनकी निजी विशिष्टताओं के साथ में उनका पृथक् रूप में उल्लेख किया है।

(१४) पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार इन्होंने गुणों के प्रायः दो विभाजन स्वीकार किए हैं, प्रज्ञात्मक अथवा बुद्धि-पक्ष तथा रागात्मक अथवा राग-पक्ष। इनके द्वारा कलात्मक-पक्ष को प्रज्ञात्मक में ही सम्मिलित कर लिया गया है।

(१५) इनके द्वारा गुणों के दो प्रमुख पाश्चात्य भेदों, बुद्धि तथा राग-पक्ष में से राग-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि-पक्ष के गुणों का निर्देश अधिक किया गया है। इसीलिए तीव्रता, करुणा, हास, शक्ति, ध्वन्यात्मकता आदि का विवेचन अधिक नहीं हुआ है। ओज, प्रसाद, माधुर्य भी रस के गुण होने के कारण राग-पक्ष के अन्तर्गत ही हैं। इसी कारण इनके वर्णन की भी प्रज्ञात्मक गुणों की अपेक्षा प्रायः न्यूनता रही है।

(१६) इनके द्वारा भारतीय तथा पाश्चात्य गुणों का वैज्ञानिक आधार पर तुलनात्मक विश्लेषण तथा विवेचन नहीं किया गया है। दोनों प्रकार के गुणों का प्रायः पृथक्-पृथक् निर्देश होता रहा है। उनके समन्वयात्मक रूप का अन्वेषण नहीं हुआ है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विकास

संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विकास

वक्रोक्ति सम्प्रदाय अलंकार-शास्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त है। इसके प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं, जिन्होंने अपने मत का प्रतिपादन उस समय किया था, जब काव्य-शास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था। वक्रोक्ति शब्द प्राचीन समय से ही साहित्य में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता रहा था।[1] यह भामह से भी प्राचीन है, इसलिए उन्होंने इसका लक्षण नहीं दिया। भामह का विचार है कि अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) वचनों को अलंकृत करती है तथा इसके बिना काव्य में सौन्दर्य की प्रतीति नहीं हो सकती।[2] वह उस अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति कहते हैं, जिसके द्वारा अर्थ की विशिष्ट रूप में भावना होती है। इसका प्रमुख तत्व लोकोत्तरता है, जो वार्त्ता (नीरस चमत्कार रहित साधारण वाक्य) में नहीं होता।

दण्डी ने वक्रोक्ति का प्रयोग स्वभावोक्ति से विपरीत किया है। वे इसे प्रथम अलंकार (आद्या अलंकृतिः) मानते हैं तथा उसे कोई विशिष्ट अलंकार न कह कर

---

१. देखिए 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयीटिक्स', (सन् १९२३) पृ० ४०।

२. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविनाकार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना॥ काव्यालंकार २।८५।

स्वभावोक्ति से पृथक् उपमादि सभी अर्थालकारो का सामूहिक अभिधान कहते है।[1] उनके विपरीत वामन इसे विशिष्ट अर्थालकार मानते है तथा इसे सादृश्य पर आश्रित लक्षणा कहते है (सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्ति.)। रुद्रट ने इसे शब्दालकार माना है तथा इसके श्लेप-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति नामक दो भेद किए है। आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) को सब अलकारो के मूल मे स्थापित किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार वक्रता दो प्रकार की है, शब्द-वक्रता तथा अर्थ-वक्रता। शब्द और अर्थ की वक्रता से यह तात्पर्य है कि वह अपने लोकोत्तर रूप मे अवस्थित हो तथा उसके योग से पुराना अर्थ भी विचित्रता से उद्भासित होने लगे।[2]

कुन्तक ने वक्रोक्ति को पृथक् अलकार न मानकर उसे काव्य का जीवित (प्राण) माना है। वे काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो की महत्ता मानते है। शब्द और अर्थ अलकार्य है, क्योकि काव्य के निर्माण करने वाले तत्व है। ऐसे अलकार्य का एक मात्र अलकार वक्रोक्ति है, जो शब्द और अर्थ की सजावट करने वाला है। उन्होंने अलकार को काव्य का आवश्यक गुण माना है (सालकारस्यकाव्यता) इनका विचार है कि कवि के वक्र-व्यापार से सुशोभित होकर, काव्य आलोचक को अवर्णनीय आनन्द देता है।[3] इन्होने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्य भगी भणिति' कहा है।[4] वे काव्य को वह कवि-कौशल (विदग्धता) अथवा कवि-व्यापार कहते है जो चमत्कार (भगी) से पूर्ण कथन (भणिति) का विशेप प्रकार है। कुन्तक ने कवि-व्यापार का वर्णन नही किया है। कदाचित् वे उसे अनिवर्चनीय मानते है। इनकी वक्रता एक पृथक् उक्ति मे ही सीमित न रहकर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध रचना तक प्रसरित है। इनका कवि-व्यापार, प्रतिभा पर अवलम्बित है। इनके विचार से काव्य के लिए व्युत्पत्ति, अभ्यास तथा शक्ति से अधिक प्रतिभा की आवश्यकता है।[5] वे काव्य को प्रतिभा पर अवलम्बित कवि-व्यापार का परिणाम मानते है।

कुन्तक का विचार है कि काव्य का उद्देश्य सहृदयो के हृदय मे आह्लाद उत्पन्न करना है (तद्विदाह्लाददायी) जो उन्ही शब्दो के प्रयोग से हो सकता है, जो

---

१ श्लेप सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिपुश्रियम्।
भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श २।३६२।

२ शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण वस्यानमिति अयमेवासौ अलकारस्यालकारान्तर भाव —लोचन, पृ० २०८।

३ शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणी॥ वक्रोक्ति जीवित १।७

४ उभावेतावलकार्यौ तयो पुनरलकृति।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भगी भणितिरुच्यते॥ वही १।१०

५ प्राक्तनाद्यतन सस्कार परिपाक प्रौढा प्रतिभा काचिदेवकविशक्ति। वही—पृ० ४९।

शास्त्रादिक मे व्यवहृत अथवा लोक व्यवहार मे प्रयुक्त किसी अर्थ मे रूढ होने वाले न हो वरन् विचित्रता युक्त हो। वे ऐसे शब्द हो, जिन्होने प्रसिद्ध व्यवहार के मार्ग को छोड दिया हो (अतिक्रान्त प्रसिद्ध-व्यवहार सरणि)। महिम भट्ट का भी यही विचार है।[1] इनकी वक्रोक्ति के अन्तर्गत रीति, गुण तथा अलकार का उसी प्रकार समीकरण हो जाता है, जिस प्रकार औचित्य के अन्तर्गत रस-ध्वनि तथा अनुमिति का समावेश होता है।[2] इनकी भगी भणिति मे मन, बुद्धि, चित्त तीनो को समा लेने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। इसमे वाग्वैचित्र्य के साथ-साथ रस-वैचित्र्य भी सन्निहित है। इनकी वक्रोक्ति को रस और ध्वनि का समन्वयात्मक स्वरूप कहना युक्तिसगत है।[3] इनकी निर्देशित छ प्रकार की वक्रता मे प्रबन्ध-वक्रता प्रमुख है।

काव्य के बहिरग सम्प्रदायो मे वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है। वक्रोक्ति वास्तव मे वह कथन है जो कवि के लिए तो काव्य-निर्माण की अवस्था मे स्वाभाविक होता है, पर पाठक के लिए वक्रोक्तिपूर्ण होता है। वह रस की भाँति अनुभूति को नही जगाता, केवल मन का रजन करता है। यद्यपि अन्य परवर्त्ती आचार्यो को यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य नही रहा, फिर भी इसने समीक्षा-शास्त्र को कवि-कर्म, लोकोत्तर आह्लाद तथा साहित्य समन्वय आदि महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी तत्व प्रदान किए है।

आलोच्य काल से पूर्व हिन्दी मे वक्रोक्ति सम्प्रदाय

सस्कृत साहित्य मे रस तथा ध्वनि के प्रचार तथा प्रसार के कारण वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायो का महत्त्व अपेक्षाकृत कम होता गया। मूलत अलकार की ही एक शाखा होने के कारण तथा 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ के अप्राप्य होने के कारण वक्रोक्ति सिद्धान्त का स्वतन्त्र अस्तित्व ही लुप्त हो गया।[4] जब सस्कृत साहित्य मे ही यह स्थिति रही, तो हिन्दी मे इस सम्प्रदाय का विकास काव्य के जीवित के रूप मे होना असम्भव था ही। हिन्दी के आलोचना-शास्त्र ने वक्रोक्ति को कभी काव्य के जीवित के रूप मे स्वीकार नही किया। किन्तु फिर भी हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालो मे वक्रोक्ति-सिद्धान्त को न्यूनाधिक मान्यता, व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक रूप मे मिलती रही। हिन्दी मे काव्य के कला-पक्ष के अन्तर्गत कवि-कौशल तथा वक्रता का महत्त्व निरन्तर स्वीकार किया जाता रहा है तथा इनका प्रयोग तथा विवेचन भी सदैव होता रहा है।

---

१. प्रसिद्ध मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्य सिद्धये।
अयन्यै वोच्यते सो अर्थ सा वक्रोक्तिरुदाहृता॥ व्यक्तिविवेक

२ देखिए 'हाईवेज एण्ड बाईवेज आव लिटररी क्रिटिसिज्म इन सस्कृत' (सन् १९४५) पृ० २८।

३ देखिए 'अलकार शास्त्र मे सम्प्रदाय चिन्तन'—अवन्तिका (काव्यालोचनाक) (जनवरी १९५४) लेखक—वाचस्पति शास्त्री, पृ० २३।

४ देखिए 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' (सन् १९५५), पृ० २५१।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी के आचार्यो ने वक्रोक्ति सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन प्राय क्षीण रूप मे ही किया है। रस, अलकार, रीति, ध्वनि आदि सम्प्रदायो की अपेक्षा इस सम्प्रदाय का विवेचन प्राय सक्षिप्त रूप मे हुआ है। हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थो मे रुद्रट तथा रुय्यक की परम्परा के अनुसार वक्रोक्ति का उल्लेख होता रहा। उसका गम्भीर तथा चिन्तनपूर्ण विवेचन नही हुआ। रुद्रट तथा रुय्यक का वक्रोक्ति का क्षेत्र भामह, दडी तथा कुन्तक से कही अधिक सकुचित है। हिन्दी के आचार्यो ने वक्रोक्ति को शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनो रूपो मे अपनाया है। कुछ ने आचार्य रुद्रट का अनुकरण करके, वक्रीकृत उक्ति के रूप मे इसे शब्दालकार माना है तथा कुछ ने रुय्यक की भाति अर्थालकार माना है।[1] केवल केशव ने उसे वक्रीकृत उक्ति मानकर अर्थालकार के रूप मे अगीकार किया है। उन्होने मम्मट आदि परवर्ती आचार्यो का अनुसरण न करके पूर्व-ध्वनिकाल के आचार्यो का अनुकरण किया है तथा वक्रोक्ति को विदग्ध-उक्ति के रूप मे ग्रहण किया है। इनके विचार से वक्रोक्ति, कवि कर्म-कौशल तक सीमित न रहकर, भावो द्वारा प्रेरित वक्रता है। उनके विचार मे उक्ति अलकार के पाच भेदो मे से प्रथम भेद वक्रोक्ति अलकार है। उनके विचार से जहा सीधी-सादी उक्ति मे वक्र-भाव व्यक्त किया जाए, वहा यह अलकार होता है। वे इसका मूल आधार वक्रता मानते हैं —

"केशव सूधी बात मे बरणत टेढो भाव।
वक्रोकति तासो कहत, सदा सबै कविराज॥"[2]

रचनात्मक काव्य के अन्तर्गत व्यावहारिक रूप मे प्रायः कुन्तक की सभी प्रकार की वक्रोक्तियो का प्रयोग हिन्दी मे निरन्तर होता रहा। व्यावहारिक रूप मे रसवादियो ने भी इसे अपने काव्य का प्रसाधन बनाया। किन्तु सैद्धान्तिक रूप मे उनका विवेचन प्राय सक्षेप मे शब्दालकार अथवा अर्थालकार के रूप मे ही होता रहा। इससे अधिक मान्यता इस काल मे इसे नही मिल सकी।

आलोच्य-काल मे हिन्दी मे वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विकास

पूर्व आलोच्य-काल की भाति इस काल मे भी रस तथा अलकार सम्प्रदाय का विवेचन ही अधिक होता रहा। रीति, गुण, ध्वनि आदि सम्प्रदायो की भाति वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विवेचन अधिक विस्तार नही पा सका। इस काल के प्रारम्भ मे कविराजा मुरारी दान, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, रमाशकर शुक्ल 'रसाल', मिश्रबन्धु,

---

१ (क) और भाति को वचनु जो और लगावै कोइ।
कै सलेष कै काकु सो वक्रोक्ति है सोइ॥ कविकुल-कल्पतरु ले०—चिन्तामणि ७।५

(ख) 'जहा श्लेष सो काकु सो अरथ लगावै और।
वक्र उक्ति वाको कहत भूषण कवि सिर मौर'॥ ३२१॥ 'शिवराज भूषण'-भूषण ग्रन्थावली पृ० ९२ (सम्वत् २००५) प्र० काशी।

२ 'कवि प्रिया' (सन् १९२४) प्र० लखनऊ, पृ० १०१।

गुलावराय आदि लेखको ने तो रीतिकालीन परम्परा का ही पालन किया। विषय तथा शैली दोनो दृष्टियो से उनका विवेचन पूर्व-आलोच्य-काल से ही सम्बद्ध है, इसलिए 'आधुनिक रीतिकार' शीर्षक से उनका विवरण पृथक् दिया गया है। इन रीतिकारो ने इस सिद्धान्त पर न कोई मौलिक चिन्तन किया है, न उसका वैज्ञानिक विवेचन ही किया है। इन्होने पूर्ववर्ती आचार्यो की भाति रुद्रट तथा रुय्यक के मतानुसार ही वक्रोक्ति का शब्दालकार तथा अर्थालकार के रूप मे विवरण दिया है। साहित्यिक क्षेत्र की नवीन जाग्रति तथा चेतना के कारण, इनमे कही-कही नवीनता-प्रदर्शन के क्षीण प्रयत्न भी दिखाई पडते है।

द्विवेदी काल से ही हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का प्रभाव अधिकाधिक रूप मे पडना प्रारम्भ हो गया। काव्य के विभिन्न वादो तथा सिद्धान्तो के प्रभाव स्वरूप, हिन्दी के आलोचको का दृष्टिकोण बदलता गया। तत्कालीन परिस्थितियो, सास्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनो और वैज्ञानिकता तथा बौद्धिकता के अधिकाधिक विकास स्वरूप प्रत्येक तथ्य पर चिंतन पूर्ण विचार प्रकट किए गए। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पत, लक्ष्मी नारायण 'सुधाँशु' आदि विद्वानो ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर भी नवीन विचार प्रस्तुत किए। इन्होने कुन्तक की मान्यताओ को नवीन काव्य तथा काव्यशास्त्र के सदर्भ मे रखकर उसका गम्भीर निरीक्षण, परीक्षण तथा विवेचन किया तथा उसके स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया। इतिवृत्तात्मक, छायावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी कवियो तथा आलोचको ने इस सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा। इसी समय 'वक्रोक्ति जीवित' की प्रामाणिक पूर्ति की प्राप्ति होने पर, इस सिद्धान्त के अध्ययन को और भी अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। कुन्तक के पश्चात् वक्रोक्ति-साहित्य का वास्तविक विकास इन नवीन आलोचको द्वारा ही हुआ। इन आधुनिक रीतिकारो तथा आलोचको का इस सिद्धान्त का विवेचन इस प्रकार है :—

आधुनिक रीतिकार

कविराजा मुरारीदान

कविराजा ने वक्रोक्ति की परिभाषा परम्परागत रूप मे दी है, उसमे कोई नवीन उल्लेखनीय बात का समावेश नही किया है। यह परिभाषा अलकारो के अन्तर्गत दी गई है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी ने अपने ग्रन्थ 'अलंकार मंजरी' मे वक्रोक्ति की परम्परागत परिभाषा इस प्रकार दी है, "किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा...... श्लेप से अथवा काकु उक्ति से......अन्य अर्थ कल्पना किए जाने को वक्रोक्ति अलकार कहते है अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके, उत्तर दिया जाना। भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार

से हो सकती है······श्लेष द्वारा और काकु द्वारा। अतः वक्रोक्ति के दो भेद है।······ श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति।" यही परिभाषा अन्य रीतिकालीन आचार्यो द्वारा पद्य मे दी गई थी, केवल यहा यह गद्य मे स्पष्ट रूप से समझाई गई है।

पोद्दारजी ने अपनी अलकार की परिभाषा भी वक्रोक्ति के आधार पर इस प्रकार दी है, "किसी वक्तव्य को लोगों की स्वाभाविक साधारण बोल-चाल से भिन्न शैली द्वारा अनूठे ढग से चमत्कारपूर्वक वर्णन करने को ही अलकार कहते है।"[2] भामह शब्द वैचित्र्य को वक्रोक्ति की सज्ञा देते है ('वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचा त्वलड्कृति काव्यालकार १।३२६) और इसे सम्पूर्ण अलकारो मे सर्वत्र व्यापक मानते हैं। इसी प्रकार दण्डी 'उक्ति वैचित्र्य' को 'अतिशयोक्ति' सज्ञा देकर उसे अलकारो का एक मात्र आधार मानते है।[3] वास्तव मे भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति का एक ही अर्थ है, किसी वक्तव्य का लोकोत्तर अतिशय से कहा जाना। आनन्दवर्धन का भी यही विचार है। पोद्दारजी ने वक्रोक्ति के इस व्यापक अर्थ के आधार पर अपनी अलकार की परिभाषा का निर्माण किया है। उनके अनुसार अलकारो के सामान्य लक्षण, अनूठा ढग, चमत्कार अथवा वक्रता है। इस प्रकार उन्होने वक्रोक्ति को अलकारो के मूल मे मानकर उसे व्यापकत्व प्रदान किया है। परम्परागत रूप मे उसे अर्थालकार मान कर उन्होने उसका अलग वर्णन भी किया है।

प० रामशकर शुक्ल 'रसाल'

रसालजी ने 'अलकार पीयूष' मे अलकार की परिभाषा मे उक्ति-वैचित्र्य, काव्य भाषा का सौन्दर्य, समाकर्षक प्रभाव एव चातुर्य तया चमत्कार से मनोरजकता लाना ही अलकरण माना है। वे उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य मे काव्यत्व प्रदान करने वाला तत्व मानते है तथा उसे भाव (अर्थ) से अधिक महत्व देते है।[4] अलकार शास्त्र का लक्ष्य भाषा को अलकृत करना तथा काव्य मे वैलक्षण्य लाना है। इस प्रकार वे काव्य मे वक्र उक्ति, उक्ति वैचित्र्य, चमत्कार तथा बाँकपन का महत्व स्वीकार करते है। उन्होने वक्रोक्ति, अन्योक्ति तथा विभावनादि अलकारो का आधारभूत सिद्धान्त जटिलता-प्रियता माना है। उनका वक्रोक्ति के मूल मे जटिलता को मानना युक्तिसगत नही है, क्योकि जटिलता से प्रत्यक्ष तथा तीव्र आनन्द की उत्पत्ति नही होती। जटिलता क्लिष्टता की द्योतक है। इसकी अपेक्षा वक्रोक्ति गूढता तथा चमत्कार प्रियता की ओर सकेत करती है।

---

१. अलकार मजरी (स० १९९३), पृ० ४।
२. वही (प्राक्कथन), पृ० ई।
३. देखिए 'काव्यादर्श' २।२२०।
४. अलकार पीयूष (सन् १९२९) पृ० १७, १८।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धु वक्रोक्ति की गणना अर्थालकारो मे करते है। उनका विचार है कि वक्रोक्ति मे दूसरे की उक्ति का अर्थ काकु या श्लेष से बदला जाता है। वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है, शब्द वक्रोक्ति और अर्थ वक्रोक्ति। शब्द वक्रोक्ति तथा अर्थ वक्रोक्ति का वे यह भेद मानते हैं कि जहाँ सुनने मे सुन्दर हो वहा शब्दालकार होना चाहिए तथा जहा अर्थ विचारने मे सौन्दर्य ज्ञात हो वहाँ अर्थालकार होना चाहिए।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जो अलकार श्रुति-सुखद हो वह शब्दालकार तथा जो अर्थ मे चमत्कार लेकर आए वह अर्थालकार होता है। वे इस मत को नही मानते कि जहा चमत्कार केवल शब्द के आश्रित हो अर्थात् शब्द परिवर्तन मात्र से नष्ट हो जाए, वहा शब्दालकार होता है तथा जहा शब्द परिवर्तन के पश्चात् भी चमत्कार बना रहे वहा अर्थालकार होता है। उनका यह विचार निर्विवाद नही है, क्योकि यदि यह तर्क वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे ग्रहण किया जाएगा तो यमक के साथ मानना भी अनिवार्य होगा तथा यमक को भी अर्थालकार ही मानना पडेगा। यमक का चमत्कार भी तो अर्थ ज्ञान के बिना केवल श्रवण मात्र पर ही आश्रित है। किन्तु उन्होने इसे अर्थालकार की अपेक्षा शब्दालकार ही माना है। किन्तु मिश्र जी की यह धारणा नवीन न होकर सस्कृत के रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित एव हिन्दी के जसवन्त सिंह, भूषण आदि उन आचार्यो की परम्परा मे ही है, जिन्होने वक्रोक्ति को अर्थालकार माना है। उनका यह तर्क है कि वक्रोक्ति का चमत्कार मूलत अर्थ का चमत्कार है तथा श्लेष के आधार पर ही वक्रोक्ति मे व्यग्य का चमत्कार अथवा अर्थाश्रित चमत्कार होता है। उनके इस तर्क को केवल यह मानकर ही नही टाला जा सकता कि इसमे काकु के आधार पर उच्चारण का चमत्कार तथा श्लेष के आधार पर शब्द विशेष का चमत्कार होने से वह केवल शब्दालकार है। परम्परागत अलकार-निरूपण के इस काल मे मिश्रबन्धुओ का प्राचीनो के मत को अग्राह्य मानकर अपना मत प्रदर्शित करना उनके विशेष साहस का सूचक है।

गुलाबराय

गुलाबराय 'नवरस' मे वक्रोक्ति मत को अलकार मत के अन्तर्गत मानते है।[2] उनका विचार है कि वक्रोक्ति साधारण जनो की सरलोक्ति से भिन्न होती है तथा इसमे श्लेषादि की प्रधानता रहती है। वे इस मत मे इतना ही सार मानते हैं कि इसमे काव्य की भाषा साधारण भाषा से कुछ उच्चकोटि की होती है, जो गौरव तथा वाक्चातुर्य पूर्ण होती है।[3] इनका वक्रोक्ति का विवेचन सामान्य है।

---

१ साहित्य पारिजात (स० १९९७), पृ० १७८, ३२३, ३२५।

२ देखिए नवरस (सन् १९३४), पृ० ९।

३. देखिए नवरस (सन् १९३४), पृ० ६।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि इस काल में भी रीतिकाल की भांति 'वक्रोक्ति' को काव्य के जीवित के रूप मे स्वीकार नहीं किया गया। इसका लक्षण भी किसी प्रकार की नवीनता से सम्पन्न नही है तथा प्राय: परम्परानुसार ही दिया गया है। केवल रीतिकाल की अपेक्षा पद्य के स्थान पर इसकी गद्य में स्पष्ट व्याख्या मात्र और कर दी गई है। व्यावहारिक रूप मे भी वक्रोक्ति को रीतिकाल की अपेक्षा कम महत्व दिया गया तथा सैद्धान्तिक विवेचन के रूप मे प्राय. उसके लक्षण और उदाहरण देकर ही कर्तव्य की इतिश्री कर दी गई है। अधिकांश लेखकों ने रुद्रट, विश्वनाथ, मम्मट आदि की भांति वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानकर उसके दो भेद, काकु तथा श्लेष के लक्षण तथा उदाहरण ही दिए हैं, किन्तु मिश्र-बन्धुओं ने रुय्यक, विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित आदि की भांति उसे शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनो ही माना है।

लक्षणों तथा उदाहरणों के निर्देश के अतिरिक्त पोद्दारजी ने वक्रोक्ति को अलंकार का आधारभूत तत्व मानकर उसे भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन आदि की भांति विशेष व्यापकता भी प्रदान की है। यह उनकी निजी विशिष्टता है, क्योंकि समकालीन लेखक तो प्राय: मम्मट आदि के अनुसार लक्षण तथा उदाहरण देकर ही रह जाते थे। उनमें गम्भीर विवेचन की शक्ति का अभाव था तथा उनका वर्णन अधिकतर परिचयात्मक ही होता था। 'रसाल' जी ने वामन की भांति काव्य में उक्ति-वैचित्र्य, वक्र-उक्ति, चमत्कार, बांकपन आदि का महत्व स्वीकार करके, सिद्धान्त रूप मे काव्य में वक्रोक्ति को विशेष महत्व प्रदान किया है। उन्होंने वक्रोक्ति का मूल आधार जटिलता-प्रियता मानकर भूल की है, क्योंकि जटिलता तो क्लिष्टता ही प्रदान कर सकती है, जबकि वक्रोक्ति जटिलता की अपेक्षा गम्भीर चमत्कारपूर्णता का सृजन करती है, जो विशेष आनन्ददायक है। मिश्रबन्धुओं ने वक्रोक्ति की परिभाषा परम्परागत रूप में न देकर उसके दो रूप, शब्द तथा अर्थ वक्रोक्ति माने हैं। उनके मत मे शब्द-वक्रोक्ति वहां होती है जहां शब्द सुनने में सुन्दर हो तथा अर्थ-वक्रोक्ति वहां जहां अर्थ मे चमत्कार होता है।

इस प्रकार वक्रोक्ति का विवेचन इन आधुनिक रीतिकारो द्वारा किसी विशेष नवीनता से सम्पन्न नहीं हो सका। कुन्तक द्वारा इसकी जो काव्य में विशेष प्रतिष्ठा हो चुकी थी उसका भी वे स्पष्टीकरण नहीं कर सके। काव्य के मूल तत्व के रूप में भी इसका विवेचन क्षीण रूप में ही हुआ। वह भी केवल परम्परागत विवेचन से बचकर या तो नवीनता प्रदर्शन करने के लिए या अपनी रुचि विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए। वक्रोक्ति को केवल शब्दालंकार के संकुचित क्षेत्र से तर्कपूर्ण विश्लेषण के आधार पर बाहर करके, उसके प्राचीन गौरव की स्थापना करने की तो बात ही क्या, उसका सीमित तथा संकुचित रूप मे निरूपण भी सुसंगत रूप में नहीं हो सका। इस काल के लेखकों की प्रवृत्ति अलंकार तथा रस विवेचन की अपेक्षा वक्रोक्ति की ओर कम रही। अधिकांश ग्रन्थ, रस तथा अलंकार

सम्प्रदाय के विवेचन पर लिखे गए। वक्रोक्ति पर कोई पृथक् ग्रन्थ लिखने का तो प्रश्न ही क्या, उसका विभिन्न काव्यागो का निरूपण करने वाले ग्रन्थो मे भी कही पृथक् विवेचन नही हुआ। केवल अनुप्रास के वर्णन मे वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत ही इसकी सीमा बधी रही।

आधुनिक आलोचक

प० महावीर प्रसाद द्विवेदी

रीतिकालीन परम्परा के निर्वाह करने वाले कवियो के अतिरिक्त आधुनिक युग के कुछ ऐसे आलोचको ने भी वक्रोक्ति पर विचार प्रकट किए हैं, जिन पर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का पर्याप्त प्रभाव पडा है। उनकी आलोचना शैली मे पाश्चात्य तथा नवीन काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तो का प्राय समन्वय है। उनमे से प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने ढग से नवीन तथा प्राचीन काव्य तथा काव्य सिद्धान्तो का विवेचन किया है। उनकी आलोचना मे यद्यपि प्रमुखत' काव्य-शिक्षा तथा काव्यानन्द के ही विवेचन को अधिक स्थान मिला है, तथापि उन्होने काव्य मे चमत्कार के मूल्य को भी माना है। वे भी आधुनिक आलोचको की भाँति यद्यपि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा नही मानते, पर चमत्कार अथवा वक्रोक्ति को सत्काव्य का माध्यम अवश्य मानते है। उनके विचार से वक्रता यद्यपि काव्य का जीवित नही है तथापि वह उसके बाहरी व्यक्तित्व तथा स्वरूप का निर्माण अवश्य करती है। वे नीतिवादी हैं तथा काव्य का उद्देश्य नीति की शिक्षा मानते है, किन्तु उनका विचार है कि नीति की शिक्षा वाग्वैदग्ध्य के द्वारा दी जाने पर अधिक प्रभावोत्पादक होती है। वे कहते हैं कि"···शिक्षित कवि की उक्तियो मे चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता मे चमत्कार नही · कोई विलक्षणता नही·· तो उससे आनन्द की प्राप्ति नही हो सकती।"[1] अपने इस विचार की पुष्टि वे क्षेमेन्द्र का यह उद्धरण देकर करते है "न हि चमत्कार विरहितस्य कवे कवित्व काव्यस्य वा काव्यत्वम्।" इस प्रकार उनकी निश्चित धारणा है कि यदि कवि मे चमत्कार पैदा करने की शक्ति नही तो वह कवि, कवि नही है और यदि उसके काव्य मे चमत्कार नही, तो वह काव्य काव्यत्व-पूर्ण नही है। इसी भाव को और पुष्ट करते हुए वे अन्यत्र लिखते हैं कि "काव्य चाहे कैसा भी निर्दोष क्यो न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यो न हो ·· यदि उसमे अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कारपूर्ण पद न हुआ तो वह स्त्रियो के लावण्यहीन यौवन के समान चित्त पर नही चढता।"[2] इस प्रकार वे चमत्कार को काव्य के सौन्दर्य का मूलाधार ही मानते है। वे काव्य मे आनन्द तथा नीति के पक्ष का समर्थन करते हुए भी काव्य-कला-चमत्कार के महत्व को मानते है।

---

१. सचयन, पृ० ६६, ६७।
२. संचयन, पृ० ६६, ६७।

वे कुन्तक की 'कवि-व्यापार-वक्रता' के अनुयायी हैं। उनका विचार है कि काव्य में चमत्कार वक्रता से ही आता है। वे कहते हैं कि "जो कवि शब्द-चयन. वाक्य-विन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार प्रकार की काट-छांट मे भी कौशल नहीं दिखा सकते, उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमे रचना चातुर्य तक नही उसकी कवि-यशो-लिप्सा विडम्बना मात्र है।

तान्यर्थ रत्नानि न सन्ति येषां।
सुवर्ण संचेन च ये न पूर्णाः।
ते रीति मात्रेण दरिद्र कल्पा।
यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ?

'जिनके पास न तो अर्थरूपी रत्न ही है और न सुवर्ण-रूपी सुवर्ण समूह ही, वे कवियो की रीति मात्र का आश्रय लेकर कांसे और पीतल के दो-चार टुकड़े रखने वाले किसी दरिद्र कल्प मनुष्य के सदृश भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते है।"[1]

यद्यपि द्विवेदीजी का काल साहित्य में इतिवृत्तात्मक काव्य रचना तथा वक्रता वैचित्र्य के अभाव के कारण प्रसिद्ध है तथापि सिद्धान्त रूप में उन्होंने सदैव चमत्कार तथा वक्रता का पक्ष ग्रहण करके उसे काव्य का आवश्यक अवयव ही बताया है। द्विवेदी युग में, साहित्य की भाषा की प्रौढ़ता के अभाव के कारण वक्रता तथा चमत्कार के लिए अधिक स्थान नही रहा। भाषा की शुद्धि की ओर तो कवियो की रुचि गई पर काव्य-भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि के प्रयत्नों की अवहेलना होती रही, जो उस समय की परिस्थिति मे स्वाभाविक भी था, क्योकि उस समय खड़ी बोली अधिक व्याकरणसम्मत तथा विकसित नहीं हो पाई थी। द्विवेदीजी के कठोर नियत्रण तथा व्यवस्था-स्थापन के कार्य से उसमें इच्छित स्वच्छता, व्यवस्था तथा शुद्धता का तो समावेश हुआ पर लावण्य अथवा उक्ति-वैचित्र्य या वक्रता का अभाव ही रहा। अब प्रश्न यह होता है कि जब सिद्धान्त रूप मे वे उक्ति-वैचित्र्य तथा काव्य-वक्रता को आवश्यक मानते थे, तो काव्य मे उसका समावेश क्यो नहीं हुआ। उसका स्पष्ट कारण उस समय की काव्य-भाषा की स्थिति, काव्य की इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति और काव्य के विषय का शुष्क नैतिक आदर्शों से समाच्छन्न होना था। वे कवि-चमत्कार तथा वक्रता-वैचित्र्य को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करने पर भी अपने युग की सीमाओं में बंधे थे, इसलिए अपने आदर्श का स्वयं पालन नही कर सके। फिर भी आगे के छायावादी-काव्य के लिए उन्होने दिशा-निर्देश कर दिया।

पद्म सिंह शर्मा

शर्मा जी ने अपनी बिहारी की आलोचना मे स्थान-स्थान पर काव्य में वक्रता के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है। शर्माजी भामह तथा कुन्तक की भांति

---

१ संचयन 'आज कल की कविता', पृ० १००-१०१।

वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मानते है तथा इन दोनो को ही समस्त अलंकारो का मूलाधार समझते हैं। वे स्वभावोक्ति की ओर वक्रता से अधिक आकृष्ट नही है। स्वभावोक्ति भी उनकी सरलता की अपेक्षा अपनी वक्रता के कारण रुचिकर है। वे भी आलोच्य-काल के अन्य समकालीन आलोचको की भाति रसवादी ही है तथा रस-ध्वनि-वादी काव्य के निर्माता को ही महाकवि पद का अधिकारी मानते हैं।' पर उन्होंने वक्रोक्ति को रस तथा ध्वनि के माध्यम अथवा आधार के रूप मे महत्व दिया है।

अतिशयोक्ति के महत्त्व को प्रकट करते हुए शर्माजी कहते हैं कि "विहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे, जिसमे अतिशयोक्ति शून्य अलकार चमत्काररहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय और निदर्शना आदि अलकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन लाभ करते है। अतिशयोक्ति ही उन्हे जिला देकर चमकाती है, उनमे चारुत्व लाती है, मनोमोहक बनाती है,······यह न हो तो वे कुछ भी नही, बिना नमक का भोजन,ताररहित सितार और लावण्यहीन रूप हैं।"[२] इसी प्रकार आगे चलकर वे कहते है, "काव्य मे सर्वत्र वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) ही का चमत्कार है, यही अर्थ का चमत्कार दिखाती है. कवि को इसमे प्रयत्न करना चाहिए. सब अलकारो मे एक इसी की ही तो करामात काम कर रही है ···· पुराने काव्यो मे 'नेचुरल सादगी' (जिसे लोग 'स्वभावोक्ति' भी कहते है) के उदाहरण कुछ कम नही हैं, पर उनमे भी कुछ निराला चमत्कार है। 'तेरे चेहरे पर भौह के नीचे आँखे है और मुंह के भीतर दांत हैं'·· ·· इस किस्म की सादगी कविता की शोभा नही बढा सकती, कविता का सिंगार या अलकार नही कहला सकती, यह आँख और दांत वाली बात साफ सीधी और सच हो सकती है, कोई सादगी पसन्द सज्जन अपनी परिभाषा मे इसे 'स्वभावोक्ति' भी कह सकते है पर यह साहित्य सम्मत स्वभावोक्ति नही है। नवीन आदर्श के अनुयायी काव्य विवेचक प्राचीन काव्यो का विवेचन करते समय इसे न भूलें. और यह भी याद रखे कि सब जगह सादगी आदर नही पाती, कविता की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं जहाँ वक्रता (बाँकपन, वकई) ही कदर पाती है। बिहारी ही ने कहा है :—

'गड रचना बरनी अलक चितवनि भौह कमान।
लघु-बकई ही बढै तरनि तुरगम तान॥"[३]

इसी प्रकार वे बिहारी के काव्य के गुणो का वर्णन करते हुए कहते है, 'अन्य कवियो की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बडी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन मे एक निराला बांकपन ' कुछ विशेष वक्रता है, व्यग्य का प्रावल्य

---

१ देखिए बिहारी की सतसई (स० १९७५), पृ० २१।
२. बिहारी की सतसई (सं० १९७५) पृष्ठ २१७।
३ वही, पृष्ठ २१७।

है; अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान है और रस की खान है) और अत्युक्ति का अति उत्तम उदाहरण है।"[1]

इस प्रकार शर्माजी ने वक्रोक्ति को अपनी व्यावहारिक आलोचना का आधार बनाकर बिहारी के काव्य का गुणगान, विचित्रता, निराला बाकपन, वक्रता, व्यग्य, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति के आधार पर किया है। अतिशयोक्ति को वे कविता की जान तथा रस की खान मानते है। वे स्वभावोक्ति उसी को मानते है, जिसमे बात चमत्कारपूर्ण रीति से कही गई हो। उन्होने विहारी के काव्य का विवेचन तथा मूल्यांकन उसके काव्य के इन्ही मानदण्डो के आधार पर ही किया है। वे वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को सब अलकारो के मूल मे मानते है। उन्होने उसे कविता की जान के साथ-साथ रस की खान भी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वक्रोक्तिपूर्ण कथन ही मे वे रस का उत्कर्ष देखते है। इस प्रकार वे रस के अनुयायी होकर भी वक्रोक्ति को उसका साधक मानते है।

जगन्नाथदास रत्नाकर

रत्नाकरजी ने अपने ग्रन्थ 'कविवर बिहारी' मे काव्य की परिभाषा देते हुए पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा "रमणीय वाक्य का नाम काव्य है" को मान्यता दी है। इस रमणीयता की उत्पत्ति के लिये वे रस-अलकार, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि साधनो को मानते है। वे इन विभिन्न सम्प्रदायो द्वारा प्रतिपादित काव्य के विविध तत्वो मे से किसी एक को काव्य का जीवित मानने के पक्ष मे नही है। उनके विचार से ये सभी मिलकर काव्य मे रमणीयता उत्पन्न करते है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। इस प्रकार का समन्वयवाद ही ध्वनि के मत के पश्चात् प्रतिष्ठित होना स्वाभाविक भी हो सकता था। वे लिखते है, "...... इसी अलौकिक आह्लाद-जनक ज्ञान गोचरता को पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयता' कहा है। वाक्य मे उक्त रमणीयता लाने के भिन्न-भिन्न साधन तथा भिन्न लक्षण स्वीकृत किए गए हैं। किसी आचार्य ने अलकार, किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्य के मुख्य लक्षण मे परिगणित किया है। हमारी समझ मे यह सब अलग-अलग तथा मिलजुल कर रमणीयता लाने की मुख्य निर्दिष्ट सामग्री मात्र है।"[2]

रत्नाकर जी काव्य तथा सामान्य वाक्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते है कि सामान्य वाक्य का प्रयोजन तो केवल वस्तु-बोध होता है, किन्तु काव्यात्मक रमणीय वाक्य का उद्देश्य चमत्कार की उत्पत्ति होता है। इस सम्बन्ध मे वे लिखते है कि 'अब सामान्य वाक्य तथा काव्य मे जो मुख्य भेद है, वह अपने मतानुसार संक्षेपत निवेदन करते है। सामान्य अथवा काव्यातिरिक्त वाक्यो का उद्देश्य श्रोता को किसी वस्तु,

१ विहारी की सतसई (स० १९७५), पृष्ठ १५२
२ कविवर विहारी, पृष्ठ ३।

घटना अथवा आनन्द का बोध करा देना मात्र होता है। उस वाक्य से यदि श्रोता को किसी प्रकार का हर्ष अथवा विषाद उत्पन्न होता है, तो उस वर्ण्य-विषय के उसके निमित्त प्रिय अथवा अप्रिय होने के कारण वह हर्ष अथवा विषाद लौकिक मात्र होता है अर्थात् श्रोता अथवा उसके पक्ष के लोगो के उससे लौकिक तथा व्यक्तिगत इष्टा-निष्ट-सम्बन्ध के कारण होता है, जैसे "रावण मारा गया" इस वाक्य से राम के पक्ष वालो को हर्ष तथा मन्दोदरी आदि को विषाद सम्भावित है।"[1] इस उदाहरण मे उस तत्व का विश्लेषण किया गया है, जिसे कुन्तक ने 'वार्ता' कहा है तथा जो काव्य की श्रेणी मे नही आता। सामान्य वाक्य केवल वस्तु बोध मात्र देकर लौकिक हर्ष विषाद आदि भी देता है, उसमे अलौकिक आनन्द देने की सामर्थ्य नही है। इसके विपरीत काव्य-वाक्य चमत्कार की उत्पत्ति करने वाला होता है। वे कहते है कि "काव्य-वाक्य का उद्देश्य वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्य-पटुतादि के द्वारा श्रोताओ के हृदय मे एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होता है। वह आनन्द वर्णित-विषय-जनित हर्ष विषाद से कुछ पृथक् ही होता है। उसको साहित्यकारो ने अलौकिक माना है अर्थात् वह वर्णित-विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण नही होता। वह कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण सहृदय श्रोता के हृदय मे उत्पन्न होता है।"[2]

इस प्रकार रत्नाकर जी काव्यानन्द के लिये वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुता का समावेश आवश्यक मानते हैं। उनका काव्य मे वक्रता के सम्बन्ध मे विशेष आग्रह प्रकट होता है। व्यावहारिक रूप मे वक्रता अथवा चमत्कार का उनके काव्य मे विशेष प्रयोग होने से यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है। उनके काव्य मे विहारी तथा सूर दोनो ही महाकवियो की वक्रतापूर्ण शैलियो का समन्वय मिलता है। रत्नाकर जी का वाग्वैदग्ध्य इस युग के ब्रजभाषा के कवियो मे सर्वश्रेष्ठ है तथा इससे उनकी वक्रता की भावना का प्रेम पुष्ट होता है। वे काव्य मे वार्ता को लौकिक हर्ष विषाद मात्र देने वाला तथा वाक्पटुता-पूर्ण काव्य को अलौकिक आनन्द देने वाला मानते है। अलौकिक आनन्द देने की शक्ति सामान्य वाक्य की अपेक्षा काव्य-वाक्य अथवा रमणीय-वाक्य मे होती है। वह चमत्कार की उत्पत्ति करके आनन्द प्रदान करता है और विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण होता है। दूसरे शब्दो मे वह वर्णन-कौशल अथवा कुन्तक की कवि-व्यापार-वक्रता के कारण उत्पन्न होता है। वार्ता अथवा सामान्य-वाक्य तथा वक्रता अथवा रमणीय-वाक्य मे यह भेद है कि सामान्य वाक्य तो वस्तु-बोध कराता है तथा रमणीय-वाक्य चमत्कार की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार वे भी द्विवेदीजी तथा पद्मसिंह शर्मा की भाँति काव्य मे वक्र-उक्ति, चमत्कारपूर्ण-कथन, वाग्वैदग्ध्य आदि को ही रस का उत्कर्षक मानते है। वे भी रसवादी हैं, किन्तु वक्रोक्ति को काव्य मे रमणीयता का विशेष साधन मानते

१ कविवर विहारी, पृष्ठ ३।

२. कविवर विहारी, पृष्ठ २।

है। वे रीति, गुण तथा अलकार की अपेक्षा रमणीयता की उत्पत्ति मे वक्रोक्ति का विशेष महत्त्व मानते हैं। उनके विचार से काव्य मे रमणीयता अथवा आनन्द की उत्पत्ति, रस, अलकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति के द्वारा उत्पन्न होती है। इनमे से कोई काव्य का प्राण-तत्व नही है। सभी काव्य के तत्व है, पर वक्रोक्ति उसका एक विशिष्ट अंग है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने भी वक्रोक्ति को एक विशिष्ट रूप मे काव्य मे स्थान दिया है। वे यद्यपि चमत्कारवादी नही है, तथापि चमत्कार का भी काव्य मे एक प्रकार से विशिष्ट स्थान मानते है। चमत्कार की उनकी परिभाषा यह है—"चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास मे) शब्दो की क्रीड़ा (जैसे श्लेप, यमक आदि मे) वाक्य की वक्रता या वचन भगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसख्या, विरोधाभास, असगति इत्यादि मे) तथा अप्रस्तुत वस्तुओ का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओ के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि मे) इत्यादि बातें आती है।"[1] इस प्रकार वे कुन्तक की प्रायः सब प्रकार की वक्रता को चमत्कार के अन्तर्गत ग्रहण कर लेते है। उन्होने वक्रोक्ति अथवा चमत्कार को विशेष व्यापकता प्रदान की है। चमत्कार की परिभाषा तथा सीमा निर्धारण के पश्चात् वे काव्य मे उसके उचित मूल्य का विवेचन करते हैं।

वे चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य को काव्य मे उसी सीमा तक अच्छा समझते है, जिस तक उसके द्वारा काव्य के कथन की ओर आकर्षण तथा उसकी मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता बढे। वे कहते है कि "वक्रोक्ति से मेरा अभिप्राय कथन के उस ढग से है, जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक तथा प्रभावशाली बना देता है। ऐसी उक्तियो मे कुछ तो शब्द की लक्षणा, व्यजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्यायोक्ति ऐसे अलकारों का।"[2]

उक्ति-वैचित्र्य से वे कल्पना की बेपर की उडान का तात्पर्य नही मानते। उनका विचार है कि "उक्ति-वैचित्र्य से यहा हमारा अभिप्राय उस बेपर की उड़ान से नही है, जिसके प्रभाव से कवि लोग जहा रवि भी नही पहुँचता वहाँ से अपना उत्प्रेक्षा उपमा आदि की सामग्री लिया करते है।"[3]

वे केवल कोरी या शुद्ध वक्रता को ही काव्य नही मानते। उनके विचार से वही वक्रता काव्य के अन्तर्गत मानी जाएगी, जो भाव या अनुभूति से प्रेरित होती

१ चिन्तामणि पहला भाग (सन् १९३९), पृ० २२९।
२. गोस्वामी तुलसीदास (सन् १९४०), पृ० १८१।
३. वही, पृ० १८२।

है।' इसी विचार का प्रतिपादन, वे कुन्तक की वक्रोक्ति तथा क्रोचे के अभिव्यजनावाद पर (जिसे वे विलायती वक्रोक्तिवाद कहते हैं) विचार प्रकट करते हुए कहते है कि "उक्ति की वहाँ तक की वचन-भगी या वक्रता के सम्बन्ध मे हमने कुन्तकजी का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नही। कुन्तकजी की वक्रता बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनो लेते हैं। नालकृत वक्रता के चमत्कार ही मे वे काव्यत्व मानते हैं। यूरोप मे भी आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता मे ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप मे ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक-काव्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यजना करने वाला काव्य? वक्रोक्तिवादी कहेगे कि ऐसी उक्ति जिसमे कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो, पर जैसा हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र को काव्य का उद्देश्य न मानने वाले उनकी इस बात का समर्थन करने मे असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा मे उसका प्रयोजन अवश्य ढूढेगे।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट शब्दो मे वे उस उक्ति को ही काव्य मानते है, जिसका चमत्कार किसी प्रयोजन अथवा भाव को अपना लक्ष्य बनाए हुए हो। वे मनोरजन मात्र को काव्य का लक्ष्य नही मानते। शुक्ल जी केवल उसी उक्ति को ही काव्य मानते हैं, जो या तो मन मे किसी भाव को रमा देने की शक्ति रखती हो या किसी भाव को जाग्रत कर देने की। जिस काव्य को पढ या सुनकर कथन के अनूठेपन तथा कवि की चातुरी या निपुणता का ही विचार उत्पन्न हो, वह काव्य की कोटि मे न आकर सूक्ति की कोटि मे आता है। काव्य और सूक्ति मे भेद बताते हुए वे लिखते हैं, "जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त

---

१ "(क) "वचन की जो वक्रता भाव से प्रेरित होती है, वही काव्य होती है।"
भ्रमर गीत सार (स० १९८८), पृ० २०।

(ख) "चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते है, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा मे भाव की स्थिति है, उसी रूप और उसी मात्रा मे उसकी व्यजना के लिए प्राय कवियो को व्यजना का कुछ असामान्य ढग पकडना पडता है।"
'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृ० २३०।

२ 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९) पृ० २३५-२३६।

करे वह है सूक्ति ।"[1] जिस काव्य मे केवल कथन का अनूठापन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि का श्रम या निपुणता हो तो वह वास्तविक काव्य की कोटि मे न आकर सूक्ति मात्र रह जाता है । काव्य वह है, जो श्रोता को भावलीन कर दे । काव्य से सच्ची रसानुभूति तथा सूक्ति से केवल मनोरजन-मिश्रित तथा निम्न कोटि की अनुभूति होती है ।[2] इस प्रकार शुक्लजी केवल वक्रता को ही काव्य नही मानते । वास्तविक काव्य वह है जो या तो भाव प्रेरित हो अथवा उसकी उक्तियो मे भाव को प्रेरित करने की शक्ति हो । काव्य मे केवल मनोरजकता नही वरन् रमणीयता प्रधान होती है । चमत्कार तो काव्य मे केवल बाह्य-सौन्दर्य-विधायक है, रमणीयता ही आभ्यन्तर सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली है । उनके विचार से वक्रता काव्य को केवल बाह्य सौन्दर्य प्रदान ही नही करती वह आन्तरिक भावो मे भी सौन्दर्य लाती है ।

शुक्लजी वक्रता को काव्य मे प्रयोजनीय मानते है । उनका विचार है, भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए, काव्य मे वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमे सन्देह नही ।[3] किन्तु काव्य मे उसकी प्रयोजनशीलता केवल भाव को सजीव स्वरूप देने के लिए तथा स्वच्छन्द रूप मे उसकी अभिव्यक्ति करने के लिए है । उनका यह तात्पर्य नही है कि इसके बिना काव्य का अस्तित्व ही नही रहता या यह उसका अनिवार्य तत्व है । वे लिखते है कि "इसके बिना भी तन्मय करने वाला काव्य होता रहता है । यह एक अतिरिक्त गुण है, जिससे काव्य की मनोरजकता बढ जाती है । अनूठापन या चमत्कार काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नही है । वह उसका अनिवार्य अ ग नही है।"[4] अपनी इस स्थापना को पुष्ट करने के लिए कि काव्य मे चमत्कार या वक्रता का समावेश आवश्यक नही है, वे पद्माकर, मण्डन तथा ठाकुर के काव्यो का उद्धरण देकर यह सिद्ध करते है कि प्रस्तुत बाते ज्यो की त्यो सादे रूप मे भी आकर भाव की बहुत अच्छी और स्वाभाविक व्यजना कर देती है :—

(१) "नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी" (पद्माकर)

(२) चिर जीवहु नन्द को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाडी करी । (मडन)

---

१. 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १६३६), पृ० २३४ ।

२ 'अत. वही वक्रोक्ति (वक्रोक्ति अलकार नही, उक्ति का बाँकपन या अनूठापन) वही वचन-भगी, जो किसी न किसी भाव या मनोवृत्ति द्वारा प्रेरित होगी, काव्य के अन्तर्गत होगी । ऐसी वस्तु व्यजना, जिसकी तह मे कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढग से की गई हो, चाहे उसमे कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी ।" 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (सं० २००२), पृ० १०८ ।

३ 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (सं० २००२), पृ० २३२ ।

४. 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (सं० २००२), पृ० १०७ ।

(३) वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार विलोकि घरी घरी सूरति तो पहचानति ह्वै है।
ठक्कुर या मन की परतीतिहूँ जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिये इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है।। (ठाकुर)

इन उद्धरणों के सम्बन्ध में शुक्लजी की ये धारणायें हैं:—

पद्माकर की सीधी-सादी उक्ति में पूर्ण रमणीयता है। मण्डन ने प्रेम गोपन के जो वचन कहलाए हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे स्वभावतः ही मुंह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है और ठाकुर के सवैये में अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर, नए प्रेमी के चित्त के वितर्क की, सीधे-सादे शब्दों में, इतिवृत्तात्मक रूप में, बिना किसी लोकोत्तर चमत्कार के व्यंजना हुई है।

शुक्लजी इन उद्धरणों में वक्रता का किंचित् मात्र भी समावेश नहीं मानते। पर बात यह नहीं है। किसी न किसी अंश में इन पंक्तियों में भी वक्रता विद्यमान है। मण्डन की पंक्ति में 'गरीब' शब्द सार्थक वक्रता लिए हुए है। ठाकुर के सवैये में 'वा' शब्द में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि (रूढि वैचित्र्य वक्रता) विद्यमान है। 'निरमोहिनी' तथा 'रूप की रासि' में पृथक् रूप में विशेषण वक्रता और सम्मिलित रूप में सूक्ष्म वैषम्य मूलक अलंकार का चमत्कार है।[1] इस प्रकार शुक्लजी की यह धारणा पूर्णतया मान्य नहीं हो सकती कि काव्य की मार्मिक उक्तियाँ बिना वक्रता या वैचित्र्य के होती हैं। वे स्वयं यह मानते हैं कि जब कवि के मन में भाव उमड़ता है तो उसकी प्रेरणा से उक्ति में स्वभावतः ही वक्रता आ जाती है और यह वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर होती है।[2] इससे सिद्ध होता है कि वे यह मानते हैं कि जब काव्य में तीव्र भावनाओं का उद्वेग होता है तो भाषा स्वभावतः ही वक्र तथा चमत्कारपूर्ण हो जाती है। भाव की दीप्ति से भाषा का चमत्कृत होना अनिवार्य हो जाता है। जैसा भाव होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए वैसी ही भाषा की आवश्यकता भी होती है। इस प्रकार उनके ही विचारों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि मार्मिक उक्ति, वक्रता या वैचित्र्य से पूर्णतया रहित नहीं होती। तीव्र भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि अपनी भाषा में किसी न किसी प्रकार की विशिष्टता अवश्य लाता है। उमड़ते हुए तीव्र भावों की व्यंजना, चमत्कार, लाक्षणिकता, बांकपन आदि के साथ ही स्वभावतः होती है। वार्ता के समान सरल सामान्य वाक्यों में काव्यत्व नहीं होता। वास्तव में काव्य ही है जो भावपूर्ण हो तथा भावपूर्णता अनिवार्य रूप में चमत्कारपूर्ण होती है।

---

१. देखो 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृ० २३६।

२. देखो 'हिन्दी-वक्रोक्ति जीवित' भूमिका ले०—डॉ० नगेन्द्र (सं० २०१२), पृ० २७१-२७२।

इसलिए सत्काव्य मे वक्रता का निवेश अनिवार्य रूप में होता है। सत्काव्य के अतिरिक्त काव्य, काव्य नही हो सकता। इस प्रकार काव्य मे किसी न किसी अंश में वक्रता विद्यमान रहती है। किसी रमणीय उक्ति मे वक्रता की अनुपस्थिति मनोविज्ञान के भी विरुद्ध है, क्योकि चित्त की प्रदीप्त अवस्था में निकलने वाली भाषा कभी सामान्य वार्त्ता के अन्तर्गत आने वाली नही हो सकती।

उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह निष्कर्ष निकलता है कि शुक्लजी वास्तव में रसवादी थे तथा काव्य मे रस तथा भावो की ही प्रमुखता मानते थे। जिस काव्य में भावो का अभाव है, चाहे उसमे कितनी ही वक्र अभिव्यक्ति क्यो न हो, उनकी दृष्टि से वह काव्य नही है। वे वक्रोक्ति को काव्य का जीवित नही मानते, रस तथा भाव को मानते है। किन्तु वे वक्रोक्ति का इतना महत्व अवश्य मानते है कि यह भावो की अनुभूति को तीव्र तथा गहन बनाती है, भावो को विमुक्त तथा स्वच्छन्द गति देती है और भावना को गोचर तथा सजीव बनाने मे सहायक होती है। पर केवल वक्रता, चमत्कार तथा वैचित्र्य काव्य न होकर उक्ति मात्र ही होने है, जिनका काम केवल मनोरंजन प्रदान करना होता है। केवल वक्रोक्ति काव्य नहीं हो सकती। जहा तक भावो के महत्त्व का सम्बन्ध है, शुक्लजी का कुन्तक से मतभेद नही है। कुन्तक भी कोरे चमत्कार को हेय मानते हैं तथा अर्थ अथवा भाव से युक्त वक्रोक्ति को महत्व देते है।

शुक्लजी का कुन्तक से मूल भेद इस बात मे है कि व काव्य मे वक्रोक्ति की स्थिति अनिवार्य नही मानते। उनके मतानुसार वक्रोक्ति के बिना भी उत्कृष्ट कोटि का काव्य हो सकता है। कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का जीवित ही मानते है। किन्तु इन दोनो मे कोई मौलिक भेद नही है। शुक्लजी भी निश्चित रूप मे उसी काव्य को अधिक उत्कृष्ट तथा सुन्दर मानते है, जिसमे भावो की अधिकता के कारण वक्रता उत्पन्न हो। वक्रता को तो वे सत्काव्य की प्रकृति मे ही सम्मिलित मानते है। उनका विचार है कि तीव्र भावो के आधिक्य के कारण अभिव्यक्ति मे प्रायः वक्रता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से वे काव्य मे—सत्काव्य मे—वक्रता का आना अनिवार्य मानते हैं तथा इस प्रकार कुन्तक से उनका कोई विशिष्ट अन्तर भी नही रह जाता। वे कुन्तक पर यह आरोप भी लगाते है कि उन्होने भी चमत्कार, वक्रता आदि की तुलना मे काव्य के वस्तु-पक्ष की उपेक्षा की है। उनकी यह धारणा युक्तिसगत नही है, क्योकि कुन्तक की वक्रोक्ति रस से सम्बद्ध है तथा वस्तु-वक्रता के रूप मे उसमे वस्तु पक्ष का भी समावेश हो गया है। वे कुन्तक की वक्रोक्ति तथा क्रोचे के अभिव्यजनावाद को एक मान लेते है। इन दोनों मे उन्होने वस्तु पक्ष की अवहेलना तथा चमत्कार का आधिक्य माना है। उनकी यह दोनो बाते भी उनकी वक्रोक्ति तथा अभिव्यंजनावाद के स्वरूप के प्रति भ्रमपूर्ण धारणा की सूचक हैं। वास्तव मे कुन्तक की प्रबन्ध वक्रता मे वस्तु तथा रस का भी महत्व स्वीकृत है।

शुक्लजी क्रोचे के अभिव्यजनावाद को विलायती वक्रोक्तिवाद मानकर उससे भी केवल उक्ति के महत्व की प्रधानता मानते है। उस उक्ति के अन्तर्गत कोई व्यंजना है या नही अथवा है तो किसी ठीक-ठीक बात की है या नही, उनके विचार से अभिव्यजनावादी इस पर जोर नही देते। वे केवल अभिव्यजना के सौन्दर्य पर ध्यान रखते है, उसके भाव अथवा वस्तु-पक्ष पर नही। शुक्लजी की इस धारणा मे एकागिता के दर्शन होते है। क्रोचे की अभिव्यंजना वस्तु-पक्ष से हीन नही है। उन्होने तो अभिव्यजना तथा सहजानुभूति (वस्तु तत्व) को अभिन्न माना है, चाहे उनका वस्तु-तत्व केवल अरूप सवेदन-जाल मात्र है। पर उसका अस्तित्व है अवश्य। उनकी वाह्य-अभिव्यक्ति अथवा आन्तरिक अभिव्यक्ति (सहजानुभूति) दोनो मे ही केवल चमत्कार, उक्ति-सौन्दर्य आदि पर ध्यान नही रहता। कदाचित् शुक्लजी का विलायती वक्रोक्तिवाद से क्रोचे के अभिव्यजनावाद से तात्पर्य न होकर वाह्य-विधान तथा अभिव्यक्ति को सर्वोपरि समझने वाले अतिवादो, प्रभाववाद, बिम्बवाद, घनवाद (क्यूबिज्म), वक्रतावाद (प्रिंसिपल आफ आब्लीक आर्ट) अतिवस्तुवाद आदि से तात्पर्य था, जिनका विरोध पश्चिम मे आई० ए० रिचार्ड्स ने शुक्लजी से पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था। उसी धारा मे कदाचित् शुक्लजी भी कुन्तक की वक्रोक्ति के साथ-साथ इसका भी विरोध कर गए।

आधुनिक आलोचको में शुक्ल जी ने विस्तृत रूप मे कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विश्लेषण तथा विवेचन करके उसको अपने निजी सिद्धान्तो की आधार-शिला पर कस कर परखा है। उन्होने वक्रोक्ति का सत्काव्य अथवा उच्चकोटि के काव्य के लिए विशेष महत्त्व स्वीकार किया है, पर भावहीन वक्रता को वे खिलवाड मात्र ही मानते है। इस प्रकार उनके विचार से रस के उत्कर्षक के रूप मे वक्रोक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावपूर्ण कविता मे वह स्वाभाविक रूप मे स्वत ही आ जाती है।

छायावादी काव्य के युग मे वक्रता की मान्यता का होना स्वाभाविक ही था। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया-स्वरूप इस युग मे कवियो ने शैलीगत वक्रता का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा मे किया है। शैली मे लाक्षणिकता तथा वक्रता इतनी मात्रा मे बढी कि शुक्ल जी जैसे धुरन्धर आलोचक तक उसे शैली का एक नया प्रकार मात्र मानने लगे। यही नही कि काव्य के व्यावहारिक पक्ष मे ही वक्रता तथा उक्ति-वैचित्र्य का अधिक समावेश हुआ हो, आलोचको तथा कवियो ने सैद्धान्तिक रूप मे भी इसका विवेचन करना प्रारम्भ कर दिया।

जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी ने कुन्तक की वक्रता को आधुनिक काव्य के आन्तरिक गुण के रूप मे स्वीकार किया है। उन्होने छायावाद के काव्य मे 'नवीन शब्दो की भगिमा' का समावेश द्विवेदीकालीन कविता की प्रतिक्रिया के रूप में माना है। वे छायावाद की

उत्पत्ति बताते हुए "यथार्थवाद और छायावाद" नामक लेख में व्यंजना को ही छायावाद की उत्पत्ति का मूल आधार मानते हैं। उनका विचार है, "छायावादी युग के सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में जब प्रचलित पद-योजना अथवा वाच्यार्थ असफल हो गया तब उसके लिए नए वाक्य विन्यास तथा शब्दों की नवीन भंगिमा की आवश्यकता हुई।" उन्होंने स्वयं लिखा है कि "छायावादी काव्य में शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[1] काव्य में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर अर्थ-चमत्कार का महत्त्व बढ़ा। इस काव्य की अभिव्यक्ति के निराले ढंग में उसका एक निजी स्वतंत्र लावण्य था। काव्य के इस लावण्य की प्रतिष्ठा में उन्होंने संस्कृत साहित्य के विभिन्न वादों का आधार प्रदर्शित किया है। इसी के अन्तर्गत उन्होंने 'वक्रोक्ति जीवितम्' का उदाहरण देकर छायावाद की नवीन शैली की प्राचीनता तथा आप्तता सिद्ध की है। उनका कथन है कि "इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में 'छाया' और 'विच्छित्ति' के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' में कहा है :—

प्रतिभा प्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।"[2]

अर्थात् कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही जहां शब्द और अर्थ के भीतर कुछ अपूर्व वक्रता स्फुरित होती सी प्रतीत होने लगती है, (वह विचित्र मार्ग है) यही शब्द और अर्थ की वक्रता जो कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास के समय स्फुरित होती है, काव्य में विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। वे स्पष्ट रूप में छायावाद की विशेषताओं के अन्तर्गत वक्रता को भी मानते हैं। उनका कथन है, '... ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ सहानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएं हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"[3] इस प्रकार प्रसाद जी छायावाद के अन्तर्गत वक्रता का भी विशेष महत्त्व मानते हैं। इस वक्रता या वैदग्ध्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। यह शब्द तथा अर्थ की वक्रता काव्य में लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है (शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम् ... ...लोचन २०८)। कुन्तक के विचार से यह रम्यच्छायान्तर-स्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक फैली हुई होती है। काव्य के अन्तर्गत यह छायातिशय रमणीयता वक्रता की उद्भासिनी है।

---

1 देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (सं० १९९६), पृ० १४३।
2. वही, पृ० १४४।
3 वही, पृ० १४६।

प्रसादजी ने आधुनिक छायावाद की प्रतिष्ठा के मूल मे ध्वनि के साथ-साथ वक्रोक्ति को भी महत्त्व दिया है। छायावादी काव्य की छाया, जो मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करती है, वक्रता के द्वारा सृजित होती है। वे वक्रता को सत्काव्य का आन्तरिक गुण मानते है। छायावाद के निरूपण मे जहा वे ऐसी भावना का प्राधान्य मानते है, जो आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थी, वहा नवीन शब्दो की भगिमा का भी अधिकाधिक प्रयोग मानते है। इस प्रकार प्रसादजी ने कुन्तक की वक्रोक्ति को छायावादी काव्य के मूल गुणो के अन्तर्गत मानकर काव्य का एक विशिष्ट अग माना है।

प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी आदि सभी प्रसिद्ध छायावादी कवियो के काव्य मे कुन्तक की सभी प्रकार की वक्रता के दर्शन होते है। वास्तव मे काव्य मे वक्रता तथा वैदग्ध्य का जितना समावेश इस युग के काव्य मे हुआ, उतना इससे पूर्व नही हुआ था। इन कवियो ने व्यावहारिक रूप मे ही नही वरन् सैद्धान्तिक रूप मे भी वक्रोक्ति का विवेचन तथा इसका महत्त्व प्रतिपादित किया है।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्तजी ने 'पल्लव' की भूमिका मे अपने काव्य की विस्तृत व्याख्या की है। वे छायावादी काव्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए काव्य-भाषा की नवीनता पर जोर देते है। वे भी काव्य मे अभिधात्मक भाषा का प्रयोग अच्छा नही समझते। उनका विचार है कि काव्य की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसका वक्ष.स्थल इतना विशाल हो कि जिसके शब्दो मे वात-उत्पात, वह्नि, बाढ, उल्का, भूकम्प सब कुछ समा सके तथा बाधा जा सके। काव्य-भाषा की शक्ति अपरिमेय होती है। वे काव्य-भाषा के अभिधार्थ के प्रति क्षुब्ध है तथा शब्दो मे गहरे अर्थ की आवश्यकता का अनुभव करते है। उन्होने द्विवेदीकालीन काव्य भाषा के वाच्यार्थ की अपेक्षा काव्य भाषा मे नए कटाक्ष, नए रोमाच, नए स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन वसन्त तथा नवीन कोकिला के गान की आवश्यकता का अनुभव किया है। दूसरे शब्दो मे उन्होने काव्य-भाषा मे अधिक-से-अधिक वक्रता का होना आवश्यक समझा है। वे लिखते है कि "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पडती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हो·········जो झकार मे चित्र तथा चित्र मे झकार हो।"[1] यहा काव्य के लिए चित्र-भाषा की चर्चा करते हुए पन्तजी कुन्तक की चित्र-छाया की ही व्याख्या करते है।

परस्परस्य शोभायै बहव. पतिता· क्वचित्
प्रकारा जनयन्त्येता चित्रच्छाया मनोहराम्। व० जी० २।३४

(वक्रता के बहुत से प्रकार मिलकर काव्य की शोभा को अनेक रगो से युक्त चित्र की

---

१. 'पल्लव' की भूमिका (सन् १९२६), पृ० २४।

छाया की भाति बना देते हैं) । यहा पन्तजी भी काव्य की ऐसी चित्र-भाषा चाहते है, जिसमे अनेको प्रकार की वक्रता, विदग्धता तथा वैचित्र्य का सौन्दर्य भरा पडा हो ।

इस प्रकार पन्तजी नवीन काव्य मे 'वैदग्ध्य भगी भणिति' अथवा काव्य-कौशलमय तथा वक्रतापूर्ण शब्द-विन्यास की भी आवश्यकता मानते है । वे काव्य अलकारो के महत्त्व का निर्देश करते हुए 'तत्व सालकारस्य काव्यता' की व्याख्या करते हुए कहते हैं, "अलकार वाणी की सजावट के लिए नही ....वे वाणी के हास्य, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव, भाव है ।"[1] इस प्रकार वे कुन्तक की भाति काव्य मे अलकारो को उसका शोभा-विधायक धर्म नही, स्वरूप-विधायक धर्म मानते है । अलकारो को वाणी का हास्य, अश्रु, स्वप्न मानने का तात्पर्य यह है कि अलकार काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत है । उनका काव्य मे ऊपरी योग नही होता है । वे कुन्तक की भाति अलकृत शब्दार्थ की ही काव्यता मानते है । शब्द और अर्थ अलकार्य होते हैं और चतुरतापूर्ण शैली से कथन (वैदग्ध्य भगी भणिति) रूप वक्रोक्ति ही उनका अलकार होता है ।

कुन्तक की पर्यायवक्रता की व्याख्या भी पन्तजी ने नवीन रूप मे की है । पर्यायवाची शब्दो के कुशल-प्रयोग से जो चमत्कार उत्पन्न होता है, उसमे पर्याय-वक्रता होती है । इस प्रसग मे पन्त जी ने विशेष मौलिकता का प्रदर्शन किया है । उनका विचार है कि भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द सगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के विभिन्न स्वरूपो को प्रकट करते हैं जैसे 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्षो की चचलता, भौहो से स्वाभाविक प्रसन्नता तथा ऋजुता हृदय मे अनुभव होती है । इसी प्रकार से 'हिलोर' 'तरग' 'वीचि' के विभिन्न अर्थो के उदाहरण देकर उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि जिस भाव की व्यजना करनी हो उसी भाव के अनुकूल शब्द का प्रयोग विधेय है । इस प्रकार उन्होने कुन्तक की वक्रता को अपना कर उसका आधुनिक काव्य मे प्रयोग आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य बताया है । कुन्तक की पर्यायवक्रता कही तो उन पर्यायवाची शब्दो मे होती है, जो वाच्य अर्थ के अन्तरतम् रहस्य को प्रकट करते है, कही अतिशय की रजना करते है, कही अन्य शोभा के स्पर्श से उसमे चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं, कही अपनी ही सौन्दर्या-तिशयता के कारण मनोहर होते है, कही विशेषण के योग से उसमे अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करते हैं, कही असम्भव लोकोत्तर अर्थ से वाच्य होते है, कही अलकारयुक्त होते हैं तथा कहीं अलकार ही की शोभा उनके अन्तर्गत होती है । पंतजी का विचार है कि प्रत्येक शब्द अपना निजी व्यक्तित्व तथा भाव रखता है तथा एक के स्थान पर दूसरा प्रयुक्त नही हो सकता । जो कवि भाव के पूर्ण तथा अनुकूल सगीत वाले शब्दो का प्रयोग करता है, वह काव्य मे पर्यायवक्रता का कौशल दिखाता है । एक

---

१ 'पल्लव' की भूमिका (सन् १९२६), पृ० २६ ।

ही पर्यायवाची शब्द के कुशल प्रयोग से भाव की अभिव्यक्ति मे महान् अन्तर पड़ जाता है। सारे पर्यायवाची शब्दो मे से विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति करने वाला एक ही शब्द होता है। उसी का प्रयोग 'पर्यायवक्रता' है। उनकी पर्यायवक्रता की व्याख्या तो हिन्दी के लिए ही नही वरन् सस्कृत साहित्य के लिए भी नवीन है। वह कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को नवीन विकास प्रदान करती है। इस प्रकार पन्तजी ने वक्रोक्ति के विवेचन को नए विचारो तथा नई व्याख्या के द्वारा अधिक समृद्धि प्रदान की है। उन्होने वक्रोक्ति के युगानुकूल स्वरूप का विश्लेषण किया है।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक ग्रन्थ की प्रति, पूर्ण तथा व्यवस्थित रूप मे सुलभ हो जाने के कारण उसका अध्ययन ही नही बढने लगा वरन् उसकी तुलना क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से भी की जाने लगी। इस दिशा मे हिन्दी मे विशेष प्रयत्न करने वाले सुधाँशु जी है, जिन्होने 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' नामक पुस्तक मे वक्रोक्ति का विवेचन करके क्रोचे के अभिव्यजनावाद से उसकी तुलना प्रस्तुत की है। वे कुन्तक के 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' को भामह के अलकार-सिद्धान्त का ही विकसित रूप मानते है। उनका विचार है कि कुन्तक ने भामह के सकेत पर 'लोकातिक्रान्त गोचरता' को आवश्यक माना है तथा इसी में उसकी अतिशयोक्ति भी सम्मिलित है। अतिशयोक्ति के बिना वक्रोक्ति-वैचित्र्य मे चमत्कार नही आ सकता। उनका यह विचार ठीक है, क्योकि भामह वक्रोक्ति मे शब्द और अर्थ दोनो की वक्रता का अन्तर्भाव मानते है (वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलकृति-काव्यालकार १।६) उनकी अतिशयोक्ति भी वक्रोक्ति ही है, क्योकि अतिशय उक्ति लोक-सामान्य-उक्ति से विचित्र, असाधारण या चमत्कारपूर्ण उक्ति ही होती है, जिसे वक्रोक्ति कहते है। यही 'लोकातिक्रान्त गोचरम्' है। वे वक्रोक्ति का सार्वभौम साम्राज्य मानते है। 'लोकोत्तर चमत्कार' को मानने के कारण कुन्तक रस-सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य हो गए है। उन्होने 'लोकोत्तर वैचित्र्य' का 'तद्विदाह्लाद' से तादात्म्य स्थापित किया है। उनका यह विचार उचित है, क्योकि कुन्तक ने काव्य को तद्विदाह्लादकारी अर्थात् काव्य-मर्मज्ञ या सहृदय को आह्लाद देने वाला माना है।[1] वे मानते है कि काव्यामृत का रस सहृदय (तद्विदाम्) के अन्तःकरण मे चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी बढकर चमत्कार (आनन्द) का विस्तार करता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ वक्रोक्ति जीवितम् १।५

यह सहृदय वही है, जो रस के मर्म को जानता है (रसादि-परमार्थज्ञ मन सवाद सुन्दर.—वक्रोक्ति जीवितम् १।२६) वह रसज्ञ अथवा आर्द्र चित्त भी है। इस प्रकार वे वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानते हुए भी वक्रोक्ति का परमतत्त्व रस को मानते

---

१ देखिए 'वक्रोक्ति जीवितम्' १।१०।

है। यह निश्चित नही कहा जा सकता कि उन्होने लोकोत्तर-वैचित्र्य तथा तद्विदाह्लाद (काव्यानन्द) को अभिन्न माना है। लोकोत्तर वैचित्र्य का परम उत्कर्षपूर्ण तत्व रस अथवा काव्यानन्द है। रस काव्य का जीवित नही है, जीवित वक्रोक्ति ही है। उनके विचार से कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का एक तत्व मान लिया है, यद्यपि उसकी अनिवार्यता नही मानी है। कुन्तक ने रसवत् को अलंकार न मानकर 'अलंकार्य' माना है। प्रबन्ध-वक्रता के अन्तर्गत भी उन्होने रस की स्वतंत्रता को बहुत अवकाश दिया है। कुन्तक ने ध्वनिवादी आचार्यो की अपेक्षा अलकारो का अधिक पक्ष लिया है। उन्होने वैचित्र्य, विच्छित्ति, या वक्रत्व रूप से वक्रोक्ति के अन्तर्गत आने वाले अलकारो का महत्त्व स्वीकार किया है।

सुधाशुजी का यह भी विचार है कि कुन्तक ने ध्वनिवादियो से बहुत सी बाते उधार ली है। इस सम्बन्ध मे वे लिखते है "ध्वनि का वह भेद जिसे 'अर्थान्तर-सक्रमित वाच्य ध्वनि' कहते है, वक्रोक्ति की 'रूढि वैचित्र्य वक्रता' मे सम्मिलित है और कुछ अश, जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, 'उपचार-वक्रता' मे मिला दिया गया है। उपचार की वक्रता से यह प्रतीत होता है कि कुन्तक ने उसका व्यवहार दो वस्तुओ की थोडी बहुत समानता से भी किया है। इस प्रकार रूपक की भाति भी उसका आरोप हो सकता है। विस्तृत मीमासा करने से लक्षण के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित होता है और ध्वनिवादियो के अनुसार वह लक्षणा-मूला-ध्वनि मे भी परिगणित हो सकती है।"[1] उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य लिया जा सकता है कि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा ध्वनि-सम्प्रदाय मे विशेष साम्य है। वास्तव मे वक्रोक्ति, आत्मवादी ध्वनि का ही वस्तुवादी रूप है। अर्थान्तर-सकुचित-वाच्य-ध्वनि मे रूढि वैचित्र्य वक्रता के तथा अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि मे उपचार वक्रता के अन्तर्भाव के अतिरिक्त वक्रता के अधिकांश भेद, ध्वनि के विभिन्न भेदो के रूपान्तर है। सुधाशु जी के विचार से वक्रोक्तिवाद ने ध्वनिवाद का विशेष मात्रा मे आधार ग्रहण किया है। कुन्तक का वक्रोक्तिवाद ध्वनि के अस्तित्व को अस्वीकार नही करता तथा उसे लक्षणा के ऊपर निर्भर मानता है।

सुधाशुजी शुक्लजी के इस मत से सहमत नही है कि अभिव्यजनावाद वक्रोक्तिवाद का ही विलायती रूप है। वे इन दोनो वादो की स्पष्ट विभिन्नता मानते हैं। वक्रोक्ति का अलकार से विशेष सम्बन्ध है किन्तु अभिव्यजनावाद का बाह्य-रूप से अलकार से कोई सम्बन्ध नही है। उसमे अलकारो की कोई अनिवार्यता नही है। वे शुक्लजी की इस मान्यता को नही मानते कि अभिव्यंजनावाद मे लक्ष्य केवल अभिव्यजना पर ही रहता है, काव्य-वस्तु पर नही। वे लिखते हैं कि, "आकृति-विधान तो अभिव्यंजना के लिए प्रधान बात है ही, काव्य-वस्तु को छोडने से भी उसका काम नही चलता। काव्य-वस्तु का तिरस्कार करना अभिव्यजनावाद का कदापि

---

१. देखिए 'काव्य में अभिव्यजनावाद' (स० २००७), पृ० १६।

लक्ष्य नही है। जिस रूप मे अभिव्यंजना होती है, उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला मे वस्तुत. अनावश्यक है।"[1] उनका विचार है कि उक्ति मे ही यदि भाव या अर्थ की अभिव्यक्ति की शक्ति न होगी तो उसे उक्ति कहना ही भ्रामक होगा। अभिव्यजनावादी सहजानुभूति के अन्तर्गत भाव-व्यंजना तथा वस्तु व्यंजना दोनो मे काव्यत्व मानते है। उनका विचार है कि जितना काव्यत्व उनके भाव पक्ष मे होता है उतना ही विभाव पक्ष मे भी होता है। वास्तव मे उक्ति मे अर्थ भी होता है तथा उसके प्रकट करने की शक्ति भी। उनका विचार है कि शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद के अनुभूति, प्रभाव तथा वाग्वैचित्र्य नामक तीन अवयवो मे से केवल अन्तिम का ही विचार किया है। अभिव्यजनावाद मे कल्पना, अनुभूति, प्रभाव, वाग्वैचित्र्य आदि के स्थान का विवेचन करते हुए, वे वाग्वैचित्र्य को अभिव्यजनावाद का ध्येय नही मानते है, यद्यपि उसमे कल्पना, सहजानुभूति, सौन्दर्य-विधान, प्रभविष्णुता के साथ-साथ वाग्वैचित्र्य भी रहता है। वे शुक्लजी की भाति क्लिष्ट तथा कल्पित वक्रता को निन्दनीय मानते है। उसके काव्य मे स्थान के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि स्वभावत ही कथन मे जो वक्रता उत्पन्न हो, उसमें ही काव्यत्व मान सकते हैं, किन्तु काव्यत्व की समस्त व्याप्ति इसी वक्रता मे समझनी बडी भूल होगी। मूल वस्तु मे काव्यत्व नही रहता, उसकी सच्ची व्यंजना मे काव्यत्व मानना चाहिए।"[2] इसलिए वाग्वैचित्र्य काव्य के नित्य स्वरूप के अन्दर नही है।

अभिव्यजनावाद तथा वक्रोक्तिवाद मे पारस्परिक भेद बताते हुए सुधांशु जी उनकी समानताओ से कही अधिक उनमे विषमताएं मानते है। उनका विचार है कि अभिव्यजनावाद मे वक्रतापूर्ण उक्तियो के साथ-साथ स्वभावोक्ति के लिए भी यथेष्ट स्थान है, किन्तु वक्रोक्ति मे स्वभावोक्ति के लिए स्थान नही है। अभिव्यजनावाद मे सोचने विचारने की बहुत आवश्यकता नही है, उसमे तीव्रता अधिक होती है। इसलिए उनका विचार है कि न तो अभिव्यजनावाद की भाति नग्न रूप मे कुछ कहने मे काव्यत्व है, न वक्रोक्ति की भाति भावो को अलकारो की तह मे लपेट कर दिखलाने मे ही अधिक मूल्य है। वे दोनो अतियो से दूर रहना उचित समझते है। सुधाशुजी का यह विचार कि वक्रोक्ति मे स्वभावोक्ति के लिए स्थान नही है. मान्य नही है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति के काव्यत्व का कही निषेध नही किया है। वे तो उनकी अलंकारिता-मात्र का निषेध करते है। उनकी वक्रता मे स्वभावोक्ति के महत्त्व की किसी प्रकार कमी नहीं है।

आलोच्य-काल के पश्चात् सुधाशुजी के मत को ही मानकर गुलाबराय जी ने उसकी ओर आगे व्याख्या की है। उनके मतानुसार अभिव्यंजनावाद मे स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति का भेद ही नही है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है, तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है तथा

---

१. देखिए 'काव्य मे अभिव्यंजनावाद' (स० २००७), पृ० ५४।

२ वही, पृ० ५६।

वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नही वरन् पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण है।[1]

छायावाद के पश्चात् प्रगतिवादी कवियो ने वक्रोक्तिवाद का प्रयोगात्मक तथा सैद्धान्तिक दोनो रूपो मे बहिष्कार कर दिया। छायावाद के अन्य तत्वो के साथ वक्रता तथा उक्ति वैचित्र्य का भी निष्कासन हुआ। ये कवि सीधी-सादी खरी बात कहने के पक्ष मे अधिक रहे। बिना अलकार तथा वक्रता के बात को यथार्थ तथा प्रकट रूप मे कहना इनका ध्येय था। स्वय पन्त जी कहते है —

"तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार।
वाणी मेरी क्या तुम्हे चाहिए अलकार॥"

वक्रता-विलास को प्रगतिवादियो ने पूजीवादी साहित्य का तत्व माना, क्योकि उनके विचार से यह मस्तिस्क की विलासिता के अतिरिक्त स्वस्थ अभिव्यक्ति नही है।

प्रगतिवाद के पश्चात्, जो काव्य का स्वरूप प्रयोगवाद के नाम से दिखाई पडा वह विभिन्न आधुनिक प्रयोगो को लेकर काव्य के स्वरूप को सवारने लगा। प्रयोग नाम से काव्य के एक विशिष्ट लक्ष्य का पता चलता है। प्रयोगवाद काव्य का एक विशिष्ट मार्ग हो सकता है, कोई लक्ष्य नही। यह काव्य के किसी आन्तरिक तत्व का विवेचन नही करता, केवल उसकी वस्तु तथा कला के रूप को अधिक चमत्कृत तथा नवीन प्रयोगो से पूर्ण करना चाहता है। इस पर प्रभाववाद प्रतीकवाद बिम्बवाद, अभिव्यजनावाद आदि अतिवादो का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पडा है। इसमे वक्रता का भी विशेष प्रयोग है। अज्ञेय आदि प्रयोगवादी कवियो ने कुन्तक की वक्रता को ज्यो का त्यो काव्य का साधन न बनाकर पाश्चात्य कलावादी विभिन्न प्रयोग जैसे प्रतीक, लाक्षणिकता, प्रभाव, बिम्ब तथा घनता आदि को अपनाया है। इन कवियो की सबसे बडी समस्या शब्दो मे साधारण अर्थो से बडे अर्थ भर कर उन्हे पाठक के मन मे उतारने की है। वे अपनी उलझी हुई सवेदनाओ को किस प्रकार पाठको तक अक्षुण्ण पहुँचाए यही उनकी सबसे बडी समस्या है। इस सम्बन्ध मे अज्ञेय ने "तार सप्तक" मे लिखा है "भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम सकेतो से, अको और सीधी तिरछी लकीरो से, छोटे-बडे टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरो से, लोगो और स्थानो के नामो से, अधूरे वाक्यो से, सभी प्रकार के इतर साधनो से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई सवेदना की सृष्टि को पाठको तक अक्षुण्ण पहुचा सके।"[2] इस प्रकार अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रयोग किए गए तथा अज्ञेय जी के शब्दो मे भाषा की क्रमश सकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाडकर उसमे नए, अधिक व्यापक तथा सारगर्भित अर्थ भरने के प्रयत्न किए गए। पर इसके लिए उस उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार, भगी-भणिति या वक्रता का ज्यो का

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन' प्रथम सस्करण (स० २००३) गुलाबराय, पृ० १६६।
२ तार सप्तक (सन् १६४२), पृ० ७५।

त्यो आधार नही लिया गया, जो वक्रोक्तिवाद का आधार है। इन सीधी तिरछी लकीरो, छोटे-बडे टाइपो, अधूरे वाक्यो, सीधे या उल्टे अक्षरो मे उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार का अभाव तो नही है, पर इसका निश्चित रूप मे सम्बन्ध अर्थ अथवा वस्तु-तत्त्व से नही हो सका है। स्वय अज्ञेय लिखते है कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति से "पूरी सफलता उसे नही मिली, जहाँ वह पाठक के विचार-सयोजक सूत्रो को नही छू सका, वहाँ उसे पागल प्रलापी समझा गया या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया।"[१]

प्रयोगवादी कवियो का लक्ष्य वक्रता अथवा उक्ति वैचित्र्य का प्रदर्शन नहीं था, अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति करना था। वे इसी के लिए प्रयत्नशील रहे। इसलिए इन्होंने चमत्कार या वक्र-उक्ति को जहा अपनाया है, वहा अर्थ की गहरी तथा पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए ही अपनाया है, वक्रता प्रदर्शन के लिए नही। इस प्रकार ये वक्रोक्ति को काव्यानन्द अथवा अभिव्यक्ति का साधन मात्र मानते है। सीधी-सादी वार्त्ता अथवा सामान्य भापा को तो वे काव्य के अनुपयुक्त मानते ही हैं किन्तु काव्य की परम्परागत सामान्य-भाषा को भी नए भावो के प्रकाशन के लिए अनुपयुक्त समझते है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी नीतिवादी होने पर भी काव्य मे नीति अथवा उपदेश को आह्लाद के माध्यम से ही प्रदान करने के पक्ष मे है। वे नीति तथा शिक्षा को काव्य का उद्देश्य मानकर भी वक्रता अथवा काव्य-चमत्कार के द्वारा ही उसकी पूर्ति समुचित मानते है। वे वक्रता को काव्य की आत्मा न मानकर भी उसको काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अग मानते हैं, जो उनके विचार से काव्य-विपय तथा भापा से भी श्रेष्ठ है। किन्तु व्यावहारिक रूप मे स्वय उनकी कविता तथा उनके युग की कविता मे वक्रोक्ति अथवा चमत्कार के प्रदर्शन की अपेक्षा कोरी अभिधात्मक तथा इतिवृत्तात्मक उक्तियो का प्राबल्य रहा है।

पद्मसिह शर्मा रसध्वनिवादी होकर भी काव्य मे अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति का विशेष महत्व मानते है। उनके विचार से अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति रस की खान तथा कविता की जान है। रत्नाकरजी भी रसवादी है, किन्तु वक्रोक्ति को रमणीयार्थ का उत्कर्षक-तत्व स्वीकार करते है। रीति, गुण, अलकार आदि से उन्होने वक्रोक्ति को काव्य मे विशेष महत्व दिया है, यद्यपि काव्य के निर्माण मे उन सबका भी सम्मिलित प्रभाव है। उनके विचार से वक्रोक्ति-हीन वाक्य लौकिक हर्ष तथा विपाद का द्योतक तथा अर्थ-बोध मात्र कराने वाला है और वक्रोक्तिपूर्ण वाक्य जिसका आधार कवि का वर्णन-कौशल अथवा कवि-व्यापार-वक्रता है, अलौकिक आनन्द देने वाला है।

---

१. 'तार सप्तक' (सन् १९४२), पृ० ७५।

शुक्लजी की चमत्कार की परिभाषा के अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता, शब्दो की क्रीडा, वाक्य की वक्रता या वचनभगी तथा अप्रस्तुत वस्तुओ का अद्भुतत्व इत्यादि बातें आती है। इस प्रकार उन्होने कुन्तक की वक्रोक्ति के प्राय: सभी भेदो को इसके अन्तर्गत मान लिया है। वे उस वक्रता, चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य को काव्योचित समझते हैं, जो काव्य की प्रभावोत्पादकता तथा मार्मिकता बढाकर काव्य की उक्ति की ओर पाठक को आकर्षित करे, जो भाव या अनुभूति से प्रेरित हो तथा भाव की अनुभूति को तीव्र करे, जो केवल मनोरजन प्रदान करने वाली तथा अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रेय या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करने वाली न हो तथा किसी भाव की व्यजना भी करती हो। वे केवल उक्ति को काव्य नही मानते। उनके विचार से वही उक्ति काव्य है, जिसमे रमणीयता, भाव की प्रेरणा तथा भावो को जाग्रत करने की शक्ति हो। वे वक्रोक्ति को काव्य मे प्रयोजनीय मानते है। उसका लक्ष्य भावना को सजीव तथा गोचर रूप देना तथा भाव की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति करना है। पर वे उसे काव्य का अनिवार्य तत्व नही मानते। वह काव्य का नित्य स्वरूप नही है, उसका अतिरिक्त गुण है। उसके विना भी सुन्दर काव्य लिखा जाता है।

कुन्तक से उनका यह भेद है कि कुन्तक काव्य मे वक्रता की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। शुक्लजी उसे उसका नित्य स्वरूप नही मानते। कुन्तक के 'सालकारस्य काव्यता' के विपरीत वे मार्मिक भाव-स्पर्श तथा चमत्कारहीन वाक्य मे भी काव्य मान लेते है, यद्यपि उनकी यह धारणा अधिक युक्तिसगत नही है।

क्रोचे से उनका यह मतभेद है कि वे उसके द्वारा निरूपित उक्ति के अनूठे स्वरूप को ही काव्य नही मानते। उनके मत से भाव से सम्बद्ध, व्यजनापूर्ण तथा प्रयोजनीय उक्ति ही काव्य है। उन्होने विलायती वक्रोक्तिवाद (अभिव्यजनावाद) तथा कुन्तक के वक्रोक्तिवाद को एक ही समान मान लिया है। इन दोनो मे उन्होने वस्तु-तत्व की उपेक्षा करके बाह्य चमत्कार का प्राधान्य माना है। उनका यह विचार भी मान्य नही है, क्योकि कुन्तक ने वस्तु-वक्रता के अन्तर्गत वस्तु-तत्व को ग्रहण किया है तथा क्रोचे की अभिव्यजना तो अनुभूति से अभिन्न है।[1] इस प्रकार उनकी आन्तरिक तथा बाह्य-अभिव्यजना मे वस्तु-तत्व का समावेश है। उनकी अभिव्यजना ही वस्तु है। वह वस्तु अथवा ज्ञान (भाव) नही है। क्रोचे की वस्तु चाहे अरूप सवेदनजाल मात्र है पर वस्तु के बिना अभिव्यजना तथा अभिव्यजना के बिना वस्तु का अस्तित्व वे नहीं मानते। शुक्लजी कदाचित् क्रोचे के अभिव्यजनावाद की अपेक्षा उसके बाद प्रचलित अतिवादी स्वरूप वाले प्रभाववाद, विम्बवाद, घनवाद (क्यूबिज्म) वक्रतावाद (प्रिंसिपल आफ आब्लीक आर्ट) तथा अतिवस्तुवाद (सररीयलिज्म) आदि के कला अथवा अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण का ही विरोध करते है।

---

१ देखिए 'एस्थेटिक्स', पृ० ८।

छायावादी कवियों में से 'प्रसाद' जी ने छायावाद के मूल में 'वक्रोक्ति' का भी शास्त्रीय आधार प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने कुन्तक का प्रमाण देकर छाया को वक्रोक्ति ही सिद्ध किया है। उनका विचार है कि कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास के समय जो शब्द और अर्थ की वक्रता स्फुरित होती है, वही विच्छित्ति, कान्ति या छाया है।[1] यह छाया अथवा शब्द तथा अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण है तथा सत्काव्य का आन्तरिक गुण है। यही काव्य का लावण्य है।

पन्तजी भी काव्य में अनेक प्रकार की वक्रता का अधिकाधिक समावेश चाहते हैं। वे कुन्तक के 'तत्व सालंकारस्य काव्यता' को स्वीकार करके अलंकारों को काव्य का स्वरूपविधायक धर्म मानते हैं। इस प्रकार वे शुक्लजी के मत को नहीं मानते, जो अलंकार तथा अलंकार्य का स्पष्ट अन्तर मानते हैं। पन्तजी ने नवीन काव्य में 'पर्याय-वक्रता' की विशेष आवश्यकता मानी है। उनकी पर्याय-वक्रता की व्याख्या कुन्तक की पर्याय-वक्रता में नवीनता का समावेश करती है। वे प्रत्येक शब्द का एक निजी संगीत (आत्मा) मानते हैं तथा उसके कौशलपूर्ण प्रयोग से ही इस वक्रता के सौन्दर्य की उत्पत्ति मानते हैं।

सुधांशुजी का विचार है कि कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त भामह के 'लोकातिक्रान्त गोचरता' तथा 'अतिशयोक्ति' के सिद्धान्तों का ही विकसित रूप है। उनकी वक्रोक्ति में लोकोत्तर वैचित्र्य का तद्विदाह्लाद से तादात्म्य किया गया है तथा वे 'रस-सिद्धान्त' को मानने के लिए बाध्य हो गए हैं। कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का एक अंग मान लिया है। वे रसवत् को भी अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं। उनकी प्रबन्ध-वक्रता में भी रस के लिए विशेष स्थान है। वक्रोक्ति में ध्वनि की अपेक्षा अलंकारों का भी महत्व अधिक है। वक्रोक्तिवाद में ध्वनि की बहुत सी बातें भी उधार ली गई हैं। वक्रोक्ति के कुछ भेद, ध्वनि के रूपान्तर मात्र हैं।

वे शुक्लजी के इस मत को नहीं मानते कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का विलायती रूप है तथा उसमें वस्तु की अपेक्षा चमत्कार तथा अभिव्यंजना का लक्ष्य रहता है। उनके विचार से दोनों वाद पृथक् हैं। अभिव्यंजनावाद की अपेक्षा वक्रोक्ति अलंकार की ओर विशेष तत्पर है। अभिव्यंजनावाद में वक्रोक्ति की अपेक्षा स्वभावोक्ति के लिए भी स्थान है। वे भी वाग्वैचित्र्य को काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं मानते। उनके विचार से अभिव्यंजनावाद में अनुभूति, प्रभाव तथा वाग्वैचित्र्य तीन तत्त्व हैं, यद्यपि शुक्लजी ने उसके अन्तिम तत्त्व को ही उसमें महत्त्वपूर्ण समझकर उसकी आलोचना की है।

प्रगतिवादी कवियों ने वक्रोक्तिवाद का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में बहिष्कार किया है। इनका लक्ष्य, बिना अलंकार तथा वक्रता के बात को प्रकृत

---

१. देखिए 'वक्रोक्ति जीवित', १।३४।

तथा यथार्थ रूप में कहना है। अभिव्यंजना की अपेक्षा वे वस्तु की नवीनता में अधिक संलग्न हैं। प्रयोगवादी लेखक भी काव्य की उनकी संवेदनाओं को सामान्य उक्ति द्वारा अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाते हैं, इसलिए उन्होंने जिन प्रयोगों (प्रतीकवाद, बिम्बवाद, नाजणिकता, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद से सम्बन्ध रखने वाले, आदि) को अपनाया, उनमें प्रसिद्ध कथन की शैली से भिन्न विचित्र प्रकार की उक्तियाँ, शब्द अर्थ के असामान्य प्रयोग, कवि-कौशल-जन्य-चमत्कार आदि वक्रोक्ति के तत्व विद्यमान हैं, किन्तु उन्होंने इन सब को काव्य का ध्येय नहीं माना है। उनका लक्ष्य तो काव्य में अधिक-से-अधिक विस्तृत, व्यापक तथा पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति करना है। यह अभिव्यक्ति निश्चय ही सीधी-सादी न होकर चमत्कारपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मेरे निष्कर्ष यह हैं :—

१ आधुनिक आलोचकों ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानकर अनुप्रास के अन्तर्गत, उनके लक्षण तथा उदाहरण देने की प्रवृत्ति को छोड़कर व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक रूप में वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। छायावादी काव्य के अन्तर्गत वक्रोक्ति का व्यावहारिक रूप में विशेष उत्कर्ष दिखाई पड़ा है। वक्रोक्ति का सैद्धान्तिक-विवेचन भी रूढ़िगत लक्षण तथा उदाहरण देने की परम्परा को छोड़कर वैज्ञानिक अध्ययन, विवेचन तथा विश्लेषण के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ।

२ रामचन्द्र शुक्लजी के अभ्युदय के पूर्व सैद्धान्तिक रूप में भी वक्रोक्ति को रस अथवा काव्यगत रमणीयता का उत्कर्षक माना जाने लगा था। इतिवृत्तात्मक तथा नीतिवादी द्विवेदीकाल में भी वक्रता तथा चमत्कार का महत्त्व, काव्य के पूर्ण उत्कर्ष के लिए स्वीकार किया गया था। वक्रोक्ति को काव्य का प्राण-तत्त्व न मान कर भी इन लेखकों ने रस, ध्वनि तथा काव्य की रमणीयता की वृद्धि के लिए वक्रोक्ति अथवा चमत्कार का विशेष महत्त्व माना था। रत्नाकरजी तो अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा काव्य के अलौकिक आनन्द के लिए वक्रोक्ति का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व मानते थे। उनका विचार था कि सामान्य वाक्य अर्थ-बोध मात्र कराने वाले हैं तथा वक्रोक्तिपूर्ण-वाक्य अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार काव्य में रमणीयता अथवा आनन्द को प्रधानता देकर वक्रोक्ति को उसका सहायक माना जाने लगा था।

३ रामचन्द्र शुक्लजी के समय में वक्रोक्ति का विवेचन केवल प्राचीन भारतीय आचार्यों के ही आधार पर नहीं रहा। पाश्चात्य आचार्यों से भी उसका तुलनात्मक अध्ययन होना आरम्भ हो गया। यद्यपि उस समय तक न तो कुन्तक की वक्रोक्ति का ही हिन्दी जगत् में पूर्ण अध्ययन हुआ था और न क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का। इसलिए शुक्लजी की धारणाओं में भी विशेष स्पष्टता नहीं आई है। कहीं-कहीं उनका विवेचन एकांगी ही रहा है, क्योंकि वे पूर्णतया न तो वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की ही विशिष्टताओं से परिचित हो पाए थे और न क्रोचे की से ही। शुक्लजी ने

पूर्व, वास्तव मे, वक्रोक्ति सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन हिन्दी मे एक प्रकार से हुआ ही नही। रीतिकालीन परम्परा के अनुसार वक्रोक्ति को या तो रुद्रट के विचारानुसार, शब्दालकार मानकर वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत, उसका परिचयात्मक विवरण दिया जाता रहा या रुय्यक के अनुसार उसका अर्थालकार के रूप मे साधारण निरूपण होता रहा। उसे कभी काव्य के जीवित के रूप मे तो अपनाया ही नही गया।

४. रामचन्द्र शुक्लजी के वक्रोक्ति-विवेचन मे एक ओर तो कुन्तक के तथा दूसरी ओर क्रोचे के सिद्धान्तो से मतभेद प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार वक्रोक्ति के सिद्धान्तो को पहली बार नवीन चिन्तन की कसौटी पर परखना प्रारम्भ हुआ। शुक्लजी ने कुन्तक का दो बातो मे विशेष विरोध किया। एक तो वे (कुन्तक) वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानकर काव्य मे उसकी अनिवार्य स्थिति मानते है, दूसरे उनकी वक्रोक्ति मे वस्तु अथवा आत्म-तत्त्व की अवहेलना तथा काव्य के बाह्य पक्ष, चमत्कार, मनोरजन, अनूठेपन, कवि-व्यापार-कौशल आदि की प्रधानता है। इसके विपरीत शुक्लजी मार्मिक भाव-स्पर्श की शक्ति से पूर्ण तथा चमत्कार से हीन उक्ति को ही काव्य मानते है[1] तथा वक्रोक्ति को काव्य का नित्य स्वरूप नही मानते। उनके विचार से उसके बिना भी श्रेष्ठ काव्य रचा जा सकता है। वे काव्य मे वक्रोक्ति अथवा चमत्कार का साधारणतया स्थान नही मानते, किन्तु यदि वह भाव-प्रेरित होकर या भावो को जाग्रत करने की शक्ति रख कर काव्य मे मार्मिकता तथा प्रभावोत्पादकता बढा सके तो वे उसे स्वीकार करते है। इस प्रकार वे अपने पूर्वकालीन आलोचको की भाँति ही वक्रोक्ति को रस का उत्कर्षक स्वीकार करते है। केशव ने भी वक्रोक्ति को भावो द्वारा प्रेरित वक्रता ही माना है। उसे कवि-कर्म-कौशल के रूप मे स्वीकार नही किया है।

५ रामचन्द्र शुक्लजी ने हिन्दी मे फिर उनके सूत्र को पकडा है। उनकी यह धारणा मान्य नही है कि वक्रोक्ति के बिना भी सुन्दर काव्य रचा जा सकता है। स्वय उनके कथन के आधार पर[2] हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके है कि सत्काव्य मे किसी न किसी अश मे वक्रोक्ति का निवास रहता है और वह काव्यानन्द का उत्कर्षक होता है। उनके इस विचार से भी हम सहमत नही है कि कुन्तक की वक्रोक्ति मे वस्तु-पक्ष की अवहेलना है। वास्तव मे उनकी वक्रोक्ति, शब्द तथा अर्थ दोनो की सजावट है। उनकी प्रबन्ध-वक्रता मे वस्तु-पक्ष का महत्त्व स्पष्ट लक्षित है। वह सहृदयो का (रस से) रजन करने वाली भी है। इसी प्रकार शुक्लजी की अभिव्यजनावाद के सम्बन्ध मे पहली धारणा यह है कि वह केवल वक्रोक्तिवाद का विलायती रूप है। वास्तव मे इन दोनो वादो की अपनी विशिष्टताएँ तथा समताए तथा विषमताएँ हैं। इसलिए वे एक नही हो सकते। उनकी दूसरी धारणा यह है कि

---

१. 'चिन्तामणि', दूसरा भाग, पृ० २३२।
२ 'चिन्तामणि', पहला भाग (सन् १९३९), पृ० २३६।

क्रोचे उक्ति को ही काव्य मानते है चाहे उसमे वस्तु-तत्त्व हो या नही। उनकी यह धारणा भी मान्य नही है क्योकि क्रोचे की अभिव्यक्ति तथा अनुभूति अभिन्न है। उनकी उक्ति ही सहजानुभूति का मूर्त्तरूप है। कदाचित् शुक्लजी का 'विलायती वक्रोक्तिवाद' मे उन सभी कलावादी तथा अतिवादी वादो से तात्पर्य था, जिनका विरोध रिचार्ड्स ने अंग्रेजी मे शुक्लजी से पूर्व किया था।

६ शुक्लजी ने वक्रोक्ति सम्बन्धी जिस विवेचन को वैज्ञानिक तथा गम्भीर विवेचन का मार्ग दिखाया था, वह उस पर और आगे बढने लगा। प्रसादजी ने इस विवेचन मे एक नवीनता का सचार किया। उन्होने युग विशेष के महान् तथा समृद्ध काव्य के मूल मे ही वक्रोक्ति का विशिष्ट स्थान निर्धारित किया तथा इस नवीन काव्य की विशेष समृद्धि का आधार, विशिष्ट रूप से वक्रोक्ति को मानकर, उसके महत्व को पूर्वकालीन लेखको की अपेक्षा कही अधिक ऊँचा उठा दिया।

७ इसी प्रकार कुन्तक की पर्यायवक्रता मे नवीनता का समावेश करके पन्तजी ने उसमे विकास की नवीन सम्भावनाओ को जन्म दिया।

८ सुधांशुजी ने भी कुन्तक की वक्रोक्ति मे रस के समावेश का विवेचन करके उसके स्वरूप को शुक्लजी से अधिक स्पष्ट कर दिया। उन्होने वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे एक नए प्रश्न पर विचार किया तथा वक्रोक्ति और ध्वनि-सिद्धान्त के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर वक्रोक्ति मे ध्वनि के आधार को स्पष्ट किया। किसी एक सम्प्रदाय का दूसरे से प्रौढ तुलनात्मक विवेचन का हिन्दी मे यह पहला अवसर था।

९ प्रगतिवादियो ने वक्रोक्ति का विशेष महत्व नही माना। इसीलिए कम प्रतिभावान कवियो का काव्य अधिकाश मे 'वार्त्ता' के स्तर तक उतर आया। प्रयोगवादियो के नवीन प्रयोगो मे निश्चय ही वक्रता के लिए विशेष स्थान है, यद्यपि वे न तो काव्य मे उसके स्थान का विवेचन करते है और न परम्परागत वक्रता तथा चमत्कार का प्रदर्शन करते है। उनमे नवीन वादो के प्रभाववश वक्रता की स्वीकृति अवश्य है, क्योकि वे तो अर्थ को अधिक व्यापक, पूर्ण तथा विस्तृत बनाना चाहते है।

१० शुक्लजी की वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यताओ के विरोध मे भी नवीन तथ्य प्रस्तुत होते रहे। पन्तजी ने शुक्लजी के विपरीत 'तस्य सालकारस्य वक्रता' को अपनाया तथा सुधांशुजी ने उनके विपरीत वक्रोक्ति तथा अभिव्यजनावाद की पृथकता का निर्देश किया।

११ इस प्रकार इन आधुनिक आलोचको का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का विवेचन आलोच्य-काल मे विशेषरूप से विस्तृत होता रहा। यह हिन्दी आलोचना की एक निजी विशिष्टता है, क्योकि संस्कृत आलोचना मे भी वक्रोक्तिवाद कुन्तक के पश्चात् प्रायः सकुचित होते-होते शब्दालंकार मात्र ही रह गया था। भारतीय तथा पाश्चात्य, प्राचीन तथा नवीन वादो के आधार पर, इसका जो विशद विवेचन हुआ, वह आलोच्य-काल के पश्चात् भी गुलाबराय, बलदेव उपाध्याय, डा० नगेन्द्र आदि विद्वानो द्वारा प्रगति करता रहा।

प्रकरण ३

काव्य के अन्तरंग का विवेचन करने वाले सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य में रस सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य में दीर्घकाल तक रस नाटक का ही विषय समझा जाता रहा। इसका व्यवस्थित रूप में काव्य से सम्बन्ध 'ध्वन्यालोक' के समय तक प्रतिपादित नहीं हुआ।[1] भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट आदि आचार्यों ने रस के महत्त्व को किसी न किसी अंश में स्वीकार तो किया, किन्तु काव्यशास्त्र में प्रमुख रूप में रस का वर्णन एवं विवरण नाटक या रूपक के अन्तर्गत ही किया गया, काव्य के प्रसंग में नहीं।

रस-सिद्धान्त के आद्याचार्य भरत हैं, यद्यपि रस-सिद्धान्त भरत से भी पुरातन है। भरत के रस-सिद्धान्त का विरोध भामह के द्वारा हुआ, जो अलंकारों को रस की आत्मा मानते थे। उन्होंने रस का अन्तर्भाव रसवत्, प्रेयस और ऊर्जस्विन अलंकारों से किया।[2] दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट आदि अलंकारवादियों ने काव्य में अलंकारों को ही सर्वोपरि स्थान दिया। दण्डी ने भामह से अधिक रस के महत्त्व को स्वीकार किया तथा अलंकार शब्द के अन्तर्गत गुण, रीति, रस आदि सबको सन्निहित माना। वामन ने दण्डी से भी अधिक रस को महत्त्व देकर उसे कान्ति गुण का मूल-तत्त्व माना (दीप्ति रसत्व कान्ति) उद्भट ने रस सम्बन्धी अलंकारों में समाहित का समावेश करके, उनकी वृद्धि की तथा भरत के आठ रसों में नवें शान्त रस की भी प्रतिष्ठा की।

रुद्रट पहले आचार्य थे, जिन्होंने रस को रूपक तक सीमित न मानकर इसका क्षेत्र काव्य को भी माना। वे रस के पूर्ण परिपाक के अभाव में काव्य को नीरस तथा निस्पन्द मानते हैं।[3] वे रस को अलंकार के भीतर रखने के विरोधी हैं तथा काव्य में रस की अनिवार्यता भी मानते हैं।[4] आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की

---

१. देखिए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोयीटिक्स, ले०—पी० वी० काणे, पृ० ३४१।
२. देखिए, सर आशुतोष मुकर्जी 'सिलवर जुबली वाल्यूम' तृतीय भाग में 'दी थ्योरी ऑफ रस इन संस्कृत पोयीटिक्स', पृ० २०६।
३. देखिए 'रुद्रट' 'काव्यालंकार', ५१।२१।
४. तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् 'काव्यालंकार' ले०—रुद्रट १२।२

आत्मा मानते हुए भी रस को काव्य के प्रेरक तथा सार रूप मे स्वीकार किया है।[१] उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा उसके उत्तम रूप की रसध्वनि माना है। अभिनव-गुप्त ने सबसे पहले रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की तथा रस-ध्वनि को सर्वोपरि महत्ता देकर रस की श्रेष्ठता बताई। उन्होने शान्त-रस मे अन्य रसो का समाहार करके उसे महत्ता दी।

भोज राज ने रस को ध्वनि, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि सभी से महत्त्वपूर्ण माना है।[२] उन्होने अन्य रसो का पृथक् अस्तित्व न मानकर केवल एक शृगार की ही स्थिति मानी है। वे रस, शृगार, अभिमान अथवा अहकार को एक मानते है।[३] भोज के पश्चात् मम्मट तथा विश्वनाथ ने रस के विकास तथा स्पष्टीकरण मे विशेष योग दिया है। विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करके अद्भुत रस को अन्य रसो मे प्रमुख माना है तथा अन्य रसो मे उसी के विभिन्न रूप को स्वीकार किया है। पडितराज ने रमणीयार्थ को काव्य मानकर रमणीयार्थ अर्थ मे रस को ही महत्त्व दिया है। उनका विचार है कि रस निजस्वरूपानन्द है जो चित्त के भग्नावरण रूप होने पर प्रगट होता है। यह भग्नावरणत्व विभावादि से पूर्ण होता है।[४]

इस प्रकार सस्कृत साहित्य मे अलकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सिद्धान्तो के प्रतिपादित होने पर भी रस का महत्त्व धीरे-धीरे बढता ही गया। ध्वनि-सिद्धान्त के समन्वयात्मक होने के कारण, उसमे भी रस-ध्वनि के रूप मे रस की महत्ता स्वीकार की गई। सस्कृत मे अन्य सभी सम्प्रदायो से रस-सम्प्रदाय का विकास अधिक विस्तृत रूप मे हुआ।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे रस-सप्रम्दाय का विकास

हिन्दी काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत रस-सम्प्रदाय का विकास अलकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा कम हुआ है। हिन्दी काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों मे प्राय सभी रस के महत्त्व के मानने वाले हैं। इस काल मे रस का विवेचन दो प्रकार के ग्रन्थो में हुआ है, एक तो वे, जिनमे उसका स्वतन्त्र विवेचन किया गया है तथा दूसरे वे जिनमे ध्वनि के वर्णन के साथ-साथ रस का भी विवेचन किया गया है। ध्वनि का वर्णन करने वाले ग्रन्थो मे भी बहुत से आचार्यों ने ध्वनि का सक्षेप मे वर्णन करके रस का

---

१ काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौचद्वन्द्ववियोगोत्थ. शोक श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्यालोक १।५।

२ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रति-जानते॥ सरस्वती कण्ठाभरण ५।८।

३ देखिए 'भोज्स शृगार प्रकाश'—ले० डा० राघवन्, पृ० ८२।

४ देखिए 'रसगगाधर' प्रथमानन, नागेश भट्ट की टीका, पृ० ५५।

ही विस्तार से वर्णन किया है। रस का स्वतंत्र वर्णन करने वाले ग्रन्थो के विषय प्राय: रस के लक्षण-उदाहरण, रस के भेद तथा नायक-नायिका के भेद आदि विषयों के वर्णन रहे हैं।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों के ग्रन्थो में सैद्धान्तिक विवेचन की अपेक्षा काव्य का ही अधिक महत्त्व रहा है। इनमे मौलिक चिन्तन का प्राय. अभाव ही है। कहीं-कही केवल लक्षणो तथा उदाहरणों मे ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली गई है। किन्तु कुछ आचार्यों ने जिनमे केशव, देव, महाराज रामसिंह आदि का नाम उल्लेखनीय हैं, भावों, रसो तथा रस-भेदो के सम्बन्ध मे मौलिक विवेचन का परिचय दिया है। केशव ने वचन, मुख और नेत्रों के मार्ग से मन की बात प्रकट होने को भाव माना है।[1] वे विभाव उन्हे कहते हैं, जिनसे अनायास ही रस प्रकट होते हैं।[2] देव ने रस के लौकिक तथा अलौकिक दो भेद माने हैं। अलौकिक रस तीन प्रकार का है, स्वापनिक, मानोरथ तथा औपनायक, और लौकिक रस ६ प्रकार के है। इन्होंने शान्त रस के भी चार भेद किए हैं, प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति, शुद्ध प्रेम तथा शुद्ध शान्त। इसी प्रकार इन्होंने हास्य के भी उत्तम, मध्यम तथा अधम नामक तीन भेद किए हैं। इनके शान्त के वर्गीकरण मे शान्त, वात्सल्य, दास्य और माधुर्य भेदो के साथ भक्ति रस के बीजांकुर भी प्राप्त होते हैं।

आलोच्य-काल से पूर्व के आचार्यों ने अपने आधार स्वरूप, नाट्य-शास्त्र, रस मजरी, रस तरंगिणी, शृंगार-प्रकाश, साहित्य-दर्पणआदि ग्रन्थो को ग्रहण किया है। इन्होंने भोजराज की परम्परा मे शृंगार के रस-राजत्व को स्वीकार करके, अन्य रसो को गौण रूप प्रदान किया है।[3] देव का विचार है कि शृगार आकाश के समान है, जिसमे अन्य रस पक्षियो के समान उड-उड़ कर भी उसका अन्त नही पाते।[4] शृगार रस के सर्वोपरि मानने के कारण इस काल को शृंगार-काल कहना कुछ अनुचित न होगा। शृंगार-रस के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त नायक-नायिका-भेद का वर्णन इनकी दूसरी प्रमुख विशेषता है। इनके द्वारा नायिका की सखियो की भाति नायक के भी सहायक, नर्म सचिव आदि अनेक भेदो की कल्पना हुई।

आलोच्य-काल के पूर्व के इन आचार्यों ने रसो के विभिन्न प्रकारो की भी कल्पना की है। इस क्षेत्र मे देव, रामसिंह आदि आचार्य प्रमुख हैं। इन्होंने भावो, स्थायी

---

१ देखिए 'रसिक प्रिया', छठा प्र०।

२ देखिए वही, छठा प्र०।

३ भूलि कहत नौरस सुकवि, सकल मूल शृंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै, बीर सात संचार ॥ 'भवानी विलास। १।६

४. निर्मल स्याम सिंगार हरि देव अकास अनन्त।
उड़ि-उड़ि खग ज्यो और रस बिवस न पावत अंत ॥ वही, पृ० ८६०।

भावो तथा सचारी भावो की विभिन्न परिभाषाए दी हैं, जो इनकी मौलिक चिन्तन-शक्ति की द्योतक हैं। देव ने स्थायी, विभाव, अनुभाव, सात्विक, सचारी और हाव नामक ६ भाव माने हैं। केशव ने भाव के पाच ही भेद माने है। इस प्रकार भरत के चार भावो मे केशव ने तो सात्विक तथा देव ने 'हाव' जोड़कर सख्या में वृद्धि की है। अन्य आचार्यों ने इन्हे भाव के अन्तर्गत न मानकर अनुभाव ही माना है। इनके द्वारा शृगार, शान्त, हास्य, करुण आदि रसो के अवान्तर भेदो का भी मौलिक वर्णन किया गया है। देव का संसार की समस्त वस्तुओ का काम द्वारा प्रेरित होने का वर्णन आधुनिक काल के पाश्चात्य मनीषी फ्रायड के सिद्धान्त के समान है, जिसका रस के अन्तर्गत उन्होंने मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। वे युक्ति, भुक्ति तथा मुक्ति का मूल प्रेरक 'काम' को ही मानते हैं। काम के विना पूर्ण हुए परम पद भी क्षुद्र है।[1] इनका यह काम का भाव वासना का द्योतक नही है, वरन् प्रेम का पर्याय है।[2] इन आचार्यो ने वात्सल्य, भक्ति, कार्पण्य आदि का भी रस के रूप मे विवेचन किया है। इन्होने प्रायः इन्हे पृथक् रस के रूप मे स्वीकार नही किया।

आलोच्य-काल से पूर्व के काल मे महाराज रामसिंह ने अपने ग्रन्थ 'रस निवास' मे रस-सिद्धान्त के सम्वन्ध मे कई मौलिक उद्भावनाए करके रस सम्प्रदाय को समृद्ध बनाया है। उन्होने मनोविकारो तथा भावो के अन्तर को स्पष्ट किया,[3] हास्य के स्थायी भाव हसता के दो भद, स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ की मनोवैज्ञानिक उद्भावना की और इनमे से प्रत्येक के ६ भेद हिन्दी की शब्दावली मे किए, जैसे मुसुकानि, हसनी, विहसनी, उपहसिनी अतिहसनि। उन्होने इन सब के लक्षण देकर इनकी पारस्परिक श्रेष्ठता भी बताई। इसके अतिरिक्त सस्कृत साहित्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित रसो मे एक अन्य रस 'माया रस' की कल्पना भी इनकी मौलिक सूझ की द्योतक है। यद्यपि यह रस परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य नही हुआ, फिर भी इस सम्प्रदाय को हिन्दी मे होने वाली नवीन चेतना का तो यह द्योतक है ही। प्रत्येक इन्द्रिय के आठ-आठ सात्विक भाव मानना भी इनकी नवीनता है। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण सूझ 'ध्वनि सिद्धान्त' के समान 'रस-सिद्धान्त' की कल्पना है। इन्होने ध्वनि,

---

१ युक्ति सराही मुक्ति हित, भुक्ति मुक्ति को धाम।
युक्ति भुक्ति औ मुक्ति को, मूल सुकहिए काम॥
विना काम पूरन भये, लगै परम पद छुद्र।
रमनी राका समिमुखी, पूरे काम समुद्र॥ रसविलास, पृ० १ (स १९००) प्र० काशी

२ तव ही लौ शृगार रसु जव लग दम्पति प्रेम। 'प्रेम चन्द्रिका' प्रथम प्रकाश दो० १६।

३ रस अनुकूल विकास भाव कहि, होई आन विधि सो विकार लहि।
रस निवास (उद्धृत हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास से—ले० डॉ० भगीरथ मिश्र, (सम्वत् २००५), पृ० १६१)

गुणीभूतव्यग्य और अव्यंग्य काव्य की भाति रस के अनुसार काव्य की तीन कोटिया अभिमुख, विमुख तथा परमुख मानी है। जिस काव्य मे रस का पूर्ण अभाव है वह विमुख है, जहा रस के स्थान पर अलकार, गुण, रीति, भाव आदि की प्रधानता रहती है वह परमुख है तथा अभिमुख मे केवल रस प्रधान होता है। रस सिद्धान्त के आधार पर इनका यह विवेचन इनकी मौलिक सूझ तथा व्यापक कल्पना का परिचायक है।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे रस का विवेचन केवल परम्परागत रूप ही मे नही हुआ। उसकी निजी विशिष्टताए भी कही-कही परिलक्षित हुई। इस काल मे ध्वनि-सम्प्रदायो की अपेक्षा रस का विवेचन निश्चय ही अधिक हुआ है। हिन्दी आचार्यों ने अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा रस तथा अलकार सम्प्रदायो को ही अधिक मान्यता दी। रस की प्रधानता मानने वालो ने रस के विभिन्न अगो के लक्षण तथा वर्गीकरण की ओर अधिक ध्यान दिया। उन्होने साधारणीकरण आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या अथवा खडन-मडन की प्रणाली अधिक नही अपनाई और रस की महत्ता, नाटक तथा काव्य दोनो ही मे मानी। भक्ति के सम्प्रदायो ने भी रस के सम्प्रदाय मे भक्ति सम्बन्धी रसो का योग देकर धर्म के क्षेत्र मे भी, इसका विकास किया। गौडीय वैष्णवो ने शान्त, दास्य या प्रीति, सख्य या प्रेम, वात्सल्य और माधुर्य नामक पाच रस माने तथा रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' मे उज्ज्वल या मधुर रस को, जिसे वह भक्ति-रस भी कहते है (मधुराख्यो भक्तिरस, उज्ज्वल नीलमणि १-३) परम महत्त्व दिया है।'

आलोच्य-काल मे रस सम्प्रदाय का विकास

अन्य सम्प्रदायो के विकास की भाँति आलोच्य-काल मे रस-सिद्धान्त के विकास मे योग देने वाले भी दो प्रकार के लेखक हुए, एक वे जिन्होने परम्परागत शैली को अपना कर प्राचीन आचार्यों के रस सम्बन्धी विवेचन का ही परिचयात्मक विवरण मात्र दिया तथा दूसरे वे आलोचक, जिन्होने साहित्य-शास्त्र की पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विचारधाराओ के समन्वित रूप मे रस के सिद्धान्त का विवेचन किया। इन लेखको ने मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, काव्य के विभिन्न वादो तथा सिद्धान्तो के आधार पर रस का अध्ययन किया है तथा रस के सिद्धान्त का हिन्दी मे अभूतपूर्व विवेचन किया है। सस्कृत काल के पश्चात् जैसा रस का प्रौढ विवेचन इन आधुनिक आलोचको ने किया, वैसा इससे पूर्व नही हुआ था। इनके द्वारा रस के क्षेत्र का निरीक्षण तथा परीक्षण सस्कृत के आचार्यों से भी कुछ रूपो मे अधिक ही हुआ। काव्य, नाटक तथा साहित्य के अन्य रूपों को आधार बनाकर भी रस का विवेचन किया गया। फिर भी इस काल मे अलकार-सम्प्रदाय के विवेचन की अपेक्षा रस का विवेचन अधिक विस्तृत नही है। यह रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि

१ देखिए 'सूर साहित्य' हजारी प्रसाद द्विवेदी (स० १९९३), पृ० ८४।

सम्प्रदायो से निश्चय ही बढा-चढ़ा है। इस काल के प्रमुख आधुनिक आलोचक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, जयशकर प्रसाद, नन्द दुलारे वाजपेयी, प्रेमचन्द, डा० भगवानदास, 'सुधाशु' आदि है।

रीतिकालीन विचार परम्परा तथा शैली का निर्वाह करने वाले लेखक दो प्रकार के है, एक तो पूर्णतया रीति की परम्परा का पालन करने वाले जैसे कविराजा मुरारीदान, भानु कवि, महाराजा प्रताप नारायण सिंह, बाबू राम बिल्थरिया तथा भगवान दीन और दूसरे वे जिन पर पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का प्रभाव या तो पडा ही नहीं है या केवल प्रारम्भिक अवस्था मे है। इन रीतिकारो के रस-विवेचन के ग्रन्थ दो प्रकार के है, एक तो वे जिनमे अन्य काव्यागो के विवेचन के साथ-साथ रस का भी परम्परागत विवेचन हुआ है तथा दूसरे वे जो केवल रस के ही ग्रन्थ है। रस के ग्रन्थो मे प्रसिद्ध 'नव-रस', 'रस-कलश', 'रस मजरी' आदि हैं। इनका विवेचन रीति-परम्परा के अन्तर्गत होने पर भी कुछ नवीनता लिए हुए है। इनमे प्राय प्राचीनता तथा नवीनता का मिश्रण मिलता है। प्राचीनता तथा नवीनता का मिश्रण अपनाने वाले लेखक अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', कन्हैया लाल पोद्दार, गुलाब राय आदि हैं। इस प्रकार आलोच्य-काल के लेखको के दो वर्ग है, एक तो आधुनिक रीतिकार तथा दूसरे आधुनिक आलोचक। प्रमुख आधुनिक रीतिकारो तथा आलोचको का रस विवेचन इस प्रकार है :—

आधुनिक रीतिकार

लछिराम जी

लछिराम जी ने 'रावणेश्वर कल्पतरु' मे काव्य के अन्य अगो के विवेचन के साथ-साथ रस का भी वर्णन किया है। उन्होने भरत के अनुसार अपना रस का लक्षण दिया है। वे भाव को रस का मूल मानते हैं। वे भाव की यह परिभाषा देते है कि ये चित्त के स्वभाव को रस की अनुकूल अवस्था मे बदल देते हैं।[1] उनके विचार से भाव दो प्रकार के है, प्रथम, स्थायी भाव, जो अपने ही रस मे लीन रहते हैं तथा द्वितीय सचारी भाव, जो सभी रसो मे सचारित होते हैं। स्थायी भाव भी दो प्रकार के हैं, शारीरिक, जो सात्विक भाव है तथा मानसिक जो ३३ हैं तथा अन्य आचार्यों द्वारा भी माने गए हैं। इस प्रकार उन्होने नौ स्थायी भावो के अतिरिक्त आठ तन सचारी तथा ३३ मन-सचारी भाव माने हैं, जबकि अन्य आचार्य स्थायी सचारी, विभाव तथा अनुभाव, सभी को भावो के भेद मानते हैं, लछिरामजी केवल दो ही भाव, स्थायी तथा सचारी मानते है तथा विभावो को केवल भावो के कारण एव अनुभावो को स्थायी भावो को प्रकट करने वाले व्यापार मानते है। उन्होंने सात्विक भावो को भी सचारी भावो का भेद माना है, जब कि प्राचीन आचार्य उन्हे अनुभाव मानते हैं।

१. देखिए 'रावणेश्वर कल्पतरु' (सन् १८९२), पृ० ८८ दोहा ६।

उन्होंने भरत के आठ रसों के स्थान पर नौ रस माने हैं तथा शृंगार रस के वर्णन के अन्तर्गत रति में बाल-विषयक रति तथा बन्धु-विषयक रति का भी वर्णन करके उन्हें भावों के अन्तर्गत स्थान दिया है। इस प्रकार उनका रस-विवेचन परम्परागत न होकर उनके स्वतन्त्र-चिन्तन का फल है।

महाराज प्रताप नारायण सिंह

महाराज साहब ने 'रस कुसुमाकर' में रस के अंग-प्रत्यंग का सुन्दर तथा सोदाहरण विवेचन किया है। इस ग्रन्थ को पन्द्रह कुसुमों में विभक्त करके, इसमें स्थायी भाव संचारी भाव, अनुभाव हाव विभाव, शृंगार रस, वियोग शृंगार की दस दशाओं, शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के उदाहरण आदि विषयों का परम्परागत रूप में वर्णन किया गया है। ऋतुओं तथा उद्दीपन-सामग्री का वर्णन विभाव के वर्णन के अन्तर्गत परम्परागत रूप में हुआ है। इस ग्रन्थ के लक्षण गद्य में दिए गए हैं तथा प्राचीन रीतिकारों के उदाहरण सहृदयता के साथ चुन कर दिए गए हैं। चित्रों द्वारा भावों संचारियों तथा अनुभावों का स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ की एक विशेषता है।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

भानुजी ने अपने विशाल ग्रन्थ 'काव्य-प्रभाकर' के चतुर्थ मयूख में उद्दीपन विभाव का सोदाहरण वर्णन किया है। इसके अन्तर्गत शृंगार रस की उद्दीपक सामग्री वन, उपवन ऋतु, सखा सखी, चन्द्र, चन्द्रिका इत्यादि के वर्णन के साथ-साथ नख-शिख वर्णन भी सम्मिलित कर लिया है। उन्होंने अन्य आचार्यों के विपरीत नख-शिख वर्णन पृथक् उचित नहीं समझा है। उनके मत से नख-शिख शृंगार रस के उद्दीपन के अनेक कारणों में एक प्रधान कारण है, इसलिए इसका वर्णन उक्त रस के अन्तर्गत ही होना चाहिए। इन लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए दिए हुए उदाहरण बहुत उपयुक्त तथा सरस हैं। 'पंचम मयूख' में सात्विक, कायिकी तथा मानसिक अनुभावों के भेदानुभेदों का वर्णन सामान्य तथा सरल रूप में हुआ है। षष्ठ मयूख में ३३ संचारियों का तथा सप्तम में ६ स्थायी भावों का परम्परागत रूप में वर्णन है। अष्टम मयूख में रसों के लक्षण तथा उदाहरण हैं। इनके रस वर्णन में कोई विशेष नवीनता नहीं है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

उपाध्यायजी ने सं० १६८८ में रस-निरूपण करने वाले ग्रन्थों की प्राचीन परम्परा में ही अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'रस कलश' प्रकाशित कराया। आधुनिक युग में अलंकार ग्रन्थों की प्रचुरता के कारण रस पर कम ग्रन्थ लिखे गए। इनके इस ग्रन्थ का उद्देश्य स्वयं लेखक के शब्दों में यह है कि "आज तक जितने रस-ग्रन्थ बने हैं, उनमें शृंगार रस का ही अन्यथा विस्तार है और रसों का वर्णन नाम मात्र है।

इसके अतिरिक्त सचारी भावो के उदाहरण भी प्राय शृंगार रस के ही दिए गए है, ऐसा न करके अन्य विषयो के उदाहरण भी उनमे होने चाहिए थे। 'रस कलश' मे इन सब बातो का आदर्श उपस्थित किया गया है और बतलाया गया है कि किस प्रकार अन्य रसो के वर्णन का विस्तार किया जा सकता है और कैसे जाति, देश, और समाज सशोधन सम्बन्धी विषयो को उनमे और सचारी भावो में स्थान दिया जा सकता है।"[1] इसमें इनका उद्देश्य सामयिकता तथा देश-प्रेम का आधार लेकर रस-विवेचन करना है। इसमे शृंगार का विस्तृत वर्णन करके अन्य रसो का भी विवेचन किया गया है। शृंगार के सब अगो का विवेचन (कुछ अत्यन्त अश्लील विषयो को छोडकर) संयत भाषा मे किया गया है।

'रस कलश' के प्रारम्भ मे, भूमिका रूप मे, २१६ पृष्ठो के एक लम्बे निबन्ध मे रस का विवेचन सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थो 'साहित्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण', 'रस गगाधर' तथा अग्निपुराण आदि के आधार पर किया गया है। विभिन्न आचार्यों के मतो के निर्देश के साथ-साथ रस की उत्पत्ति, रस का इतिहास, रसास्वादन के प्रकार, आनन्दानुभूति, विरोधी-रस, रस-दोष, रसाभास तथा शृंगार और वात्सल्य रसो पर विस्तृत विवेचन किया गया है। इस रस-विवेचन मे कोई मौलिक तथ्य प्रस्तुत नही हुआ है पर विभिन्न आचार्यों के मतो का स्पष्टीकरण करके रस के प्रत्येक अग तथा रस सम्बन्धी सभी समस्याओ की स्पष्ट तथा सरल व्याख्या की गई है। उपाध्यायजी का विचार है कि रस के साधनो मे ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक शब्द, कण्ठस्वर, मधुरध्वनि, वचन-रचना, वेश-विन्यास, भाव-भगी, कथन-शैली तथा अग संचालन आदि हैं, क्योकि दृश्य काव्यो मे ये साधन अधिकाश रूप मे प्रस्तुत होते है, इसलिए प्राय. उन्ही के द्वारा साहित्यिक रस की मीमासा होती है।

रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उपाध्याय जी भरत के सूत्र 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति :' की काव्य-प्रकाशकार की टीका से सहमत है, "लोक मे रति आदि स्थायी भावो के जो कारण, कार्य और सहकारी होते है, नाटक और काव्य मे वे ही क्रमश विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहलाते हैं। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस सज्ञा होती है।"[2]

साहित्य दर्पणकार की भाति उपाध्यायजी का विचार है कि रसास्वाद वासना से युक्त सभ्य व्यक्तियो को ही होता है। वासना रहित पुरुष तो नाट्यशाला मे काठ, पत्थर और दीवाल के समान ही जड बने रहते है। सब दर्शको के रति

---

१ 'रस कलश' तृ० स० (स० २००८), पृ० २।

२ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥ काव्य प्रकाश ४। २७।
विभावा अनुभावास्तत कथ्यन्ते व्यभिचारिण.
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै. स्थायी भावो रस. स्मृत ४। २८ वही।

भाव को रसता क्यो नही प्राप्त होती ? इसका वह यह उत्तर देते हैं कि परमानन्द की प्राप्ति का अधिकारी, पूर्ण ज्ञान प्राप्त, उदात्त और भावुक हृदय ही होता है और केवल उसी के रति भाव को रसता प्राप्त होती है। साहित्य दर्पणकार की भाति वे यह भी मानते हैं कि जितने स्थायी भाव है, वे अनेक अवस्थाओ मे संचारी ही रहते है, केवल विशेष अवस्था मे ही उनको रसत्व प्राप्त होता है।[1]

'रस का इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत आरोप, अनुमान, योग और अभि-व्यक्तिवाद मे से अभिव्यक्तिवाद को उन्होंने मान्यता दी है। उपाध्यायजी भी साहित्य दर्पणकार की भाति यह मानते है कि नाटको और काव्यो मे करुण, वीभत्स, और भयानक रसो मे भी आनन्द की ही प्राप्ति होती है, दु.ख की नही। वे रस की कोटिया मानते हैं तथा सब मे उच्चकोटि के स्वरूप को अग्निपुराणकार साहित्य-दर्पणकार, तथा काव्य-प्रकाशकार के अनुसार ब्रह्मस्वाद मानते है।

पण्डितराज जगन्नाथ के समान उपाध्यायजी का विचार है कि विभाव, अनुभाव और सचारी-भाव, तीनो के द्वारा ही रस की उत्पत्ति होती है, किसी एक के द्वारा नही। जहा इनम से कोई एक या दो होते है वहा आक्षेप द्वारा शेष एक या दो का भी ग्रहण हो जाता है। रसो की कल्पना किस प्रकार हुई इस विषय मे वे पहले चार, फिर आठ तथा फिर नव रसो के विकास के इतिहास का उल्लेख करके स्वयं भी सर्वसम्मत नव रसो को ही मानते है।[2]

परस्पर विरोधी रसो की तालिका मे वे रस-गगाधर से सहमत न होकर साहित्यदर्पणकार से सहमत है।[3] रस विरोध के परिहार मे वे मम्मट के पाचो नियमो को मान्यता देते हैं तथा स्वय उदाहरणो से उनकी पुष्टि करते है। उन्होंने रस-दोषो का विवेचन प० जगन्नाथ के समान ही रस के निरूपण के अन्तर्गत करना उचित समझा है। इस बात मे वे मम्मट तथा विश्वनाथ से भिन्न है, जो रस दोषो का वर्णन कवितागत दोषो के साथ करते है। आनन्दवर्धन के मतानुसार रस के भग होने का प्रमुख कारण अनौचित्य मानते हैं। वे रस.भास के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि यह आवश्यक नही है कि अनौचित्य से काव्य मे रस का अभाव ही हो, इसके द्वारा तो केवल रस कलुषित हो सकता है। वे केवल उसी अनौचित्य को निन्दनीय मानते है, जो रस के प्रतिकूल हो। जहा अनौचित्य रस की पुष्टि करे अथवा जहा उसका उद्देश्य चरित्र-सुधार करना, कलक दूर करना या दोष को जानना ही हो, वहा वह वर्जित नही होता। उन्होने उदाहरण सहित यह प्रमाणित भी किया है कि अनौचित्य कभी-कभी हास्य रस की पुष्टि भी करता है।[4]

---

१ 'रस कलश' भूमिका (सं० २००८), पृ० १७।
२ वही, पृ० ४२।
३. वही, पृ० ४८।
४. देखिए 'रस कलश' (सं० २००८) पृ० ८६।

'रस कलश' मे शृगार रस का विवेचन विशेष विस्तृत रूप मे हुआ है। उपाध्यायजी ने भरत के आधार पर शृगार की यह परिभाषा दी है कि लोक मे जो कुछ पवित्र, उत्तम तथा दर्शनीय है वह शृगार है।[1] उन्होने पाश्चात्य तथा भारतीय लेखको के उद्धरण देकर शृगार के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। उन्होने शृंगार रस की अन्य रसो मे प्रमुखता इसलिए मानी है कि यह बहुत व्यापक, आदिम तथा सब रसो मे प्रधान है। उन्होने अग्निपुराण के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि शृंगार आद्यरस है तथा सब रसो की उत्पत्ति उसी से हुई है।[2] वे विश्वनाथ के इस मत से सहमत नही है कि उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़ कर सब व्यभिचारी अथवा सचारी भाव इसमे आते है। उनका विचार है कि रस मे सभी संचारी भाव आते हैं।[3] उन्होने उदाहरणो द्वारा यह पुष्ट भी कर दिया है कि मरण, भय, आलस्य और जुगुप्सा का वर्णन भी शृगार रस मे होता है। भोजदेव के मतानुसार वे भी यह स्वीकार करते है कि शृगार रस को छोडकर शेप आठ रसो मे प्रत्येक मे आधे से भी कम सचारी भाव आते हैं, यहाँ तक कि किसी-किसी मे तो केवल चार पाँच ही होते हैं। इसलिए उनके विचार से जैसी रसन शक्ति शृंगार रस मे है वैसी किसी अन्य मे नही है। वे अन्य रसो से शृंगार को श्रेष्ठ प्रतिपादित करके भक्ति तथा वात्सल्य का भी उसमे ही अन्तर्भाव मानते है। उन्होने भक्ति तथा वात्सल्य को भाव ही माना है, रस नही[4] तथा अपने मत की पुष्टि मे विभिन्न आचार्यों के मत भी दिए है। इस विषय मे वे विश्वनाथ तथा भोजदेव से सहमत नही है।

वात्सल्य को रस न मानने का उनका कोई विशेष तर्क नही है। जब वे शृगार रस का इतना विस्तार मानते हैं, तो रति के एक विशेष महत्त्वपूर्ण अग वत्सल को भाव मात्र कहकर टालना युक्तियुक्त नही है। जैसे रति का दाम्पत्य-रति एक महत्त्वपूर्ण अग है, उसी प्रकार वत्सल का महत्त्व किसी प्रकार कम नही है। दाम्पत्य-रति के परिणामस्वरूप वत्सल-रति की उत्पत्ति होती है। अत. वह उससे सम्बद्ध है। वास्तव मे, वत्सल-रति, दाम्पत्य-रति का चरम सात्त्विक उत्कर्ष है। वे मम्मट के लक्षणो के आधार पर भक्ति को रस तो सिद्ध करते है, किन्तु उसे इसलिए मान्यता नही देते कि परम्परा से उसे भाव ही माना गया है। वात्सल्य रस का साहित्य अल्प

१ 'यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वल दर्शनीय वा तच्छृगारेणानुमीयते' नाट्य शास्त्र ६।४५।

२ देखिए 'रस कलश' (स० २००८), पृ० ८९।

३. "ऐसी दशा मे यह स्वीकार करना पड़ता है कि जो वर्जित सचारी भाव है, प्रयोजनवश वे भी उसमे गृहीत होते है, फिर यह क्यो न माना जाए कि इस रस मे सब सचारी भाव आते हैं।" वही, पृ० ९४।

४ "रति की व्यापकता कितनी है, मैं भली-भाँति इसका प्रतिपादन कर चुका हूँ। "ऐसी अवस्था मे भक्ति का अथवा वात्सल्य रस का उसमे अन्तर्भाव होना असगत नही।" वही, पृ० १०१।

होने पर भी वे उसकी रसता सिद्ध करते है।[1] किन्तु उनके सारे विचारो का निष्कर्ष यही है कि वे वात्सल्य को पूर्ण रस नही मानते।

हरिऔधजी ने भारतेन्दु द्वारा निर्देशित १४ रसो की भी आलोचना की है। वे उनके नवीन रसो (भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द) का अन्तर्भाव भक्ति मे ही मानते हैं। चूँकि वे भक्ति को भाव ही मानते हैं, इसलिए उनके विचार से ये रस भी भाव ही है। 'रस कलश' मे करुण रस का सम्बन्ध करुणा से स्थापित करने से उसकी महत्ता कम हो गई है। करुण रस का स्थायी भाव तो शोक है, करुणा उससे पृथक् एक हल्का भाव है। उन्होने हास्य रस के अन्तर्गत नए आलम्बनो, आधुनिक नारी, नेता, साहब बहादुर, फैशन के दास, महन्त आदि का समावेश किया है जो प्रशसनीय है। इस प्रसग मे उन्होने रूढि का बहिष्कार किया है। वीर रस के प्रसग मे धर्म, युद्ध, दान, दया आदि के अतिरिक्त कर्मवीर नामक अन्य भेद बढाकर भी उन्होने अपनी मौलिकता तथा नवीन चिन्तन का परिचय दिया है। वे निष्काम तथा सोत्साह प्रयत्नशीलता को कर्मवीर का लक्षण मानते है। समाज-सेवा, सुधार, प्रेम आदि ऐसे अग है, जो उपयुक्त चार भेदो के अन्तर्गत नही आते। इनके अतिरिक्त भी कर्म का क्षेत्र मानव जीवन की भाँति ही विस्तृत है। उनको इन चार भेदों के अन्तर्गत सीमित करना वे रूढिवादिता मात्र समझते है। उन्होने सामाजिक बुराइयो के द्वारा वीभत्स का चित्रण किया है। उन्होने रौद्र रस का भी विस्तार किया है, पर उसके उदाहरण कुछ उपयुक्त नही है।

'रस कलश' मे शृगार की महत्ता के स्थापन के साथ-साथ नायिका-भेद का महत्त्व भी जोरदार भाषा मे व्यक्त किया गया है। वे नायिका भेद के मूल मे स्थित सत्य को सार्वभौम एवं सार्वकालिक मानते है। उन्होंने उर्दू तथा अग्रेजी के अनेक उदाहरणों से भी नायिका-भेद की प्रामाणिकता एवं वैज्ञानिकता सिद्ध की है। छाया-वादी तथा प्रगतिवादी कवियो ने भी विभिन्न प्रकार की नायिकाओ का चित्रण किया है, चाहे उनका आधार अग्रेजी तथा उर्दू के कवियो की भाँति मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण का न रहा हो।

इस प्रकार 'रस कलश' मे विभिन्न आचार्यो के मतो का उल्लेख करके रसो का विवेचन सरल, संयत तथा सुन्दर भाषा मे रोचक तथा मौलिक उदाहरणो के द्वारा पुष्ट करके किया गया है। इसमे शृगार का पूर्ण वर्णन है और अन्य रसो का भी सामयिक महत्त्व के आधार पर विवेचन है। इसमे अद्भुत रस के अन्तर्गत रहस्य-वाद का समावेश करके आधुनिक काव्य को भी रस प्रपन्न माना है। इसमे नायिका-भेद मे भी नवीन नायिकाओ का नामकरण तथा उनका प्रकृति, धर्म तथा स्वभाव के

---

१ यदि इस एक अग की न्यूनता स्वीकार कर लें तो भी अन्य व्यापक लक्षणो पर दृष्टि रखकर मेरा विचार है कि वत्सल की रसता सिद्ध है और उसको रस मानना चाहिए।" वही, पृ० २१६।

आधार पर मौलिक भेद किया गया है। इस ग्रन्थ मे लक्षण तो खड़ी बोली में दिए गए है, किन्तु उदाहरण ब्रजभाषा मे, मुख्यत दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों मे ही दिए गए है। ब्रजभाषा के ये उदाहरण नवीन भाव-सम्पन्न तथा सुरुचि-पूर्ण हैं पर इनमे पुराने आचार्यो के लक्षणो की सी सरसता तथा उत्कृष्टता नही हैं। उन्होने लक्षणो मे अधिक तर्क-वितर्क तथा व्याख्या का समावेश न करके उदाहरणों की नवीनता की ओर अधिक ध्यान दिया है। इनके रस सम्बन्धी विचार किसी एक आचार्य के आधार पर नही है। उनमे प्राय सभी पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार लिया गया है। विश्वनाथ, मम्मट तथा जगन्नाथ का अनुकरण विशेष रूप मे किया गया है। उन्होने शृगार रस का रस-राजत्व विशेष तर्क के आधार पर स्थापित करके अद्भुत, करुण और शान्त के रस-राजत्व के सम्बन्ध मे दिए गए विचारो का निराकरण विद्वत्ता से किया है। उनका शृंगार-रस का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है तथा उसमे अश्लीलता की अपेक्षा सुरुचि एव सुधार की ही विशेष भावना है।

'रस कलश' मे नवीन तथा प्राचीन दोनो का समन्वय है। यह सामयिक जीवन की अनुरूपता तथा सुधार की भावना पर आश्रित है। इसकी भूमिका विशेष महत्त्व-पूर्ण तथा उपादेय है तथा इनके आलोचनात्मक-विवेचन की नवीनता की सूचक है। इसमे प्राचीन सिद्धान्तो पर स्वतन्त्र रूप में विचार किया गया है।

कन्हैया लाल पोद्दार

पोद्दारजी की 'रस मजरी' मे भी 'रस-कलश' तथा 'नव-रस' की भाँति रस का ही विवेचन हुआ है। इसमे रस के अन्तर्गत आने वाले अन्य सारे विषय, शब्द-शक्तियाँ, ध्वनि तथा व्यग्यार्थ का विश्लेषण एव रस सम्बन्धी दोष तथा गुणो का पूर्ण विवेचन किया गया है। पूर्ववर्त्ती रस सम्बन्धी ग्रन्थो से इसमे यह विशेष अन्तर है कि इसमे नायिका-भेद को प्रमुख स्थान न देकर रस विषयक अन्य उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण विपयो का समावेश किया गया है। उनके विवेचन का आधार ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश तथा रस-गगाधर है। उन्होने रस के विभिन्न अवयवो का तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्थान-स्थान पर अपने मत का भी स्पष्ट प्रति-पादन किया है। जिन विपयो पर विद्वानो में मतभेद है, उनका भी इसमे स्पष्ट निरू-पण हुआ है। 'रस मंजरी' मे रस का विवेचन ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिए डा० भगीरथ मिश्र इसे 'रस मंजरी' कहने की अपेक्षा 'ध्वनि मजरी' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[1]

रस मजरी' मे रस को ध्वनि का ही प्रधान भेद माना गया है क्योकि यह ध्वनित होता है। रस को समझने के लिए ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व व्यग्यार्थ का समझना अनिवार्य माना गया है, और ध्वनि को समझने के लिए शब्द, अर्थ और

१. 'देखिए 'हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास' (स० २००५), पृ० १९७।

शब्द-शक्तियो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार रस के अन्तर्गत आने वाले सारे विषयो का समावेश 'रस मजरी' मे हो गया है।

'रस मजरी' के चतुर्थ स्तवक में ध्वनि के ५१ भेदो का निरूपण करके रस का विवेचन किया गया है। इसमे रस, विभाव, अनुभाव, सात्विक, सचारी भावो के परम्परागत लक्षण तथा उदाहरण देकर स्थायी भावो की 'रस अवस्था,' रस की अभिव्यक्ति तथा आस्वाद का स्पष्ट और सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। रसास्वाद के विभिन्न मत आरोपवाद, अनुमानवाद, भोगवाद तथा व्यक्तिवाद का ऐतिहासिक आधार पर स्पष्ट वैज्ञानिक विवेचन भी दिया गया है। इसके पश्चात् रस की अलौकिकता के सात प्रमाण तर्कपूर्ण तथा व्याख्यात्मक शैली में दिए गए है। इसके रसो के लक्षण तथा उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्यों की ही भाँति है। इसमे शृगार रस के अन्तर्गत आलम्बन विभाव मे 'नायिका-भेद' का निरूपण हुआ है तथा उद्दीपन विभाव मे नायिका की सखी, नायक का सखा तथा दूती आदि का वर्णन है।

इसमे साधारणीकरण के विषय का चलते रूप मे निर्वाह मात्र किया गया है। उसका गम्भीर विवेचन नही है। इस सम्बन्ध मे अभिनव के मत का ही आधार लिया गया है। उन्होने भक्ति, वत्सल आदि का रति भाव के अन्तर्गत वर्णन किया है। भक्ति को स्वतन्त्र रूप में रस मानने के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानना केवल प्राचीन परिपाटी मात्र है। वास्तव मे अन्य रसो के समान सभी रसोत्पादक सामग्री भक्ति रस में भी होती है।[1] उनका विचार है कि भक्ति भाव नही वरन् रस है।[2] किन्तु वात्सल्य के सम्बन्ध मे उनका भिन्न मत है। वे उसे स्वतन्त्र रस न मानकर पुत्र विषयक रति भाव ही मानते है।[3] इस प्रकार उन्होने रस के क्षेत्र को बढाने का प्रयत्न नही किया है।

'रस मजरी' की प्रमुख विशेषता 'नायिका-भेद' के महत्त्व को अस्वीकार करना है। इसकी भूमिका में रस विषयक साहित्य का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है, जिसकी इस विषय की परम्परा के ज्ञान के कारण उपादेयता है। इस ग्रन्थ का सारा विवेचन संस्कृत ग्रन्थो के अनुसार है। इसके लक्षण सक्षेप मे खडी बोली हिन्दी में दिए गए है तथा उदाहरण ब्रजभाषा मे है। कही-कही लक्षणो को समझाने और उदाहरणो मे लक्षणो का समन्वय करने के लिए गद्य की व्याख्या द्वारा स्पष्टीकरण

---

१. देखिए 'रस मंजरी' (सं० १९९८), पृ० २४४।

२ "श्रुतियो के अनुसार जिस ब्रह्मानन्द पर रस का रसत्व अवलम्बित होना सभी साहित्याचार्य मानते है, उस ब्रह्मानन्द से भी अधिक जो भक्तिजन्य आनन्द तदीय भक्त जनो को होता है, उस भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानना और क्रोध, शोक, भय और जुगुप्सा आदि की व्यंजना को रस संज्ञा देना वस्तुत. युक्तियुक्त प्रतीत नही होता है।" वही, पृ० २४२।

३ देखिए वही, पृ० २४५।

भी हुआ है। इसके बहुत से उदाहरण सस्कृत कवियो के भावानुवाद मात्र है तथा उनमें सौष्ठव का अभाव है। एक लक्षण के लिए एक से अधिक उदाहरण भी दिए गए है। इसमे प्राचीन तथा नवीन आचार्यों मे से केवल मम्मट का ही अनुकरण किया गया है अन्य किसी का उल्लेख नही हुआ है। इस ग्रन्थ मे न तो नवीन समस्याओ का समावेश है, न सूक्ष्म विवेचन ही है। यद्यपि यह अपने विषय का गम्भीर तथा उपयोगी ग्रन्थ है, तथापि इसमे आधुनिक आलोचना की सी पूर्णता तथा वैज्ञानिकता नही है।

विहारी लाल भट्ट

भट्टजी ने 'साहित्य सागर' नामक ग्रन्थ मे स० १९९४ मे अन्य काव्यांगों के अतिरिक्त रस का भी परम्परागत रूप मे वर्णन किया है। उन्होने भरत के आठ रसो का उल्लेख करके तदनन्तर नौ रसो का वर्णन किया है तथा नवीन आचार्यों के भक्ति के पाच रसो, शृंगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य तथा शान्त का भी उल्लेख किया है। इन पाचो मे से शृगार तथा शान्त को तो नव रसो मे सम्मिलित कर लिया है तथा शेष तीन को अतिरिक्त माना है। इसमे सयोग शृगार के अन्तर्गत दस हावों का वर्णन किया गया है। इन्होने इनमे हेला तथा बोधक जैसे महत्त्वपूर्ण हावो को नही माना है। इसमे शृगार के अन्तर्गत विरह की दस दशाओ का वर्णन भी किया गया हैं। इसके अतिरिक्त रसो का वर्णन परम्परागत तथा सामान्य रीति से ही किया गया है।

गुलाब रायजी

गुलाब रायजी के 'नव रस' नामक ग्रन्थ (स० १९७७) का उद्देश्य नव रसो के वर्णन मे अप्रस्तुत रूप से विद्यमान रहने वाले गूढ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का उद्‌घाटन करना है। इसमे भावो और मनोविकारो की शरीर-विज्ञान सम्बन्धी व्याख्या का भी प्रयत्न किया गया है। यह ग्रन्थ केवल नव रस सम्बन्धी परिपाटी का ही निर्वाह मात्र नही है वरन् इसका उद्देश्य मनुष्य के मानसिक-सस्थान सम्बन्धी ज्ञान की खोज तथा उसका अध्ययन और विस्तार करना है।[1] इसमे नव रसो का अध्ययन विद्यार्थियो को मानव-समाज और उसके काव्यमय चित्रो को रुचि के साथ समझने मे सहायक होने के लिए किया गया है। उनका विश्वास है कि नव रस का अध्ययन काव्य के समझने मे ही सहायक नही होता, वरन् पाठको को व्यापक-दृष्टि भी प्रदान करता है।

गुलाब रायजी रसवादी है तथा उनकी काव्य की परिभाषा साहित्य-दर्पणकार की परिभाषा 'रसात्मक वाक्य काव्य' ही है। वे भावो के आस्वादन को रस मानते है। रस धातु का अर्थ ही आस्वादन करना है, 'रस्यते इति रसः'। उनका

---

१ देखिए 'नव रस' (सन् १९३४), पृ० ६।

विचार है कि सब रसों का मुख्य लक्ष्य आनन्द प्राप्ति ही है। रस आनन्द स्वरूप है। नव रस मन के प्रभावित होने के नौ प्रकार हैं। शब्द की व्युत्पत्ति से पृथक् रस का अर्थ यह है कि रस के आस्वादन की अवस्था में रस तथा भाव सब एक हो जाते हैं। भावों से रस की उत्पत्ति और रसों से भावों की उत्पत्ति होती है। रस के उदय में एक अपूर्व मानसिक-स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें स्थायी-भाव के साथ रसास्वादन-जन्य आनन्द भी विद्यमान होता है। रस के आस्वादन में यह आवश्यक नहीं कि भाव का वास्तविक अनुभव हो, पर यह आवश्यक है कि रस ग्रहण करने वाले हृदय में ग्राहकता तथा रुचि की अधिकता हो। गुलाब रायजी ने काव्य, रस, रस के स्वरूप, आस्वादन, साधारणीकरण, विभावन, अनुभावन तथा संचारण आदि की परिभाषा 'साहित्य दर्पण' के आधार पर दी है। वे इसकी अभिव्यक्ति को एक अलौकिक व्यापार मानते हैं। उनके विचार से रस अखंड है तथा अपने अङ्गों से भिन्न एवं विलक्षण होता है। रस के आनन्द को उत्पन्न करने वाली शक्ति शब्दों की साधारण शक्ति से भिन्न कोई विशेष शक्ति ही होती है।

उन्होंने मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान के द्वारा भावों का विवेचन किया है तथा भावों के सम्बन्ध में जो मनोविज्ञान-शास्त्रियों के मत हैं, उनका उल्लेख किया है। वे जेम्स लैंग तथा विलियम जेम्स की इस धारणा को कि अनुभाव का ज्ञान ही भाव है, भारतीय मत के विपरीत सिद्ध करते हैं।[1] भारतीय साहित्य शास्त्र में भावों के अनुभव को अनुभाव कहा है न कि अनुभावों के अनुभव को। उनका सात्विक भावों का विवरण मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान के आधार पर किया गया है। उन्होंने डारविन साहब के मनोगत भावों के शारीरिक व्यंजनों से सम्बन्ध रखने वाले तीन मुख्य सिद्धान्तों का विवरण देकर तथा शरीर के स्नायु-मंडल की क्रिया प्रणाली की व्याख्या करके प्रत्येक सात्विक भाव के उदय का शरीर-विज्ञान सम्बन्धी निरूपण किया है। उन्होंने भावों के अन्तर्गत, भाव (फीलिंग) तथा आवेग या मनः क्षोभ (इमोशन) दोनों का समावेश किया है। वे यह समझते हैं कि हमारे भाव, विचार और समस्त सांकल्पिक और असांकल्पिक क्रियाएं हमारे स्नायु-संस्थान से सम्बन्ध रखती हैं।

गुलाबरायजी पाश्चात्य मनोविश्लेपण शास्त्रियों के द्वारा मानी हुई मनुष्य की क्रियाओं के तीन प्रधान संचालकों, आत्मरक्षा के भाव, प्रेम और यश की भावना तथा प्रभुत्व की कामना को रसों के मूल कारण की तीन प्रबल आवश्यकताएं मानते हैं। उनके विचार से ये तीनों सिद्धान्त आत्मरक्षा के विस्तृत भाव के अन्तर्गत आ जाते हैं। आत्मरक्षा के संकट में पड़ जाने से भावों का उदय होता है। आत्मरक्षा का भयानक, वीभत्स एवं रौद्र से, शान्त का मरणोपरान्त आत्मरक्षा से तथा प्रेम का

---

१. देखिए 'नव रस' (सन् १९३४), पृ० २५-२६।

शृंगार से सम्बन्ध है। वे नायक-नायिकाओं के वर्णन का भी साहित्य मे महत्त्व मानते है। उन्होने लिखा है, "गुप्ता का चातुर्य, विदग्धा की लज्जा, काम में सामंजस्य करने वाले वाक्य और क्रिया-कौशल, अभिसारिका का अपने आपको प्रेम के निमित्त भय मे डालना, अनुशयना की संकेत स्थान सम्बन्धी चिन्ता, प्रोषितपतिका की विरह वेदना और आगत-पतिका के हृदय उल्लास पर विवेचन करना उतना ही वैज्ञानिक महत्त्व रखते है, जितना कि मधुमक्खी की टांग और मधु मक्खी की आखें गिनने की चेष्टा।"[1]

'नव रस' मे वैसे तो नवो रसों का शास्त्रीय विवेचन पुरातन साहित्य-शास्त्र तथा नवीन मनोविज्ञान के आधार पर मिलता है, पर स्थान-स्थान पर ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का उद्देश्य व्याख्या के अतिरिक्त सामाजिक तथा व्यावहारिक उपदेश देना भी है। ऐसे उपदेश इस ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर प्रचुर मात्रा मे मिलते है।[2] इस ग्रन्थ मे या तो काव्य शास्त्र के अनुसार शृगार रस का विस्तार के साथ विवेचन हुआ है या इस प्रकार के व्यावहारिक विचारो का समावेश है, जो ग्रन्थ के शास्त्रीय महत्त्व को कम करता है।

साहित्य शास्त्र में नख-शिख वर्णन का महत्त्व स्वीकार करके वे पन्त जी का इस विषय मे विरोध करते है। नख-शिख वर्णन को वे उद्दीपन के साथ-साथ आलम्बन मे भी रखना उचित समझते है। इसी स्थान पर वे पाश्चात्य दार्शनिको के आधार पर सौन्दर्य का महत्त्व भी प्रतिपादित करते है तथा सौन्दर्य की विभिन्न लेखको की परिभाषाएं भी उद्धृत करते है। क्रोचे के सौन्दर्य-शास्त्र का साधारण सा परिचय नख-शिख के महत्त्व की पुष्टि से कोई विशेष सम्बन्ध नही रखता। इसी प्रकार अन्य स्थानो पर उन्होने फ्रायड के काम-सिद्धान्त तथा अति-विज्ञानवाद का भी चलता सा उल्लेख कर दिया है। उन्होंने काम-सिद्धान्त के आधार पर भी शृगार की प्रधानता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होने नव रस सम्बन्धी तत्त्वो का, भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आधार पर केवल परिचयात्मक विवरण मात्र दिया है।

---

१. देखिए 'नवरस', पृ० १५६-१५७।

२. (क) "कुलवती स्त्रियो को उपर्युक्त कारणो से बचने का प्रयत्न करना चाहिए और पुरुषो को उनका आदर, हित-चिन्तन एवं आवश्यकता-पूर्ति का पूर्णतया ध्यान रखना चाहिए।" नव रस (सन् १९३४), पृ० १९० ;

(ख) "समाज के नेताओ को समाज से व्यभिचार उठाने के अर्थ धनाभाव के कारणो के निराकरण एव स्त्रियो का आदर और गौरव बढाने का उद्योग करना चाहिए।" वही, पृ० १९।

(ग) "यद्यपि पुरुषो के ऊपर ऐसा उत्तरदायित्व नही रखा गया है जैसा कि स्त्रियो पर तथापि नैतिक दृष्टि से पुरुष भी एक पत्नी-व्रत धारण करने के लिए इतना ही बाधित होना चाहिए जितनी कि स्त्रियो।" वही, पृ० २२०।

ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत वे विस्तार से ऋतुओ का ज्योतिष के आधार पर विवेचन करते हैं तथा यह बताते है कि सृष्टि-परिचालन किस प्रकार होता है। इस विषय का भी काव्य-शास्त्र के वर्णन मे कोई महत्त्व नही है।

इस ग्रन्थ मे शृगार रस पर अधिक ध्यान दिया गया है तथा अन्य रसो का विवेचन इतना विस्तृत नही है। हास्य के सम्बन्ध मे वे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विद्वानों वर्गसन तथा मैकड्यूगल आदि के विचारो को उद्धृत करके निम्नलिखित निर्णय प्रस्तुत करते हैं —(१) हास्य स्वास्थ्य का सूचक है। (२) हास्य का विषयी प्राय अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करता है और हास्य के विषय की हीनता का। यह उत्तमता का भाव घृणा से सम्बन्ध रखता है। (३) हास्य का वेदना से भी सम्बन्ध है। मनुष्य स्वाभाविक सहानुभूति की भावना के कारण दूसरो का दु ख बंटाता है, उसकी इस कारण बढने वाली वेदना को कम करने के लिए प्रकृति ने मनुष्य मे उपहास की शक्ति दी है। (४) उपहास योग्य वस्तु मे साधारण से विपरीत कोई न कोई बात अवश्य होती है। (५) उपहास सामाजिक है। यह मनुष्य का ही होता है तथा मनुष्य ही कर सकते है। हास्य के वर्णन मे भी उनकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। हास्य के लिए वे अन्य बातो का निर्देश करते है।[1] वे उन आचार्यों से सहमत नहीं हैं, जो वीभत्स को रस नही मानते। उनका विचार है कि, "वीभत्स के रसात्मक वर्णन, घृणित पदार्थ की तुच्छता प्रकट कर आत्म-भाव की तुष्टि करते है और इस प्रकार मनुष्य की प्रसन्नता के कारण होते हैं।[2] वे शृगार के अतिरिक्त शान्त रस का भी विशेष महत्त्व मानते हैं।

यद्यपि 'नव रस' ग्रन्थ मे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र को आधार लिया गया है तथापि उस पर रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थो का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पडता है। उसमे नायिका-वर्णन के महत्त्व का प्रतिपादन, पुरातन परम्परा के निर्वाह के रूप मे किया गया है। लेखक ने पुस्तक का अधिकाश भाग शृगार के वर्णन मे ही समाप्त कर दिया है। कही-कही उदाहरणो की भरमार कर दी है। हास्य के वर्णन मे ब्रज-भाषा तथा खडी बोली दोनो के उदाहरण चुन-चुन कर दिए गए है। उनके विवेचन का आधार 'साहित्य दर्पण' है तथा शृगार रस के उदाहरणों मे प्राय. देव का आधार लिया गया है।

वैज्ञानिक-दृष्टि से वे रसो का मूल आधार आत्म-रक्षण मानते हैं। उन्होने तेरहवें अध्याय मे रसो के विभागों के आधार का वर्णन करके मानसिक-सस्थान के तीन विभागो के आधार पर रसो का वर्गीकरण किया है। मानसिक सस्थान के बुद्धि तथा ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विभाग के अन्तर्गत अद्भुत, हास्य और शान्त भावो से सम्बन्ध रखने वाले विभाग के अन्तर्गत शृगार, करुण तथा रौद्र तथा क्रिया

---

१ 'नवरस' (सन् १९३४), पृ० ४३९।
२ देखिए वही, पृ० ५०४।

या सकल्प से सम्बन्ध रखने वाले विभाग मे वीर या भयानक रस आते है।[1] पाश्चात्य रसो, विशाल (सबलाइम) तथा सुन्दर (ब्यूटीफुल) का भी विवेचन किया गया है। किन्तु वह केवल असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथा परिचयात्मकमात्र है। उन्होने मैकड्यूगल साहब की प्रवृत्तियो का उल्लेख करके उन्हें रसों तथा सचारी भावो के अन्तर्गत माना है। वे दो विरोधी रसो के नाम मात्र आ जाने से रस विरोध नही मानते, किन्तु वहा मानते है, जहा एक रस दूसरे रस की परिपक्वता मे बाधक होता है तथा पुष्टि मे सहायक नही होता है। 'नव रस' मे उदात्त तथा सुन्दर रसो का भी सक्षेप मे विवेचन किया गया है। अधम पात्र के प्रति रति का जो देव का उदाहरण दिया गया है, वह अनुपयुक्त है, क्योकि चमारिन की रति प्रत्येक के लिए अनुचित नहीं मानी जा सकती। रस दोष के प्रसग मे रति शब्द के आ जाने पर जो स्वशब्दवाच्य दोष माना गया है, वह भी असगत है क्योकि रति स्थायी भाव का ही नाम नही है वरन् सयोग को भी रति कहते है। इस अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त हो सकता है। इस ग्रन्थ का कुछ विवेचन मौलिकता लिए हुए है, जैसे झूमर तथा विट का अन्तर[2], दुखान्त नाटको का विवेचन[3], वीभत्स वर्णन द्वारा समाज सुधार,[4] वैष्णव मत से अद्भुत के दृष्ट, श्रुत, सकीर्तित और अनुमित चार प्रकार[5] तथा रस निष्पत्ति का प्रसग[6] आदि।

उपर्युक्त लेखको के अतिरिक्त भगवान दीन का 'व्यंग्यार्थ मंजूषा', बाबूराम वित्थरिया का "हिन्दी काव्य मे नव रस", कृष्ण बिहारी मिश्र का 'नव रस तरंग', किशोरी दास वाजपेयी का 'रस और अलकार' आदि ग्रन्थ भी प्राचीन पद्धति मे ही लिखे गए है। इनका रस विवेचन भी सामान्य स्तर का है, केवल किंचित् मात्र नवीनताएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। किसी एक विशेष रस को लेकर भी एक पृथक् पुस्तक लिखी गई है। गगाप्रसाद (जी० पी० श्रीवास्तव) की 'हास्य रस' नामक पुस्तक इसी प्रकार की है। इसमे 'हास्य रस' का सोदाहरण विवेचन है।

उपर्युक्त रस विवेचन का साराश यह है कि इन आधुनिक रीतिकारो ने पूर्ववर्ती रस-सम्प्रदाय के विवेचन को प्रारम्भ मे जिस रूप मे प्राप्त किया था, उसका विकास उन्होने अपने युग के ज्ञान के स्तर, युगीन परिस्थितियो तथा मनोवृत्तियो के आधार पर किया। उन्होने रस विवेचन मे भरत, धनजय, अग्निपुराणकार आदि के अतिरिक्त मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि का भी आधार लिया है। रस-सम्प्रदाय

---

१. नवरस (सन् १९३४), पृ० ६०३।
२. वही. पृ० ४३७-३८।
३ वही, पृ० ४८३-८४।
४. वही, पृ० ५४-५५।
५ वही, पृ० ५१४-१५।
६. वही, पृ० ६२९-६३४।

के सिद्धान्तो का परिचयात्मक विवरण देने के अतिरिक्त उन्होने कही-कही अपने स्वतन्त्र विचारो का भी प्रतिपादन किया है। लच्छीराम ने स्थायी, सचारी, विभाव, अनुभाव के स्थान पर केवल दो ही भाव, स्थायी तथा सचारी माने है तथा विभावों को भावो के कारण और अनुभावो को केवल स्थायी-भावो को प्रकट करने वाला ही माना है। उन्होने सात्विक भावो को अनुभाव न मानकर संचारी भावो का भेद मात्र माना है। भानुजी ने नख-शिख वर्णन, शृगार रस के उद्दीपन के अन्तर्गत करके नवीनता का समावेश किया है। हरिऔधजी ने ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक शब्द, कण्ठ-स्वर, मधुर ध्वनि, वचन-रचना, वेश-विन्यास, भाव-भगी, कथन शैली, अग-सचालन आदि को भी रस का साधन ही माना है, क्योकि दृश्य-काव्य मे ये सब साधन प्राय. अधिकांश रूप मे प्रस्तुत होते है। इन्होने हास्य के नए आलम्बनो की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त वीर-रस के नए भेद कर्मवीर की भी स्थापना की है तथा अद्‌भुत रस के अन्तर्गत रहस्यवाद का समावेश किया है। गुलाब रायजी ने रस के विभावो का मूल आधार आत्म-रक्षा की भावना माना है। इन्होने अपने विवेचन का आधार मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान को बनाकर अपने नवीन-चिन्तन की अभिव्यक्ति की है।

रसो के स्वतन्त्र ग्रन्थो के विषय, प्राय रस की परिभाषा, साधन, उत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार, आनन्दानुभूति, विरोधी तथा मित्र रस, रस दोष, नव रस-विवेचन, रसाभास, भावाभास, नवरसेतर रस आदि रहे। रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति, आस्वाद आदि के सम्बन्ध मे इन लेखको मे मौलिक चिन्तन के दर्शन नही होते। अपनी रुचि के अनुसार इन्होने साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश, रस-गगाधर, ध्वन्यालोक आदि के मतो का विवरण मात्र दे दिया है। हरिऔधजी ने रस की उत्पत्ति पर मम्मट के विचार ज्यो के त्यो उद्धृत कर दिए है। उन्होने विश्वनाथ की भाँति करुण, वीभत्स, भयानक मे भी आनन्द की प्राप्ति मानी है। पडितराज जगन्नाथ की भाँति वे रस की निष्पत्ति, विभाव, अनुभाव और सचारी नामक तीनो भावो के ही द्वारा मानते है। उनका विचार है कि एक के भी अभाव मे आक्षेप द्वारा इनमे से एक या दोनो का ग्रहण हो जाता है। रस दोषो का विवेचन भी उन्होने पडितराज जगन्नाथ की ही भाँति रस-निरूपण के अन्तर्गत ही किया है तथा आनन्दवर्द्धन की भाँति रस के भग का प्रमुख कारण अनौचित्य को माना है।

इन ग्रन्थो मे भी रीतिकाल की भाँति शृगार रस का विवेचन अन्य रसो की अपेक्षा अधिक किया गया है। इनके शृगार रस के वर्णन मे अधिकाधिक सुरुचि तथा श्लीलता का विचार रखा गया है। इनकी इस नैतिकता तथा सुरुचिवादिता पर कदाचित् द्विवेदी युग का ही प्रभाव है। शृंगार के अन्तर्गत सयोग, वियोग, नायक-नायिका भेद, ऋतु-वर्णन, नख-शिख वर्णन, आलम्बन तथा उद्दीपन सम्बन्धी सामग्री का वर्णन भी पूर्ववत् किया गया है। इनके वर्णन की भाषा ही सजीव, शिष्ट तथा सुरुचि पूर्ण नही है वरन् उदाहरण भी अश्लील न होकर सुरुचिपूर्ण ही दिए गए है। गुलाब राय आदि लेखको ने पाश्चात्य मनोविज्ञान-शास्त्र के काम के सिद्धान्त के आधार पर भी

शृंगार रस की व्यापकता की व्याख्या का प्रयत्न किया है। इस प्रकार नवीन मनोविज्ञान के तथ्यो के आधार पर भी पुरातन धारणाओ का निरीक्षण इनके द्वारा आरम्भ हो गया था।

इनके द्वारा शृंगार क महत्त्व को भोज के अनुसार प्रतिपादित करके भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन के अनुसार उसको सब रसो मे श्रेष्ठ, व्यापक, प्रधान तथा आदिम माना गया। गुलाब रायजी ने फ्रायड के आधार पर इसकी व्यापकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया। हरिऔध जी ने शृंगार रस मे प्राय. सभी सचारी भावो का समावेश माना है। गुलाब रायजी ने शास्त्रीय सचारी भावो के अतिरिक्त इसमे अन्य भावो के समावेश की भी सम्भावना मानी है। हरिऔधजी ने तर्कपूर्ण रीति से अद्भुत, करुण तथा शान्त रस के रस-राजत्व के सम्बन्ध मे दिए गए विचारो का निराकरण करके शृंगार का रस-राजत्व ही सिद्ध किया है।

इन लेखको ने नायक-नायिका भेद के परम्परागत वर्णन को वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार देकर उसके महत्त्व को स्वीकार किया। उपाध्यायजी ने नायिका भेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उर्दू, अग्रेजी, छायावादी तथा प्रगतिवादी काव्य के उदाहरण दिए। उन्होने युगानुकूल नवीन नायिकाओ की कल्पना करके उनका प्रकृति, धर्म तथा स्वभाव के आधार पर मौलिक भेद किया। वे नायिका भेद की कविताओ मे हृदय की भावुकता के साथ-साथ मस्तिष्क के कार्य-कलाप का भी समावेश मानकर कला की दृष्टि से उन्हे उच्चकोटि की कविताएं मानते है।[1] पोद्दारजी ने नायक-नायिका भेद को रस विवेचन मे महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिया। उन्होने शृंगार रस के आलम्बन स्वरूप नायक-नायिकाओ का चलता हुआ वर्णन करके उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत नायिका की सखी, नायक के सखा तथा दूती आदि का वर्णन किया है। वे हरिऔध जी की देश-सेविका आदि नायिकाओ का शृंगार रस के आलम्बन के रूप मे अनुपयुक्त मानते हैं। गुलाब रायजी ने भी नायक-नायिकाओ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना आवश्यक समझा है। इन रीतिकारो के नायक-नायिका भेद के वर्णन मे प्राचीन आचार्यो से अधिक किसी प्रकार की कोई विशेष प्रगति नही हुई। केवल हरिऔधजी ने युग की परिस्थिति के अनुकूल कुछ नवीन नायिकाओ की कल्पना की। गुलाब राय आदि लेखको ने इनका मनोवैज्ञानिक आधार तो माना किन्तु गम्भीरता से उसका विश्लेषण नही किया।

इन ग्रन्थो मे लक्षण तथा व्याख्या खड़ी-बोली गद्य मे तथा उदाहरण ब्रजभाषा अथवा खडी बोली मे दिए गए है। उदाहरणो मे युगानुकूल विषयो का ध्यान रख कर राष्ट्रीयता, जाति-प्रेम तथा देश-प्रेम की भावना को प्राधान्य दिया गया है। लक्षणो तथा उदाहरणो की शैली के अतिरिक्त भूमिका मे तथा अन्यत्र स्वतन्त्र आलोचना का भी

---

१. रस कलश (स० २००८), पृ० १२४।

समावेश किया गया है। लक्षणो तथा उदाहरणो की शैली के अपनाने के कारण ही इनका स्थान रीतिकारो की परम्परा मे है, स्वतन्त्र आलोचको मे नही।

पूर्ववर्ती रीतिकारो से इनका भेद इस बात मे है कि इन्होने अधिकाधिक आलोचना का समावेश भी अपने ग्रन्थो मे किया है, केवल लक्षण मात्र तक ही अपने को सीमित नही रखा है। इनमे से कुछ लेखको ने रस का विवेचन स्वतन्त्र न करके ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत भी किया है, जैसे 'रस मजरी' मे। रस मजरी मे रस का ध्वनि के प्रधान भेद के रूप मे ही वर्णन हुआ है। इन सभी लेखको ने प्राय· रस की अलौकिकता के सिद्धान्त को माना है। पोद्दारजी ने तर्कपूर्ण रीति से इसकी अलौकिकता सिद्ध की है।

इनमे से अधिकाश लेखकों ने नौ रसो को मान्यता दी है। इन्होने भक्ति, वात्सल्य आदि को रस न मानकर प्राय भाव ही माना है। हरिऔधजी ने भारतेन्दुजी के विचारो की आलोचना करके उनके द्वारा निर्देशित नवीन रसो को भक्ति के अन्तर्गत ही माना है तथा स्वय भक्ति को रस न मानने के कारण उन रसो को भी भाव ही समझा है। पोद्दारजी भक्ति को रस मानने के पक्ष मे हैं। उपाध्यायजी ने भक्ति मे रस के सभी तत्त्व माने है किन्तु वे प्राचीन आचार्यो के अनुसार उसे भाव ही मानते है। बिहारीलाल भट्ट ने भी सख्य, दास्य, वात्सल्य को नव रसो के बाहर ही माना है। गुलाबरायजी ने भी नव रसो को ही मान्यता दी है। इस प्रकार इन लेखको के द्वारा वात्सल्य को सर्वसम्मति से भाव ही माना गया है। वत्सल, प्रेयस आदि की अपेक्षा भक्ति को रस मानने की ओर इनकी अधिक प्रवृत्ति रही है।

इन लेखको के रस विवेचन पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ने लगा था, किन्तु वह प्रारम्भिक रूप मे ही रहा। उसमे चिन्तन की गहराई नही आई। गुलाब रायजी ने अपने ग्रन्थ 'नवरस' मे रसो के मूल मे गूढ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की व्याख्या की है तथा भावो और मनोविकारो के शरीर-विज्ञान से सम्बन्ध की चर्चा की है। उन्होने मनोविज्ञान, फ्रायड के काम-सिद्धान्त तथा शरीर-विज्ञान का स्थान-स्थान पर परिचयात्मक विवरण देकर, इनके आधार पर रस-विवेचन मे कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। उन्होने पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार ही रसो के मूल कारण की तीन मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ भी बताई है, आत्म-रक्षा का भाव, प्रेम और यश की कामना तथा प्रभुत्व की इच्छा। बर्गसन तथा मैकड्यूगल के आधार पर उन्होंने हास्य-सम्बन्धी विवेचन मे नवीन भावनाओ का समावेश किया है। उनके ह्यूमर तथा विट के अन्तर, दु खान्त-नाटक तथा वीभत्स-रस द्वारा समाज सुधार की भावना के निरूपण मे कुछ नवीनता दिखलाई पडती है। उनके द्वारा पाश्चात्य काव्यास्वाद, मनोविकार तथा भाव सम्बन्धी विचारो की भारतीय मत से कही-कही तुलना भी की गई है जैसे विलियम जेम्स के इस मत का कि अनुभावो का अनुभव ही भाव होता है, खण्डन करके उन्होने भावो की भारतीय आधार पर व्याख्या की है तथा भावो के

अन्तर्गत भाव (फीलिंग) तथा मनोविकारो (इमोशस) का भी समावेश किया है। उन्होने अपने 'रस और मनोविज्ञान' नामक निबन्ध मे रस का मनोविज्ञान के आधार पर अध्ययन करने की आवश्यकता का भी निर्देश किया है।[1]

इस प्रकार इन लेखको के रस-विवेचन पर मेरे निष्कर्ष यह है :—

(१) हिन्दी मे काव्य के विभिन्न सम्प्रदायो के विवेचन मे रस सम्प्रदाय का विवेचन अलकारो के विवेचन से अपेक्षाकृत कम किन्तु अन्य सम्प्रदायो से प्राय. अधिक हुआ।

(२) आधुनिक रीतिकारो मे भी दो प्रकार के आलोचक है, एक तो प्राय. परम्परागत रीतिवादी प्रणाली पर चल कर प्राचीन भारतीय सिद्धान्तो के आधार पर रस का विवेचन करने वाले तथा दूसरे भारतीय सिद्धान्तो तथा नवीन पाश्चात्य प्रभावो दोनो का ही आधार लेकर चलने वाले।

(३) इनके द्वारा प्राचीन आचार्यो की अपेक्षा मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ का आधार अधिक लिया गया है। यह लेखक अपनी निजी रुचि के अनुकूल किसी विषय मे किसी आचार्य का तथा किसी विषय मे किसी अन्य आचार्य का अनुकरण करते है।

(४) इन लेखको मे से प्राय थोडी बहुत नवीनताए सभी मे मिलती हैं, पर किसी ने किसी विशेष नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन अथवा नवीन मार्ग का प्रदर्शन नही किया।

(५) शृंगार रस को रीति काल की भाति इन्होने भी रस-राज माना है तथा उसका वर्णन ही अन्य रसो की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ किया है। इनके द्वारा शृगार रस के अन्तर्गत सयोग, वियोग, आलम्बन, उद्दीपन, ऋतु-वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि का विवेचन भी हुआ है। इनके द्वारा शृगार को वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर भी सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के आरम्भिक प्रयत्न हुए है।

(६) इन लेखको ने प्राय शास्त्रीय नव रसो को ही मान्यता दी है। वात्सल्य तथा भक्ति को रस अथवा भाव मानने के सम्बन्ध मे प्राय सभी ने अपने विचार प्रकट किये हैं, किन्तु इनके द्वारा वात्सल्य और भक्ति को प्राय भाव मानने ही की प्रधानता रही। भक्ति मे रस के पूर्ण तत्वो का निर्देश भी हुआ परन्तु परम्परागत विचारो के सामने नवीन युक्ति के द्वारा उसको भी रस के रूप मे सर्वमान्य रूप से स्थापित नही किया गया। इनमे वात्सल्य की अपेक्षा भक्ति को रस मानने की प्रवृत्ति अधिक रही।

(७) पाश्चात्य मनोविज्ञान, काम तथा अर्थ के सिद्धान्त, शरीर विज्ञान तथा पाश्चात्य दर्शन के आधार पर भी रस के विभिन्न विषयो का निरीक्षण तथा परीक्षण

१ देखिए 'रस और मनोविज्ञान' साहित्य सदेश अक ५, पृ० १—८।

किया गया। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के आधारों पर रसों, भावों तथा मनोविकारों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया।

(८) इनकी दृष्टि में नायक नायिकाओं के वर्णन का भी महत्त्व, आलोच्य-काल से पूर्व के काल की भांति ही बना रहा। कुछ लेखकों ने नवीन नायिकाओं की कल्पना करके, उसका विकास भी किया तथा प्रकृति, धर्म और स्वभाव के आधार पर उनके मौलिक भेद किए। उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी आवश्यक समझा गया।[1]

(९) इन ग्रन्थों की प्रणाली प्रायः लक्षण तथा उदाहरण देने की ही है, किन्तु भूमिका में अथवा अन्य स्थानों पर स्वतंत्र आलोचना का भी पहले से अधिक समावेश किया गया है। इनमें लक्षण खड़ी बोली में तथा उदाहरण प्रायः ब्रजभाषा में दिए गए हैं। उदाहरणों में पूर्व काल के ग्रंथों जैसा सौष्ठव नहीं है। उदाहरण के विषय नवीन तथा युगानुकूल हैं।

(१०) रस का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत भी किया है जैसे रस मंजरी में। किन्तु प्रायः स्वतन्त्र वर्णन की ही प्रधानता रही है।

(११) रस के आस्वाद सम्बन्धी उत्पत्तिवाद, भुक्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद की परिचयात्मक व्याख्या मात्र की गई तथा अभिनवगुप्त के मत को ही प्रायः मान्यता दी गई। इस सम्बन्ध में किसी मौलिक-चिन्तन के दर्शन इन लेखकों में नहीं होते।

(१२) इन आचार्यों ने प्रायः रस से आनन्द की ही उत्पत्ति मानी है। इनके विचार से करुण, वीभत्स तथा भयानक रसों में भी आनन्द की ही प्राप्ति होती है।[2]

(१३) इनके द्वारा रस का विवेचन केवल दृश्य-काव्य के सम्बन्ध में ही किया गया, पाठ्य अथवा श्रव्य काव्य का आधार लेकर नवीन-दृष्टिकोण से इस पर प्रायः विचार नहीं हुआ।

(१४) एक पृथक् रस को लेकर भी पृथक् ग्रन्थ लिखा गया जैसे गंगा प्रसाद का 'हास्य रस'।

आधुनिक आलोचक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु जी ने 'नाटक' नामक निबन्ध में दृश्य काव्य के विवेचन के अन्तर्गत रसों का संक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होंने नाटकों में चौदह रसों का उल्लेख किया है,

१. 'नव रस' (सन् १९३४), पृ० १५६-१५७।
२. रस कलश (सं० २००८), पृ० ३३।

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शान्त, भक्ति या दास्य, प्रेम या माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद या आनन्द। उनके विचार से शृगार दो प्रकार का है, सयोग तथा वियोग। हास्य, भाण तथा प्रहसनों मे होता है। वीर रस चार प्रकार का है, दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योगवीर। उनका विचार है कि नाट्य-रचना में विरोधी रसो को बहुत बचाना चाहिए जैसे शृंगार मे अतिकरुण, वीभत्स, रौद्र, भयानक और शान्त को। जिस नाटक मे शृंगार रस अगी भाव से हो, उसमे उक्त विरोधी रस नही आने चाहिए। नवीन ट्रेजेडी अथवा वियोगान्त नाटक मे तो वे रस विरोध होना अनिवार्य मानते है, किन्तु संयोगान्त नाटको के विषय में उनका मत है कि "नाटको की सौन्दर्य रक्षा के हेतु विरोधी रसो को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार भारतेन्दु जी ने रस का विवेचन केवल दृश्य काव्य के अन्तर्गत सक्षेप मे किया है। नाटको मे रस का प्रयोग किस प्रकार से होना चाहिए यही बताना उनका उद्देश्य है। वैसे उन्होने शास्त्रीय नव रसों का विस्तार करके उनकी संख्या चौदह तक बढा दी है, परन्तु न तो इसका कारण दिया है, न कोई गम्भीर विवेचन ही किया है।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी रसवादी थे। उन्होने कविता के विवेचन के अन्तर्गत कविता का आधार रस ही माना है। वे लिखते है कि "कविता का अच्छा और बुरा होना विशेषत अच्छे अर्थ और रस बाहुल्य पर अवलम्बित है।"[2] वे कविता मे अनुकूल शब्द-स्थापना की आवश्यकता रस की सिद्धि के लिए ही मानते है। उनका विचार है कि "कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बडी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बडी चतुराई आवश्यक होती है।"[3] वे कविता की सार्थकता तभी मानते है जब जिस रस की कविता हो, उस रस के अनुकूल ही पाठक व्यापार करने लगे।[4] वे रस को ही कविता का सबसे बडा गुण मानते है तथा 'श्री कण्ठ चरित' के कर्त्ता का यह पद अपने मत की पुष्टि मे उद्धृत करते है —

तस्तैरलकृतिशतैरवतसितोऽपि।
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।।

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली 'नाटक', पृ० ७४०।

२ 'रसज्ञरजन' (स० १६७६), पृ० ५।

३ वही, पृ० ७।

४ "अच्छी कविता सुन कर कवितागत रस के अनुसार दुःख, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना रहते।" वही, पृ० ३३।

नून विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्ध "[1]

द्विवेदीजी कविता की उत्पत्ति का मूल ही रस मानते है। उनके विचार से कविता मे रस ही प्रेषित होता है। वे कहते है कि "कवियो का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते है, उसका रस अपने अन्त करण मे लेकर उसे ऐसा शब्दस्वरूप देते है कि उन शब्दो के सुनने से वह रस सुनने वालो के हृदय मे जाग्रत हो उठता है।"[2] वे रस का परम्परा तथा रूढिगत वर्णन उचित नही समझते।[3] इस प्रकार उनका रस-विवेचन कविता के सदर्भ मे हुआ है, पृथक् रूप मे उन्होने रस का विवेचन नही किया है। उनके विचार से रस ही कविता का आधार, श्रेष्ठता की कसौटी, सबसे बडा गुण, मूल कारण, प्रेक्षणीय वस्तु है। वे समझते है कि वास्तव मे भाव नही, कवि के हृदय का रस ही कविता द्वारा प्रेषित होता है।

कृष्ण विहारी मिश्र

मिश्रजी रसवादी हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि, देव, मतिराम, बेनी प्रवीन आदि के काव्य पर गई। बिहारी तथा केशव आदि के काव्य की भी स्पष्ट शब्दो मे रसात्मक महत्ता स्वीकार करके, उन्होने रस सिद्धान्त की मान्यता प्रकट की है। उनका कथन है कि "वास्तव मे रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है" तथा "कविता मे सौन्दर्य की उपासना है। सौन्दर्य से आनन्द की प्राप्ति है। कविता के लिए रमणीयता परमावश्यक है। आनन्द के अभाव मे रमणीयता का प्रादुर्भाव बहुत कठिन है। सो कविता के सभी प्रयोजनो मे आनन्द का ही बोलबाला है।"[4]

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्लजी ने प्राय नाटक के स्थान पर काव्य को लेकर ही रस की मीमांसा की है। उनका मत है कि काव्य की आत्मा रस है तथा कविता के मूल मे भाव या मनोविकार होते है। वे अर्थ की रमणीयता को रसात्मकता से ही सम्बद्ध मानते हैं। उनके विचार से मन का रमना भी किसी भाव मे लीन होना अथवा रसानुभूति का होना ही है।

वे रसात्मकता के अन्तर्गत भाव-पक्ष ही नही वरन् कल्पना तथा कला-पक्ष का भी सन्निवेश कर लेते है। उनका विचार है कि मनोविज्ञान ने भाव के अन्तर्गत,

---

१, मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका (सन् १९५१), पृ० १३।
२ रसज्ञ रजन (स० १९७९), पृ० ५३।
३. वही, पृ० ११।
४. "अच्छे काव्य लिखने का उन्हे प्रयत्न करना चाहिए : अलकार रस और नायिका निरूपण बहुत हो चुका।" वही, पृ० १३।

प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रवृत्ति, शरीर-धर्म आदि सभी को सम्मिलित कर दिया है। इसलिए रस निष्पन्न करने वाली भारतीय भाव-पद्धति मे ये सब अवयव भी आ जाते है। काव्य मे विभावो और अनुभावो की प्रतिष्ठा कल्पना द्वारा ही होती है, इसलिए रसात्मकता अथवा रसानुभूति मे भाव-पक्ष ही नही कल्पना-पक्ष का भी स्थान है।

शुक्लजी कल्पना को काव्य के प्रमुख साधन के रूप मे स्वीकार करते है। काव्य के सम्बन्ध मे भाव तथा कल्पना की प्रधानता अथवा अप्रधानता पर विचार करते हुए वे कहते है कि रस-काल के भीतर इनका युगपद अन्योन्याश्रित व्यापार होता है।[1] वे रसात्मक प्रतीति के लिए भाव तथा कल्पना दोनो ही को आवश्यक समझते है। कल्पना की क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप तथा उसकी भावुकता की तुष्टि के लिए ही होती है। वह भाव की उमग मे आकर कल्पना को प्रेरित करके रूप-विधान मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है तथा कल्पना उसकी सहयोगिनी है, जिसके सहारे वह अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुचाता है।[2]

किसी भाव की रसात्मक प्रतीति उत्पन्न करने के लिए कवि-कर्म के दो पक्ष माने गए है, अनुभाव तथा विभाव-पक्ष। अनुभाव-पक्ष मे आश्रय के रूप, चेष्टा, और वचन का विन्यास होता है तथा विभाव मे आलम्बन का। इन दोनो पक्षों के विधान के लिए कवि मे विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है तथा सम्यक् ग्रहण के लिए पाठक या श्रोता मे ग्राहक कल्पना की। इस प्रकार रसानुभूति की सृष्टि के लिए भी कवि मे कल्पना की स्थिति की आवश्यकता होती है तथा उसका ग्रहण या आस्वादन करने के लिए पाठक या श्रोता मे भी इसकी स्थिति रहती है।

शुक्लजी रसात्मक प्रतीति मे जिस कल्पना को काव्य के प्रमुख साधन के रूप मे अपनाते है वह निराली दुनिया खडी करने वाली नही है वरन् भाव द्वारा प्रेरित होने वाली तथा मार्मिक रूपो का विधान करने वाली होती है। वह कल्पना को काव्य का केवल बोधपक्ष मानकर काव्य मे भाव-पक्ष को ही प्रधानता देते है। उनका विचार है कि कल्पना को प्रधानता देने के कारण ही पश्चिम मे अभिव्यजना-वाद, कलावाद आदि वादो का प्रचलन हुआ है। काव्य मे कल्पना-पक्ष या बोध-पक्ष तथा भाव-पक्ष दोनो का ही स्थान है तथा प्रमुखता भाव-पक्ष की ही है।[3] वे काव्य के प्रयोजन की कल्पना उसी को मानते हैं जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है।[4] कवि की नूतन सृष्टि मात्र खडी करने वाली कल्पना उनके विचार से काव्य के प्रयोजन की नही है।

---

१. 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (स० २००२), पृ० ११३।
२ देखिए वही, पृ० ११३।
३ देखिए वही, पृ० ३२५।
४ देखिए वही, पृ० ३६१।

शुक्लजी काव्य मे कल्पना का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान मानते है। इसी की क्रिया से काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान होता है। पर वे इसे कविता मे साधन मानते है, साध्य नही। कल्पना का महत्त्व चमत्कारपूर्ण नूतन सृष्टि करने मे नही वरन् हमारे सामने मार्मिक रूपो को खडा करने में है, जिनमे हमारे हृदय की भावनाए मग्न हो जाती हैं। काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान, विभाव-पक्ष का वर्णन, अनुभावो द्वारा आश्रय को रूप देने का कार्य, आश्रय के वचनो की अनेकरूपता आदि कल्पना द्वारा सम्पन्न होते है। कल्पना प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो को काव्य मे प्रत्यक्ष कराती है। कल्पना का कार्य भाषा को अधिक व्यजक मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाकर रसात्मक बोध मे सहायता पहुँचाना भी है।

शुक्लजी रसानुभूति मे विभाव-पक्ष की प्रधानता मानते है तथा उसको सामने लाने के लिए ज्ञान तथा कल्पना की आवश्यकता मानते है। काव्य ने कल्पना के अतिरिक्त भाव तथा ज्ञान का समन्वित कार्य भी आवश्यक है। आलम्बन विधान मे ज्ञान (बुद्धि) तथा भाव (हृदय) दोनो का योग रहता है। ज्ञानेन्द्रियाँ ही आरम्भ मे भावो के आलम्बन प्रस्तुत करती हैं। उनकी नियोजित सामग्री पर कल्पना उन आलम्बनो का विधान करती है।[१] इस प्रकार ज्ञान के आधार पर कल्पना कार्य करती है तथा आलम्बन विधान करके रस बोध कराती है।

शुक्लजी की आलम्बन की परिभाषा लक्षण ग्रन्थो की सीमा से बाहर है। लक्षण ग्रन्थों मे गिनाए गए विभिन्न रसो के आलम्बनो को ही वे आलम्बन नही मानते। उनका विचार है कि "जगत् की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या प्रसग हमारे हृदय मे किसी भाव का संचार कर सके, उन सबका वर्णन आलम्बन का ही वर्णन माना जाना चाहिए।"[२] हमारे हृदय मे भाव का सचार करने वाले ऐसे वस्तु-व्यापार योग तथा प्रसंग विश्व की अनन्तता के भीतर तथा मनुष्य जाति के ज्ञान प्रसार के बीच अनन्त हैं। यदि लोक के इन मर्म स्थलो की हमे पहचान होगी और हमारी भाव योजना मे लोक-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता होगी, तो हम भावानुभूति उत्पन्न करने मे समर्थ होगे। भाव-प्रधान कविता मे, जिसमे संवेदना की विवृति ही रहती है, आलम्बन का आक्षेप पाठक पर छोड दिया जाता है तथा जिस कविता मे आलम्बन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है, सवेदना पाठक पर निर्भर रहती है और वह कवि की अनुभूति को बहुत शीघ्र पकड़ लेता है।

शुक्लजी का साधारणीकरण के विषय मे भट्टनायक के समान यह मत है कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमे रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति

---

१ "ज्ञान ही भावो के सचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान के प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।" 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (सं० २००२), पृ० ११२।
२ वही, पृ० १११।

नही आती। भाव के विषय का इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।"[1] इस प्रकार वे भाव के विषय अर्थात् आलम्बन का साधारणीकरण मानते है, क्योकि किसी भाव का कोई आलम्बन जब सामान्यत· सबके उसी भाव का आलम्बन होगा तब वह साधारणीकृत हो जाएगा। इस परिभाषा मे कवि का भाव पाठक का ही भाव होता है। इस प्रकार वह भी साधारणीकृत हो जाता है यद्यपि उसकी ओर शुक्लजी ने आलम्बन की अपेक्षा अधिक जोर नही दिया है। भट्टनायक का विचार है कि जब काव्य (दृश्य काव्य) मे ऐसे व्यक्ति का वर्णन होता है जिसके प्रति दर्शक, श्रोता या पाठक की पूज्य भावना होती है, तो उसके शृगार आदि व्यापार का ग्रहण रस रूप मे पाठक उसी दशा मे कर सकता है, जब भोजक वृत्ति द्वारा पूज्य भावना के वे आलम्बन, अपने विशेषत्व या पूज्य भावना या आलम्बनत्व को छोडकर साधारण रूप मे उपस्थित हो जाते हैं। वे विशिष्ट व्यक्ति न रहकर साधारण व्यक्ति-मात्र रह जाते है। इस प्रकार उनके शृगार आदि व्यापार का ग्रहण रस रूप मे पाठक स्वतन्त्र रूप से कर सकता है। शुक्लजी ने साधारणीकरण की शक्ति भोजक वृत्ति मे न मानकर' 'कवि कर्म' मे मानी है। इसका तात्पर्य यह है कि कवि अपनी कला कुशलता द्वारा आलम्बन को इस रूप मे प्रस्तुत करता है कि वह सभी दर्शको, श्रोताओ या पाठको का साधारण रूप मे आलम्बन हो जाता है। किसी भाव का कोई विषय कवि कर्म द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करना कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके 'साधारणीकरण' कहलाता है।

उनके विचार से कवि का कर्म अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना है।[2] इसमे कल्पना की बहुत आवश्यकता होती है। बिना कल्पना के अनुभूति की प्रेषणीयता मे पूर्णता नही आती। कल्पना की क्रिया भी कवि की भावुकता अथवा अनुभूति के अनुरूप होती है। इस प्रकार कवि के लिए कल्पना तथा भावुकता (अनुभूति) दोनो अनिवार्य है।[3] कल्पना अनुभूति के अनुकूल होती है।[4] इसलिए इन दोनो मे भी अनुभूति या भावुकता प्रमुख है, क्योकि कल्पना उसी के आधार पर तथा उसी के अनु-रूप अपना कार्य करती है। इस प्रकार शुक्लजी का कवि कर्म से तात्पर्य अनुभूति अथवा भावुकता तथा उसके अनुरूप कार्य करने वाली कल्पना शक्ति से है तथा अनु-भूति अथवा भावुकता के अनुरूप कार्य करने वाली कल्पना ही साधारणीकरण का कारण है। इस प्रकार वे साधारणीकरण का विषय कवि की अनुभूति या भावुकता को मानते है तथा कल्पना को उसका साधक। कल्पना अनुभूति को ही पाठक के

---

१ 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (स० २००२), पृ० ३०८।

२ देखिए वही, पृ० ११३।

३ देखिए वही, पृ० ११४।

४ "इसी (कल्पना की) क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होती है।"
'वही' पहला भाग (सन् १९३९), पृ० ११३।

हृदय मे पहुँचाती है।[1] इस प्रकार वे कवि की ही भाँति पाठक के हृदय मे भी कवि की अनुभूति या भावुकता का सचार होना मानते हैं। यह अनुभूति रस की पूरी सामग्री से युक्त रहती है। कवि की विधायक-कल्पना उसका कवि के हृदय मे विधान करती है और पाठक की ग्राहिका-कल्पना उसे ग्रहण कर लेती है। यह कल्पना रस काल के भीतर भी भाव के साथ अन्योन्याश्रित व्यापार करती रहती है तथा भाव के समकक्ष अथवा समान शक्ति रखने वाली होती है।[2]

इससे यह तात्पर्य निकलता है कि कवि कर्म (कल्पना) ही किसी भाव के विषय (आलम्बन) को सामान्यतः सबका आलम्बन बनाता है। भाव का विषय कवि की अनुभूति ही है, जैसा पहले कहा जा चुका है। इसलिए कल्पना ही अनुभूति को सबकी अनुभूति बनाती है। दूसरे शब्दो मे अनुभूति के अनुरूप चलने वाली कवि की कल्पना उस अनुभूति का साधारणीकरण करती है। इस प्रकार शुक्लजी अनुभूति का ही साधारणीकरण अप्रत्यक्ष रूप मे मानते हैं तथा वह कल्पना द्वारा सम्पन्न होता है।

इस कवि-कर्म मे कल्पना के अतिरिक्त वे भाषा का भी योग मानते हैं।[3] अनुभूति को प्रेषणीय बनाने के लिए कल्पना के साथ भाषा का सहारा लेना भी आवश्यक है।[4] इस प्रकार उन्होने साधारणीकरण की क्रिया मे जो कवि-कर्म का योग माना है, उसमे कल्पना के साथ-साथ भाषा का भी आधार लिया है। निष्कर्ष यह है कि वे साधारणीकरण की क्रिया के मूल मे कवि-कर्म अथवा अनुभूति और भाषा का आधार मानते हैं।

वे मानते हैं कि सच्चा कवि लोक-हृदय की पहचान रखता है तथा पाठक श्रोता या दर्शक के हृदय को लोक-हृदय मे लीन करने मे समर्थ होता है। यदि काव्य मे ऐसे किसी भाव के आलम्बन का वर्णन होगा, जो मनुष्य मात्र के किसी भाव का आलम्बन न बन सके, तो वह काव्य भाव-प्रदर्शक मात्र रहेगा, उसमे विभाव-पक्ष का अभाव होगा। काव्य की सच्ची रसानुभूति भाव तथा विभाव दोनो पक्षो के सामजस्य से ही हो सकती है।[5] साधारणीकरण मे भाव तथा विभाव दोनो पक्षो का सामजस्य अनिवार्य है। उनका विचार है कि जिस काव्य मे मनुष्य मात्र को आकर्षित करने वाला आलम्बन न हो, वह काव्य केवल भाव-प्रदर्शक मात्र होगा, विभाव-विधायक नही।

---

१ "अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है।" वही (दूसरा भाग) पृ० ११३।

२. देखिए वही, पृ० ११३।

३ "भावुक जन कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कवि होता है।" चिन्तामणि (दूसरा भाग) (स० २००२) पृ० ११४।

४ वही, पृ० ११४।

५ चिन्तामणि, (प्रथम भाग) (स० १९३९), पृ० ३०९।

शुक्लजी का भाव तथा विभाव का यह भेद निराधार है, क्योंकि प्रत्येक भाव का कोई न कोई आलम्बन होना आवश्यक है। कविता की रचना के समय कवि के हृदय मे जिस भाव की अनुभूति होती है, उसका कोई आलम्बन अवश्य होता है। यदि उस अनुभूति मे पाठक को रसमग्न करने की शक्ति है, तो कवि के भाव का आलम्बन, पाठक का आलम्बन अवश्य हो जाएगा। प्रत्येक सच्ची कविता जो भाव-विधायक होगी, वह विभाव-विधायक भी अनिवार्यत होगी। काव्य मे भाव तथा विभाव का महत्त्व तथा स्थान समान है। केवल भाव-विधायक काव्य मे भी आलम्बन का आरोप करके पाठक आनन्द लेता है। यह आरोपित आलम्बन, कवि की अनुभूति के आधार पर ही होता है। शुक्लजी यह स्वय मानते हैं कि भाव-प्रदर्शक काव्य मे पाठक या श्रोता अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप कर लेता है। मेरा विचार है कि वह केवल अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप नही करता, आलम्बन का आरोप कवि की अनुभूति के आधार पर होता है, जो काव्य द्वारा पाठक के मन मे प्रेषित होती है। इस प्रकार भाव-विधायक तथा विभाव-विधायक काव्य की पृथकता असगत है। ऐसा कोई काव्य नही है, जिसमे कवि की अनुभूति के पीछे कोई आलम्बन न हो। भाव-विधायक तथा विभाव-विधायक काव्य की कल्पना का आधार उनकी तीन प्रकार की रसानुभूतियो की कल्पना है।

शुक्लजी का विचार है कि "भाव का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नही, वह व्यक्ति सामने लाता है जाति नही।"[1] अर्थात् आलम्बन रूप मे प्रतिष्ठित, व्यक्ति होता है, जाति नही; साधारणीकरण भी विशेष का होता है सामान्य का नही। इसका तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र द्वारा होती है, पाठक या दर्शक या श्रोता की कल्पना मे भी या तो वही व्यक्ति विशेष उपस्थित होता है या उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। वह व्यक्ति (या मूर्ति) ऐसा होगा, जो उसी भाव का आलम्बन हो सकेगा तथा उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन मे जाग्रत कर सकेगा, जिसकी व्यजना कवि या पात्र द्वारा की गई है। इस प्रकार शुक्लजी यह सिद्ध करते है कि "साधारणीकरण आलम्बनत्व-धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओ या पाठको के मन मे एक ही भाव का उदय थोडा या बहुत होता है।"[2] इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति आलम्बन रूप मे प्रतिष्ठित होता है, उसमे सब पर समान प्रभाव डालने वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा होती है, इसलिए वह सबके भावो का आलम्बन हो जाता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार विभावादि के सामान्य रूप मे प्रतीत होने का वे यह अर्थ लेते हैं कि 'रस-मग्न पाठक के मन मे यह भेद नही रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोडी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय

१ चिन्तामणि, प्रथम भाग (स० १६३६), पृ० ३०६।
२. वही, पृ० ३१३।

हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नही होता।"[1] इस प्रकार साधारणीकरण के सम्बन्ध मे शुक्लजी का मत अभिनवगुप्ताचार्य से भिन्न प्रतीत होता है जो आलम्बनत्व-धर्म का साधारणीकरण न मानकर श्रोता या पाठक के हृदय का साधारणीकरण मानते है। इसका तात्पर्य यह है कि आलम्बन चाहे जैसा भी हो, दर्शक, श्रोता आदि के हृदय की एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमे वह उसको सामान्य अर्थात् विशेषताहीन समझता है। अभिनवगुप्त भी हृदय मे वासना रूप से स्थित भाव को जगाने की क्रिया, काव्य अर्थात् काव्यगत आलम्बन द्वारा ही मानते है। इस प्रकार यदि हृदय ही साधारणीकृत होता है, तो भी आलम्बन उसका आधार होता है, जैसा शुक्लजी मानते हे। अभिनवगुप्त के मत मे एक दोष यह है कि इस प्रकार का साधारणीकरण करने वाला हृदय, असामान्य व्यक्ति का ही होगा, जबकि रसानुभव सामान्य-व्यक्ति द्वारा होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त की अपेक्षा भट्टनायक का मत शुक्लजी के अधिक समान है, क्योकि भट्टनायक के अनुसार भी भोजक वृत्ति द्वारा (जैसे शुक्लजी के अनुसार कवि-कर्म द्वारा) सत्व, रज और तम गुणो मे से अन्तिम दोनो से मुक्त होकर दर्शक, श्रोता आदि के हृदय मे केवल सत्व गुण रह जाता है। इसी प्रकार की स्थिति का वर्णन करते हुए शुक्लजी कहते है कि 'जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नही रह जाते, मनुष्य मात्र के भावो के आलम्बनो मे हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भाव-सत्ता का सामान्य भाव-सत्ता मे लय हो जाता है वही पुनीत रस भूमि है।"[2] इस प्रकार वे प्रकारान्तर से अभिनवगुप्त की ही भांति पाठक के हृदय का भी साधारणीकरण मानते है। उनका विचार है कि यह साधारणीकरण जैसा स्थायी भावो मे होता है, वैसा दूसरे भावो मे नही होता।

साधारणीकरण के लिए शुक्लजी आलम्बन की अनिवार्यता मानते है। वे कहते है कि "जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना मे वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है।" इसका तात्पर्य यह है कि वही व्यक्ति-विशेष जो कवि के मन मे उसके भाव के आलम्बन के रूप मे रहता है वही कल्पना के द्वारा बिम्ब रूप मे पाठक के मन मे आ जाता है। उनका यह विचार मनोविज्ञान के आधार पर ठीक नही बैठता। कल्पना द्वारा बिम्ब रूप मे विषय या आलम्बन का ग्रहण उसी रूप मे नही हो सकता, जैसा शुक्ल जी मानते है। उसे तो पाठक या श्रोता अपनी मानसिक शक्ति, प्रवृत्ति, अनुभवो के भण्डार की विशिष्टता, रुचि तथा निजी-व्यक्तित्व के आधार पर ग्रहण करता है।[3]

१. वही, पृ० ३१३।

२ चिन्तामणि (स० २००२) पृ० ६८।

३ (१) "कन्सिडरिंग दी क्वेश्चन इन दिस लाइट वी शैल हैव टू गिव दी डिफ्रेन्सैज इन इन्डीविजूएलिटी एण्ड टेस्ट आव दी परसीवर्स आव पोयट्री, देयर ड्यू इम्पोर्टेन्स, बिकोज इन डिटर्मिनिंग दी फार्म आव् पोयिटिक रैलिश, देयर रोल इज वैरी प्रोमिनेन्ट।"

(२) "पीपिल आर अनलाइक इमोशनली एज दे आर अनलाइक फिजीकली।"-'साईकोलोजिकल स्टडीज इन रस' (सन् १९५०), पृ० १००।

इस बिम्ब का सम्बन्ध पाठक की कल्पना की ग्राहिका-शक्ति से है, जो प्रत्येक पाठक की पृथक्-पृथक् होती है। कल्पना-शक्ति का आधार स्मृति-अनुभव तथा ज्ञान है, जो प्रत्येक पाठक के पृथक्-पृथक् होते हैं। इसलिए काव्य से कल्पना के द्वारा जो बिम्ब पाठक के मन मे स्थापित होगा, वह पूर्णतया उसी आलम्बन का नही हो सकता, जो कवि के मन मे था चाहे वह उसी भाव या धर्म का आलम्बन हो जाए, जो साधारणीकृत होकर पाठक के मन मे आ जाता है। स्वय शुक्ल जी यह लिखते है कि पाठक या दर्शक की कल्पना मे या तो वही व्यक्ति-विशेष उपस्थित होगा या उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति। उसी व्यक्ति-विशेष का पूर्णतया उसी रूप मे उपस्थित होना अमनोवैज्ञानिक है। इसलिए आलम्बन ही साधारणीकृत होकर प्रत्येक पाठक के मन मे पाठक के मन के अनुरूप बिम्ब-ग्रहण कराएगा। इस प्रकार आलम्बन का भी साधारणीकरण होता है।

शुक्लजी साधारणीकरण के लिए आलम्बन की उपयुक्तता पर विशेष जोर देते है। उनका विचार है कि रसानुभूति के लिए आलम्बन या तो स्वभावतः ऐसा होना चाहिए या उसका चित्रण इस रूप मे होना चाहिए या उसकी ख्याति ऐसी होनी चाहिए कि वह मनुष्य मात्र को आकर्षित कर सके, तभी वह आलम्बन, पूर्ण रसानुभूति के उपयुक्त तथा साधारणीकरण के लिए सक्षम होगा। साधारणतया काव्य के आलम्बन, मनुष्यमात्र के लिए सामान्य आकर्षण वाले होते है।[1] दाम्पत्य प्रेम का आलम्बन (पुरुष के लिए स्त्री, स्त्री के लिए पुरुष) प्राणीमात्र को आकर्षित करता है। इसीलिए शृंगार की कविता की इतनी अधिकता है।

उन्होने शृंगार के अतिरिक्त अन्य भावो के साधारणीकरण मे कुछ विशिष्टताएँ मानी है, जैसे क्रोध के आलम्बन का साधारणीकरण सभी दशाओ मे नही होगा। रौद्र रस मे भी आलम्बन का साधारणीकरण पूरा-पूरा तभी हो सकता है, जब वह अपनी क्रूरता, अन्याय और अत्याचार आदि के कारण मनुष्यमात्र के क्रोध का पात्र बनाया जा सके।[2] ऐसी दशा मे यह आवश्यक नही है कि आलम्बन का स्वाभाविक आकर्षण ही हो वरन् आलम्बन मे ऐसे कर्म की स्थापना भी अनिवार्य है, जो मनुष्यमात्र के भाव का विषय बन सके।

आलम्बन की उपयुक्तता के अतिरिक्त रसानुभूति के लिए उन्होने आलम्बन के औचित्य पर भी जोर दिया है। वे ऐसा आलम्बन होना भी उचित नही समझते कि जो आश्रय का तो आलम्बन हो, किन्तु श्रोता या पाठक आदि का न हो सके। भाव-व्यंजना के लिए वे भाव का औचित्य देखना आवश्यक मानते है।[3]

---

१ देखिए चिन्तामणि, दूसरा भाग (स० २००२), पृ० ६६।

२ देखिए वही, पृ० ६६।

३ "यदि भाव-व्यंजना मे भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए तो 'साधारणीकरण' न होगा अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा, उस भाव मे लीन न होगा।" वही पृ०२०१।

रस के साधारणीकरण के प्रसंग मे ही शुक्लजी ने व्यक्तिवैचित्र्यवाद की भी चर्चा की है। व्यक्तिवैचित्र्यवाद का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार की अनुभूतियो से है, जो प्रधान रूप मे तीन प्रकार की होती है, प्रथम, आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, जो किसी पात्र के शील के चरम उत्कर्ष से उत्पन्न होता है, द्वितीय, आश्चर्यपूर्ण अवसादन, जो उसके अत्यन्त पतन के दर्शन से होता है तथा तृतीय, कुतूहल मात्र की अनुभूति, जिसमे किसी अलौकिक व्यक्ति के दर्शन से एक प्रकार का कुतूहल मात्र उत्पन्न होता है।

रसानुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल का प्राचीन आचार्यों से मतभेद है। प्राचीन आचार्य रसानुभूति को 'आनन्दमय', 'ब्रह्मानन्द सहोदर' लोकोत्तर आदि के नाम से अभिहित करते थे, किन्तु शुक्लजी रसानुभूति का इस रूप मे ग्रहण केवल 'अर्थवाद के रूप में' मानते है। उनका विचार है कि काव्यानुभूति या रसानुभूति जीवन से परे की अनुभूति नही है। वह वास्तव मे जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नही है।[1] वे रस की अनुभूति को प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा अप्रत्यक्ष या अवास्तविक की अनुभूति नही मानते। उनका विचार है कि यद्यपि रसानुभूति वास्तव मे लोकानुभूति या जीवन की अनुभूति से पृथक् नही है, तथापि उसमे कुछ विशिष्टता है।[2] (रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नही है, बल्कि उसी का उदात्त और अवदात स्वरूप है) अलौकिक या लोकोत्तर के स्थान पर वे रसानुभूति को उदात्त और अवदात की सज्ञा देना उपयुक्त मानते है। शुक्लजी मनोमय कोष को काव्य-भूमि मानते हैं।[3] इनके विपरीत प्राचीन आचार्य आनन्दमय कोष को काव्य-भूमि मानकर रसानुभूति को लोकोत्तर तथा आनन्दमय मानते थे। किन्तु शुक्लजी रसानुभूति को अलौकिक न स्वीकार करके प्रत्यक्ष या वास्तविक ही मानते है।

शुक्लजी दो प्रकार की रसात्मक प्रतीति मानते है, प्रथम वह है, जिसमे किसी भाव की व्यजना होने पर उसमे लीन हो सकते है। यह पूर्ण रस की अनुभूति है, जो स्थायी भावो की अनुभूति के आधार पर होती है। यह अनुभूति उच्च प्रकार की अनुभूति है, जो अखण्ड तथा पूर्ण है। दूसरे प्रकार की रसात्मक प्रतीति वह है जिसमे जिस भाव की व्यजना होती है, उसमे लीन तो न हो सकते हो पर उस भाव की व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का केवल हृदय से अनुमोदन कर सकते है। यह दूसरे प्रकार की अनुभूति मध्यम कोटि की है, जो अखण्ड और पूर्ण नही है केवल काव्य-प्रशसा मात्र है।[4] इस प्रकार रस की दो कोटियाँ मानकर, वे प्राचीन आचार्यों

---

१ देखिए चिन्तामणि, दूसरा भाग (स० २००२) (काव्य मे रहस्यवाद), पृ० ११५।
२ चिन्तामणि, पहला भाग (सन् १९३९), पृ० ३४४।
३ देखिए चिन्तामणि, दूसरा भाग (स०२००२) (काव्य मे रहस्यवाद), पृ० ८०।
४ देखिए चिन्तामणि, दूसरा भाग (स०२००२), पृ० ९८।

मे भिन्न धारणा रखते हैं, जो रसानुभूति की एक ही कोटि मानते है, क्योंकि रस तो पूर्ण (ऐबसोल्यूट) तथा अखण्ड है।

शुक्लजी मन के किसी भाव मे रमने तथा हृदय के उससे प्रभावित होने की दशा को ही रस-दशा मानते हैं। रस-दशा के सम्बन्ध मे उनकी पहली धारणा यह है कि यह दशा हृदय की मुक्तावस्था है, जिसमे व्यक्ति अपने पराए के भेद-भाव से छूटकर अनुभूति मात्र रह जाता है अर्थात काव्य के प्रस्तुत भाव की अनुभूति मे ही मग्न हो जाता है।[1] रस-दशा के सम्बन्ध मे उनकी दूसरी धारणा यह है कि इस दशा मे व्यक्ति का हृदय लोक-हृदय मे लीन हो जाता है।[2] इस दशा को उन्होने 'भाव की पवित्र भूमि' या 'पुनीत रस भूमि' माना है। इस दशा मे मनुष्य मात्र के सामान्य-आलम्बन के सामान्य धर्म मे पाठक, श्रोता आदि का हृदय लीन हो जाता है।

शुक्लजी सौन्दर्यानुभूति को भी रसानुभूति के रूप मे मानते है। उनका विचार है कि कुछ सुन्दर वस्तुएँ हमारे मन मे आकर हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उनका ज्ञान ही हमसे दूर हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप मे ही परिणत हो जाते है। इस प्रकार जो उनमे हमारी अन्तस्सत्ता की तदाकार परिणति होती है, वह सौंदर्य की अनुभूति है।[3] इसी को वे रस-दशा भी मानते है, जिसमे हमारी अन्तस्सत्ता आलम्बन के सामान्य धर्म मे लीन होकर तदाकार परिणत हो जाती है। ध्यानपूर्वक देखने पर हृदय की मुक्तावस्था, व्यक्ति-हृदय का लोक-हृदय मे लीन होना, सौन्दर्यानुभूति और रस-दशा वास्तव मे एक ही बात है।

उन्होने रसास्वाद को आनन्द स्वरूप माना है। रसास्वाद के अन्तर्गत भय, क्रोध, जुगुप्सा, और करुणा आदि की अनुभूति दुःखमय होती है या सुखमय, इसके सम्बन्ध मे उन्होने प्राचीन आचार्यो के विरुद्ध, उसे दुःखमय ही माना है। उनका विचार है कि दुःखरूप अनुभूति मे दर्शक वास्तव मे दुःख ही का अनुभव करते है। हृदय की मुक्तावस्था मे होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।[4] उन्होने आनन्द का अर्थ व्यक्तिगत सुख-भोग न लेकर हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी स्वाभाविक क्रिया मे तत्पर होना माना है।[5] रसास्वाद आनन्दस्वरूप इसीलिए है कि वह हृदय को मुक्तावस्था मे लाकर, हल्का करके, अपनी भावानुभूति की क्रिया मे सलग्न कर देता है। उनका यह विचार सौन्दर्यवादी

१ "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।" चिन्तामणि, प्रथम भाग (सन् १९३९), पृ० १९२-१९३।

२ वही, पृ० ३०९।

३ देखिए चिन्तामणि, प्रथम भाग (सन् १९३९), पृ० २२५।

४ देखि वही, पृ०३४२।

५ देखिए वही, पृ०३४२।

क्रोचे से भी मिलता है, जो काव्यगत दुखमय भावो की अनुभूति दुःखमय तथा सुखमय की सुखमय मानते हैं।

रसानुभूति की प्रक्रिया पर विचार करते हुए शुक्लजी व्यजना मे अर्थात् व्यंजक वाक्य मे रस मानते हैं। उनके विचार से व्यजक वाक्य ही काव्य होता है, व्यग्य भाव या वस्तु नही।[१] उनका विचार है कि यद्यपि व्यजक-वाक्य मे ही रस है तथापि व्यजक या लक्षक वाक्य का व्यग्यार्थ या लक्ष्यार्थ से सामजस्य होना अनिवार्य है, अन्यथा वह व्यजक या लक्ष्यार्थ वाक्य उन्मत्त प्रलाप मात्र होगा।[२] व्यजक वाक्य या उक्ति मे रस या काव्यत्व मानने से शुक्लजी रीतिवादियो के निकट आते दिखाई देते है, किन्तु वास्तव मे वे रसवादी ही हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वे व्यजक वाक्य या काव्य-रीति के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। व्यजक वाक्य मे रस मानने का उनका तात्पर्य यह है कि काव्यगत भाव की व्यजना ही रस है। व्यजक वाक्य मे जिस भाव की व्यजना होती है, वही रस है। व्यजक वाक्य का व्यंग्यार्थ से सामजस्य मानने से वे व्यजक वाक्य मे व्यजित भाव को ही रस मानते है, केवल व्यजक वाक्य को नही। इस प्रकार उनका रसवादी प्राचीन आचार्यों से तात्विक भेद नही है, जो काव्यगत भाव की व्यजना को ही रस मानते हैं।

शुक्लजी ने भाव-व्यजना या रस व्यजना को वस्तु व्यजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति माना है।[३] वस्तु-व्यजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है और भाव-व्यजना भाव का सचार करती है या उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। दोनों की विभिन्न कोटियाँ हैं। वस्तु-व्यजना और भाव-व्यजना के ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित इस भेद को कि वस्तु-व्यजना मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ पर आने का पूर्वापरक्रम लक्षित होता है (सलक्ष्य-क्रम की प्रक्रिया) तथा भाव-व्यजना मे नही होता (असलक्ष्य-क्रम की प्रकिया) वे नही मानते। उनका विचार है कि भाव-व्यजना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर ही जाना नही है, वरन् वह तो भावो का अनुभव है। उसमे निश्चित रूप मे भावो की अनुभूति होती है, इसलिए उसे व्यग्यार्थ कहना अनुपयुक्त है। इसके विपरीत व्यग्यार्थ भाव की अनुभूति न होकर केवल व्यग्य अर्थ मात्र है, जो कोई वस्तु या तथ्य ही होता है और भाव की अनुभूति से पृथक् होता है। इसलिए वस्तु-व्यजना जो वस्तु या वृत्त का बोध कराती है, भाव-व्यजना से जो वस्तु या तथ्य का बोध न कराकर भाव की अनुभूति उत्पन्न करती है, पूर्णतया पृथक् है।[४]

व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट का यह मत है कि व्यजना अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नही है। शुक्लजी इनका इस बात मे तो समर्थन करते है कि वस्तु-व्यंजना

१ देखिए चिन्तामणि दूसरा भाग (स०२००२) पृ०१०५
२ देखिए वही, पृ०१०५।
३ देखिए वही, पृ०१७९।
४. चिन्तामणि, वही, पृ० १७९।

मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ तक पहुँचने की क्रिया अनुमान द्वारा ही होती है। किन्तु भाव-व्यजना मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम इतना तीव्र है कि इसका पता ही नही चलता। इसलिए उनका विचार है कि अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा वाच्यार्थ मे व्यग्य-भाव तक पहुँचा तो जा सकता है पर उस भाव को आस्वाद पदवी तक नही पहुँचाया जा सकता। इसलिए वस्तु-व्यजना की भाँति भाव-व्यंजना अनुमान पर आश्रित नही है। उनके विचार से वस्तु-व्यजना और भाव-व्यंजना मे से एक ही के साथ व्यजना शब्द का प्रयोग उचित है।[1]

शुक्लजी रस के प्राचीन आचार्यों की भाँति रसानुभूति मे पाठक, श्रोता आदि का आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण अनिवार्य मानते है। उनके विचार से यह रस की सर्वोच्च अवस्था है, जिसका विवेचन भारतीय साहित्य-शास्त्र मे हो चुका है। आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण के विचार की प्रेरणा कदाचित् उन्हे विश्वनाथ से मिली होगी, जिन्होने आश्रय तथा पाठक (श्रोता) के तादात्म्य की बात कही है। मनोविज्ञान के आधार पर उनकी यह मान्यता भी नही टिकती। वास्तव मे आश्रय (पात्र) आलम्बन (नायक) तथा पाठक (श्रोता) तीनो की मनोवैज्ञानिक स्थिति, व्यक्तित्व तथा मानसिक सस्थान अनिवार्यत. भिन्न होगा। इसलिए यह अनिवार्य नही है कि आलम्बन के जिस भाव को, आश्रय जिस रूप मे ग्रहण करेगा, पाठक या श्रोता भी उसी रूप मे ग्रहण करेंगे। आश्रय तथा पाठक, कल्पना-शक्ति, अनुभव, बुद्धि, व्यक्तित्व तथा रुचि आदि सबके आधार पर एकाकार नही हो सकते, इसलिए यह सम्भव होने पर भी कि दोनो एक ही भाव को ग्रहण करे, यह भौतिक रूप मे असम्भव है कि दोनो पूर्णतया उसी प्रकार के भाव को उसी स्वरूप तथा मात्रा मे ग्रहण कर सकें। अभिनवगुप्त भी जिस हृदय-स्थित वासना का उल्लेख करते है, वह भी सबके हृदय मे एक सी नही हो सकती।[2]

शुक्लजी का यह विचार कि आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है, कुछ भ्रामक ही है। तादात्म्य का व्युत्पत्ति-गत अर्थ है 'स आत्मा स्वरूप यस्य तस्य भाव'। दो व्यक्तियो की आत्मा की समानता असम्भव है। इस तादात्म्य शब्द से केवल समान धर्मा तथा सम भाव होने का ही साधारणतया अर्थ लिया जा सकता है आत्मा के एक होने का नही। इस प्रकार तादात्म्य तथा साधारणीकरण मे कोई विशेष भेद नही है, केवल शब्दो का भेद मात्र है। आलोच्य-काल के पश्चात् कुछ आलोचको ने इस भेद को स्वीकार भी नही किया है।[3]

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग (स० २००२), पृ० १८०।

२ "वासना के न्यूनाधिक्य से रस सभोग मे न्यूनाधिक्य होना सभव है।" काव्य दर्पण, रामदहिन मिश्र (१९४७) पृ० ७७६।

३ "एक स्थान पर साधारणीकरण और दूसरे पर तादात्म्य का प्रयोग भ्रामक ही नही अशुद्ध है।" वही, पृ० १७५।

आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण का ही उल्लेख करने मे शुक्ल जी कवि की स्थिति को छोड जाते है। कवि की आश्रय तथा आलम्बन के प्रति जो अनुभूति होगी वही पाठक की काव्य पढते समय होगी। इस प्रकार कवि की अनुभूति का ही साधारणीकरण होता है तथा पाठक के हृदय मे आश्रय तथा आलम्बन के प्रति, जो उसका अनुभूतिगत भाव होता है, वही प्रेषित होता है। इस सम्बन्ध मे कवि की स्थिति का विचार किए बिना यह प्रसग अधूरा रह जाता है।

वे रस की एक नीची अवस्था भी मानते है, जिसका विवेचन भारतीय साहित्य मे नही हुआ है। इस नीची रस-अवस्था मे किसी भाव की व्यजना करने वाला या कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन हो सकता है। इस दशा मे श्रोता, दर्शक आदि उस भाव का अनुभव नही करता, जिसकी व्यजना, पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, वह पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। इस प्रकार इसमे श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र से पृथक् रहने के कारण, आश्रय के साथ तादात्म्य नही करता और आश्रय को ही आलम्बन मानने के कारण, आश्रय के आलम्बन का साधारणीकरण भी नही होता। श्रोता, पाठक या दर्शक किसी और भाव का अनुभव करता है तथा आलम्बन और ही भाव की व्यजना करता है। पाठक, श्रोता या दर्शक का हृदय आलम्बन रूप मे चित्रित, पात्र के हृदय से भिन्न स्थिति मे रहता है। ऐसी दशा मे पाठक या श्रोता के हृदय मे आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति नही रहती, बल्कि वह उसका शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप मे प्रभाव ग्रहण करता है। उसका यह प्रभाव भी रसात्मक ही होता है। पर इसको वे मध्यम कोटि की रसात्मकता मानते है।

शुक्लजी का विचार है कि आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप मे स्थित होने पर भी पाठक या दर्शक के मन मे कोई न कोई भाव जागता अवश्य है। अन्तर केवल यह होता है कि पाठक या दर्शक का आलम्बन, आश्रय का आलम्बन नही होता, वह आश्रय ही स्वय उसका आलम्बन होकर, उसके हृदय मे किसी भाव को जाग्रत करता है। रस की इस मध्यम दशा मे भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। इसमे पाठक का तादात्म्य आश्रय से तो न ही होता वरन् कवि के उस अव्यक्तभाव से होता है, जिसके अनुरूप उसने आश्रय के स्वरूप का निर्माण किया है। आश्रय का जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना मे लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भावअवश्य रहता है। उसी प्रकार का भाव पाठक के हृदय मे भी उस आश्रय के प्रति उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार आश्रय (पात्र) का स्वरूप, कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का प्रायः आलम्बन हो जाता है।[1] किन्तु उच्चकोटि की रसानुभूति मे भी तो आश्रय के स्वरूप के प्रति कवि

---

१. देखिए 'चिन्तामणि', पहला भाग (सन् १९३९) पृ० ३१५।

का कुछ न कुछ भाव अवश्य होता है। उस रसानुभूति मे भी आश्रय का स्वरूप कवि के जिस भाव वा आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का हो जाता है। कवि की अनुभूति का उल्लेख शुक्ल जी ने मध्यमकोटि की अनुभूति मे ही किया है। किन्तु कवि की अनुभूति उच्चकोटि की रसानुभूति मे भी रहती है, क्योकि वह आश्रय तथा आलम्बन के स्वरूप के मूल मे रहती है।

जहाँ कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्रण मात्र करके छोड देता है, वहाँ पाठक का आश्रय कवि ही हो जाता है। उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति, जो कवि का भाव है, उसी के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य होता है। कवि का आलम्बन ही पाठक का आलम्बन हो जाता है। कभी-कभी पाठक या श्रोता आश्रय के किसी बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यजना को अपनाने मे कुछ असमर्थ होता है। ऐसी दशा मे उस भाव-व्यजना का ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप मे ही होता है और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा आदि मे से कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा मे ही रह जाता है। इस अपरितुष्ट भाव की तुष्टि तभी होती है, जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यजना, वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यजना करने वाले आश्रय (प्रथम पात्र) के प्रति करे। इस दूसरे पात्र की भाव-व्यजना के साथ पाठक, श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होती है। यह तुष्टि रस की मध्यम कोटि है। मध्य तथा उत्तम दोनो प्रकार की कोटियो का अन्तर यह है कि प्रथम मे श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सभाले रहता है तथा द्वितीय मे उसकी पृथक् सत्ता कुछ क्षणो के लिए आश्रय की भावात्मक सत्ता मे मिल जाती है।[1] उन्होने द्वितीय प्रकार की रसानुभूति का प्राधान्य वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि मे लिखे हुए पाश्चात्य नाटको मे माना है। उन दो कोटियो के अतिरिक्त शुक्ल जी रस की एक निकृष्ट कोटि और मानते है और इसके अन्तर्गत चमत्कारवादियो के कुतूहल को रखते है।[2]

इनकी यह रस की उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट कोटियाँ न तो प्राचीन आचार्यो ने मानी हैं, न आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर शुद्ध बैठती है। यदि काव्य की रसानुभूति की दो या तीन कोटियाँ हो सकती हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक सस्थान के अनुसार अनेक भी हो सकती है। प्राचीन आचार्यो ने रस को अखण्ड तथा पूर्ण ही माना है। शुक्ल जी केवल उच्चकोटि की रसानुभूति को अखण्ड तथा पूर्ण मानते हैं, अन्य को नही। प्राचीन आचार्यो की परिभाषा मे इस प्रकार की अन्य कोटियाँ, पूर्ण रस की कोटि मे नही आती। वे रसाभास मात्र हैं, रस नही।

रसात्मक बोध के विविध रूपो का वर्णन करते हुए शुक्ल जी कहते है कि हम चारो ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के विभिन्न रूप ही काव्य द्वारा व्यक्त होकर

१. वही पृ० ३१६।
२ "चमत्कारवादियो के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमश उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती है।" 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृ० २४०।

हमारे हृदय मे विभिन्न भावो की प्रतिष्ठा करते है। ये रूप हमारे चारो ओर भी दिखाई पड़ते है तथा हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होने पर हमारे भीतर भी दिखाई पड़ते है। काव्य मे इन्ही वाह्य तथा अन्तर्मुखी रूपो की अभिव्यक्ति होती है। यह मानसिक या अन्तर्मुखी रूप-विधान दो प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओ का मन मे ज्यो का त्यो प्रतिबिम्ब डालने वाली आभ्यन्तर रूप-प्रतीति को स्मृति कहते है और प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थो के रूप, रग, गति आदि के आधार पर खड़े होने वाले नए वस्तु-व्यापार-विधान या रूप-योजना को कल्पना कहते है। इन दोनो प्रकार के भीतरी रूप-विधानो के मूल मे प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी ससार के रूप-विधान ही होते है। इस प्रकार उन्होने तीन प्रकार के रूप-विधान माने है, प्रत्यक्ष, स्मृत तथा कल्पित। यह तीनो रूप-विधान यह शक्ति रखते है कि भावो को जाग्रत करके उन्हे रस कोटि मे पहुँचा दें। कल्पित रूप-विधान द्वारा जाग्रत अनुभूति मे तो रसानुभूति मानी जाती है ही, परन्तु शुक्ल जी प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जाग्रत वास्तविक अनुभूति को भी विशेष दशाओ मे रसानुभूति की कोटि मे मानते है।[1]

प्रत्यक्ष रूप-विधान द्वारा जाग्रत अनुभूति के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "जिस प्रकार काव्य मे वर्णित आलम्बनो के कल्पना मे उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावो के कुछ आलम्बनो के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनो के सम्बन्ध मे लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयो के साथ हमारा तादात्म्य रहता है।"[2] इसका तात्पर्य यह है कि हमारे भावो के आलम्बन के प्रत्यक्ष सामने आने पर उनके प्रति हमारा जो भाव होता है, वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यो का होता है। इस प्रकार वे आलम्बन हमारे ही न होकर लोक के सामान्य आलम्बन हो जाते है और उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति के समय हमारे व्यक्तित्व की विशिष्टता का परिहार हो जाता है तथा वह लोक व्यक्तित्व से इस प्रकार एकाकार हो जाता है, जिस प्रकार साधारणीकरण के प्रभाव से, काव्य श्रवण या नाटक-दर्शन के समय होता है। इसलिए उनके मत से यह प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियाँ रसानुभूति के अन्तर्गत आ सकती।[3] इसलिए वे यह आवश्यक समझते है कि यह भावो के आलम्बनस्वरूप विषय मनुष्य या सहृदय मात्र के भावात्मक सत्व पर प्रभाव डालने वाले होने चाहिए।[4] वे रसानुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति का ही एक उदात्त या अवदात स्वरूप मानते है, उनसे सर्वथा पृथक् नही।[5]

इसी प्रकार उन्होने स्मृति से उत्पन्न अनुभूति को भी रसानुभूति माना है। उनका विचार है कि भूतकाल मे देखी हुई ऐसी वस्तुओ का वास्तविक स्मरण जो

---

१. देखिए 'चिन्तामणि' प्रथम भाग (सन् १६३६), पृ० ३३१।
२ वही, पृ० ३३७।
३. वही, पृ० ३३७।
४ देखिए वही, (सन् १६३६), पृ० ३३८।
५. देखिए वही, पृ० ३४४।

अब सामने नही है, कभी-कभी रसात्मक होता है। अतीतकाल की स्मृति द्वारा हमारे सामने लाए हुए अतीत के दृश्यो और परिचित स्थानो के द्वारा भी हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ या रूखे सासारिक विधानो से हट कर शुद्ध क्षेत्र मे स्थित हो जाती है।[1] यह स्मृति दो प्रकार की होती है—विशुद्ध-स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

रस ग्रन्थो मे जो स्मरण सचारी भाव माना गया है, उसका शुक्ल जी यह तात्पर्य समझते है कि स्थायी भाव से लगाव होने पर स्मरण, रस की कोटि मे आ सकता है। उनका विचार है कि साधारण स्मरण या किसी काव्य मे वर्णित स्मरण की अपेक्षा रीति, हास और करुणा नामक स्थाई-भावो से सम्बद्ध विशुद्ध-स्मरण अधिकतर रसात्मक कोटि मे आ जाता है। समय और स्थान का व्यवधान पड़ने पर पुरानी वस्तुओ तथा प्रिय व्यक्तियो के साहचर्य का स्मरण, जो रति भाव मे सम्बद्ध होता है, बहुत प्रबल रूप मे प्रभाव डालता है।[2] किसी दीन दुखी या पीडित व्यक्ति के स्मरण का लगाव करुणा से होता है। रति, हास और करुणा के अतिरिक्त दूसरे भावो के आलम्बनो का स्मरण भी कभी-कभी रससिक्त होता है, पर वही जहाँ आलम्बन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भाव-सत्ता से सम्बद्ध नही वरन् सम्पूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से सम्बद्ध होता है।[3]

स्मृत-रूप-विधान के दूसरे भाग, प्रत्यक्ष-मिश्रित स्मरण या प्रत्यभिज्ञान मे थोडा सा अश प्रत्यक्ष होता है और बहुत सा अ श उसी के सम्बन्ध से स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। पुरानी देखी किसी वस्तु या दृश्य को फिर देखकर, जो उसके सम्बन्ध मे पुरानी बातें याद आती है, उसे शुक्लजी ने प्रत्यभिज्ञान माना है, जिसकी व्यजना "यह वही है" इन शब्दो मे होती है। विशुद्ध-स्मृति के समान इसमे भी रस-सचार की बडी शक्ति होती है। प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा मे भी मनुष्य मन मे आई हुई वस्तुओ मे ही, अपने व्यक्तित्व को भूलकर पडा रहता है।[4]

रसात्मक स्मरण और रसात्मक प्रत्यभिज्ञान मे तो ऐसी बातो के स्मरण या विचार किया जाता है, जो पहले कभी हमारे सामने हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त स्मृत्याभास-कल्पना मे ऐसी बातो का विचार होता है, जो पहले पढी या सुनी हुई है या अनुमान द्वारा पूर्णतया निश्चित है। यह स्मृत्याभास-कल्पना, स्मृति या प्रत्यभिज्ञान

---

१ देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृ०३४५।

२ "प्रिय का स्मरण, बाल सखाओ का स्मरण, अतीत जीवन के दृश्यो का स्मरण प्राय रति भाव मे सम्बद्ध स्मरण होता है।"
देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९१९), पृ० ३४७।

३ देखिए वही, पृ० ३४७-३४९।

४ देखिए वही पृ०३४९।

का सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।[1] स्मृत्याभास-कल्पना का इसलिए विशेष रूप मे मार्मिक प्रभाव पडता है कि वह सत्य का आधार लेकर खडी होती है। सत्य का तात्पर्य यहां ऐसे वृत्त, वस्तु या घटना से है, जिस पर कल्पना को विश्वास हो सके। स्मृत्याभास के दो आधार होते है—आप्त शब्द (इतिहास) तथा शुद्ध अनुमान। इतिहास पर आश्रित स्मृत्याभास-कल्पना समष्टि रूप मे अतीत के नर-जीवन की मधुर स्मृति से सम्बन्ध रखती है और इतिहास के सकेत पर जाग्रत होती है। जैसे किसी व्यक्ति के निज के अतीत जीवन की स्मृति मार्मिक होती है, ऐसे ही इतिहास के सकेत पर जाग्रत होने वाली समष्टि रूप मे मानव जीवन के अतीत की स्मृति भी मार्मिक होती है। शुद्ध अनुमान के आधार पर आश्रित स्मृत्याभास-कल्पना कुछ चिह्न मात्र पाकर केवल अनुमान के सकेत पर रूपो और व्यापारो की योजना करने लगती है। इसकी रसात्मकता इसलिए स्पष्ट है कि इसके आधार पर निर्मित, रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलम्बन होते हैं, उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई सम्बन्ध नही होता।[2]

इस प्रकार स्मृत-रूप-विधान की रसात्मकता का सम्बन्ध प्रधान रूप मे अतीत से ही है। इसके सम्बन्ध मे वे कहते है कि हृदय के लिए अतीत एक मुक्त-लोक है, जहां वह अनेक प्रकार के बन्धनो से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप मे विचरता है।[3] उनका विचार है कि मानव-जीवन का नित्य और प्रकृत स्वरूप देखने के लिए दृष्टि जैसी शुद्ध होनी चाहिए वैसी वह अतीत के क्षेत्र के बीच ही होती है। वर्त्तमान मे तो हमारे व्यक्तिगत राग-द्वेष से वह ऐसी बधी रहती है कि हम बहुत सी बातो को देखकर भी नही देखते।[4]

शुक्ल जी प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत यथातथ्य सश्लिष्ट-प्रकृति-वर्णन, दोनो मे रसात्मकता उत्पन्न करने की क्षमता मानते है। बाह्य-प्रकृति के दर्शन से हमारी आन्तरिक-प्रकृति का विशेष अनुरजन होता है। प्रकृति के विभिन्न सुन्दर दृश्यो को देखकर आज भी हमारा शरीर चाहे न नाचे पर मन अवश्य नाचने लगता है। उनका विचार है कि 'जिन प्राकृतिक दृश्यो के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश अपनी आयु व्यतीत कर रहा है, उनके प्रति प्रेम-भाव, पूर्व साहचर्य के प्रभाव से, सस्कार या वासना के रूप मे हमारे अन्त करण मे निहित है।'[1] ऐसे दृश्यो को देखकर जो हर्ष होता है वह एक सचारी भाव है, इसलिए वे उसके मूल मे रति भाव वर्तमान मानते है, जो उन दृश्यो के ही

---

१ देखिए 'चिन्तामणि' प्रथम भाग (सन् १९३९) पृ० ३५०।
२ देखिए वही, पृ० ३५३।
३ देखिए वही, पृ० ३५४।
४ देखिए वही, पृ० ३५६।
५ देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ (स०२००२) पृ० ४।

प्रति है।[1] इन दृश्यो के अन्तर्गत, जो वस्तुएँ तथा व्यापार है, उनमे जीवन के मूल-स्वरूपो और मूल परिस्थितियो का आभास मिलने से हमारी वृत्तियाँ उनमे लीन हो जाती है। प्रकृति से हमारा चिर-साहचर्य होने के नाते, उसके प्रति हमारे हेतु-ज्ञान-शून्य-प्रेम की सृष्टि स्वाभाविक रूप मे होती है। वशपरम्परा से यह प्रकृति-प्रेम वासना के रूप मे हमे प्राप्त होता आया है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि प्रकृति हमारे प्रेम-भाव की आलम्बन होकर हमारे हृदय मे रसानुभूति उत्पन्न कराती है। जब प्रकृति हमारे प्रेम आदि भावो की आलम्बन है, तो उसका वर्णन रस के अन्तर्गत होना स्वाभाविक ही है। वे कहते है कि जो-जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते है, उन सब का वर्णन रस के अन्तर्गत है, क्योकि भाव का ग्रहण भी रस के समान ही होता है।[2]

प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन मे रस की प्रतिष्ठा करने मे यह आपत्ति हो सकती है कि केवल आलम्बन के चित्रण द्वारा रसानुभूति कैसे हो सकती है। उसके लिए तो विभाव-पक्ष, आश्रय और आलम्बन दोनो के पूरे चित्रण की आवश्यकता होती है। उनका विचार है कि वैसे तो प्रकृति-चित्रण मे विभाव, अनुभाव और सचारी भावो से पुष्ट होकर ही रस की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, पर प्राकृतिक वस्तुओ या दृश्यो के शब्द-चित्र खीचकर भी कार्य हो सकता है, उसके लिए आश्रय की कल्पना करना आवश्यक नही। उनका मत है कि "मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता मे रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने मे पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नही है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नही सके। यदि ऐसा होता तो हिन्दी मे 'नायिका भेद' और 'नख-शिख' के जो सैकडो ग्रन्थ बने है उन्हे कोई पढता ही नही।"[3] अपने इस विवेचन द्वारा शुक्ल जी प्रकारान्तर से 'नायक-नायिका' तथा नख-शिख वर्णन के ग्रन्थो मे भी रसात्मकता मानते हैं। इनका स्थान केवल विभाव के अन्तर्गत ही नही है।

शुक्ल जी का यह मत प्राय समर्थनीय ही है, क्योकि आलम्बन रूप मे प्रकृति को ग्रहण करने मे कवि स्वयं अपने को आश्रय रूप मे रखता है तथा पाठक, श्रोता और दर्शक काव्य पढते समय स्वय आश्रय के रूप मे उपस्थित हो जाते है अथवा किसी अन्य आश्रय की कल्पना कर लेते है। इसके अतिरिक्त रस-सिद्धान्त का विवेचन करते समय आचार्यो ने अपने सामने दृश्य-काव्य को ही रखा था, जिसमे रस के सभी अवयवो का नियोजन होना अनिवार्य था, किन्तु पाठ्य-काव्यो मे सारे अवयवो के अतिरिक्त आलम्बन के चित्रण मात्र से भी रस-निष्पत्ति हो सकती है, क्योकि इससे पाठक या श्रोता आश्रय का आक्षेप कर लेता है।

---

1. देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृ० ५।
2. देखिए वही पृ० ३६-३७।
3. देखिए वही, पृ० ३१।

प्रकृति को आलम्बन रूप मे ग्रहण करने मे दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि भाव का आलम्बन जड नही वरन् चेतन और सजीव होता है और प्रकृति के जड होने के कारण इसको आलम्बन बनाकर रसानुभूति नही हो सकती। किन्तु उनका विचार है कि जड मानी जाने वाली प्रकृति काव्य के क्षेत्र मे सजीव रूप मे उपस्थित होती है। कवि उन पर अपनी भावनाओ का आरोप करके, उसे सजीव तथा मनुष्यवत् बना देता है। वे रस की निष्पत्ति के लिए केवल ऐसे विषयो को सामने रखना आवश्यक मानते हैं, जो श्रोता के विविध भावो के आलम्बन हो सकें। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त पूरी करना आवश्यक नही।[1] आश्रय की योजना की अनावश्यकता बताते हुए, वे लिखते है कि "ससार की प्रत्येक भाषा मे इस प्रकार के काव्य वर्त्तमान हैं, जिनमे भावो को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् आश्रय की योजना नही की गई है, केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं, जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते है।"[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत, यथातथ्य, और सश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा रस-बोध होना स्वाभाविक तथा तर्कयुक्त है।

अपने रस-विवेचन के अन्तर्गत शुक्ल जी ने परम्परागत रस-सम्बन्धी-मान्यताओ से भी अपना भेद प्रकट करके, नए विचारो का प्रतिपादन किया है। हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थो मे 'हाव' और 'अनुभाव' आश्रय की चेष्टा के अन्तर्गत एक ही रूप मे माने गए हैं। इनमे भिन्नता नही है, किन्तु आचार्य शुक्ल इन्हे भिन्न मानते हैं। उनका विचार है कि 'हाव' 'अनुभाव' के अन्तर्गत नही आ सकते। वे कहते है कि हावो का सन्निवेश, किसी भाव की व्यजना कराने के लिए नही वरन् नायिका की (जो आलम्बन है) चित्ताकर्षकता और रमणीयता बढाने के लिए होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान होता है, वह आलम्बन होता है। इसलिए, हाव नामक चेष्टाएँ आश्रय के अन्तर्गत न होकर आलम्बनगत होगी। इस प्रकार उनका स्थान 'विभाव', के अन्तर्गत है, अनुभावो के अन्तर्गत नही। 'अनुभाव' तो आश्रय की चेष्टाए ही होती हैं।[3] शुक्ल जी का मत है कि चाहे व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर नायिका, जो आलम्बन मानी गई है नायक के लिए आश्रय हो सकती है और नायक जो आश्रय माना गया है नायिका के लिए आलम्बन हो सकता है, पर अनुमान का सम्बन्ध सदैव आश्रय से रहेगा और आलम्बन की चेष्टाएँ कभी अनुभाव के रूप मे गृहीत न होगी।[4] शुक्ल जी का यह मत भानुदत्त से मिलता-जुलता है, जो उन्होने हाव के सम्बन्ध मे 'रस तरगिणी' मे व्यक्त किया है।[5]

---

१. देखिए 'चिन्तामणि' भाग २ (सं० २००२), पृ० ४८।
२ वही, पृ० ४८।
३. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १०१।
४ वही, पृ० १०२।
५ देखिए 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (सं० २०००), पृ० १८७।

इसी प्रकार शुक्ल जी ने 'उत्साह' नामक स्थायी भाव के आलम्बन के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार प्रकट किए हैं। शास्त्रीय-ग्रन्थो मे उत्साह अथवा युद्धवीर का आलम्बन विजेतव्य, विपक्षी या शत्रु होता है, पर धनुप-यज्ञ के प्रसग मे, जो उत्साह उत्पन्न करता है, वह धनुप 'जड' मात्र है। इसलिए वे उसे आलम्बन न मानकर उत्साह का आलम्बन कोई विकट या दुष्कर कर्म ही मानते है।[1] शुक्ल जी की यह धारणा किसी विशेप तर्क के आधार पर पुष्ट नही है।

उनका यह भी विचार है कि काव्य मे एक सचारी भाव दूसरे सचारी भाव का स्थायी भाव बनकर आ सकता है। यह सचारी भाव, विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव से युक्त होकर, स्थायी भाव के समान अनुभव तो करा सकता है, पर वह ऐसा स्थायी भाव नही हो सकेगा, जो रस दशा तक पहुचा सके। रति के सचारी असूया और अमर्प को वे इसी प्रकार के सचारी मानते है।[2] उनका सचारी भावो का यह विवेचन भी रस-सम्प्रदाय की रस-परम्परा के विरुद्ध नही है।

शुक्ल जी ने प्रबन्ध काव्य की रसानुभूति मे प्रधान पात्र के अन्दर एक मूल प्रेरक-भाव या बीज-भाव माना है, जो स्थायी भाव और अगी-भाव दोनों से भिन्न है। जिस प्रकार आश्रय के भीतर एक स्थायी भाव रहता है और अनेक भाव तथा अन्तर्दशाए उसके सचारी के रूप मे आती है, उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य मे प्रधान पात्र मे एक बीज-भाव रहता है, जिसकी प्रेरणा से अनेक भावो के स्फुरण के लिए जगह निकलती है। इस बीज-भाव मे कठोर तथा कोमल, मधुर तथा तीक्ष्ण सब प्रकार के भाव होते हैं। यदि बीज-भाव मगल का विधान करने वाला है, तो उसके द्वारा प्रेरित तीक्ष्ण और कठोर भाव भी सुन्दर होगे तथा उनकी सुन्दरता की मात्रा उस बीज-भाव की व्यापकता तथा निर्विशेपता के अनुसार बढेगी। जितना व्यापक बीज भाव होगा उतने ही अधिक सुन्दर भाव होगे। ऐसे बीज-भाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र मे होती है, उसके साथ सभी पाठको का तादात्म्य होता है और पाठक या श्रोता भी रस रूप मे उन्ही भावो का अनुभव करते है, जिन भावो की वह व्यजना करता है। ऐसे पात्र की गति मे बाधा डालने वाले पात्रो मे रस की निष्पत्ति के सब अवयव होने पर भी उनमे तादात्म्य नही हो सकता।

उनका विचार है कि मगल का विधान करने वाले ऐसे दो प्रधान भाव, करुणा तथा प्रेम, पात्रो मे रहते हैं। स्थायी भाव तथा बीज-भाव मे भेद रखने का तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव द्वारा तो रस की पूर्ण या उत्तम-दशा की अनुभूति होती है, पर बीज-भाव के द्वारा रस की मध्यम-कोटि की अनुभूति होगी, क्योकि बीज-भाव का सम्बन्ध पात्र के शील-चित्रण से है। इस प्रकार बीज-भाव अगी-भाव अर्थात् व्यभिचारी

१ देखिए 'तुलसी की भावुकता'—
'गोस्वामी तुलसीदास', ले० 'रामचन्द्र शुक्ल' पृ० ११३।
२ देखिए 'जायसी ग्रन्थावली', पृ० १३४, १५०।

तथा सचारी भावों[1] से भी पृथक् है, क्योकि सचारी तो अस्थायी होते है पर बीज की व्यापकता तथा स्थायित्व की कोई सीमा नही है। किन्तु जैसे सचारी भी विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव से युक्त होकर, स्थायी भाव की पदवी प्राप्त करता है, वैसे ही बीज-भाव भी रस को चाहे पूर्णावस्था तक न पहुचा सके, परन्तु फिर भी मध्यम-कोटि की रसानुभूति तक पहुचाने मे समर्थ होता है। इस प्रकार बीज-भाव प्रबन्ध-काव्य के प्रधान-पात्र मे होता है। वह न तो स्थायी-भावो के समान रस को पूर्णावस्था तक ले जाता है और न अगी (सचारी) भावो के समान इतना अस्थायित्व लिए हुए होता है।

शुक्ल जी ने रस-सिद्धान्त का मौलिक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन करके, उसको आधुनिक-साहित्य की सब विधाओ के अनुकूल बताया है। उनके पूर्व प्राय हिन्दी आलोचना मे रस-सिद्धान्त का अध्ययन दृश्य-काव्य के अन्तर्गत होता था। शुक्ल जी ने रस का विवेचन, दृश्य-काव्य, पाठ्य-काव्य, मुक्तक तथा प्रबन्ध सभी प्रकार के काव्य के आधार पर किया है। उनकी अनेको मौलिक उद्भावनाओ ने परम्परागत रस-सिद्धान्त के विकास के अनेक नवीन मार्ग खोल दिए। पाश्चात्य काव्य-परम्परा के सिद्धान्तो के प्रभाव से आधुनिक युग का काव्य भारतीय तथा पाश्चात्य परम्पराओ के समन्वय के आधार पर खडा है। इसका रस-विवेचन भी, जो भारतीय-आलोचना परम्परा की मौलिक वस्तु है, नवीन प्रभावो की वास्तविकता का ध्यान रखते हुए होना चाहिए था। शुक्ल जी का रस-विवेचन इसी प्रकार का है और उनके पूर्ववर्ती हिन्दी के अन्य विवेचको से भिन्न है। उन्होने न तो रस सम्बन्धी ग्रन्थ लिख कर और न काव्यालोचन के ग्रन्थो मे एक विशिष्ट अध्याय के अन्तर्गत इसका विवेचन किया है। उनका रस-विवेचन या तो निबन्धो के रूप मे है या व्यावहारिक-आलोचना के ग्रन्थो या निबन्धो के अन्तर्गत, यत्र तत्र प्रसगानुकूल आ गया है। इतने अधिक विस्तृत-क्षेत्र में रस सम्बन्धी अनेक धारणाओ की विविध अभिव्यक्ति मे भी एक समन्विति है तथा कही नाममात्र का विरोध नही है। इन्होने रस-मीमासा को लक्षण-ग्रन्थो के अशक्त तथा रूढ रूप से हटा कर नवीन जाग्रत-चेतना तथा सामयिक चिन्तन-भूमि पर स्थापित किया है। रस-सिद्धान्त के विकास मे उनकी यह मौलिक देन है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत गिने चुने भावो, विभावो, अनुभावो तथा सचारी भावो के लक्षणो तथा उदाहरणो की अविच्छिन्न परम्परा से इनकी रस-मीमासा का विशेष अन्तर है। प० नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने इस सम्बन्ध मे इनके लिए यह

---

१ "अगी भाव से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय साहित्य-शास्त्र मे कथित अ जित (वा प्रधान रूप मे व्यजित) व्यभिचारी भाव से प्रतीत होता है, जो स्वतन्त्र रूप मे भी विभाव, अनुभाव, सचारी भाव से युक्त हो व्यजित हो सकता है और जिसकी अनुभूति, श्रोता पाठक वा दर्शक को, रस की पूर्णावस्था तक नही पहुचाती।"
'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' ले० शिवनाथ एम० ए० (स० २०००), पृ० १८६।

यथार्थ ही कहा है कि "उन्होंने रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊंची मानसिक भूमि पर ला बैठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी-समीक्षा में बहिष्कृत होने से बचे।"[1]

रस-सिद्धान्त के रूढ़िगत विवेचन का विरोध करते हुए तथा भविष्य के लिए रस-सिद्धान्त के विवेचन की दशा सूचित करते हुए, शुक्ल जी ने लिखा है कि "हमें अपनी रस-निरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार तथा संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गई है, पर इस ढांचे का नए-नए अनुभवों के अनुसार अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है।"[2] शुक्ल जी ने भारतीय रस-सिद्धान्त के विकास में जो योग दिया है, उसका आभास स्वयं उनके उपर्युक्त विचारों में मिलता है। उन्होंने स्वयं रस-निरूपण पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान, दर्शन तथा कला और साहित्य के नवीन सिद्धान्तों और आदर्शों के आधार पर प्रसार तथा संस्कार किया, युगानुकूल तथ्यों की पुष्टि की, आधुनिक युग के अनुपयुक्त तथ्यों का बहिष्कार किया तथा भ्रामक धारणाओं को गम्भीर चिन्तन के प्रकाश में सुलझा कर, निखरे हुए रूप में सामने रखा। उन्होंने दृश्य-काव्य के सीमित-क्षेत्र से रस का प्रसार, काव्य के विविध अंगों के क्षेत्र में करके, उसके सर्वांग-स्वरूप का युक्तियुक्त रूप में विवेचन किया। रस-सिद्धान्त के आधार का तो उन्होंने उतना विचार नहीं किया है, क्योंकि उसकी नींव को तो वे बहुत दूर तक डाली हुई मानते हैं, पर वे इसके ढांचे का अनेक दशाओं में समुचित फैलाव करना आवश्यक मानते हैं। इसलिए उन्होंने विभाव अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, साधारणीकरण, रस-बोध आदि विषयों का नवीन काव्य-सिद्धान्तों तथा विचार-धाराओं के अनुसार विवेचन किया है। आधुनिक युग में जिस दिशा में भी रस-सिद्धान्त के विकास की सम्भावनाएं दिखाई पड़ीं, उधर ही शुक्ल जी ने उसे प्रगति प्रदान की।

आधुनिक युग में जीवन के परिवर्तन के साथ-साथ समाज के आदर्श तथा मनुष्य की प्रवृत्तियां भी बदलती चली गईं। इसी परिवर्तन के साथ-साथ काव्य का दृष्टिकोण भी बदला है। शुक्ल जी ने रस-सम्प्रदाय का प्रसार, संस्कार तथा विवेचन मात्र ही इस नवीन-दृष्टिकोण के अनुसार ही नहीं किया, वरन् उसकी प्रगति की अपार

1 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी'. लेखक—नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ५०।
2 चिन्तामणि' भाग २ (सं० २००२), पृ० १६२।

सम्भावनाओ के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। शुक्ल जी की रस-मीमांसा का महत्त्व स्वय आधुनिक आलोचको ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।[1]

शुक्लजी ने रस के विविध विषयो पर अपने स्पष्ट तथा गहन विचार प्रकट किए है, पर अन्य प्राचीन आचार्यो की भाति सहृदय-भावुक तथा सुपात्र का विवेचन अपेक्षाकृत कम ही किया है। सहृदय की पूर्ण समीक्षा के प्रभाव मे, कुछ स्थलो पर तारतम्य तथा स्पष्टता का अभाव दिखाई देता है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास

आचार्य श्यामसुन्दर दास जी ने रस-विश्लेषण और स्पष्टीकरण, सस्कृत काव्य-शास्त्र के रस-सिद्धान्त के अनुसार किया है। इसमे इनका उद्देश्य रस के विभिन्न अंगो को केवल स्पष्ट तथा सरल भाषा मे पाठको के सम्मुख रखना है, गवेषणापूर्वक नवीन विवेचन करना नही है। वे भावो को मन के विकार मानते है। उनका विचार है कि वाणी, अग-रचना और अनुभूति के द्वारा काव्यार्थो की भावना कराने के कारण ये भाव कहलाते है।[2] उनके विचार से ये भाव तीन प्रकार के होते है, इन्द्रिय-जनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक। वे विभावो का अस्तित्व स्थायी भावो के ही कारण नही, वरन् सचारी भावो के भी कारण मानते है। इसलिए वे स्थायी भाव तथा

---

१ (क) 'साम्प्रदायिक युग मे यदि किसी ने रस की स्वच्छन्द मीमासा की है तो वह थोडी बहुत स्वर्गीय आचार्य शुक्ल मे ही दिखाई देती है।" 'हिन्दी मे रस मीमासा', (आलोचना विशेषाक) ले० —विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ७१।

(ख) "आचार्य शुक्ल की भावो और रसो की मीमासा का प्रस्थान नवीन और अपना है, अत उनके निष्कर्ष भी अपने है। उन्होने भारतीय रस-मीमासा को दृष्टि पथ मे रखा अवश्य है, परन्तु उनकी अपनी रस-मीमासा मे उन की अपनी अनुभूति और उनका अपना निरीक्षण मिला हुआ है। स्वानुभूति और स्वनिरीक्षण के आधार पर उन्होने भारतीय और यत्र तत्र विदेशी साहित्याचार्यो की भी टीका करते हुए, अपनी नई स्थापनाएं की है। इस प्रकार की मीमासा मे आचार्य शुक्ल की दृष्टि भावो के नित्यप्रति के व्यावहारिक रूपो पर बराबर रही है। उनके द्वारा भावो और रसो की इस प्रकार की मीमासा को देखने से अनुभव होता है कि हिन्दी मे ऐसी भाव रस मीमासा बहुत दिनो के बाद हुई, शायद पहली बार हुई। हम-देख चुके है कि इस क्षेत्र मे सस्कृत की गतानुगतिकता ही चल रही थी। ऐसी परिस्थिति मे कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल सस्कृत साहित्य के आचार्यो की कोटि मे आते हैं" 'आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (आलोचना विशेषाक), पृ० ८२।

२. 'साहित्यालोचन' (स० १९९६), पृ० २६३।

सचारी-भाव का भेद बताते हुए लिखते है कि "सचारी और स्थायी भाव मे इतना ही भेद है कि सचारी भाव के लिए स्वल्प-विभाव ही पर्याप्त होते हैं, परन्तु स्थायी भाव के उदय के लिए अल्प सामग्री मे काम नही चलता, उसके लिए विभावो का बढा चढा होना आवश्यक है।"[1] इनका यह भेद-निरूपण पूर्ण नही है क्योकि जो सचारी भाव स्थायी भाव के जाग्रत होने पर आते है, उनके सम्बन्ध मे केवल इतनी ही बात लागू नही होती। सचारी भावो की सख्या भी वे अन्य आचार्यो की भाति केवल तैतीस ही नही मानते। वे अन्य स्वतन्त्र सचारी भावो की भी सम्भावना मानते हैं।[2] इन्हे भी शुक्ल जी की भाति रस के विभिन्न अगो के विकास की सम्भावनाए दिखाई दी और उनमे से कुछ की ओर उन्होने सकेत भी किया।

श्यामसुन्दर दास जी ने तीन प्रकार के अनुभाव, कायिक मानसिक और सात्त्विक माने हैं। मानसिक अनुभाव की उनकी परिभाषा यह है कि "स्थायी भाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं।"[3] यह परिभाषा दोषपूर्ण है क्योकि स्थायी भावो के कारण उत्पन्न होने वाले अन्य भाव सचारी भी होते हैं। इसलिए मानसिक अनुभावो की पृथक् श्रेणी नही मानी जा सकती। इसी प्रकार कायिक तथा सात्विक अनुभावो मे वे यह अन्तर मानते है कि आन्तरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षण कायिक अनुभाव होते है तथा मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न अनुभाव सात्विक होते हैं। आहार्य को ये अनुभाव न मानकर अभिनय का बीज रूप मानते है।

रस के परिपाक की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए वे उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का परम्परागत रूप मे विवरण मात्र देते हैं। इस सम्बन्ध मे वे कोई नई उद्भावना नही करते। वे रस को ब्रह्मानन्द सहोदर अथवा अलौकिक मानते है।[4] किन्तु वे रस और कला का सम्बन्ध योग से नही मानते। भाव और भावना, काव्य और कला, आत्मपक्ष की वस्तुए होने से योग तथा चित्त-वृत्ति-निरोध का प्रश्न भारतीय-चिन्तन के अन्तर्गत उठ जाता है। इसकी अपेक्षा पश्चिमी साहित्यालोचन मे वस्तु-पक्ष पहले आता है आत्म-पक्ष बाद मे। वे इस धारणा को भ्रमपूर्ण समझते है कि भारतीय काव्य-शास्त्र मे धर्म और दर्शन की अधिकता है। इसका प्रमाण वे यह देते हैं कि यहा तो देव-विषयक-रति को भी रस न मानकर

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १६६६) पृ० २६६।

२ "परम्परा पालन की प्रवृत्ति के कारण आगे के आचार्य भी तैंतीस की ही सख्या से बधे रहे और यदि किसी को कोई अन्य सचारी सूझे भी तो उनको इन्ही तैंतीस मे से किसी के अन्तर्गत लाकर ठूस देने की व्यवस्था कर दी गई।"
वही, पृ० २६८।

३ देखिए वही पृ० २६७।

४ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १६६६) पृ० २७४।

भाव ही माना है। उनका विचार है कि कला तथा रस के क्षेत्र मे लोक का विस्मरण भारतीय साहित्य-शास्त्र में कभी नही हुआ।[1]

उनका विचार है कि रस-मीमासा के गहन और गम्भीर विषय को पश्चिम के मनोविज्ञान के आधार पर नही समझा जा सकता। इसीलिए उसके आधार पर रस-सिद्धान्त का विवेचन करने वाले 'साधारणीकरण', 'अलौकिक' और 'अभिव्यक्ति' आदि शब्दो के भ्रम मे पड जाते हैं। उनके मत से रस का अध्ययन पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा भारतीय शास्त्र तथा दर्शन के आधार पर ही समुचित रूप मे हो सकता है। उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है, क्योकि मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा भिन्न-भिन्न पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर तो रस के विभिन्न तत्वो के विकास के लिए विशेष स्थान है तथा आलोच्य-काल के पश्चात् प० नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० राकेश, गुलाबराय, प० रामदहिन आदि विद्वानो ने इस ओर विशेष प्रगति की है। शुक्ल जी इनके विरुद्ध रस-मीमासा की अनन्त सम्भावनाएं, पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा विचार प्रणालियो के आधार पर मानते है।[2]

उनकी 'मधुमति भूमिका' तथा 'साधारणीकरण' की व्याख्या प्राचीन आचार्यो के आधार पर की गई है। मधुमति भूमिका की व्याख्या के लिए प० केशव प्रसाद मिश्र के मत का उद्धरण दिया गया है। भगवान् व्यास तथा ऋग्वेद के भी उद्धरण देकर व्याख्या को स्पष्ट किया गया है। उनके विचार से रसानुभूति मधुमति भूमिका मे होती है। उनका विचार है कि "मधुमति भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमे वितर्क की सत्ता नही रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनो की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दो मे वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी, इन तीनो के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है।"[3] इसी मधुमति भूमिका मे ही पर-प्रत्यक्ष होता है।[4] उस समय की अनुभूति अखण्ड होती है। इसमे सब प्रकार की शोचनीय तथा अभिनन्दनीय वस्तुए केवल सुखात्मक भावो का आलम्बन बन कर आती है। इस समय दुःखात्मक भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड कर अलौकिक सुखात्मकता धारण करते है।[5] चित्त-वृत्ति की इसी अखण्डता और एक-तानता का नाम साधारणीकरण है। वे शुक्ल जी की भाति आलम्बन के साधारणी-

---

१. 'साहित्यालोचन' (स० १९९६) पृ० २८५।

२ देखिए 'चिन्तामणि' भाग २, पृ० १०३।

३ 'साहित्यालोचन' (स० १९९६) पृ० २७५।

४ "जिस अवस्था मे सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते है केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते है।"

वही, पृ० २७६।

५ वही पृ० २७६।

करण को न मानकर, अभिनव की भांति चित्त का साधारणीकरण मानते हैं। कुछ भ्रमों का निराकरण करते हुए श्यामसुन्दर दास जी एक तो भाव और रस का ऐसा भेद स्वीकार नहीं करते जैसा फीलिंग, इमोशन और सेन्टीमैन्ट में है। इस सम्बन्ध में वे डॉ० भगवानदास के मत की आलोचना करते हैं।[1] दूसरे, शुक्ल जी के साधारणीकरण के इस सिद्धान्त का कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, विरोध करते हुए वे अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्त-वृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।[2] वे शुक्ल जी द्वारा मान्य, विभाव आदि का साधारण अथवा लोक-सामान्य होना दो अर्थों में मानते हैं। एक तो स्वरूपत सामान्य होना तथा दूसरे परिणामत सामान्य होना। उन्होंने परिणामत सामान्यता या साधारणीकरण के भी दो प्रकार माने हैं, एक तो बौद्धिक या नैतिकवादी जो उन्हे भट्ट नायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल मालूम पड़ता है तथा दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक, जिसमे नैतिकता का प्रश्न 'ध्वनि' मे ही समाहित हो जाता है और जो उनके विचारो से अभिनवगुप्त के समीप है। वे स्वय इस मत को मानते हैं। इनके विभावादि के इन दो रूपों का विभाजन तर्कपूर्ण तथा प्रामाणिक नही है। विभावो के ये दो रूप किस आधार पर किए गए हैं तथा दोनो में विभिन्न विशेषताओं का आरोप किस आधार पर किया गया है, उन्होंने यह नही बताया है। वे रस और कला का सम्बन्ध मात्र भी देवता और परलोक से नहीं मानते। उनका विचार है कि कला और रस के क्षेत्र में इस लोक को भुलाकर परलोक का ध्यान हमारे साहित्य मे नही रखा गया। वे शुक्ल जी की भांति रस को इसी लोक की वस्तु मानते हैं।

इस प्रकार श्यामसुन्दर दास जी ने प्राचीन सभी प्रमुख आचार्यों भरत, मम्मट, अभिनव, धनजय, जगन्नाथ आदि के मतो का स्पष्ट उल्लेख करके रस सम्बन्धी सभी विषयों की सुन्दर तथा स्पष्ट शब्दो मे चर्चा की है। अपने मत का निर्देश उन्होंने कहीं-कहीं भ्रम-निवारण के लिए ही किया है। भ्रम-निवारण मे भी प्राय. एक प्राचीन आचार्य के मत के स्थान पर दूसरे प्राचीन आचार्य के मत की स्थापना ही हुई है। रस सम्प्रदाय के नवीन विस्तार तथा प्रसार का ध्यान रखते हुए उसमे मौलिक योग देने का कार्य उन्होंने अधिक नही किया है। आचार्य श्यामसुन्दर दास का लक्ष्य केवल भारतीय रस सिद्धान्त के विषय का स्पष्ट निरूपण करना था, जिसमे वे पूर्णतया सफल हुए हैं।

जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी अभिनवगुप्त के 'काव्ये तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव' के अनुसार नाटकों को ही प्राथमिक काव्य मानते हैं। वे 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' के अनुसार

१ देखिए 'साहित्यालोचन (सं० १९९९), पृ० २८४।
२ देखिए वही पृ० २८५।

काव्य मे नाटको की महत्ता स्वीकार करते हैं। वे नाटको मे ही आनन्द या रस की प्रधानता मानते हैं। उनका विचार है कि जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटको से रस की।"[1] इनमे आत्मा की अनुभूति रस के रूप मे प्रतिष्ठित होती है। नाट्य-रसो की उद्भावना ही धार्मिक बुद्धिवादियो से अलग, सर्वसाधारण मे आनन्द का सचार करने के लिए हुई थी। चूँकि नाटको मे आनन्द या रस का साधारणीकरण होता है, इसलिए उनमे दुखान्त की सृष्टि नही होती। साहित्य के अन्य अग-काव्य, उपन्यास, कहानी आदि दुखान्त हो सकते हैं। नाटको मे रस की प्रतिष्ठा इसलिए मानी गई है कि इनमे प्रत्येक दर्शक अभिनीत वस्तु के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करके आनन्द या रस की प्राप्ति करता है। इसमे व्यक्ति-वैचित्र्य तथा दुखातिरेक के लिए स्थान नही है।

प्रसाद जी नाटको की ही भाति रहस्यवाद मे भी रस या आनन्द की प्रधानता मानते हैं। वे दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं तथा भक्ति को रस के अन्तर्गत नही मानते, क्योकि उसमे द्वैत की भावना होती है। उनका विचार है कि भक्ति-काव्य के पात्रो का रस रूप मे साधारणीकरण नही हो सकता, क्योकि वे तो उपासना के पात्र है तथा उनमे द्वैत भाव होता है। उनमे तादात्म्य की पूर्णता का अभाव होता है, इसलिए साहित्यिक-रस उत्पन्न नही हो सकता। इसी प्रकार वे दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि नए रसो मे भी द्वैत-भावना ही मानते हैं। उनके विचार से इन रसो मे रस की धारा अपने मूल उद्गम आनन्द से पृथक् हो गई है, जिसका मूलाधार अद्वैत-भावना है। हिन्दी के श्रव्य काव्यो मे रस की पूर्णता इसलिए नही है, क्योकि वे आनन्द की प्राचीन-धारा से विच्छिन्न है। इनमे चिरविरहोन्मुख प्रेम की भावना है। तात्विक तथा व्यावहारिक दृष्टि से इनमे आत्मा की अभिव्यक्ति पूर्ण न होकर एकागी रह गई है। पौराणिक साहित्य से लेकर आगे का अधिकॉश श्रव्य-काव्य, जिसे उन्होने 'पाठ्य काव्य' के नाम से पुकारा है, अद्वैत भावापन्न 'नाट्य रस' से हीन है। इनमे उनके शब्दो मे "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था (वह रहस्यात्मक प्रेरणा) नही है, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है।"[2]

प्रसाद जी भरत की भाति भावो को आत्मा का अभिनय मानते हैं (आत्माभिनय भावो, २६-३०)। उनका विचार है कि "भाव ही आत्म चैतन्य मे विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं।"[3] भावो की सृष्टि आत्मा के निजी अभिनय मे होती है। जब यह भाव आत्म चैतन्य मे विश्रान्ति पाकर रस हो जाते है, तब इन भावो का वैचित्र्य, अभेद या साधारणीकरण की दशा मे परिणत हो जाता है। इन भावो के

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६) पृ० ७९।

२ देखिए वही, पृ० ७१।

३. देखिए वही, पृ० ७९।

अभेद मे विशुद्र दार्शनिक अद्वैतवाद का भोग किया जा सकता है। इसे प्रसादजी 'देवनार्चन' तथा 'आत्म प्रसाद का आनन्द पथ' मानते है और इसी का आस्वाद ब्रह्मानन्द है। आगमो के दर्शन के अनुसार साधारणीकरण द्वारा, जो आत्मचैतन्य का, स्वानुभूति मे अथवा पूर्ण अह-पद मे विश्रान्त हो जाना है, प्रसादजी उसे ही स्वीकार करते है। इस प्रकार वे शुक्लजी की भाति रस को इसी लोक की अनुभूति का उदात्त रूप न मानकर, अभिनवगुप्त की भाति अद्वैत भावापन्न मानते है।[1] इनका विचार, श्यामसुन्दर दासजी से मेल खाता है। वे रस के मूल मे चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व मानते है।

प्रसादजी शुक्लजी की निम्न कोटि की रसानुभूति की कल्पना को नही मानते। वे समझते है कि नट से पाठक या श्रोता का साधारणीकरण होकर, जब अन्य भाव की उत्पत्ति होती है, तब उसे निम्न कोटि की अनुभूति न कह कर मुख्य रस की अनुभूति का सहायक मात्र माना जायेगा। उनका कथन है कि, "किन्तु रस मे फल भोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है, इन बीच के व्यापारो मे जो सचारी भावो के प्रतीक है, रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक मात्र ही है।"[2]

इसी प्रसग मे वे आधुनिक नाटको के चरित्र-चित्रण तथा व्यक्ति-वैचित्र्य का रस के सदर्भ मे विवेचन करते है। उनका विचार है कि वर्तमान साहित्यिक प्रेरणाओ के समान, व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण और यथार्थवादी काव्य मूल रूप मे सशोधनात्मक है। कही वे व्यक्ति मे सहानुभूति करके समाज का सशोधन करते है तथा कही समाज की दृष्टि से व्यक्ति का। किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी, वे दुख को अधिक प्रतिष्ठित करते है तथा निराशा को अधिक आश्रय देते है। इसलिए उनका विचार है कि "भारतीय रसवाद मे वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तिया, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती है। इसलिए वह वासना का सशोधन न करके, उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस सृष्टि वह करता है, उसमे व्यक्ति की विचित्रता तथा विशिष्टता हट जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओ को, एक धरातल पर एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बनकर तथा चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।"[3] भारतीय दृष्टिकोण, चरित्र चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन मानता है, साध्य नही। आत्मा की अनुभूति, व्यक्ति और उसके चरित्र वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है और इनको रस मे

---

१ देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६) पृ० ७१।

२ देखिए, वही, पृ० ८२।

३ देखिए वही पृ० ८६।

चमत्कार ले आने के लिए माध्यम मानती है। इस प्रकार प्रसाद जी रस की अनुभूतियो की नीची-ऊँची कोटिया न मानकर रस की एक ही पूर्ण अनुभूति मानकर, अन्य भावो को उसका सहायक मानते है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि ब्रह्मानन्द-सहोदर रस प्राकृतिक उपादानो से बना है, अलौकिक से नही, क्योकि प्राकृतिक वासनाओ तथा व्यवहारो का ही साधारणीकरण होता है। रस का हेतु प्राकृतिक वासनाओ का ही आत्म स्वरूप मे स्वीकार करना है। दार्शनिक रूप मे उनका कथन यह है कि आनन्द की सत्ता प्रकृति से वाह्य नही है। आनन्द की सत्ता मे प्राकृतिक उपादान का समन्वय ही अद्वैत तथा रस की स्थिति है। प्राकृतिक वासनाओ का जो साधारणीकरण, रस के रूप मे होता है, वह सत्य के श्रेय तथा प्रेय दोनो लक्षणो से युक्त होने के कारण, द्वैत से युक्त नही, वरन् आत्मिक अद्वैत से निष्पन्न है, जिसमे आत्म-सत्ता तथा प्राकृतिक सत्ता का समन्वय तथा एकीकरण है। यह रस कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नही है। यह तो आत्मा की मननशीलता का परिणाम है। इसी-लिए तो काव्य आध्यात्मिक वस्तु है, लौकिक नही। दार्शनिक रूप मे इसी प्रकार के प्रकृति के आत्मा मे पर्यवसान को अद्वैत तथा जगत् की आत्मा से भिन्नता को द्वैत मानते है। वे अद्वैत की सिद्धि ही काव्य तथा दर्शन का महान् लक्ष्य मानते है। वे रस का सम्बन्ध समरसता सिद्धान्त से जोडते है।[1] समरसता की स्थिति अभेदमय है। इसमे आत्म-चैतन्य रसानुभूति अर्थात् पूर्ण अहपद मे विश्रान्ति पा जाता है। साधारणीकरण की स्थिति मे पहुँचे हुए स्थायी भाव के द्वारा आत्म-चैतन्य को, केवल रस का ही आस्वाद होता है। यही श्रुतियो का आनन्दवाद है।

इस प्रकार प्रसाद जी ने रस का विवेचन दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया है और बताया है कि किस प्रकार श्रुतियो के आनन्दवाद को शैवाद्वैतवादियो ने अपनाया था तथा बुद्धिवादियो के द्वारा उसकी क्या स्थिति रही थी।[2]

नन्द दुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी को रस सिद्धान्त मान्य है। वे इसकी व्याख्या भारतीय प्राचीन रीति पर ही न करके अपने नए दृष्टिकोण तथा चिन्तन के आधार पर करते है। वे काव्य मे हृदय-स्पर्शिता तथा आह्लाद को अधिक महत्त्व देते है। इसको काव्य की आत्मा मानते हुए भी वे उसका अलौकिकत्व नही मानते हैं। उनकी दृष्टि मे रस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' नही है। उनका विचार है कि रस के अलौकिकत्व के आधार ने ही साहित्य मे बहुत पाखण्ड तथा अनिष्ट पैदा किया है। वे लिखते है कि

१. "इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता मे है। अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसो की व्याख्या मे उसी अभेदमय आनन्द रस को पल्लवित किया।" वही, पृ० ७१।

२ "यह रस बुद्धिवादियो के पास गया तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल मे चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है।" वही पृ० ७२-७३।

"अलौकिकता के नाम पर साहित्य मे बेधड़क लौकिकता ही बढ़ती गई और धीरे-धीरे उसने जो स्वरूप धारण किया वह बड़ा ही हेय हुआ। एक बार अलौकिकता की प्रतिष्ठा कर, न जाने कितने उच्छृंखल कवियो ने, न जाने कितनी 'सप्त शतियो' की सृष्टि की, जिनमें आदि से अन्त तक अलौकिक भाव का सम्पूर्ण अभाव रहा। ... इस प्रकार जन समाज का नियन्त्रण न रहने के कारण, कविता व्यक्तिगत हो गई और यही कारण है कि मध्यकाल की सस्कृत कविता मे ह्रासोन्मुख भारतीय जीवन की ही छाप देख पडती है।"[1] शकर, रामानुज तथा वल्लभ जैसे महापुरुषो के समय मे भी साहित्य पूर्णत कलुषित ही रहा, फिर भी उसे अलौकिक समझ कर उसके परिष्कार के सम्बन्ध मे किसी का ध्यान नही गया। उनका विचार है कि रस-सम्प्रदाय, साहित्य की अलौकिकता के विचार तथा अलौकिकानन्द-विधायक-रसवाद ने काव्य-समीक्षा को गिराने मे बहुत सहायता दी है। उनका विचार है कि रस-सम्प्रदाय ने रद्दी से रद्दी, भ्रष्ट से भ्रष्ट कविता की तथा उसे प्रोत्साहन देता रहा। न उसने उसका कोई मूल प्रतिकार किया, न प्रतिकार करना उसकी सीमा मे ही था।

वाजपेयी जी रस-सिद्धान्त के आधार पर प्रतिष्ठित प्रणाली को आधुनिक काव्यालोचन के अनुपयुक्त मानते है। उनका विचार है, कि "...रस-पद्धति की विश्लेषण-क्रिया मे आधुनिक समीक्षाकार विशेष लाभ नही उठा पाता। एक-एक पंक्ति अथवा चार-चार पंक्तियो मे रस ढूंढने की क्रिया अब पुरानी पड गई है। सैकडो, सहस्रो नायक-नायिकाओ के भेदो को जन-जीवन से अलग करके देखने मे क्या रखा है।"[2] उनका विचार है कि जब आधुनिक युग विराट् भावनाओ का युग है, तो प्राचीन रस-पद्धति की समीक्षा-प्रणाली अपने उसी रूप मे इस युग के वातावरण के अनुकूल किस प्रकार हो सकती है। आज के काव्यालोचन को नवीनतम तथा महत्तम आदर्शो के अनुकूल, व्यापक तथा सतर्क होना चाहिए। इसलिए रस-सिद्धान्त के स्वरूप मे भी व्यापकता तथा विशदता की सम्भावनाए है।

रस के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक है। वे काव्य की रसानुभूति को सार्वजनीन तथा सब वादो से ऊपर मानते है। वे रस के साधारणीकरण की क्षमता अच्छे बुरे, ऊँचे नीचे, सभी व्यक्तियो मे मानते है। यही उनके विचार से रस की ऊँचाई है। वे मानते हैं कि रस-सिद्धान्त, आजकल कलात्मक, मनोवैज्ञानिक और प्रगतिशील आधार पर प्रतिष्ठित होकर, युगानुकूल रूप धारण कर सकता है। उनका विचार है कि यदि रस-सिद्धान्त का आकलन पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त तथा काव्य की विभिन्न प्रणालियो के आधार पर होने लगेगा, तो इसमे सब प्रकार के साहित्य को अपनी सीमा मे समेटने की शक्ति आ जाएगी। वे रस को भारतीय

---

१ 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' (प्रथम संस्करण), पृ० ६७।
२. वही, पृ० ७२।

विचारधारा के अनुकूल, वेद्यान्तर सस्पर्शशून्यत्व और ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व के विशेषणो से पृथक् करके, उसकी सीमा का इतना विस्तार करना चाहते है कि उसमे भाव, रसाभास, भावाभास, अलकार, ध्वनि, वस्तु-ध्वनि सब ही समाहित हो सकें तथा रस केवल काव्य की आह्लादकता का द्योतक हो सके।

वैसे तो वाजपेयी जी रस, अलकार, नायक-नायिका-भेद को ही आलोचना के आधारभूत तत्व मानते है, पर इनके विवेचन के उस स्थूल रूप से उन्हे अरुचि है जो प्राचीन साहित्य मे परम्परागत रूप मे प्राप्त होता है। वे रस, अलकार आदि के लक्षण-ग्रन्थो को आलोचना के ग्रन्थ मानने मे भी सकोच करते है। वे रस का ऐसा विवेचन उचित मानते है, जिसमे केवल यह ही न देखा जाये कि किसी काव्य मे कौन-सा रस है, वरन् यह भी देखा जाए कि वह छिछला है अथवा गहरा है, उसकी अभिव्यजना शक्तिपूर्ण प्रणाली पर हुई है अथवा शक्तिहीन पर, उसका स्वरूप चाहे छिछला हो या सौम्य, पर उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है, किन परिस्थितियो की वह प्रतिक्रिया है तथा वह सामाजिक जीवन पर किस प्रकार का प्रभाव डालने मे समर्थ है। इस प्रकार के विषयो के तुलनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन के साथ-साथ रचनाकार की मानसिक-स्थिति का पता लगाना भी वे आवश्यक समझते है।

प्रेमचन्द जी

प्रेमचन्द जी रस को आनन्द प्राप्ति का विशिष्ट कारण मानते है। उनका विचार है कि सच्चा आनन्द देना साहित्य का उद्देश्य है और सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से ही मिलता है। जहा सुन्दर तथा सत्य विद्यमान होगा, वहाँ सच्चा आनन्द तथा रस अनिवार्य रूप मे होगा। वीभत्स रस मे आनन्द प्राप्ति का कारण यही है कि उसमे भी सुन्दर तथा सत्य विद्यमान रहता है। वे कहते है कि वीभत्स मे सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतो और पिशाचो का अधजले मास के लोथडे नोचना, हड्डियो को चटर-मटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए हुई है।[1]

इस प्रकार उनके विचार से जहाँ भी साहित्य मे सुन्दर तथा सत्य होगा वही रस तथा आनन्द होगा। जिस स्थान पर मनुष्य का उसके मौलिक, यथार्थ तथा अकृत्रिम रूप मे चित्रण है, चाहे वह राजा के महल का हो या रंक की झोपडी का, वही वे आनन्द, सुन्दर, सत्य तथा रस की विद्यमानता मानते हैं।

प्रेमचन्द जी रस का कृत्रिमता और आडम्बर से सम्बन्ध नही मानते। उनका विचार है कि जिस काव्य मे स्वाभाविकता तथा यथार्थता है, उसी मे रस तथा आनद

---

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (जीवन मे साहित्य का स्थान), सन् १९५४, पृ० २१।

है चाहे उसमे दु ख का वर्णन हो अथवा वीभत्सपूर्ण वस्तुओ का। इसी प्रकार वे अद्भुत रस को भी आनन्द देने वाला मानते है, क्योकि उसमे भी सुन्दर तथा सत्य का समावेश होता है। उनका विचार है कि "जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है, लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमे सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत-उद्योग, नाना प्रकार के कष्टो का झेलना, न्याय मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव रहे, जो अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते है।"[1]

प्रेमचन्द जी केवल शृगार रस को ही रस मानते है, क्योकि इसी मे सत्य तथा सुन्दर, अकृत्रिम तथा आडम्बरहीन रूप मे विद्यमान है। उनका कथन है कि "हमारा विचार है कि साहित्य मे केवल एक रस है और वह शृगार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नही रहता और न उस रचना की गणना साहित्य मे की जा सकती है, जो शृगार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावो को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नही है।"[2] इस प्रकार वे सारे साहित्य को ही शृगारमय मानते है, यद्यपि उन्होने इसका तर्कपूर्ण विश्लेषण नही किया है। उन्होने शृगार रस को सत्य, सुन्दर आनन्द तथा रस का पर्यायवाची ही मान लिया है। वे अन्य सारे रसो मे भी शृगार का ही समावेश मानते है। इस प्रकार उनका मत, भरत, भोज आदि आचार्यो से भिन्न है। शृगार को रसराज अथवा एकमात्र रस मानने की वो धारणा प्राचीन-साहित्य से चली आई है, रीतिकाल मे देव ने उसको विशेष मान्यता दी है। किन्तु रस को सत्य तथा सुन्दर का पर्याय मानने का हम केवल इतना ही तात्पर्य ग्रहण करते है कि रस की स्थिति, अद्वैत अथवा समरसता अथवा मुक्तावस्था की स्थिति होने के कारण, सत्य तथा सुन्दर की भी स्थिति है। इस प्रकार रस, सत्य तथा सुन्दर भी होता है। किन्तु रस को सत्य तथा सुन्दर का पर्याय ही मान लेना रस के तत्व को स्पष्ट रूप मे समझना नही है। प्रेमचन्द जी के रस-विवेचन मे इसीलिए एकागिता है। सुन्दर तथा सत्य का उनका अर्थ नैतिक दृष्टि से देखा हुआ सत्य तथा सुन्दर है। उन्होने सत्य तथा सुन्दर की व्यापक व्याख्या नही की है। इसी प्रकार उनका रस का यथार्थता, मौलिकता तथा स्वाभाविकता मे अटूट सम्बन्ध स्थापित करना भी एकागी है। रस का सम्बन्ध यथार्थवादिता के समान आदर्शवादिता से भी है। मौलिक के अतिरिक्त पुरानी बातो के वर्णन मे भी रस उत्पन्न हो सकता है। रस का सम्बन्ध यथार्थवादिता, मौलिकता आदि से स्थापित करने मे उसकी व्यापक-परिधि को सकुचित करना है। रस का सम्बन्ध सब प्रकार के साहित्य से हो सकता है।

० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मिश्र जी रस का सम्बन्ध काव्यानुभूति मे मानते है, जिसे वे प्रत्यक्षानुभूति से अधिक स्पष्ट मानते है। उनका विचार है कि रसानुभूति मे हृदय प्रवृत्तिमूलक तथा

---

१ 'साहित्य का उद्देश्य' (जीवन मे साहित्य का स्थान) सन् १९५४, पृष्ठ २१।
२ वही, पृष्ठ २१।

निवृत्तिमूलक, सभी प्रकार के भावो मे एक सी स्थिति से रमता है। पाठक का तादात्म्य होने के कारण, प्रत्यक्षानुभूति या भावानुभूति और रसानुभूति मे कोई विशेष अन्तर नही रहता है। भावानुभूति ही परिष्कृत रूप मे रसानुभूति हो जाती है। यह इसलिये परिष्कृत हो जाती है, क्योकि यह आनन्द-स्वरूप ही होती है। मन के इसी रमण के कारण अनुभूति को रस कहते है।

वे अन्य आचार्यो के विभिन्न मतो का निर्देश करते हुए शृगार-रस को ही रसराज मानते है। आलम्बन के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि विश्वचक्र के सभी गोचर, अगोचर, जड, चेतन पदार्थ आलम्बनरूप मे गृहीत हो सकते है। वे पाठक की ग्राहिका-शक्ति के लिए, कुछ विशेष प्रकार की योग्यताएँ भी आवश्यक समझते है। उन्होने भाव-कोटि तथा रस-कोटि का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि दर्शक या पाठक की अवस्था, काव्यगत पात्र से तादात्म्य होते हुए भी, कुछ भिन्न ही रहती है। उनका विचार है कि यद्यपि रस, प्रधान तथा गौण दो प्रकार के होते है और गौण-रस, प्रधान-रस मे सहायक होते है तथापि गौण-रसो का भी गम्भीरता से प्रयोग हो सकता है।[1]

डॉ० भगवान दास

डॉ० भगवान दास जी ने अपने 'दी सायस आफ इमोशस' नामक ग्रन्थ में अग्रेजी मे रस तथा भाव का विवेचन किया है। हिन्दी मे इस विषय पर उनका एक 'रस मीमासा' शीर्षक लेख द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ मे प्रकाशित हुआ है। इस निबन्ध से रस के प्रति उनके दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता चलता है। इसकी सामग्री का आधार विशेषरूप मे दार्शनिक ग्रन्थ ही है। इसमे प्राचीन साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थो का अपेक्षाकृत कम आधार लिया गया है। निबन्ध के प्रारम्भ मे ही 'रसो वै स' का उल्लेख शीर्ष वाक्य के रूप मे किया गया है। साहित्य तथा साहित्य के रस का अन्तर बताते हुए, वे सौहित्य मे जिह्वा का रस प्रधान मानते है तथा साहित्य मे मन का रस।[2]

वे भी रस को काव्य की आत्मा मानते है। उनकी रस की पहली परिभाषा यह है, "अस्मिता का अनुभव, आस्वादन, रसन ही रस है।"[3] उनका विचार है कि जैसे अति सौहित्य से (विशेपकर तीव्र रस वाले चटनी, आचार, खटाई, मिठाई के व्यजनो के अति भोजन से) शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से (अधिक मात्रा मे रसो और अलकारो की ही चर्चा से) चित्त मे आधि विकार, शैथिल्य, दौर्बल्य पैदा होते है।[4] उन्होने इस विचार का कोई कारण नही दिया है।

१. 'वाङ्मय-विमर्श' (स० २०००), पृ० १४२।
२. देखिए 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' (सन् १९९०), पृ० ४।
३. देखिए वही, पृ० ४।
४ देखिए वही, पृ० ४।

इस कथन में एक तो रसों तथा अलंकारों को एक ही स्तर पर खड़ा कर दिया है, जो असंगत है, दूसरे यह कैसे माना जा सकता है कि रसों में चित्त में आधि विकार आदि उत्पन्न होते हैं। वास्तव में इनसे तो चित्त में निर्मलता आती है। अरस्तू[१] आदि पाश्चात्य विद्वान तो काव्य के द्वारा, हृदय की वृत्तियों का, किसी न किसी प्रकार से परिमार्जन (कैथेरेसिस) होना मानते हैं। भारतीय आचार्य रस की अतिशयता से परमानन्द की स्थिति मानते हैं।

इस आस्वादन का स्वरूप तथा सार-तत्व वे "मैं क्रोधवान हूँ" (अहं क्रोधवान अस्मि) "मैं करुणावान हूँ" (अहं करुणावान अस्मि) अर्थात् 'मैं हूँ' आदि में बताते हैं। उनके विचार से इस "मैं हूँ" में जो रस बुद्धि है, उसी का पर्याय रस माना गया है। वे अहं की आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति को सत्, चित् तथा आनन्दमय मानते हैं, इसलिए उनके मत से 'अहं अस्मि' यही सन्मय, चिन्मय, आनन्द-रसमय है। वे मानते हैं कि आत्मा का किसी अनात्मा के बहाने से आस्वादन ही रस, लीला, क्रीडा तथा नटन है। सृष्टि के सारे तत्व 'अहम्' अर्थात् 'मैं' के अन्तर्गत ही है, इसलिए जो कुछ भी रस या आनन्द है, वह सब 'अहं' की ही छाया है।[२] इस प्रकार वे "अहंकार" को रस का मूल तत्व मानने वाले आचार्यों के अनुयायी है।

वे भी काव्य को ब्रह्मानन्द-सहोदर नहीं मानते। उनका मत है कि "ब्रह्मास्वाद या सहोदर काव्यास्वाद नहीं है, प्रत्युत उसका प्रतिबिम्ब, विवर्त, रूपक, नकल छाया-मात्र है। ब्रह्मास्वाद में वेद्यान्तर का निषेध, 'नेह नानास्ति किंचन' है। इसमें तो बिना विभाव आदि वेद्यान्तर के काम नहीं चलता। लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है? लोक में ही तो और लौकिक विशेष विशेष अनुभवों को लेकर ही तो काव्य-साहित्य के रस की चर्चा है।"[३]

वे काव्य का मुख्य प्रयोजन 'निर्वृत्तये' अर्थात् रस का आनन्द मानते हैं। स्थायी भावों के सम्बन्ध में उनका विचार है कि कुछ स्थायी-भाव की संज्ञाएँ रूपान्तर मात्र हैं, जैसे काम के स्थान पर रति, हर्ष के स्थान पर हास, दया के स्थान पर शोक, घृणा के स्थान पर जुगुप्सा का प्रयोग होता है। ऐसा क्यों होता है, इसका उन्होंने कोई कारण नहीं दिया है। वे इन शब्दों में कोई अन्तर ही नहीं मानते। उनका विचार है कि जैसे काम, समान की ओर, करुणा, हीन, दीन की ओर होती है, ऐसे ही भक्ति रस, विशिष्ट की ओर होता है तथा उसका स्थायी-भाव अमिश्र 'सम्मान' तथा 'पूजा' होता है। वात्सल्य में रस मानने पर वे इसका स्थायी-भाव शुद्ध अमिश्र 'दया' मानते

---

१ 'वाई रप्रेजेंटिंग पिटी एण्ड फीयर ट्रैजेडी एफेक्टस ए कैथेरसिस (परगेशन) आफ दीज फिलिंग इमोशन्स"

पोयेटिक्स आव अरस्तू नं०—एवरीमैन्स लाइब्रेरी (सन १९२३), पृ० ११९।

२. देखिए 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ० ८।

३. वही, पृ० ९।

है। उनके विचार से करुणा और वात्सल्य मे यह भेद है कि 'करुणा' मे दया पात्र मे शोक की और 'दयालु' मे अनुशोक, अनुकम्पा की मात्रा अधिक है और वात्सल्य मे यह बीजरूप से ही है। इसी प्रकार वे "उत्साह" नामक स्थायी-भाव मे दुष्टो पर क्रोध और उनका तिरस्कार तथा दीन पर दया आदि तीन भावो का मिश्रण मानते है। विस्मय के व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ 'स्मय' (अर्थात् गर्व का विरुद्ध भाव, एक प्रकार की नम्रता) बताकर वे मानते है कि विस्मय मे अपनी लघुता और अल्प-शक्ति के अनुभव के साथ-साथ विस्मय के विषय की ओर भय और आदर के बीच की अनिश्चितता की अवस्था रहती है। इसी प्रकार से 'शम' की उन्होने यह व्याख्या की है कि यह राग-द्वेष के विरोधी भाव का नाम है।

इसी प्रकार सचारी भावो के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "उनमे से प्रत्येक 'राग-द्वेष' के भाव (इच्छा) और उत्तम, मध्यम (सम) तथा अधम के ज्ञान की वृत्तियो के सकर से उत्पन्न होता है, और प्रत्येक को स्थायी बनाकर उससे जनित एक रस माना जा सकता है।"[1] उनका यह विचार शुक्ल जी से मिलता है, जो सचारियो की स्थायी मे भाव मे परिणति मानते है। इस प्रकार वे शास्त्रीय मर्यादा से भिन्न रसो के क्षेत्र के अनन्त विस्तार की सम्भावना मानते है तथा इस विषय मे भारतेन्दु से भी आगे निकल जाते है, जो केवल रसो की सख्या १४ मानते है।

रसो के सकर के सम्बन्ध मे भी उनका यह नवीन विचार है कि—जीवज्जग नाटकम्—मे सब रसो का सकर दिखाई पडता है। वे प्राचीनो के उस भेद को स्वीकार नही करते, जो विरोधी-रसो के आधार पर बना है तथा जिनका सकर अनुचित माना गया है। उनका यह विचार स्पष्ट नही है। रसो का सकर मानने से किस प्रकार रस के उत्कर्ष की हानि की सम्भावना बचती है, इसका उन्होने निर्देश नही किया है।

वे रसो के भी बहुत से अवान्तर भेद मानते है। उनका विचार है कि जैसे प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक स्थायी रस होता है, वैसे ही प्रत्येक सचारी या व्यभिचारी भाव के साथ एक सचारी या व्यभिचारी रस होता है। उन्होने इन विषयो के विचार का भी प्रश्न उठाया है कि सब रस परस्पर भिन्न और स्वतत्र है या नही। इनमे राशिकरण हो सकता है अथवा परापर जाति का सम्बन्ध है या नही। इसका कोई उत्तर न देकर, वे लिखते है कि रस के स्वरूप की भी मीमासा करने से स्यात् पता चले कि एक से सब नौ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई अथवा एक से दो या तीन, और दो या तीन से चार या छ या नौ इस क्रम से परापर जाति और विशेष के रूप मे जन्म हुआ।"[2]

रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वे कहते है कि अबुद्धिपूर्वक, अनिच्छापूर्वक स्वाद नही, किन्तु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, आस्वादन की अनुशयी चित्त-वृत्ति का नाम

---

१ 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' (स० १९९०), पृ० ६।

२. वही, पृ० ६।

रस है। भाव (क्षोभ, सरभ, सवेग, उद्वेग, आवेश, अग्रेजी मे इमोशन) का अनुभव रस नही है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसवेद, आस्वादन, रसन, रस है—'भावस्मरण रस ।'[1] इस प्रकार वे स्वाद तथा रस के आस्वादन मे अबुद्धि तथा बुद्धि, अनिच्छा तथा इच्छा का अन्तर मानते है तथा रस को आस्वादन की अनुशयी चित्त-वृत्ति कहते है। उन्होने प्रतिसवेदन, आस्वादन, रसन तथा स्मरण सबको पर्याय ही मान लिया है। भावो का स्मरण, रस के आस्वाद की सीमा मे किस प्रकार आ सकता है, इसका विवेचन करना वे छोड गए है। भाव का स्मरण तो भाव ही होगा, वह रस किस प्रकार से हो सकेगा, यह उन्होने स्पष्ट नही किया है।

वे नौ रसो की दो राशिया अथवा जातिया मानते है, तीन-तीन शुद्ध प्राय: रसो की तथा तीन मिश्र रसो की होती हैं। अपने सम्पूर्ण लेख का साराश वे अन्त मे इन शब्दो मे देते है, "ससार नाटक का लीला बुद्धि से प्रवर्तन और परमानंद तथा परमात्मानन्द का आस्वादन ·· ·····यह परमार्थ रस है और जीवात्मानन्द के छ: मुख्य अवान्तर असख्य मिश्र स्थायी भावो का आस्वादन······ ··यह काव्यशास्त्र मे व्यवहृत स्वार्थ रस है।"[2]

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी प्रधानत रसवादी है। वे रस के परिपाक मे अलकार, व्यंजना, छन्द, तीनो का सामजस्य स्वीकार करते है। उनका विचार है कि अलकार, छन्द, तथा लक्षणा, व्यजना आदि शब्द-शक्तिया, काव्य मे भावो की अभिव्यक्ति मे सहायक तथा रस का सवर्द्धन करने वाली होती है।[3] वे मानते है कि रस की ध्वनि के अवसर पर केवल रस ही ध्वनित होता है और उसी की अनुभूति प्रमुख होती है तथा उसके अन्य उपादानो का ज्ञान नही रहता।[4]

---

१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' (स० १९९०) पृ० ७।

२ वही, पृ० ९।

३. देखिए 'पल्लव' की भूमिका (१९२६), पृ० २६।

४ "कविता मे शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतत्र सत्ता नही रहती। वे दोनो भाव की अभिव्यक्ति मे डूब जाते है ·· ·· ··किसी के कुशल-करो का मायावी-स्पर्श उनकी निर्जीवता मे जीवन फूंक देता, वे अहिल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हे पाषाण-खण्डो का समुदाय न कह कर ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते है। जिस प्रकार सगीत मे भिन्न-भिन्न स्वर, राग की लय मे ऐसे मिल जाते है कि हम उन्हे पृथक् नही कर सकते, यहा तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता···उसी प्रकार कविता मे भी शब्दो के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप मे बहने लगते, उनकी लगडाहट मे गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते है, कणों का हमे अस्तित्व ही नही मिलता। 'पल्लव' की भूमिका (१९२६), पृ० २७-२८।

लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'

'सुधाशु' जी भावो की विभिन्नता का कारण निर्देश करते हुए कहते है कि "राग और द्वेष जीवन के दो प्रमुख तत्व हैं। इन्ही दो तत्वो से हृदय के अगणित भावो की उत्पत्ति होती है। साहित्य-शास्त्र की रस पद्धति भी इन दो ही तत्वो पर अवलम्वित है। जीवन के व्यवहार मे व्यक्ति की विशिष्टता, समानता तथा हीनता के अनुसार इन तत्वो मे भी मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं। विशिष्ट के प्रति राग सम्मान, समान के प्रति प्रीति तथा हीन के प्रति करुणा हो जाती है। द्वेष तत्व भी इसी प्रकार विशिष्ट के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध तथा हीन के प्रति दर्प के रूप मे परिर्वातत हो जाता है। आलम्वन की भिन्नता के कारण, राग और द्वेष के भावो मे उपर्युक्त रूपान्तरो की वात विचित्र होने पर भी सत्य है। जीवन के विविध क्षेत्रो मे भावो के परिवर्तन देखे जाते है। आलम्वन की विभिन्नता के अतिरिक्त उसके या उसकी समानता के प्रति भी आश्रय के हृदय मे पूर्वापर विरोध-सम्पन्न भाव भी जन्म लेते हैं।"[1]

'सुधाशु' जी की दृष्टि मे सच्चा काव्य वही है, जिसमे विपरीत भावो के वृत्ति-चक्र का वर्णन रहता है। भावो के ऐसे अन्तर्द्वन्द्व से जीवन मे शक्ति और सजीवता आती है। वे हृदय के भावो के भिन्न-भिन्न वृत्ति-चक्रो को समस्त मानव सृष्टि मे एक ही प्रकार के उपकरणो से वना हुआ मानते है। जीवन मे कर्मो की एकरूपता दिखलाई पड़ती है, इससे भावो की एकरसता का प्रमाण मिलता है। उनका विचार है कि प्रत्येक कर्म के मूल मे किसी न किसी प्रकार का भाव छिपा हुआ है। भाव से ही कर्म का विधान होता है। इसलिए भारतीय रस-पद्धति का अनुभाव भी शारीरिक विकार होने के कारण कर्म की ही श्रेणी मे आता है, क्योकि इसके मूल मे भी भाव है।

'सुधाशु' जी दो प्रकार के भाव मानते हैं—एक शक्त तथा दूसरे अशक्त। क्रोध, उत्साह, साहस आदि शक्त भाव है तथा करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि 'अशक्त'। वे सहृदयता उसी को मानते है जहां हृदय की सारी वृत्तियो की स्थिति हो। उनके विचार से भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग मे अन्तर है। हम भावो के आवेग के ही कारण कार्य मे प्रेरित नही होते, वरन् अचेतन रूप मे भी स्वभावगत कार्य की ओर प्रेरित होते है। संसार की प्राय. सभी वस्तुओ से आनन्द और विषाद का भाव ग्रहण होता है। जीवन के साथ विषाद का सम्वन्ध भी उतना ही गहरा है, जितना आनन्द का। उनका कथन है कि "काव्य का आनन्द जीवन का स्वार्थ है। परन्तु यह स्वार्थ परमार्थ की परिधि के भीतर रहता आया है। स्थायी आनन्द-वृत्ति, जव जीवन और जगत् के किसी आधार को पाकर जाग्रत होती है तव प्रफुल्लता

---

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० ६।

होती है और विषाद मे झुंझलाहट। ऐसे मनोभाव अपनी मूल वृत्तियो की स्थिति को सूचित करते है।"[1]

प्रत्येक भाव का सस्कार बीज रूप से मनुष्य के चित्त पर अंकित रहता है। अनुकूल सवेदन से वह सस्कार जाग्रत होकर वृत्ति-चक्र की तरह अपने सजातीय संस्कारो को भी प्रबुद्ध करने लगता है। इस प्रकार स्थायी भाव के अनुकूल सचारी भाव उत्थित होकर शरीर-चेष्टा के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करते है। यह सब क्रियाए चित्त की सत्व-गुण-प्रधान अवस्था मे ही होती है, क्योकि सत्वोद्रेक ही रस है। चित्त और शरीर की प्रकृति के अनेक रूपो तथा परिस्थितियो के अनुसार ही जीवन के तत्व हैं, जिनका सम्बन्ध सचारी भावो से है। जीवन के आह्लाद को ग्रहण करने की मनुष्य मे जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उसके कारण वह बुद्धि के द्वारा आनन्द ग्रहण करता है। मन की रस सग्रहिणी प्रवृत्ति ऐसी होती है, जो वर्णन के अनुकूल ही परिस्थिति का काल्पनिक-विधान कर लेती है।

शरीर विज्ञान का रस-पद्धति से सम्बन्ध स्थापित करते हुए सुधाशु जी कहते है कि, "शरीर विज्ञान के अनुसार किसी बाह्य घटना, दृश्य आदि का जो प्रभाव चित्त पर कल्पित होता है, उसका दबाव वायु-कोष, फुफ्फुस पर पड़ता है और तदनुसार ही रक्त-सचालन की गति तीव्र या मन्द हो जाती है। रति भाव मे जहा रक्ताधिक्य होता है, वहा भय मे रक्ताभाव। दोनो के परिणाम मुखाकृति पर स्पष्ट लक्षित होते है। रक्ताधिक्य तथा रक्ताभाव दोनो ही स्थितियो मे रक्तविकार के रूप मे पसीना निकलता है। रति, क्रोध, शोक तथा भय के कारण मनोवेग की तीव्रता से रक्त-सचालन की साधारण गति मे जो व्यवधान होता है, उससे प्रस्वेद निकलने लगता है। चित्त और शरीर की इसी प्रकृति का विधान साहित्य-शास्त्र मे रस निरूपण के नाम पर है। सात्विक प्रस्वेद, रोमांच, स्वरभग, वेपथु आदि के तत्त्व इसी प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखते है।"[2] इस प्रकार भावो की वृत्तिया रस-पद्धति के अनुभावो मे प्रत्यक्ष हो जाती है।

वे रस-पद्धति को मानसिक व्यायाम मानते है। विभिन्न भावो का विन्यास मानसिक-शक्ति का विकास करता है। काव्य के अन्तर्गत आनन्द तथा विषाद दोनो का रासायनिक मिश्रण होता है। यह दोनो तत्व भिन्न होते हुए भी किसी मानसिक स्थिति मे एक हो जाते है। उनके विचार से काव्य के रस का मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि जीवन के प्रत्येक कर्म के मूल मे आनन्द प्राप्ति की प्रेरणा है। यहा तक कि स्वपीडन तथा परपीडन भी आनन्द की कामना से किए जाते है। काव्य के रस का आनन्द भी इससे पृथक् नही है।

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० २०।
२. देखिए वही, पृ० २२९।

रसास्वादन के मूल आधार के सम्बन्ध मे सुधाशु जी का विचार है कि काव्य का रसास्वादन मन के अतिरिक्त ओज के आधार पर ही होता है। पाठक यह समझता है कि यह आनन्द उसे काव्य के द्वारा प्राप्त हो रहा है, पर वास्तव मे मन के बचे हुए ओज से ही उसे काव्य का आनन्द आता है। काव्य की यह क्षमता है कि वह मन के ओज की सवेदना को उभाड देता है। काव्य मे आनन्द इसीलिए नही माना जाता कि यदि इसमे ही आनन्द मान लिया जाए, तो एक ही प्रसग को पचासो बार पढने पर भी उसमे एक सा ही आनन्द आना चाहिए। पर ऐसा होता नही है। जिसके हृदय मे जितना ही ओज सचित होगा वह उतना ही काव्य का आनद भोग सकता है। आनन्द को प्राप्त करने तथा विषाद को दूर करने मे हमारे ओज का व्यय होता है, और इन दोनो स्थितिथो मे हमारी मानसिक वृत्तिया सक्रिय रहती है। उनका विचार है कि काव्य, पाठक के हृदय मे नया भाव नही भरता वरन् केवल उसके ही अनुभूत भाव को जाग्रत कर देता है। इस सम्बन्ध मे वे लिखते है कि "किसी नायक-नायिका के प्रेम वर्णन को पढ कर या सुनकर पाठक या श्रोता उसके सुख से अपने को सुखी नही मानता वरन् उस वर्णन से उसके अपने हृदय का ही भाव जाग्रत होकर उत्तेजित हो जाता है और उसे रस की प्रतीति होने लगती है। यदि ऐसे सुख की वासना का सस्कार पाठक या श्रोता के हृदय पर नही है, तो काव्य के ऐसे वर्णन से उसका मनोरजन नही हो सकता।"[1] इनका यह विचार अभिनवगुप्त के मत से भिन्न नही है। अन्तर केवल यह है कि अभिनवगुप्त सब प्रकार के भावो को वासना-रूप मे हृदय मे सुप्त मानते है तथा सुधाशु जी का विचार है कि कुछ भावो का सस्कार पाठक के हृदय मे न भी हो सकता है। उन्होने इसका कोई तर्क प्रस्तुत नही किया कि कुछ भाव वासना रूप मे हृदय मे क्यो स्थित नही होते है। वास्तव मे सभी भाव वासना रूप मे स्थित रहते है, किन्तु प्रत्येक हृदय के सस्कार विभिन्न रहते है। ये उसके व्यक्तित्व से श्लिष्ट रहते है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी मानसिक स्थिति तथा बुद्धि का स्तर भिन्न रहता है, उसी प्रकार उसकी वासनाओ के सस्कार भी भिन्न रहते हैं।

उनका विचार है कि कला तथा साहित्य मनुष्य के ओज से ही जन्म लेते है तथा ओज के द्वारा ही उनका रसास्वादन होता है। यह ओज कदाचित् अग्रेजी शब्द 'एनरजी' का पर्याय है। जिस मनुष्य का ओज जीवन की स्थूल आवश्यकताओ की पूर्ति मे समाप्त हो जाता है, वे मनुष्य न कला की सृष्टि कर सकते है न उसका आनन्दोपभोग ही। ओज का सम्बन्ध कवि-कौशल से भी है। कवि का कौशल इस बात मे है कि वह उन बातो का केवल सकेतमात्र दे अथवा पूर्ण उपेक्षा ही कर दे, जिनके बिना कविता का काम चल सकता है। इससे न पाठक के ओज का व्यय होता है, न कवि के ओज का, क्योकि काव्य मे जहा सकेत या उपेक्षा रहती है, वहा

---

१. 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त (सन् १९४२), पृ० ७०।

उस अ श की पूर्ति पाठक अपनी बुद्धि से कर लेता है। मानसिक ओज के व्यय से ही काव्य के आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार लक्षणा, व्यजना, प्रतीक-विधान तथा काव्य के अन्य कौशलो से प्राय प्रत्येक का ही ओज के उपयोग के साथ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। इस प्रकार सुधाशु जी ने रस-विवेचन मे मनोविज्ञान का आधार लेकर नवीन-विचारो का समावेश किया है। इनके रस-विवेचन मे नवीन-चिन्तन के परिणामस्वरूप मौलिकता का समावेश हो गया है।

रस की प्रतीति मे मनोरजन का स्थान निर्धारित करते हुए वे कहते है कि "मनोरजन का प्रयोजन चित्त-वृत्ति को रस दशा की उस भाव-भूमि पर पहुचाकर सलग्न रखना है, जहा काव्य के मूल भाव से प्रभावित होते समय, पाठक या श्रोता की चित्त-वृत्ति इधर-उधर न हो जाय। मनुष्य की चित्त-वृत्ति इतनी व्ययाकरणात्मक है कि जब तक इस पर किसी प्रकार का मधुर प्रतिबध नही रखा जाय या उसके सामने कोई प्रलोभन या आकर्षण न रखा जाय, तब तक वह एक स्थिति मे कुछ देर के लिए भी नही रह सकती।"[1]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने 'सूर साहित्य' नामक पुस्तक मे 'भक्ति तत्व' का विवेचन करते हुए भक्तो के परम्परागत रस सम्बन्धी विचारो को भी व्यक्त किया है। वे आलकारिको तथा भक्ति-शास्त्रियो के रस सम्बन्धी दृष्टिकोण का यह अन्तर बताते है कि आलकारिक, कृष्ण-सम्बन्धी-देवादि-विषयक-रति को भाव कहते है (रतिर्देवादि विषयाभाव प्रोक्त —काव्य प्रकाश) तथा भक्ति-शास्त्री उसे भाव ही नही रस भी कह सकते है। इन दोनो की रति मे भी अन्तर है। स्त्री पुत्रादिक के प्रति जो रति है वह बद्ध-जीव की जडविषया-रति है पर श्रीकृष्ण के प्रति भक्त की रति चिद्विषया होती है। इस प्रकार से उन्होने भक्ति तथा काव्य के रस की पृथकता मानकर यह माना है कि "भक्तो के रस मे और काव्य-रस मे भेद यह है कि भक्ति का रस चिन्मुख होता है, आलकारिको का रस जडोन्मुख भी होता है।"[2]

रति भाव, विभाव, अनुभाव सात्विक, तथा व्यभिचारी भावो से स्वाद्य होकर भिन्न-भिन्न पाच स्वभावो को ग्रहण करता है, शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर स्वभाव। इन पाच स्वभावो के अनुसार ही रति भी पाच प्रकार की है, शान्त दास्य या प्रीति रति, सख्य या प्रेम रति, वात्सल्य या अनुकम्पा रति तथा कान्त या मधुरा रति। भक्ति-शास्त्रियो ने रति को शृगार और शात के अतिरिक्त अन्य सात रसो के अनुसार भी विभक्त किया है। जब ससार से विरत होकर चित्त-वृत्तियां भगवान् के ज्योति स्वरूप मे लीन हो जाती है, तो उसे शात-रस कहते है। प्रीति

---

१ 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० ७१-७२।
२. देखिए 'सूर साहित्य' (सं० १९९३), पृ० ३९।

या दास्य रस मे सम्भ्रम और गौरव नामक दो भाव रहते हैं। सख्य रस मे भक्त-कृष्ण के प्रियवयस्यो का अभिमानी होकर भजन करता है। वात्सल्य-रस मे माता-पिता आदि गुरुजन वत्सल-रूप से उनसे प्रेम करते है। मधुर-रस भक्ति-शास्त्र का सबसे श्रेष्ठ और अन्तिम रस है।[1] इसमे भक्त, राधा भाव से भजन करता हुआ आनन्दघन एकरस परब्रह्म श्रीकृष्ण को धाता है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने रति-भाव की व्यापक व्याख्या करके, शृगार के महत्व का ही प्रतिपादन किया है। उन्होने आलकारिको तथा भक्ति-शास्त्रियो के रस की पृथकता दिखाने का पहली बार प्रयत्न किया है। हिन्दी मे आलोच्य-काल से पूर्व भी आलोचको का इस विषय पर अधिक ध्यान नही गया कि वे आलकारिको के रस तथा भक्ति-रस का पारस्परिक गम्भीर विवेचन करते।

द्विवेदी जी का विचार है कि रस नाटक का ही विषय था, क्योकि आलकारिको ने रस-सूत्र की व्याख्या मे दर्शको के मन मे ही रस की बात कही है। उनका विचार है कि जैसे नाटको मे रस की मान्यता रही है वैसे ही स्फुट-काव्य मे केवल अलकार का ही स्थान माना जाता रहा है। वे रुय्यक का प्रमाण देकर यह बताते है कि रस को पहले काव्य—अर्थात् स्फुटश्लोक— का विषय नही माना जाता था।[2] उनके मत से 'साहित्य दर्पण' मे पहली बार अलकार-शास्त्र मे 'नायिका-भेद' का प्रवेश हुआ तथा पद्रहवी शताब्दी मे ही अलकार तथा नायिका-भेद एक साथ विविक्त हुए।

द्विवेदीजी रस-सम्प्रदाय के लिए यह एक नवीन और महत्त्वपूर्ण घटना मानते है कि मध्य-युग मे हिन्दी साहित्य मे रस के साथ धार्मिक और दार्शनिक साधना के परम लक्ष्य का भी एकीकरण हो गया। उनका विचार है कि ससार की साहित्यिक साधना मे हिन्दी की यह महान् देन है।[3] द्विवेदी जी के रस सम्बन्धी विचार, उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत ही मिल जाते है। उन्होने रस पर सैद्धान्तिक रूप मे पृथक् नही लिखा है। पर आलकारिको तथा भक्ति-शास्त्रियो के रस-सम्बन्धी दृष्टिकोणो का निर्देश उनके मौलिक-चिन्तन का सूचक है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

द्विवेदी जी काव्य का आदि-रस शृगार मानते है। उनका विचार है कि इसकी परिपूर्णता भक्ति मे है। वे समझते है कि इस रस के विरह-पक्ष मे जीवन की वेदना अधिक गम्भीर रूप मे प्रस्तुत होती है। उनका विचार है कि शृगार और भक्ति के साथ ही शान्त, करुण और वात्सल्य भी मानव हृदय के कोमल रस है। वे रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसो की यह सार्थकता मानते है कि वे अपनी उत्कृष्टता

१ देखिए 'सूर साहित्य' (स० १९९३); पृ० ४०-४१।
२. वही, पृ० ८१।
३. वही, पृ० ८३-८४।

से मनुष्य को कोमल रसो के लिए लालायित कर देते है। भावो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "भाव तो अभावमय जीवन के भीतर से ही, विरहोद्गार की भाँति प्राणो को विदीर्ण करके बाहर निकल पडते है।"[1]

डॉ॰ नगेन्द्र

नगेन्द्र जी साहित्य का लक्ष्य आनन्द मानते है। उनका विचार है कि जो साहित्य मनुष्य को जितना अधिक गहरा तथा स्थायी आनन्द दे सकता है, वह उतना ही महान् है। वे साहित्य के मूल्याकन की कसौटी रस या आनन्द ही मानते है। उनका कथन है कि "काव्य रसात्मक है, सदैव रहा है और आशा यही है कि रहेगा भी। जिसमे रस नही है, वह अपने उच्च सिद्धान्तो या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊँची वस्तु हो जाय, पर काव्य नही हो सकता।"[2] वे प्रगतिवादी साहित्य मे रस का परीक्षण उसकी सीमाओ को स्वीकार करते हुए ही करना उचित समझते है। प्रगतिवादी साहित्य मे जहाँ अनुभूति की तीव्रता और आत्माभिव्यक्ति की निष्कपटता है, वहाँ ही रस होगा, क्योकि ऐसे ही स्थल पर काव्य, रस या आनन्द की उत्पत्ति के योग्य हो सकता है।

इस प्रकार आधुनिक आलोचको ने रस के विवेचन का सब दिशाओ मे विशेष प्रसार किया है। उन्होने रस के विभिन्न अवयव, भाव, संचारी भाव, स्थायी भाव आदि की व्याख्या अपने ढग से की है। पूर्व आलोच्य-काल मे जिस प्रकार भावो की व्याख्या, विभिन्न आचार्यो के मतानुसार ही की जाती थी, ऐसा इस युग मे नही हुआ। आचार्यो ने भाव को रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ मे ही ग्रहण किया था। उन्होने मनोवेग, मनोविकार, मनोवृत्ति या भाववृत्ति आदि का विवेचन न करके भावो का वर्णन केवल स्थायी तथा सचारी के रूप मे विभाजित करके ही किया था। हिन्दी मे भी वही क्रम आधुनिक रीतिकारो द्वारा चलता रहा किन्तु इन आधुनिक आलोचको ने मनोविज्ञान के आधार पर भावो का सूक्ष्म विवेचन किया है। भावों के आधार, विस्तार, स्वरूप, प्रक्रिया, प्रकार, मूल-शक्ति आदि का विवेचन इन आलोचको की निजी विशेषताएँ है। इस विवेचन मे मैक्डूगल, डेंरड, स्टाउट, ड्रीवर आदि मनो-विज्ञान-शास्त्र के विद्वानो के विचारो का भी पर्याप्त आधार लिया गया है।

कुछ लेखको ने भरत के मतानुसार भावो को आत्मा का अभिनय ही माना है[3]। कुछ ने उन्हे मन का विकार मात्र ही कहा है।[4] भावो का मनोविकारो, मनो-वृत्तियो आदि से तुलनात्मक अध्ययन आलोच्य-काल के पश्चात् पं॰ नन्ददुलारे

१. 'कवि और काव्य' (सन् १९३६), पृ॰ ४।
२ 'विचार और अनुभूति' (सन् १९४५), पृ॰ ६८-६९।
३. देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स॰ १९९९), पृ॰ ७९।
४. देखिए 'साहित्यालोचन' श्यामसुन्दर दास (सं॰ १९९९), पृ॰ २६३।

वाजपेयी, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र, गुलाबराय, डा० राकेश गुप्त, प० रामदहिन मिश्र आदि विद्वानो ने जिस प्रकार से किया, उसका प्रारम्भ इन आलोचको द्वारा होने लगा था, किन्तु इन्होने मनोवृत्ति तथा स्थायी भाव का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार प्रस्तुत नही किया, जैसा परवर्तीकाल मे किया गया।

श्यामसुन्दर दास जी ने भावो की व्युत्पत्तिगत परिभाषा भरत के अनुसार यही दी कि वाणी, अग-रचना और अनुभूति के द्वारा काव्यार्थों की भावना कराने के कारण ही यह भाव कहलाते है। शुक्ल जी ने भावो को सवेदना के स्वरूप की व्यजना करने वाला कहा है।[1] इन लेखको ने भावो के विस्तार का भी निश्चय किया है। शुक्ल जी ने भाव के अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रवृत्ति तथा शरीरधर्म सवको सम्मिलित किया है। उन्होने भावो को बोधमात्र न मानकर ऐसी वेगयुक्त जटिल अवस्था विशेष माना है, जिसमे शरीर वृत्ति तथा मनोवृत्ति दोनो का योग रहता है। वे भावो का उतना ही विस्तार मानते हैं, जितना मनुष्य के ज्ञान का विस्तार होता है। उनका विचार है कि ज्ञान क्षेत्र (बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक) के विस्तार के साथ-साथ हृदय का विस्तार होना भी आवश्यक है।[2]

इस काल मे भावो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक आधार ग्रहण किया गया। डॉ० भगवान दास का शेण्ड की भाँति विचार है कि प्रत्येक भाव की उत्पत्ति राग-द्वेष के भाव अर्थात् इच्छा और उत्तम, मध्यम तथा अधम के ज्ञान की वृत्तियो के सकर से होती है। शुक्लजी भी भावो का आधार ज्ञान ही मानते है। उनका कथन है कि "मनोविज्ञान के अनुसार भाव कोई एक अकेली वृत्ति नही है, वरन् एक वृत्ति-चक्र (सिस्टम) है जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (कागनीशन), इच्छा या सकल्प (कानेशन), प्रवृत्ति (टेन्डेन्सी) और लक्षण (सिस्टम) ये चार मानसिक या शारीरिक वृत्तियाँ आती है।"[3] 'सुधाशु' जी भी भावो की उत्पत्ति राग तथा द्वेष नामक जीवन के दो प्रमुख तत्वो से मानते है। वे सम्पूर्ण रस-सिद्धान्तो को इन्ही दो तत्वो पर आधारित करते है। उनका विचार है कि व्यक्ति की विशिष्टता, समानता तथा हीनता के अनुसार इन भावो मे परिवर्तन हो जाता है। जैसा आलम्बन होता है, आश्रय के भी भाव उसी के अनुकूल बदलते रहते है। वे प्रत्येक कर्म के मूल मे भाव की विद्यमानता मानते है तथा सच्चा-काव्य उसी को कहते है, जिसमे भावो के वृत्ति-चक्र रहते है। उनका विचार है कि प्रत्येक-भाव का सँस्कार वीज रूप मे मनुष्य के चित्त पर अकित रहता है तथा वृत्ति-चक्र की भाँति जाग्रत होकर अपने सजातीय सस्कारो को प्रबुद्ध कर देता है। वे सब मनोवेगो को आकर्षण या विकर्षण का रूप बताते हैं। वे कर्मो की एकरसता के कारण भावो

---

१. 'चिन्तामणि' भाग २ (सं० २००२) पृ० १०९।

२ देखिए वही, पृ० ११२।

३. देखिए वही, पृ० १९७।

की एकरसता भी मानते है । इस प्रकार इनका मत पाश्चात्य विद्वान शेन्ड से मिलता है ।[1] शुक्ल जी ने भाव तथा कल्पना को अन्योन्याश्रित माना है । परम्परागत स्थायी तथा सचारी भावो के अतिरिक्त 'सुधाशु' जी ने दो प्रकार के भाव माने है, पहले शक्त जैसे क्रोध, उत्साह तथा साहस और दूसरे अशक्त जैसे करुणा, दया तथा क्षमा। आलोच्य-काल के पश्चात् भावो का जैसा विवेचन मनोविज्ञान के आधार पर किया गया, इस समय उसका केवल प्रारम्भिक रूप ही दिखाई पडता है । शुक्ल जी ने मनोवेगो (इमोशन्स) तथा भाव-वृत्तियो का पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर अन्तर स्पष्ट करते हुए भाव-वृत्ति मे स्थायित्व तथा मनोवेगो मे अस्थिरता मानी है । वे बैर नामक स्थायी वृत्ति को क्रोध का अचार या मुरब्बा मानते है । इन्होने भी सस्कृत आचार्यो की भाँति भाव का ही विवेचन विशेष रूप से किया तथा स्थायी और सचारी भावो के विवेचन को विस्तार नही दिया । इनके द्वारा सचारी भावो तथा मनोविकारो (इमोशन्स) और स्थायी भावो तथा मनोवृत्तियो (सेन्टीमेन्टस) का भी तुलनात्मक विवेचन नही हुआ ।

संचारी भाव

इन आलोचको ने प्राय स्थायी तथा सचारी भावो की परम्परागत परिभाषा को ही स्वीकार किया । इन भावो का मनोवैज्ञानिक आधार पर जैसा वर्गीकरण आगे चल कर हुआ, इस काल मे नही हुआ । सचारी भाव मनोविकार है या बुद्धि की वृत्तिया, वे शरीर के धर्म हैं या ज्ञानात्मक दशाएँ आदि प्रश्नो पर जैसा परवर्ती काल मे विचार हुआ वैसा इन आलोचको ने नही किया । शुक्ल जी ने इस सम्बन्ध मे एक नवीन बात यह कही कि सचारी भाव भी किसी स्थिति मे स्थायी बन सकते है । परवर्ती काल मे कुछ विद्वानो ने यद्यपि इसका भी विरोध किया ।[2] सचारी भावो की सख्या के विस्तार का प्रयत्न भी इन आलोचको द्वारा हुआ । श्यामसुन्दर दास जी ने इनके विस्तार की आवश्यकता बताई । शुक्ल जी ने चकपटाइट, उदासीनता तथा अनिश्चयवाचक नवीन सचारियो का उल्लेख किया, जो परम्परागत ३३ सचारियो के बाहर हैं । शुक्ल जी ने यह भी माना है कि एक सचारी भाव दूसरे सचारी भाव का स्थायी भाव हो सकता है । यह सचारी भाव स्थायी भाव का सा अनुभव तो करा सकता है, पर रसदशा तक नही पहुँचा सकता ।[3] श्यामसुन्दर दास जी सचारी तथा

---

१ "सेन्टीमेन्ट इज़ एन एक्वायर्ड डिसपोजीशन, वन ग्रैजुअली बिल्ट अप थ्रू मैनी इमोशनल एक्सपीरियेन्स एण्ड एक्टीविटीज, इट इज एन ओरगेनाइज़ेशन" शेन्ड 'करेक्टर एण्ड दि इमोशन'—(माइन्ड), भाग ५, सख्या १८ तथा देखिए 'फाउन्डेशन्स आव करेक्टर'—शेन्ड ।

२. देखिए 'काव्य दर्पण' रामदहिन मिश्र (१९४७), पृ० १११ ।

३. 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६) रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३४, १५० ।

स्थायी भावो मे केवल इतना भेद मानते है कि सचारी के विभाव अल्प होते है तथा स्थायी के कुछ बढे-चढे। प्रसाद जी शुक्ल जी की मध्यमकोटि की रसानुभूति को भी सचारी भावो का प्रतीक मानते है। डा० भगवानदास प्रत्येक सचारी भाव को स्थायी बनाकर उससे जनित एक सचारी-रस की सम्भावना मानते है। उनका विचार है कि सचारी भाव, राग, द्वेष के भावो तथा ज्ञान की वृत्तियो के सकर से उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दो मे वे ज्ञान (कोगनीशन) तथा इच्छा (कोनेशन) के आधार पर निर्मित होते है। 'सुधाशु' जी चित्त और शरीर की प्रकृति के अनेक रूपो तथा परिस्थितियो के अनुसार सचारी भावो की उत्पत्ति मानते है।

इस प्रकार इन आलोचको द्वारा सचारी भावो के विवेचन का भी विशेष विकास हुआ। इनकी परिभाषा, उत्पत्ति, वर्गीकरण, सख्या नवीन सचारी भावो के निर्देश, स्थायी भावो से उनके सम्बन्ध आदि की विशेषरूप से व्याख्या की गई। इनकी उत्पत्ति चित्त और शरीर के रूपो, परिस्थितियो, राग, द्वेष के भावो तथा ज्ञान की वृत्तियो के आधार पर मानी गई। इन आलोचको द्वारा नवीन-सचारी भावो की भी कल्पना की गई तथा सचारी भावो की सख्या के विस्तार का भी प्रयत्न किया गया। यह भी माना गया कि यह सचारी भाव किन्ही परिस्थितियो मे स्थायी बन सकते हैं तथा स्वय इनकी रसानुभूति या तो मध्यम कोटि की होती है या इनका एक सचारी-रस होता है। यह रस दशा की अनुभूति नही करा सकते। इनके विभाव भी स्थायी भावो से अल्प होते हैं।

स्थायी भाव

सचारी भावो की ही भाँति स्थायी भावो का विवेचन भी प्राय. प्राचीन आचार्यों के आधार पर अधिक आश्रित रहा। मनोवैज्ञानिक आधार पर भाव-वृत्तियो (सेण्टीमेण्ट्स) से स्थायी भावो की समता तथा विषमता का विवेचन जैसा परवर्ती काल मे हुआ, इन आलोचको द्वारा नही हुआ। शुक्ल जी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा पौरस्त्य दार्शनिक-विवेचन के समन्वयात्मक आधार पर भाव की परिभाषा देते हुए, उसे बोधमात्र न मानकर ऐसी वेगयुक्त जटिल-अवस्था विशेष माना है, जिसमे शरीर-वृत्ति तथा मनोवृत्ति दोनो का योग रहता है। शुक्ल जी भी प्राचीन आचार्यों की भाँति स्थायी भावो को वासना रूप मे स्थित मानते है। उनका विचार है कि "यह वासना या सस्कार वशानुक्रम से चली आई दीर्घ-भाव परम्परा का मनुष्य जाति की अन्त.-प्रकृति मे निहित सचय है।"[1] उनका विचार है कि स्थायी भाव वे भाव है, जो सक्रामक है, जिनकी व्यजना, श्रोता या पाठक मे भी उन्ही भावो का सचार कर सकती है।[2] वे कहते हैं कि 'रस-निरूपण मे जो विभाव कहा गया है, वही कल्पनात्मक या

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १. (सन् १९३९), पृ० ३४५।
२ 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृ० २३९।

ज्ञानात्मक अवयव है, जो भाव सचार करता है।[1] वे प्रबन्ध-काव्य मे स्थायी भाव से भिन्न एक बीज-भाव भी मानते है, जो उनकी मौलिक सूझ है। इस बीज-भाव के मगल का विधान करने वाला होने के कारण उसके तीक्ष्ण तथा कठोर भाव भी सुन्दर हो जाते है। डा० भगवानदास ने स्थायी भावो की सज्ञाओ को केवल रूपान्तर मात्र माना है, जैसे काम के स्थान पर रति, हर्ष के स्थान पर हास, दया के स्थान पर शोक, घृणा के स्थान पर जुगुप्सा का प्रयोग सज्ञाओ का रूपान्तर मात्र है। उन्होने नए रसो के नए स्थायी भावो का भी उल्लेख किया है, जैसे भक्ति का स्थायी भाव अमिश्र सम्मान या पूजा तथा वात्सल्य का अमिश्र दया आदि होता है। उन्होने उत्साह, विस्मय, शम आदि की भी व्याख्या करके, उनके विभिन्न तत्वो का विश्लेषण किया है, जैसे उत्साह मे क्रोध, दया तथा तिरस्कार का मिश्रण माना है।

इस प्रकार इस काल मे स्थायी भावो का विवेचन, यद्यपि प्राचीन आचार्यो के आधार को लेकर चला, तथापि पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर भी इसके स्वरूप का विश्लेषण किया गया, जो आलोच्य-काल के पश्चात् विशेष रूप मे विस्तार पा सका। इस काल मे भाव को केवल बोधमात्र करने वाला न मानकर, एक वेगयुक्त जटिल अवस्था विशेष माना गया। इन आलोचको द्वारा वासना रूप मे स्थित भाव वे माने गए, जिनमे अपने प्रतिरूप भावो को उत्पन्न करने की क्षमता होती है। इनके द्वारा सचारी तथा स्थायी भावो के अतिरिक्त, किसी विशिष्ट काव्य मे, विशिष्ट भावो की भी कल्पना की गई, जैसे प्रबन्ध काव्य मे बीज-भाव की नवीन उद्भावना हुई। इस काल मे नए रसो के नए स्थायी भावो की भी कल्पना हुई तथा प्रत्येक स्थायी भाव के अन्तर-तत्वो की भी शोध की गई। इनके अतिरिक्त स्थायी भाव की सज्ञाओ का भी विवेचन हुआ।

विभाव

सचारी तथा स्थायी भावो के समान ही विभाव-पक्ष पर भी इन नवीन आलोचको ने अपने विचार प्रकट किए। शुक्ल जी ने रसानुभूति मे विभाव-पक्ष को प्रधानता दी। वे आलम्बन-विधान मे कल्पना के अतिरिक्त ज्ञान (बुद्धि) तथा भाव (हृदय) का योग मानते है। वे लक्षण-ग्रन्थो मे गिनाए गए विभिन्न रसो के आलम्बनो को ही आलम्बन न मानकर, आलम्बनो का विस्तार, जीवन और जगत् के समान ही विस्तृत मानते है। उनका विचार है कि जो वस्तु, व्यापार या प्रसग, हमारे हृदय मे किसी भाव का सचार करें, वे सब काव्य के आलम्बन हो सकते है। उन्होने 'उत्साह' नामक स्थायी भाव का आलम्बन विजेतव्य, विपक्षी या शत्रु को न मानकर, किसी विकट या दुष्कर कर्म को माना है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी यही मानते है। वे उन वस्तुओ या विषयो के वर्णन को आलम्बन विभाव कहते है, जिनके प्रति किसी

---

१ 'चिन्तामणि' भाग २ (सं० २००२) पृ० १९८।

प्रकार का भाव उदय होता है या सवेदना होती है। जिस कविता मे भाव-प्रधान होता हैं, आलम्बन का आक्षेप स्वय पाठक कर लेता है तथा जिसमे आलम्बन का प्रधान चित्रण होता हैं, सवेदना पाठक के ऊपर छोड दी जाती है।

श्यामसुन्दर दास जी का विचार है कि विभाव ही भाव मे आस्वाद-योग्यता के अकुर उत्पन्न करते है। वे स्थायी भाव के साथ-साथ सचारी भावो के लिए भी विभावो की आवश्यकता समझते है। 'सुधाशु' जी ने आलम्बनो की विभिन्नता के कारण भावो मे भी परिवर्तन होना माना है। उनका विचार है कि व्यक्ति की विशिष्टता, समानता तथा हीनता के अनुसार जीवन के राग तथा द्वेप नामक प्रमुख दो तत्वो मे परिवर्तन हो जाता है।[1]

आलोच्य-काल मे इन आलोचको द्वारा उद्दीपन विभावो का विवेचन अथवा वर्णन नही हुआ। इसकी अपेक्षा आलम्बन विभाव को ही अधिक महत्ता दी गई। उद्दीपन विभाव का महत्व केवल परिस्थिति विशेष के रूप मे माना गया। इनके द्वारा विषयगत उद्दीपनो की अपेक्षा बहिर्गत उद्दीपनो पर अधिक जोर दिया गया तथा आलम्बनो के अनन्त-विस्तार, विभिन्नता तथा व्यापकता को मान्यता दी गई। इस काल मे यह समझा गया कि आलम्बन-विधान मे कल्पना, ज्ञान, भाव तथा आस्वाद-योग्यता का योग होता है। स्थायी भावो के शास्त्रीय-आलम्बनो का विवेचन करके भी तर्कपूर्ण रीति से अन्य आलम्बन भी प्रस्तुत किए गए।

अनुभाव

इस काल मे अनुभावो की व्याख्या भी तर्कपूर्ण रीति से की गई। आचार्य शुक्ल ने 'हाव' को आश्रय के अन्तर्गत न मानकर आलम्बन के अन्तर्गत माना है। उनके विचार से 'हाव' आलम्बन के अन्तर्गत होते है, अनुभावो के नही। इस प्रकार अनुभावो के अन्तर्गत वे केवल आश्रय की चेष्टाओ को ही मानते है, आलम्बन को नही। प्राचीन आचार्यो ने इस प्रकार का वर्गीकरण नही किया था। वे तो अगज तथा स्वभावज, स्त्रियो के अलकार और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टाओ को अनुभाव कहते थे।[2] इस प्रकार वे आलम्बन तथा आश्रय, दोनो की उद्दीपन न कराने वाली चेष्टाओ को ही अनुभाव मानते थे। शुक्ल जी ने कदाचित् इसका विभेद भानुदत्त के आधार पर प्रदर्शित किया है।

---

१. देखिए 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (स० १९९९), पृ० ९।

२. (क) ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभव गोचरता नयन्ति
ते अनुभावा कटाक्षादय. करणत्वेन। 'रस तरगिणी'

(ख) उक्ता. स्त्रीणामलकारा' अगजाश्च स्वभावजा
तद्रूपा सात्विका भावास्तथा चेष्टा परा अपि। 'साहित्य दर्पण' ३।१३३।

इसी प्रकार श्यामसुन्दर दास जी ने 'आहार्य' को अनुभाव न कहकर अभिनय का बीज रूप माना है। वे केवल तीन अनुभाव, कायिक, मानसिक तथा सात्विक मानते है। उनकी मानसिक अनुभावो की परिभाषा दोषपूर्ण है तथा अन्य अनुभावो की परिभाषा भी सर्वमान्य नही है।

'सुधाशु' जी प्रत्येक कर्म के मूल मे किसी न किसी प्रकार का भाव मानते है। क्योकि भाव से कर्म का विधान होता है, इसलिए वे अनुभाव को भी, शारीरिक विकार होने के कारण कर्म ही मानते है। वे भी गुलाबराय जी की भाँति अनुभावो का शरीर-विज्ञान से सम्बन्ध मानते है। उनका विचार है कि अनुभावो का निरूपण चित्त तथा शरीर की प्रवृत्ति के विधान पर होता है।

इस प्रकार इस काल के आलोचको ने अनुभाव सम्बन्धी कुछ तथ्यो पर नवीन रूप मे प्रकाश डाला। विवेचन के आधार पर यह निश्चित किया गया कि अनुभाव आश्रय की चेष्टाएँ है। हाव आदि अनुभावो को निश्चित रूप मे आलम्बन के अन्तर्गत माना गया। इस प्रकार सामान्य चेष्टाओ का आलम्बन तथा आश्रय के विचार से विभाजन किया गया। कुछ अनुभावो को जैसे 'आहार्य' को आश्रय तथा आलम्बन की अपेक्षा अभिनय का मूल माना गया। इन आलोचको द्वारा अनुभावो के वर्गीकरण का भी विवेचन हुआ। इनका विवेचन शरीर तथा चित्त की प्रकृति के आधार पर भी किया गया।

रसानुभूति का स्वरूप

इन आलोचको ने रसानुभूति के स्वरूप का चार रूपो में विवेचन किया है। कुछ आलोचको ने तो रस को प्राचीन आचार्यो की भाँति अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर के समान माना है। श्यामसुन्दर दास जी[1] तथा प्रसाद जी[2] रस को अलौकिक मानते हैं। प्रसाद जी रस को 'आत्मप्रसाद' का आनन्द पथ या ब्रह्मानन्द मानते है। उनके विचार से रस अद्वैत-भावापन्न है। यह अलौकिक उपकरणो की अपेक्षा लौकिक-उपकरणो से निर्मित तो होता है, पर है अलौकिक। वे काव्य तथा रस दोनो को आध्यात्मिक मानते है। उनका विचार है कि हृदय की दुखपूर्ण अनुभूति है तो दुखपूर्ण, किन्तु हृदय की मुक्तावस्था मे होने के कारण, वह दुख भी रसात्मक हो जाता है।

---

१. "आत्मानन्द के प्रकाश मे स्थायी भाव की जो रस-रूप आनन्दानुभूति होती है, उसमे भी लौकिकता नही रह जाती। सब वैयक्तिक सम्बन्धो से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रेक्षक को उसकी अनुभूनि मिलती है। इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।" 'साहित्यालोचन' (स० १९९६) पृ० २७४।

२. "भाव ही आत्मचैतन्य मे विश्रान्ति पाने पर रस होते है"
'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० ७९।

दूसरे वर्ग के आलोचको मे शुक्ल जी का शीर्ष स्थान है। वे रसानुभूति को लोकोत्तर नही मानते, वरन् जीवन की वास्तविक अनुभूति का ही उदात्त या अवदात रूप मानते हैं।[1] इनका विचार है कि रस की अनुभूति आनन्द-कोप की अपेक्षा मनोमय कोप मे होती है। उनके समान ही प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रत्यक्षानुभूनि के सस्कृत रूप को रसानुभूति मानते है। इस वर्ग के आलोचक रसानुभूति को न तो पूर्णतया अलौकिक मानते हैं न पूर्णतया लौकिक। इनके विचार से उसकी अवस्था इन दोनो के बीच की है। रस-दशा का विश्लेपण करने पर ये उसमे प्राय भारतीय आचार्यो के निर्देशित तत्वो को स्वीकार करते है। शुक्ल जी का विचार है कि जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। इसमे व्यक्ति अपने पराए के भेद-भाव से दूर हटकर अनुभूति मात्र रह जाता है। व्यक्ति का हृदय लोक-हृदय मे लीन हो जाता है।[2] इसी रस-दशा को शुक्ल जी वास्तविक अनुभूति का उदात्त या अवदात रूप मानते हैं। हृदय की मुक्तावस्था की स्थिति भी सामान्य लौकिक-स्थिति नही है। अपने पराए के भेद-भाव से हटना भी अद्वैतसम्पन्नता है, जिसे प्रसाद जी ने आत्मप्रसाद का आनन्दपथ कहा है। इस प्रकार शुक्ल जी भी रस की पूर्ण अनुभूति मे असाधारणता तथा उदात्तता स्वीकार करते है, किन्तु वे रस की एक अपूर्ण अनुभूति भी मानते है, जो मध्यमकोटि की है। उनका विचार है कि पूर्ण अनुभूति स्थायी भावो के आश्रय से होती है तथा उसके लिए केवल प्रवन्ध-काव्य उपयुक्त होता है।

तीसरे वर्ग के आलोचक रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर वेद्यान्तर स्पर्शशून्य अथवा अलौकिक नही मानते। प० नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है कि रस की अलौकिकता की भावना के कारण ही साहित्य मे बेधडक लौकिकता वढती गई है।[3] वे रस को काव्य की आह्लादकता मात्र का ही द्योतक बनाना उचित समझते है तथा उसकी इतनी व्यापकता मानते है कि उसमे भाव, रसाभास, भावाभास, अलकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि सब समाहित हो जाए। वाजपेयी जी का मत रिचार्ड आदि विद्वानो से भी मिलता है।

चौथे वर्ग मे पहले तीन वर्गों के मिश्रित विचार मिलते है तथा इसमे रस को आत्मा अथवा अह का आस्वादन मात्र माना गया है तथा उसे पारमार्थिक रस से भिन्न समझा गया है। डॉ० भगवानदास का मत इसी प्रकार है। वे काव्य रस को जीवात्मानन्द का स्वार्थ रस मानते है। उनका विचार है कि आत्मा का अनात्मा के वहाने से आस्वादन ही रस, लीला, क्रीडा, नटन, आदि है। उनका विचार है कि "ब्रह्मास्वाद का सहोदर काव्यास्वाद नही, प्रत्युत उसका प्रतिविम्ब, विवर्त्त, रूप, नकल, छायामात्र है। ब्रह्मास्वाद मे वेद्यान्तर का निषेध, 'नेह नानास्ति किंचन' है।

---

१ देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृ० ३४४।
२ देखिए वही, पृ० ३४२।
३. देखिए 'हिन्दी साहित्य : वीसवी शताव्दी' प्रथम सस्करण, पृ० ६७।

इसमे तो बिना विभाव रूपी वेद्यान्तर के काम नही चलता ।[1] वे लिखते है कि रस को लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है ? लोक मे ही तो और अलौकिक विशेष अनुभवो को लेकर ही तो काव्य-साहित्य के रस की चर्चा है, जो परमार्थ से भिन्न है। वे प्राचीन आचार्यों की भाँति अस्मिता के आस्वादन तथा रसन को भी रस मानते है। उनका विचार है कि बुद्धिपूर्वक तथा इच्छापूर्वक आस्वादन की अनुशयी वृत्ति का नाम 'रस' है। वे 'मैं हू' अर्थात् अह की आत्मानुभवरूपिणी बुद्धि मे रस मानते है, जो सन्मय, चिन्मय, आनन्द रसमय है।[2] वे भाव, क्षोभ, सरभ, सवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, इमोशन के अनुभव को रस नही मानते, किन्तु उस अनुभव के स्मरण, प्रति-सवेदन, आस्वादन को रस मानते है।[3] उन्होने अहकार को रस का मूल माना है तथा उसमे अह की छाया मानी है। इस प्रकार वे प्राचीनो की भाँति रस मे आस्वादन, आनन्दमयता, चिन्मयता, सन्मयता, प्रतिसवेदन का गुण मानते है तथा रस को आत्मा अथवा अह का आस्वादन समझते है। इसके अतिरिक्त डॉ० भगवानदास के मत मे प्राचीन तथा अर्वाचीन का सम्मिश्रण है। वे रस को सन्मय, चिन्मय, आनन्द-रसमय, बुद्धिपूर्वक-आस्वादन, निवृत्ति करने वाला, आत्मा का आस्वादन, अह की छाया भी मानते है तथा साथ-साथ काव्य के रस को जीवात्मानन्द का रस भी मानते है, जो परमार्थ-रस से भिन्न है। वे रस की अतिशयता से चित्त मे आधि, विकार, शैथिल्य की उत्पत्ति भी मानते है, जो केवल लौकिक रसो मे हो सकती है। इस प्रकार इनके विचारो मे स्पष्टता नही है। इन्होने रस को आत्मा का आस्वादन कहकर भी उसकी अलौकिकता, अखण्डता, प्रकाशानन्दता, वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता, लोकोत्तर चमत्कार-पूर्णता का वर्णन नही किया है तथा यह स्पष्ट नही किया है कि आत्मा के आस्वादन मे तथा ब्रह्मानन्द-सहोदर मे क्या अन्तर है।

प्रेमचन्द जी भी सुन्दर तथा सत्य मे रस मानते है। उनका विचार है कि सुन्दर तथा सत्य जहाँ भी होगा रस वही होगा। यह सुन्दर तथा सत्य दु खपूर्ण तथा वीभत्स वर्णनो मे भी हो सकता है। इस प्रकार वे रस को लौकिक उपकरणो मे मानते है तथा उसके स्वरूप को सुन्दर तथा सत्य के समान मानते है। उन्होने सुन्दर तथा सत्य के सम्बन्ध मे यह स्पष्टीकरण नही किया है कि इसमे अद्वैतता, समरसता है या नही। वे यथार्थता तथा स्वाभाविकता का भी रस से स्पष्ट सम्बन्ध मानते है। इस प्रकार उनका रस का स्वरूप अस्पष्ट है। इन्होने सुन्दर और सत्य, यथार्थ और भौतिक को रस के मूल तत्व के रूप मे ग्रहण किया है। ये तत्व भौतिक जगत् मे भी मिलते है, पर इनमे भी असामान्यता है। इस प्रकार ये भी रसानुभूति को असा-मान्य मानते है।

---

१ 'रस मीमासा' द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ (सवत् १९९०), पृ० ९।

२ देखिए वही, पृ० ९।

३. देखिए वही, पृ० ७।

'सुधाशु'जी काव्य के आनन्द को जीवन का स्वार्थ मानते है, परन्तु यह स्वार्थ परमार्थ की परिधि के भीतर रहता है। जीवन और जगत् के आधार को पाकर ही स्थायी आनन्द-वृत्ति जाग्रत होती है। उनका विचार है कि जीवन के प्रत्येक कर्म के मूल मे जिस प्रकार आनन्द प्राप्ति की प्रेरणा होती है, उसी प्रकार काव्य के रस मे भी। उनका यह विचार पाश्चात्य आनन्दवादी सिद्धान्त (हीडोनिज्म) के समान है। इस प्रकार वे भी काव्य के रस को लौकिक जीवन से सम्बद्ध मानते है, किन्तु रस की उत्पत्ति चित्त की सत्वगुण-प्रधान अवस्था मे समझते है। उनके विचार से सत्वोद्रेक ही रस है। पर यह प्राय उसी प्रकार का है, जैसा जीवन के प्रत्येक कर्म से प्राप्त होता है। इनका मत भी डॉ० भगवानदास से मिलता है, जो काव्य के रस को जीवन का स्वार्थ मानते है। फिर भी दोनो मे यह विभिन्नता है कि वे तो उसे परमार्थ के रस से भिन्न मानते है तथा सुधाशु जी उसे परमार्थ की परिधि के भीतर समझते है। वे काव्य की अनुभूति (रसानुभूति) को आध्यात्मिक कल्पना न मानकर अखण्ड मानव जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति मानते है।[1] उनका विचार है कि इस रसानुभूति मे मनुष्य अपने आत्म-विस्तार के द्वारा समस्त मानवता को सामान्य कोटि मे ले आता है तथा सम्पूर्ण प्रकृति, विश्व तथा प्राणियो से तादात्म्य ग्रहण करता है।[2]
उपर्युक्त विवेचन का सार यह है —

१ प्राय सभी आधुनिक आलोचको ने यह स्वीकार किया है कि काव्य से आनन्द की प्राप्ति होती है।

२ काव्य का आनन्द पूर्णतया सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूतिजन्य आनन्द नही है।

३ रसानुभूति पूर्णतया प्रत्यक्षानुभूति के समान नही है।

४ रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति का उदात्त, सस्कृत तथा अवदात रूप है।

५, रसानुभूति अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर, आत्मप्रसाद का आनन्द पथ आदि है।

६ रसानुभूति चाहे लौकिक हो या अलौकिक उसके उपकरण निश्चित रूप मे लौकिक हैं।

७ रसानुभूति दो प्रकार की होती है—पूर्ण तथा अपूर्ण। पूर्ण अनुभूति उच्चकोटि की होती है तथा अपूर्ण मध्यमकोटि की। पूर्ण अनुभूति का उदय स्थायी भावो से है, अपूर्ण का अन्य भावो से। पूर्ण अनुभूति प्रबन्ध काव्य मे होती है, अपूर्ण मुक्तक आदि मे। काव्य की उदात्त अनुभूति मनोमय कोष मे होती है, आनन्द कोष मे नही।

८ रस का आनन्द, भाव तथा भाव के अनुभव से पृथक् है। भाव का स्मरण, प्रतिसवेदन, रसन ही रस है। भाव रस नही है।

---

१ देखिए 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० १०३।

२ देखिए वही, पृ० ९८।

९ रस की प्रत्यक्षानुभूति के उदात्त स्वरूप मे हृदय की मुक्तावस्था है। इसमें अपने पराए का भाव नही है। इसमे समरसता अथवा अद्वैत की स्थिति है।

१० रस की अपूर्ण अनुभूति, मध्यम तथा अधम प्रकार की ही नही होती मनोविज्ञान के आधार पर विभिन्न प्रकार की भी हो सकती है।

११ कुछ आलोचको का यह भी विचार है कि रस की अनुभूति लौकिक तथा वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है तथा रस-काव्य की आह्लादकता मात्र का द्योतक है। रस के अन्तर्गत रस, रसाभास, अलकार, ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, सब का समाहार है।

१२ रस आत्मा का अनात्मा के बहाने से आस्वादन है। अनात्मा मे ऐन्द्रियता सम्मिलित है, इसलिए अह (आत्मा) का ऐन्द्रियता द्वारा, बुद्धि और इच्छापूर्वक आस्वादन ही रस है। यह रस सन्मय तथा चिन्मय है। इस प्रकार रस आत्मा का ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक आस्वादन है। उसमे परमार्थ तत्व नही है।

१३ रसानुभूति आध्यात्मिक कल्पना नही है, वरन् अखण्ड-मानव-जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है।

१४ प्रगतिवादी साहित्यिक, काव्य मे आनन्द को साध्य तथा जीवन को साधन नही मानते। वे वैज्ञानिक वस्तुवादी होने के नाते जीवन को ही जीवन का साध्य मानते हैं। वे काव्य को भावात्मक अनुभूति न मानकर, बौद्धिक अनुभूति मानते है तथा साधारणीकरण की स्थिति को स्वीकार नही करते। वे काव्य के आनन्द को पूर्णतया भौतिकवादी आनन्द मानते है।

साधारणीकरण

साधारणीकरण किसे कहते है

प्राचीन आचार्य विभावादि के सम्बन्ध विशेष से पृथक् होकर सामान्य रूप मे व्यक्त होने को साधारणीकरण मानते थे। भट्टनायक ने भावना या भावकत्व के व्यापार को साधारणीकरण कहा है। अभिनवगुप्त का मत है कि जिस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव साधारण अथवा सामान्यरूप मे प्रकट हो वह साधारणीकरण की स्थिति है। शुक्ल जी का विचार है कि किसी भाव के किसी विषय का इस रूप मे लाया जाना कि वह सामान्यत. सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, साधारणीकरण कहलाता है।[1] इस प्रकार वे आलम्बन तथा भाव के साधारणीकरण की ओर सकेत करते है। वे साधारणीकरण का यह अभिप्राय समझते है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन भी हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि आश्रय के भाव का आलम्बन, जब पाठक के भाव का आलम्बन हो जाता है, तब काव्य में

१. देखिए 'चिन्तामणि' पहला भाग (सन् १९३९), पृ० ३०८।

साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वे विभावो मे से आलम्बन विभाव के साधारणीकरण तथा आश्रय और पाठक के भाव के साधारणीकरण पर ही जोर देते है। उनके विचार से साधारणीकरण मे भाव तथा विभाव दोनो पक्षा का सामजस्य अनिवार्य है।

श्यामसुन्दर दास जी साधारणीकरण का सम्बन्ध कवि अथवा भावक की चित्त-वृत्ति से मानते है। उनका विचार है कि चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर कवि तथा भावक को सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। यह चित्त की समस्त वृत्तियो की एकतान एकलयता मधुमति भूमिका मे मानते हैं, जिसमे वितर्क की सत्ता नही रहती तथा पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति अर्थात् ऐसी अवस्था होती है कि जिसमे सम्बन्ध तथा सम्बन्धी विलीन हो जाते है और केवल वस्तु-मात्र का आभास ही मिलता रहता है। वे शुक्ल जी के इस विचार का विरोध करते है कि विभाव अनुभाव का साधारण रूप मे लाया जाना साधारणीकरण है। वे अभिनव-गुप्त की भांति पाठक तथा कवि के चित्त की वृत्तियो का साधारणीकरण मानते हैं।

प्रसाद जी साधारणीकरण को वह स्थिति मानते है जिसमे प्रत्यगात्मा के भाव-वैचित्र्यो का अभेद हो जाता है।[1] इस स्थिति मे भाव आत्म-चैतन्य मे विश्रान्ति प्राप्त कर लेते हे। इस स्थिति मे समरसता अथवा अद्वैत की अनुभूति होती है। चैतन्य की भिन्नता नष्ट होकर अभेद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति मे आत्म-सत्ता तथा प्राकृतिक-सत्ता, सत्य के प्रेय तथा श्रेय दोनो लक्षणो का समन्वय तथा एकीकरण हो जाता है तथा विशुद्ध दार्शनिक अद्वैत का भोग किया जा सकता है। सक्षेप मे साधारणीकरण द्वारा आत्म-चैतन्य की रसानुभूति अर्थात् अहपद मे विश्रान्ति हो जाती है। साधारणीकरण आत्मा की मननशीलता का परिणाम है, प्राकृतिक क्रिया नही। वह एक आध्यात्मिक स्थिति है।

प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का विचार है कि साधारणीकरण की स्थिति मे हृदय प्रवृत्तिमूलक तथा निवृत्तिमूलक सभी प्रकार के भावो मे एक सी स्थिति मे रहता है। यही प्रसाद जी की समरसता भी है।

इस प्रकार आलोच्य-काल के आलोचको ने साधारणीकरण की स्थिति के शास्त्रीय स्वरूप की व्याख्या तथा विवेचन विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। इनसे पूर्व रीतिकारो अथवा आधुनिक रीतिकारो ने केवल भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि के विचारो को ही अपनी भाषा मे व्यक्त किया था तथा उसकी विस्तृत व्याख्या नही की थी। इन आलोचको ने दर्शन तथा मनोविज्ञान का आधार लेकर साधारणी-करण के स्वरूप का चित्रण किया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध मे दो प्रकार के दृष्टिकोण है। पहला उन लेखको का जो रस को अलौकिक मानते है। इनका विचार है कि साधारणीकरण की दशा मे समरसता, अद्वैत की अनुभूति, अभेद

१. देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० ७९।

की स्थिति, आत्म-सत्ता तथा प्राकृतिक सत्ता का एकीकरण, आत्म-चैतन्य की अह-पद मे विश्रान्ति, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का एकीकरण, योगियो की मधुमति-भूमिका, पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति की स्थिति रहती है। ये इसे एक आध्यात्मिक स्थिति मानते है, जो आनन्द-कोष मे उत्पन्न होती है। प्रसाद, श्यामसुन्दर दास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पत आदि लेखक इस श्रेणी के है।

इनके अतिरिक्त दूसरा दृष्टिकोण उन लेखको का है, जो काव्य को अलौकिक न मान कर रस की कोटिया मानते है। ये साधारणीकरण की स्थिति, आनन्दकोष मे न मान कर मनोमय कोष मे मानते है। ये आलम्बन विभाव तथा भाव के साधारणीकरण पर अधिक जोर देते है तथा चित्त-वृत्तियो के साधारणीकरण को नही मानते। शुक्ल जी का मत इसी प्रकार का है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा दृष्टिकोण उन आलोचको का है, जिन्होने शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के आधार पर साधारणीकरण की स्थिति तथा अस्तित्व पर विचार करना प्रारम्भ किया। मनोवैज्ञानिक रूप मे साधारणीकरण की स्थिति की पूर्ण जाच इस काल मे नही हुई, किन्तु वाजपेयी जी के रस के विस्तार के भाव के अन्तर्गत इसके विरोध के बीज मिलते है। वे रस को काव्य की आह्लादिकता मात्र मानना उपयुक्त समझते है तथा साधारणीकरण की क्षमता सभी मनुष्यो मे मानते है। किन्तु यह साधारणीकरण प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक सस्थान के अनुकूल ही होगा। इसके लिए पाठक, श्रोता या दर्शक मे ठीक कवि का दृष्टिकोण पाना एक मनोवैज्ञानिक असत्य है। सुधाशुजी का भी विचार है कि पाठक मे कवि के समान वासना न होने पर साधारणीकरण होगा ही नही। इस प्रकार मनोविज्ञान के आधार पर साधारणीकरण कितना सत्य है तथा कितना असत्य, इसका निरीक्षण भी इस काल मे होने लगा। परवर्ती आलोचको ने इस विषय के सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन का और अधिक विस्तार किया तथा डॉ० राकेश गुप्त आदि विद्वानो ने साधारणीकरण की स्थिति को मान्यता भी नही दी।

साधारणीकरण किस का होता है

प्राचीन आचार्यो ने विभावादि का साधारणीकरण माना था। उनका विचार था कि सामान्यतः भाव, विभाव, संचारी भाव सभी का साधारणीकरण होता है। आधुनिक आलोचको ने इस विषय का भी गम्भीर तथा सूक्ष्म निरीक्षण किया है। काव्य के रसास्वादन की प्रक्रिया की व्याख्या, यद्यपि अभिनव के पश्चात् सस्कृत मे धनजय, मम्मट, विश्वनाथ, पडितराज जगन्नाथ, आदि ने भी की, किन्तु प्राय. ये सब उनके विचार ही के अनुयायी रहे। साधारणीकरण किस का होता है, इस सम्बन्ध मे भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने केवल यह कह कर कि विभावादि का साधारणीकरण होता है, बात समाप्त कर दी है। इनका विभावादि से तात्पर्य विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, सबके साधारण रूप मे उपस्थित होने से है। भट्टनायक आलम्बन आदि विभावो का सम्बन्ध-विशेष से पृथक् होना अथवा

साधारणीकरण होना मानते है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यो द्वारा विभावादि का सम्बन्ध विशेष से पृथक् होना तथा साधारणीकृत होना ही साधारणीकरण माना गया है। केवल विश्वनाथ ने पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण होना माना है।

शुक्ल जी ने प्राचीन आचार्यो के विभावादि की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है।[1] उन्होने मनोविज्ञान के आधार पर इस तथ्य का विस्तृत वर्णन किया है। वे वास्तव मे आलम्बन, आलम्बनत्व-धर्म, पाठक (श्रोता) आश्रय, कवि, विषय, भाव अथवा अनुभूति सब का साधारणीकरण मानते है, यद्यपि उन्होने स्पष्टत ऐसा नही कहा है। इस सम्बन्ध मे उनका प्रमुख मत तो यह है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व-धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे धर्म की होती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओ या पाठको के मन मे थोडा बहुत एक ही भाव का उदय होता है। दूसरे स्थल पर वे आलम्बन का भी साधारणीकरण मानते है। वे कहते है "रस मग्न पाठक के मन मे यह भेद नही रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का"[2] इसी तथ्य को वे और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना मे वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।"[3] इस प्रकार वे कवि के भाव के आलम्बन का भी साधारणीकृत होकर पाठक या श्रोता के मन मे पहुँचना मानते है।

इसी प्रकार वे अभिनवगुप्त की भाति पाठक के हृदय का भी साधारणीकरण मानते है। पाठक का हृदय कवि के हृदय की भाँति ही साधारणीकृत हो जाता है। वे लिखते है "थोडी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना हृदय नही होता है।"[4] इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे अन्य स्थान पर काव्य के विषयो (आलम्बनो) तथा पाठको (श्रोताओ) की भाव-सत्ताओ अथवा वासनाओ का साधारणीकरण होना मानते हुए लिखते है "जहा व्यक्ति के भावो के पृथक् विषय नही रह जाते, जहा मनुष्य मात्र के भावो के आलम्बनो मे हृदय लीन हो जाता है, जहा हमारी भाव-सत्ता का सामान्य भाव-सत्ता मे लय हो जाता है, वही पुनीत रसभूमि है।"[5] पाठक के हृदय के साधारणीकरण को भी मान्यता देते हुए, वे स्पष्ट रूप मे लिखते है "सच्चा कवि पाठक के हृदय को

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १ (सन् १९३९), पृ० ३०९-३१६।
२ वही, पृ० ३०९।
३ वही, पृ० ३१२।
४ वही, पृ० ३१३।
५ 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृ० ९८।

लोक-हृदय मे लीन कर देता है। थोडी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना हृदय नही रहता।"[1]

शुक्ल जी ने तीन प्रकार की रसानुभूतिया मानने के कारण सर्वश्रेष्ठ रसानुभूति मे पाठक का आलम्बन के साथ साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ तादात्म्य माना है। किन्तु तादात्म्य और साधारणीकरण मे केवल शब्द मात्र का भेद है। भाव मे कोई विशेष अन्तर नही है। साधारणतया वे आश्रय, आलम्बन तथा पाठक तीनो का साधारणीकरण मानते है। यद्यपि उन्होने इस प्रसग मे कवि का उल्लेख नही किया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि कवि के हृदयगत भाव का भी साधारणीकरण वे मानते है। कवि-कर्म का उल्लेख करते हुए वे कवि-कर्म मे कल्पना तथा भाषा को महत्त्व देते है तथा कल्पना और भाषा के द्वारा कवि की अनुभूति को पाठक के हृदय मे प्रेषित होता हुआ बताते है। इस प्रकार वे कल्पना तथा भाषा के द्वारा कवि की अनुभूति का साधारणीकरण भी मानते है।

मध्यमकोटि की रसानुभूति मे भी, जिसमे पाठक का आश्रय के आलम्बन के साथ साधारणीकरण नही होता, वे एक प्रकार का तादात्म्य तथा साधारणीकरण मानते है। इस रसानुभूति मे आश्रय के ही शील द्रष्टा के रूप मे आने के कारण आलम्बन रूप मे पाठक से साधारणीकरण हो जाता है तथा पाठक का तादात्म्य आश्रय से न होकर, कवि के उस अव्यक्त-भाव से होता है, जिसके अनुरूप उसने आश्रय के स्वरूप का निर्माण किया है।

श्यामसुन्दर दास जी शुक्ल जी के इस विचार का विरोध करते है कि विभाव, अनुभाव का साधारण रूप मे लाया जाना साधारणीकरण है, क्योकि वे अभिनवगुप्त की भाति कवि या भावक की चित्त-वृत्ति का साधारणीकरण मानते है। वाजपेयी जी ने साधारणीकरण के सम्बन्ध मे व्यापक रूप मे यह माना है कि साधारणीकरण की सत्ता अच्छे, बुरे, ऊचे, नीचे, सभी मे सामान्य रूप से प्रतिष्ठित है। वे अभिनवगुप्त की रसानुभूति की बाधाओ को स्वीकार नही करते। वाजपेयी जी का विचार मनोविज्ञान के आधार पर समुचित ठहरता है। मानव-हृदय मे रसानुभूति की शक्ति विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मानसिक-सस्थान के अनुकूल साधारणीकरण मे प्रवृत्त हो सकता है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पाठक या दर्शक मे भी साधारणीकरण की शक्ति मानते है। वे शुक्ल जी के विरुद्ध यह मानते है कि दर्शक या पाठक की अवस्था आश्रय (पात्र) से तादात्म्य होने पर भी कुछ भिन्न ही रहती है। उनका विचार मनोविज्ञान के अनुसार शुद्ध है।

प्रसाद जी प्राकृतिक वासनाओ तथा व्यवहारो का साधारणीकरण मानते है। उनका विचार है कि रस वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियो का साधारणीकरण करके उन्हे आनन्दमय बना देता है। उनके विचार से साधारणीकरण आत्मसत्ता

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १ (सन् १९३९), पृ० ३१३।

तथा प्राकृतिक सत्ता अर्थात् सत्य के प्रेय तथा श्रेय दोनो लक्षणो का होता है। वे कवि, नट (आश्रय) तथा सामाजिक (दर्शक) तीनो का साधारणीकरण मानते है।[1] वे अभिनवगुप्त की भाति कवि का भी साधारणीकरण मानते है (कविगत साधारणीभूत सविन्मूलश्च काव्य पुरस्सरो नाट्य व्यापार सैव च सवित् परमार्थतो रस — अभिनवभारती, ६ अध्याय)।

'सुधाशु' जी का विचार भी अभिनवगुप्त की भाति यही है कि साधारणीकरण पाठक के हृदय का ही होता है। यदि पाठक के हृदय मे काव्य के भाव की वासना का सस्कार न होगा तो उस काव्य से उसे रस की प्रतीति नही होगी। वे काव्य का आनन्द काव्य मे न मान कर पाठक के हृदय मे मानते है। पाठक काव्य के भाव की अपेक्षा अपने हृदय के भाव से रसानुभूति प्राप्त करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आलोच्य-काल मे इन आलोचको ने साधारणीकरण किसका होता है, इसका गम्भीर तथा सूक्ष्म विवेचन किया है। प्राचीन आचार्यों के 'विभावादि' के साधारणीकरण के स्थान पर आधुनिक आलोचको ने आलम्बन, आलम्बनत्व-धर्म, अनुभाव, विषय, भाव, अनुभूति, कवि, आश्रय, दर्शक, श्रोता, पाठक, चित्त-वृत्ति, मानव-हृदय, आदि सभी का साधारणीकरण माना है, यद्यपि कुछ लेखको ने इनमे से कुछ का तथा कुछ ने केवल अन्य का साधारणीकरण ही माना है। शुक्ल जी ने विशेष रूप मे आलम्बनत्व धर्म का ही साधारणीकरण माना है, किन्तु वे भी अप्रत्यक्ष रूप मे प्रायः उपर्युक्त सभी वस्तुओ का साधारणीकरण मानते हैं। इस प्रकार इन आलोचको द्वारा साधारणीकरण के क्षेत्र का विस्तार किया गया है। आलोच्य-काल के पश्चात् यह बात प० नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा स्पष्ट रूप से स्वीकार भी की गई।[2]

साधारणीकरण की कठिनाइयाँ या बाधाएँ

इन आलोचको ने साधारणीकरण के सम्बन्ध मे कुछ कठिनाइयो का भी उल्लेख किया है। साधारणीकरण प्रत्येक स्थिति मे होना अनिवार्य नही है। कुछ दशाओ मे इसमे बाधाएँ प्रस्तुत होती है। अभिनवगुप्त ने भी कुछ बाधाओ का निर्देश किया था। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का विचार है कि साधारणीकरण मे यदि

---

१ "रस विवेचना मे सवित् का साधारणीकरण त्रिवृत् है, कवि, नट और सामाजिक मे वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।" 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० ८८।

२. "साधारणीकरण वास्तव मे कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नही। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे है।"
'नया साहित्य . नए प्रश्न' (सन् १९५५), पृष्ठ १२२।

आलम्बन उपयुक्त नही हो, तो साधारणीकरण नही होगा। साधारणीकरण के लिए आलम्बन ऐसे होने चाहिएं, जो मनुष्य मात्र के लिए सामान्य आकर्षण वाले हो। आलम्बन के औचित्य के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "यदि भाव-व्यजना मे भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए तो 'साधारणीकरण' न होगा अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा, उस भाव मे लीन न होगा।"[1] वे ऐसा आलम्बन भी साधारणीकरण के लिए उपयुक्त नही समझते कि जो आश्रय का तो आलम्बन हो किन्तु श्रोता या पाठक का न हो सके। प्रसाद जी नाटको तथा रहस्यवाद के काव्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के काव्य मे साधारणीकरण नही मानते। उनके विचार से उनमे रस की अपेक्षा विवेक की प्रमुखता है।

'सुधाशु' जी का विचार है कि जब तक पाठक के हृदय मे कवि के हृदय की वे भावनाएँ, जो उसने कविता मे व्यक्त की है, वासना रूप मे उपस्थित न होगी, तब तक वह साधारणीकरण के योग्य न होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पाठक का मानसिक सस्थान भिन्न होता है। यह विभिन्नता भी इसमे बाधक होती है। इस प्रकार साधारणीकरण की बाधाओ मे उपयुक्त आलम्बन का अभाव, उपयुक्त वासनाओ का अभाव तथा एक से मानसिक सस्थान का अभाव माना गया है। इसके अतिरिक्त कुछ लेखको ने नाटक तथा रहस्यवादी काव्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के काव्यो मे साधारणीकरण का होना सम्भव ही नही माना है।

साधारणीकरण का आधार

अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण का व्यजना की अपेक्षा अन्य कोई माध्यम अथवा आधार प्रस्तुत नही किया था। भट्टनायक ने 'भावकत्व' की शक्ति को साधारणीकरण का आधार बताया था। पडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण का अस्तित्व न मान कर, दोष द्वारा साधारणीकरण की क्रिया को सम्पन्न माना है। शुक्ल जी ने इस दिशा मे एक नवीनता का यह समावेश किया कि उन्होने साधारणीकरण को 'कवि-कर्म' पर निर्भर माना है। उन्होने रस मीमासा मे हिन्दी मे पहली बार कवि के कर्म का विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कवि-कर्म या कवि-कौशल से तात्पर्य कवि की कल्पना तथा भाषा से है, जिसके द्वारा कवि अपनी अनुभूति को दूसरों के हृदय तक पहुँचाता है। इस प्रकार साधारणीकरण के आधार कल्पना तथा भाषा (जो कवि के कर्म अथवा कौशल के अग है) ठहरते है। शुक्ल जी का कवि-कर्म भट्टनायक की भोजकत्व तथा भावकत्व दोनो शक्तियो का समाहार कर लेता है। भट्टनायक, भोजकत्व के द्वारा पूज्य-भावना के आलम्बनो को, अपने विशेषत्व का त्याग कर, सामान्य अथवा साधारणीकृत रूप मे उपस्थित मानते हैं, तथा भावकत्व के द्वारा उसकी पाठक तथा श्रोता के हृदय मे रसानुभूति को जाग्रत समझते हैं। शुक्ल जी यह

१ 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृष्ठ २०१।

दोनो कार्य अपने कवि-कर्म के दो अंग, कल्पना तथा भाषा के द्वारा मानते है। भाषा अनुभूति को साकार बनाती है तथा कल्पना उसे एक हृदय से दूसरे हृदय मे पहुँचाती है। इस प्रकार भोजकत्व तथा भावकत्व दोनो का कार्य कल्पना करती है तथा इस कार्य मे भाषा की सहायता लेती है। कल्पना भाषा मे अनुभूति या अपने आलम्बन सहित भाव को सजा देती है। यही भाषा के साथ मिल कर साधारणीकरण प्रस्तुत करती है।

'सुधांशु' जी साधारणीकरण के लिए मन के ओज का आधार मानते हैं। उनका विचार है कि काव्य की रसानुभूति की चरम-स्थिति तब होती है जब मन का ओज पाठक की संवेदना को उभाड देता है। जब तक मानसिक-ओज का व्यय नही होता काव्य के आनन्द की प्राप्ति नही होती। जितना पाठक मे मानसिक ओज होगा उतनी ही उसमे रसानुभूति की शक्ति होती है। शुक्ल जी ने कवि-कौशल मे केवल कल्पना तथा भाषा का समावेश किया है। 'सुधांशु' जी भाषा की लक्षणा, व्यजना-शक्ति, प्रतीक-विधान तथा काव्य के अन्य कौशलो का भी साधारणीकरण मे विशेष आधार मानते हैं। यह सत्य है। भाषा जितनी समृद्ध होगी तथा काव्य के कला-पक्ष के जितने कौशलो का प्रयोग कवि करेगा, उतना ही वह साधारणीकरण मे सफल होगा। 'सुधांशु' जी साधारणीकरण के लिए मनोरजन का भी विशेष मूल्य मानते हैं। रसानुभूति की दशा मे पहुँचाने तथा सलग्न रखने का कार्य मनोरजन का है, जो चित्त-वृत्ति को, जो व्ययाकरणात्मक है, एक दशा मे रखने का कार्य करती है।

इस प्रकार इस काल मे साधारणीकरण के आधार स्वरूप, भावकत्व की शक्ति, कवि-कौशल, कल्पना, भाषा, भाषा की लक्षणा, व्यजना-शक्ति, प्रतीक-विधान, मनोरजन तथा अन्य कवि-कौशल भी माने गये। इस प्रकार इन आधुनिक आलोचकों द्वारा इस भावकत्व शब्द की भी व्यापक व्याख्या तथा प्रसार किया गया।

साधारणीकरण का अस्तित्व

आधुनिक आलोचको मे प्राय अधिकाश रसानुभूति मे साधारणीकरण का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। आलोच्य-काल के पश्चात् डॉ० राकेश आदि विद्वानो ने इस स्थिति को मनोविज्ञान के आधार पर सदेह की दृष्टि से देखा है।[1] संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे केवल पडितराज ने साधारणीकरण का कार्य, दोष द्वारा सम्पादित माना है, किन्तु वास्तव मे वे भी साधारणीकरण की प्रक्रिया को मानते है। आलोच्य-काल में इन आलोचको मे साधारणीकरण के स्वरूप, विस्तार तथा प्रकिया के सम्बन्ध मे तो मतभेद है, किन्तु प्राय वे सभी काव्य मे इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

---

१. "दी थ्योरीज़ ओन दी रीयेलाइजेशन ऑव रस सफर फ्रोम दिस कामन डिफेक्ट देट दे डू नॉट टैल अस हाऊ एण्ड व्हाई वी रेलिश ईविन सच पोयट्री एज़ डज़ नॉट कम अन्डर दी डिनोटेशन ऑव रस"
'साइकोलोजिकल स्टडीज़ इन रस' ले०—डा० राकेश १९५०, पृष्ठ ८२।

साधारणीकरण किस काव्य मे होता है

शुक्ल जी का विचार है कि साधारणीकरण उच्चकोटि की रसानुभूति मे होता है, जो प्रबन्ध काव्यो मे हो सकती है। यह रसानुभूति स्थायी भावो द्वारा होती है, जिनके लिए प्रबन्ध काव्य मे विशेष स्थान रहता है। वे समझते हैं कि मुक्तक कविताओ मे निरन्तर मग्न करने वाली रस धारा नही चलती, केवल छीटे उछलते है। वे मुक्तक-काव्य की रसानुभूति को मध्यमकोटि की मानते हैं। उनका यह भी विचार है कि वैचित्र्य-प्रदर्शन के लिए लिखे हुए पाश्चात्य-नाटको मे भी मध्यमकोटि की रसानुभूति होती है। उनका इस प्रकार का विचार मान्य नही है। सच्चा काव्य चाहे एक पक्ति मे ही हो, उसमे भी उच्चकोटि की रसानुभूति हो सकती है। प्रसाद जी के विचार से साधारणीकरण केवल नाटको मे होता है, इसीलिए उनमे भारतीय दृश्य-काव्य के अन्तर्गत दु खान्त की सृष्टि नही हुई है। नाटको के अतिरिक्त दार्शनिक रहस्यवाद मे भी रस की प्रधानता रहती है तथा साधारणीकरण हो सकता है। उनके मत से रसानुभूति अद्वैत-भावापन्न रस से शून्य काव्य मे नही होती।

इस प्रकार इस काल मे इस विषय का भी विवेचन हुआ कि साधारणीकरण किस काव्य मे होता है। शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य तथा प्रसादजी ने नाटक तथा रहस्यवाद मे ही साधारणीकरण की पूर्ण स्थिति मानी है। अधिकांश लेखको ने ऐसी कोई सीमा नही बाँधी तथा सामान्यत सभी काव्यो मे साधारणीकरण का होना स्वीकार किया है।

रसानुभूति की कोटियाँ

आधुनिक आलोचको ने रस की विभिन्न कोटियाँ मानकर भी रस के स्वरूप का विस्तार किया है। शुक्लजी प्रमुखत. दो प्रकार की रसानुभूतियाँ मानते हैं, एक पूर्ण तथा दूसरी अपूर्ण। पूर्ण अनुभूति मे जिस भाव की व्यजना होती है उसी भाव मे पाठक लीन हो जाते है तथा अपूर्ण मे जिस भाव की व्यजना होती है, उसमे लीन न होकर उसकी व्यजकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करते है। दूसरी रसानुभूति मध्यमकोटि की है तथा इसमे काव्य की केवल प्रशसा मात्र होती है। पूर्ण रसानुभूति का आलम्बन मनुष्य मात्र के भावो को आकर्षित करने वाला होता है। मध्यमकोटि की रसानुभूति मे पाठक का आलम्बन से साधारणीकरण नही होता, आश्रय ही प्रकृति-द्रष्टा या शील-द्रष्टा के रूप मे आकर, स्वय उसका आलम्बन हो जाता है तथा आश्रय से तादात्म्य न होकर कवि के उस अव्यक्त भाव से तादात्म्य होता है, जिसके अनुरूप उसने आश्रय के स्वरूप का निर्माण किया है। आश्रय का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन होता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन हो जाता है। किन्तु उच्चकोटि की रसानुभूति मे भी तो आश्रय के स्वरूप के प्रति कवि का कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। दोनो प्रकार की रसानुभूतियो वाले काव्य के अन्तर्गत, कवि का, आलम्बन तथा आश्रय के स्वरूप के प्रति जो भाव होता

है, पाठक को उसकी अनुभूति सच्चे काव्य द्वारा हो जाती है। इसलिए मनोविज्ञान के आधार पर, इस प्रकार की रस की कोटियाँ शुद्ध नही ठहरती। वे चमत्कारवादियो के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत मान कर, उसे रसानुभूति की तृतीय प्रकार की निकृष्ट कोटि मानते है। हमारे विचार से वास्तविक-काव्य एक ही प्रकार का होता है तथा उसमे रस की अनुभूति अखण्ड तथा पूर्ण होती है।

प्रसाद जी ने शुक्ल जी की भाँति रसानुभूति की निम्न कोटियाँ नही मानी है। उनके विचार से शुक्ल जी की निर्देशित निम्न-कोटियाँ केवल मुख्य रस का आनन्द बढाने मे सहायक मात्र है। उनका कथन है कि "रस मे फल भोग अर्थात् अतिम सधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारो मे जो सचारी भावो के प्रतीक है, रस को खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस-वस्तु के सहायक मात्र हैं।"[1] वे शुक्ल जी के विपरीत, चरित्र तथा व्यक्ति-वैचित्र्य को भी रस का साधन ही मानते है, उसका साध्य नही। इनका कार्य केवल सशोधनात्मक है, साधारणीकरण करना नही।

शुक्ल जी की विचार-परम्परा को विकसित रूप देते हुए, वाजपेयी जी रस की ऊची-नीची कोटि ही नही मानते, वरन् उसकी सीमा का इतना विस्तार मानते है, कि भाव, रसाभास, भावाभास, अलकार, ध्वनि, वस्तु-ध्वनि सब ही उसमे समाहित हो सके। वे रस को इतना व्यापक बनाना उचित समझते है कि वह केवल काव्य की आह्लादकता मात्र का द्योतक हो जाए। तब रस की ऊची, नीची कोटियों का प्रश्न ही नही उठता।

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र दो प्रकार के रस मानते है, प्रधान तथा गौण। इस प्रकार उनका विचार भी शुक्ल जी के रस की ऊची, नीची कोटियो से मिलता हुआ है, किन्तु वे उनके विपरीत यह भी मानते है कि गौण रस, प्रधान रस मे सहायक होता है। वास्तव मे गौण-रस को मान्यता देने मे ही रस की परिधि के विस्तार का प्रयत्न है। किन्तु जब मिश्र जी उन्हे शुक्ल जी की मध्यम कोटि की रसानुभूति के समान, रस मे सहायक मानते है, तो वे केवल भाव मात्र है, जो रस मे सहायक होकर उसका उत्कर्ष बढाते हैं। रस को तो मिश्र जी भी सिद्धान्त रूप मे अखण्ड तथा पूर्ण मानते है।

इस प्रकार यद्यपि कुछ आलोचको ने रस की उत्तम, मध्यम, अधम अथवा प्रधान या गौण कोटियाँ मानी है किन्तु अधिकाश मे रस की एकता, अखण्डता तथा पूर्णता की ही मान्यता रही है। हाँ, रस के विस्तार का सकेत अवश्य किया गया है। रस की सीमा मे सम्पूर्ण काव्य की आह्लादकता को समाने का विचार भी प्रकट हुआ है।

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० ८२।

उपर्युक्त रस सम्बन्धी समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आधुनिक आलोचको ने सैद्धान्तिक रूप मे रस का विवेचन लेखो, निबन्धो, आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ग्रन्थो मे प्रसगवश किया है। रीतिकारो की भाति लक्षण-ग्रथ लिख कर अथवा रस पर ही पुरानी परम्परा के ग्रन्थ लिखकर इस सम्प्रदाय का विवेचन नही किया है। इन आलोचको ने पूर्ववर्ती रस सम्प्रदाय को जिस रूप मे प्राप्त किया था, उसका विकास युग की नित्य प्रति विकसित होती हुई विचारधारा के आधार पर किया है। प्राय सभी आलोचको ने रस-सिद्धान्त के विकास की सम्भावनाए देखी है। श्यामसुन्दर दास आदि कुछ आलोचको ने पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर रस की मीमासा को शका की दृष्टि से ही देखा है। उनका विचार है कि रस का अध्ययन केवल भारतीय दर्शन तथा साहित्य-शास्त्र के आधार पर ही हो सकता है, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आधार पर नही। वे उसके विकास की सम्भावना से चाहे अपरिचित प्रतीत होते हो, किन्तु शुक्लजी आदि आलोचको ने रस के पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान के आधार पर अध्ययन की सम्भावना ही नही, आवश्यकता भी बताई है। उनका विचार है कि "हमे अपनी रस-निरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार तथा सस्कार करना पडेगा। इस पद्धति की नीव बहुत दूर तक डाली गई है, पर इन ढाचो का नए-नए अनुभवो के अनुसार अनेक दिशाओ मे फैलाव बहुत जरूरी है।"[1] इसी प्रकार वाजपेयी जी का रस के विस्तार के सम्बन्ध मे मत है कि उसकी सीमा मे भाव, रसाभास, भावाभास, अलकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि सब ही समाहित हो जाने चाहिए तथा रस केवल काव्य की आह्लादकता का ही द्योतक हो जाना चाहिए।

गुलाब राय आदि लेखको ने पहले ही रस के मनोविज्ञान के आधार पर अध्ययन पर जोर दिया था। इन आलोचको ने अपने रस-विवेचन मे काव्य-शास्त्र के नवीन सिद्धान्तो तथा मनोविज्ञान के तथ्यो का अधिकाधिक आधार लिया है। इसके विवेचन मे इनका लक्ष्य आचार्यो के वचनो को आप्त-वाक्य ही न मान कर नवयुग के बौद्धिक-प्रकाश मे सका विवेचन तथा विश्लेषण करना था, जिसमे ये विशेष रूप से सफल हुए है। आलोच्यकाल मे रस केवल परम्परागत आलोचना-पद्धति पर ही स्थिर नही रहा। उसका परिचयात्मक-विवेचन या आचार्यो का तुलनात्मक-अध्ययन ही प्रस्तुत नही किया गया, वरन् उसका सच्चे अर्थो मे विकास भी हुआ।

जिस प्रकार आलोच्यकाल मे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यजनावाद, अन्तश्चेतनावाद सौन्दर्यवाद आदि वादो के आधार पर अलकार-सम्प्रदाय ने नवीन दिशाओ मे विकास प्राप्त किया, उसी प्रकार पाश्चात्य-काव्य के

---

१. चिन्तामणि भाग २ (स० २००२) पृ० १७२

विचित्र सिद्धान्तो तथा वादो के आधार पर रस-सम्प्रदाय का वैज्ञानिक अध्ययन होने के कारण, इसका भी निश्चित तथा स्पष्ट विकास हुआ। यह वैज्ञानिक अध्ययन हिन्दी के क्षेत्र के बाहर[1] तथा भीतर दोनो क्षेत्रो मे होता रहा। इस प्रकार दर्शन, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान तथा काव्य के नवीन वादो तथा सिद्धान्तो के आधार पर रस-सिद्धान्त पर नवीन दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए गए। कई शताब्दियो से परम्परागत रूप मे स्वीकृत मान्यताओ तथा धारणाओ को तर्कपूर्ण रीति से खडित करके, नवीन मतो की स्थापनाए की गई। इस प्रकार आलोच्यकाल मे रस-सम्प्रदाय का प्रसार नवीन दिशाओ मे स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा।

इस काल मे जिस प्रकार रस के प्राचीन सिद्धान्तो का विश्लेषण तथा विवेचन हुआ, उसी प्रकार उसके विवेचन की परम्परागत शैली भी बदली। यह आवश्यक नही समझा गया कि रस-विवेचन को प्राचीन पद्धति पर ही आश्रित किया जाए। नवीन शैली अपनाने के कारण पुरानी-पद्धति का बहिष्कार किया गया। इस प्रकार नवीन रस-विवेचन की सक्षेप मे ये विशेषताए रही—(१) लक्षण-निरूपण अथवा परिचयात्मक-शैली को छोड दिया गया (२) रसो के उदाहरण देने की पद्धति समाप्त हुई (३) नायक-नायिका-वर्णन को रस के ग्रन्थो या निबन्धो मे स्थान नही दिया गया (४) एक ही स्थान पर रस के सभी अगो का पूर्ववत् विवेचन नही किया गया (५) रस सम्बन्धी पृथक् ग्रन्थ रचने की ओर अधिक प्रवृत्ति नही रही (६) रस-विवेचन केवल भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधार लेकर ही नही हुआ (७) शृगार के विभिन्न आलम्बनो के त्याग के साथ-साथ उद्दीपन पक्ष मे नख-शिख वर्णन, षट्-ऋतु-वर्णन आदि का विवेचन अनावश्यक समझकर छोड दिया गया। (८) ध्वनि के विवेचन के अन्तर्गत रस का विवेचन नही हुआ। उसकी स्वतन्त्र रूप मे ही व्याख्या हुई। (९) नवो रसो का वर्णन आधुनिक रीतिकारो की भाति एक ही स्थान पर प्राय नही हुआ। (१०) रस के विवेचन मे मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि का अधिकाधिक आधार लिया गया।

इस प्रकार रस के सभी अगो का परम्परागत वर्णन न करके इन आलोचको ने रस सम्बन्धी कुछ विशिष्ट समस्याओ का विश्लेषण तथा विवेचन अधिक गम्भीरता से किया है, जिनमे साधारणीकरण, रसानुभूति, रस का स्वरूप, भाव, विभाव, सचारी भाव, स्थायी भाव आदि का विवेचन प्रमुख है। इसलिए रस के विवेचन का विकास इन्ही दिशाओ मे प्रमुख रूप से हुआ है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कोई मतभेद नही प्रकट किया गया। उसको तो पूर्ववत् मान्यता मिलती रही, पर

---

१ हिन्दी के क्षेत्र के बाहर इस काल मे तीन खोजपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए —

१ डॉ० ए० सन्करन "सम आस्पेक्टस् ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म आर दा थ्योरी ऑव रस एण्ड ध्वनि" (१९२९)।

२ 'दी फिलोसफी ऑव ऐस्थैटिक प्लेजर' (१९४०)।

३ 'दी साइन्स आव इमोशन्स', डॉ० भगवान दास।

रस अलौकिक है या लौकिक, इस सम्बन्ध मे भी इनके द्वारा गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया। हा, प्रगतिवादी आलोचको ने इसके भावात्मक रूप की अपेक्षा इसको बौद्धिक-रूप मे ही अपनाया।

इन आलोचको का रस-विवेचन केवल दृश्य-काव्य तक सीमित न रह कर श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य, मुक्तक तथा प्रबन्ध-काव्य सभी के आधार पर किया गया। ये लेखक स्वय रस के ढांचो का अनेक दिशाओ मे फैलाव आवश्यक मानते थे। उनका लक्ष्य मनोविज्ञान की सहायता से उसका प्रसार तथा सस्कार करना था। इन्होने अनुपयोगी तथा भ्रामक धारणाओ का बहिष्कार किया। शुक्लजी ने रस और शब्द-शक्ति के निरूपण की गम्भीरता, व्यापकता तथा सम्भावनाओ पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "शब्द-शक्ति और रस-पद्धति का निरूपण तो अत्यन्त गम्भीर है। उसकी तह मे एक ऐसे स्वतन्त्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की सम्भावना छिपी हुई है, जिसके भीतर लाकर हम सारे ससार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढग पर कर सकते है।"[1]

पूर्ववर्ती आचार्यो की भाति रसो मे केवल प्रमुख रसो के विवेचन की ओर आलोचको का ध्यान कम गया। पूर्व आलोच्यकाल की भाति कुछ आलोचको की रुचि शृ गार को रसो मे श्रेष्ठ मानने की अवश्य रही, पर उसका विस्तृत वर्णन तथा नायक-नायिका भेद आदि का विवरण इनके द्वारा नही दिया गया। प्रेमचन्द जी ने हरिऔध तथा गुलाबराय जी की भाति शृ गार को ही एकमात्र रस माना है। उनका विचार है कि शृ गार मे चूँकि सत्य तथा सुन्दर अकृत्रिम तथा आडम्बर-हीन रूप मे विद्यमान रहता है, इसलिए वास्तव मे वही रस है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी यही मानते है।

इन आलोचको के विवेचन मे गद्य की ही प्रमुखता है। लक्षण-उदाहरण देने की प्रणाली तथा पद्य का बहिष्कार कर दिया गया है। रस-विवेचन सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत स्थान पाकर, प्रौढ तथा वैज्ञानिक रूप मे विकसित हुआ है। उसने सामान्य आलोचना के अन्तर्गत अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। वह केवल लक्षण-ग्रन्थो के रूप मे निजी विशिष्टता लिए हुए नही रह गया है।

जिस प्रकार आधुनिक-रीतिकारो के युग तक रस-विवेचन मे प्राय भरत, भानुदत्त, धनजय आदि का ही आधार लेकर तथा केवल उनके विचारो का स्पष्टी-करण तथा विवरण देकर ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती थी, ऐसा इन आलोचको ने नही किया। इनके द्वारा प्राय यह प्रयत्न किए गए कि प्राचीन आचार्यो की प्रत्येक मान्यता को तर्क के प्रकाश मे देख कर, युग की प्रबुद्ध मनीषा तथा ज्ञान के आधुनिकतम विस्तार के आधार पर, उसका आलोचनात्मक मूल्याकन किया जाए। रस के तत्वो का विवरण मात्र देने की प्रणाली समाप्त हो गई तथा व्याख्या,

---

१ 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२) पृ० १०३।

विस्तार, स्पष्टीकरण और नवीन काव्य के आधार पर उसका विवेचन किया गया।

इस काल मे स्थायी भावो, सचारी भावो, आलम्बन तथा उद्दीपन विभावो की परिभाषाए, मनोविज्ञान के आधार पर दी गई। इनके स्वरूप का प्राचीन, दार्शनिक तथा नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षण किया गया। इनके विभिन्न भेदो का भी मनोविकारो (इमोशस), भाववृत्तियो आदि के भेदो से तुलनात्मक अध्ययन किया गया। यह कार्य आलोच्यकाल के पश्चात् और भी प्रौढ रूप मे सम्पन्न हुआ। विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, सचारी भाव आदि के सम्बन्ध मे नवीन मान्यताओ का प्रतिपादन तथा रस के विभिन्न अवयवो को पहले से अधिक पुष्ट करके, रस-सिद्धान्त को आधुनिक आलोचना के लिए उपयुक्त, सब प्रकार से योग्य तथा आवश्यक समझा गया तथा उसके आधार पर विश्व भर के साहित्य की आलोचना करने की सम्भावना मानी गई।[1]

रस सम्प्रदाय का विरोध इस युग के किसी क्षेत्र मे नही हुआ। हा, उसकी उन्नति, परिष्कृति, सशोधन, युगानुकूलता तथा विस्तार की आवश्यकता अवश्य अधिक समझी गई तथा उसके प्रयत्न भी हुए। प० नन्द दुलारे वाजपेयी ने तो उसके विस्तार की यहा तक आवश्यकता समझी कि वे उसमे भाव, रसाभास, भावाभास, अलकार, ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि को भी समाहित करना तथा रस को काव्य की आह्लादकता का द्योतक बनाना उचित समझते है। वे कहते है कि यदि रस-सिद्धान्त का आकलन पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त तथा काव्य की विभिन्न प्रणालियों के आधार पर होने लगेगा, तो उसमे सब प्रकार के साहित्य को अपनी सीमा मे लाने की शक्ति आ जाएगी।

इस काल मे रस के विभिन्न अवयवो का तर्कपूर्ण रूप मे विवेचन, विश्लेषण तथा निरीक्षण भी हुआ। इस प्रकार भाव, सचारी-भाव, स्थायी-भाव, अनुभाव, विभाव, सभी को मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, दर्शन, काव्य-सिद्धान्त आदि के सदर्भ मे रख कर परखा गया, नए निष्कर्ष निकाले गए, नवीन स्थापनाए की गई और प्राचीन और अनुपयोगी तत्त्वो का खण्डन किया गया।

रसो की सख्या का विवेचन अथवा नवीन रसो की उद्भावनाओ की ओर नवीन आलोचको का ध्यान कम गया। सख्या-वृद्धि की अपेक्षा रस के स्वरूप, रसास्वाद आदि विषयो का मनोवैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण अध्ययन अधिक हुआ। शास्त्रीय नवरसो की अपेक्षा डॉ० भगवानदास आदि आलोचको ने जितने सचारी भाव है, उतने

१, "शब्द शक्ति, रस, रीति और अलकार—अपने यहा की ये बाते काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमासा मे कितने काम की है, देशी, विदेशी, नई पुरानी सब प्रकार की कविताओ की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा।"
चिन्तामणि भाग २ (स० २००२) पृ० २४६

सचारी अथवा व्यभिचारी रसो की भी सम्भावना मानी। उन्होने रसो का भी सकर माना है। उनका विचार है कि एक रस दूसरे रस के साथ मिलकर भी प्रकट हो सकता है। वाजपेयीजी ने रस के अन्तर्गत भाव, भावाभास, रसाभास आदि का समावेश मानकर, रस को काव्य की आह्लादकता का पर्याय मानना उचित समझा। भारतेन्दुजी ने काव्य के जिन १४ रसो को मान्यता दी थी, उनको अन्य आलोचको वे स्वीकार नही किया।

इन आलोचको द्वारा रस-सिद्धान्त को अधिकाधिक प्रौढता तथा समृद्धि भी प्रदान की गई। भावो के नवीन वर्गीकरण (जैसे 'सुधाशु'जी द्वारा शक्त तथा अशक्त भावो का वर्गीकरण तथा भावो के नए भेदो जैसे शुक्लजी द्वारा निर्देशित प्रबन्ध-काव्य मे बीजभाव का उल्लेख) की भी इस समय कल्पना की गई।

इस प्रकार इन आलोचको ने परम्परागत रस-सिद्धान्त के विकास के अनेक नए मार्ग खोल दिए। आधुनिक मनोविज्ञान, नवीन काव्य-सिद्धान्त तथा विभिन्न साहित्यिक वादो की सहायता से रस सिद्धान्त का प्रसार तथा सस्कार किया गया। समयानुकूल तथ्यो की पुष्टि करके रस सम्बन्धी अनुपयोगी विचारो का बहिष्कार किया गया। बहुत सी भ्रामक धारणाओ का विनाश करके रस के विभिन्न तथ्यो को स्पष्ट रूप मे रखा गया। काव्य के विभिन्न स्वरूपो तथा आदर्शो के साथ-साथ रस के स्वरूप के निरन्तर बदलने वाले विभिन्न दृष्टिकोण भी इन आलोचको की आलोचना मे परिलक्षित होते है।

इन आलोचको ने रस-सिद्धान्त को विस्तार ही नही वरन् व्यापकता भी प्रदान की है। इन्होने गम्भीर-चिन्तन के आधार पर नई मान्यताएँ स्थापित की हैं। प्रसाद जी ने सम्पूर्ण साहित्य को दो धाराओ (विवेकवादी तथा रसवादी) मे विभाजित करके साहित्य की एक रसवादी (आनन्दवादी) धारा को विशेष महत्व प्रदान किया। इस प्रकार उन्होने समस्त साहित्य मे रस की व्यापकता तथा श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया।

रस-सिद्धान्त की प्रणाली को इस युग के प्राय सभी प्रमुख आलोचको ने आधुनिक व्यावहारिक समीक्षा का आधार बनाने के योग्य समझा है। उनका विचार है कि इसमे कुछ सशोधन, परिष्कार तथा सस्कार के पश्चात्, इसे सब प्रकार के साहित्य की आलोचना के योग्य बनाया जा सकता है।

इनके द्वारा रस सम्बन्धी कुछ नवीन तथ्यो पर भी विचार किया गया, जैसे डॉ० भगवानदास प्रभृति विद्वानो ने इन प्रश्नो पर भी विचार किया कि रसो की उत्पत्ति साथ-साथ हुई या कुछ की पहले तथा कुछ की बाद मे हुई है। इन्होने रसो की परापर जाति या राशिकरण की सम्भावना पर भी विचार किया है। इन्होने इस प्रकार रस की तीन-तीन जातियाँ मानी है, तीन जातियाँ शुद्ध प्राय रसो की तथा तीन मिश्र रसो की।

इस समय आलकारिको तथा भक्ति-शास्त्रियो के रस सम्बन्धी दृष्टिकोण की व्याख्या भी कही-कही की गई है। हजारी प्रसाद जी ने भक्ति-शास्त्रियो की रति तथा आलकारिको की रति की विभिन्नता का विवेचन किया है। उन्होने मध्ययुग मे रस के साथ भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक साधना के परम लक्ष्य के एकीकरण को भारतीय साहित्य-साधना की ससार के साहित्य को अमूल्य देन माना है। इस विषय मे और अधिक गम्भीर विवेचन इस काल मे नही हुआ।

शुक्लजी तथा प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि आलोचको ने प्रकृति के सम्बन्ध में भी रस का विवेचन किया है। शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत यथातथ्य सश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन दोनो मे रसात्मकता उत्पन्न करने की क्षमता मानी है। वे प्रकृति को रति आदि भावो का आलम्बन होने के कारण रस-निष्पत्ति मे समर्थ मानते है।

ध्वनि सम्प्रदाय

सस्कृत साहित्य मे ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास

ध्वनि शब्द आलकारिको ने वैयाकरणो से ग्रहण किया है। वैयाकरण शब्द के दो रूप मानते हैं, एक व्यक्त या विकृत, दूसरा अव्यक्त या प्राकृत। पहला व्यक्त रूप ऐन्द्रिय है, जो उच्चारण की विधि के अनुसार बदलता रहता है तथा दूसरा सूक्ष्म रूप है, जो हमारे अन्तर मे नित्य अथवा अखण्ड रूप मे वर्त्तमान रहता है और वर्णो के स्वान विशेष को सुनकर उद्बुद्ध हो जाता है। इसको शब्द का स्फोट कहते है, जिसका दूसरा नाम 'ध्वनि' है। स्फोट से ही अर्थ अभिव्यक्त होता है (स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोट)। स्फोट ही नित्य तथा आदर्श शब्द है, जो पूर्वापर क्रम से विहीन है, अखण्ड तथा एकरस है।[1]

वैयाकरणो के इस ध्वनि शब्द को लेकर आलकारिको ने विस्तार दिया है। वे कहते है कि जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वर्णो के सुनने से शब्द का बोध नही होता, केवल स्फोट या ध्वनि के कारण होता है, इसी प्रकार शब्दो के वाच्यार्थ से काव्य के सौन्दर्य की प्रतीति नही होती, वह केवल ध्वनि या व्यग्यार्थ से ही होती है। यह स्फोट या ध्वनि, व्याकरण मे तो केवल शब्द मे होती है, किन्तु साहित्य-शास्त्र मे इसका प्रयोग अभिव्यजक शब्द, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ आदि सभी मे होता है। इस प्रकार ध्वनिकार ने व्याकरण के ध्वनि-सिद्धान्त से प्रेरित होकर अपने ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना की। यही ध्वनि-सिद्धान्त का मूल है।

---

१ न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचरा।
अर्थस्य वाचका वर्णा किन्तु स्फोट. स च द्विधा॥

शेषकृष्ण-स्फोट तत्व निरूपण, श्लोक ३।

ध्वनि-सम्प्रदाय साहित्य-शास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है। यह वह आधार-सिद्धान्त है, जिस पर सस्कृत काव्यालोचन के अन्य सिद्धान्त आश्रित है।[1] अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे, वे प्राय एकागी थे। अलकार और रीति तो काव्य के बहिरग को ही छूकर रह जाते थे। रस-सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दो के विषय मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी-भाव आदि का सगठन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पडती थी और प्राय अत्यन्त सुन्दर पदो को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियो को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति, व्यजना पर आश्रित, ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।[2] आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था, यह स्वय उनके कथन 'काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है, (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्व '—ध्वन्यालोक १/१) से स्पष्ट हो जाता है।

ध्वनि-सिद्धान्त वास्तव मे रस-सिद्धान्त का ही विकसित रूप है।[3] इसके द्वारा यह मत प्रतिपादित हुआ कि वास्तव मे रस, वाच्य न होकर व्यग्य ही होता है। अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो मे से उदभट तथा वामन को इस सिद्धान्त से परिचित माना है। वामन ने वक्रोक्ति की परिभाषा यह दी है कि लक्षणा मे जहाँ सादृश्य गर्भित हो वहाँ वक्रोक्ति होती है (सादृश्यात्लक्षणा वक्रोक्ति)। सादृश्य की यह व्यजना ध्वनि के अन्तर्गत आती है।

ध्वनि की सबसे स्पष्ट परिभाषा ध्वनिकार ने दी है। वे कहते है कि जिस काव्य मे अर्थ स्वय को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ' को प्रकाशित करते है, उस काव्य विशेष को विद्वानो ने 'ध्वनि' कहा है।[4] जहाँ वाच्यार्थ (मुख्य अर्थ) की अपेक्षा व्यग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारक हो, ऐसे काव्य को पडितो ने उत्तम काव्य (ध्वनि) कहा है।[5] काव्य की आत्मा रूप मे प्रतिष्ठित होने

---

१ "इन फैक्ट इट मे बी रिगार्डेड एज दी सेण्ट्रल प्रिंसिपल ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन सस्कृत, इट मे बी रिगार्डेड एज दी पाइवोटल डाक्ट्रीन राउण्ड ह्विच दी ह्वोल स्कीम ऑव आर्ट क्रिटिसिज्म इन सस्कृत रिवौल्व्स" "हाईवेज एण्ड बाई वेज ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन सस्कृत" ले० म० म० कुप्पुस्वामी (१९४५), पृ० ३२।

२ देखिए हिन्दी ध्वन्यालोक (१९५२), भूमिका डॉ० नगेन्द्र पृ० २२।

३ "दी ध्वनि थ्योरी इज ओनली एन एक्सटेन्शन ऑव दी रस-थ्योरी", 'ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत पोयीटिक्स', ले०—पी० वी० काणे (१९२३), पृ० सी० एल० ६।

४ यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥ ध्वन्यालोक १/१३।

५ इदमुत्तम मतिशायिनि व्यग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै. कथित। 'काव्यप्रकाश' १।४।

वाले अर्थ, जिनकी सहृदय जन प्रशसा करते है, दो प्रकार के होते हैं, वाच्य तथा प्रतीयमान।[1] वाच्य के अन्तर्गत अलकार आदि का समावेश होता है तथा प्रतीयमान के अन्तर्गत ध्वनि का। यह प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है, जो महाकवियो की वाणी मे ऐमे विभासित होता है जैसे रमणियो के मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि प्रसिद्ध सुन्दर अवयवो से भिन्न उनका लावण्य झलकता है। यह प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है, इस आस्वादमय अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियो की वाणी, उनकी अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न विशेषता को व्यक्त करती है।[2] प्रतीयमान अर्थ शब्द-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के ज्ञानमार्ग से स्पष्ट नही होता है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार ध्वनि सज्ञा केवल काव्य को ही नही दी गई वरन् शब्द, अर्थ और शब्द तथा अर्थ के व्यापार इन सवको ध्वनि कहते है।[3] ध्वनि शब्द का प्रयोग पाच परस्पर सम्बद्ध किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थो मे होता है। ध्वनि के प्रमुख दो भेद है—लक्षणामूला-ध्वनि तथा अभिधामूला-ध्वनि। परन्तु मम्मट ने उसके १०४४५ भेद तक कर दिए है।

ध्वनिकार ने काव्य के तीन रूप माने है—(१) ध्वनि काव्य (२) गुणीभूत व्यग्य तथा (३) चित्र-काव्य। ध्वनि-काव्य वह काव्य है, जिसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्य प्रधान रहता है। इसी को उत्तम काव्य भी कहते है। ध्वनि-काव्य के तीन भेद है—(१) रस-ध्वनि (२) अलकार-ध्वनि तथा (३) वस्तु-ध्वनि।[4] इनमे रस-ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। रस-ध्वनि के अन्तर्गत नव रसो की ही गणना नही है, प्रत्युत भाव, उनके आभास, भावोदय, भाव-शबलता तथा भाव-सन्धि आदि की भी गणना है। व्यग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य काव्य होते हैं, उनमे भिन्न काव्य को चित्र-काव्य कहते है। शब्द और अर्थ

---

१ योऽर्थ सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मेति व्यवस्थित·।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ 'ध्वन्यालोक' १।२।

२ देखिए 'ध्वन्यालोक' १।५।

३ सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापार। स (काव्य विशेप:) इति। अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येव व्यग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।
हिन्दी ध्वन्यालोक,
भूमिका डॉ० नगेन्द्र (सन् १९५२) पृ० २३।

४. वाच्यवाचकचारुत्वहेतुना विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विपयो मत॥ ध्वन्यालोक २।४

के भेद से यह दो प्रकार का होता है, शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र ।[1] ध्वनिकार ने चित्र को काव्य की कोटि मे स्थान दिया है, यद्यपि अभिनव तथा विश्वनाथ ने इसे काव्य नही माना है। ध्वनिकार रस का सम्बन्ध उत्तम काव्य से मानते है ('यतः परिपाकवता कवीना रसादितात्पर्यर्थविरहे व्यापार एव न शोभते'—'ध्वन्यालोक ४३ कारिका की व्याख्या)। रस अथवा रसध्वनि को पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का उत्तमोत्तम भेद कहा है। रस अथवा रसध्वनि ही काव्य का श्रेष्ठ तत्व है, यही (प्रतीयमान रस) काव्य की आत्मा है।[2] वस्तु-ध्वनि तथा अलकार-ध्वनि का रस मे पर्यवसान होने के कारण रस काव्य का प्राण है।

ध्वनिवादियो ने ध्वनि को इतना व्यापक बना दिया कि इसमे पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलकार, आदि सभी सिद्धान्तो का समाहार हो जाता है। इसकी व्यापकता इससे सिद्ध है कि उपसर्ग तथा प्रत्यय से लेकर महाकाव्य तक इसका क्षेत्र विस्तृत है। उपसर्ग, प्रत्यय, पद आदि की भाति महाकाव्यो से भी एक विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है, जो उसका मूल अर्थ होता है।

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा प० जगन्नाथ ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख आधार-स्तम्भ है। प्राचीन आलकारिको ने एक मत होकर आनन्दवर्धन को ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान किया है। आनन्दवर्धन ने रीति, अलकार आदि साहित्य-शास्त्र के अन्य सिद्धान्तो से ध्वनि का उचित सम्बन्ध स्थापित करके ध्वनि-सिद्धान्त को अत्यन्त व्यापक बनाया। ध्वनि-सिद्धान्त के विकास क्रम मे अभिनवगुप्त का विशेष महत्त्व इसलिए है कि उन्होने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका लिख कर ध्वनि-सिद्धान्त को विशेष रूप मे समृद्ध किया तथा उक्त सिद्धान्त के विरोध मे भट्टनायक द्वारा किए गए आक्षेपो का भी दृढता से खण्डन किया। इसी प्रकार मम्मट ने काव्य-प्रकाश के पचम-उल्लास मे विरोधियो के सिद्धान्तो को भ्रामक सिद्ध करके व्यजना को स्वतत्र वृत्ति के रूप मे स्वीकार किया। 'काव्य-प्रकाश' से प्रभावित होने के कारण मौलिकता का अभाव होते हुए भी विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' मे ध्वनि की सारगर्भित मीमासा की है। किन्तु 'रस-गगाधर' नामक अत्यन्त प्रौढ ग्रन्थ की रचना करके ध्वनि-सिद्धान्त को चरम विकास प्रदान करने का गौरव पण्डितराज जगन्नाथ को है। आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट आदि आचार्यो ने किया, किन्तु अभिनवगुप्त ने सारे आक्षेपो तथा भ्रान्तियो को निर्मूल कर दिया। आनन्द-

---

१ गुणप्रधानभावाभ्या व्यग्यस्यैव व्यवस्थिते।
काव्य उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।। ध्वन्यालोक ३।४२
चित्र शब्दार्थभेदेन द्विविध च व्यवस्थितम्।
तत्र किंचिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमत परम्।। ध्वन्यालोक ३।४३

२ देखिए 'ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत पोयीटिक्स', ले०—पी० वी० कणे (सन १६२३), पृ० ३७१।

वर्धन का महत्त्व इस बात मे है कि उन्होने ध्वनि को काव्य का एक प्रमुख तत्त्व ही नही अपितु आत्मा बताकर, उसे व्यवस्थित एव व्यापक रूप प्रदान किया।

पूर्व-आलोच्य काल मे हिन्दी मे ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास

पूर्व-आलोच्य काल मे हिन्दी मे ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास रस तथा अलकार सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक समृद्ध नही हुआ। इस काल के केशव, चिंतामणि, तोष, मतिराम, भूषण, देव आदि आचार्यो ने तो ध्वनि का कही उल्लेख भी नही किया है और रस तथा अलकार की ही महत्ता को स्वीकार किया है। किन्तु व्यावहारिक रूप मे स्वयभू से लेकर आज तक प्रायः सभी महान् कवियो ने व्यग्यार्थ की महत्ता को मान कर, अपने काव्य मे उसका समावेश किया है तथा अपने काव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाया है। कबीर, जायसी, सूर आदि कवियो के काव्य मे रस-ध्वनि का विशेष उत्कर्ष दिखाई पडता है। इसी प्रकार रीतिकालीन, बिहारी, घनानन्द आदि कवियो ने भी अपने काव्य का आधार व्यग्यार्थ ही रखा है। सेनापति ने स्पष्ट रूप से इस ओर सकेत किया है—'सरस अनूप रस रूप यामे धुनि है'।

इस काल मे ध्वनि का सैद्धातिक विवेचन करने वालो मे कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि आचार्य प्रमुख है। ये सब मम्मट के अनुसार ध्वनि अथवा रस-ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक है। इनके काव्य की पद्धति तथा सिद्धान्त-विवेचन दोनो से ही इनका अन्य आचार्यो से अधिक बौद्धिकवादी तथा रस-ध्वनिवादी होना सिद्ध होता है। इनमे सबसे पहले ध्वनि का विवरण देने वाले आचार्य कुलपति है, जिन्होने अपने 'रस-रहस्य' मे मम्मट के ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' का आधार ग्रहण किया है। इन्होने स्पष्ट रूप मे व्यग्य (ध्वनि) को ही आत्मा माना है। ये शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर, व्यग को जीवात्मा, गुणो को धर्म, अलकारो को भूषण तथा दोषो को उसके दोष मानते है —

> "व्यग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
> गुन गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन देह।।[1] (रस रहस्य)

'रस रहस्य' ग्रन्थ मे दोहो मे लक्षण तथा गद्य की वचनिकाओ मे विवेचन है। इसमे मम्मट के विचारो को पूर्णतया ग्रहण करके, ध्वनि आदि का विवेचन स्पष्ट रूप मे किया गया है।[2] इसी प्रकार सूरति मिश्र के 'काव्य सिद्धान्त' मे भी ध्वनि का वर्णन 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर किया गया है।

आचार्य श्रीपति ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्य सरोज' के प्रथम तीन दलो मे ध्वनि का विवरण दिया है, जो 'काव्य प्रकाश' पर आधारित है। इनका ग्रन्थ इतना महत्त्व-

---

१ देखिए 'हिन्दी ध्वन्यालोक' सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, सन् १९५२ पृ० ५६'।

२ जिते साज है कवित के मम्मट कहे बखान
ते सब भाषा मे कहे रस रहस्य मे आन ।। (रस-रहस्य ८-३१)।

पूर्ण है कि भिखारी दास ने भी काव्य-निर्णय मे बहुत सी बाते 'काव्य सरोज' से ग्रहण कर ली है।[1] इसमे ध्वनि का विस्तृत तथा स्पष्ट वर्णन है, किन्तु कोई मौलिकता नही है। सोमनाथ के ग्रन्थ 'रस पीयूष निधि' मे 'काव्य प्रकाश' तथा 'ध्वन्यालोक' के आधार पर ध्वनि का विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ की बीस तरगो मे, ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण स्वरूप, भरत, अभिनवगुप्त तथा मम्मट के मतो के आधार पर, स्पष्ट किया गया है। इन्होने ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायी होने के कारण व्यग्य को ही कविता का प्राण माना है।

इस काल के ध्वनि के आचार्यों मे भिखारीदास का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' भी मम्मट के आधार पर लिखा गया है। इन्होने इसके दूसरे उल्लास मे 'शब्द-शक्ति', छठे मे 'ध्वनि', सातवें मे 'गुणीभूत-व्यग्य' का विवेचन किया है तथा मम्मट के विचारो की इतने स्पष्ट रूप मे व्याख्या की है कि वे उनके ही से विचार मालूम होते है। उन्होने अपने ग्रन्थ के अष्टम-उल्लास मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप मे व्यक्त किया है। उनका विचार है कि जहा केवल अलकार ही होते है, वह 'अवर' काव्य होता है, किन्तु जहा अलकार युक्त कविता मे गुण मिले रहते है और व्यग्यार्थ प्रधान नही होता, वह मध्यम काव्य होता है।[2] इसी प्रकार जहा गुण, अलकार तथा रस व्यग्य का चमत्कार होता है, वहा उत्तम-काव्य होता है।[3] इस प्रकार उनके मत से अलकार का प्रयोग काव्य की श्रेणी-निर्धारण मे सहायक नही होता। काव्य की श्रेणी-निर्धारण का आधार व्यजना ही है। काव्य की उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणियो मे से, उन्होने मध्यम काव्य मे रस माना है, किन्तु यह बात स्पष्ट नही की है कि रस की विद्यमानता होने पर भी यहा व्यग्य क्यो नही है, रस तो ध्वनि मे व्यग्य ही होता है। पर कदाचित् उनका यह तात्पर्य है कि मध्यम काव्य मे रस व्यग्य होने पर भी प्रधान नही है। उनके विचार से रस, व्यग्य-प्रधान होने पर उत्तम-काव्य होता है। 'काव्य-निर्णय' मे ध्वनि-काव्य की उत्तमता स्पष्ट प्रतिपादित हुई है।[4]

इनका काव्य-सिद्धान्त-विवेचन अन्य आचार्यों की अपेक्षा विशेष प्रौढ है, फिर भी जिस प्रकार रीतिकाल के अन्य आचार्यों द्वारा काव्य-तत्वो का विवेचन स्पष्ट

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ले० रा० च० शुक्ल पृ० ३२८।

२ अलकार रस वात गुण ये तीनो दृढ जाहि
अवर व्यग कछु नाहि तो, मध्यम कविता आहि ।। 'काव्य-निर्णय', सातवा उल्लास।

३ रुचिर हेतु रस को बहुरि, अलकार जुत होइ।
चमत्कार गुण युक्त जो, उत्तम कविता सोइ ।। 'काव्य-निर्णय', सातवा उल्लास, पृ० ७०।

४ वाच्यार्थ ते व्यग्यमय, चमत्कार अधिकाई।
ध्वनि ताही को कहत है, उत्तम काव्य-विचार ।। 'काव्य निर्णय', पृ० ४६।

और गम्भीर रूप मे नही हो पाया है, इसी प्रकार से उनके द्वारा भी रस, गुण, अलकार तथा गुण का अन्तर, रस-स्थिति, रसानन्द, रस-निष्पत्ति आदि विषयो का विवेचन प्रौढ़ तथा गम्भीर रूप मे नही हुआ है। फिर भी इस काव्य के अन्य आचार्यो की अपेक्षा इनका रस-ध्वनि-सम्प्रदाय का विवेचन अधिक प्रौढ तथा प्रामाणिक है। इसके विस्तृत, वैज्ञानिक, पूर्ण तथा स्पष्ट विवेचन के कारण ही रस-ध्वनि-वादी समन्वयात्मक आदर्श को लेकर चलने वाले आचार्यो मे, इनका स्थान रीतिकाल मे सर्वोपरि माना जाता है। किन्तु ध्वनि सिद्धात के विवेचन मे इन्होने भी नवीन विचारो का समावेश करके कोई महत्त्वपूर्ण योग नही दिया है।

इनके पश्चात् प्रतापसाहि ने भी 'व्यग्यार्थ कौमुदी' नामक ग्रन्थ मे उत्तम-काव्य मे व्यग्य की प्रधानता मानी है :—

"विंग जीव है कवित मे शब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है वरने विंग प्रसग॥"[1]

इस ग्रन्थ का निर्माण ही व्यग्य की शक्ति समझाने के उद्देश्य से हुआ है। इनकी व्यजना की परिभाषा यह है कि जहा वाचक के सामने वाच्यार्थ रहते हुए भी, उसके भीतर और ही चमत्कारपूर्ण अर्थ होता है, उसको व्यजना कहते है।[2] इसी प्रकार वे जहा किसी शब्द मे बहुत गहरा अर्थ इस प्रकार दिखाई पडे जैसे स्त्री के कटाक्ष मे अधिक गहरा सकेत होता है, वहा व्यजना मानते है।[3] ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन करने वाले अन्य ग्रन्थो मे जनराज्य का 'कविता रस-विनोद' है, जो अन्य ध्वनि-सिद्धान्त के ग्रन्थो के समान 'काव्य प्रकाश' से ही प्रभावित है। इसमे समस्त अलकारो को अधम-काव्य के अन्तर्गत रखा है, जो उचित नही है, क्योकि बहुत से अर्थालकारो मे लक्षणा तथा व्यजना भी होती है। इसी प्रकार जगत सिह के 'साहित्य सुधा निधि' का ध्वनि-विवेचन भी 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर ही हुआ है। इसमे लक्षणा के लिए 'कुटिलावृत्ति' तथा अभिधा के लिए 'सरलावृत्ति' शब्दो का प्रयोग हुआ है। रणधीर सिह के 'काव्य-रत्नाकर' मे 'काव्य प्रकाश' के सूत्रो को उद्धृत करके उन पर वार्ताए लिखी गई हैं और भाषा मे ही विषय को स्पष्ट रूप मे

---

१ 'हिन्दी ध्वन्यालोक—सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, सन् १९५२, पृ० ५९ भूमिका से उद्धृत।

२ वाचक के सन्मुख रहे, अन्तर औरेइ अर्थ।
चमत्कार निकसे जहा, कहि सो विंग समर्थ॥ 'व्यग्यार्थ-कौमुदी, 'हिन्दी-काव्य शास्त्र का इतिहास, डॉ० भागीरथ मिश्र, स० २००५, पृ० १७४ से उद्धृत।

३ जहा शब्द मे अर्थ बहु अधिक अधिक दरसाइ।
तिय कटाक्ष लौं विंजना कहत सकल कविराइ॥ वही

प्रस्तुत किया गया है तथा अपने लक्षण देकर उन्ही की तुलना मम्मट के लक्षणो से की गई है।

केशव, चिन्तामणि, तोप, मतिराम, भूषण आदि रीतिकाल के प्रमुख आचार्यों ने ध्वनि का कही उल्लेख भी नही किया। इन्होने केवल अलकार तथा रस की महत्ता ही प्रतिपादित की है। देव ने तो ध्वनि का स्पष्ट विरोध किया है और व्यजना को अधम पुकारा है —

'अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लच्छना लीन
अधम व्यजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन।'[1]

देव रसवादी थे, इसलिए उन्होने ध्वनि की उपेक्षा की है। वे हृदय की रागात्मक अनुभूतियो को ही काव्य का सर्वस्व मानते है, इसलिए वे अभिधा तथा स्वभावोक्ति को ही रस योजना मे स्थान देते है, व्यजना को नही।

आलोच्य काल मे ध्वनि सम्प्रदाय का विकास

आलोच्य काल से पूर्व, जिस प्रकार ध्वनि का विवेचन कुछ समन्वयवादी आचार्यों द्वारा 'काव्य प्रकाश' की परम्परा मे होता आया था, वही इस काल मे आधुनिक रीतिकारो द्वारा भी चलता रहा। जिस प्रकार वे ध्वनि के सम्बन्ध मे कोई मौलिक-विवेचन न करके, लक्षण तथा उदाहरण द्वारा ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री करते थे, उसी प्रकार ये रीतिकार भी करते रहे। ध्वनि-सिद्धान्त के विकास मे विशेषरूप मे मौलिक योग किसी ने नही दिया। रीतिकाल मे रस की (विशेषकर शृगार की) इतनी प्रतिष्ठा हुई कि ध्वनि को पृथक् महत्त्व देने का प्रश्न उत्पन्न ही नही हुआ। इसी कारण इसका मौलिक विवेचन नही हो सका।

भारतेन्दु काल मे काव्य का कोई नवीन स्वरूप निर्मित नही हो पाया था। वह नए-नए विषयो को तो अपना रहा था पर उसकी शैली प्राय रीतिकालीन ही थी। काव्य मे शृगार की ही अब भी प्रमुखता थी, यद्यपि देश प्रेम, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि कुछ नवीन भावो तथा विषयो की ओर कवियो की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकने लगी थी। व्यग्यार्थ के विशेष प्रतिपादन के लिए यह युग अनुकूल नही हो सकता था। राजनीतिक स्थिति के प्रतिपल परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक, सास्कृतिक तथा धार्मिक स्थितियो मे परिवर्तन हो रहे थे, इसलिए काव्य के विषय के सम्बन्ध मे तो विवेचन होने लगा था पर शैली तथा काव्य की आत्मा का प्रश्न नही उठा। रस की (विशेषकर शृगार की) पूर्ववत् पूर्ण प्रतिष्ठा बनी रही। वैसे भी इस समय काव्य से अधिक गद्य की प्रतिष्ठा, व्यवस्था तथा रचना हुई। मुक्तक काव्य की अपेक्षा नाटको का विकास, जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रसवाद से

१ 'हिन्दी ध्वन्यालोक'—सम्पादक, डा० नगेन्द्र, सन् १९५२, पृ० ६०, भूमिका से उद्धृत।

है, इस समय की प्रमुख साहित्यिक विशिष्टता थी। इसलिए भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियो ने ध्वनिवाद के सिद्धान्त मे कोई विशेष योग नही दिया।

द्विवेदी काल तक आते-आते स्थिति और बदल गई थी। भारतेन्दु काल की कविता तो कभी रीति तथा भक्ति को देखती थी और कभी सामयिक जीवन की वास्तविकता को, पर द्विवेदी-काल के कवियो ने सामयिक जीवन की वास्तविकता को ही अपना संवेद्य मान लिया था। कविता मे रूखापन तथा इतिवृत्तात्मकता आ गई थी। कविता रस तथा ध्वनि दोनो से ही दूर चली गई थी। रस की निष्पत्ति के उथले प्रयत्न तो भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के गिनाने मात्र मे हो भी रहे थे, पर व्यंग्यार्थ की ओर से तो पूर्णतया प्रवृत्ति हट गई थी। वास्तव मे द्विवेदी-काल मे ध्वनि-सिद्धान्त अपने पूर्ण पराभव पर था। ध्वनि की मीमासा करना तो दूर की बात रही, काव्य मे उसके महत्त्व को स्वीकार करने का प्रश्न भी उठना असम्भव था। इतिवृत्त-कथन, व्यंजना का पूर्ण विपर्यय है। इसलिए इतिवृत्तात्मक काव्य-रचना के इस काल मे व्यावहारिक क्षेत्र मे ध्वनि का पूर्ण अभाव ही रहा। यद्यपि भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग के काव्य ने व्यावहारिक रूप मे ध्वनि-सिद्धान्त का बहिष्कार ही किया पर सैद्धान्तिक क्षेत्र मे परम्परागत लक्षण-ग्रन्थो मे ध्वनि-वर्णन की परम्परा पूर्ववत् चलती रही। इस युग के ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख आधुनिक रीतिकार यह है —

आधुनिक रीतिकार

लछिराम

लछिरामजी ने 'रावणेश्वर कल्पतरु' मे ध्वनि का सामान्य ढंग से वर्णन किया है। उन्होने भिखारीदास के समान, व्यंजना के लिए वाचक और लक्षक शब्दो को भाजन के समान माना है।

"वाचक लक्षक शब्द मे, राजत भाजन रूप
व्यंजन नीर सुवेस कहि वरनत सुकवि अनूप"[१]

उन्होने उदाहरणो मे आए हुए ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य को तिलक द्वारा ब्रजभाषा मे स्पष्ट किया है तथा ध्वनि का वर्णन अन्य आचार्यो की भाँति ध्वनि के भेद, असलक्ष्यक्रम के साथ नही किया है वरन् गुणीभूतव्यंग्य के बाद मे किया है। इन्होने भी ध्वनि का वर्णन परम्परागत रूप मे काव्य, रस, अलंकार आदि के वर्णन के साथ ही किया है।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

भानुजी ने अपनी 'काव्य-प्रभाकर' पुस्तक मे 'काव्य प्रकाश' 'साहित्य कौमुदी' 'साहित्य दर्पण' और 'मन्दारमरन्दचम्पू' आदि के आधार पर ध्वनि के

---

१ 'रावणेश्वर कल्पतरु' (सन् १८८२) ५-१।

मुख्य ५१ भेदो का एक कोष्ठक द्वारा निरूपण किया है। इन ग्रन्थो के भेदो का पृथक्-पृथक् उल्लेख करके, उन्होने स्वय ध्वनि के १८ मुख्य भेद स्वीकार किए है। यह १८ भेद मम्मट के 'काव्य प्रकाश' की कारिका "अष्टादशास्यतत्"—४१-५६ के आधार पर माने गए हैं। द्वितीय मयूख मे इनके लक्षण उदाहरण भी दिए गए हैं।

वे काव्य-प्रकाश की इस परिभाषा को (अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्य भवेद्ध्वनौ) को इस प्रकार कहना उपयुक्त समझते है "लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य और अभिधामूलक विवक्षितवाच्य को ध्वनि कहते है।" वे अप्पयदीक्षित तथा विश्वनाथ की परिपाभाओ को मानते है, पर इस तथ्य को स्पष्ट करना उचित समझते है कि व्यग्यार्थ म अधिक चमत्कार के होने का क्या तात्पर्य है। अधिक चम कार का अर्थ वे छिपी हुई गूढ बात मानते है, इसलिए उनकी ध्वनि की परिभाषा गूढ व्यग्य ही है।[1]

कन्हैया लाल पोद्दार

पोद्दारजी ने 'रस मजरी' मे काव्य के सामान्य अगो, रस, गुण, आदि के साथ ध्वनि का भी विवेचन किया है। वे काव्य मे ध्वनि और अलकार को प्रधानता देते हैं। उनका विचार है कि रस, भाव आदि जब ध्वनि द्वारा आते है, तभी अपना प्रभाव डालते है। उन्होने ध्वनि को कान्ता के लावण्य के समान ही समझा है। उनके ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य के लक्षण 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है, पर कही-कही उन्होने अन्य आचार्यो के मतो को भी उद्धृत किया है। उन्होने रस का वर्णन स्वतन्त्र न करके, ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया है। डा० भगीरथ मिश्र 'हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास' मे इस कारण इसे 'रसमजरी' की अपेक्षा 'ध्वनि मजरी' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[2] यद्यपि पोद्दारजी ने भी अन्य बहुत से लेखको के समान 'काव्य प्रकाश' को अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है, पर अन्य लेखको के ग्रन्थो से इनके ग्रन्थ का यह अन्तर है कि इससे यह स्पष्ट पता लगता है कि लेखक ने अन्य आचार्यो के विचारो को स्वय तोल कर ही मम्मट के विचारो को अपनाया है। वे भी भिखारीदास श्रीपति, कुलपति तथा प्रतापसाहि की भाति समन्वयवादी मम्मट की ही परम्परा मे हैं। उन्होने भी ध्वनि-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण मात्र ही किया है, कोई मौलिक-उद्भावना नही। उनके उदाहरण भी सस्कृत के अनुवाद ही है, हिन्दी के मौलिक उदाहरण नही। फिर भी विस्तार के साथ ध्वनि का वर्णन करके उन्होने काव्य-शास्त्र के विकास मे विशेष योग दिया है। हिन्दी के विशुद्ध ध्वनिवादियो मे पोद्दारजी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

---

१ देखिए 'काव्य-प्रभाकर' (स० १९६६), 'एकादश मयूख' पृ० ६६५।

२ 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' (स० २००५), डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १९७।

सीताराम शास्त्री

शास्त्रीजी के 'साहित्य-सिद्धान्त' मे भी मुख्यत काव्य-प्रकाश की विवेचन-पद्धति अपनाई गई है। उस ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण 'व्यजना स्थापन प्रकरण' मे काव्य मे व्यजना की प्रधानता प्रतिपादित की गई है। उसमे व्यजना के मत के प्रतिपादन मे विरोधी वादो तथा मतो द्वारा उठाई गई शकाओ को मम्मट तथा अन्य सस्कृत ग्रन्थो की विचार-पद्धति पर निर्मूल सिद्ध किया गया है। किन्तु जिन समस्याओ पर विचार किया गया है, उनका पूर्ण समाधान नही हो पाया है। यद्यपि यह ग्रन्थ हिन्दी गद्य मे लिखा गया है, पर इसमे सस्कृत साहित्य-शास्त्र की समस्याओ पर ही अधिक विचार किया गया है, हिन्दी की नही।

बिहारी लाल भट्ट

भट्टजी के 'साहित्य सागर' मे भी परम्परागत रूप मे सक्षेप मे ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य का वर्णन, रसो और भावो के वर्णन के साथ हुआ है। इसमे ध्वनि के साथ तात्पर्य-वृत्ति को भी समझाया गया है।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धुओ ने 'साहित्य पारिजात' के प्रथम भाग मे 'काव्य-निर्णय' के आधार पर काव्य के ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य तथा अवर नामक तीन भेद किए है। शब्द-शक्ति पर विचार करते समय, उन्होने ध्वनि का प्रसग छोड दिया है। उन्होने रसवत् आदि अलकारो को नही माना है तथा उनको असलक्ष्यक्रम-व्यग्य के अन्तर्गत ही समझ लिया है। उन्होने व्यावहारिक आलोचना मे कही रस-सिद्धान्त तथा कही ध्वनि-सिद्धान्त को मान्यता दी है। महात्मा सूरदास के काव्य की अन्य विशेषताएँ बताते हुए वे उनकी प्रबध-ध्वनि का निर्देश भी करते हैं।[1] उनकी व्यावहारिक-आलोचना के मानदडो मे ध्वनि का भी विशिष्ट स्थान है, जैसे देव की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं, "काकु अत्यत तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि आदि के अच्छे उदाहरण इनकी रचना मे मिलेंगे। इशारो तथा ध्वनि मे कही आपने बडे चमत्कारपूर्ण भाव रखे है।"[2]

पडित पद्मसिह शर्मा

शर्माजी के 'बिहारी की सतसई' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ मे ध्वनि-चमत्कार को विशेष महत्त्व दिया गया है। उन्होने बिहारी की व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत बिहारी के काव्य मे व्यजना के सौन्दर्य की बार-बार प्रशसा करके अपना ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुकूल होना सिद्ध किया है। जिस प्रकार लाला भगवानदीन

---

१ "गोस्वामी तुलसीदास की भाँति इन महाराज ने भी अपनी कविता मे पुराने आख्यानो और कथाओ का हवाला बहुत स्थानो पर दिया है।" हिन्दी नवरत्न (स० १९९८) पृ० २४२।

२. देखिए वही, पृ० ३०।

अलकार की ओर झुके थे तथा पडित कृष्ण बिहारी मिश्र रस-सिद्धान्त के अनुयायी थे, पडित पद्मसिह शर्मा ध्वनि के समर्थक थे। बिहारी के काव्य-सौन्दर्य मे ध्वनि, वाकपन, काइयाँपन तथा व्यग्यार्थ दिखा कर उन्होने ध्वनि के सौन्दर्य पर ही बल दिया है। वे लिखते है कि "इस प्रकार के स्थलो मे जहा बिहारी पर पूववर्ती महाकवियो की छाया है, ऐसा कोई अवसर नही जहाँ इन्होने बात मे बात पैदा न कर दी हो।"[1] यह बात मे बात पैदा करना भी व्यग्यार्थ का द्योतक है। इसी प्रकार के उनके अन्य कथन भी है जैसे, "बिहारी लाल का पद यहाँ बडा ध्वनिपूर्ण है।"[2] "इनके इस वर्णन मे एक निराला बाँकपन है, कुछ विशेष वक्रता है, व्यग्य का प्राबल्य है।"[3] तथा कविता की तरह और भी कुछ चीजे ऐसी है, जहाँ वक्रता (बाँकपन, बकई) ही कदर और कीमत पाती है। बिहारी ने कहा है—

> "गढरचना बरुनी अलक चितवनि भौह कमान।
> आप बकई ही व (च) ढै तरुनि तुरगमि तानि।"[4]

एक-आध स्थल पर शर्मा जी ने सिद्धान्त रूप मे भी ध्वनि की उत्कृष्टता का उल्लेख किया है, जैसे मुक्तक मे अलौकिकता लाने के लिए भी कवि को अभिधा से बहुत कम और ध्वनि (व्यजना) से अधिक काम लेना पडा है। यही उसके चमत्कार का मुख्य हेतु है। इस प्रकार के रस-ध्वनिवादी काव्य के निर्माता ही वास्तव मे 'महाकवि' पद के अधिकारी है।[5] उनका अभिनवगुप्त के मतानुसार यह विचार है कि "जिनमे प्रतीयमान अर्थ से युक्त काव्य निर्माण की शक्ति है, उनका ही काव्य महान् है तथा वे ही 'महाकवि' बनने के अधिकारी है।"[6] इस प्रकार स्पष्ट रूप मे वे रस ध्वनिवादी काव्य को उत्कृष्टता प्रदान करते है। मुक्तक काव्य मे तो वे, विशेष रूप से, ध्वनि तथा व्यजना द्वारा ही काव्य का चरम उत्कर्ष मानते है। प० पद्म सिह शर्मा ने सैद्धान्तिक रूप मे ही नही, वरन् व्यावहारिक आलोचना मे भी ध्वनि-सिद्धान्त को काव्यालोचन का मानदड बनाया है। इस रूप मे उनका इस सम्प्रदाय को विकसित करने का विशेष श्रेय है। किसी विशेष सिद्धान्त को मानदड बनाकर काव्य की व्यावहारिक आलोचना करने वाले आलोचको मे इनका विशेष स्थान है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि सैद्धातिक विवेचन के क्षेत्र मे आधुनिक रीतिकारो न ध्वनि का विवेचन मम्मट तथा पण्डितराज के आधार पर ही समन्वयात्मक रूप मे किया है। उन्होने इसके परम्परागत-विवेचन को विकास प्रदान नही

---

१. बिहारी सतसई—पद्मसिह शर्मा (स० १९७५) पृ० २५।
२. व ी पृ० ६७।
३ वही, पृ० १६०।
४. वही, पृ० २१६।
५ वही, पृ० २१।
६ वही, पृ० २१।

किया है, वरन् उसका परिचयात्मक विवरण मात्र ही दिया है, जो या तो कुलपति, प्रतापसाहि आदि आचार्यों की परम्परा का है, जो ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते थे अथवा दास, श्रीपति आदि आचार्यों के समान है, जिन्होंने ध्वनि का रस मे समाहार करके, उसका विवरण दिया है। इन रीतिकारो ने किसी भी क्षेत्र मे इस सम्प्रदाय के विभिन्न तत्वो का विकास नही किया। इनके विवेचन मे यत्र तत्र कुछ प्राचीनो के मतो का या तो स्पष्टीकरण हुआ है या उनमे केवल कुछ साधारण सशोधन मात्र प्रस्तुत कि ए गए है। ये सशोधन विशेष मौलिक नही हैं, वरन् एक आचार्य के मत का वहिष्कार करके, प्राय. दूसरे के मत को मान्यता ही दी गई है, जो तर्क की अपेक्षा रुचि पर अधिक आश्रित है।

यह सैद्धान्तिक विवेचन परम्परागत, साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थो की भाँति ही रस, रीति, गुण, अलकार आदि काव्यांगो के विवेचन के साथ ही साथ होता रहा। इन आधुनिक रीतिकारो के द्वारा अलकार तथा रस की भाँति ध्वनि पर स्वतन्त्र ग्रन्थो का निर्माण नही हुआ, यद्यपि 'रस मजरी' मे ध्वनि का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। इनके ध्वनि के विवेचन के अन्तर्गत, ध्वनि के भेदो का निरूपण, मुख्य भेदो का स्थापन, ध्वनि की परिभाषा का विवेचन, स्पष्टीकरण तथा तुलनात्मक अध्ययन, ध्वनि-काव्य की श्रेणियो का वर्णन, इसकी व्यापकता का विवेचन, अन्य सम्प्रदायो से इसका पारस्परिक सम्बन्ध आदि विषय अपनाए गए।

इस युग के कुछ रीतिकारो ने सैद्धान्तिक-विवेचन के अतिरिक्त, ध्वनि को व्यावहारिक आलोचना का भी महत्त्वपूर्ण मानदण्ड वनाया है। यह इनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मिश्रवन्धु तथा पं० पद्मसिंह शर्मा ने कवियो के काव्य मे ध्वनि की व्याख्या करके, उस काव्य को उच्चकोटि का माना है, जो ध्वनि-पर आधारित होता है। वे रस-ध्वनिवादियो को ही महाकवि-पद का अधिकारी मानते हैं।[1] इन्होंने केवल उसी काव्य को उच्च कोटि का माना है, जिसमे प्रतीयमान अर्थ हो। इन्होंने ध्वनि को काव्य का अनिवार्य अग तो नही माना, पर यह अवश्य माना है कि उसके योग से काव्य उच्च कोटि का हो जाता है।

साधारणतः इन रीतिकारो ने प्राय. 'काव्य-प्रकाश' की ध्वनि की परिभाषा को ही अधिक मान्यता दी है। किन्तु अन्य आचार्यों का भी अनुकरण किया गया है। भानुजी ने अप्पय दीक्षित तथा विश्वनाथ की परिभाषाओ के समान व्यग्यार्थ के चमत्कार का अर्थ 'छिपी हुई गूढ वात' माना है। पोद्दारजी ने ध्वनिकार की भाँति ध्वनि को कान्ता के लावण्य के समान माना है।

इन रीतिकारो मे से कुछ ने ध्वनि को काव्य की आत्मा भी माना है। पोद्दारजी ने 'रस मजरी' मे रस का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत ही किया है। वे हिन्दी के विशुद्ध ध्वनिवादी आलोचक हैं। इन्होंने ध्वनिकार तथा मम्मट की भाँति ध्वनि, गुणी-

१ देखिए 'विहारी की सतसई', लेखक पद्मसिंह शर्मा, (स० १९९५) पृ० २१।

भूत व्यग्य तथा अवर नामक तीन प्रकार के काव्य भी माने है। इस प्रकार इन रीति-कारो का ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन अधिकाश मे प्राचीन धारा से ही प्रभावित रहा। पाश्चात्य-साहित्यालोचन के सिद्धान्तो का इस पर विशेष प्रभाव नही है।

आधुनिक रीतिकारो के अतिरिक्त, ध्वनि-सिद्धान्त के विवेचन का विस्तार करने मे, रामचन्द्र शुक्ल, जयशकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त आदि विद्वानो ने विशेष योग दिया। इन्होने ध्वनि सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ को नवीन परिस्थिति, मनोविज्ञान, भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आधार पर वैज्ञानिक रूप मे परखा है। इनके द्वारा हिन्दी साहित्यालोचन मे पहली बार ध्वनि के सिद्धान्त पर मौलिक तथा गम्भीर चिंतन का समावेश हुआ। इनकी आलोचना परम्परागतरूप मे लक्षण-ग्रथो की शैली मे नही है। इन्होने निबन्धो, लेखो तथा भूमिकाओ मे विभिन्न प्रसगो के अन्तर्गत अथवा स्वतत्ररूप से इस विषय की व्याख्या की है।

आधुनिक आलोचक

पडित रामचन्द्र शुक्ल

शुक्लजी वास्तव मे रसवादी थे, किन्तु अपनी विस्तृत सैद्धान्तिक तथा व्याव-हारिक आलोचना के अन्तर्गत, उन्होने प्राय सभी काव्य सम्प्रदायो तथा सिद्धान्तो की समस्याओ पर मौलिक रूप मे चिन्तन करके, उनके सम्बन्ध मे नवीन विचारो का प्रतिपादन किया है। वे यद्यपि पडित पद्मसिंह शर्मा के समकालीन थे, पर अपनी आलो-चना-प्रणाली की समृद्धि तथा निजी प्रतिभा की विशेषता के कारण, उनसे आगे बढे हुए थे। उन्होने ध्वनि-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे भी परम्परागत विचारधारा से हट कर नवीन विचार प्रस्तुत किए है। इन्दोर वाले भाषण मे काव्य के सम्बन्ध मे विचार करते हुए, उन्होने भाषा की व्यजना-शक्ति पर विचार किया है।

वे व्यग्यार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते है कि "अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप मे परिणत होकर हमारे सामने आता है।"[1] वे वस्तु तथा भाव-व्यजना का भेद बताते हुए कहते है कि वस्तु-व्यजना किसी तथ्य या वृत्त की व्यजना करती है और भाव-व्यजना किसी भाव की व्यजना करती है। भाव की व्यजना ही जब रस के सब अवयवो के सहित होती है तब रस-व्यजना कहलाती है। वे वस्तु तथा भाव-व्यजना को भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मानते हैं। उनका विचार है कि "वस्तु-व्यजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भाव-व्यजना जिस रूप मे मानी गई है, उस रूप मे किसी भाव का सचार करती है तथा उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनो भिन्न कोटि की क्रियाएँ है।"[2] उनका

---

१ "चिन्तामणि", रामचन्द्र शुक्ल, (स० २००२) भाग २, पृ० १७६।

२ वही, पृ० १७६।

विचार है कि जब भाव-व्यजना मे किसी भाव की अनुभूति होती है, तो वह व्यग्यार्थ नही कहा जा सकता।[1] वे भाव-व्यजना को एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर अर्थात् वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ पर (चाहे उसका पूर्वापरक्रम लक्षित न भी हो) जाना नही मानते, क्योकि रति आदि भावो की अनुभूति प्राप्त करना एक अलग बात है तथा एक अर्थ मे दूसरे अर्थ पर जाना दूसरी बात है। इस प्रकार भाव-व्यजना तथा वस्तु व्यजना पूर्णतया भिन्न कोटि की क्रियाएँ है। वे स्पष्ट कहते है कि "यदि व्यग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप मे होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है।"[2] इस प्रकार व्यग्यार्थ वस्तु-व्यजना के अन्तर्गत है, भाव-व्यजना के नही। उसमे तो भाव की अनुभूति अथवा उसका रसात्मक अनुभव ही है। इस प्रकार वे भाव-व्यजना या रस-व्यजना को वस्तु-व्यजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति मानते है।

अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे एक और प्रमाण देते है। महिम भट्ट ने व्यजना को अनुमान से कोई भिन्न वस्तु नही माना था। पर चू कि रस-व्यजना अनुमान द्वारा नही उत्पन्न हो सकती, इसलिए भट्टजी के मत का विरोध हुआ था। पर शुक्लजी का विचार है कि जहाँ तक वस्तु-व्यजना का प्रश्न है, भट्टजी का अनुमान वाला पक्ष ठीक ठहरता है, क्योकि व्यग्य-वस्तु या तथ्य तक अनुमान द्वारा ही पहुँचा जा सकता है, किन्तु अनुमान के द्वारा रस की व्यजना नही हो सकती। इसलिए शुक्लजी का कथन है कि "अनुमान द्वारा बेधडक इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँच कर कि अमुक के मन मे प्रेम है या क्रोध है, उन्हे फिर इस बात को आस्वाद पदवी तक पहुँचना पडा है। इस 'आस्वाद-पदवी' तक रत्यादि का ज्ञान किस प्रक्रिया से पहुँचता है, यह सवाल ज्यो का त्यो रह जाता है।"[3] इस प्रकार शुक्लजी का यह निर्णय है कि व्यजना शब्द का प्रयोग या तो वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध मे नही होना चाहिए या भाव या रस के सम्बन्ध मे।

इस समस्या के सम्बन्ध मे कि भाव-व्यजना तथा वस्तु-व्यजना मे से काव्य तत्व दोनो मे है या एक मे, शुक्लजी का विचार है कि यद्यपि आधुनिक अभिव्यजनावादी, भाव-व्यजना तथा वस्तु-व्यजना दोनो मे काव्य-तत्व मानते है और अनूठे ढग से की हुई वस्तु व्यजना भी काव्य ही समझी जाती है, पर वास्तव मे अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध कुछ दूर का सही, हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा।[4] उनका विचार है कि चाहे किसी उक्ति मे कोई भाव

---

१ "अत किसी भाव की अनुभूति को व्यग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नही जान पडता।" वही, पृ० १७६।

२. 'चिन्तामणि' रामचन्द्र शुक्ल, (स० २००२), भाग २—पृ० १७६।

३ देखिए वही, पृ० १७६-१८०।

४ देखिए वही, पृ० १०६

सीधे-सीधे व्यग्य न हो, पर उसकी तह मे उस उक्ति को प्रेरणा देने वाला कोई भाव अवश्य छिपा होगा। उसका वे यह उदाहरण देते है कि मान लीजिए कि अनूठे भग्यन्तर से कथित किसी लक्षणापूर्ण उक्ति मे सौन्दर्य का वर्णन है। इस उक्ति मे चाहे कोई भाव सीधे-सीधे व्यग्य न हो, पर उसकी तह मे सौन्दर्य को ऐसे अनूठे ढग से कहने की प्रेरणा करने वाला रति या प्रेम छिपा हुआ है। जिस वस्तु की सुन्दरता के वर्णन मे हम प्रवृत्त होगे, वह हमारे रति भाव का आलम्बन होगा।"[1] उनके मत से काव्य वही उक्ति होती है, जिसका सम्बन्ध अन्तत किसी भाव या वृत्ति से होता है। वे वस्तु-व्यजना को भी काव्य तभी मान सकते है, जब उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से किसी भाव से होगा। इस प्रकार वे वास्तव मे रस के ही समर्थक है। वे आलम्बन मात्र के वर्णन को भी रसात्मक मानते है, क्योकि वह आलम्बन किसी भाव का ही होता है। इस प्रकार रस को ही काव्य की आत्मा मानते हुए भी उन्होने ध्वनि-सम्बन्धी तथ्य का भी सुन्दर विश्लेषण किया है।

शुक्लजी का दूसरा विवेचन इस समस्या को लेकर चला है कि काव्य मे रमणीयता किसमे रहती है, वाच्यार्थ मे अथवा लक्ष्यार्थ मे अथवा व्यग्यार्थ मे ? वे इसका यही उत्तर देते है कि रमणीयता वाच्यार्थ मे रहती है, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। इस सम्बन्ध मे वे कहते है कि 'कोई रसात्मक या चमत्कार-विधायक उक्ति लीजिए। इस उक्ति ही मे अर्थात् इसके वाच्यार्थ ही मे काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ मे नही।"[2] इस तथ्य को प्रमाणसहित स्पष्ट करने के लिए, वे एक लक्षणयुक्त वाक्य, "जी कर हाय पतग मरे क्यो" मे वैचित्र्य या चमत्कार, उसके अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या वाच्यार्थ मे ही सिद्ध करते है, उसके लक्ष्यार्थ 'जीकर पतग क्यो कष्ट भोगे ?' मे नही। इसी प्रकार वे 'साकेत' मे उर्मिला की यह रसात्मक उक्ति—

> 'आप अवधि बन सकू कही तो क्या कुछ देर लगाऊ ?
> मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊ ॥'

को लेकर यह स्पष्ट करते है कि सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ मे है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य वाच्यार्थ मे नही कि "उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।" इस प्रकार वे देव के समान (अभिधा) वाच्यार्थ को ही महत्त्व देते है तथा रस इसी मे मानते है।

यदि वाच्यार्थ मे ही रस या चमत्कार है, तो यह प्रश्न उठता है लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ का काव्य मे क्या प्रयोजन है तथा वाच्यार्थ के बाधित, व्याहत या अनुपपन्न होने पर, लक्षणा और व्यजना के सहारे, योग्य और बुद्धि-ग्राह्य अर्थ प्राप्त क्यो किया जाता है ? उसका उत्तर शुक्लजी यह देते है कि "इस प्रयास का अभिप्राय यही है

१ 'चिन्तामणि भाग २' (स० २००२), पृ० १०६।
२ वही, पृ० १८२।

कि काव्य की उक्ति चाहे कितनी अतिरंजित हो, दूरारूढ़ और उड़ान वाली हो, उसका वाच्यार्थ चाहे कितना ही प्रकरणच्युत, व्याहत और असम्भव हो, उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य और बुद्धि-ग्राह्य अर्थ होना ही चाहिए।"[1] इस बुद्धिग्राह्य अर्थ को अतिरंजित, प्रकरण-च्युत, व्याहत तथा असम्भव वाच्यार्थ की तह में से निकाल लेना चाहिए। शुक्लजी वाच्यार्थ को काव्य नहीं मानते वरन उसे काव्य को धारण करने वाला सत्य मानते हैं, जिसकी देख रेख में काव्य मनमानी क्रीडा करता है।[2] उनका विचार है कि काव्य तो अयोग्य, अनुपपन्न, बुद्धि को अग्राह्य उक्ति ही है पर "इस व्यंजना करने वाली उक्ति की साधुता और सचाई की परख के लिए उसको वाच्यार्थ को सामने रखने की आवश्यकता है।"[3] इस प्रकार किसी उक्ति के योग्य तथा बुद्धि-ग्राह्य अर्थ के द्वारा यह निश्चित होता है कि वह उक्ति काव्यत्व को धारण किए हुए है या नहीं। वही उक्ति काव्यत्व पूर्ण होगी जिसकी परख, योग्य तथा बुद्धिग्राह्य अर्थ के द्वारा हो सकती है। यदि किसी उक्ति का स्वरूप ठीक ठिकाने का नहीं है या वह ऊटपटाग है, तो उसका सम्बन्ध किसी योग्य तथा बुद्धिग्राह्य अर्थ के साथ नहीं हो सकता। काव्य उसी अयोग्य, अनुपपन्न, बुद्धि को अग्राह्य उक्ति में होगा, जिसका सम्बन्ध किसी योग्य, उपपन्न या बुद्धिग्राह्य अर्थ से हो। इस प्रकार बुद्धि-ग्राह्य तथा उपपन्न अर्थ काव्य की सत्यता को प्रमाणित करने के अर्थ से है और इस रूप से उसका विशेष प्रयोजन है। वैसे काव्य वाच्यार्थ में ही रहता है पर उस वाच्यार्थ का सम्बन्ध अन्तत लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा प्राप्त, योग्य और उपपन्न अर्थ से होना अनिवार्य है।

पर अर्थ के इस सम्बन्ध को देखने अथवा व्यजना करने वाली उक्ति की साधुता और सचाई की परख के लिए वाच्यार्थ को सामने रखने की आवश्यकता, उन समीक्षकों और आलोचकों को पडती है, जो उस उक्ति के काव्यत्व को परखने का प्रयत्न करते हैं। वे ही उस सत्य के साथ (योग्य, उपपन्न तथा बुद्धिग्राह्य अर्थ के साथ) किसी उक्ति का सम्बन्ध देख कर, यह निर्णय करते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक ठिकाने का है, या ऊटपटाग है। शुक्लजी अयोग्य वाच्यार्थ में काव्यत्व मानते हैं, पर उनके विचार से ऐसे वाच्यार्थ में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए, चाहे वह योग्यता खुली हो या छिपी हो। इसके बिना वाच्यार्थ अत्यन्त अयोग्य और असम्बद्ध-प्रलाप मात्र होगा। वैसे उनका यह भी विचार है कि "ऐसे असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोजन भर की योग्यता छिपी रहती है, जैसे शोकोन्मत्त या वियोगविक्षिप्त के प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही योग्यता है।"[4]

१ चिन्तामणि भाग २ (स० २००२), पृ० १८२।
२ देखिए वही, पृ० १८३।
३ वही, पृ० १८४।
४ वही, पृ० १८४।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता, रूखेपन तथा गद्यमयता की प्रतिक्रिया स्वरूप जब हिन्दी मे छायावाद का जन्म हुआ, तो अभिधा-शक्ति का बहिष्का' करके कवि शब्दो के लाक्षणिक प्रयोगो तथा व्यग्यार्थो की ओर अधिक बढने लगे। आधुनिक खडी बोली के प्राय सभी छायावादी कवियो ने काव्य मे व्यावहारिक रूप मे वाच्यार्थ को ही काव्य न समझ कर अधिक से अधिक लक्षणा तथा व्यजना का प्रयोग किया है।

जयशकर प्रसाद

छायावाद के महान् प्रवर्त्तक जयशकर प्रसाद ने 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक लेखो मे छायावाद की उत्पत्ति बताते हुए, उसके मूल मे व्यजना को ही आधार माना है। छायावादी युग के सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो के व्यवहार मे, जब प्रचलित पदयोजना (वाच्यार्थ) असफल हो गई, तब उसके लिए नए वाक्य-विन्यास तथा शब्दो की नवीन भगिमा की आवश्यकता हुई। प्रसादजी के शब्दो मे तब हिन्दी काव्य मे "शब्द विन्यास मे ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[1] यह सूक्ष्म अभिव्यक्ति लक्षणा अथवा व्यजना के आधार पर हुई। 'शब्द विन्यास मे ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न हुई' का तात्पर्य यही है कि ऐसी लाक्षणिक तथा व्यजनापूर्ण भाषा का प्रयोग हुआ कि जिसमे मर्म को स्पर्श करने वाली ध्वनि की उत्पत्ति हुई। इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा अर्थ-चमत्कार का महत्त्व बढा और अभिधा से विलक्षण अर्थ (लाक्षणिक अथवा व्यग्यार्थ) काव्य मे मान्य हुए। छाया या विच्छित्ति शब्द वास्तव मे प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि या व्यजना का ही नाम है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की तुलना कान्ता के शरीर के लावण्य के समान दी है, जिसे ही 'छाया' या 'विच्छित्ति' कहा गया है। इसलिए छायावाद का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी एक प्रकार से ध्वनिवाद ही है। जिस काव्य मे छाया, ध्वनि, लाक्षणिकता, प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्ति मे स्थान मिले वह छायावाद है। इस प्रकार प्रसादजी द्वारा छायावादी काव्य मे ध्वनि-सिद्धान्त को महत्वपूर्ण स्थान मिला तथा सैद्धान्तिक विवेचन मे और काव्य-रचना के व्यावहारिक रूप मे भी ध्वनि का महत्त्व बढा।

प्रसादजी ने ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा मे सिद्धान्त रूप मे तो कुछ नही लिखा पर छायावादी व्याख्या के अन्तर्गत आनन्दवर्द्धन के प्रतीयमान शब्द की महत्ता को अपनाया है। ध्वनि के सम्बन्ध मे प्रसादजी ने लिखा है—"अभिव्यक्ति का यह निराला ढग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। उसके लिए प्राचीनो ने कहा है—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदगेषु तल्लावण्य महोच्यते॥

---

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' प्रसाद, (स० १९९६), पृ० १४३।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अङ्ग मे लावण्य की कही जाती है।"[1] जिस प्रकार आनन्दवर्द्धन मानते है कि अलकार आदि ने युक्त होने पर भी लज्जा ही कुलवधुओ का मुख्य अलकार है, उसी प्रकार यह व्यग्यार्थ की छाया ही महाकवियो की वाणी का मुख्य अलकार है। उसी प्रकार प्रसादजी कहते है कि 'कवि की वाणी मे यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलकार जो पहन लिया जाता है वह नही है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुलभ श्री की वहिन ही है, घूघट वाली लज्जा नही। सस्कृत साहित्य मे यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।"[2] सस्कृत साहित्य मे ध्वनि का ऐतिहासिक क्रम विकास सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए प्रसादजी कहते हैं कि अलकारो के भीतर आने पर भी यह अभिव्यक्ति या जिनमे छाया की स्निग्धता तथा तरलता है, उनसे कुछ अधिक है। इस प्रकार वे इन अभिव्यक्तियो का महत्त्व अलकारो से अधिक मानते है। व्यग्यरूपता को प्राप्त होने वाले अलकार अत्यन्त काव्य-सौन्दर्य प्राप्त करते है (तेऽलकारा पराछाया यान्ति ध्वन्यगतागता —ध्वन्यालोक २—२)।

प्रसादजी छायावाद का आधार ही व्यग्यार्थ मानते है। उनका कथन है कि "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताए है। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"[3] इस प्रकार प्रसादजी के मत से आधुनिक छायावादी काव्य का ध्वनि-सिद्धान्त ही मूलाधार है। मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करना इसका प्रधान लक्षण है। प्रसादजी का रस का विवेचन व्यग्यार्थ विवेचन से पृथक् है तथा नाटक को लेकर ही है। श्रव्य काव्य मे वे पूर्ण रसात्मकता नही मानते। इसलिए छायावाद के सम्बन्ध मे उन्होने उसका विवेचन नही किया है। श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत वे ध्वनि का महत्त्व मानते है।

सुमित्रानन्दन पत

इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पत ने 'पल्लव' की भूमिका मे अपना कवित्वपूर्ण मधुर स्वर रूढिवादी रीतिकालीन-काव्य-भाषा के विरोध मे उठाया। उन्होने यह आवाज उठाई कि भाषा को नवीन भावो के साथ-साथ कदम मिला कर चलना चाहिए। वही भाषा सशक्त तथा काव्योपयोगी है, जो नए युग के नए विचारो तथा भावो के साथ-साथ अपना नवीन रूप धारण कर ले। वे व्रजभाषा की कोमलता, मधुरता तथा सरसता को सब कुछ नही समझते है। वे काव्य की ऐसी भाषा चाहते

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' प्रसाद, (स० १९९६) पृ० १४४।
२ वही, पृ० १४६।
३ वही, पृ० १४९।

है जिसका वक्ष स्थल इतना विशाल हो कि जिसके शब्दो मे वात-उत्पात, वन्हि-बाढ, उल्का-भूकम्प, सब कुछ समा सके तथा बाधा जा सके ।[1] काव्य-भाषा की शक्ति अपरिमेय होती है । उसमे विश्व का सब प्रकार का ज्ञान, दर्शन, इतिहास, भूगोल, क्रान्ति, सृजन, विनाश, अभिव्यक्त हो सकता है । इस प्रकार वे काव्य-भाषा के अभिधार्थ के प्रति क्षुब्ध थे । उन्होने शब्दो मे गहरे अर्थ की आवश्यकता का अनुभव किया । उन्होने काव्यभाषा मे द्विवेदीकालीन रूखे वाच्यार्थ की अपेक्षा नए कटाक्ष, नए रोमाच, नए स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन बसन्त तथा नवीन कोकिलाओ के गान की आवश्यकता समझी ।[2] दूसरे शब्दो मे पतजी वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यग्यार्थ आदि के समावेश से ही कविता की भाषा की समृद्धि मानते है । शब्दो के गूढ अर्थो तथा उनकी व्यजना के महत्त्व को लक्ष्य मे रख कर, वे उनका महत्त्व प्रतिपादित करते है । वे कहते है कि प्रत्येक शब्द एक सकेत मात्र है, इस विश्वव्यापी सगीत की अस्फुट झकार मात्र हैं......प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है । लक्ष और मलद्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दो की कविता को खा खाकर बनती है ।[3]

काव्य-भाषा मे व्यजना के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए पतजी लिखते कि "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पडती है । उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हो, सेव की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पडे, जो अपने ही भाव को अपनी ध्वनि मे आँखो के सामने चित्रित कर सकें, जो झकार मे चित्र, चित्र मे झकार हो । जिनका भाव सगीत विद्युत् की तरह रोम-रोम मे प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ, सू घते ही सासो द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश मे समा जाए, जिनका रस मदिरा की फेनि-राशि की तरह प्याले से बाहर छलक, उसके चारो ओर मोतियो की झालर की तरह झूमने लगे, अपने छत्ते मे न समाकर मधु की तरह टपकने लगे, अर्द्धनिशीथ की तारावली की तरह, जिनकी दीपावली अपनी मौन जडता के अधकार को भेदकर अपने ही भावो की ज्योति मे दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमाचित रहे, जापान की द्वीप मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पक्तिया अपने अन्तस्तल मे सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण, अनन्त श्वासोच्छ्वासो के भूकम्प मे काँपती रहे ।"[4] इस कवित्वपूर्ण उक्ति मे, अपनी काव्यात्मक शैली मे, पतजी ने वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यग्यार्थ के महत्त्व की ओर सकेत किया है । 'सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पडे' मे जो रस की मधुर लालिमा है, यह प्रतीयमान

---

१ देखिए 'पल्लव की भूमिका' प्रथम सस्करण पृ० १३ ।

२ देखिए, वही, पृ० १३ ।

३ देखिए, वही, पृ० २१ ।

४ देखिए, वही, पृ० २४ ।

अर्थ है, जिसके लिए आनन्दवर्द्धन ने मोती के पानी की उपमा दी है। 'चित्र में झंकार', 'झंकार में चित्र', 'विद्युत् धारा की तरह प्रवाहित होने वाला भाव-संगीत', 'आंखों द्वारा हृदय में पैठने वाला सौन्दर्य', 'मदिरा की फेन राशि', 'मोतियों की झालर', 'तारावलों की आभा की ज्योति', प्रियंगुलता का सौन्दर्य' 'दीपमालिका के अन्तस्तल के भूकम्प' आदि सबका प्रयोग काव्यात्मक भाषा में प्रतीयमान अर्थ अथवा गूढ़ व्यंग्यार्थ के लिए किया गया है। जिस भाषा में यह व्यंजना या ध्वनि नहीं है, वह पन्तजी के विचार से छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। ऐसी ही व्यंजनापूर्ण भाषा का भावों के साथ स्वरैक्य होता है।

पंतजी काव्य में ध्वनि का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार नहीं करते। वे प्रधानतः रसवादी हैं। रस के परिपाक में वे अलंकार, व्यंजना, छन्द तीनों का सामंजस्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है कि "जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उन की श्रुति मूर्छनाएं केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं—उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा, व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[1]

रस ध्वनि में जिस प्रकार केवल रस ही ध्वनित होता है तथा उसी की अनुभूति प्रमुख होती है और उसके अन्य उपादानों का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार पंतजी का विचार है कि "कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं.........किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहिल्या की तरह शापमुक्त हो जग उठते। हम उन्हें पाषाण खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार संगीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहां तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता हम केवल राग के सिन्धु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते, उनकी लंगड़ाहट में गति आ जाती है। हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।"[2]

शब्दों की व्यंजना के सम्बन्ध में एक और मौलिक विचार पंतजी ने प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि 'भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत के भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। इसी प्रकार, हिलोर लहर, तरंग वीचि के विभिन्न

---

१. वही, पृ० २६।
२. वही, पृ० २८।

अर्थो के उदाहरण देकर, उन्होने यह बताया है कि जिस भाव की व्यजना करनी हो, उसी के अनुकूल शब्द का प्रयोग विधेय है। यह विवेचन 'पिनाकिन और कपालिन के ध्वन्यार्थ भेद-विवेचन का नवीन सस्करण मात्र दिखाई पडता है।'[1]

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी प्रसादजी की भाति छायावादी अभिव्यक्ति मे व्यजना का महत्त्व स्वीकार किया है। उनका कथन है कि "इस प्रकार की अभिव्यक्ति मे भाव रूप चाहता है, अत शैली का कुछ सकेतमयी हो जाना सहज सम्भव है, इसके अतिरिक्त हमारे यहा तत्व चिन्तन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए सकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य कला तक सबने ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुचा सके।"[2]

इस प्रकार छायावादी कवियो ने छायावाद के मूल मे ही ध्वनि का महत्त्व मानकर, इस सिद्धान्त को एक नया रूप तथा महत्त्व प्रदान कर दिया। यह सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक विवेचन मे ही सीमित न रह कर काव्य के व्यावहारिक रूप के साथ सम्बद्ध हो गया, प्रगतिवादी कवियो ने इसको व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनो रूपों मे ही मान्यता नही दी।

उपर्युक्त विवेचन का यह निष्कर्ष है कि आलोच्य-काल मे सबमे अधिक विवेचन अलकार तथा रस सम्प्रदाय का होने के कारण अन्य सम्प्रदायो की भाति ध्वनि-सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक विवेचन भी अपेक्षाकृत कम ही हुआ, किन्तु जिस प्रकार आलोच्य काल से पूर्व व्यावहारिक काव्य के क्षेत्र मे ध्वनि अथवा व्यग्यार्थ का महत्त्व अधिकाधिक बढता गया था, उसी प्रकार इस काल मे भी ध्वनि का व्यावहारिक काव्य-रचना के क्षेत्र मे, रस के समान ही अधिक महत्त्व माना गया। द्विवेदीकालीन तथा प्रगतिवादी काव्य को छोड कर ध्वनि की सत्ता छायावादी तथा प्रयोगवादी काव्य के अन्तर्गत विशिष्ट रूप मे स्वीकार की गई। प्रसादजी ने स्पष्ट शब्दो में छायावादी काव्य के मूल मे ध्वनि अथवा व्यग्यार्थ की विशिष्ट सत्ता को मान्यता दी। काव्य मे कल्पना के अधिकाधिक महत्त्व के मानने के कारण ध्वनि की महत्ता का क्षेत्र और भी बढना स्वाभाविक हो गया। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक तथा अभिधात्मक काव्य की प्रतिक्रिया स्वरूप, जो ध्वनि का महत्त्व स्थापित हुआ, वह उत्तर-द्विवेदीकाल मे विशेष रूप से समृद्ध हुआ।

आधुनिक आलोचको ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे तो स्वीकार नही किया, किन्तु नवीन स्वच्छन्दतावादी, छायावादी, रहस्यवादी तथा प्रयोगवादी

---

१ देखिए, 'हिन्दी ध्वन्यालोक' स० डॉ० नगेन्द्र, (सन् १९५२) पृ० ३८।

२ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', (प्रथम सस्करण), पृ० ९२।

काव्य के व्यावहारिक क्षेत्र मे तथा सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र मे उसका अधिकाधिक मूल्य माना गया। इन आलोचको ने व्यजना का नए दृष्टिकोण से विवेचन किया है। इस विवेचन मे भारतीय साहित्य-शास्त्र के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यालोचन के आदर्शों का भी विशेष आधार लिया गया। ध्वनि सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ को मनोविज्ञान के आधार पर नई, तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक शैली मे सुलझाने के प्रयत्न भी किए गए।

इन आलोचको ने ध्वनिकार के मतो मे भी सशोधन प्रस्तुत किए तथा ध्वनि सम्बन्धी तथ्यो को नवीन दृष्टिकोण से देखा। शुक्लजी ने व्यग्यार्थ की परिभाषा ध्वनिकार की भाति यह नही दी है कि जो ध्वनित या व्यग्य किया जाय वही ध्वनि है ('ध्वन्यते इति ध्वनि') वरन् इसके विपरीत यह कहा है कि व्यग्यार्थ वह है जो व्यजना या लक्षणा द्वारा योग्य तथा बुद्धि-ग्राह्य होकर हमारे सामने आता है। शुक्लजी ने भाव-व्यजना, रस-व्यजना तथा वस्तु-व्यजना के भेद को स्पष्ट किया है। उनका विचार है कि वस्तु-व्यजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है तथा भाव-व्यजना किसी भाव की व्यजना करती है। यही भाव-व्यजना रस के सब अवयवो के साथ रस-व्यजना हो जाती है। वे भाव-व्यजना को व्यग्यार्थ नही मानते। भाव-व्यजना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नही है, वह भावो की अनुभूति मात्र है। उनके विचार से व्यग्य अर्थ केवल वस्तु या तथ्य ही होता है, भाव-व्यजना नही। उनका मत है कि अनुमान के द्वारा व्यग्य अर्थ तक तो पहुँचा जा सकता है, किन्तु भाव-व्यजना तक नही। भाव-व्यजना तक व्यजना शक्ति के द्वारा ही पहुँचा जाता है। वे मानते हैं कि व्यजना-शब्द का प्रयोग या तो वस्तु के सम्बन्ध मे होगा या भाव या रस के सम्बन्ध मे, दोनो के नही।

शुक्लजी वस्तु-व्यजना को तभी काव्य मानते है, जब उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार के भाव से होता है। इस प्रकार वे वस्तु-व्यजना, भाव-व्यजना तथा आलम्बन मे काव्यत्व मानते हैं, किन्तु केवल उसी दशा मे जब इनका सम्बन्ध भाव या रस से हो। वे वाच्यार्थ मे ही रस या रमणीयता मानते है, व्यग्यार्थ मे नही। वे वाच्यार्थ को काव्य नही मानते वरन् उसे काव्य को धारण करने वाला सत्य समझते हैं। उनका विचार है कि काव्य तो अयोग्य, अनुपपन्न तथा बुद्धि के लिए अग्राह्य, उक्ति ही है पर उसकी सचाई की परख के लिए वाच्यार्थ को सामने रखने की आवश्यकता है। उनका विचार है कि काव्यत्व अयोग्य वाच्यार्थ मे ही है किन्तु उसमे योग्य अर्थ होने की आवश्यकता अवश्य होती है।

प्रसादजी ने छायावादी-काव्य के मूल मे ध्वनि-सिद्धान्त को मान्यता दी है। उन्होने छाया या विच्छित्ति को प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि का पर्याय बनाकर छायावाद को एक प्रकार से ध्वनिवाद के बहुत निकट ला दिया है। इस प्रकार उनके मत मे छायावाद की अभिव्यक्ति का प्रधान-अग, छाया, ध्वनि, लाक्षणिकता, प्रतीयमान अर्थ ही है। उन्होने ध्वनि का अर्थ आनन्दवर्द्धन की ही भाति प्रतीयमान अर्थ माना

है तथा उसी रूप मे उसको काव्य मे महत्त्व भी दिया है। उन्होने छायावादी-काव्य मे रस का वर्णन न करके ध्वनि का ही वर्णन किया है। एक युग विशेष के काव्य के मूल मे ध्वनि को स्थान देकर प्रसादजी ने 'ध्वनि' को काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग माना है। किन्तु उनके विचार से ध्वनि, उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप ही है, आत्मा नही है। वे उसे वस्तु का महत्त्वपूर्ण स्थान नही देते। उन्होने व्यजना को अलकारो से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका विचार है कि अलकार भी व्यग्यरूपता से युक्त होकर विशेष काव्य-सौन्दर्य को प्राप्त होते है।

पन्तजी ने भी आधुनिक काव्य की भाषा मे ध्वनि अथवा व्यजना के महत्त्व को विशेष रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु, इनके विचार से भी व्यजना नवीन युग के काव्य के लिए एक शैली अथवा अभिव्यक्ति का साधन मात्र है, आत्मा नही। उसका स्थान उन्होने अलकार, छन्द तथा शब्द की अन्य शक्तियो के समान ही माना है।[1] वे काव्य मे केवल रस की महत्ता स्वीकार करते है तथा इन्हे केवल भावो की अभिव्यक्ति तथा रस का सहायक मानते है।[2] उनका विचार है कि रस की दशा मे इनका ज्ञान भी नही रहता, केवल रस की अनुभूति ही होती रहती है।[3] इस प्रकार पन्तजी ने व्यजना को रस की सहायक माना है, किन्तु उनका विचार है कि काव्य मे उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण, वह रस की विशेष सहायिका है। महादेवीजी भी प्रसादजी की भाति ही छायावाद मे व्यजनायुक्त भाषा-शैली का प्रमुख महत्त्व मानती है। प्रयोगवादी कवियो ने भी काव्य मे प्रेषणीयता तथा रसानुभूति के लिए व्यजना का अधिकाधिक प्रयोग विधेय माना है। किन्तु प्रगतिवादी कवियो ने व्यजना को काव्य मे विशेष महत्त्व नही दिया है।

अनुमिति-सम्प्रदाय

रस की अभिव्यक्ति दो प्रकार से सिद्ध की जाती है (१) ध्वनि (व्यजना) के द्वारा जैसा आनन्दवर्धन आदि ने किया है तथा दूसरे अनुमिति (अनुमान) के द्वारा जैसा महिम भट्ट ने किया है। यहा अनुमिति उन सब सिद्धान्तो का उपलक्षण मात्र है, जो ध्वनि (व्यजना) का विरोध करके अन्य प्रकार से रस की अभिव्यक्ति को मानते है। अनुमिति के अन्तर्गत भट्टनायक का भोगवाद आता है। सबसे पहले भट्टनायक ने व्यजना का निषेध करके शब्द की दो शक्तिया मानी है, भावकत्व तथा भोजकत्व। भावकत्व के द्वारा चारु अर्थ का भावन तथा भोजकत्व के द्वारा रस का आस्वाद माना है। इसका विरोध अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद के द्वारा किया तथा भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना को ही निराधार माना। यह दोनो

---

१. देखिए, पल्लव' की भूमिका (प्रथम संस्करण) पृ० २६।
२ वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० २८।

शक्तियां, अर्थ बोध कराकर कल्पना को जाग्रत कराने की (भावकत्व) तथा वासना रूप से स्थित स्थायी मनोविकारों को उद्‌बुद्ध करके आनन्दमग्न कराने वाली (भोजकत्व) व्यंजना के अन्तर्गत ही सिद्ध कीं। इसके अतिरिक्त व्याकरण, मीमांसा मनोविज्ञान तथा भाषा-शास्त्र से भी इसकी पुष्टि का आधार नहीं मिला।

व्यंजना विरोधी दूसरा मत स्वयं महिमभट्ट का अनुमितिवाद है, उनका विचार है कि अभिधा ही शब्द की एकमात्र शक्ति है। जिसे व्यंग्य कहा जाता है, वह अनुमेय मात्र है। वे व्यंजना को पूर्वसिद्ध अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। उन्होंने वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध न मान कर लिंग-लिंगी सम्बन्ध माना है। मम्मट ने उनका विरोध करके यह सिद्ध कर दिया है कि वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में सर्वत्र लिंग-लिंगी सम्बन्ध अनिवार्य नहीं होता। लिंग-लिंगी सम्बन्ध के अन्तर्गत लिंग (साधन या हेतु) का निश्चयात्मक होना अनिवार्य है तभी लिंगी (अनुमेय-वस्तु) का अनुमान हो सकता है अन्यथा नहीं। महिमभट्ट व्यंजना के सारे प्रपंच अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं। उन्होंने 'व्यक्ति विवेक' ग्रन्थ में अनुमान के द्वारा रस का प्रकटीकरण माना है। पर ध्वनि प्रसंग में वाच्याथ सदा निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता, इसलिए उसके द्वारा अनुमेय-वस्तु (व्यंग्यार्थ रूप चमत्कार) का अनुमान नहीं हो सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी महिम भट्ट का सिद्धान्त ठोस नहीं बैठता, क्योंकि अनुमान में रस की सिद्धि तर्क के सहारे होती है तथा ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति बुद्धि के सहारे न होकर सहृदयता (कल्पना, भावुकता) के सहारे होती है।

तीसरा विरोध भाक्त (लक्षणा) वादियों का है, जो वाच्यार्थ के अतिरिक्त किसी भी अन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत ही ले लेते हैं तथा व्यंजना को लक्षणा से पृथक् नहीं मानते। इसका खण्डन स्वयं ध्वनिकार ने तीन आधारों पर किया है। पहला यह कि वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ से तो नियत सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है, पर लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से निश्चित सम्बन्ध होता है। लक्ष्यार्थ एक ही होता है तथा वह सर्वथा वाच्यार्थ से सम्बद्ध होता है तथा व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं तथा उनका वाच्यार्थ से नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध तथा सम्बन्ध सम्बन्ध होता है। दूसरे प्रयोजनवती लक्षणा में लक्षणा का प्रयोग, जिस प्रयोजन से होता है, वह सर्वत्र व्यंग्य रहता है। इस प्रकार व्यंजना का विशेष अस्तित्व है। तीसरे रसादि सीधे वाच्यार्थ से व्यंग्य होते हैं, लक्ष्यार्थ के माध्यम से उनकी प्रतीति नहीं होती है। इसलिए व्यंजना का अस्तित्व अवश्य है, वह लक्षणा में समाहित नहीं है।

ध्वनि के चौथे विरोधी वक्रोक्तिवादी कुन्तक तथा पांचवें प्रतिहारेन्दुराज हैं। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति में तथा प्रतिहारेन्दुराज ने उसे अलंकारों से पृथक् मानना अनावश्यक समझा है।

आलोच्यकाल मे अनुमिति-सम्प्रदाय का विकास

वास्तव मे ध्वनिकार ने स्वय ही ध्वनि-विरोधी मतो का खण्डन कर दिया था। आलोच्य काल से पूर्व हिन्दी मे इन विरोधी मतो का परिचयात्मक विवरण-मात्र दिया जाता रहा था। यही क्रम इस काल के आधुनिक रीतिकारो तथा आलोचको का भी रहा। इस काल मे अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय, श्यामसुन्दर दास आदि आलोचको ने उत्पत्तिवाद, भुक्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का परम्परागत परिचयात्मक विवरण मात्र दिया है। इन्होने इनमे किसी नवीनता का समावेश नही किया है। 'हरिऔध' जी ने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को ही प्रधानता दी है। वे इसका समर्थन मम्मट, विश्वनाथ तथा पडितराज जगन्नाथ की ही भाति करते है। इसी प्रकार कन्हैयालाल पोद्दार ने भी व्यजना-वृत्ति के द्वारा रस का आस्वाद होना मान कर अभिनवगुप्त तथा मम्मट के मत को ही मान्यता दी है। गुलाबराय भी व्यजना को मान्यता देते है। वे इसकी विलक्षणता के कारण इसे रसनावृत्ति कहते है तथा साधारण-शक्ति के अतिरिक्त इसे रसास्वाद की एक विशेष शक्ति मानते है।[1] इसी प्रकार श्यामसुन्दर दास ने भी उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का परिचयात्मक विवरण दिया है। यही क्रम आलोच्यकाल के पश्चात् गुलाबराय, बलदेव उपाध्याय आदि आलोचको ने बनाए रखा। इनमे एक नवीन चिन्तन का समावेश पडित नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया है।[2]

उपर्युक्त आलोचको के अतिरिक्त शुक्लजी तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु' ने इस सम्बन्ध मे नवीन विचार प्रस्तुत किए है। इनमे भी ध्वनि का विशेष विरोध नही है, केवल नया दृष्टिकोण दिखलाई पडता है। शुक्लजी व्यजक वाक्य को काव्य मानते हैं, व्यग्य भाव या वस्तु को नही।[3] उनका यह मत न रसवादियो से मिलता है, जो रस को व्यग्य मानते है, न ध्वनिवादियो से जो काव्य-वस्तु को व्यग्य कहते है। वे भाव-व्यजना या रस-व्यजना को वस्तु-व्यजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति मानते है।[4] वे महिम भट्ट की भाति यह तो मानते है कि वस्तु-व्यजना मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ तक पहुचाने की क्रिया अनुमान द्वारा ही होती है, किन्तु उनका विचार है कि भाव-व्यजना मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम इतना तीव्र है कि उसका पता ही नही चलता, इसलिए वे मानते है कि अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा

---

१ देखिए, 'नवरस-गुलाबराय' सन् १९३४, पृ० २३।

२ देखिए 'रस निष्पत्ति' : 'एक नई व्याख्या' नामक निबन्ध 'नया साहित्य . नए प्रश्न' मे ले० नन्ददुलारे वाजपेयी, सन् १९५५ ई०, प्रकाशक, विद्या मन्दिर, ब्रह्मनाल, बनारस।

३ देखिए, 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (स० २००२) पृ० १०५।

४ देखिए वही, पृ० १७९।

वाच्यार्थ से व्यंग्य भाव तक पहुँचा तो जा सकता है, पर उस भाव को आस्वाद पदवी तक नही पहुँचाया जा सकता। इसलिए वस्तु-व्यजना की भाति, भाव-व्यजना अनुमान पर आश्रित नही है। वे मानते है कि वस्तु-व्यजना और भाव व्यजना मे से एक ही के साथ व्यजना शब्द का प्रयोग हो सकता है।[1]

इसी प्रकार अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का कुछ सशोधन लक्ष्मीनारायण सुधाशु ने मनोविज्ञान के आधार पर किया है। उनका विचार है कि काव्य का रसास्वादन मन के अतिरिक्त-ओज के आधार पर होता है। पाठक यह समझता है कि यह आनन्द उसे काव्य के द्वारा प्राप्त हो रहा है, पर वास्तव मे मन के बचे हुए ओज से ही उसे काव्य का आनन्द आता है। वे मानते हैं कि काव्य पाठक के हृदय मे नया भाव नही भरता, वरन् केवल उसके ही अनुभूत भाव को जाग्रत कर देता है। उनका विचार है कि यदि किसी वर्णन के अनुकूल सुख की वासना का सस्कार पाठक या श्रोता के हृदय पर नही हो, तो काव्य के ऐसे वर्णन से उसका मनोरजन नही हो सकता।[2] इनका यह विचार अभिनवगुप्त से भिन्न नही है। अन्तर केवल यही है कि अभिनवगुप्त सब प्रकार के भावो को वासना रूप मे हृदय मे सुप्त मानते है तथा 'सुधाशु' जी का विचार है कि कुछ भावो का सस्कार पाठक के हृदय मे न भी हो सकता है। उन्होने इसका कोई तर्क प्रस्तुत नही किया है कि कुछ भाव वासना रूप मे हृदय मे क्यो स्थित नही होते। वास्तव मे प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व, और उसकी मानसिक स्थिति तथा बुद्धि के भिन्न होने के कारण, उसके सस्कार भी भिन्न होते है। वे ओज का सम्बन्ध कविकौशल (लक्षणा, व्यंजना, प्रतीक-विधान) से भी मानते है।

इस प्रकार इस काल मे व्यजना के द्वारा रसास्वाद होने के मत मे किंचित् मात्र सशोधन ही प्रस्तुत हुए है। अन्यथा ध्वनि विरोधी मतो का परिचयात्मक विवरण मात्र ही दिया गया है।

औचित्य-सम्प्रदाय

भरत के नाट्यशास्त्र मे औचित्य शब्द का प्रयोग नही हुआ है किन्तु औचित्य के सभी तत्व उन्ही से विकसित हुए है।[3] भारत ने नाट्य-साहित्य मे जिस

१ देखिए 'चिन्तामणि' दूसरा भाग (स २००७) पृ० १७९।

२ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त', सन् १९४२, पृ० १७०।

३. "वी कैन दस सी हाऊ दिस डोक्ट्रिन आव एप्रोप्रीएटनेस, प्रोप्राइटी एण्ड अडोपटैशन आल काम्प्रीहेन्डेड इन दी वन वर्ड 'औचित्य' इज डाइरेक्टली डिराइवेबिल फ्रोम भरत"-'सम कनसेप्ट्स आव अलकार-शास्त्र'—वी० राघवन, (सन् १९४२), पृ० १९।

औचित्य मे उल्लेख किया है, भामह ने उसे काव्य के लिए स्वीकार किया है। दण्डी ने भी दोषो के सम्बन्ध मे यही कहा है कि अवस्था विशेष के परिवर्तन से दोष भी गुण मे परिवर्तित हो जाते है। यशोवर्मा ने व्यावहारिक रूप मे सबसे पहले औचित्य शब्द का प्रयोग किया है। उनका विचार है कि नाटक के गुणो मे सब से पहली बात वचनौचित्य होना चाहिए। भामह और दण्डी, आनन्द और अभिनवगुप्त इन दोनो के बीच की शृ खला रुद्रट मे पाई जाती है।[1] वे काव्य मे औचित्य को व्यापक रूप से मानते है।

आनन्दवर्धन से पूर्व आचार्यो ने औचित्य का विवेचन गुण और अलकार के सम्बन्ध मे किया था। आनन्दवर्धन पहले आचार्य है, जिन्होने रस के साथ औचित्य का सम्बन्ध स्थापित किया है। इन्होने अलकारौचित्य, गुणौचित्य, सगठनौचित्य, प्रबन्ध ध्वनि, वृत्यौचित्य, रसौचित्य आदि औचित्य के विभिन्न प्रकारो का विवेचन किया है। उन्होने औचित्य को रस का रहस्य माना है। यही विचार अभिनवगुप्त का भी है। रस और ध्वनि के साथ औचित्य के सम्बन्ध को स्थिर करने के कारण औचित्य के विकास मे इनका विशेष स्थान है।[2]

क्षेमेन्द्र औचित्य सिद्धान्त के उद्भावक नही है, क्योकि यह मत बहुत पहले से विकसित हो रहा था। क्षेमेन्द्र ने पूर्ववर्ती आचायो के सिद्धान्तो को ही विकसित करके व्यवस्थित रूप मे, औचित्य का सम्बन्ध काव्य के सभी रूपो से स्थापित किया है। उन्होने अभिनव के समान ध्वनि को रस के समान महत्त्व नही दिया है। उन्होने रस को काव्य की आत्मा माना है तथा औचित्य को रस का जीवित।[3] औचित्य के अनेक भेद है, किन्तु क्षेमेन्द्र ने इसके २७ प्रकारो का उल्लेख किया है जैसे पद, वाक्य, प्रबन्ध, प्रबन्धार्थ, गुण, अलकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, आसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-सग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है और वक्रोक्ति के सिद्धान्त को उसका पूरक। उन्होने दो अन्य प्रकारो के औचित्य की कल्पना की है। वास्तव मे आनन्दवर्धव की ध्वनि, अभिनवगुप्त का वैचित्रय, कुन्तक की वक्रता, क्षेमेन्द्र का औचित्य एक ही अर्थ के सूचक है। महिम भट्ट ने भी रस, भाव तथा प्रकृति के औचित्य को स्वीकार किया है।

आलोच्य काल मे औचित्य सम्प्रदाय का विकास

औचित्य को सम्प्रदाय विशेष के रूप मे हिन्दी काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत स्थान नही मिला है। यद्यपि क्षेमेन्द्र की भाति व्यवस्थित रूप मे इसका स्थान

---

१ देखिए 'भारतीय साहित्य शास्त्र' बलदेव उपाध्याय, सम्वत् २००५, पृ० ५३।

२ 'उचित शब्देन रस विषयौचित्य भवतीति दर्शयन् रसध्वने जीवितत्व सूचयति" लोचन पृ०१३।

३ देखिए 'औचित्य विचार चर्चा' श्लोक ३,५।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नही बना, फिर भी जैसे सस्कृत साहित्य मे इसका विस्तार समस्त साहित्य तक व्याप्त था, हिन्दी मे भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इसका महत्त्व सदैव माना गया है। हिन्दी मे इसके सैद्धान्तिक विवेचन का विकास तो नही हुआ है, किन्तु व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत प्रमुख मानदण्डो के रूप मे, इसका आधार लिया गया है। रीतिकालीन आचार्यो ने, गुणौचित्य, रसौचित्य, अलकारौचित्य, शब्दौचित्य, अर्थौचित्य, काव्यौचित्य आदि का विशेष विवेचन किया है। उन्होने दोष के वर्णन मे अनौचित्य का वर्णन किया है। इस काल मे औचित्य का वर्णन पृथक् विषय के रूप मे नही हुआ है, किन्तु काव्यागो के विवेचन के द्वारा इसका निर्देश किया गया है।

आलोच्य-काल मे रीतिकाल की भाति औचित्य का सैद्धान्तिक विवेचन नही हुआ है। आधुनिक रीतिकारो ने इसके विभिन्न प्रकारो का परिचयात्मक विवरण मात्र दिया है, किन्तु व्यावहारिक-आलोचना के क्षेत्र मे भारतेन्दु के समय से ही औचित्य का आधार प्रमुख रूप मे लिया जाने लगा। रीतिकाल मे ऐसे सम्प्रदायो का विवेचन अधिकांश मे हुआ था, जिनका सम्बन्ध चमत्कार से था। औचित्य के विवेचन के अभाव का यह कारण था कि रस, अलकार, रीति, गुण, प्रबन्ध, वृत्त आदि औचित्य के प्रमुख विचारो का विवेचन इन सम्प्रदायो के साथ मे होता रहा था। इसलिए औचित्य के अन्तर्गत इसकी आवश्यकता नही रही थी। आलोच्य काल मे भी यही प्रवृत्ति चलती रही, किन्तु व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग मे औचित्य के सभी प्रकारो का आधार लिया गया। 'प्रेमघन' ने 'बग विजेता' नामक उपन्यास के विवेचन मे प्रबन्धौचित्य का आधार लिया है।[1] इसी प्रकार वे 'आनन्द कादम्बिनी' मे अलकारौचित्य तथा रसौचित्य का भी आधार लेते है। बाल कृष्ण भट्ट ने भी औचित्य के प्रमुख रूपो का आधार लिया है। द्विवेदी जी के दोष-विवेचन का प्रमुख आधार यही है। 'विक्रमाक देव चरित्र चर्चा' की आलोचना उन्होने प्रबन्धौचित्य के आधार पर की है।[2] अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार मिश्रबन्धुओं ने भी विभिन्न प्रकार के औचित्यो को अपनी व्यावहारिक आलोचना का आधार बनाया है। इन्होने भी अन्य प्रकारो की अपेक्षा प्रबन्धौचित्य का विशेष प्रयोग किया है। यह नैतिकवाद का युग होने के कारण औचित्य के लिए विशेष रूप से अनुकूल था, इसलिए प्राय सभी आलोचको ने औचित्य का भाव तथा कला पक्ष दोनो मे आधार ग्रहण किया है। द्विवेदी काल के पश्चात् रस भाषा, अलकार आदि का स्वतन्त्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण तथा प्रयोग सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनो प्रकार की आलोचनाओ के क्षेत्र मे होता रहा। साहित्य के सभी रूपो की आलोचना मे तथा साहित्य की विभिन्न विधाओ के प्राय सभी तत्वो

---

१ देखिए, 'आनन्द-कादम्बिनी' श्रावण स० १९४२।

२ देखिए 'विक्रमाक देवचरित चर्चा', पृष्ठ ६५।

के विवेचन मे औचित्य का विशेष ध्यान रखा गया है, किन्तु सम्प्रदाय के रूप मे इसका विकास आधुनिक आलोचको के द्वारा नही हुआ है। सुमित्रानन्दन पन्त ने काव्य-भाषा के विवेचन के अन्तर्गत शब्दौचित्य, लिंगौचित्य आदि का विशेष विवेचन किया है। भाव-पक्ष मे रसौचित्य को प्रमुखता मिली है, किन्तु कला पक्ष मे इसका विस्तार, वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक फैला है। पाश्चात्य-साहित्यालोचन के काव्य-गुणो के प्रभाव से भी इसे विशेष विकास तथा समृद्धि प्राप्त हुई है। इसका विवेचन अन्य सम्प्रदायो के द्वारा होने के कारण, इसका पृथक् रूप मे व्यवस्थित विवेचन हिन्दी मे नही हुआ, यद्यपि इसका विस्तार सम्पूर्ण साहित्य के विवेचन तक फैला है।

प्रकरण ४

साहित्य तथा साहित्य के विभिन्न रूपों की आलोचना का विकास

साहित्य

संस्कृत साहित्य में साहित्य सम्बन्धी आलोचना का विकास

संस्कृत साहित्य में साहित्य के स्वरूप के विकास में आचार्य भामह का नाम विशेष महत्त्व का है। उन्होंने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह कर शब्द और अर्थ के मिलन को काव्य माना है। इस परिभाषा में प्रयुक्त 'सहित' शब्द से भाव-वाचक ष्यञ् प्रत्यय के मिलने से साहित्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ सम्मिलन होता है। इसी मिलन के भाव को साहित्य कहते हैं। इस प्रकार भामह के काव्य की परिभाषा में साहित्य की भी परिभाषा निहित है। साहित्य के अन्तर्गत काव्य के शब्द और अर्थ अथवा भाषा और भाव के मिलन का भाव अन्तर्हित है। काव्य में भी भाषा और भाव अथवा शब्द और अर्थ के सहित का भाव रहता है। अतएव काव्य और साहित्य एक ही अर्थ के द्योतक हैं। भामह के अनन्तर, वामन[1], रुद्रट[2], वाग्भट्ट[3], हेमचन्द्र[4], विद्यानाथ[5], मम्मट[6] आदि बहुत से आचार्यों ने काव्य को इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप माना है। भर्तृहरि ने भी "संगीत साहित्य कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः" कहकर साहित्य को काव्य के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। 'शब्द कल्पद्रुम' ने भी उसे 'मनुष्य कृत श्लोकमय ग्रन्थ विशेषः साहित्यम्' कहकर उसे काव्य ही कहा है।

संस्कृत साहित्यालोचन में राजशेखर ने पहली बार साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में किया है। वे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता तथा दंडनीति के अतिरिक्त

---

१. देखिए "काव्यालंकार वृत्ति" १।१।१।

२. देखिए वही, २।१।

३. "शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्" 'वाग्भट्टालंकार' पृ० १४।

४. "अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्" 'काव्यानुशासन' पृ० १६।

५. "गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः।।"
'प्रतापरुद्रयशोभूषण', पृ० ४२ (सं० १६०६), प्रथम संस्करण।

६. देखिए "काव्य प्रकाश" १।१४।

एक पाचवी विद्या साहित्य विद्या का उल्लेख करते है, जिसमे अन्य चारो विद्याओ का सार भी सम्मिलित मानते है।[1] वे साहित्य विद्या उसे मानते है, जिसमे शब्द और अर्थ का यथार्थ रूप से सहभाव हो—(शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य विद्या) भोज ने भी साहित्य के सिद्धान्त को साहित्य-शास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त माना है। वे भी शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का नाम साहित्य मानते है—(किं साहित्यम् ? य शब्दार्थयो सम्बन्ध—सरस्वती कण्ठाभरण) वे शब्द तथा अर्थ के ऐसे वैशिष्ट्य को साहित्य कहते है, जिसके कारण साधारण शब्दार्थ काव्य रूप मे बदल जाते है। उनका विचार है कि काव्य का वैशिष्ट्य शोभा है, जो साहित्य के कारण उत्पन्न होती है। राजानक रुय्यक भी शब्द और अर्थ का समकक्ष होना ही साहित्य मानते है। कोषकारो ने भी परस्पर सापेक्ष तथा तुल्यरूप वाले पदो के एक साथ एक क्रिया मे अन्वित होने को साहित्य कहा है।[2] इस प्रकार इनके द्वारा यह माना जाने लगा कि जब तक परस्पर सापेक्षता रखने वाले शब्द किसी क्रिया से अन्वित नही होगे, साहित्य की उत्पत्ति नही होगी। इस प्रकार साहित्य शब्द और अर्थ ही न रहकर वाक्य के रूप मे भी माना जाने लगा।

कुन्तक ने भी काव्य तथा साहित्य का एकार्थक प्रयोग किया है। वे साहित्य के प्रकृत अर्थ के प्रथम व्याख्याता है। वे साहित्य उसे मानते है, जिसमे काव्य की शोभाशालिता के प्रति शब्द और अर्थ की ऐसी मनोहारी स्थिति हो कि शब्द और अर्थ मे, न किसी मे न्यूनता हो तथा न किसी मे अधिकता। वे शब्द और अर्थ की सम स्थिति से पूर्ण शब्दार्थ को शोभाशाली तथा मनोहर साहित्य कहते है।[3] उनका विचार है कि साहित्य मे शब्द तथा अर्थ सौन्दर्य-प्राप्ति के लिए स्पर्धा करते हुए, जिस वस्तु की उत्पत्ति करते है, वह काव्य अथवा साहित्य है। वे भी साहित्य मे शब्द तथा अर्थ के सतुलन को मान्यता देते है तथा शब्द और अर्थ के सहित के भाव को साहित्य कहते है—(सहितस्य भाव साहित्यम्)। उनका विचार है कि जहाँ शब्द और अर्थ सब गुणो मे समान हो, वहा ही यथार्थ सम्मेलन अथवा साहित्य होता है।[4] वे वाक्यगत साहित्य का स्वरूप वहाँ मानते है, जहा युक्ति के अनुरूप एक शब्द दूसरे शब्द

---

१ "पचमी साहित्य विद्या" इति यायावरीय. सा हि चतसृणामपि विद्याना निष्यन्द" 'काव्य मीमासा' पृ० १० 'प्रथम सस्करण' स० २०११।

२ "तुल्यवदेकक्रियान्वयित्व वृद्धि विशेषविषयित्व वा साहित्यम्" शब्द शक्ति प्रकाशिका तथा "परस्पर सापेक्षाणाम् तुल्यरूपाणा युगपदेक क्रियान्वयित्वं साहित्यम्"—श्राद्ध विवेककार 'साहित्य-परिचय' (१९५०), पृ० ११ से उद्धृत।

३ साहित्यमनयो शोभाशालिता प्रति काप्यसौ।
अन्यनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः।। वक्रोक्तिजीवित १।१७

४ मम सर्व गुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा।। १८ वही पृ० २६।

के साथ तथा एक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ परस्पर मिल कर स्पर्धा करता है।[1] इसी प्रकार वे प्रबन्ध-साहित्य वहा मानते है, जहा काव्य के समस्त तत्व, रीति, गुण, अलकार, वक्रोक्ति, वृत्ति तथा रस, परस्पर स्पर्धापूर्वक मिलकर सौन्दर्य उत्पन्न करते है। उनका विचार है कि जहा रीति के औचित्य से सुभग माधुर्यादि गुणो का उदय होता है, वक्रता के अतिशय से समन्वित अलकारो का विन्यास होता है, वृत्ति के औचित्य से मनोहर रसो का पोषण होता है तथा जहाँ रीति, गुण, वक्रता, अलकार तथा रस परस्पर स्पर्धा के साथ रहते है, वहाँ साहित्य का चरम-स्वरूप विद्यमान रहता है।[2] वे साहित्य को काव्य का जीवनधायक तत्त्व मानते है।[3] उनका कथन है कि जो काव्य, अर्थ की पर्यालोचना किए बिना ही अपने बन्ध की सौन्दर्य-सम्पदा से गीत के समान काव्य मर्मज्ञो के हृदय मे आह्लाद उत्पन्न करता है तथा अर्थ के अवबोध होने पर पद, पदार्थ तथा वाक्य से ऊपर उठकर, पान के स्वाद के समान सदैव अनिर्वचनीय आनन्द देता है, वह साहित्य के बिना इस प्रकार निर्जीव रहता जैसे जीवन के बिना शरीर तथा सचालन के बिना जीवन व्यर्थ होता है।[4]

साराश यह है कि सस्कृत साहित्य मे साहित्य शब्द बहुत समय तक काव्य का ही पर्यायवाची बना रहा, किन्तु बाद मे साहित्य वह माना जाने लगा, जिसमे शब्द और अर्थ का ऐसा यथोचित समभाव तथा समकक्षता हो कि उनमे से एक भी कम अथवा अधिक न हो। कुन्तक आदि आचार्यो द्वारा साहित्य के अन्तर्गत शब्द के अनुरूप अर्थ तथा अर्थ के अनुरूप शब्द का होना अनिवार्य समझा गया, शब्द और अर्थ का एक ही सा मूल्य माना गया तथा वे दोनो ही समान रूप से सौन्दर्य की परस्पर स्पर्धा मे लीन रहने वाले समझे गए। सस्कृत आचार्यो की यह मान्यता थी कि सत्साहित्य का निर्माण शब्द और अर्थ के सब गुणो में समान रूप होने पर ही सम्भव है। इन्होने साहित्य की व्याख्या वाक्य तथा प्रबन्धगत साहित्य के दो रूपो मे भी की है। भोज ने शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य को साहित्य माना है। इनके शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य के अन्तर्गत रीति, गुण, वृत्ति, अलकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि का समाहार हो जाता है। कुन्तक साहित्य तथा वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वोत्तम गुण मानते है किन्तु भोज इसके अन्तर्गत काव्य-प्रतिभा की समस्त क्रियाए, रीति, गुण, दोष-हीनता, अलकार, भाषा, रस आदि को भी ग्रहण करते है। सस्कृत साहित्यालोचन मे, साहित्य मे शब्द तथा अर्थ की समकक्षता, अनुरूपता तथा स्पर्धा के अतिरिक्त, उनकी दो अनिवार्यताए, परस्पर सापेक्षता तथा तुल्यरूपता और स्वीकार की गई। इसके अतिरिक्त, यह भी माना गया कि शब्द तथा अर्थ के सहभाव के साथ-साथ

---

१ देखिए वक्रोक्ति जीवित पृ० ६२ वृत्ति १।१७

२ देखिए "हिन्दी वक्रोक्ति जीवित" स० डॉ० नगेन्द्र (१९५५) पृ० ६१, ६२।

३ देखिए वही, पृ० ६२ श्लोक ३७-३९।

४ देखिए 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' स० डॉ० नगेन्द्र (१९५५) पृ० ३७-३९।

इनका किसी किया मे अन्वित होना भी आवश्यक है, क्योकि तभी वे वाक्य के रूप मे किसी विचार अथवा भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति करने मे समर्थ होते है। सस्कृत आचार्यो ने साहित्य को सहित अथवा मिलन का भाव भी माना है। उन्होने शास्त्र और काव्य नामक इसके दो रूपो को भी मान्यता दी है—(शास्त्र काव्यचेति वाड्मय द्विधा--काव्य मीमासा)। हिन्दी के आरम्भिक आचार्यो ने साहित्य सम्बन्धी अपने विचारो मे सस्कृत के इन्ही आचार्यो का अनुकरण किया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे साहित्य सम्बन्धी आलोचना का विकास

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे साहित्य शब्द का प्रयोग प्रारम्भ मे किसी प्रकाशित सूचना तथा पुस्तक सूची के लिए होता था। तदुपरान्त यह शब्द स्पष्ट तथा स्वतत्र विचारो के समर्थको द्वारा परम्परागत रचनाओ के खण्डन के लिए एक हीन अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा।[1] इस प्रारम्भिक काल मे भव्य साहित्य के रूप मे केवल लोक-गीत तथा मौखिक-अभिव्यक्तियो का ही ऊचा स्थान था। इसके पश्चात् यह शब्द उन मध्यम मार्ग की रचनाओ के लिए प्रयुक्त होने लगा जो व्यक्तिगत, मौलिकता-रहित तथा पतनशील (डिकेडेट) थी। पुनरुत्थान काल के पश्चात् साहित्य शब्द का महत्त्व बढ गया तथा इसका अनेकार्थी प्रयोग भी होने लगा। पाश्चात्य साहित्यालोचन मे प्रमुख रूप मे इसके दो स्वरूपो को मान्यता मिली, प्रथम तो यह "कि साहित्य मानव जाति का लेखा है" तथा दूसरे यह कि "यह मानव जानि द्वारा की हुई, अनुभव की हुई तथा कही हुई वस्तुओ की अभिव्यक्ति है।"[2]

साहित्य के प्रथम स्वरूप को मान्यता देने वालो मे विभिन्न कोशकार है, जो किसी जाति, देश, काल तथा भाषा की रचनाओ के समूह को साहित्य कहते हैं। इनकी भी दो प्रकार की धारणाए है। एक तो यह कि साहित्य सब प्रकार के विषयो की पुस्तको का समूह है तथा दूसरी यह कि वह केवल भावात्मक, कलात्मक या सौन्दर्यात्मक ग्रन्थो या लेखो का समूह है। रेव० टोमसन डेविडसन का विचार है कि किसी विषय पर लिखित या किसी भाषा की साहित्यिक रचनाओ के सम्पूर्ण भण्डार को साहित्य कहते है। इसी प्रकार वेबस्टर ने ज्ञान के सम्पूर्ण परिणामो को अपनी सीमा मे समेटने वाली किसी जाति, देश, काल तथा भाषा की साहित्यिक रचनाओ के सचित समूह, साहित्यिक रचनाओ और लेखो के सम्पूर्ण समूह जैसे धार्मिक आलोचना का साहित्य, रसायन का साहित्य आदि को साहित्य का नाम दिया है।[3] यह साहित्य की व्यापक परिभाषा है, जिसमे जो कुछ अब तक लिखा जा चुका है, सबका समाहार हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य लेखको की दूसरी धारणा यह है

---

१ देखिए 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिट्रेचर' शिपले (१९४३) पृ० ३५९।

२ देखिए 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर' शिपले (१९४३) पृ० ३५९।

३ देखिए वेबस्टर की 'न्यू इन्टरनेशल डिक्शनरी' पृ० १२६०।

कि साहित्य कुछ विशिष्ट प्रकार की रचनाओं का समूह है। कोशकार वेबस्टर का विचार है कि "साहित्य अपनी व्यापक भावना में निश्चित विज्ञान, गणित, शास्त्र आदि के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रकार की रचनाओं को अपनी सीमा में ग्रहण करता है। यह प्रायः उच्च कोटि की, संस्कृत, रुचिपूर्ण तथा भावात्मक रचनाओं जैसे काव्य, भाषा, इतिहास आदि तक सीमित रहता है तथा सूक्ष्म-विवेचन और अध्ययनशील ज्ञान से सम्बन्ध नहीं रखता।"[1] वे शैली तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से पूर्ण कविता, निबन्ध, इतिहास आदि को जो वैज्ञानिक निश्चित-ज्ञान सम्बन्धी रचनाओं से भिन्न हैं, साहित्य कहते हैं तथा मानते हैं कि अब साहित्य शब्द का प्रचलित प्रयोग प्रमुखतया कलात्मक रूप और भावात्मक-प्रभाव वाली रचनाओं के लिए ही अधिक होता है।[2]

अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य को स्वीकार करने वाले लेखकों ने भी इसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। एबरक्राम्बी शुद्ध अनुभव की ऐसी अभिव्यक्ति को साहित्य कहते है, जो भाषा के द्वारा प्रेषित होती है। यह साहित्य की विशेष व्यापक परिभाषा है, जो ऐसी समस्त भाषा को साहित्य की सीमा में ले लेती है, जो मनुष्य के अनुभवों की अभिव्यक्ति से पूर्ण है। इसमें मनुष्य के बौद्धिक तथा भावात्मक सभी प्रकार के अनुभव हो सकते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य की कला, मूल्यवान तथा आनन्द-दायक अनुभवों को भाषा द्वारा प्रेषणीय करने की कला है।[3] ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने साहित्य को सर्वोत्तम विचारों की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति कहा है।[4] किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि साहित्य में केवल सर्वोत्तम विचार ही रहते हैं तथा उनकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति ही साहित्य हो सकती है। साधारण विचार तथा उनकी सामान्य और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति भी साहित्य कही जा सकती है। ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का यह भी विचार है कि साहित्य के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति, जाति-भेद, विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न रुचि तथा राजनीतिक स्थितियों के उन परिवर्तनों द्वारा होती है, जिनसे समाज का एक स्तर विशेष महत्त्व प्राप्त करके अपने विचारों तथा भावों को व्यक्त करने के योग्य हो जाता है।[5] हड्सन का विचार है कि साहित्य अन्य मार्गों में से एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा किसी युग की शक्ति-विशेष अभिव्यक्त होती है। वे मानते हैं कि प्रत्येक साहित्य के पीछे उसका निर्माण करने वाली जाति का चरित्र छिपा

---

१. देखिये वेबस्टर की 'न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी', पृ० १२६०।

२. "लिटरेचर इज नाउ यूज्ड चीफली ऑव राइटिंग डिस्टिंग्विश्ड बाई आर्टिस्टिक फार्म और इमोशनल अपील" वही, पृ० १२६०।

३. देखिए 'प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (१९६२) पृ० ५७। ले० एबरक्राम्बी

४. देखिए 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' (१९४७) पृ० २०६।

५. देखिए वही, पृ २०६।

रहता है तथा प्रत्येक काल के साहित्य के पीछे वे वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक शक्तिया छिपी रहती है, जिनके द्वारा उस काल के जीवन का निर्माण होता है।[१] उनका भी विचार है कि साहित्य भाषा द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है तथा उसे जीवन से ही प्रेरणा प्राप्त होती है। बोर्सफोल्ड का भी इसी प्रकार विचार है कि साहित्य महान् पुरूषो पर बाह्य वास्तविकताओ के पडे हुए प्रभावो का लेखा तथा उसके सम्बन्ध मे उनके द्वारा किए हुए विचारो की अभिव्यक्ति है।[२] इस प्रकार वे साहित्य का सम्बन्ध ससार के प्रति मनुष्य की व्यक्तिगत धारणा से जोडते है। मोर्ले का मत है कि साहित्य उन सब पुस्तको का सचयन है, जिनमे नैतिक सत्य तथा मानव-भावनाए विशेष व्यापकता, बुद्धिमानी तथा अपने रूप-सौन्दर्य के आकर्षण के साथ अभिव्यक्त होती है।[३] वाल्टर पेटर भी साहित्य मे ससार के ऐसे तथ्यो तथा वस्तुओ की प्रतिकृति की विद्यमानता मानते है, जो अपनी असीम विभिन्नता मे ससार मे व्याप्त है। न्यू स्टेन्डार्ड डिक्शनरी के मत से साहित्य के अन्तर्गत प्रमुख रूप से वे रचनाए आती है, जिनमे उच्च भावना, शक्ति, विचारो की व्यापकता, पूर्णता, शुद्धता, शैली का सौन्दर्य तथा कलात्मक रचना के गुण होते है।[४] विजेटेली का मत है कि साहित्य शक्तिपूर्ण, प्रेरणापूर्ण तथा मनुष्य को ऊचे उठाने वाले विचारो की अभिव्यक्ति करता है। वे उसमे ऐसी वस्तुओ का समावेश मानते हैं, जो मनुष्य को मनुष्य के रूप मे आकर्षक तथा रुचिपूर्ण लगती हैं। वे साहित्य को शैली तथा स्वरूप की दृष्टि से विशेष कलात्मक मानते है तथा उसमे कुरुचिपूर्ण, आंगिक-सगठन-विहीन तथा सौन्दर्य-विहीन कृतियो का अभाव समझते है।[५] इसी विचार के समर्थक हड्सन है, जो सच्ची साहित्यिक कृतियो का अन्य कृतियो से यह अन्तर मानते है कि एक तो यह किसी एक वर्ग तथा रुचि के पाठको का स्पर्श न करके ससार के पुरुषो तथा स्त्रियो को पुरुष तथा स्त्री के रूप मे प्रभावित करती है तथा दूसरे विज्ञान आदि की भाँति केवल ज्ञान मात्र प्रदान न करके अपने विषय के प्रयोग के अनुसार कलात्मक-आनन्द अथवा सतोप प्रदान करती है।[६] वे उन्ही पुस्तको के समूह को साहित्य कहते है, जो अपनी विपय-वस्तु तथा शैली के कारण सामान्य मानव रुचि की होती हैं तथा जिसमे शैली अथवा रूप और उसका आनन्द अनिवार्य माना जाता है।

---

१ देखिए 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिटरेचर (१९५४) पृ० ३६।
२ 'जजमेन्ट इन लिटरेचर' बोर्सफोल्ड, प्रथम सस्करण, (१९३०) पृ० १३।
३ देखिए 'वेबस्टर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी', पृ० १२६०।
४ देखिए 'ऐसेन्शियल्स आफ इगलिश स्पीच एण्ड लिटरेचर' ले० फ्रेक० एच० विजेटेली (१९१५), पृ० १७४-१७५।
५ देखिए वही, पृ० १७५।
६ देखिए 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिटरेचर (१९५४) पृ० १०।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे भी साहित्य के विभिन्न विभाजन किए गए है। भाषा के विचार से इसके दो प्रमुख विभाजन, गद्य तथा पद्य है, जिनके अतर्गत वस्तु तथा शैली के अनुसार अन्य विभिन्न रूप आ जाते है।[1] मोल्टन ने समस्त साहित्य को तीन भागो मे विभाजित किया है (१) गतिशील (मौखिक) साहित्य, स्थिर (पुस्तक) साहित्य तथा गतिशील (मासिक) साहित्य।[2] वे साहित्य के विकास की चार धाराए, वर्णन, [जिसके अन्तर्गत महाकाव्य (ऐपिक), इतिहास आदि आते है], प्रस्तुनीकरण (जिसमे नाट्य, काव्य, भाषण आदि आते है) काव्य [जिसके अतर्गत गीतिकाव्य (लिरिक) आदि आते है] तथा गद्य (जिसमे विचारात्मक दर्शन आदि का समावेश होता है) मानते है। इसी प्रकार डी क्वीनसी ने शक्ति का साहित्य तथा भाव का साहित्य नामक साहित्य के दो रूप माने है। उनके शक्ति के साहित्य का सम्बन्ध भावो से है तथा ज्ञान के साहित्य का सम्बन्ध विज्ञान गणित आदि से है। हडसन ने भी विषय के अनुसार साहित्य के पाँच प्रकार माने है।[3]

साराश यह है कि अभिव्यक्ति के रूप मे साहित्य की व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानो का विचार है कि साहित्य मे मूल्यवान, आनन्ददायक अथवा अन्य सभी प्रकार के अनुभवो, सर्वोत्तम, शक्तिपूर्ण, प्रेरणापूर्ण, ऊचा उठाने वाले अथवा सभी प्रकार के विचारो, वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक युग की शक्तियो, नैतिक सत्यो, विभिन्न तथ्यो, वस्तुओ तथा मानव भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है। इनका विचार है कि इस अभिव्यक्ति मे कलात्मकता, रूप अथवा शैली का सौन्दर्य, पूर्णता, व्यापकता तथा बुद्धिमानी का समावेश होना आवश्यक है। वे मानते है कि साहित्य मनुष्य को मनुष्य के रूप मे आकर्षित करने वाला अथवा सामान्य मानव रुचि का होता है और पाठको को कलात्मक आनन्द तथा सतोष प्रदान करता है। ये कुरुचिपूर्ण आगिक सगठन तथा रूप-सौन्दर्यविहीन कृतियो को साहित्य की परिभापा के अन्तर्गत नही लेते। इनके द्वारा साहित्य का वर्गीकरण विपय, भाषा, वस्तु, शैली, गति, स्वरूप, शक्ति, ज्ञान, भाव आदि के अनुसार किया गया है।

आलोच्य काल मे हिन्दी मे साहित्य सम्बन्धी आलोचना का विकास

आलोच्य-काल मे प्रारम्भिक आलोचको ने साहित्य के स्वरूप की व्याख्या मे केवल भारतीय साहित्यालोचन का अनुसरण किया है। किन्तु जैसे-जैसे पाश्चात्य साहित्यालोचन का प्रभाव हिन्दी साहित्यालोचन पर पडता गया, साहित्य की

१ 'लिटरेचर फाल्स इन्टू टू सेट क्लासेज—प्रोज एण्ड पोयट्री एण्ड ईच आफ दीज इज डिवीजिन्ड इन्टू मैनी स्पेसीज, एकोर्डिंगली, एज दी बेसिज ऑफ डीवीजन इज फार्म एण्ड मेटर" न्यू एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृ० २०६।

२ देखिए 'दी माडर्न स्टडी ऑफ लिटरेचर' रिचार्ड ग्रीन मोल्टन (सन् १९४०)पृ० २१।

३ देखिए 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिटरेचर' (१९५४) पृ० १३।

व्याख्या मे पाश्चात्य दृष्टिकोण का भी समावेश होता गया। कुछ लेखको ने साहित्य के स्वरूप-विवेचन मे केवल भारतीय दृष्टिकोण को ही अपनाया, कुछ ने केवल पाश्चात्य ही को तथा कुछ ने दोनो के आधार पर इसका विवेचन प्रस्तुत किया है। समकालीन परिस्थितियो के प्रभाववश, हिन्दी के आलोचको ने साहित्य के स्वरूप की व्याख्या के अतिरिक्त साहित्य की महत्ता के प्रतिपादन पर भी विशेप जोर दिया है। इस काल के साहित्य के विवेचन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि साहित्य का विवेचन केवल सैद्धान्तिक रूप मे वस्तु-परक ढग से नही हुआ है वरन् हिन्दी के रचनात्मक साहित्य से सम्बद्ध होकर तथा उसके स्वरूप की गतिविधियो का आधार लेकर किया गया है। इसीलिए इसकी कुछ मौलिक विशिष्टताए भी है। जिन प्रमुख आलचको ने साहित्य के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए है वे निम्नाकित है —

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' तथा विहारी लाल भट्ट

भानुजी काव्य की विभिन्न सामग्री तथा उसके सम्मेलन को साहित्य कहते है। इनकी इस परिभापा मे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो दृष्टिकोणो का समावेश है। इसमे काव्य की विभिन्न सामग्री का समूह पाश्चात्य विचारानुसार तथा उसके सम्मिलन का भाव, भारतीय दृष्टिकोण (सहितस्य भाव साहित्यम्) से अपनाया गया है। किन्तु 'काव्य की विभिन्न सामग्री' तथा उसके सम्मिलन कहने की बात स्पष्ट नही होती। इसलिए इस परिभाषा मे अव्याप्ति दोष है। वे सगीत-तत्त्व के आधार पर साहित्य के दो भेद बताते है। एक तो वह जो सगीत को साहित्य का अग मानता है तथा दूसरा वह जो भर्तृहरि, कुन्तक तथा राजशेखर आदि के अनुसार सगीत को साहित्य से पृथक् करता है (साहित्य कला विहीन साक्षात्पशुपुच्छ विषाणहीन) वे प्राचीन आचार्यो की भाति साहित्य और काव्य को पर्यायवाची भी कहते है।[1] इसी प्रकार भट्ट जी, कुन्तक, भोज आदि के मतानुसार (काव्य) साहित्य उसे कहते है, जिसमे रस, गुण, अलकार, वृत्ति आदि सामग्री के साथ, शब्द और अर्थ, दोपो से रहित होकर उपस्थित होते है।[2]

भगवान दीन

दीन जी साहित्य का व्यापक अर्थ लेते है। उनका विचार है कि "काव्य, रीति-ग्रन्थ, व्याकरण, निरुक्त भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र पुराण, इतिहास आदि सभी का साहित्य शब्द मे अन्तर्भाव हो जाता है।"[3] वे साहित्य को नाटको, उपन्यासो, कविताओ तथा गद्यात्मक पुस्तको तक ही सीमित नही रखते।

---

१ देखिए 'काव्य प्रभाकर' (स० १९६६) पृ० ६५५।

२ शब्दरु अर्थ अदोष रस गुन भूषन वर वृत्य, सामग्री अस काव्य की कहत काव्य साहित्य ।। 'साहित्य सागर' द्वितीय तरग (१९४४) पृ० २४।

३ 'सूर पचरत्न' (स० १९८६) पृ० ५७।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी के साहित्य सम्बन्धी विचार भारतीय आदर्श की अपेक्षा पाश्चात्य आदर्शों के अधिक अनुकूल हैं। उन्होंने साहित्य के स्वरूप का विवेचन सामयिक परिस्थितियों के अनुसार किया है। वे अपने समय में भारतीयों को अंग्रेजी तथा उर्दू के आगे हिन्दी की अवहेलना करते देखते थे। इसलिए साहित्य का विवेचन करने की अपेक्षा उन्होंने हिन्दी के साहित्य को समृद्ध बनाने की प्रेरणा अधिक दी है। उन्होंने साहित्य की परिभाषा तथा व्याख्या में अधिक जोर, उसके महत्त्व, प्रभाव तथा उपादेयता की व्याख्या करने पर दिया है। वे साहित्य को किसी देश तथा जाति के सब प्रकार के जीवन की उन्नति का मूल मानते हैं।

वे अपने निबन्ध 'साहित्य की महत्ता' में पाश्चात्य कोशकारों तथा आलोचकों की भांति 'ज्ञान राशि' के सचित कोष को साहित्य कहते हैं।[१] वे किसी साहित्य की समृद्धि के आधार पर ही उस भाषा की सर्वोपरि महत्ता स्वीकार करते हैं तथा साहित्य को किसी जाति के इतिहास का प्रतिबिम्ब मानते हैं। उनका कथन है कि सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती, तो वह रूपवती भिखारिन की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्री-सम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा, उसके साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है, जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है, तो उसके ग्रन्थ साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता और असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है।[२] इस प्रकार उनका विचार पाश्चात्य आलोचक हडसन के मत में मिलता है।[३] द्विवेदी जी का विचार है कि साहित्य मस्तिष्क के विकास का एक मात्र साधन है तथा उसका प्रभाव संसार की अन्य शक्तियों से अधिक है। वे लिखते हैं कि 'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती है।'[४] वे किसी भाषा के साहित्य की उन्नति के आधार पर ही उसके रचयिताओं की जाति तथा स्वदेश की उन्नति को अवलम्बित मानते हैं।

---

१ देखिए 'साहित्य परिचय', प्रथम संस्करण (१९५०) पृ० २०।

२ वही, पृ० २०।

३ 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑव् लिटरेचर' (१९५४) पृ० १०।

४ साहित्य परिचय (प्रथम संस्करण) १९५० ई०, पृ० २२।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

शुक्लजी ने अर्थबोध, भावोन्मेष तथा विचारात्मक समीक्षा के आधार पर साहित्य की व्याख्या की है। वे साहित्य का आधार, बुद्धि तथा हृदय दोनो को मानते है तथा विज्ञान से उसकी पृथकता का निर्देश करते है। उन्होने विचार अर्थात् कल्पना, अनुभव, विवेचन तथा मन की क्रियाओ की अभिव्यक्ति को साहित्य कहा है।

उनका साहित्य के सम्बन्ध मे विचार है कि 'साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है, जिसमे अर्थबोध के अतिरिक्त, भावावेश अथवा चमत्कार-पूर्ण अनुरजन हो तथा जिसमे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"[१] अर्थबोध से उनका अभिप्राय वस्तु या विषय से है। वे चार प्रकार के अर्थ मानते है—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध तथा कल्पित। उनके विचार से अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन तथा विज्ञान, आप्तोपलब्ध का इतिहास तथा कल्पित का प्रधान क्षेत्र काव्य है। इन अर्थो के विचार से साहित्य के अन्तर्गत, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, काव्य आदि सभी आते है। किन्तु यह उनकी साहित्य की व्यापक परिभाषा है। वास्तव मे वे अर्थबोध मात्र को काव्य नही मानते। उनका विचार है कि अर्थबोध कराना मात्र या किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रवन्ध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आएगा और चाहे जहा जाए। यदि दर्शन, विज्ञान आदि केवल अर्थबोध कराएँगे तथा अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ तक सीमित रहेगे, तो वे साहित्य के अन्तर्गत नही आ सकते। भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरजन के सम्पर्क से ही वे शुद्ध साहित्य (काव्य) के अन्तर्गत आ सकते है। वे साहित्य के भीतर पहले तो उन सब कृतियो को सम्मिलित करते है, जिनमे भावव्यजना या चमत्कार-विधायक अश पर्याप्त मात्रा मे होता है, फिर उन उन कृतियो की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम कराने वाली समीक्षाओ या व्याख्याओ को भी उसके अन्तर्गत ग्रहण कर लेते है।[२] उनका कथन है कि 'पदार्थ साहित्य नही, पदार्थो का शब्द रूपी सकेत भी साहित्य नही और केवल शब्द भी साहित्य नही—विचार का नाम साहित्य है। ये विचार भाषा द्वारा प्रकट किए जाते है '। और विचारो से तात्पर्य, कल्पना, अनुभव, विवेचन तथा अन्यान्य मन की क्रियाओ से है।'[३] इस प्रकार वे साहित्य को विचार अर्थात् कल्पना, अनुभव, विवेचन तथा मन की क्रियाओ की अभिव्यक्ति मानते है।

शुक्लजी साहित्य को विज्ञान से पृथक् मानते है। उनके विचार से विज्ञान से साहित्य का भेद यह है कि " 'विज्ञान' 'पदार्थ' या 'तत्त्व' का बोधक है और साहित्य कल्पना और विचार का, विज्ञान ब्रह्माण्ड व्याप्त है और साहित्य का स्थान

---

१ चिन्तामणि, भाग २ (स० २००२) पृ० १७४।

२ देखिए चिन्तामणि, भाग २ (स० २००२) पृ० १७४।

३ 'साहित्य-सरस्वती' सन् १९०४।

किसी एक व्यक्ति मे है। विज्ञान शब्दो को सकेत की भाँति काम मे लाता है, किन्तु साहित्य मे भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलकार, मुहावरे, वाक्य-रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमे सम्मिलित है। साहित्य भिन्न-भिन्न लोगो का भिन्न प्रकार से भाषा को काम मे लाना है।"[1] वे बुद्धि तथा हृदय दोनो को साहित्य का आधार मानते है। उनका विचार है कि जब साहित्यकार के हृदयगत भाव तथा बुद्धिगत विचार भाषा द्वारा अभिव्यक्त होते है, तो वे साहित्य की सज्ञा प्राप्त करते है।

शुक्लजी ने साहित्य के अन्तर्गत काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य और निबन्ध (जिसमे साहित्यालोचन भी सम्मिलित है) को लिया है। उनका विचार है कि इसमे से प्रथम चार प्रकार की रचनाओ मे, कल्पना-प्रसूत अर्थ या वस्तु की प्रधानता रहती है, शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप मे रहते है। पर निबन्ध, अर्थ-प्रधान होता है। इसमे विचार-प्रसूत अर्थ अगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अग रूप मे रहता है। उसमे व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थ के साथ मिला-जुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तिया बीच-बीच मे झलक मारती रहती है।[2]

श्यामसुन्दरदास

श्यामसुन्दरदास जी अग्रेजी के 'लिट्रेचर' शब्द की भाँति साहित्य को दो विभिन्न अर्थो मे मान्यता देते है। उनका कथन है कि "बोल चाल की भाषा मे हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की सज्ञा देते है, यहाँ तक कि दवाइयो के साथ आने वाले छपे हुए पर्चे भी साहित्य कहलाते है। किन्तु दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ मे साहित्य से उन्ही पुस्तको का बोध होता है, जिनमे कला का समावेश है।"[3] वे साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध मानते है। उन्होने साहित्य को भारतीय विचारधारा के अनुसार काव्य का पर्यायवाची माना है तथा उसके अन्तर्गत कविता के अतिरिक्त, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकाएँ आदि सभी का समावेश किया है। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र के ग्रन्थो को वे साहित्य के अन्तर्गत ग्रहण नही करते।

साहित्य के दर्शन को स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि "जैसे नित्य प्रति के जीवन मे हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की वृत्तिया, आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, आत्मा और अनात्मा के अगणित भेदो के साथ सयुक्त हो जाती है वैसे ही वे साहित्य मे भी होती है तथा जैसे आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग, कमश आत्मा और अनात्मा के विषय है वैसे ही ये साहित्य के

---

१ देखिए सरस्वती सन् १९०४।
२ चिन्तामणि भाग २ (स० २००२), पृ० १७२।
३ साहित्यालोचन (स० १९९८), पृ० ४३।

उनका विचार है कि साहित्य का आधार सुन्दर तथा सत्य है तथा सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य बन जाता है।[१] वे उसे मस्तिष्क की वस्तु न मानकर हृदय की वस्तु कहते हैं। उनका विचार है कि वह ज्ञान और उपदेश न देकर केवल हृदय पर प्रभाव डालता है तथा उसमें भावों की व्यापकता होती है। इस प्रकार इनका विचार शुक्ल जी से भिन्न है, जो साहित्य में बुद्धि तथा हृदय का समन्वय मानते हैं।

उनका भी विचार है कि साहित्य पर देश तथा काल अथवा सामयिक जीवन का प्रभाव पड़ता है। वे मानते हैं कि विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है तथा उसी आत्मा की प्रतिध्वनि साहित्य होता है।[२] वे भी साहित्य के दो रूप, ज्ञान के साहित्य तथा भाव के साहित्य का निर्देश करते हैं तथा साहित्य का सम्बन्ध भाव अथवा रस से जोड़ते हैं। उनके मत से भावहीन विचार या दर्शन का ग्रन्थ केवल दर्शन का ही ग्रन्थ होता है तथा सद्साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता। इस प्रकार उनका विचार भी रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दर दास से अभिन्न है, जो रस या भाव से भिन्न उक्ति को काव्य अथवा साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानते।

उनका विचार है कि साहित्य का उद्देश्य अपने सुन्दर तथा सत्य पर आधारित अखण्ड तथा अमर आनन्द का प्रदर्शन करना तथा उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा करना है। ये कार्य उपदेशों से नहीं वरन् भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर तथा प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके ही हो सकते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य मनुष्य के अन्तःकरण का सामंजस्य बाहर के पदार्थों या वस्तुओं या प्राणियों से कराता है। उनका विश्वास है कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। उसका उद्देश्य चरित्र की कालिमाओं की अपेक्षा उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाना है। वे भी शुक्लजी की भाँति साहित्य में बुद्धिवाद तथा भावुकता दोनों का सम्मिश्रण आवश्यक समझते हैं।[३] वे साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन प्रदान करना नहीं वरन् मनुष्य की अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना, उसके जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाना, उसके मन का संस्कार करना तथा उसके भावों और विचारों में गति पैदा करना मानते हैं। उनकी दृष्टि में नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का एक ही लक्ष्य है तथा दोनों में केवल उपदेश देने की विधि में ही अन्तर है। साहित्य के वास्तविक उद्देश्य का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं, कि "जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जगे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों

---

१. देखिए वही, साहित्य का उद्देश्य (१९५४) पृ० ८१-८२।

२. देखिए वही, पृ० २२।

३. देखिए वही, पृ० ७७।

पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं है।"[1]

वे कला तथा साहित्य को उपयोगिता की तुला पर ही तोलते हैं।[2] उनका विचार है कि साहित्य के पुरातन आदर्श, संकुचित रूप-पूजा, शब्द-योजना तथा भाव-निबन्धन मात्र हैं तथा उनकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी करना है। वे इन आदर्शों को बदलने के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि "हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें संघर्ष, गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] वे साहित्य का कार्य मन बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गा कर सुलाना, आँसू बहा-कर जी हलका करना, नहीं मानते।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयीजी ने प्रथम बार साहित्य के विवेचन में पाश्चात्य आलोचकों की भाँति साहित्य-रचना की प्रक्रिया की व्याख्या की है। वे भी साहित्य में रस को सर्वोपरि स्थान देते हैं तथा उसमें बुद्धि तथा हृदय का समन्वय उचित मानते हैं। उन्होंने साहित्य को केवल भाषा तक ही सीमित न रखकर उसकी व्यापकता की परिधि का विशेष विस्तार किया है। वे साहित्य में सत्य तथा सुन्दर का विशेष महत्त्व मानते हैं। उन्होंने साहित्य की विशिष्टताओं का भी निरूपण किया है।

उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल की भाँति, भाव तथा बुद्धि दोनों का सम्बन्ध साहित्य से माना है। उनका विचार है कि जब साहित्य मनुष्य के लिए है, तो बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति भी साहित्य के लिए है। वे मानते हैं कि साहित्य बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति, सबको रसमय बनाकर उपस्थित करता है। साहित्य में जो कुछ अभिव्यक्त किया जाता है, उसकी आकृति पहले साहित्यकार के मस्तिष्क में स्पष्ट खिंच जाती है। वे मानते हैं कि सच्चे साहित्यकार की मानसिक दृष्टि के सम्मुख साहित्य के बहुत से अंग आरसी की भाँति दिखाई देने चाहिए। यदि साहित्यकार में अपने विषय का मानसिक साक्षात्कार करने की क्षमता नहीं है, तो वह केवल अन्ध साहित्य की सृष्टि करेगा। वे केवल मानसिक साक्षात्कार पर आधारित साहित्य को ही सच्चे अर्थ में रसमय साहित्य मानते हैं।

---

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (१९५४), पृ० ४।
२. देखिए वही, पृ० ११।
३. देखिए वही, पृ० १९।

उन्होने श्यामसुन्दर दास के विपरीत प्राचीन भारतीय परम्परानुसार साहित्य तथा काव्य को पर्यायवाची नही माना है। उनका विचार है कि "साहित्य शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है वह स्वय बहुत व्यापक है, उसको सकुचित अर्थ मे ग्रहण करना सगत नही है।"[१] वे सहित के भाव को साहित्य मानते है। साहित्य के महत्त्व के सम्बन्ध मे उनका भी द्विवेदी जी तथा श्यामसुन्दर दास जी की भाँति यह विचार है कि साहित्य समाज का जीवन है, वह उसके उत्थान तथा पतन का साधन है। साहित्य के उन्नत होने से समाज उन्नत और उसके पतन से समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है, जो देश को अधकाररहित, जाति-मुख को उज्ज्वल और समाज के प्रभाहीन नेत्रो को सप्रभ रखता है। वह सबल जाति का बल, सजीव जाति का जीवन, उत्साहित जाति का उत्साह, पराक्रमी जाति का पराक्रम, अध्यवसायशील जाति का अध्यवसाय, साहसी जाति का साहस और कर्त्तव्यपरायण जाति का कर्त्तव्य है।"[२] वे धर्म-भाव, ज्ञान-गरिमा, विचार-परम्परा, धारणा, प्रतिभा, कविता, कल्पना, रचना तथा ध्वनि को साहित्य का सम्बल तथा विभूति मानते है[३] तथा केवल ऐसे साहित्य को ही साहित्य-पद का अधिकारी समझते है, जिसमे सजीवता, साधना, चातुरी तथा चारु-चरितावली का समावेश हो। उनका विचार है कि साहित्य का देश और समाज पर वडा प्रभाव पडता है।

प्रेमचन्द जी

प्रेमचन्द जी ने साहित्य के स्वरूप, आधार, आत्मा, उद्देश्य आदि की व्याख्या पाश्चात्य तथा प्राचीन आदर्शो के अनुकूल तथा समसामयिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए की है। वे मेथ्यू आर्नल्ड की भाति साहित्य को जीवन की आलोचना मानते है।[४] उनका विचार है कि साहित्य चाहे "निबन्ध के रूप मे हो चाहे कहानियो के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की व्याख्या करनी चाहिए।"[५] वे साहित्य केवल उसी रचना को मानते है "जिसमे कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ, परिमार्जित एव सुन्दर हो और जिसमे दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य मे यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था मे उत्पन्न होता है जब उसमे जीवन की सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हो।"[६] वे साहित्य को अपने काल का प्रतिबिम्ब तथा कलाकार के उस आध्यात्मिक सामजस्य का व्यक्त रूप मानते है, जो सौन्दर्य की सृष्टि करने वाला है।

---

१ साहित्य परिचय (१९५०) पृ० १२।

२ वही, पृ० १२।

३ देखिए वही, पृ० १३।

४ देखिए 'दी मेकिंग आव लिटरेचर' (१९४८) पृ० २६६।

५ देखिए 'साहित्य का उद्देश्य' (१९५४) पृ० २।

६ 'साहित्य का उद्देश्य' (१९५४) पृ० २।

उनका विचार है कि साहित्य का आधार सुन्दर तथा सत्य है तथा सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वही वह साहित्य बन जाता है।[1] वे उसे मस्तिष्क की वस्तु न मानकर हृदय की वस्तु कहते हैं। उनका विचार है कि वह ज्ञान और उपदेश न देकर केवल हृदय पर प्रभाव डालता है तथा उसमे भावो की व्यापकता होती है। इस प्रकार इनका विचार शुक्ल जी से भिन्न है, जो साहित्य मे बुद्धि तथा हृदय का समन्वय मानते है।

उनका भी विचार है कि साहित्य पर देश तथा काल अथवा सामयिक जीवन का प्रभाव पड़ता है। वे मानते है कि विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है तथा उसी आत्मा की प्रतिध्वनि साहित्य होता है।[2] वे भी साहित्य के दो रूप, ज्ञान के साहित्य तथा भाव के साहित्य का निर्देश करते है तथा साहित्य का सम्बन्ध भाव अथवा रस से जोड़ते है। उनके मत से भावहीन विचार या दर्शन का ग्रन्थ केवल दर्शन का ही ग्रन्थ होता है तथा सद्साहित्य के अन्तर्गत नही आ सकता। इस प्रकार उनका विचार भी रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दर दास से अभिन्न है, जो रस या भाव से भिन्न उक्ति को काव्य अथवा साहित्य के अन्तर्गत नही मानते।

उनका विचार है कि साहित्य का उद्देश्य अपने सुन्दर तथा सत्य पर आधारित अखण्ड तथा अमर आनन्द का प्रदर्शन करना तथा उसमे देवत्व की प्रतिष्ठा करना है। ये कार्य उपदेशो से नही वरन् भावो को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारो पर चोट लगाकर तथा प्रकृति से सामजस्य उत्पन्न करके ही हो सकते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य मनुष्य के अन्त करण का सामजस्य बाहर के पदार्थों या वस्तुओ या प्राणियो से कराता है। उनका विश्वास है कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। उसका उद्देश्य चरित्र की कालिमाओ की अपेक्षा उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाना है। वे भी शुक्लजी की भाँति साहित्य मे बुद्धिवाद तथा भावुकता दोनो का सम्मिश्रण आवश्यक समझते हैं।[3] वे साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरजन प्रदान करना नही वरन् मनुष्य की अनुभूतियो की तीव्रता को बढाना, उसके जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाना, उसके मन का सस्कार करना तथा उसके भावो और विचारो मे गति पैदा करना मानते हैं। उनकी दृष्टि मे नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का एक ही लक्ष्य है तथा दोनो मे केवल उपदेश देने की विधि मे ही अन्तर है। साहित्य के वास्तविक उद्देश्य का निरूपण करते हुए वे लिखते है, कि "जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जगे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममे शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममे सच्चा सकल्प और कठिनाइयो

---

१ देखिए वही, साहित्य का उद्देश्य (१९५४) पृ० ८१-८२।
२. देखिए वही, पृ० २२।
३. देखिए वही, पृ० ७७।

पर विजय पाने की सच्ची दृढता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नही है।"[1]

वे कला तथा साहित्य को उपयोगिता की तुला पर ही तोलते है।[2] उनका विचार है कि साहित्य के पुरातन आदर्श, सकुचित रूप-पूजा, शब्द-योजना तथा भाव-निबन्धन मात्र है तथा उनकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी करना है। वे इन आदर्शों को बदलने के पक्ष मे है। इस सम्बन्ध मे उनका कथन है कि "हम साहित्य को केवल मनोरजन और विलासिता की वस्तु नही समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमे उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयो का प्रकाश हो, जो हममे सघर्ष, गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नही, क्योकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] वे साहित्य का कार्य मन बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गा कर सुलाना, आँसू बहा-कर जी हलका करना, नही मानते।

प० नन्ददुलारे बाजपेयी

बाजपेयीजी ने प्रथम बार साहित्य के विवेचन मे पाश्चात्य आलोचको की भाँति साहित्य-रचना की प्रक्रिया की व्याख्या की है। वे भी साहित्य मे रस को सर्वोपरि स्थान देते है तथा उसमे बुद्धि तथा हृदय का समन्वय उचित मानते है। उन्होने साहित्य को केवल भाषा तक ही सीमित न रखकर उसकी व्यापकता की परिधि का विशेष विस्तार किया है। वे साहित्य मे सत्य तथा सुन्दर का विशेष महत्त्व मानते है। उन्होने साहित्य की विशिष्टताओ का भी निरूपण किया है।

उन्होने रामचन्द्र शुक्ल की भाँति, भाव तथा बुद्धि दोनो का सम्बन्ध साहित्य से माना है। उनका विचार है कि जब साहित्य मनुष्य के लिए है, तो बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति भी साहित्य के लिए है। वे मानते हैं कि साहित्य बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति, सबको रसमय बनाकर उपस्थित करता है। साहित्य मे जो कुछ अभिव्यक्त किया जाता है, उसकी आकृति पहले साहित्यकार के मस्तिष्क मे स्पष्ट खिच जाती है। वे मानते हैं कि सच्चे साहित्यकार की मानसिक दृष्टि के सम्मुख साहित्य के बहुत से अग आरसी की भाति दिखाई देने चाहिए। यदि साहित्यकार मे अपने विषय का मानसिक साक्षात्कार करने की क्षमता नही है, तो वह केवल अन्ध साहित्य की सृष्टि करेगा। वे केवल मानसिक साक्षात्कार पर आधारित साहित्य को ही सच्चे अर्थ मे रसमय साहित्य मानते है।

---

१ 'साहित्य का उद्देश्य' (१९५४), पृ० ४।

२ देखिए वही, पृ० ११।

३. देखिए वही, पृ० १९।

वे प्रेमचन्द्र जी की भाँति साहित्य मे भावो को ही महत्त्व नही देते वरन् मनुष्य की विविधता, उसके व्यक्तित्व के असख्य यथार्थ रूप, चरित्र का निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियो की पहचान और कला के सौष्ठव को भी विशेष महत्ता प्रदान करते है। साहित्य के सम्बन्ध मे उनकी भावना यह है कि "साहित्य तो एक सात्विक जीवन है। उसे कठिन तपस्या और महान् यज्ञ समझना चाहिए। जहा व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विपय नही रह जाते, फोटो नही छापे जाते, वहाँ वाणी मौन रहती है, गाथा गाने मे सुख नही मानती। उस उच्च स्तर से जितने क्रियाकलाप होते है, आत्म-प्रेरणा से होते है।"[1]

उनका विचार है कि जो साहित्यकार अपने अनुभवो तथा धारणाओ को जितने अधिक दृढ रूप मे कौशलपूर्वक ग्रहण करेगा, उसकी कृति उतनी ही प्रभावपूर्ण होगी। वे साहित्य मे सत्य, सुन्दर तथा शिव मे से प्रेमचन्द जी की भाँति केवल सत्य तथा सुन्दर को ही अनिवार्य मानते है। उनका विचार है कि "सत्य और सुन्दर ही पर्याप्त है, जो सत्य और सुन्दर है, वे शिव होगे ही। शिव को बाहर से लाने की आवश्यकता नही। बाहर से लाया हुआ शिव साहित्य का विलास या लगजरी है। हम उसकी कीमत नही चुका सकते। बाहर से ही लाने का नतीजा है कि साहित्यकार दूसरो का कल्याण करने के धोखे अपनी ही सत्य-साधना भग करते और अपने ही विकास मे बाधा डालते है।"[2]

वे उसी साहित्य को प्रभावपूर्ण मानते है, जो मानव जीवन के साहसी, स्वाभाविक और सक्रिय रूपो की अभिव्यक्ति करता है तथा जिसमे आत्मशक्ति का यथार्थ प्रदर्शन है। वे कहते है कि 'जगत् की व्यक्त द्विधात्मकता, उसके सुख-दुख, मान अपमान, सफलता-असफलता की तह मे एक अडिग, अजेय, आत्मशक्ति के प्रदर्शन को मे कल्पना के राज्य मे रहना या जीवन से भागना नही मानता। शर्त यह है कि आत्मशक्ति का प्रदर्शन वास्तविक हो, दूसरो के अनुभव मे भी वह आ सके।"[3] उनका विचार है कि दो बातो का ध्यान रखने से साहित्य के विकास मे बाधा नही होती—एक तो सदैव अपनी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ सत्य सबके सामने रखने मे (चाहे किसी को चोट ही क्यो न लगती हो) और दूसरे साहित्य के अनिवार्य अग, सौन्दर्य (चाहे उसके सौन्दर्य की व्याख्या कुछ भी हो) का उचित ध्यान रखने से। वे साहित्य रचना मे ईमानदारी की भी विशेष आवश्यकता समझते है।

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मिश्रजी के अनुसार वाणी के सगुण साकार रूप के दृश्यादृश्य रूपो का भण्डार वाङ्मय है। उन्होने भी डी क्वीन्सी, श्यामसुन्दर दास आदि विद्वानो की

1 हिन्दी साहित्य—'बीसवी शताब्दी' (प्रथम सस्करण) पृ० ९२।
2 वही, पृ० १९०।
3 वही, पृ० १९०।

भाँति इसके दो रूप माने है, पहला ज्ञान का वाड्मय (लिटरेचर ऑफ नालेज) जो तर्क या ज्ञान, बुद्धि या मन से सम्बद्ध होता है और दूसरा भाव का वाड्मय (लिटरेचर ऑफ पावर) जो राग या भाव अथवा चित्त या मन से सम्पृक्त रहता है। इन्ही दोनो को भारतीय विद्वानो ने शास्त्र या काव्य के नाम से अभिहित किया है। वे काव्य और उसके विवेचन अर्थात् शास्त्र दोनो के योग को साहित्य कहते है।[1] वे वाड्मय शब्द का व्यवहार शुद्ध साहित्य अर्थात् उसके काव्य एव शास्त्र पक्ष इतिहास, भाषा, लिपि, आदि सबके लिए मानते है।

महादेवी वर्मा

महादेवीजी का विचार है कि साहित्य मे मनुष्य की मानसिक वृत्तियाँ सामञ्जस्यपूर्ण एकता प्राप्त करती है। वे मानती है कि साहित्य अन्तर्जगत्, बाह्य जगत् तथा सम्पूर्ण जीवन को व्यक्त करता है तथा उसमे बुद्धि और भावना का मिश्रण रहता है।[2] उनका विचार है कि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य के बाह्य जीवन के ध्वस तथा निर्माण, शक्ति तथा दुर्बलता, हार तथा जीत का ऐतिहासिक विवरण देना ही नही है, वरन् यह भी खोजना है कि ध्वस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थी, निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, शक्ति के पीछे कौन सा आत्मबल अक्षय था, दुर्बलता किस अभाव से प्रसूत थी, हार किस निराशा की सज्ञा थी और जीत मे कौन सी कल्पना साकार थी। वे मानती है कि जीवन का असीम चिरन्तन तथा परिवर्तनशील सत्य, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो रूपो की एकता लेकर साहित्य मे व्यक्त हो जाता है। वे साहित्य को व्यापक अर्थो मे स्वीकार करती है। उनका विचार है कि देश और काल की सीमा मे बद्ध साहित्य, रूप मे एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युग-विशेष से सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए सवेदनीय होता है।

'निराला'

'निराला' जी का विचार है कि यथार्थ साहित्य नपे तुले विचारो की तरह, आय व्यय की सख्या की भाति प्रकोष्ठो मे बन्द होकर नही निकलता। वे भी महादेवीजी की भाँति साहित्य को विशेष रूप मे व्यापक मानते है तथा उसका सृजन किसी विशेष उद्देश्य से नही समझते। उनके विचार से वह स्वय-सृष्टि है। वे लिखते है कि "वृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावो से भरा हुआ साहित्य, कभी देश काल और

---

१ देखिए "वाड्मय विमर्श" पृ० १

२ "साहित्य मे मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है, जैसे धूप छाँही वस्त्र मे दो रगो के तार जो अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रगो से भिन्न एक तीसरे रग की सृष्टि करते हैं।"

महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (प्रथम सस्करण) पृ० ४६।

सख्या मे नही रहा और उसी से देश, काल और सख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है।"[1] वे साहित्य उसे कहते है जो साथ है तथा जो ससार की सबसे बडी चीज है। उनका मत है कि "साहित्य लोक से, ससार से, प्रान्त से, देश से, विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसीलिए वह लोकोत्तर आनन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है "लोक मे जो कुछ दीख पडता है उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है, भावो से केवल भाषा का एकमात्र आवरण उस पर रहता है।"[2] वे मानते है कि साहित्य मे व्यापक महत्ता तथा हृदय को खिलाने और प्रभावित करने की शक्ति रहती है। वे उसे भाषा के समान ही युगानुसार परिवर्तित होने वाली वस्तु मानते है।

निराला जी साहित्य को राजनीति से अधिक महत्त्व देते है तथा उसे साहित्य का ही अग मानते है।[3] उनका विचार है कि इसके द्वारा साम्प्रदायिक विद्वेष तथा धार्मिक मतभेद तक मिट जाता है तथा यह हर एक मनुष्य को अन्य व्यक्ति को अविभाजित भावना से देखना सिखाता है और इस प्रकार विभिन्नता तथा विरोध को शान्त करता है।[4] वे उसका उद्देश्य समष्टिगत मन की शुद्धि करना तथा विभिन्न वर्गों और मतो की भावनाओ को एकता के सूत्र मे पिरोना मानते हैं।

वे साहित्य मे भावो को प्रधान तथा भाषा को गौण स्थान देते हैं पर यह नही मानते है कि साहित्य मे सदैव जनता की सरल भाषा का ही प्रयोग होता है। वे लिखते है कि "जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गम्भीरता तक पैठ कर सकता है और पैठता है। साहित्य मे भावो की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावो की अनुगामिनी है।[5] इसका यह तात्पर्य नही है कि वह साहित्य के लिए सदैव क्लिष्ट भाषा को ही आवश्यक समझते हो। वे तो भाषा के स्वाभाविक प्रवाह तथा भावानुकूलता के पोषक है।

शांतिप्रिय द्विवेदी

द्विवेदी जी साहित्य को सृष्टि की ही भाँति अनन्तकालीन मानते है। उनका भी अन्य अर्वाचीन आलोचको की भाँति यह विचार है कि परस्पर की अनुभूति जब अपने तक सीमित न रह कर दूसरो तक पहुँचने के लिए पथ पाना चाहती है तब साहित्य की सृष्टि होती है।[6] वे मानते है कि मनुष्य के हृदय मे जो अनन्त सूक्ष्म-

---

१ 'प्रबन्ध पथ' (स० १९९१) पृ० १०।
२ प्रबन्ध प्रतिभा (स० १९९७) पृ० २५९।
३ देखिए 'प्रबन्ध पथ' (स० १९९१), पृ० १६०।
४ देखिए वही, पृ० १६२।
५ देखिए वही, पृ० १२।
६. देखिए 'कवि और काव्य' (सन् १९३६), पृ० २।

भाव तथा विचार भरे पडे है, जब वे भाषा तथा कला के मेल से मनोरम स्वरूप प्राप्त कर लेते है, तब साहित्य की सज्ञा प्राप्त करते है।[1]

इलाचन्द जोशी

जोशी जी ने साहित्य की चिरन्तनता तथा उद्देश्य का विवेचन किया है। उनका विचार है कि चिरन्तन साहित्य पर युग का प्रभाव बाहरी ढाँचो तक ही रहता है तथा वह उसका मूल आन्तरिक उपादान नही बनता। वे लिखते है कि "साहित्य मे किसी नए आदर्श को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसे सनातन पृष्ठाधार पर स्थापित करना पडता है, तभी उसकी सार्थकता स्थिर, निश्चित, सर्वकालीन और सार्वजनिक रूप धारण करती है।"[2] वे साहित्य का मूल उद्देश्य अनन्त की वेदना की अनुभूति तथा अनन्त के आनन्द का अनुभव कराना मानते है।[3] उनका विचार है कि "जब आनन्द के कम्पन ने अव्यक्त को छिपाकर के व्यक्त प्रकृति को परिस्फुटित किया तब सृष्टि के रोम रोम मे विरह का भाव व्याप्त हो गया। इसलिए सृष्टि के आदि से अव्यक्त पुरुष और व्यक्त प्रकृति इस पारस्परिक विरह के द्वारा ही आनन्द का रस लूट रहे है।"[4] इस प्रकार वे मानते है कि सासारिक विरह भी सृष्टि के मूल मे स्थित विरह का ही प्रतिबिम्ब है तथा साहित्य और कला मे इसी विरह की अभिव्यक्ति होती है, जो आनन्ददायक है। इनका यह विचार दार्शनिक तथा भावात्मक है और तर्क पर आधारित नही है।

जैनेन्द्रकुमार जैन

जैनेन्द्रकुमार जी मनुष्य और मनुष्य जाति के भाषा-बद्ध या अक्षर-बद्ध ज्ञान को साहित्य कहते है।[5] उनके मत से प्रगतिशील तथा अनुभूतिशील जीवन का लिपि-बद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है। उन्होने भी अर्वाचीन आलोचको की भाँति विज्ञान तथा साहित्य मे विशेष अन्तर माना है। उनका विचार है कि जहाँ बुद्धि प्रधान होती है तथा जो रेखाबद्ध और फारमूलाबद्ध विद्या है, विज्ञान है तथा जहा मानव अपने व्यक्तित्व के पूरे जोर से विश्व को अपनाने की चेष्टा को शब्दो मे व्यक्त करता है, जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ स्रष्टा ज्ञाता न होकर सृष्टि से एकाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजन का है, बनने का नही, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते है, वह साहित्य है।[6] इस प्रकार उनका विचार है कि जब विज्ञान बुद्धि का व्यापार न रहकर

---

१ देखिए कवि और 'काव्य' (सन् १९३६) पृ० १५५।
२ 'साहित्य परिचय' (१९५०), पृ० ५४।
३ 'साहित्य सर्जना' (१९४०), पृ० १०।
४ 'साहित्य सर्जना' (१९४०), पृ० ४०२।
५. देखिए 'साहित्य शिक्षा' (सन् १९४३), पृ० ४।
६ देखिए वही, पृ० २५।

प्रसादमय, रहस्यमय तथा ईश्वराभिमुख होता है, वह साहित्य हो जाता है। वे मानते है कि साहित्य तथा विज्ञान दोनो ही उस परिस्थिति मे विज्ञान हो जाते है, जिसमे जानने का स्वरूप बनते जाने का होता है अथवा ज्ञान, सग्रह से अधिक रचना करता है।[१]

वे गुण-भेद से साहित्य के दो प्रकार मानते है—एक तो वह जो समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है तथा दूसरा वह जो उसे प्रगतिशील बनाता है। जो साहित्य समाज को आगे बढाता है, वे उसे ही अधिक आवश्यक तथा सप्राण मानते है। यह समाज के रुख की ओर न देखकर रोग की ओर देखता है तथा समाज के मनोरजन के लिए सृष्ट न होकर उसके नेतृत्व के लिए सृष्ट होता है। दूसरा साहित्य मनोरजन तथा विलास की सामग्री देने वाला, केवल ऐन्द्रिय साहित्य है, जो कम महत्त्व का है।

डॉ० नगेन्द्र

नगेन्द्र जी साहित्य को अपने मूल रूप मे सामाजिक या सामूहिक चेतना की अपेक्षा एक वैयक्तिक चेतना मानते है। उनका कथन है कि "मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई, और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है। अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप मे जीवन के प्रति अथवा अनात्म के प्रति, आत्म की प्रतिक्रिया ही है अर्थात् साहित्य वस्तुत आत्माभिव्यक्ति ही है।"[२] वे साहित्य मे स्वभाव से ही अन्तर्मुखी वृत्ति का प्राधान्य मानते है। उनका विचार है कि महान् साहित्य मे अह की भावना इतनी बलिष्ठ तथा तीव्रतम होती है कि उसका पूर्णत समाजीकरण नही हो सकता। वे महान् साहित्य को असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणो की सृष्टि कहते है तथा उसे आत्मरक्षा अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न मानते है। उनका विचार है कि आत्मरक्षण के उपायो मे सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति का है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का सचित-कोष बन जाती है तो प्रतिक्रिया रूप मे मानव जाति का पोषण और निर्माण करती है। वे साहित्य का मूल्य उसके आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एव सचाई के अनुपात से मानते है। उनका विचार है कि साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध है, एक क्रिया रूप मे तथा दूसरा प्रतिक्रिया रूप मे। क्रिया रूप मे वह जीवन की अभिव्यक्ति तथा सृष्टि है और प्रतिक्रिया रूप मे उसका निर्माता तथा पोषक। वे उसकी सृजन प्रक्रिया से ही उसे जीवन की भावगत-व्याख्या तथा अन्तर्मुखी साधना मानते है।

वे साहित्य को आनन्द-प्राप्ति का एक प्रयत्न मानते है तथा उसकी साधना तथा सिद्धि दोनो मे ही आनन्द समझते है। उनके विचार से सुख के लिए किए हुए

---

१. देखिए 'साहित्य शिक्षा' (सन् १९४३), पृ० २५।
२ देखिए 'विचार और अनुभूति' (सन् १९४५), पृ० ६६।

प्रयत्नो मे साहित्य अत्यन्त सूक्ष्म, परिष्कृत तथा मधुर प्रयत्न है। वे मानते है कि जो साहित्य हमे जितना अधिक गहरा तथा स्थायी रस का आनन्द दे सकेगा वह उतना ही महान् होगा, चाहे वह किसी सिद्धान्त का समर्थक हो या विरोधी।[1] वे समझते है कि साहित्य की सृजन-क्रिया पहले साहित्यकार को आनन्द देती है तथा उसके व्यक्त रूप का ग्रहण, प्रेषणीयता के सिद्धान्त के अनुसार, पाठक या श्रोता को आनन्द देता है।

स० ही० वा० 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी साहित्य को किसी एक वर्ग मे ही सीमित न मानकर उसे सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति कहते है। वे एक दिए गए ढाचे पर साहित्य का निर्माण करना उचित नही समझते। उनके विचार से साहित्यकार की मूल प्रेरणा उसकी आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता है, जो उसके मार्ग का सचालन करती है। उन्होने साहित्यकार के लिए वर्त्तमान का ही नही अतीत का भी विशेष महत्त्व माना है। वे समझते है कि वह अतीत द्वारा उतना ही नियमित होता है जितना कि वह उसे परिवर्तित तथा परिवर्धित करता है। रामचन्द्र शुक्ल की भाँति वे यह आवश्यक नही समझते कि साहित्य-रचना की मुख्य प्रवृत्तियाँ केवल प्रमुख कवियो की रचनाओ मे प्रतिबिम्बित होती हैं। वे ऐसे कवियो की चिन्ता-धारा मे भी मिल सकती हैं, जो कभी प्रसिद्धि प्राप्त नही कर सके। इस प्रकार उनकी तीन स्थापनाएँ है कि "कला की सामग्री को सीमित करना अनधिकार चेष्टा है। परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर हम जैसी प्रेरणा चाहते है, वह यदि साहित्यकार मे स्वभावत नही है, तो हम बलात् उसे पैदा नही कर सकते · · साहित्य मे प्रेरक शक्ति हो सकती है, किन्तु वह साहित्यकार की आन्तरिक क्षमता का स्वयभूत फल है।"[2]

वे 'निराला' जी की भाँति साहित्य तथा राजनीति को पृथक् करने के पक्ष मे नही है। उनका विचार है कि साहित्यिक और राजनीतिक दो-दो पृथक् और विरोधी तत्त्व मान लेना किसी प्राचीन युग मे भी उचित नही होता, आज के से सघर्ष युग मे तो वह मूर्खतापूर्ण सा ही है।"[3] वे साहित्य को आन्तरिक, शाश्वत, चिरन्तन तथा चारो ओर व्याप्त रहने वाले सघर्ष का फल मानते है। वे उसे प्रगतिशील की अपेक्षा गतिशील समझते है, क्योकि प्रगति तो सापेक्ष है, जो आज प्रगति है, वह कल प्रतिगति भी हो सकती है, पर साहित्य सदैव गतिशील ही रहता है।

उपर्युक्त आलोचको के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखको ने भी इस काल मे साहित्य पर अपने विचार प्रकट किए है। डा० भगवान दास की साहित्य की परिभाषा यह है कि 'साहित्य ऐसा वाक्य समूह, ऐसा ग्रन्थ (है) जिसको मनुष्य दूसरो के सहित गोष्ठी

---

१ देखिए 'विचार और अनुभूति' (सन् १९४५), पृ० ६८।

२ त्रिशकु (१९४१), पृ० ७०।

३ देखिए वही, पृ० ७३।

मे अथवा अकेले ही सुने पडे तो उसको रस आवे स्वाद मिले, आनन्द हो और तृप्ति तथा आप्यायन भी हो।"[1] डा० हजारी प्रसाद साहित्य सृष्टि की मूल शक्ति विश्लेषणात्मक की अपेक्षा सश्लेषणात्मक मानते है। वे स्थायी साहित्य की रचना के लिए ऐसी दृढ, समुन्नत भूमि मानते है, जो एक तरफ तो मानव चित्त के अति निकट नही होनी चाहिए तथा दूसरी ओर उसमे सामयिकता की ऐसी समुन्नत भूमि भी नही होनी चाहिए, जो चित्त को तप्त समस्याओ मे उलभा दे।[2] इसी प्रकार शिवनारायण श्रीवास्तव उस कृति को साहित्य कहते है, जिसमे व्यग्य या वर्ण्य विषय तथा उसकी अभिव्यंजना के ढग के कारण मनुष्य का मन रम जाता है। वे अनुभूति तथा कल्पना के सजग करने मे साहित्यकार की कला समभते है और व्यक्ति तथा अनुभूति के विभिन्न भेदो के अनुसार साहित्य के विभिन्न रूप मानते हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन का यह निष्कर्ष है कि आलोच्य काल मे काव्य अथवा साहित्य के विभिन्न रूपो के विवेचन के साथ-साथ, साहित्य का भी विवेचन पर्याप्त मात्रा मे किया गया है। इसके अन्तर्गत साहित्य की परिभाषा, स्वरूप, तत्त्व, महत्त्व, सीमा, प्रभाव, उपादेयता, भेद, भाषा तथा शैली आदि विषयो पर विचार प्रस्तुत किए गए है। साहित्य की परिभाषा मे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो ही साहित्य-शास्त्रो का आधार ग्रहण किया गया है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने साहित्य को पाश्चात्य विचारधारा के अनुकूल काव्य की सामग्री का समूह तथा शब्द और अर्थ का सम्मेलन कहा है। बिहारी लाल भट्ट, कुन्तक तथा भोज के समान, शब्द तथा गुण का काव्य के अन्य तत्त्वो के साथ सम्मेलन मानते है। अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा श्यामसुन्दर दास ने भी 'सहितस्य भाव साहित्यम्' की व्याख्या की है। उन्होंने हित के भाव को भी साहित्य कहा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पाश्चात्य मतानुसार ज्ञान-राशि के सचित कोष का नाम साहित्य कहा है। इसी प्रकार विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे वाणी का भण्डार माना है। उन्होने इसमे, इतिहास, भाषा तथा लिपि सब का समाहार किया है। दीन जी ने भी इसी विचारधारा के अनुसार रीति-ग्रन्थ, व्याकरण, निरुक्त, भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, मानव-दर्शन, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सब का अन्तर्भाव साहित्य मे स्वीकार किया है। जैनेन्द्र जी भी इसी विचारधारा के अनुसार भाषाबद्ध ज्ञान को साहित्य कहते हैं।

शुक्ल जी ने विचारो तथा भावो की अभिव्यक्ति को साहित्य कहा है। वे साहित्य के लिए कल्पित-अर्थ का प्रयोग तथा भावोन्मेष या चमत्कारपूर्ण अनुरजन आवश्यक समभते हैं। उनका विचार से तात्पर्य, कल्पना, अनुभव, विवेचन तथा मन की क्रियाओ से है। उन्होने अर्थ की व्यापक व्याख्या करके तथा उसके विशेष महत्त्व

---

१ देखिए 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' (स १९९०), पृ० ३।

२ विचार और अनुभूति (१९४५), पृ० ६६।

३. देखिए 'हिन्दी उपन्यास' (स० २००२), पृ० १।

को मान्यता देकर, आचार्यो के मतो का नए सिरे से विस्तार किया है। रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, प्रेमचन्द, नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० भगवान दास, निराला आदि आलोचक साहित्य की मूल वस्तु रस तथा भाव मानते है। रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा महादेवी वर्मा साहित्य मे बुद्धि तथा भावना दोनो का सयोग आवश्यक समझते है। महादेवी जी उसमे मनुष्य की मानसिक वृत्तियो की सामजस्य-पूर्ण एकता मानती हैं। श्यामसुन्दर दास, भारतीय साहित्यालोचन के अनुसार साहित्य तथा काव्य को पर्याय कहते है, किन्तु अयोध्यासिंह उपाध्याय ऐसा स्वीकार नही करते। प्रेमचन्द जी ने पाश्चात्य विचारानुसार साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति कहा है। महादेवी, नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, अज्ञेय आदि आलोचक साहित्य को मूलत आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार आधुनिक आलोचको ने साहित्य के विवेचन मे पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों साहित्य-शास्त्रो की विचार-परम्परा को स्वतन्त्र रूप मे अपनाया है। इसीलिए इसकी कोई सर्वसम्मत परिभाषा इस काल मे प्रचलित नही हो सकी। इसका स्वरूप भी कविता के समान विकासशील तथा परिवर्तनशील रहा है।

साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी आलोच्यकाल के आलोचको ने अपने विभिन्न विचार प्रस्तुत किए है। इन्होंने शब्द, अर्थ, भाव, रस, आनन्द, जाति, व्यक्ति, समाज, देश, काल, अनिवार्य तत्त्व, सीमा, मूल्य आदि के आधार पर इसके स्वरूप की तर्कपूर्ण व्याख्या की है। शुक्ल जी केवल अर्थबोध मात्र कराने वाले, दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदि को शुद्ध साहित्य नही कहते। उनके विचार से साहित्य ऐसा वाङ्मय है, जो भाव या चमत्कार पर आधारित होता है तथा जिसमे ऐसे वाङ्मय की समीक्षा होती है। श्यामसुन्दर दास जी इसे आत्म तथा अनात्म के सहित तथा एक अखण्ड सृष्टि कहते है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे किसी जाति का प्रतिबिम्ब तथा श्यामसुन्दर दास जी ने किसी जाति का मस्तिष्क कहा है। प्रेमचन्द तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय उस पर देश काल का विशेष प्रभाव मानते है किन्तु इलाचन्द जोशी चिरन्तन साहित्य पर, देश काल का प्रभाव केवल वाह्य ढाचे तक स्वीकार करते है। इसी प्रकार महादेवी इसे एकदेशीय होने पर भी अनेकदेशीय तथा युग विशेष से सम्बद्ध होने पर भी युग-युगान्तर के लिये सवेदनीय मानती हैं। वे साहित्य का सबन्ध आशिक जीवन की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन से मानती है तथा उसे अन्तर और वाह्य दोनो जगत् से सम्बद्ध समझती है। उन्होंने साहित्य तथा विज्ञान के अन्तर को भी अधिकाधिक स्पष्ट किया है तथा अन्य कलाओ से उसकी तुलना करके उसका स्थान निर्धारित किया है।

प्राय इन सभी आलोचको ने भाव या रस को साहित्य का मूल कहा है। प० नन्ददुलारे वाजपेयी उसके अन्तर्गत मनुष्य की विविधता, उसके व्यक्तित्व के असख्य यथार्थ रूप, चरित्र का निर्माण तथा सूक्ष्म मनोगतियो की पहचान और कला के सौष्ठव को महत्ता देते हैं। वे साहित्य मे सत्य, शिव तथा सुन्दर तीनो का अस्तित्व मानते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य की प्रतिक्रिया को सश्लेषणात्मक मानते

है। वाजपेयी जी तथा नगेन्द्र जी ने इसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर भी विचार प्रस्तुत किए है तथा इसे सामाजिक की अपेक्षा वैयक्तिक चेतना माना है। वे उसे आनन्द प्रप्ति का सवसे सूक्ष्म, परिष्कृत तथा मधुर उपाय मानते है।

महादेवी तथा निराला साहित्य को राजनीति से पृथक् तथा 'अज्ञेय' उसे उससे सम्बद्ध रखने के पक्ष मे है। 'अज्ञेय' साहित्य को प्रगतिशील न मानकर केवल उसे गतिशील कहते है। वे उसे साहित्यकार की आन्तरिक क्षमता का स्वयभूत फल मानते है। जैनेन्द्र आदि आलोचको ने साहित्य तथा विज्ञान की पारस्परिक तुलना प्रस्तुत करके उनके भेद का निरूपण किया है। इलाचन्द जोशी, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि ने साहित्य की चिरन्तनता का निर्देश किया है। महादेवी की भाँति निराला उसमे व्यापक महत्ता तथा हृदय को खिलाने की शक्ति मानते है तथा उसे देश काल से ऊँचा उठा हुआ समझते है। वे इसमे भावो को प्रधान तथा भाषा को गौण स्थान देते है।

इन आलोचको ने साहित्य के अनिवार्य तत्त्वो का भी निर्देश किया है। श्याम-सुन्दर दास ने साहित्य मे सुरुचि, अयोध्यासिह उपाध्याय ने सजीवता, साधना, चातुर्य, चारुचरितावली, धर्मतत्त्व, ज्ञान-गरिमा, विचार-परम्परा, प्रतिभा, कविता, कल्पना, रचना तथा ध्वनि, प्रेमचन्द ने सच्चाई, परिमार्जित तथा प्रौढ भाषा तथा प्रभावोत्पादकता और और नन्ददुलारे वाजपेयी ने सत्य तथा सुन्दर को साहित्य का अनिवार्य तत्त्व माना है।

इन आलोचको ने साहित्य के लक्ष्य के सम्बन्ध मे भी अपने विचार प्रकट किए है। श्यामसुन्दर दास, प्रेमचन्द, इलाचन्द, डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र आदि का विचार है कि साहित्य का लक्ष्य, आनन्द या मनोरजन देना ही नही वरन् मनुष्य की अनु-भूतियो का तीव्र करना, उसमे देवत्व की प्रतिष्ठा करना, उसके हृदय की बाह्य प्रकृति से सामजस्य उत्पन्न करना, उसकी सौदर्य-वृत्ति को पुष्ट करना, समष्टिगत मन की शुद्धि करना, जीवन को सुन्दर तथा सुखकर बनाना, समाज को शिक्षा देना तथा उसका नेतृत्व करना है।

इन्होने साहित्य के प्रयोजनो का भी उल्लेख किया है। इनके विचार से साहित्य से जातियो के विचार का पता चलता है, सुरुचि जाग्रत होती है, सौंदर्य-प्रेम उत्पन्न होता है, आध्यात्मिक तथा मानसिक तृप्ति, शक्ति, गति, सकल्प तथा दृढता प्राप्त होती है। वे मानते है कि साहित्य जीवन को स्वाभाविक तथा स्वाधीन बनाता है, मन का सस्कार तथा मस्तिष्क का विकास करता है, विभिन्न वर्गो तथा मतो की भाव-नाम्रो को एकता के सूत्र मे पिरोता है, मनुष्य को अविभाजित भावना सिखाता है तथा उसके हृदय को विकसित करने की शक्ति रखता है, उच्च-चिन्तन प्रदान करता है, जीवन की सच्चाइयो को प्रकाश मे लाता है, स्वाधीनता का भाव, सौन्दर्य तथा सृजन की

प्रेरणा, जाग्रति, सघर्ष तथा गति देता है और अनन्त के आनन्द का अनुभव कराता है।

इन्होने सत्साहित्य की भी विशिष्टताओ का निरूपण किया है। प० नन्द-दुलारे वाजपेयी सत्साहित्य के लिए मानव जीवन के साहसी, स्वाभाविक और सक्रिय रूपो की अभिव्यक्ति तथा आत्मशक्ति का यथार्थ प्रदर्शन करना, आत्मा का सर्वश्रेष्ठ सत्य सबके सामने रखना, ईमानदारी का निर्वाह करना तथा सौन्दर्य का ध्यान रखना आवश्यक समझते है। डा० नगेन्द्र भी इसके लिए अधिकाधिक गहरा तथा स्थायी आनन्द, आत्मा की महत्ता, अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एव सच्चाई को आवश्यक समझते है।

श्यामसुन्दर दास, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, 'अज्ञेय' आदि कुछ आलोचको ने साहित्य-रचना के मनोवैज्ञानिक कारणो का भी निर्देश किया है। प० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र ने साहित्य-रचना की प्रक्रिया की भी व्याख्या की है। वे मानसिक साक्षात्कार पर आधारित साहित्य को ही सच्चे अर्थो मे रसमय साहित्य मानते है। उन्होने मानव-स्वभाव की क्रियाशीलता तथा विचारो और मनो-भावो को प्रकट करने की इच्छा की वृत्ति को इसकी उत्पत्ति का कारण माना है। शातिप्रिय द्विवेदी तथा 'अज्ञेय,' साहित्य-रचना को आन्तरिक तथा बाह्य परि-स्थितियो से उत्पन्न एक व्यक्तिगत विवशता मानते है।

इन आलोचको ने साहित्य का वर्गीकरण भी किया है। श्यामसुन्दर दास ने साहित्य के दो प्रकार माने है, ज्ञान का साहित्य तथा शक्ति का साहित्य। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हे ही ज्ञान का वाड्मय तथा भाव का वाड्मय या शास्त्र तथा काव्य कहा है। जैनेन्द्र जी भी दो प्रकार का साहित्य मानते है, एक वह जो समाज को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक है तथा दूसरा वह जो समाज को प्रगतिशील बनाता है। डा० हजारी प्रसाद स्थायी साहित्य को सामयिकता से दूर मानते है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, अयोध्यासिह उपाध्याय, नन्द-दुलारे वाजपेयी, निराला आदि आलोचको ने साहित्य की व्याख्या से अधिक उसके महत्त्व, प्रभाव, उपादेयता के प्रतिपादन तथा उसे समृद्ध बनाने पर जोर दिया है। उन्होने साहित्य तथा जातीयता को अन्योन्याश्रित माना है। वे साहित्य को किसी जाति का दर्पण मानते है। प्रेमचन्द भी साहित्य पर देश, काल तथा सामाजिक जीवन का विशेष प्रभाव मानते है। महादेवीजी का भी विचार है साहित्य मे अन्त-र्जगत्, बाह्य जगत् तथा सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होती है तथा वह युग-विशेष मे बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए सवेदनीय होता है। 'अज्ञेय' जी का विचार है कि साहित्य अतीत से भी उतना प्रभावित होता है, जितना वह स्वय उसे परिवर्तित तथा परिवर्धित करता है। वे साहित्य के विषय का विस्तार, देश तथा काल की सीमा के पार भी मानते है।

निराला जी ने साहित्य की भाषा के प्रश्न पर भी विचार किया है। वे साहित्य में भाव को प्रधान तथा भाषा को गौण स्थान देते हैं और भावानुकूल भाषा के समर्थक हैं। उनका विचार है कि सच्चे साहित्य में कभी जनता की भाषा नहीं अपनाई जाती। भाषा का प्रयोग साहित्यकार की प्रतिभा तथा गहराई पर निर्भर है।

प्रकरण ५

साहित्य तथा उसके विविध रूपों की आलोचना का विकास

कविता

संस्कृत साहित्य मे कविता सम्बन्धी आलोचना का विकास

संस्कृत साहित्य मे काव्य-शास्त्र के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ काव्य की परिभाषा भी परिवर्तित होती गई है। वेदो मे 'कवि' शब्द का प्रयोग परमेश्वर के लिए किया गया है। उसमे कवि को परमेश्वर, मन का प्रेरक, सर्वव्यापी और अपने आप मे स्थित बताया गया है।[1] भागवतकार ने उसे कवि कहा है, जो अपने हृदय मे व्यक्त रूप मे ब्रह्म को विस्तृत करता है।[2] कोषकारो ने कवि को सर्वज्ञ, सब प्रकार के विषयो का वर्णन करने वाला तथा सब स्थानो पर कल्पना द्वारा भ्रमण करने वाला कहा है।[3] उसे पडित का पर्यायवाची भी कहा गया है।[4] इस प्रकार प्रारम्भ मे कवि का महत्त्व लौकिक धरातल से ऊपर उठा हुआ था। उसमे असामान्य शक्ति तथा प्रतिभा मानी जाती थी।

प्राचीन समय मे जब तक न्याय, मीमासा, व्याकरण आदि शास्त्रो का विकास नही हुआ था और स्वानुभूति की अभिव्यक्ति का एक मात्र साधन काव्य ही था, काव्य और साहित्य पर्यायवाची शब्द थे, किन्तु आगे चलकर साहित्य तो भाषा अथवा वाङ्मय शब्दो के रूप मे प्रयुक्त होने लगा तथा 'काव्य' शब्द केवल अपने सीमित अर्थो मे। भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' मे उत्तम काव्य उसी को कहा है, जो कोमल और मनोहर पदो से युक्त, गूढ शब्द तथा अर्थ से हीन, जनता के लिए सरल, युक्तियुक्त, नृत्य मे योजना के योग्य, रस की बहुत सी धाराएँ बहाने वाला तथा सन्धियो के सन्धान से युक्त हो।[5] इस परिभाषा मे दृश्य काव्य के तत्त्वो का भी

---

१ 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयभूः' शुक्ल यजुर्वेदीय सहिता अ० ४० म० ८।

२ 'तेने ब्रह्महृदाय आदिकवये' श्रीमद्भागवत पुराण १।१।४।

३ देखिए शब्द कल्पद्रुम, द्वितीय खण्ड, पृ० ६८।

४ देखिए अमर कोश २।७।५

५ मृदुललितपदाढ्य गूढशब्दार्थहीन,
जनपदसुखबोध्य, युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्ग सन्धिसन्धानयुक्त,
स भवति शुभ काव्य नाटकप्रेक्षकाणाम्। नाट्य-शास्त्र १७।१२३।

विशेष समावेश है। इसी प्रकार अग्निपुराण मे काव्य, ऐसी अलकारपूर्ण, गुण-युक्त तथा दोषहीन पदावली को कहा गया है, जिसमे सक्षेप मे ही अभीष्ट अर्थ सूचित किया जाता है।[१] इसमे काव्य मे अभिधा का प्रधानत्व माना गया है।

सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे भामह सर्वप्रथम आलकारिक हैं, जिन्होने यह माना कि शब्द और अर्थ मिलकर काव्य बनता है।[२] दण्डी ने 'अग्निपुराण' की परिभाषा मे से 'सक्षेपाद् वाक्यम्' निकालकर प्राय उसकी व्याख्या को ही स्वीकार किया—'शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'—काव्यादर्श १।१०। वामन ने काव्य मे सौन्दर्य के तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया है।[३] वे गुण तथा अलकार से सुन्दर बनाए गए, शब्द तथा अर्थ को काव्य मानते हैं—काव्य शब्दोऽय गुणालकृतयो शब्दार्थ-योर्वर्तते'—काव्यालकार सूत्र—१।१।१ कारिका। उन्होने भी काव्य मे दोष का निराकरण आवश्यक माना है तथा रीति अथवा विशिष्ट पद रचना को काव्य की आत्मा कहा है—'रीतिरात्मा काव्यस्य' का०सू०वृ० १।२।६। इसी प्रकार रुद्रट ने भी शब्द तथा अर्थ दोनो को काव्य कहा है—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'।—काव्यालकार २।१। आनन्दवर्द्धन ने भी काव्य का स्पष्ट लक्षण न देकर, काव्य के शरीर को शब्द और अर्थ कहा है (शब्दार्थशरीर तावत् काव्यम्) तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति—ध्वन्यालोक १।१)। कुन्तक काव्य मे वक्रोक्ति को विशिष्ट महत्त्व देते हुए, काव्य की यह परिभाषा देते है कि मिलित शब्द और अर्थ कवि के वक्र व्यापार से शोभित और सहृदयो को आह्लाद देने वाले रचना-बन्ध मे जब विन्यस्त होते हैं, तो काव्य कहलाते हैं।[४]

भोज ने दोषहीनता, गुण तथा अलकारसम्पन्नता के साथ-साथ काव्य को रसान्वित भी माना है।[५] मम्मट ने काव्य मे दोषहीनता, गुणसम्पन्नता, शब्द अर्थ का समावेश तो अनिवार्य माना हे, किन्तु अलकारो की अनिवार्यता स्वीकार नही की है।[६] हेमचन्द्र, विद्यानाथ तथा वाग्भट्ट द्वितीय, काव्य की परिभाषा मे किसी नए तथ्य का समावेश न करके परम्परागत रूप मे शब्द, अर्थ, गुण तथा अलकार-पूर्णता और

---

१ "सक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली
काव्य स्फुरदलकार गुणवद्दोषवर्जितम्" अग्निपुराण ३३६।७ पृ० ८९४।

२ 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' काव्यालकार १।१६।

३ 'काव्य ग्राह्यमलकारात्। सौन्दर्यमलकार' काव्यालकार सूत्र १।१।१ तथा २।

४ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि॥ वक्रोक्तिजीवित १।७

५ 'निर्दोष गुणवत्काव्यमलकारैरलकृतम्।' सरस्वती कण्ठाभरण १।२।

६ 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि"—काव्यप्रकाश १।१।

दोषहीनता को ही काव्य मानते है।[1] वाग्भट्ट प्रथम, काव्य मे सुन्दर शब्द तथा अर्थ, गुण तथा अलकार, रीति तथा रस का समावेश मानते है।[2] इसी प्रकार जयदेव ने इस परिभाषा मे वृत्ति का समावेश और किया है।[3] विद्याधर, भट्ट गोपाल तथा भट्ट-तौत ने कवि के कर्म के द्वारा काव्य की व्याख्या की है। इनका विचार है कि कवि वह होता है, जो किसी वस्तु के वर्णन मे निपुण होता है तथा उसका कर्म काव्य होता है (वर्णनानिपुण कवि तस्य कर्म स्मृत काव्यम्—भट्टतौत)।

विश्वनाथ ने सबसे पहले रस को स्पष्ट रूप मे काव्य की आत्मा माना है, तथा रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है—'वाक्य रसात्मक काव्यम्। रस्यते इति रस' —साहित्य दर्पण पृ० २७। उन्होने शब्दार्थ के स्थान पर वाक्य का प्रयोग किया है। इनके पश्चात् पडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य माना है—'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्'—रसगगाधर पृ० ४।' इस प्रकार ये वाक्य के स्थान पर शब्द का प्रयोग करते है तथा परम्परा से चले आए हुए अर्थ मे ही रमणीय विशेषण जोड कर रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि का इस शब्द मे समन्वय कर देते हैं। परवर्ती आचार्यो ने मम्मट, विश्वनाथ तथा पडितराज की काव्य-परिभाषाओ को ही अधिक महत्त्व दिया है।

उपर्युक्त कथन का सार यह है कि सस्कृत काव्य-शास्त्र मे काव्य के जिन तत्त्वो को सामान्यत सदैव अपनाया जाता रहा, वे शब्द, अर्थ, दोषहीनता, गुण तथा अलकार पूर्णता हैं। इनके अतिरिक्त काव्य मे रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि को भी मूल-तत्त्व अथवा आत्मा के रूप मे स्वीकार किया गया। अलकारो की अनिवार्यता सभी ने नही मानी। कुछ आचार्य उनकी विशेष अनिवार्यता मानते थे तथा कुछ उनका केवल कभी-कभी प्रयोग ही स्वीकार करते थे। विश्वनाथ ने शब्द के स्थान पर वाक्य को काव्य का आधार बनाया तथा पडितराज ने अर्थ को महत्त्व देकर उसकी रमणीयता को काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया। इस प्रकार सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे काव्य मे शब्द अथवा वाक्य, अर्थ अथवा रमणीय अर्थ, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस, रीति अथवा विशिष्ट-शब्द या पद, गुण, अलकार, दोषहीनता, सरलता, सौन्दर्य, वृत्ति, वर्णन-निपुणता, स्पष्टता, सक्षिप्तता आदि तत्त्वो का विवेचन हुआ।

---

१ (क) 'अदोषौ सगुणौ सालकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' काव्यानुशासन, पृ० १९।
(ख) गुणालकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ गद्यपद्योभयमयं काव्य काव्य-विदोविदु —प्रताप रुद्रयशोभूषण—पृ० ४२। स० १९०९। प्रथम सस्करण।
(ग) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय सालकारौ काव्यम्'—काव्यानुशासन—पृ० १४

२ 'साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालकारभूषितम्
स्फुटरीतिरसोपेत काव्य कुर्वीत कीर्त्तये'—वाग्भट्टालकार १।२।

३ 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता
सालकार रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्'—चन्द्रालोक १।७।

पाश्चात्य साहित्यालोचन में कविता सम्बन्धी विवेचन का विकास

प्राचीन यूनानी आचार्य काव्य को दैवी प्रेरणा का परिणाम मानते थे। होमर, हीसियोड तथा पिण्डार आदि सभी का यही विश्वास था। दैवी प्रेरणा से उत्पन्न होने के कारण वह सत्य भी होता था।[१] ईसा की छठी शताब्दी पूर्व तक यूनानी दार्शनिकों ने काव्य को केवल आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन ही माना तथा काव्य को प्रतीकवादी और साध्यावसान रूपक वाली (एलिगोरिकल) शैली को ही महत्त्व दिया। भारतीय श्रव्य काव्य की भांति उस समय का उनका काव्य भी श्रव्य होता था।[२] पिंडार ने काव्य में साँकेतिक व्यंजना को महत्त्व दिया। इन्होंने कम-से-कम शब्दों में भाव-प्रकाशन को महत्त्वपूर्ण माना। 'काव्य मुखरित चित्र है तथा चित्र मूक काव्य है' आदि परिभाषाएँ इनके समय में बनीं। गोर्जियास ने काव्य की अन्तरात्मा तथा प्रभाव का विवेचन करके काव्य के कथित शब्द की शक्ति का विशेष महत्त्व स्वीकार किया। उनका विचार था कि काव्य के कथित शब्द के द्वारा विश्वास की उत्पत्ति और आनन्द का प्रसार तथा भय और दुःख का निवारण होता है। यूरीपीडिज़ तथा ऐरिस्टोफेनीज़ काव्य का उद्देश्य शिक्षा देना मानते थे। उनके विचार से सत्काव्य वही है, जो मानव जीवन को अधिक उन्नतिशील बनाए।

प्लेटो ने काव्य को दृश्य-जगत् की वस्तुओं तथा व्यापारों की अनुकृति कहा है। चूंकि उनके विचार से इस दृश्य जगत् का बाह्य-स्वरूप वास्तविक नहीं है, इसलिए वे काव्य को वास्तविकता की अनुकृति नहीं वरन् वास्तविकता की छलना की अनुकृति मानते हैं। इस प्रकार वह कविता को अनुकृति की अनुकृति कहते हैं।[३] इन्होंने सबसे पहले काव्य का वर्गीकरण गीत (लिरिक), नाटक (ड्रामा) तथा महाकाव्य (एपिक) में किया। वे काव्य में सामंजस्य के नियम को मानते थे तथा सामंजस्य के अन्तर्गत, क्रम, नियंत्रण तथा समन्वय के नियमों को रखते थे। इन्होंने काव्य को अनैतिक तथा असत्य पर आधारित माना है तथा उसे बौद्धिक और चेतनात्मक न मानकर भावनात्मक कहा है।

अरस्तू ने काव्य को अन्य कलाओं में से एक कला मानकर उसका अध्ययन राजनीति तथा नैतिकता से पृथक् किया है। वे काव्यकृति को ऐसी सौन्दर्य की वस्तु मानते हैं, जो अपने स्वरूप के अनुसार आनन्द प्रदान करती है। वे कविता अथवा चित्र

---

१. 'एण्ड, बिकोज़ इन्सपायर्ड, व्हाट दे सैन्ग, वाज़ ऑलसो ट्रू'
'दी मेकिंग आफ लिट्रेचर' (सन् १९४८) आर० पी० स्काट जेम्स, पृ० ३३।

२. 'दे सैलडम रैड देम, पोयट्री वाज दी पोयट्री आफ दी स्पोकन वर्ड'
'दी मेकिंग आफ लिट्रेचर' (सन् १९४८) आर० ए० स्काट जेम्स पृ० ३३।

३. 'हिज़ वर्क इज़ नो मोर देन एन इमीटेशन आव एन इमीटेशन' वही, पृ० ४१।

में क्रम (आर्डर), अनुपात (प्रोपोरशन) तथा आंगिक संगठन (आरगेनिक यूनिटी) नामक गुणों की अनिवार्यता मानते हैं। उनके अनुसार काव्य के चार प्रकार हैं, महाकाव्य, गीतिकाव्य, दुखान्त तथा सुखान्त। अरस्तू के मत से अनुकृति जीवन का काल्पनिक पुनर्निर्माण अथवा जीवन का वस्तुगत प्रतिनिधित्व है।[1] यह अनुकृति भाषा के माध्यम द्वारा होती है।

लाजाइनस काव्य को केवल सुखानुभूति या शिक्षा का साधन नही मानते। उनके विचार से काव्य एक ऐसी अलौकिक प्रेरणा है, जो नैतिकता से महत्तर है तथा जिसका औदात्य (सब्लिमिटी) पाठक को ईश्वरीय आनन्द देकर, उसे उसके मानवी-धरातल से ऊँचा उठा लेता है[2] और उसके तर्क तथा निर्णयो को अतिक्रान्त करके एक अदम्य प्रकाश से उसे जगमगा देता है। लाजाइनस के पश्चात् सर फिलिप सिडनी ने कविता को उपेक्षा के निम्न स्तर से उठाकर उसकी महत्ता स्थापित की। उनके विचार से कविता अनुकरण की कला तथा एक सवाक् चित्र है, जिसका लक्ष्य आनन्द तथा शिक्षा देना है।[3] बेन जानसन ने काव्य के लिए प्रतिभा की महत्ता का प्रतिपादन किया तथा ड्राइडन ने यूनानी आचार्यों के विपरीत काव्य का लक्ष्य 'शिक्षा' तथा मनोरंजन न मानकर 'आह्लाद' माना है। यह दूसरी बात है कि कविता आह्लाद देते हुए शिक्षा भी देती रहे (पोयसी ओनली इन्सट्रक्ट्स एज इट डिलाइट्स)। ड्राइडन काव्यानन्द को सौन्दर्यानन्द से पृथक् नही समझते। उनका विचार है कि कवि की रचनात्मक शक्ति कल्पना पर आधारित है, जो कवि का विशेष गुण है। उनके मत से कविता का कार्य श्रेष्ठ अनुसरण करना ही नही, वरन् हृदय पर प्रभाव डालना भी है। वे काव्य को भौतिक जगत् की अपेक्षा मानस-प्रत्यक्ष वस्तु मानते है। ऐडिसन ने समसामयिक मनोविज्ञान की खोजो के आधार पर कविता की इसी कल्पना-शक्ति का विश्लेषण कुछ स्थूल रूप मे किया। लैंज़िग ने काव्य कला को स्वच्छन्दतावादियो की भाँति मानसिक अभिव्यंजना मानने पर भी उसका समन्वय यूनानी आचार्यों के बाह्य-सौन्दर्य से किया है। वे अभिव्यंजना को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं। उनका विचार है कि कविता सवाक् चित्र नही है, क्योकि कविता कला तथा चित्र कला की अभिव्यंजना के क्षेत्र पृथक् है।

---

१ इमीटेशन फार दी पोयीटिक्स, इज दी आबजेक्टिव रिप्रेजेन्टेशन आफ लाइफ इन लिट्रेचर व्हाट इन अवर लैंगुएज वी माइट काल दी इमेजिनेटिव रीकन्स्ट्रक्शन आफ लाइफ" वही, पृ० ५३।

२. "फार ए वर्क आफ जीनियस इज नोट ऐम एट परसुएशन, बट एक्सटेसी—और "लिफ्टिग दी रीडर आउट आफ हिमसेल्फ" 'डी सबलीमीएट' ८,४
'दी मेकिंग आफ लिट्रेचर' (सन् १९४८) आर० ए० स्काट जेम्स, पृ० ८६ से उद्धृत

३ देखिए 'एन एनथोलोजी आव क्रिटिकल स्टेटमेन्ट्स' पृ० ४४।

स्वच्छन्दतावादी युग मे काव्य की अभिव्यजना के साथ प्रेषणीयता का भी विवेचन हुआ। ब्लेक ने कविता सम्बन्धी रूढिवादी विचारधारा का विरोध किया। वे कविता को आनन्द तथा शिक्षा का ही साधन न मानकर, ससार की भौतिक वास्तविकताओ का, बुद्धि की अपेक्षा मन की आखो द्वारा देखा हुआ दृश्य मानते है। उनका विचार है कि कवि केवल मन की आखो द्वारा देखे हुए स्वर्गीय सत्य दृश्यो का उद्घाटन मात्र करता है। वह केवल शिक्षा तथा आनन्द ही नही देता। इन दृश्यो की अभिव्यजना मे शक्ति तथा आनन्द भी प्रकट हो जाते है। वर्ड्सवर्थ काव्य को शक्तिशाली भावो का अनियत्रित वेगपूर्ण प्रवाह मानते है।[1] उनका विचार है कि कविता समस्त ज्ञान का परिष्कृत प्राण-तत्त्व है। यह शान्त क्षणो मे स्मृत भावो की अभिव्यक्ति है।[2] वह कविता की विषय-वस्तु तथा भाषा-शैली का अकृत्रिम तथा सामान्य होना उचित समझते है। उन्होने काव्य मे भाव-पक्ष के साथ-साथ चिन्तन-पक्ष का भी महत्त्व माना है। शैली ने चिन्तन-पक्ष की अपेक्षा प्रतिभा या कल्पना पर अधिक जोर दिया है। वे कविता को सामान्यत कल्पना की ही अभिव्यक्ति मानते है।[3] उनके विचार से कविता जीवन का वह चित्र है, जो अपने चिरन्तन सत्य के रूप मे अभिव्यक्त होता है।[4] शैली कविता को आयास रहित स्वाभाविक कला मानते है। वे समझते है कि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उस सौन्दर्य की समता नही कर सकती, जो कवि के हृदय मे रहता है। कालरिज काव्य मे अकृत्रिमता, अनुभूति की सचाई और अभिव्यजना की सरलता को महत्त्व देते है। वे काव्य के लिए भावना तथा बौद्धिकता का सामजस्य चाहते है।[5] वे कल्पना के साथ-साथ प्रकृति-निरीक्षण का भी काव्य मे विशेष महत्त्व मानते है। उनका विचार है कि कवि की कल्पना मे विषय और विषयी

---

१ "पोयट्री इज दी स्पोन्टेनियस ओवरफ्लो आफ पावरफुल फीलिंग्स" 'प्रीफेस टू लिरिकल बैलेड्स'—एन एनथोलोजी आफ क्रिटिकल स्टेटमैन्ट्स (सन् १९३९) पृ० ५०।

२ 'पोयट्री इज इमोशन रीकलेक्टेड इन ट्रेन्क्युलिटी', 'प्रीफेस टू लिरिकल बैलेड्स' वही, पृ० ५०।

३ "पोयट्री इन ए जैनेरल सेन्स, मे बी डिफाइन्ड टू बी दी एक्सप्रेशन आफ दी इमेजीनेशन" 'ए डिफेन्स आफ पोयट्री'—एन एनथोलोजी आफ क्रिटिकल स्टेटमैन्ट्स (सन् १९३९) पृ० ५५।

४ 'ए पोयम इज दी वेरी इमेज आफ लाइफ एक्सप्रेस्ड इन इट्स इटरनल ट्रुथ' वही, पृ० ५६।

५ 'नो मैन वाज एवर यट ए ग्रेट पोयट, विदाउट बीईंग एट दी सेम टाइम ए प्रोफाउन्ड फिलोसोफर, फार पोयट्री इज दी ब्लोसम एण्ड दी फ्रेगरेन्स आव आल ह्यूमन नौलिज, ह्यूमन थोट्स, ह्यूमन पेशेन्स, इमोशन्स, लैंग्वेज......" बायोग्रेफिया लिट्रेरिया— वही, पृ० ५५।

या मन और प्रकृति का समाहार होता है। कालरिज का विचार है कि काव्यानन्द सौन्दर्य पर आश्रित है तथा यह सौदर्य कल्पना-शक्ति पर निर्भर है। उनके विचार से कल्पना मे आत्मा की सभी प्रक्रियाएँ, बुद्धि, इच्छा, ज्ञान, भाव, आदि समाहित है। कालरिज काव्य के आनन्द या रस को प्राचीन भारतीय आचार्यों की भाति अखण्ड तथा एक रूप नहीं मानते तथा कवि की मानसिक क्षमता तथा पाठक के मानसिक सस्थान के अनुरूप विभिन्न स्तरो तथा रूपो को स्वीकार करते है। उनका भी विचार है कि कविता केवल आनन्द के द्वारा ही शिक्षा दे सकती है।[1] वे कविता को 'सर्वोत्तम क्रम मे सर्वोत्तम शब्द' कहकर काव्य के कला पक्ष के महत्त्व का भी निर्देश करते है। न्यूमेन का विचार हे कि रचना-चमत्कार कविता का आवश्यक अग नही है। वे कविता को उचित नैतिक अनुभूति के आन्तरिक भावो की अभिव्यक्ति मानते है।[2] लार्ड मैकाले कविता का यह अर्थ समझते हैं कि कविता इस प्रकार से शब्दो के प्रयोग करने की कला है कि जिससे कल्पना पर कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाए।

मैथ्यू आर्नल्ड कविता को काव्यात्मक सत्य तथा सौदर्य के नियमो के द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थितियो मे जीवन की आलोचना समझते है। उनके विचार से यह मनुष्य की पूर्णतम वाणी से किसी प्रकार कम नही है। इसके द्वारा कवि सत्य की अभिव्यक्ति करने के निकटतम आ जाता है।[3] डा० जानसन ने कविता को छन्दात्मक रचना (पोयट्री इज मेट्रिकल कम्पोजीशन) कहा। उनका विचार है कि कल्पना को बुद्धि तत्त्व की सहायक बनाकर कविता आनन्द तथा सत्य का एकीकरण करने की कला है।[4] इसका लक्ष्य आनन्द के द्वारा शिक्षा देना है। विलियम हैजलिट ने कविता को कल्पना तथा भावावेगो की भाषा कहा है।[5] वह मनुष्य की सब प्रकार की धारणाओ की अभिव्यक्ति का स्पष्टतम रूप है। वाट्स डन्टन के विचार से कविता

---

१ "(दी) काम्युनिकेशन आव प्लेजर इज दी इन्ट्रोडक्टरी मीन्स, बाई व्हिच एलोन दी पोयट मस्ट एक्सपेक्ट टू मोरेलाइज हिज रीडर्स"—बायोग्रेफिया लिट्रेरिया—वही, पृ० ५०।

२ देखिए वही, पृ० ६०।

३ (क) '(पोयट्री) इज ए क्रिटिसिज्म आफ लाइफ अण्डर दी कन्डीशन्स फिक्जड फार सच ए क्रिटिसिज्म बाई दी लाज आफ पोयीटिक ट्रुथ एण्ड पोयिटिक ब्यूटी'
(ख) 'पोयट्री इज नथिंग लैस दैन दी मोस्ट परफेक्ट स्पीच आफ मैन, दैट इन व्हिच ही कम्स नीयरेस्ट टू बीइंग एबिल टू अटर दी ट्रुथ' वही पृ० ७१।

४ "पोयट्री इज दी आर्ट आफ यूनाइटिंग प्लेजर विद ट्रुथ, बाई कालिंग इमैजिनेशन टू दी हैल्प आफ रीजन"—एन एनथोलोजी आफ क्रिटिकल स्टेटमैन्ट्स' (सन् १९३९) पृ० १५।

५ "(पोयट्री) इज् दी लैंगुएज आफ दी इमैजिनेशन एण्ड दी इमोशन्स" वही, पृ० १८।

मनुष्य के मस्तिष्क की भावात्मक तथा लयात्मक भाषा मे मूर्त्त तथा कलात्मक अभिव्यक्ति है।[1]

वाल्टर पेटर ने कला का लक्ष्य कला के आनन्द तक ही सीमित रखा। उनके विचार से काव्य (कला) का आनन्द ही केवल उसका लक्ष्य है, और कुछ नही। उन्होने काव्य के वस्तु पक्ष को अभिव्यजना की कला से अधिक महत्त्व दिया। वे स्वान्त सुखाय के सिद्धान्त के अनुयायी थे, जो मनोविज्ञान के आधार पर सत्य नही ठहरता।[2] लैंजिग ने काव्य-कला को सौन्दर्य-विशिष्ट-रचना माना था, किन्तु अभिव्यजनावादी क्रोचे के विचार से कला (काव्य) केवल अभिव्यजना है तथा अभिव्यजना के अतिरिक्त उसका कोई अन्य रूप नही है। यह अभिव्यजना मनोमय है, जिसे मन ही स्वय मे अभिव्यक्त करता है। इसमे बाह्य अभिव्यक्ति का स्थान गौण है। वे सहज-प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) रूप (फार्म) तथा सौदर्य को केवल अभिव्यजना ही कहते है।[3] टाल्सटाय उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार कला (काव्य) मे प्रेषणीयता या सक्रामकता को उसकी मूल विशेषता मानते है। उनके विचार से उत्कृष्ट-कला मे लोक-मगल के साधक उत्कृष्ट भावो का ही समावेश होना चाहिए। रिचर्ड्स इनके विपरीत काव्य तथा साहित्य के आह्लाद तथा अनुभूति को अन्य अनुभूतियो जैसा ही मानते है। उनका विचार है कि काव्य मे प्रभावित करने की शक्ति, प्रेषणीयता, आह्लाद आदि किसी सौंदर्य-तत्त्व की उपस्थिति के कारण नही वरन् काव्य मे व्यक्त अनुभव तथा उन अनुभवो मे निहित मूल्य के कारण हैं। इस प्रकार वे काव्य मे एक मूल्य निहित मानते है। रिचर्ड्स भाव-पक्ष के साथ-साथ कलापक्ष को भी उसके सवर्धन के लिए अनिवार्य मानते है। काडवेल काव्य का सम्बन्ध व्यक्ति की अपेक्षा समूह से जोडते है। उनका विश्वास है कि काव्य तथा साहित्य की रूपरेखा का निर्धारण समाज के आर्थिक ढाचे के अनुरूप होता है। वे काव्य का समाज के हित के अनुरूप होना विधेय समझते है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यालोचन के अन्तर्गत कविता के अन्तरग तथा बाह्य पक्षो की गम्भीर छानबीन हुई। भारतीय आचार्यो की भाँति कविता की आत्मा सम्बन्धी विभिन्न मतो की अपेक्षा इसमे कविता की उत्पत्ति के मूल मे मानसिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार पर उत्तरोत्तर विवेचन तथा विश्लेषण होता रहा। विज्ञान के प्रसार ने इस विवेचन को विशेष गम्भीरता दी तथा विस्तार प्रदान किया। आरम्भ मे काव्य को भारतीय आचार्यो की भाँति दैवी-प्रेरणा माना जाता था। पाश्चात्य साहित्यालोचन मे केवल शब्द तथा अर्थ के आधार पर काव्य का ढाचा

---

१ देखिए 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', ६वाँ सस्करण, पोयट्री।

२ देखिए 'दी मेकिंग आफ लिटरेचर' (१६४८), पृ० ३१४-३१५।

३ देखिए 'नया साहित्य नये प्रश्न' (१६४५) पृ० ८३।
ले० प० नन्ददुलारे वाजपेयी।

नही खडा किया गया। वहाँ भी काव्य का प्रारम्भिक विवेचन, श्रव्य तथा दृश्य काव्य को लेकर ही हुआ, जिसमे दृश्य-काव्य के विवेचन का प्राबल्य था। किन्तु इन आचार्यों ने काव्य का वर्गीकरण दृश्य तथा श्रव्य, मुक्तक तथा प्रबन्ध और उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य मे न करके, इसको गीतिकाव्य (लिरिक), नाटक (ड्रामा) तथा महाकाव्य (एपिक) के रूप मे विभाजित किया। इनका काव्य के विवेचन का मूल सिद्धान्त, अनुकृति रहा, जिसके विश्लेषण, विवेचन तथा विकास के अनुसार अन्य सिद्धान्त उत्पन्न हुए। इन्होने काव्य को कला का ही एक रूप समझा, इसलिए इनके द्वारा काव्य-कला का चित्र, सगीत आदि कलाओ से तुलनात्मक विवेचन भी किया गया। अनुकृति के सिद्धान्त के फलस्वरूप ही कदाचित् काव्य के तत्त्वो के विवेचन की अपेक्षा उसकी प्रक्रिया का अध्ययन अधिक व्यापक रहा। काव्य-रचना की मानसिक प्रक्रिया के अन्तर्गत सौन्दर्य, कल्पना, अभिव्यजना, प्रेषणीयता, बौद्धिकता, भावना, कलात्मक आनन्द, सगीत आदि तत्त्वो पर विचारपूर्ण विभिन्न मत प्रकट किए गए तथा काव्य रचना की प्रक्रिया मे इनका स्थान तथा महत्त्व भी निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त काव्य के स्वरूप मे इनके पारस्परिक योग का विचार भी किया गया।

इसी प्रकार काव्य के लक्षण के सम्बन्ध मे भी पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे प्रौढ विचार प्रस्तुत किए गए। इस प्रारम्भिक विचार का कि काव्य का उद्देश्य शिक्षा देना तथा नैतिक उन्नति करना है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास किया गया तथा अन्त मे इस निर्णय पर पहुँचा गया कि काव्य आनन्द के माध्यम से ही अपना नैतिक कर्त्तव्य पूरा करता है। इसके अतिरिक्त यह भी माना गया कि वास्तविक काव्य मे आनन्द के द्वारा सत्य तथा उच्च भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत वाल्टर पेटर आदि का यह मत स्थापित हुआ कि काव्य का कोई अन्य लक्ष्य नही है। उसका लक्ष्य केवल अभिव्यक्ति का आनन्द अथवा कलात्मक आनन्द प्रदान करना मात्र है। अभिव्यजनावादी इस सम्बन्ध मे और आगे बढे तथा उन्होने अभि-व्यजना तथा अनुभूति को एक करके काव्य को मानस लोक मे ही प्रतिष्ठित कर दिया। किन्तु इन विचारो की प्रतिक्रिया-स्वरूप काव्य के सामाजिक मूल्य का महत्त्व पुन प्रतिष्ठित किया गया। रिचर्ड्स ने काव्य की अनुभूतियो मे सामाजिक मूल्य का प्रतिपादन किया। टालसटाय ने काव्य के भावो को सक्रामक मानकर, उनका समाज के लिए मूल्य माना तथा उत्कृष्ट भावो को ही काव्य मे स्तुत्य बताया। प्रगतिवादियो ने तो काव्य को व्यक्तित्व की सीमा से बाहर निकाल कर समाज के सघर्ष का ही एक अस्त्र बना दिया। इस प्रकार काव्य के उद्देश्य का विवेचन पाश्चात्य साहित्यालोचन मे कलात्मक आनन्द तथा उपयोगिता के बीच मे ही प्रसरित रहा। पाश्चात्य साहित्यालोचन मे काव्य के दो ही लाभ माने गए, आनन्द तथा शिक्षा। किन्तु भारतीय काव्य शास्त्र मे चारो फल, कला मे विचक्षणता, कीर्ति, प्रीति, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दु ख-नाश, शीघ्र-परमानन्द तथा कान्ता-सम्मित-

मधुरिमायुक्त उपदेश की प्राप्ति मानी गई है।[1] इसी प्रकार भारतीय आचार्यों ने काव्य की प्रक्रिया के अध्ययन की अपेक्षा काव्य के हेतुओ का ही स्थूल विचार अधिक किया है। वे शक्ति, निपुणता, ज्ञान, अभ्यास, प्रतिभा आदि को ही काव्य का कारण बताते हैं।[2]

आधुनिक हिन्दी साहित्यालोचन में कविता-सम्बन्धी विवेचन पर पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही आलोचना-पद्धतियो के विचारो का प्रभाव पड़ा। आलोच्य-काल के पूर्व से भारतीय साहित्यालोचन मे जो कविता सम्बन्धी विचारधारा प्रवाहित होती आई थी, उसने इस युग के प्रारम्भिक रीतिकारो को भी प्रभावित किया, किन्तु अंग्रेजी राज्य, संस्कृति तथा साहित्य के विस्तार के साथ-साथ उस पर पाश्चात्य साहित्यालोचन का भी उत्तरोत्तर प्रभाव पडता गया। लछिराम, मुरारीदान, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', अर्जुनदास केडिया, बिहारी लाल भट्ट आदि आधुनिक रीतिकारो का कविता सम्बन्धी विवेचन प्राय परम्परागत ही है। भामह, दण्डी, वामन, मम्मट, विश्वनाथ, पडितराज जगन्नाथ आदि प्राचीन आचार्यो के अनुसार इन्होने काव्य के प्रयोजन, कारण, लक्षण, आत्मा आदि विषयो का ही विवेचन किया है। इनके इस विवेचन मे कोई विशेष नवीनता नही है। इन्होने केवल अपनी रुचि तथा बुद्धि के अनुसार प्राचीन आचार्यो के लक्षणो मे थोडा बहुत परिवर्तन मात्र ही प्रस्तुत किया है तथा काव्य के प्रयोजन तथा कारणो के विवेचन मे किसी प्रकार का कोई योग नही दिया है। इन आधुनिक रीतिकारो का कविता सम्बन्धी विवेचन प्रायः परिचयात्मक मात्र ही अधिक है। इनमे विवेचन तथा विश्लेषण की अधिक शक्ति नही है।

आधुनिक रीतिकार

लछिराम तथा मुरारीदान

लछिरामजी ने 'रावणेश्वर कल्पतरु' मे काव्य के प्रयोजन तथा काव्य के भेदो का वर्णन किया है। इसमे उन्होने 'चन्द्रालोक' के आधार पर काव्य के तीन भेद उत्तम, मध्यम तथा अधम माने हैं। इसी प्रकार कविराजा मुरारीदान ने पण्डित-

---

१ (क) धमार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च,
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिबन्धनम्। 'काव्यालकार' १।२।
(ख) काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ 'काव्य प्रकाश' १।२।

२ (क) शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ 'काव्य प्रकाश' १।३।
(ख) नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुत च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगो तस्य कारण काव्यसम्पद. ॥ 'काव्यादर्श' १।१०३।

राज जगन्नाथ के मतानुसार 'रमणीय अर्थ कहने वाले शब्द को काव्य कहा है।"[1]

कन्हैया लाल पोद्दार

पोद्दार जी काव्य मे ध्वनि और अलकार को मुख्य मानते है। उनका विचार है कि काव्य मे रस, भाव आदि ध्वनि द्वारा ही प्रभावशाली होते है। वे 'अग्नि-पुराण' के अनुसार अलंकारो को भी काव्य का शोभावर्द्धक तत्त्व मानते है। उनका विचार है कि काव्य मे व्यग्य और अलकार का सयोग शोभा की वृद्धि करने वाले आभूषणो के समान है। उनका काव्य का यह लक्षण कि निर्दोष, गुण तथा अलकार सहित अथवा कही-कही अलकाररहित शब्दार्थ को काव्य कहते है, मम्मट का ही अनुकरण मात्र है।

वे 'काव्य प्रकाश' के अनुसार शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास को काव्य के निर्माण तथा उत्कृष्टता का हेतु मानते है। उन्होने काव्य मे प्रतिभा तथा निपुणता को विशेष महत्त्व दिया है।[2] इसी प्रकार उन्होने 'काव्य-प्रकाश' के अनुसार ही यश, द्रव्य-लाभ, लोकव्यवहार, ज्ञान, उपदेश, दु ख-निवारण तथा परमानन्द की प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन के रूप मे स्वीकार किया है। वे तीन प्रकार के शब्दो से उपदेश प्राप्ति मानते है, प्रथम प्रभुसम्मित शब्द अर्थात् वेद, स्मृति आदि के शब्द, दूसरे सुहृदसम्मित अर्थात् पुराण, इतिहास आदि के शब्द तथा तीसरे कान्ता की भाँति रमणीय शब्द। उनका भारवि की भाँति विचार है कि काव्य मे हितपूर्ण तथा मधुर दोनो प्रकार के शब्दो का योग रहता है, जो विश्व मे अन्यत्र दुर्लभ है (हितं मनोहारि च दुर्लभ वच —भारवि)।

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

भानुजी ने काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे आनन्दवर्द्धन, विद्यानाथ आदि के विपरीत अपना यह मत दिया है कि "शब्द और अर्थ वाक्य के शरीर है, व्यग्य जीवात्मा है और रस परमात्मा है।"[3] उन्होने इस परिभाषा मे अलकार और गुण को कही स्थान नही दिया है। वे व्यग्य से अधिक महत्त्व रस को देते है, क्योकि व्यग्य

---

१ "जसवन्त-जसोभूषण" (सन् १६१०) प्रस्तावना पृ० ५७।

२ "पर प्रतिभा से केवल हृदय मे शब्द और अर्थ का सन्निधान ही होता है, सार का ग्रहण और असार का त्याग व्युत्पत्ति-निपुणता-द्वारा ही हो सकता है।"
काव्य कल्पद्रुम (स० १६६८) पृ० २०।

३ काव्य प्रभाकर (स० १६६६) पृ० ६६३।

ने नो उक्ति केवल सुन्दर और मनोहारिणी ही होती है, किन्तु रस तो उसका आधार ही है।[1]

भानुजी ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के लक्षणों पर भी अपना मत प्रकट किया है। मम्मट की काव्य परिभाषा मे वे व्यर्थ-विशेषण-दोष मानते हैं तथा उसमे कोई स्थिरता नहीं समझते। विद्यानाथ के लक्षण मे उन्हें काव्य के दोषरहित (दोषवर्जितौ) होने पर आपत्ति है। उनका विचार है कि इस प्रकार तो किंचिन्मात्र दोष आ जाने पर किसी महाकवि का अन्य सब प्रकार से सुन्दर काव्य भी काव्य नहीं कहा जा सकता। भोज की परिभाषा मे उन्हे यह आपत्ति है कि भोज ने यह नहीं बताया कि कौन वस्तु निर्दोष तथा अलकार सहित होनी चाहिए। उनके विचार से उसमे वाक्य शब्द का अभाव है। इसके अतिरिक्त वे कहते है कि जब काव्य को रसात्मक ही कह दिया तो गुण अलकारादि सहित कहने की क्या आवश्यकता है। दण्डी की परिभाषा मे वे अनिव्याप्ति दोष मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा "रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्द काव्यम्" मे उन्हे यह आपत्ति है कि इसमे शब्द के स्थान पर वाक्य का प्रयोग होना चाहिए था, क्योकि वाक्य से तो शब्द का ग्रहण हो जाता है किन्तु शब्द से वाक्य का ग्रहण नहीं हो सकता। जगन्नाथ दास रत्नाकर ने इस परिभाषा को सुधार कर इस भाँति लिखा था, "होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावे सोय" किन्तु इसको भी अर्थ शब्द के अभाव के कारण भानुजी दोषपूर्ण समझते हैं और उसे सुधार कर इस भाँति लिखते हैं, "सोई काव्य है वाक्य जो अर्थ सहित रमणीय"।[2]

इस भाँति वे अन्य सभी लक्षणों मे आचार्य विश्वनाथ के लक्षण 'रसात्मक वाक्य काव्यम्' ही को उचित मानते है क्योकि उनके विचार से इस लक्षण मे वाक्य के सदोष तथा सगुण होने का झगडा छोड़कर एक सीधी बात कह दी गई है, जो सबसे प्रधान है तथा जिसमे सूक्ष्म रूप मे काव्य के साराश अर्थात् वाक्यार्थ की रमणीयता का सम्यक् समावेश है।[3] उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि इस परिभाषा के अनुसार रसहीन, चमत्कारपूर्ण तथा अलकार युक्त वाक्य काव्य नहीं हो सकता। वे काव्य-रचना के लिए शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास तीनो की नितान्त आवश्यकता समझते हैं। वे अभ्यास को इसलिए सबसे प्रमुख समझते हैं कि अभ्यास से निपुणता और निपुणता से शक्ति प्राप्त होती है। वे शक्ति के दो भेदों—सहजा (ईश्वर प्रदत्त) तथा उत्पाद्या (निपुणताजन्य अर्थात् कष्टसाध्य) मे से उत्पाद्या के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते हैं।[4] भानु जी भी काव्य से पाँच लाभ मानते

१ "व्यग्य मय कविता गोरस मे शर्करा के सदृश है। यदि शर्करा न हुई तो गोरस मे जो स्वाभाविक माधुर्य है वह तो नष्ट होना ही नहीं, हाँ विशेष मधुर नहीं होता।" वही पृ० ६६३।

२ काव्य प्रभाकर (स० १९६६) पृ० ६६०।

३ वही, पृ० ६६०।

४ वही, पृ० ६६१-६६२।

है—व्यवहार का ज्ञान, दुःख का नाश, आनन्द की प्राप्ति, कान्तासम्मित उपदेश तथा हित मनोहारि च दुर्लभ वच ।

अर्जुनदास केडिया

केडियाजी काव्य को मानव-जीवन, मानव-अनुभूतियो और मानव अन्तर्वृत्तियो का विशद चित्र मानते है। उनका विचार है कि काव्य का प्रकाश मानव जीवन के प्राय साथ ही साथ हुआ है और वह तब तक देदीप्यमान रहेगा, जब तक इस विशाल ब्रह्माण्ड मे मनुष्यत्व का अस्तित्व है। उनका विचार है कि केवल मानव जीवन के साथ ही नही, बल्कि समस्त सृष्टि के साथ काव्य का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उसका स्रष्टा 'ईश्वर' तक कवि कहा गया है। वे काव्य को जैसा रमणीय एव अलौकिक आह्लादकारक मानते है वैसा जटिल एव क्लिष्ट भी। वे काव्य के रसास्वादन को अनिर्वचनीय और अत्यन्त दुर्लभ मानते है। उनका विचार है कि काव्य का ज्ञान जीवन के अम्लान सौन्दर्य, सरसता या सहृदयता को प्रदान करने वाला है। उन्होने काव्य और साहित्य को पर्यायवाची न मानकर उनके स्वरूपो को एक दूसरे से भिन्न समझा है।

बिहारी लाल भट्ट

भट्ट जी शब्द और अर्थ दोनो के चमत्कार से पूर्ण वाक्य को काव्य मानते है।[1] उन्होने अपनी परिभाषा देने से पूर्व काव्य के अनेक पूर्ववर्ती लक्षण दिए है, जैसे साहित्य-दर्पण के आधार पर यह लक्षण दिया है —

> "वाक्य रसात्मक काव्य है, सरस अलकृत जोय।
> वृत्ति रीति लक्षण सहित काव्य कहावत सोय ॥"

इस परिभाषा मे रसात्मक वाक्य को काव्य माना गया है, किन्तु फिर 'सरस' शब्द का अनावश्यक प्रयोग भी किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमे गुण, वृत्ति, रीति तथा अलकारो की भी अनिवार्यता दिखाई गई है। किन्तु इस परिभाषा मे उन्हे यह स्वय आपत्ति है कि अलकारादिरहित होने पर भी तो कोई वाक्य रस या सौन्दर्य के ही कारण भी तो काव्य हो सकता है। उनका 'रस गगाधर' के अनुसार दिया हुआ लक्षण यह है —

> "देय अर्थ रमनीय अति जाकी शब्द स्वरूप।
> ऐसी रचना को कहत कविजन काव्य अनूप ॥"

काव्य के कारणो मे से वे पूर्व-सस्कार, सद्ग्रथो का अध्ययन और अभ्यास तीन को अनिवार्य मानते है। पूर्व सस्कार से उनका तात्पर्य कवि-प्रतिभा से ही है, जो पूर्वजन्मो के सस्कारो द्वारा प्राप्त होती है। उन्होने दण्डी के 'काव्यादर्श' से केवल

---

१ साहित्य-सागर, द्वितीय तरग, पृ० २५।

पूर्व सस्कार नामक एक ही कारण भिन्न दिया है, किन्तु पूर्व-सस्कार से वे प्रतिभा का ही अर्थ लेते है।

वे मम्मट के अनुसार यश, धन, व्यवहार की प्राप्ति तथा अमगल के निवारण को काव्य-प्रयोजन मानते है। वे कविता की पूर्ण सिद्धि के लिए प्रथम, शब्दार्थ ज्ञान तथा द्वितीय पिंगल, का ज्ञान अनिवार्य मानते है।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धुओ ने "साहित्य-पारिजात" मे जहा वाक्य और अर्थ मे से कोई भी शब्द रमणीय हो, वही काव्य माना है। वे भी पण्डितराज के लक्षण 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्' को स्वीकार नही करते, क्योकि इसके अनुसार केवल अर्थ की रमणीयता काव्य मानी गई है, शब्द की नही। इसके अनुसार तो शब्दालकार, चित्र आदि भी काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत नही आ सकते। इसलिए वे अर्थ की रमणीयता के अतिरिक्त वाक्य की रमणीयता को भी, जिसमे शब्द की रमणीयता भी सम्मिलित है, काव्य मानते है। उनके विचार से वाक्य से पृथक् शब्द की रमणीयता अर्थहीन होने के कारण कुछ नही है। इसलिए उन्होने अपनी परिभाषा मे शब्द की रमणीयता का उल्लेख नही किया है। मिश्रबन्धुओ की परिभाषा मे यह दोष है कि वे वाक्य और अर्थ दोनो का भिन्न-भिन्न निरर्थक प्रयोग करते है। वास्तव मे वाक्य कहने से भी अर्थ का ही ज्ञान होता है। उन्होने भी 'काव्य-प्रकाश' तथा 'काव्य निर्णय' के आधार पर ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य तथा अवर नामक काव्य के तीन भेद माने है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि इन आधुनिक रीतिकारो की काव्यालोचन-पद्धति परम्परागत लक्षणो तथा उदाहरणो वाली ही थी। इनकी विचार-परम्परा भी प्राचीनकालीन ही थी। इन्होने कविता के लक्षण, हेतु, प्रयोजन का ही परिचयात्मक विवरण काव्य के माध्यम से दिया है तथा गद्य की अपेक्षा पद्य का ही अधिक प्रयोग किया है। इनमे मौलिक चिन्तन की शक्ति अधिक न होने के कारण ये आचार्यो के प्रदर्शित प्राचीन मार्ग पर ही साधारणत' चल सके है। पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तो का इन पर केवल प्रारम्भिक रूप मे ही प्रभाव पडा है।

इन रीतिकारो का काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे अपना कोई विशेष दृष्टि-कोण नही है। इन्होने प्राचीन आचार्यो के लक्षणो का ही विवेचन तथा विश्लेपण करके उन पर अपने विभिन्न मत प्रकट किए है तथा उनमे से ही किसी न किसी को अपनी रुचि तथा बुद्धि के अनुसार ग्रहण किया है। इनके द्वारा भामह, दण्डी, मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा पडितराज जगन्नाथ के लक्षणो पर सबसे अधिक विचार किया गया है। इनमे से भी प्राय मम्मट, विश्वनाथ तथा पडितराज जगन्नाथ के लक्षणो को अधिक मान्यता दी गई है। कुछ आधुनिक रीतिकारो ने परम्परागत लक्षणों मे थोडे

बहुत अपने लक्षण प्रस्तुत किए है, जैसे मिश्रबन्धुओ ने रमणीयार्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहने के स्थान पर रमणीय वाक्य तथा रमणीय अर्थ को काव्य कहा है। भारतीय साहित्यालोचन की इस पद्धति के विपरीत पाश्चात्य काव्यालोचन का प्रभाव भी कुछ लक्षणो पर पडना प्रारम्भ हो गया है, जैसे केडिया जी ने काव्य को मानव जीवन, मानव अनुभूतियो तथा मानव अन्तर्वृत्तियो का चित्र माना है।

काव्य के लक्षणो के अतिरिक्त इनका दूसरा विषय काव्य के हेतुओ का विवेचन था। इस सम्बन्ध मे इन्होने कोई मौलिक उद्भावना नही की, केवल भामह, दण्डी तथा मम्मट के अनुसरण पर काव्य के निर्माण तथा उत्कृष्टता के हेतुओ के रूप मे शक्ति (प्रतिभा), पूर्व सस्कार, निपुणता, सद्ग्रन्थो के अध्ययन तथा अभ्यास को ही अपनाया। इनमे से भी किसी ने अभ्यास, किसी ने निपुणता तथा किसी ने प्रतिभा का महत्त्व शेष से अधिक समझा है। इन्होने प्रतिभा के सहजा तथा उत्पाद्या नामक भेदो मे से उत्पाद्या को अधिक महत्त्व दिया है।[1]

काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध मे भी इनके विशेष मौलिक विचार नही है। इन्होने भी मम्मट के अनुसार, यश, द्रव्यलाभ, लोक-व्यवहार-ज्ञान, उपदेश, दुःख अथवा अमगल का निवारण, परमानन्द की प्राप्ति आदि का परिचयात्मक विवरण मात्र दिया है।

इन्होने काव्य के भेदो के सम्बन्ध मे भी कोई नया विचार प्रस्तुत नही किया तथा परम्परागत उत्तम, मध्यम तथा अधम अथवा ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य तथा अवर नामक काव्य के तीन रूपो को ही मान्यता दी। इनके द्वारा पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर काव्य का नवीन वर्गीकरण नही हुआ।

काव्य सम्बन्धी अन्य विषयो मे से भी इनके द्वारा काव्य के महत्त्व, स्वरूप, लक्ष्य, आनन्द आदि पर भी कही-कही चलते विचार प्रकट किए गए। इन्होने काव्य के आनन्द को अनिर्वचनीय तथा दुर्लभ और उसके ज्ञान को सौन्दर्य, सरसता तथा सहृदयता प्रदान करने वाला माना तथा कविता की सिद्धि के लिए शब्दार्थ तथा पिंगल का ज्ञान आवश्यक समझा। इन्होने काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत रमणीयता, अलौकिकता, आनन्दपूर्णता के साथ-साथ जटिलता तथा क्लिष्टता को भी अपनाया। इस प्रकार इन आधुनिक रीतिकारो ने काव्यालोचन का कोई नया मार्ग प्रशस्त करके पुरानी पगडडियो मे ही थोडी बहुत चहल-पहल की।

आधुनिक आलोचक

द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के साथ-साथ हिन्दी साहित्यालोचन पर पाश्चात्य साहित्यालोचन का उत्तरोत्तर प्रभाव पडना प्रारम्भ हो गया। आधुनिक आलोचको ने

---

१ देखिए 'काव्य प्रभाकर' (सं० १९६६) पृ० ६६१-६६२।

प्राचीन आचार्यो के लक्षणो के प्रतिपादन तक ही अपने आपको सीमित न रखकर पाश्चात्य विचारो के नवीन प्रकाश मे उन्हे परखना आरम्भ किया । ये आलोचक सस्कृत आलोचना के किसी सम्प्रदाय तक ही सीमित रह कर काव्य की आत्मा के रूप मे अलकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि का ही समर्थन नही करते रहे वरन् व्यापक रूप मे मौलिक आलोचना के नवीन क्षेत्रो मे उतर आए । इनके द्वारा कविता की विभिन्न नवीन परिभाषाए दी गई, उसके स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा विवेचन किया गया, उसकी रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध मे विभिन्न मत प्रतिपादित किए गए तथा उसके स्वरूप के विभिन्न तत्त्वो की छानबीन, मनोविज्ञान के आधार पर, वैज्ञानिक रूप मे की गई । इनके द्वारा कविता की रचना की मानसिक प्रक्रिया, कविता का बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप, प्रेषणीयता की समस्या, कविता का विषय, भावो का महत्त्व, बाह्य तथा मानव-प्रकृति का कविता से सम्बन्ध, छन्द, तुक, भाषा, शैली, उद्देश्य, कविता मे चिन्तन तथा भावना का पारस्परिक स्थान, आदि विषयो का भी विशेष समृद्ध विवेचन हुआ । महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, भगवान दीन, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, जयशकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सुमित्रानन्दन पन्त, निराला, महादेवी, सुधाशु, शातिप्रिय द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, नगेन्द्र आदि आलोचको ने कविता का विशेष विवेचन प्रस्तुत किया ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी कविता और पद्य मे वही भेद मानते है, जो अग्रेजी की पोयट्री और वर्स मे है । दोनो का अन्तर बताते हुए वे लिखते है "किसी प्रभावोत्पादक और मनोरजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरो का नाम पद्य है ।"[1] वे कविता को छन्दोबद्ध रचना तथा पद्य दोनो से भिन्न मानते है । उनका विचार है कि कविता के लक्षण होने पर कविता गद्य तथा पद्य दोनो मे हो सकती है तथा कविता के लक्षणो से हीन गद्य, पद्य, छन्द भी कविता नही कहला सकते । वे कविता को तुली हुई शब्द-स्थापना मात्र नही समझते । वे समझते हैं कि "जो बात एक असाधारण और निराले ढग से शब्दो के द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पडे, उसी का नाम कविता है ।"[2] वे अन्त करण की वृत्तियो को ही कविता कहते है । उनका विचार है कि "नाना प्रकार के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन मे नही समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते है, अर्थात् वे मनोभाव शब्दो का स्वरूप धारण करते है । वही कविता है, चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक ।"[3]

---

१ रसज्ञ रजन (स० १९७९) पृ० ३९ ।

२ वही, पृ० ४० ।

३. वही, पृ० ५२ ।

काव्य की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि कवियो का यह काम है कि वे जिस पात्र या जिस वस्तु का वर्णन करते है, उनका रस अपने अन्त करण मे लेकर उसे ऐसा शब्द रूप दे देते है कि उन शब्दो के सुनने से वह रस सुनने वालो के हृदय मे जाग्रत हो उठता है ।[1]

वे कविताओ को सरस, मनोरजक, हृदयग्राहिणी, यथार्थ, स्वाभाविक, अबाधित तथा अनियन्त्रित मानते है। उनका विचार है कि "ससार मे जो बात जैसी दीख पडे कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबदी का होना अच्छा नही। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन मे जो भाव आप ही आप पैदा होते है उन्हे जब वह निडर होकर अपनी कविता मे प्रकट करता है तभी उसका असर लोगो पर पूरा-पूरा पडता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है।"[2] जिस कविता मे परतन्त्रता, पुरस्कारप्राप्ति या अन्य किसी कारण से बाधा उत्पन्न हो जाती है, वह कभी सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक नही हो सकती। काव्य मे यथार्थता तथा वास्तविकता के महत्त्व के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि असलियत से दूर होने से "कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेषकर के शिक्षित और सभ्य देशो मे कवि का काम, प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओ का वर्णन करना है, आकाश कुसुम के गुलदस्ते तैयार करना नही। अलकार शास्त्र के आचार्यो ने अतिशयोक्ति अलकार जरूर माना है, परन्तु अभावोक्ति भी क्या कोई अलकार है ? किसी कवि की बेसिर पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्ति हो सकती है।"[3]

उनका विचार है कि कविता का विषय, समय तथा परिस्थिति के अनुकूल बदलता जाना चाहिए। एक ही विषय की कविता के सदैव प्रचार से उसकी सीमा कुछ छटकर बहुत थोडी रह जाती है तथा उसकी असलियत काफूर हो जाती है। इससे भाषा मे भी दोष आ जाता है तथा साहित्य पर भी बहुत आघात होता है। इस तथ्य की पुष्टि उन्होने उर्दू कविता की निरन्तर शृगारी परिपाटी के प्रवाह तथा रीतिकालीन कवियो के कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे के निरन्तर प्रयोग तथा नखशिख, नायिकाभेद, अलकार-शास्त्र की निरन्तर रचना का प्रभाव दिखाकर की है। वे कविता मे नएपन को आवश्यक समझते है। एक ही प्रकार की कविता, भाषा, भाव तथा उक्ति का प्रयोग जब रूढ तथा परम्परागत हो जाता है तब साहित्य मे प्राय. उसी का अनुगमन होता रहता है तथा नवीनता का समावेश बहुत कठिनाई से होता है।

---

१. रसज्ञ रजन (स १६१६) पृ० ५३।
२ वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० ३६।

उनके मत से कवि का सबसे बड़ा गुण नई बातो का सूझना है। नई-नई बातो की उत्पत्ति के लिए कल्पना की बडी आवश्यकता है । जिस कवि की कल्पना शक्ति जितनी अधिक होगी, उसकी कविता उतनी ही उच्चकोटि की होगी। वे कहते है कि "कविता के लिए उपज चाहिए। नए-नए भावो की उपज जिसके हृदय मे नही वह कभी अच्छी कविता नही लिख सकता। ये बाते प्रतिभा की बदौलत होती है।"[1] इस प्रकार उनके विचार से प्रतिभा ही कल्पना की शक्ति की प्रदाता है, जो ईश्वरप्रदत्त है और अभ्यास से प्राप्त नही होती। वे काव्य मे रस की अनिवार्यता मानते है। उनका विचार है कि किसी मनोविकार का दृश्य वर्णन करने मे ढूढ-ढूढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए, जो सुनने वाले के सामने वर्ण्य विषय का चित्र सा खीच दें। वे कल्पना के अतिरिक्त सद्काव्य मे प्राकृतिक दृश्यो और प्रकृति के कौशल की अभिव्यक्ति भी उचित मानते है।[2] द्विवेदी जी के मतानुसार सद्काव्य मे प्रकृति-पर्यालोचन के साथ मानव-स्वभाव की आलोचना की भी अभिव्यक्ति होनी ठीक है।

वे अपने काव्य के आदर्श मे मिल्टन द्वारा निर्देशित तीन गुणो का समावेश करते है। उनका विचार है कि कविता मे सादगी शब्द-समूह ही की न हो वरन् विचारपरम्परा भी सादी होनी चाहिए तथा भाषा के सरल शब्दो के अतिरिक्त भाव और विचार भी इतने सरल होने चाहिए कि कविता पढ़ने के साथ ही उसका अर्थ हृदयंगम हो जाए। यदि कविता मे कोई ध्वनि हो तो वह भी गूढ नही होनी चाहिए। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होने यह सुन्दर चित्र अकित किया है कि "कविता पढने या सुनने वाले को ऐसी साफ सुथरी सडक मिलनी चाहिए, जिस पर कंकड, पत्थर, टीले, खन्दक, काटे और झाड़ियो का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाए। जिस तरह सडक जरा ऊंची-नीची होने से बाइसिकल के सवार को दचके लगते है, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोडी भी नाहमवार हुई तो पढने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नही रहता। कविता रूपी सडक के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हो। दोनो तरफ फूलो से लदे हुए पेड हो, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हो, प्राकृतिक दृश्यो की नई-नई झाड़ियाँ आँखो को लुभाती हो।"[3] वे कविता मे पेचीदा भावो के होने की आवश्यकता के अतिरिक्त यह भी आवश्यक समझते हैं कि उसमे सरल भाव सरल शब्दो के द्वारा व्यक्त हो। उनका विचार है कि "कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पदो का कभी आदर नही होता। जिसे पढते ही पढने वाले के मुख से वाह न निकले अथवा उसका मस्तक

---

१. 'रसज्ञ रजन' (स० १६७६ पृ० ४१ ।
२ देखिए वही पृ० ४२ ।
३ रसज्ञ-रंजन (सं० १६७६) पृ० ४८ ।

न हिलने लगे अथवा उसकी दन्त पक्ति दिखाई न देने लगे अथवा जिस रस की कविता है, उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता ही नही, तुकबन्दी मात्र है।"[1]

उनका कविता का दूसरा गुण 'असलियत' है, जिसका तात्पर्य यह है कि उसमे जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारो और प्राकृतिक नियमो के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न हटा हो। वे काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो की स्वाभाविकता अनिवार्य मानते है। उनका शब्द की स्वाभाविकता से सरल तथा स्वाभाविक भाषा शैली का तथा अर्थ की सरलता से सदैव होने वाली सम्भव घटनाओ की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है। काव्य के तृतीय गुण जोश से उनका यह तात्पर्य है कि काव्य मे व्यक्त भाव किसी प्रयत्न द्वारा प्रकट होने की अपेक्षा स्वय कवि के मुख से अनायास निकल गए हो तथा काव्य के शब्दो से बनावट न जाहिर होती हो। ऐसा प्रतीत हो कि हृदयगत भावो ने कविता के रूप मे अपने को प्रकट कराने के लिए कवि को बाध्य कर दिया है। उनका 'जोश' मे जोशीले शब्दो का तात्पर्य नही है।

वे सादगी, असलियत तथा जोश मे से असलियत का महत्त्व अधिक मानते है। उनके विचार से काव्य की अच्छाई की कसौटी सच्चाई है। उनका विचार है कि जिस काव्य को सुनकर यह विश्वास हो जाए कि यह सत्य है, वही अच्छा काव्य है। द्विवेदी जी ने मिल्टन के सिम्पिल, सेन्सुअस तथा इम्पैशनेट को ही सादगी, असलियत तथा जोश कहा है। जोश का तात्पर्य समझाते हुए वे स्पोन्टेनिटी की ही व्याख्या करते है।

उन्होने अन्य प्राचीन आचार्यो की भाँति काव्य के जीव का भी निर्देश किया है। वे 'अर्थ-सौरस्य' को कविता का जीव मानते है। उनका विश्वास है कि जिस पद्य मे अर्थ का चमत्कार नही है, वह कविता ही नही है।[2] वे कविता मे अलकारो को बलात् लाने का विरोध करते है। उनका विचार है कि "विषय वर्णन के झोके मे जो कुछ मुख से निकले उसे ही रहने देना चाहिए। बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाए उसे ही पद्यबद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।"[3] उनका विचार है कि कविता मे अर्थ ऐसा होना चाहिए कि उसे पढते ही पढने वाले उसे तत्क्षण हृदयगम कर सके, क्लिष्ट-कल्पना और सोच विचार करने की आवश्यकता न पडे। वे अर्थ सौरस्य के लिए अर्थ-चमत्कार, स्वाभाविक-अभिव्यक्ति तथा अनुकूल भाषा के प्रयोग को मान्यता देते है।

---

१ रसज्ञ रजन पृ० १०।

२ वही पृ० ८।

३ वही पृ० ९।

द्विवेदी जी रस को ही कविता का सबसे बडा गुण मानते है, इसलिए नीरस कविता को दोषपूर्ण कहते है। वे प्राचीन आचार्यों की भाँति कविता को निर्दोष देखना चाहते हैं। उनका विचार है कि न तो अश्लीलता तथा ग्राम्यता-गर्भित शब्दो से कविता को कभी दूषित करना चाहिए, न देश, काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए। पर वे काव्य मे दोषो को अधिक महत्त्व नही देते। उनका विचार है कि यदि काव्य विशेष कवित्व-सम्पन्न है, किन्तु उसमे ऐसे दोष भी है, जिनकी उपेक्षा हो सकती है, तो उन दोषो को अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नही है। उनके विचार से कविता मे दोष ही मुख्य नही है, रस मुख्य है। यदि थोडे दोष होने पर भी काव्य का रस बना हुआ है, तो वे दोष उपेक्षणीय है। वे बहुत से गुणो के साथ थोडे दोषो का कोई महत्त्व नही मानते।

द्विवेदी जी ने काव्य-रचना के लिए नैसर्गिक शक्ति तथा अभ्यास दोनो को स्वीकार किया है। उन्होने कवि की शिक्षा के लिए क्षेमेन्द्र के विचार अपनाए है। उसके अनुसार ही वे कवि मे सहृदयता, निरीक्षण, विस्तृत-अध्ययन, अभ्यास और व्यवहार की उदारता अनिवार्य मानते है। उन्होने कविता के छ विषयो को विशेष महत्त्व दिया है—(१) काव्य के विषय का विस्तार, (२) कवि की भावुकता तथा उसके हृदय की सत्यता, (३) कविता मे सादगी तथा आडम्बरहीनता, (४) छन्दो मे नवीनता, सस्कृत छन्दो का प्रयोग और तुकबन्दी का विरोध, (५) कविता मे सत्य का आधार, (६) कविता मे व्याकरण के नियमो का पालन।

द्विवेदी जी का विचार है कि कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए।[1] वे केवल कविता के लिए कविता लिखना एक तमाशा समझते है। इस प्रकार वे पाश्चात्य कलावादियो के कला के लिए कला वाले सिद्धान्त को नही मानते। वे अपने युग की कविता का यह उद्देश्य मानते है कि उसके द्वारा पढे लिखे लोगो मे भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढने का अनुराग उत्पन्न हो जाए। उनका विचार है कि यदि कविता यथार्थ है तो सुनने वाले पर उसका प्रभाव निश्चित पडता है। उनका विचार है कि काव्यगत रस के अनुसार भावो को उद्बुद्ध करके कविता से प्रत्येक कार्य सम्पादन हो सकता है तथा असम्भव वस्तुएँ भी सम्भव हो सकती है। वे समझते है कि कविता से विश्रान्ति मिलती है तथा मनोमालिन्य दूर होकर थकावट कम होती है।

उनका यह भी विचार है कि प्राचीन कवियो का ध्यान भाषा की अपेक्षा अर्थ की ओर अधिक रहता था, इसलिए उनकी कविता मे उनका हृदयगत भाव बहुत ही अच्छी तरह से ग्रथित हो जाता था। हम उनके इस विचार को नही मानते, क्योकि

---

१ रसज्ञ रजन (स० १९७९), पृ० १९।

प्राचीन अलकारवादी, रीतिवादी तथा वक्रोक्तिवादी कवियो का ध्यान अर्थ की अपेक्षा भाषा तथा उसके चमत्कार पर अधिक रहता था। उनकी यह बात भी समर्थनीय नही है कि प्राचीन कवियो का काव्य इसलिए ही अच्छा होता था कि वे किसी प्रकार की आशा के वशीभूत होकर कविता नही करते थे या परमेश्वर को भक्ति द्वारा प्रसन्न करने के लिए प्राय कविता लिखते थे। भक्ति के अतिरिक्त काव्य की उत्कृष्टता के अन्य कारण भी हो सकते है। भक्तो के अतिरिक्त भी तो बहुत से कवियो ने उत्कृष्ट काव्य रचना की है।

द्विवेदी जी वर्णों या मात्राओ की नियमित सख्या वाली पक्तियो को छन्द कहते है।[1] वे छन्दो का प्रयोग विषय के अनुकूल होना उचित समझते है।[2] उनका विचार है कि दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि छन्दो का प्रयोग हिन्दी मे बहुत हो चुका है। अब सस्कृत काव्य मे प्रयुक्त छन्दो मे उत्तमोत्तम जैसे द्रुतविलम्बित, वशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्तो का हिन्दी मे प्रयोग करने से हिन्दी काव्य की शोभा की विशेष वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त बोलचाल की भाषा की कविता मे वे उर्दू के छन्दो के प्रयोग का भी समर्थन करते है। वे समझते है कि एक प्रकार के छन्द पर अधिकार करने वाले कवि को अनेक छन्दो के प्रयोग की आवश्यकता नही है। तुलसी ने चौपाई तथा बिहारी ने दोहा लिखकर ही उत्तम काव्य की रचना करके कीर्ति प्राप्त की है।

उन्होने तुकहीन कविता पर भी बहुत जोर दिया है। वे लिखते है "पादान्त मे अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी मे लिखे जाने चाहिएँ। इस प्रकार के छन्द जब सस्कृत, अग्रेजी और बगला मे विद्यमान है तब कोई कारण नही कि हमारी भाषा मे वे न लिखे जाएँ। सस्कृत ही हिन्दी की माता है। सस्कृत का सारा कविता-साहित्य इस तुकबन्दी के बखेडे से बहिर्गत है। अतएव इस विषय मे यदि हम सस्कृत का अनुकरण करे तो सफलता की पूर्ण आशा है।"[3] वे कविता का मूल आधार केवल अच्छा अर्थ और रस बाहुल्य मानते है, शब्दाडम्बर अथवा अनुप्रास, यमक आदि नही। उनका यह विचार नही है कि पादान्त मे अनुप्रास वाले छन्द पूर्णतया लिखे ही न जाएँ वरन् यह है कि इनके साथ-साथ अनुप्रासहीन छन्द भी लिखे जाने चाहिएँ। वे केवल पद्य के लिए ही काफिए की आवश्यकता समझते है, कविता के लिए नही। उन्होने लिखा है कि "तुले हुए शब्दो मे कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढने से

---

१ देखिए रसज्ञ-रजन (स० १९७९), पृ० १६।

२ "जैसे समय विशेष मे राग विशेष के गाए जाने से चित्त अधिक चमत्कृत होता है वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालो को अधिक आनन्द मिलता है।" वही, पृ० २।

३ वही, पृ० ४०।

कवियों के विचार स्वातन्त्र्य मे बडी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ है। उनसे जकड जाने से कवियो को अपनी स्वाभाविक उडान में कठिनाइयो का सामना करना पडता है। कवि का काम है कि अपने मनोभावो को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता मे विघ्न डालते हैं।''[1]

द्विवेदी जी काव्य भाषा का सब से प्रमुख गुण उसकी सरलता मानते हैं। वे कहते है कि 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज मे समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके।'[2] उनके विचार से काव्य की भाषा इतनी सरल होनी चाहिए कि उसके पढते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ होकर आनन्द प्रदान करे। वह क्लिष्ट न हो। उनकी काव्य-भाषा की दूसरी विशेषता शुद्ध भाषा का प्रयोग है। वे शुद्ध भाषा लिखने के लिए व्याकरण के नियमो का पालन अनिवार्य मानते हैं। वे बिना तोडेमरोड़े शब्दो का उनके मूल रूप मे प्रयोग करना उचित समझते हैं। उनकी भाषा की तीसरी विशेषता मुहावरो का उचित प्रयोग है। उनका विचार है कि भाषा के प्राण रूप मुहावरो से जो कवि अनभिज्ञ है उसकी भाषा कभी आदरणीय नहीं हो सकती। उसमें सर्वसम्मत मुहावरो का प्रयोग करना विशेष आवश्यक है।

उनकी भाषा की चौथी विशेषता काव्य के विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करने की कला है। वे समझते है कि काव्य में विषयोचित शब्द स्थापना न करने से काव्य का आनन्द भग हो जाता है। उनका विचार है कि 'कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बडी मनोयोगिता और बडी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने मे आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है वैसे ही यथोचित शब्दो का उपयोग न करने से काव्यरूपी रस भी बिगड जाता है।'[3] वैसे तो वे काव्य मे सामान्यत सर्वत्र ललित और मधुर शब्दो ही का प्रयोग करना उचित मानते है पर कुछ विशेष स्थलो पर रूक्षाक्षर वाले शब्दो को भी उचित समझते है। उनका विचार है कि शब्द चुनने मे अक्षर-मैत्री का विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योंकि कविता के शब्द उचित स्थान पर प्रयुक्त न होने से अर्थ ग्रहण करने मे विशेष क्लिष्टता उत्पन्न हो जाती है। उनका विचार है कि उचित शब्द-स्थापना से ही काव्य मे प्रभावोत्पादकता की उत्पत्ति होती है। वे कहते है कि 'किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन मे ढूँढ-ढूँढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुनने वाले की आँखो के सामने वर्ण्य विषय का चित्र सा खींच दे।'[4] वे मनोभावो

---

१. रस-रजन (सं०१९७६), पृ० ४० ।

२. वही पृ० ५ ।

३. वही पृ० ३ ।

४. वही पृ० ४८ ।

के अनुकूल शब्दो के चुनने के साथ-साथ उनका क्रम से सजाना भी महत्त्वपूर्ण मानते है।[1]

उनकी काव्य-भाषा की पाँचवी विशेषता उसकी बोलचाल की भाषा होना है, क्योकि उनके विचार से बोलचाल से दूर जा पडने वाली भाषा मे सादगी कम हो जाती है। वे अन्य भाषाओ के शब्दो के प्रयोग को सदोष नही मानते है। पर उनका विचार है कि उन शब्दो को उनके मूल रूप मे प्रयोग करना ही उचित है। काव्य-भाषा के सम्बन्ध मे उनका अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि वे गद्य और पद्य की पृथक्-पृथक् भाषा का विरोध करते है। एक भाषा मे बोलना तथा दूसरी भाषा का कविता के लिए प्रयोग करना वे प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध मानते है।

द्विवेदी जी काव्य के विषय का मनोरजक और उपदेशजनक होना आवश्यक समझते है। रीतिकाल मे काव्य के विषय केवल नायिका-भेद-निरूपण, रस तथा अलकार-विवेचन थे। काव्य के विषय के इस सकुचित क्षेत्र को वे अविचार तथा अन्ध परम्परा मानते है। काव्य विषय के विस्तार के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है।"[2] वे अपने समय की समस्या पूर्ति को भी छोडने का उपदेश देते है तथा विषय-निर्वाचन मे कवियो की स्वतन्त्रता के पक्षपाती है।

द्विवेदी जी ने काव्य की व्याख्या मे सस्कृत, उर्दू, अ ग्रेजी आदि के साहित्यो का आधार लिया है। उनकी काव्य की व्याख्या समकालीन उर्दू लेखक मौलाना अल्ताफ हुसैन 'हाली' जैसे उर्दू के लेखक तथा अ ग्रेजी साहित्य के मिल्टन, वर्डस्वर्थ आदि कवियो के आधार पर है। पद्य तथा कविता के अतर, काव्य की यथार्थता, मानव स्वभाव के परिचय, प्रकृति के दृश्यो के निरीक्षण, अभिव्यक्ति के कौशल तथा उचित शब्द-स्थापना के विचारो मे द्विवेदी जी पाश्चात्य काव्य-शास्त्र से ही प्रभावित है। यद्यपि कही-कही उनके काव्य-विवेचन मे पाश्चात्य-काव्य की व्याख्या तथा भारतीय काव्य-शास्त्र के लक्षणो का समन्वय है, किन्तु वे पाश्चात्य साहित्यालोचन के तत्वो की ओर अधिक झुके है। उनका काव्य की क्लिष्टता का निराकरण तथा बोलचाल की भाषा के प्रयोग का प्रभाव भी भारतीय की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्या-

---

१ "मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यो न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दो मे न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नही रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन-चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाए। उसमे कसर न पडे। मनो-भाव शब्दो ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्ति-सगत शब्द-स्थापना के बिना कवि की कविता तादृशहृदयहारिणी नही हो सकती।" रसज्ञ रजन, पृ० ४६।

२ रसज्ञ-रजन (स० १९७९) पृ० ११।

लोचन का ही है।' उनका तुक तथा छन्द का विवेचन भी पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा से ही हुआ है।

इस प्रकार द्विवेदी जी का काव्य-विवेचन पाश्चात्य काव्य-तत्वों के प्रारम्भिक तथा सरल रूपों का ही सामान्य विवेचन मात्र है, जो रूढ़िवादी रीतिकालीन परम्परा के कवियों के आदर्शों को परिवर्तन की प्रेरणा देने के उद्देश्य से किया गया है। उन्होंने काव्य के भाव, विचार, भाषा, शैली, विषय, गुण, आदर्श, छन्द, उद्देश्य आदि का विवेचन करके काव्य विवेचन को नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया था। अपने युग के काव्य-निर्माण पर उनका पूर्ण प्रभाव था। उन्होंने काव्य की नवीन व्याख्या में कवियों को काव्य के नवीन आदर्श तथा स्वरूप से परिचित कराया था।

द्विवेदी जी ने काव्य का विवेचन केवल विवेचन के लिए नहीं किया। वह युग की आवश्यकता को देखकर युग की माँग के अनुकूल हुआ है। उनके काव्य-विवेचन का उद्देश्य क्रियात्मक रूप में तत्कालीन कवियों का मार्ग प्रदर्शन करना तथा उन्हें काव्य से परिचित कराना था। उनके काव्य-विवेचन में पूर्ण मौलिकता की कमी है, फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा है, अपने विचारों, सिद्धान्तों तथा समर्थनों की मोहर लगाकर अपनी निजी शैली में ही लिखा है। इसलिए वे उनके ही हो गए हैं। काव्य के सम्बन्ध में उनके विचार व्यावहारिक तथा समयानुकूल हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति अपने को किसी सम्प्रदाय के बन्धन में नहीं बाँधा है तथा पूर्ववर्ती लेखकों की भाँति काव्य की आत्मा के रूप में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि के सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया है। उन्होंने सब मतों को विवेक की कसौटी पर कस कर ग्रहण किया है तथा जिस सिद्धान्त का जो अंग उपयुक्त समझा है, उसको ग्रहण कर लिया है। उनके विवेचन में उनकी मौलिकता तथा शक्तिशाली व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है।

पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी शब्द और अर्थ की रमणीयता को काव्य कहते हैं।' उनका विचार है कि व्यंग्य-प्रधान काव्य सर्वोत्तम होता है। वे कविता का प्रयोजन आनन्द मानते हैं। काव्य की मौलिकता के प्रश्न पर उनका विचार है कि कोई भी कवि सम्पूर्ण रूप में मौलिक नहीं हो सकता। सत्कवि पुराने कवियों के भावों को ग्रहण करके उन्हें सुन्दरता तथा कुशलता से चित्रित करता है। जो कवि पुरातन भावों को ग्रहण करके भी भद्दे ढंग से प्रकट करता है, वे उसी को चोर मानते हैं।

---

१ "इट इज़ वन आफ दी ग्रेट ब्यूटीज आव पोयट्री टू मेक हाई थिंग्स इन्टेलीजिबिल एण्ड टू डिलीवर व्हाट इज ऑब्सट्रूज इटसैल्फ, इन सच ईजी लैंगुएज एज मे बी अण्डरस्टुड आव आरडीनरी रीडर" एडीसन—स्पैक्टैटर, पृ० २९७।

२ देखिए मतिराम ग्रन्थावली, 'भूमिका' (१९५१), पृ० ५।

वे गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार को उत्तम कविता के तत्व मानते हैं तथा कुरुचि-प्रवर्त्तक कविता के पक्षपाती नहीं हैं। उन्होंने शृंगार रस की कविता को सर्वश्रेष्ठ माना है तथा दाम्पत्य प्रेम से परिपूर्ण कविता की प्रशंसा की है।[1] वे भी द्विवेदी जी की भांति कविता में केवल उपदेश तथा शिक्षा के स्थान पर रस-परिपाक का महत्त्व मानते हैं। वे महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा आख्यायिका से मुक्तक काव्य को श्रेष्ठ समझते हैं। उनका आनन्दवर्धन की भांति यह विचार है कि मुक्तक में भी कवि को उतनी ही रस-स्थापना करनी पड़ती है, जितनी प्रबन्धकार-कवि प्रबन्ध में करता है। उनकी मुक्तक की परिभाषा अभिनवाचार्य के आधार पर दी गई है।[2] उनका यह भी विचार है कि काव्य का अनुवाद होने से उसका मूल्य तथा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उनकी धारणा है कि कविता का जादू शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षितों पर अधिक चढ़ता है तथा इसका चमत्कार अविद्या के अन्धकार में ही खूब चमकता है। किन्तु उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। ज्ञान विज्ञान कविता के विरोधी नहीं हैं। उनकी यह मान्यता किसी तर्क पर आधारित नहीं है। शिक्षित व्यक्ति आधुनिक कविता की गहराई का जितना रसास्वादन कर सकता है, अशिक्षित नहीं कर सकता। वे कविता में चटपटी तथा लच्छेदार भाषा, सुन्दर सूक्तियों तथा अनोखी अन्योक्तियों का प्रयोग उसकी प्रभावोत्पादकता की वृद्धि के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी काव्य, मुक्तक-काव्य, काव्य के प्रयोजन आदि की परिभाषाएं रीतिकालीन प्रवृत्ति की परिचायक हैं।

शर्मा जी ने अपने समय की नवीन छायावादी कविता का विरोध किया है। वे पुरातनता के प्रेमी थे। उन्होंने नवीन कविता के भाव, भाषा, शैली आदि को अपरिमित तथा अर्थ-हीन समझा है। उन्हें उसकी अस्पष्टता अच्छी नहीं लगती। वे समकालीन छायावादी काव्य को पहेली या कागज का पत्ता समझते थे। उनका कथन है कि "मैं हिन्दी में हृदयस्पर्शी उच्चकोटि के रहस्यवाद का इच्छुक हूं, पहेलियों से बेशक पहलू बचाता हूं और कागज के पत्ते को पारिजात का पुष्प नहीं कहता।"[3]

भगवान दीन

दीन जी उस भावपूर्ण रमणीय रचना को 'काव्य' कहते हैं जो अन्तस्तल को स्पर्श करके चित्त में एक अभूतपूर्व लोकोत्तर आनन्द का संचार करती है। उनके विचार से जिस रचना में कोमलता, मधुरता, सुन्दरता एवं सरलता के अतिरिक्त हृदय को हिला देने वाले भव्य भाव भरे हों वही 'कविता' है।[4] वे काव्य में रमणीय शब्द अथवा कोमल-कान्त पदावली का होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि कविता में रूखे

---

१ देखिए 'देव और बिहारी', पृ० ८१।
२. देखिए 'बिहारी की सतसई' (सं० १९७५), पृ० १।
३ माधुरी, वर्ष ७, खंड १, संख्या १, पृ० १६१।
४ सूर संग्रह की भूमिका (सं० १९८६), पृ० ११।

तथा मानव हृदय को न रुचने वाले विषय भी सरस रूप में प्रस्तुत होते हैं। वे कवि का यह धर्म मानते हैं कि वह अपने समय की सभी प्रकार की साहित्यिक, सामाजिक तथा नैतिक विश्रृंखलताओं को दूर करे। वे भी 'काव्यप्रकाश' की भांति काव्य के हेतु, शक्ति, निपुणता, लोक-शास्त्र तथा व्यवहार का ज्ञान, शिक्षा तथा अभ्यास को मानते हैं। उन्होंने प्रतिभा के अन्दर 'कविता रचने की शक्ति' तथा 'कविता समझने की शक्ति' दोनों का अन्तर्भाव माना है तथा तीन प्रकार की निपुणता, लोक, शास्त्र तथा काव्य-निपुणता की व्याख्या की है।[१]

पं० रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने कविता के विभिन्न तत्वों का गम्भीर तथा गवेषणापूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने कविता की परिभाषा, काव्य-विषय, काव्य का प्रभाव, काव्य के तत्व, कविता की उत्पत्ति की मानसिक प्रक्रिया, कल्पना, सौन्दर्य, काव्यानुभूति, काव्य का लक्ष्य, कवि की विशेषताएं, काव्य का महत्त्व, छन्द, भाषा, रहस्यवाद, छायावाद आदि विषयों को लेकर कविता का विवेचन किया है। इनके विवेचन में विशेष सूझबूझ, मौलिक विचार, किसी तथ्य के मूल में पहुंचने की तीव्र दृष्टि तथा काव्य-विषयक प्रश्नों और समस्याओं का तर्क-सम्मत स्पष्टीकरण करने की असाधारण प्रतिभा दिखाई पड़ती है।

शुक्ल जी काव्य का सम्वन्ध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ मानते हैं। उनका विचार है कि कविता जगत् के विभिन्न रूपों तथा व्यापारों से मनुष्य की पृथक् सत्ता की भावना दूर कराकर, उसे ऐसी लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करती है, जहां वह अपने आपको विलकुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है अर्थात् मुक्त हृदय हो जाता है और जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का अपने हृदय में संचार करता है। इस भाव लोक में पहुंच कर वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन कर देता है तथा उसकी अनुभूति सब की अनुभूति हो जाती है।[२] उनका विचार है कि जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।"[३] वे हृदय और बुद्धि अथवा

---

१. देखिए सूर पंचरत्न (सं० १९८४), पृ० ४५।

२. "कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठा कर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहां जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।" 'चिन्तामणि' भाग २ (सं० २००२), पृ० ५०।

३. वही, पृ० १९३।

ज्ञान और भाव का सामजस्य श्रेष्ठ काव्य के लिए आवश्यक समझते है।[1] उनका विचार है कि ज्ञान, कर्म तथा कविता तीनो के द्वारा ही हृदय की मुक्तावस्था तथा रसदशा की साधना होती है।[2]

जिस भाव की पवित्र भूमि पर कविता के द्वारा मनुष्य पहुच जाता है, उसके सम्बन्ध मे वे लिखते है कि "जहा व्यक्ति के भावो के पृथक् विषय नही रह जाते, मनुष्य मात्र के आलम्बनो में हृदय लीन हो जाता है, जहा व्यक्ति जीवन का लोक जीवन मे लय हो जाता है, वही भाव की पवित्र भूमि है। वही विश्व हृदय का आभास मिलता है।"[3] उनका विचार है कि इस भाव की पवित्र भूमि पर पहुच कर जीवन का स्वरूप तथा सौन्दर्य प्रत्यक्ष हो जाता है तथा मनुष्य के हृदय का जगत् के साथ पूर्ण सामजस्य घटित हो जाता है। कविता द्वारा जीवन के सौन्दर्य तथा जगत् की अनेकरूपता का मनुष्य के हृदय के भावो से प्रकृत सामजस्य स्थापित कराकर शुक्ल जी ने वास्तव मे विभाव पक्ष का भाव पक्ष मे प्रकृत सम्बन्ध स्थापित कराया है।

वे सत्काव्य और असत्काव्य मे या काव्य मे और काव्याभास मे यह अन्तर मानते हैं कि सत्काव्य मे तो जीवन और जगत् की सामान्य भूमि पर पहुची हुई प्रत्यक्ष अनुभूतियो का वर्णन होता है और काव्याभास मे ऐसे सच्चे वर्णनो की केवल नकल मात्र होती है। वे काव्यानुभूति को कोई निराली अनुभूति नही समझते। उनका विचार है कि यदि किसी उक्ति मे अप्रस्तुत का आरोपमात्र है तो वह उक्ति काव्यगत सत्य से दूर होगी और यदि उसमे कोई विचारात्मक या भावात्मक सार है तथा वह किसी भाव से प्रेरित और सम्बद्ध है, तो वह काव्यगत सत्य होगी। वे सच्चे काव्य को सब की सामान्य सम्पत्ति तथा मनुष्य मात्र के हृदय को रसमग्न करने वाला मानते है।

शुक्ल जी काव्य को जगत् और जीवन मे सम्बद्ध मानते है। उनका विचार है कि जो आख मूदकर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने निकलते है, वे काव्य के धोखे मे या उसके बहाने से किसी और चीज के फेर मे रहते है।[4] वे समझते है कि काव्य-भूमि का विस्तार जगत् और जीवन के साथ ही विस्तृत है।[5] वे सच्ची

---

१ यही सामंजस्य हमारे यहा का मूल-मत्र है। जिस काव्य मे यह सामजस्य न होगा उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।" चिन्तामणि भाग २ (स २००२), पृ० २१४।

२ देखिए वही, पृ० ३४३।

३ वही, पृ० ५१।

४ देखिए वही, पृ० ५५।

५ "कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारो ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नही। जगत् भी अभिव्यक्ति की ही अभिव्यक्ति है। वही, पृ० ५८।

कविता का सम्बन्ध प्रत्यक्ष जगत् और जीवन से मानते हैं तथा ऐसी कविता को हीन समझते हैं जो ज्ञात जगत् को छोड़कर अज्ञात जगत् से सम्बन्ध रखती है।[1]

वे कविता में वास्तविकता का विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि 'सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा चढ़ा कर और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव इसी रूप में व्यंजित होते हैं, जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया केवल तमाशा ही नहीं रहा है।'[2] वे मानव जाति के आदिम रूपों और व्यापारों में भावोद्बोधन की सबसे अधिक गहरी शक्ति मानते हैं, क्योंकि इनसे दीर्घ परम्परा से मनुष्य जाति की वासना का सम्बन्ध है। उनका विचार है कि काव्य के प्रत्येक तथ्य को भावों का आलम्बन बनाने के लिए उन्हें इन मूल रूपों और व्यापारों में परिणत करना आवश्यक है। वे इसकी आवश्यकता इसलिए अधिक मानते हैं कि जगत् के इन मूल रूपों और व्यापारों पर जिनसे मनुष्य के हृदय की वृत्तियों का सीधा सम्बन्ध है और जो भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ है, सभ्यता द्वारा बहुत से पर्दे पड़ गए हैं तथा उनका प्रकृत रूप समय के साथ-साथ प्रच्छन्न हो गया है। इसलिए काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा करने के लिए भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूपों की विशेष आवश्यकता है।[3]

शुक्ल जी काव्य में अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्ब ग्रहण की अधिक आवश्यकता समझते हैं। उनका विचार है कि बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।[4] वे काव्य में बिम्बग्रहण इसलिए आवश्यक समझते हैं कि उसके द्वारा वस्तु का पूर्ण ज्ञान होता है तथा अर्थ-बोध से केवल मानसिक ज्ञान ही प्राप्त होता है।

शुक्ल जी ने कल्पना को काव्य का अनिवार्य साधन माना है, पाश्चात्य साहित्यालोचन की भाँति उसका साध्य नहीं। वे कल्पना, भावना तथा उपासना को समान मानते हैं तथा तीनों का एक ही कार्य समझते हैं। वे कहते हैं कि 'जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना

---

१. "जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर इशारा किया करती है, वह आलस्य अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है। वह जगत् और जीवन के संघर्ष से कल्पना को हटाकर केवल मनोमोदक बाँधने और ख्याली पुलाव पकाने में लगाती है। 'चिन्तामणि', भाग २ (सं० २००२), पृ० ५३-५८।

२. 'गोस्वामी तुलसीदास' (सन् १९४०), पृ० ३५।

३. देखिए 'चिन्तामणि', भाग १ (सन् १९३९) पृ० १०८।

४. 'चिन्तामणि' भाग १ (सन् १९३९) पृ० १०८।

ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते है और आजकल के लोग कल्पना। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार और भावो के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"[1] कल्पना, उपासना तथा भावना को पर्याय मानना युक्तिसगत नही है। वास्तव मे उपासना तथा भावना के मूल मे भी कल्पना ही की क्रिया रहती है। उनके विचार से यह कल्पना दो प्रकार की होती है, पहली विधायक कल्पना, जो कवि के लिए अपेक्षित है और दूसरी ग्राहक कल्पना, जो पाठक या श्रोता के लिए आवश्यक है। वे मानते है कि पाठक की ग्राहक कल्पना का यह कार्य है कि जहा कवि किसी बात के सारे मार्मिक अगो का पूरे ब्योरे के साथ चित्रण नही करता है, वहा पाठक या श्रोता अपनी ओर से इसकी सहायता से कुछ मूर्त्त विधान कर लेता है। किन्तु वास्तव मे यह दो प्रकार की कल्पनाए नही है। वरन् कल्पना की प्रक्रिया के ही दो रूप है। कल्पना के प्रकार नही होते, उसकी विभिन्न क्रियाए होती है। वे उसी कल्पनाश्रित मूर्त्त विधान को काव्य के अन्तर्गत मानते है, जिनमे भाव सचार की क्षमता है। उनके विचार से काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है, जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो या किसी भाव का प्रवर्त्तन और सचार करती हो।

वे पाश्चात्य सौन्दर्यवादियो की भाति सौन्दर्य को मन की भीतरी वस्तु नही मानते है। उनका विचार है कि जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नही है, उसी प्रकार सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नही है। उनकी यह धारणा मनोविज्ञान की दृष्टि से पूरी नही उतरती, क्योकि वास्तव मे सौन्दर्य वस्तु मे नही है, द्रष्टा मे है। द्रष्टा, वस्तु को जिस दृष्टिकोण से देखेगा उसे उसमे वैसा ही सौन्दर्य दिखाई पडेगा। इसीलिए एक वस्तु के सौन्दर्य को कविगण पृथक्-पृथक् रूप मे अभिव्यक्त करते है। वे सुन्दर वस्तुओ की भावना के रूप मे परिणत होने को ही सौन्दर्य की अनुभूति कहते है। इस परिभाषा के अनुसार तो सौन्दर्यानुभूति मानसिक जगत् मे सीमित हो जाती है, क्योकि भावना का स्थान मानसिक जगत् के बाहर नही अन्दर है। भावना के रूप मे परिणत होने मे सौन्दर्यानुभूति किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसका स्पष्टीकरण भी वे नही कर पाए है। उनका मत है कि यह सौन्दर्य की अनुभूति उतनी ही बढी हुई होगी जितना मनुष्य की सत्ता के बोध का तिरोभाव किसी वस्तु की भावना द्वारा हो सकेगा और उसके मन की उस वस्तु के रूप मे जितनी पूर्ण परिणति हो सकेगी। उनकी मान्यता है कि कविता ससार के सब प्रकार के सौन्दर्य का चित्रण करती है। वह केवल वस्तुओ के ही रग-रूप मे सौन्दर्य की छटा नही दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी विशेप मार्मिक दृश्य सामने उपस्थित करती है।[2] वे सौन्दर्यानुभूति तथा भावानुभूति को एक ही वस्तु नही मानते। उनके विचार से सौन्दर्य भावना से ही भावानुभूति होती

---

१ देखिए 'चिन्तामणि', भाग १ (सन् १९३९), पृ० २२६।

२ वही, पृ० २२८।

है। उनकी धारणा है कि कवि की दृष्टि किसी भले-बुरे, शुभ-अशुभ पर न जाकर वस्तु के रूप रग, मनुष्यो के मन, वचन तथा कर्म, उनके भीतरी बाहरी सौन्दर्य तथा प्रकृति के सौन्दर्य पर ही जाती है, क्योकि सौन्दर्य ही भावो का जन्मदाता है।

वे चमत्कार को काव्य के लिए आवश्यक नही समझते तथा उसका प्रयोग किसी भाव की अनुभूति की तीव्रता के लिए ही उचित समझते है। उनका विचार है कि यदि किसी उक्ति की तह मे उसके प्रवर्तक के रूप मे कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है, तो चमत्कार या वैचित्र्य न होने पर भी काव्य की सरसता बनी ही रहती है। इस सम्बन्ध मे उनका कुन्तक की वक्रोक्ति से मतभेद है। वे कहते है कि "उक्ति की वही तक की वचन भगी या वक्रता के सम्बन्ध मे हम से कुन्तक जी का 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम' मानते बनता है, जहा तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नही।"[1]

वे क्रोचे के इस मत को नही मानते कि लाक्षणिक चपलता, प्रगल्भता तथा उक्ति के अनूठे स्वरूप मे ही कविता है। वे उसी उक्ति को कविता मानते है, जिसके द्वारा भावो की व्यजना होती हो। केवल चमत्कार और वैचित्र्य को वे कुतूहल या मन-बहलाव मानते है।[2] वे ऐसी वस्तु-व्यजना को प्रकृत कविता न कह कर सूक्ति कहते है जिसकी तह मे कोई भाव न हो।[3] काव्य तथा सूक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे लिखते है कि "जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन कर दे वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"[4] उनका विचार है कि मनुष्येतर प्रकृति के रूप व्यापार, जहा कुछ भीतरी भावो या तथ्यो की व्यजना करते है, वहा काव्य का स्वरूप दिखाई पडता है और जहा कवि स्वय कुछ तथ्यो का आरोप या सम्भावनाए किया करता है, वहा सूचित या सुभाषित के दर्शन होते है। वे 'अग्निपुराण' के मतानुसार आरोपित तथा सम्भावित तथ्यो को अलकार ही मानते है।[5]

शुक्ल जी फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिको की इस पाश्चात्य धारणा का विरोध करते है कि काव्य और स्वप्न का घनिष्ठ सम्बन्ध है और हमारी अतृप्त इच्छाए, जो

---

१ देखिए 'चितामणि', भाग १ (स० १९३९) पृ० २३७।

२ "केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है, कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नही है। यदि सब प्रकार की कविता मे केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही सचार माने तब तो अलग अलग स्थायी भावो की रस रूप मे अनुभूति और भिन्न भावो के आश्रयो के साथ तादात्म्य का कही प्रयोजन ही नही रह जाता।" वही, पृ० २३३।

३ वही, पृ० १०२।

४ 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६), प० १६८-१६९।

५ देखिए वही, पृ० १६८।

अज्ञान दशा में अचेतन में पड़ी है, वही कविता के रूप में व्यक्त होती है और श्रोताओं को भी तृप्त करती हैं। उनका विचार है कि काव्य और स्वप्न एक रूप की वस्तु नहीं है। उनकी समानता यदि है तो केवल इतनी ही कि दोनों के आविर्भाव का स्थान एक ही है और दोनों हमारी बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहते। पर वे दोनों के स्वरूप में भेद भी मानते हैं। उनका विचार है कि स्वप्नकाल में प्रतीत होने वाली वस्तु प्रत्यक्ष मालूम पड़ती है तथा कल्पना की वस्तु ऐसी नहीं मालूम पड़ती। वे समझते हैं कि यदि यह मान भी लिया जाए कि अवचेतन की अतृप्त इच्छाएं काव्य का रूप धारण करती हैं तो काव्य में आने वाले शोक की वासना की तृप्ति कौन चाह सकता है? वे काव्य को हीगल की भांति कला भी नहीं कहते। उन्होंने उसका सम्बन्ध फ्रायड की भांति काम-वासना से भी नहीं माना है।

शुक्ल जी काव्य की मर्मस्पर्शिता तथा प्रभावोत्पादकता के लिए शब्द-शोधन, (जो अर्थ और वर्णविन्यास के विचार से होता है) तथा व्यापार शोधन (जिसमें बहुत से व्यापारों में से जो व्यापार अधिक प्राकृत तथा हृदयग्राही होता है, उसे चुना जाता है) को मान्य समझते हैं। वे काव्य की प्रेषणीयता के लिए अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए समुचित भाषा को अनिवार्य मानते हैं। उनका विचार है कि जिस रूप में कवि हृदय में अनुभूति उत्पन्न होती है, उस रूप में उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

शुक्ल जी जगत् के विभिन्न रूपों और व्यापारों को काव्य के विषय मानते हैं[1] तथा कविता का विस्तार जगत् और जीवन के समान ही समझते हैं।[2] उनके विचार में काव्य का सम्बन्ध इसी जगत् की प्रत्यक्ष अनुभूति से है, किसी कल्पित अनुभूति से नहीं। वे काव्य विषय के तीन प्रमुख क्षेत्र मानते हैं, नरक्षेत्र, मनुष्येतर बाह्य सृष्टि तथा समस्त चराचर। उनका विचार है कि इनमें से सबसे अधिक कविता नरक्षेत्र के भीतर होती है, क्योंकि मनुष्य सबसे अधिक मनुष्य से प्रभावित होता है तथा उसके जीवन की अभिव्यक्ति में सुख प्राप्त करता है। वे सब प्रकार के काव्यों में मनुष्य की बाह्य तथा अन्त प्रकृति के वर्णन को काव्य का सबसे प्रधान विषय मानते हैं। वे नरक्षेत्र की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र के मार्मिक रूपों, व्यापारों तथा तथ्यों को व्यापक तथा गम्भीर भावानुभूति देने वाला समझते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्येतर प्रकृति के उग्र तथा सौम्य दोनों रूपों में ही सच्चे कवि का हृदय रमता है, क्योंकि उसके साथ उसकी चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना का सम्बन्ध है। वे समझते हैं कि साहचर्य के कारण उत्पन्न प्रभाव से प्रकृति के सीधे-सादे दृश्यों में भी अनन्त माधुर्य की

---

१ देखिए 'काव्य में रहस्यवाद' (सं० १९८६), पृ० १।

२ 'इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ, उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।' 'चिन्तामणि', भाग २, (सं० २००२) पृ० १९१।

अनुभूति होती है। उनकी धारणा है कि आलम्वन के रूप में ग्रहण करने पर बाह्य प्रकृति का पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण हो सकता है।

शुक्ल जी का विचार है कि काव्य का विषय सदैव विशेष होता है, सामान्य नहीं तथा वह व्यक्ति को हृदय के सामने लाता है, किसी जाति को नहीं।[१] वे कविता को सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धान्त नहीं मानते वरन् विशेष वस्तुओं और व्यापारों का बिम्व ग्रहण कराने वाली वस्तु मानते हैं। वे कहते हैं कि सामान्य या जाति की मूर्त्त भावना, कल्पना द्वारा हो ही नहीं सकती। कल्पना में उपस्थित होने वाली वस्तु तो विशेष ही हो सकती है। इस विशेष वस्तु या व्यक्ति में ऐसे सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा अवश्य होनी चाहिए, जो पाठकों के हृदय में एक ही भाव का उदय करते हैं।[२] उनका विचार है कि सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा से हीन विशेष तथ्य यदि विरल, विलक्षण तथा नवीन होंगे तो कुतूहल या चमत्कार उत्पन्न करेंगे, मनुष्य के सामान्य गुणों तथा भावनाओं का आधार नहीं होंगे।

वे भी द्विवेदी जी की भांति काव्य-क्षेत्र की कोई सीमा नहीं मानते। उनके विचार से सम्पूर्ण चराचर जगत्, जड़ और चेतन प्रकृति, विशेष, सामान्य, साधारण, असाधारण, सम्पूर्ण मानव-जीवन, सव प्रकार के भाव, अव्यक्त लोक, जिसकी अभिव्यक्ति यह जगत् है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ सहित शून्य लोक आदि सभी कवि के काव्य के विषय या आलम्वन बन सकते हैं। वे कविता को मनुष्य के हृदय की ऐसी अनुभूति मानते हैं, जो मनुष्य के ही हृदय में पहुंचाई जाती है। इसलिए उनके विचार से मनुष्य के साथ उसका नित्य सम्वन्ध है तथा उससे असम्बद्ध होकर उसका कुछ मूल्य नहीं है।[३]

वे जगत् और जीवन को, जो काव्य के विषय हैं, आलम्वन विभाव के अन्तर्गत मानते हैं। उनका विचार है कि काव्य के आलम्वन के क्षेत्र में मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि के सव पदार्थ तक समाहित हो जाते हैं, किन्तु उसका आश्रय केवल मनुष्य ही हो सकता है। किन्तु जैसे जीवन और जगत् का मनुष्य से अभिन्न सम्वन्ध है, इसी प्रकार उनके विचार से काव्य में आलम्वन तथा आश्रय का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।[४] उनका विचार है कि इन दोनों का घनिष्ठ सम्वन्ध रहता है। जहां एक पक्ष का वर्णन रहता है, वहां भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है, जैसे नायिका के रूप या नखशिख के वर्णन को लें, तो उसमें भी आश्रय का रति भाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। उनका विचार है कि काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य चाहे साधारण

---

१. 'चिन्तामणि', भाग १, (सन् १९३९), पृ० ३२४।

२. "भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर वरावर रही है। किसी न किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहां के काव्य में आते रहे हैं।" वही, पृ० ३२४।

३. 'चिन्तामणि' भाग २, (सं० २००२), पृ० १०३।

४. 'भ्रमरगीतसार', पृ० ४।

हों या असाधारण, विचार और अनुभव में सिद्ध, लोकस्वीकृत और ठीक ठिकाने के होने चाहिए, क्योंकि व्यंजना उन्हीं की होती है।'

इसी प्रकार वे काव्य के क्षेत्र में दर्शन के नाना वादों को घसीटने के पक्ष में भी नहीं हैं। वे किसी ज्ञानातीत दशा अथवा मन के बाहर के किसी अध्यात्म लोक में काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं मानते। उनका विचार है कि "मनोमय कोष ही प्रकृत काव्य भूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं—सूचक बनाना हम सच्चे कवि का क्या, सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।"[1] इस प्रकार वे ग्रीक आचार्यों के दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त को नहीं मानते।

शुक्ल जी काव्य का लक्ष्य न पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार 'आनन्द' देना ही मानते हैं न केवल मन को रमाना ही। उनका कथन है कि "इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य-स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़ झाला हुआ है। मनोरंजन या आनन्द तो बहुत सी बातों में हुआ करता है।"[4] उनका मत है कि "मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुंचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाए तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।"[5] वे मनोरंजन को कविता का लक्ष्य नहीं मानते वरन् मनुष्य की चित्तवृत्तियों को स्थिर करने का साधन मात्र समझते हैं।[6] वे कविता का लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन करना मानते हैं।

वे केवल उपदेश देना ही काव्य का उद्देश्य नहीं मानते, क्योंकि यह तो उनके विचार में धर्म शास्त्र का लक्ष्य है। वे काव्य का लक्ष्य सम्पूर्ण चराचर में एक सामान्य हृदय की अनुभूति का तीव्र और पूर्ण उन्मेष करना तथा सभ्यता द्वारा डाले हुए मनुष्य के कृत्रिम आवरण को हटा कर उसके असली स्वरूप की अनुभूति कराना मानते हैं। वे मानते हैं कि कविता विश्व के सब मनुष्यों की एकता का अनुभव कराती है तथा उसके हृदय को सम्पूर्ण चराचर तक फैला कर उसको भाव रूप से रमाती है।[7]

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद' (सं० १९८६), पृ० २९-३०।
२ देखो 'चिन्तामणि' भाग २, (सं० २००२), पृ० ७७।
३ वही, पृ० ८०।
४ 'चिन्तामणि' भाग १, (सं० १९३९), पृ० २०२।
५ वही, पृ० २०३।
६ वही, पृ० २०३।
७ "हमारे आदि कवि का—आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की—सन्देश है कि सब भूतों तक सम्पूर्ण चराचर तक अपने हृदय को फैलाकर जगत् में भाव रूप में रम जाओ, हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से निकली, उसमें यही सन्देश भरा था।" वही, पृ० ६२।

वे काव्य के क्षेत्र मे उपदेश का पूर्ण वहिष्कार नही करते। उनका विचार है कि उसमे "अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यजना के आधार पर जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जाएगे वे भी सच्चे काव्य होगे।"[१] उनके विचार से कविता मनुष्य को मनुष्यता की परमोच्च भूमि पर ले जाती है तथा उसकी पृथक् भाव सत्ता को विश्व हृदय मे लीन करा देती है।[२] वे ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार के लिए स्थान मानते हे। उनका विश्वास हे कि "विश्व की अनन्तता के बीच जिस प्रकार ज्ञान अपना प्रसार चाहता है, उसी प्रकार हृदय भी अपने रमने के लिए नई-नई भूमिया चाहता है।"[३] उनके विचार से कविता का लक्ष्य मनुष्य के हृदय की अनुभूति को मनुष्य के हृदय मे पहुचा कर उसके हृदय की सत्-असत् की भावनाओ का काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूतियो से सामजस्य कराना तथा रसानुभूति की दशा तक पहुचाना है।

वे उसका चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करा के अनुभव कराना मानते हैं, दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नही।[४] उनका कथन है कि "काव्य का लक्ष्य हे जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप मे लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत सकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति मे लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते है। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय विश्व हृदय—भगवान के लोक रक्षक और लोक रजक हृदय से जा मिलता हैं, तव वह भक्ति मे लीन कहा जाता है। इस दशा मे धर्म-कर्म के साथ और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामजस्य घटित हो जाता है।"[५]

वे कवि मे भावुकता, अनुभूति की तीव्रता, कल्पना, भाषा पर अधिकार, भावो की अभिव्यक्ति तथा प्रेषणीयता की शक्ति का होना अनिवार्य मानते है।[६] उनकी दृष्टि मे वही प्रकृत कवि है जिसकी दृष्टि प्राप्त प्रसग के गोचर-अगोचर सव पक्षो तक पहुचती है तथा जिसका विशाल अन्त करण किसी भी परिस्थिति मे अपने को डाल कर उसके अग-प्रत्यग का साक्षात्कार कर सकता है।[७] उनका विचार है कि कवि की आखे जीवन जगत् के सौन्दर्य को देखने के लिए, कान सुन्दर सगीत सुनने के लिए तथा हृदय सव प्रकार के प्रभाव ग्रहण करने के लिए खुला रहता है।

शुक्ल जी कविता का मानव लोक व्यवहार मे महत्त्वपूर्ण स्थान मानते है। उनका विचार हे कि कविता शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्वन्ध की रक्षा

---

१ 'चिन्तामणि' भाग २, पृ० ६७।

२ 'चिन्तामणि', भाग १ (सन् १९३९), पृ० २१९।

३ 'चिन्तामणि', भाग २, (स० २००२), पृ० १०७।

४ वही, पृ० ८।

५ वही, पृ० २१२-२१३।

६ देखिए 'काव्य का रहस्यवाद' (स० १९८६), पृ० ७९-८०।

७ 'गोस्वामी तुलसीदास' (सन् १९४०), पृ० १७२-१७३।

और निर्वाह करती है तथा मनुष्य के भावो का व्यायाम और परिष्कार करती है। यह सभ्यता की उत्तरोत्तर बढती जटिलता, गूढता, स्वार्थपरायणता, नीरसता तथा तटस्थता से मनुष्य को हटा कर उसके हृदय का विस्तार करती है। मनुष्य के लिए वह रागात्मक सत्व उपलब्ध करती है, जो अव्यक्त की व्यक्त सत्ता के साथ एकता की अनुभूति मे लीन करके, मनुष्य के हृदय को व्यापकत्व प्रदान करता है तथा बुद्धि और हृदय की क्रिया से सम्बन्ध रखने वाली वृत्तियो का वह समन्वय उपस्थित करता है, जिसके बिना मनुष्य की साधना पूरी नही हो सकती।[1] उनका विचार है कि कविता कर्म मे प्रवृत्त करती है, कर्म से तटस्थ नही करती। वह लोक व्यवहार की साधक है, बाधक नही। उनका मत है कि कवि वाणी के प्रसाद से हम ससार के सुख, दु ख, आनन्द, क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-मुक्त रूप मे अनुभव करते है,जिससे हृदय का बन्धन खुलता है और हमे मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति हो जाती है।[2] उनका विचार है कि काव्य के द्वारा मनुष्य के हृदय का प्रसार ही नही होता वरन् उसकी उत्तेजना से उसके जीवन में एक नया जीवन भी आ जाता है। वह सृष्टि के सौन्दर्य को देख कर रसम न होने लगता है। उसे यह आभास होता है कि उसका जीवन कई गुना बढ कर सारे ससार मे व्याप्त हो गया है।[3]

शुक्ल जी छन्द को बधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाचो (पेट्टर्नस) का योग मानते हैं, जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है तथा लय को स्वर के चढाव-उतार के छोटे-छोटे ढाचे समझते हैं, जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते है।[4] वे कविता को पूर्ण करने के लिए सगीत तथा चित्रकला दोनो को आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि नवीन छन्दो का निर्माण काव्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक है। वे मानते है कि छन्दो के बन्धन मे अनुभूत नाद सौन्दर्य को प्रेरित करने का गुण है। उनके विचार से वार्णिक छन्दो मे भावधारा या विचारधारा पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ कुछ दूर तक नही चल सकती। वे समझते है कि जिस छन्द के चरण के बीच मे एक वाक्य का अन्त और दूसरे का प्रारम्भ होता है, वह चुपचाप बाचने योग्य है, लय के साथ जोर से सुनाने के योग्य नही। वे पद्य के मध्य मे एक विचार या भाव-धारा की समाप्ति या दूसरे का आरम्भ भी ठीक नही समझते।

शुक्ल जी कविता की भाषा के लिए चार विशेषताए, लाक्षणिकता, जातिसकेत वाले शब्दो के स्थान पर विशेप रूप व्यापार वाले शब्दो का प्रयोग, नाद-सौंदर्य तथा व्यक्तिवाचक नामों का रूप, गुण तथा कार्य की दृष्टि से प्रयोग आवश्यक मानते है।

शुक्ल जी काव्यगत रहस्यवाद को एक दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं, जिसका अद्वैतवाद से विशेप सम्बन्ध है। उनका विचार है कि इसके अन्तर्गत अज्ञात और अव्यक्त

---

१. देखिए 'चिन्तामणि', भाग १ (स० १९३९), पृ० २०६-२०७।
२ वही, पृ० २१८।
३. देखिए वही, पृ० २१८।
४. देखिए 'चिन्तामणि', भाग २ (स० २००२), पृ० १५९।

की अनुभूति प्राप्त करके उसके प्रति प्रेम, विरह आदि के भावो का चित्रण होता है। वे इसे एक साम्प्रदायिक भावना समझते है, जिसका काव्य के लिए कोई महत्त्व नही है। वे काव्य का विषय और आधार, अलौकिक और अगोचर की अपेक्षा, लौकिक और गोचर जगत् तथा जीवन मानते है[१] तथा अज्ञात लोक की ओर इशारा करने वाली कविता को आलस्य, अकर्मण्य और नैराश्य की वाणी कहते है।[२] उनका विचार है कि अव्यक्त और असीम, भावो का विषय हो ही नही सकता। अज्ञात और अव्यक्त के प्रति तो केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नही। लालसा या अभिलापा व्यक्त, सगुण ईश्वर के ही सान्निध्य की हो सकती है।[३]

वे रहस्यवाद मे दो दोष मानते है, भावो मे सचाई का अभाव (इनसिन्सीयरिटी) और व्यजना मे कृत्रिमता (आर्टीफीशियल्टी)।[४] उनका विचार है कि कवि जहा तक अज्ञात की ओर अनिश्चित सकेत मात्र करता है, वहा तक तो उसकी दृष्टि प्रकृत काव्य की रहती है, किन्तु जब उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कहकर वह उसका ब्यौरेवार चित्रण करने लगता है, तब अपनी लोकोत्तर दिव्य दृष्टि का ऐसा दावा पेश करता है कि जिससे पाठक की अज्ञानप्रियता का अनुरजन होता है तथा कवि की अहकार तुष्टि का। वे पाश्चात्य रहस्यवाद को भी साम्प्रदायिक मानते हैं तथा ब्लेक के मतानुसार काल्पनिक रूप को ही वस्तुओ की सारसत्ता या ब्रह्म का रूप मानना पाखण्ड मात्र समझते है, क्योकि उनके विचार से काल्पनिक वस्तु का साक्षात्कार होने से उसमे अभिलाषा या वियोग के लिए विलकुल स्थान नही रहता। उनका विचार है कि हिन्दी के भक्ति-काव्य मे रहस्यवाद के दर्शन इस लिए नही होते कि यहा अरब तथा फारस की भाति मनुष्य का हृदय या वुद्धि वधे हुए नही थे। यहा का भक्त अपने हृदय के सच्चे भावो की व्यजना निस्सकोच कर सकता था।[५]

---

१. " ..कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारो ओर फैले हुए गोचर जगत से है, अव्यक्त सत्ता से नही।" 'चिन्तामणि', भाग २, (स० २००२) पृ० ५२

२. देखिए वही, पृ० ५७।

३ "अव्यक्त अगोचर ज्ञान काण्ड का विषय है। हमारे यहा न वह उपासना के क्षेत्र मे घसीटा गया है न काव्य-क्षेत्र मे।" वही, पृ० २९।

४. वही, पृ० १३३।

५ "भारतीय भक्तिकाव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है, उसमे किसी 'वाद' के द्वारा विपर्यय करके नही। वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है, रहस्य या छिपाव की ओर नही।" 'चिन्तामणि' भाग २, पृ० १४१।

वे स्वाभाविक रहस्यवाद को काव्य का कोई सिद्धान्त-मार्ग (क्रीड) न मान कर एक रमणीय तथा मधुर भावना मानते हैं। उनके विचार से उसका रस-भूमि में एक विशेष स्थान है।[1] स्वाभाविक तथा साम्प्रदायिक रहस्यवाद का वे यह अन्तर मानते हैं कि "स्वाभाविक रहस्य-भावनासम्पन्न कवि प्रकृति का कोई खण्ड लेकर वस्तु व्यापार की संश्लिष्ट और शृंखला-बद्ध योजना द्वारा पूर्ण दृश्य का विधान करते चलते हैं। उनकी रूप-योजना विस्तीर्ण और जटिल होती है तथा कुछ दूर तक अखण्ड चलती है, पर रहस्य-वादी या सिद्धान्ती रहस्यवादी कुछ बची हुई और इनी-गिनी वस्तुओं की ठीक उसी प्रकार अलग-अलग झलक दिखाकर रह जाते हैं, जिस प्रकार हमारे पुराने शृंगारी कवि, ऋतुओं के वर्णन में उद्दीपन की सामग्री दिखाया करते हैं। इसीलिए स्वाभाविक रहस्य-भावना वाले काव्य, चरित-काव्य या प्रबन्ध-काव्य का भी बराबर आश्रय लेते हैं, पर साम्प्रदायिक रहस्यवादी मुक्तकों या छोटे-छोटे रचना खण्डों पर ही सन्तोष करते हैं।"[2]

शुक्ल जी ने इस भेद का कोई स्पष्ट कारण प्रस्तुत नहीं किया है। साम्प्रदायिक तथा स्वाभाविक रहस्यवाद का तो उनका विवेचित अन्तर किसी तर्क पर आधारित है भी, किन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि प्रकृत रहस्यवाद केवल चरित-काव्य और प्रबन्ध-काव्य में ही व्यक्त होता है। प्रकृत रहस्यवाद छोटे-छोटे रचना-खण्डों तथा गीतों आदि में भी बड़ी स्वाभाविकता से व्यक्त होता है और हो सकता है। उन्होंने स्वयं महादेवी के गीतों को उत्कृष्ट तथा प्रकृत रहस्यवाद के अन्तर्गत माना है।

शुक्ल जी छायावाद को विदेशी प्रवृत्तियों का मिश्रण मानते हैं।[3] उनका विचार है कि यह शब्द काव्यगत 'रहस्यवाद' के लिए गृहीत होने वाले दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक है[4] तथा पहले रहस्यवाद के रूप में आया था किन्तु फिर काव्य-शैली के रूप में परिणत हो गया। यह द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक तथा अधिक बाह्यार्थ निरूपक काव्य के प्रति प्रतिवर्तन के रूप में उत्पन्न हुआ था। उनका विचार है कि "इसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तु विधान की ओर नहीं। अर्थभूमि या वस्तु भूमि का तो उसके भीतर बहुत संकोच हो गया। उसका समन्वित विशाल भावनाओं को लेकर चलने की ओर ध्यान नहीं रहा।"[5]

---

१. "उसे हम अनेक मधुर रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (मूड) मानते हैं, जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं।" चिन्तामणि, भाग २ पृ० १४३।

२ वही, पृ० १५२ ।

३. 'यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है।' वही, पृ० १६२।

४ वही, पृ० १६५।

५ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९), पृ० ७२१ ।

उनका विचार है कि "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे है, एक तो रहस्यवाद के अर्थ में,-जहा उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहा कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करता है तथा दूसरे काव्य शैली या पद्धति के अर्थ विशेष मे, जिसमे सामान्यत प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन होता है। इस शैली मे किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है। उनके मत से इस कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यजनावाद आदि का प्रभाव भी ज्ञात और अज्ञात रूप मे पडता रहा है। उनकी धारणा है कि छायावादी कविता का विभाव पक्ष अस्पष्ट होने से वह जीवन की गहरी अनुभूति जगाने मे असमर्थ रही है।

शुक्ल जी प्रसाद जी की भाति यह नही मानते कि छायावादी काव्य की प्रवृत्ति भारतीय परम्परा का एक अग है। उनका विचार है कि "अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दो मे प्रेम-व्यजना भारतीय काव्य-धारा मे कभी नही चली, यह स्पष्ट बात हमारे यहा यह भी था वह भी था की प्रवृत्ति वालो को अच्छी नही लगती।"[1] वे छायावादी काव्य मे साम्प्रदायिकता, बगला, अग्रेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोगो के अनुकरण तथा लाक्षणिक प्रयोगो मे दुरूहता तथा भाव-अभिव्यजनहीनता के दोषो का त्याग उचित समझते है। उनका विचार है कि यद्यपि यह काव्य, रहस्यात्मकता, अभिव्यजना के लाक्षणिक वचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृखलता, चित्रमयी भाषा, प्रगीतमुक्तक शैली और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चला है, किन्तु इसमे कही-कही भावना का सुन्दर सचालन, मूर्तिमत्ता का आकर्षक विधान तथा व्यजना की उत्कृष्ट प्रगल्भता भी पाई जाती है।

शुक्ल जी ने भारतीय अथवा पाश्चात्य साहित्यालोचन के कविता सम्बन्धी सिद्धान्तो को ज्यो का त्यो ही स्वीकार नही कर लिया है वरन् तर्क की कसौटी पर परख कर उनके गुण-दोषो का विवेचन किया है। उनका पश्चात्य साहित्यालोचन सम्बन्धी कला, कल्पना, सौन्दर्य, अभिव्यजनावाद, कामवासना तथा स्वप्न-सिद्धान्त आदि का तथा भारतीय साहित्यालोचन सम्बन्धी वक्रोक्ति, व्यजना, चमत्कार, सूक्ति-रस आदि का विवेचन परम्परागत विचारो का समर्थन लेकर नही चलता। उन्होने इन विषयो मे नई-नई उद्भावनाओ का समावेश करके अपनी मौलिक सूझ का परिचय दिया है। उनकी काव्य के स्वरूप की व्याख्या, काव्य-विषय का विवेचन तथा काव्य के लक्ष्य का स्पष्टीकरण, न भारतीय परम्परा से बद्ध है न पूर्णतया पाश्चात्य साहित्यालोचन का अनुगामी है। द्विवेदी जी का काव्य-विवेचन सामयिक परिस्थितियो के फलस्वरूप तथा कवियो को निर्देश देने के रूप मे अधिक था। उसमे गम्भीर रूप मे काव्य सम्बन्धी धारणाओ के विवेचन, विश्लेषण, खडन, स्थापन की अपेक्षा सरल रूप मे परिचयात्मक विवरण तथा कवि-शिक्षा का आधिक्य था। शुक्ल जी ने उनके विपरीत कविता के

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (स० १९९९), पृ० ७२६

विभिन्न अगो को तर्क की आखो से परख कर अपनी शक्तिशाली लेखनी के व्यक्तित्व से अनुप्राणित कर दिया है।

श्यामसुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास जी ने मम्मट, विश्वनाथ तथा पडितराज जगन्नाथ मे से मम्मट की काव्य परिभाषा (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि) को साहित्य-दर्पण की परिभाषा (वाक्य रसात्मक काव्यम्) तथा रसगगाघर की परिभाषा (रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्) से अधिक व्यापक तथा प्रामाणिक माना है। उनके विचार से विश्वनाथ की परिभाषा व्यावहारिक नही है, क्योकि रस के पूरे सिद्धात को समझे बिना इस परिभाषा का अर्थ साधारण रूप मे नही लगाया जा सकता। 'रमणीय' की व्याख्या अत्यन्त गूढ होने के कारण वे रस-गगाघर की परिभाषा को भी ठीक नही मानते है। वे मम्मट की परिभाषा की यह विशेषता मानते है कि उसमें शब्द और अर्थ दोनो को कविता का आधार माना गया है। अन्य दोनो परिभाषाओ की अपेक्षा उसमे एक ओर तो 'ध्वनि' को काव्य माना गया है तथा दूसरी ओर चित्र-काव्य को। इसके अतिरिक्त इसमे शब्दार्थ को कविता का आधार मानने से वाचक, लक्षक और व्यजक तीनो प्रकार के शब्द, 'वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य' तीनो प्रकार के अर्थ तथा तीनो शब्द-शक्तिया, काव्य-विवेचन के अन्तर्गत आ जाती है तथा इन्ही के आधार पर रस, ध्वनि, सौन्दर्य, कलात्मक-अनुभूति तथा साधारणीकरण आदि की व्याख्या भी हो जाती है और गुण, दोष, रीति, वृत्ति और अलकार का विवेचन भी हो जाता है। इसलिए वे मम्मट की परिभाषा को अपनाते है।

श्यामसुन्दर दास जी प्रत्येक काव्य की दो प्राथमिक विशेषताए, चयन और साज-सज्जा मानते है। वे कहते है कि "निस्सीम भाव-जगत् मे से, जिसे गोस्वामी जी ने 'अपार भाव-भेद' का विशेषण दिया है, यथेष्ट भाव-राशि चुन कर सुसज्जित करना—यही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है।"[1] वे काव्य के चार उपकरण मानते है—सौन्दर्य, रमणीयार्थ, अलकार और रस। उनके विचार से काव्य सौन्दर्य की निश्चित व्याख्या करना असम्भव है, क्योकि यह भिन्न-भिन्न रुचियो तथा आदर्शो पर निर्भर रहता है। उनकी यह धारणा है कि रमणीयार्थ काव्य को भावात्मकता तथा रसात्मकता प्रदान करता है। रमणीयार्थ मे मानव हृदय को स्पर्श करने की शक्ति, रूप-सौन्दर्य का मूल तत्व तथा उससे उत्पन्न आनन्द की सामग्री होती है। इस रमणीयार्थ की व्याख्या, रीति, गुण, वक्रोक्ति तथा अलकार सम्प्रदायो के द्वारा विभिन्न रूपो मे की गई है। वे मानते हैं कि काव्य के तीसरे उपकरण, अलकार तथा रस की योजना, देश, युग तथा पात्रादि का ध्यान रख कर करने से अधिक सफल होती है। उनका विचार है कि रस तथा अलकार सम्बन्धी धारणाओ और प्रयोगो मे देश और काल के आधार पर बहुत भेद हो गए हैं। वे भाषा को काव्य का उपकरण नही मानते। उनका विचार है कि "वह

---

[1] 'साहित्यालोचन' (स० १९९९) पृ० ६०।

(भापा) काव्य का अभिन्न अग ही है। भाषा के बिना काव्य की कल्पना नही की जा सकती और न भाव-जगत् की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भापा का कोई दूसरा प्रयोजन जान पडता है।"[1] इसकी पुष्टि के लिए वे मम्मट के 'शब्दार्थौ काव्यम्' का प्रमाण देकर सिद्ध करते है कि शब्द और अर्थ अर्थात् भापा और भाव दोनो ही मिल कर काव्य कहे जाते है।

उनका विचार है कि काव्य मे केवल उन्ही वातो का वर्णन नही होता, जो वास्तविक सत्य की कसौटी पर कसी जा सकती है वरन् उनका भी होता है जो सत्य हो सकती है। वे काव्य का लोकहित से सम्वन्ध मानते हैं। उनका विचार है कि "प्रत्येक कलाकार अपनी रुचि अथवा शक्ति के अनुसार सत् अथवा असत् की धारणाए रखता है जिन्हे वह अपनी कलाकृति मे प्रकट करना चाहे तो कर सकता है। पर इसके लिए वह वाध्य नही है।"[2] वे किसी रूढिवद्ध तथा नियमित लोक-हित को काव्य तथा कला का अग नही मानते। उनकी धारणा है कि काव्य-रचना केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर अथवा उसकी आनन्दपूर्ण झलक पाकर होती है। यह सौन्दर्य तथा उसके आनन्द की झलक, काव्य मे आकर स्वय लोक-हित वन जाती है। वे काव्य मे लोक पक्ष को विशेप मान्यता देते हे, क्योकि अधिकाश श्रेष्ठ कलाकार, धार्मिक तथा उच्च प्रकृति के होते है। प्रकृत काव्य के सम्वन्ध मे उनका विचार है कि "कवि अपनी मानसिक प्रवृत्ति और कल्पना के सहारे जव कोई भाव प्रकट करता है और जव वह भाव हम मे भी अपना प्रतिविम्व उत्पन्न करने मे समर्थ होता है, तभी यह कहा जा सकता है कि वह काव्य प्रकृत काव्य है।"[3] उनका विचार है कि कवि और पाठक या श्रोता के हृदयगत भावो का तादात्म्य होने से ही यथेष्ट आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। वे काव्य के तीन उपादान—वुद्धितत्व (वे विचार जो विपय-प्रतिपादन मे प्रयुक्त तथा किसी कृति मे अभिव्यक्त होते हैं), रागात्मक तत्व (वे भाव जो काव्य-विपय द्वारा कवि के हृदय मे उत्पन्न होते है और जिनका वह पाठको के हृदय मे सचार करता है) तथा कल्पना-तत्व (मन मे किसी विपय का चित्र अकित करने की शक्ति, जिसके प्रयोग से वह अपने द्वारा अनुभवकृत विपय अथवा भाव का पाठको के हृदय-चक्षु के सामने भी प्रत्यक्ष चित्र उपस्थित करता है) मानते हैं।

वे काव्य मे भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष की एकता की स्थापना पर जोर देते हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार क्रोचे, भाव और भाषा एव अलकार तथा अलकार्य को पृथक् नही मानते उसी प्रकार विश्वनाथ की परिभापा मे वाक्य के अन्तर्गत ी कविता के सव उपकरण आ जाते हैं। इस सम्वन्ध मे वे कहते है कि "विना भापा के भाव नही रह सकता। भापा स्वय ही भाव की मूर्ति है। इस तथ्य पर विचार करने से कविता के

---

१. 'साहित्यालोचन', (स० १९९९), पृ० ६५।
२ वही, पृ० ७३।
३ वही, पृ० ७८।

भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे अभद की स्थापना हो जाती है। भावो की साधना भाषा की साधना के साथ-साथ चल सकती है और चलनी चाहिए।"[1] इन दोनो पक्षो की एकता के आधार पर वे कविता की यह परिभाषा देते है कि "कलात्मक रीति से सजी हुई भाषा जिसमे भावो का व्यजन होता है, कविता है।"[2]

वे काव्य के लिए छन्दो की अनिवार्यता के मत का खण्डन करते है। वे लिखते है कि "सिद्धान्त की दृष्टि से छद कविता के लिए अनिवार्य नही माने जा सकते। काव्य पर कला के विचार से छद का प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता, पर छदोबद्ध कविता का प्रचलन बहुत व्यापक रूप मे है। यह मानना ही पडेगा और इस दृष्टि से उसे काव्य की एक फूलती-फलती शाखा के रूप मे ग्रहण करते ही बनेगा।"[3] उनका विचार है कि सगीत और काव्य का सम्बन्ध कलाओ के लिए हितकर अवश्य हुआ है पर सीमा से अधिक उसका आग्रह करने से उससे हानि भी हुई है। हिन्दी कविता मे इसके कारण ही शब्दो की तोड-मरोड करने तथा ह्रस्व को दीर्घ बनाने की आवश्यकता हुई है, ऐसा सस्कृत कविता मे नही हो सका। उनका विचार है कि छन्दो की रूढिगत परम्परा का काव्य पर अधिकार मानने से कविता की भाव-व्यजना मे अनेक बार बाधाए होती है। वे कविता मे शब्दो का आधार प्रमुख तथा स्वर (सगीत) का आधार गौण मानते है, इसलिए उनके विचार से शब्द तथा सगीत के विरोध होने पर छद (सगीत) के नियमो को शिथिल कर देना उचित है। उन्होंने लिखा है "काव्य मे सगीत सहायक का ही काम कर सकता है। यदि वही प्रधान बन जाय तो कविता का व्यक्तित्व ही कहा रह जाय?"[4]

वे कविता को एक कला मानते है। उनके विचार से वह कल्पनाओ और मनोवेगो के रूप मे जीवन की व्याख्या है अथवा आत्मा की बाह्य मूर्ति है। वे समझते है कि जितना ही वह विचारो और भावो की वाहक होती है, उतना ही उसका महत्त्व बढता है। उनका विचार है कि विषय की उपयुक्तता और उसके प्रतिपादन की रीति की उत्तमता के अनुसार ही काव्यानन्द की मात्रा बढती है। इस प्रकार उनके विचार से कविता का महत्त्व, उसके विषय की महत्ता, विचारो की गहनता, उसकी नैतिक शक्ति और उसकी प्रभावोत्पादकता पर निर्भर है।[5] उनका विचार है कि कवि के व्यक्तित्व, उसके सासारिक निरीक्षण तथा उसकी जीवन सम्बन्धी मान्यताओ के अनुरूप ही उसकी कविता का स्वरूप होता है।

---

१ 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृ० ९४।
२. वही, पृ० ९४।
३ वही, पृ० १०१।
४ वही, पृ० ९८।
५ वही, पृ० ११०।

वे काव्य की भूमि को मानव-कल्पना की भूमि मानते है तथा कवि की कल्पना को सर्वत्र गामिनी समझते है। उनका विचार है कि, "विज्ञान मे जो बुद्धि है, दर्शन मे जो दृष्टि है, वही कविता मे कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है।"[1] वे कल्पना का सत्य होना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि "कविता मे सत्यता की कसौटी यह नही हो सकती कि हम वस्तुओ का वास्तविक रूप खोलकर दिखावे, किन्तु इस बात मे होती है कि उन वस्तुओ की सुन्दरता, उनका रहस्य, उनकी मनोमुग्ध-कारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पडता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट करके दिखावे। यही कविता द्वारा मानव जीवन और प्राकृतिक जीवन की कल्पना और मनोवेगो के रूप मे व्याख्या है।"[2]

वे अन्य कलाओ की भाति कविता का उद्देश्य भी शिक्षा देने अथवा पथ-प्रदर्शन करने की अपेक्षा आनन्द प्रदान करना मानते है।[3] उनका विचार है कि कविता सुन्दरता तथा मनोहरता के साथ तात्विक सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर सकती है। वे लिखते है कि "भले ही उपदेश दिया जाय, सदाचार की बाते कही जाय, नीति का भाव हृदय-पटल पर जमाया जाय, पर कविता की सुन्दरता और मनोहारिता का नाश करके यह सब न किया जाय, नही तो कविता कविता न रह जाएगी, सूखा उपदेश मात्र बन जाएगी। दार्शनिक भले ही अपने दर्शन-शास्त्र की बाते कहे, पर कल्पना और मनोवेगो के रूप मे कहे, सुन्दरता-पूर्वक कहे, मनोहारिणी उक्तियो द्वारा कहे, साराश यह कि कविता के सरस रूप मे कहे।"[4]

श्यामसुन्दर दास जी कविता के दो प्रकार मानते हैं (१) भावात्मक, व्यक्ति-प्रधान अथवा आत्माभिव्यजक कविता (२) विषय-प्रधान अथवा भौतिक कविता। इन दोनो का वे यह अन्तर बताते हुए लिखते है कि "भावात्मक कविता मे कवि अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करता है और बाहरी जगत को अपने अन्त करण मे ले जाकर अपने भावो से रजित करता है। पर वाह्य विषयात्मक कविता मे वह आप बाहरी जगत मे जा मिलता है और वही से प्रेरित होकर अपनी कविता का विषय ढूढता है, फिर वह उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी अन्तरात्मा को जहा तक हो सकता है, प्रच्छन्न रखता है वाह्य विषयात्मक कविता मे कवि अन्तर्हित रहता है, पर भावात्मक कविता मे वह प्रत्यक्ष हो जाता है।"[5] वे बाह्य विषयात्मक कविता के प्रधान भेद खण्डकाव्य और महाकाव्य तथा आत्माभिव्यजक का भेद गीति-काव्य मानते है।

---

१ 'सात्यिालोचन' (स० १९९९), पृ० १०१।

२. वही, पृ० १०२।

३ "उसका काम उत्तेजित करना, सजीव करना, उच्छ्वसित करना, शक्ति-सम्पन्न करना तथा प्रसन्न करना है।" वही, पृ० ११०।

४ वही, पृ० ११०।

५. वही, पृ० ११२।

उन्होने मनोवृत्तियो और विषयो के आधार पर काव्य के तीन विभाग किए है—(१) आत्माभिव्यजन सम्बन्धी काव्य, (२) वे काव्य जिनमे अपने-अपने अनुभव को छोड कर ससार की अन्यान्य बाते अर्थात् मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली साधारण बाते होती है तथा (३) वर्णनात्मक काव्य। वे काव्य-रचना का कारण मनुष्य की चार मनोवृत्तिया, आत्माभिव्यजन की इच्छा, मानव व्यापारो मे अनुराग, नित्य और काल्पनिक ससार मे अनुराग तथा सौन्दर्य-प्रियता मानते हैं। इनमे से चतुर्थ मनोवृत्ति सब प्रकार के काव्य की मूल प्रेरक है तथा शेष मनोवृत्तिया सम्मिलित होकर काव्य के अगो तथा उपागो की प्रेरणा का कारण बनती हैं।

श्यामसुन्दर दास जी काव्य के सम्पूर्ण विषयो को चार प्रकारो में विभाजित करते है—(१) किसी व्यक्ति का आत्मानुभव, (२) मनुष्य मात्र का अनुभव (जीवन-मरण, पुण्य, धर्म, अधर्म, आशा-निराशा, प्रम-द्वेष आदि सारे मनु य समुदाय से सम्बन्ध रखने वाले अनुभव), (३) मनुष्यो का पारस्परिक सम्बन्ध (अर्थात् सामाजिक जीवन और उसके सुख-दु.ख आदि) तथा (४) दृश्यमान प्राकृतिक जगत् और उससे हमारा सम्बन्ध।[1]

वे समझते है कि कविता के द्वारा वस्तुओ के इन्द्रिय गोचर सौन्दर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को समझने और अनुभव करने की शक्ति आ जाती है। यह सासारिक व्यापारो की व्यग्रता से निवृत्त करके हमारा ध्यान वर्णित विषय की सुन्दरता और मनोहरता की ओर आकृष्ट करती है और हमारे सामने ऐसी निधि रखती है, जिसका हम, सासारिकता मे लीन रहने पर भी, हृदय से अनुभव करने के लिए व्यग्र रहते है।[2]

जयशकर प्रसाद

काव्य के सम्बन्ध मे प्रसाद जी की सबसे महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि काव्य से ऊची आध्यात्म नाम की कोई वस्तु नही है। काव्य स्वत ही आध्यात्मिक है।[3] वे सिद्धान्त रू. मे काव्यानन्द को अलौकिक मानते है। उनकी काव्य की यह परिभाषा है कि "काव्य आत्मा की सकल्पनात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रय रचनात्मक ज्ञान धारा है।"[4] जिस सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की सतत साधना चल रही है, उस सत्य के वे दो लक्षण मानते है, श्रेय और प्रेय तथा उसकी अभिव्यक्ति वाङ्-मय मे काव्य और शास्त्र द्वारा समझते है। उनका विचार है कि शास्त्र मे श्रेय का ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है। इसके ज्ञान का आधार परीक्षात्मक तर्क है, विकल्पात्मक होने के कारण इसे विज्ञान की

---

१. 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृ० ७७।

२. वही, पृ० १०७।

३. 'काव्य और कला की भूमिका' (स० १९९६), पृ० ३।

४. वही, पृ० १७।

श्रेणी मे रखा जाता है। इसमें इसी कारण चारुत्व (प्रेय) की कमी होती है। वे काव्य मे श्रेय का ऐहिक विवेचन तथा प्रेय का चारुत्व दोनो की स्थिति मानते हैं। उनके विचार से काव्य आत्मा की वह अनुभूति है, जिसमे विकल्प, विश्लेषण या विज्ञान की अपेक्षा चारुत्व या श्रेय विद्यमान होता है। उनका विचार है कि जब आत्मा की मनन-क्रियाए (अनुभूतिया) काव्य के रूप मे अभिव्यक्त होती है, तो उनमे विकल्प तथा विश्लेपणात्मक तर्कों का अभाव रहता है और वे सत्य के श्रेय तथा प्रेय दोनो लक्षणो से परिपूर्ण होती है।[1]

प्रसाद जी ने स्वय यह शका उठाकर कि इसका क्या प्रमाण है कि काव्य मे सब अनुभूतिया श्रेय और प्रेय दोनो ही से पूर्ण होती है, उसका यह कहकर समाधान किया है कि इसी लिए तो साथ ही साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। उनका विचार है कि आत्मा की "यह असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अन्तर्निहित रहती है, क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेप रूप मे विद्यमान रहती है।"[2] युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अन्तर्निहित रहने के कारण इसका सम्बन्ध वे इतिहास के अनुशीलन से मानते है। का य मे सत्य के दोनो रूप, श्रेय तथा प्रेय की अभिव्यक्ति मान कर उन्होने शिव तथा सुन्दर, मगल तथा आनन्द दोनो की इसमे अभिव्यक्ति मानी है तथा दोनो का सामजस्य स्थापित किया है।

प्रसाद जी पाश्चात्य आचार्यो के मतानुसार काव्य को कला नही मानते क्योकि कला को भारतीय दृष्टि मे उपविद्या कहा गया है, इसलिए वे इसका विज्ञान से अधिक सम्बन्ध मानते हैं। उनका विचार है कि काव्य की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय विषय होने के कारण छन्द शास्त्र तथा काव्य समस्या आदि का ही कला से सम्बन्ध है। उनकी धारणा है कि काव्य की अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला का नाम दिया जाता है। वे कहते है कि कला के साथ पक्षपात रूप मे विचार करने पर अलकार, वक्रोक्ति, रीति और कथानक इत्यादि मे कला की सत्ता मान लेनी चाहिए। वे मानते है कि कला का नाम कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोडने के लिए लिया जा सकता है।

वे हीगल आदि पाश्चात्य दार्शनिको के इस मत से सहमत नही है कि अमूर्त होने के नाते काव्य सर्वोत्कृष्ट कला है तथा मूर्त्त कलाए निम्न स्तर की है। मूर्त्त वर्णमाला की विद्यमानता के कारण वे कविता को शुद्ध अमूर्त्त नही कहते। उनका विचार है कि हमारे यहा मूर्त्त तथा अमूर्त्त, नश्वर तथा अविनश्वर दोनो ब्रह्म के रूप है तथा

१. "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य मे सकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।" काव्य और कला की भूमिका (स. १९९६), पृ० १८।

२. वही, पृ० १८।

रूप का अस्तित्व मूर्त्त अमूर्त्त दोनों में है। उनका कथन है कि "चाक्षुप प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त रूप हैं उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी दो धारणाएं अधिक महत्त्व नहीं रखती। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।"[1] उनका विचार है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता, इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य बोध का कोई महत्त्व नहीं है।

प्रसाद जी काव्य में अभिव्यक्ति तथा अनुभूति में से अनुभूति की प्रधानता स्वीकार करते हैं, अभिव्यंजनावादियों की भांति अभिव्यक्ति की प्रधानता नहीं। उनका कथन है कि काव्य की व्यंजना क्योंकि वास्तव में अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम होती है तथा सुन्दर अनुभूति का विकास भी सौन्दर्यपूर्ण होता है इसलिए कवि की अनुभूति भी उसके परिणाम में ही अभिव्यक्त होती है। उनका कथन है कि "काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णनात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी।"[2]

इसका उदाहरण वे तुलसी तथा सूर के काव्य से देते हैं। वे यह प्रश्न पूछते हैं कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसी सूर से पिछड़ गए हैं, तो क्या यह मान लेना चाहिए कि उनके पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिससे वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके? इसका उत्तर वे यही देते हैं कि "सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है। उस विषय की प्रधानता के कारण उनके हृदय के अत्यन्त समीप शिशु गोपाल की वृन्दावन लीलाएं थी। उधर तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य निर्लिप्त कृष्ण-चन्द्र की शिशु मूर्त्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।"[3] इस प्रकार उनका विचार है कि जहां आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं कौशल या विशिष्ट पद रचनायुक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सकता है अथवा वहीं पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। वे मानते हैं कि "अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वही व्यापक सत्ता नहीं रखती, जैसी कि अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शकों के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों में अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौट कर अपने कवि की अनुभूति वाली मौलिक वस्तु की सहानुभूति मात्र ही रह जाती है। इसलिए व्यापकता

---

1. 'काव्य और कला' (सं० १९९६), पृ० १३।
2. वही, पृ० २५-२६।
3. वही, पृ० २६-२७।

आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।"[1] जिस अनुभूति को प्रसाद जी ने अभिव्यक्ति से अधिक महत्त्व दिया है उसका काव्य के उपादानो मे क्या स्थान है, उसका निर्माण कैसे होता है, क्या अभिव्यक्ति केवल रचना-कौशल है आदि प्रश्नो पर प्रसाद जी ने विचार नही किया है। वे अनुभूति को मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते है। उनके विचार से यही काव्य मे सकल्पात्मक मूल अनुभूति है, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे ग्रहण करती है।

प्रसाद जी किसी राष्ट्र के काव्य मे उसकी स्थायी सास्कृतिक प्रवृत्तियो का भी विशिष्ट प्रभाव मानते है। उनका विचार है कि प्रत्येक देश के काव्य मे कुछ देश-जातिगत स्थायी उपलक्षण (कनवेन्शन्स) होते है जैसे भारतीय साहित्य मे पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण भारतीय दार्शनिक सस्कृति है, जिसमे पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतत्र है तथा प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण मे लाने की चेष्टा करती है, इसलिए इसमें आसक्ति का आरोपण स्त्री मे है।[2]

वे रहस्यवादी काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। उनके विचार से यह भारत की निजी सम्पत्ति है। इस पर पाश्चात्य सामी मतो का कोई प्रभाव नही पडा है। इस तथ्य का प्रमाण देते हुए वे इसका ऐतिहासिक विकास वैदिक काल के 'ऊषा' और 'नासदीय' सूक्तो, अधिकाश उपनिषदो, शैव-शाक्तादि आगमो, आगमानुभासी स्कन्द शास्त्रो, सौन्दर्य-लहरी आदि रहस्य-काव्य मे तथा सहजानन्द के उपासक नागप्पा, कन्हप्पा आदि सिद्धो के काव्य से होता हुआ वर्त्तमान रहस्यवादी काव्य तक दिखाते है, जिसमे उनके विचार से अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।

उनके काव्यात्मक रहस्यवाद के सम्बन्ध मे प० नन्ददुलारे वाजपेयी इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि "काव्य मे जहा कही वास्तविक आनन्द या रस का प्रवाह है वही आत्मा की सकल्पात्मक प्रेरणा है और वही वह असाधारण अवस्था है, जिसे काव्य की, विशेषकर रहस्यवाद की, जन्मदात्री माना गया है। जिन काव्यो का प्रवाह आनन्द स्रोत से उद्रिक्त है, दु ख जिनमे निमित्त बन कर आया है, लक्ष्य नही—जो मुख्यत. प्रगतिशील सास्कृतिक सृष्टिया है—वे सभी प्रसाद जी की रहस्य-काव्य की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाती है।"[3]

प्रसाद जी ने भी काव्य का एक मौलिक तथा विचारपूर्ण श्रेणी-विभाजन किया है। उन्होने काव्य की दो कोटिया स्थिर की हैं, प्रथम, आनन्द प्रधान, रहस्यात्मक या रसात्मक, द्वितीय, विवेक प्रधान, बौद्धिक या आलकारिक। उन्होंने इन दोनो प्रकार के

---

१ 'काव्य और कला' (सं० १९९६), पृ० २७।
२. वही, पृ० ५-६।
३ वही, (भूमिका) पृ० ११।

काव्यो का ऐतिहासिक क्रम-विकास अपने लेखो मे प्रस्तुत किया है। प्रथम श्रेणी मे नाट्य तथा द्वितीय मे पाठ्य-काव्य विशेष रूप से आते है। काव्य मे वे आनन्द-सिद्धान्त के पृष्ठपोषक है। वे अलकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि सम्प्रदायो को विवेकमत के अन्तर्गत मानते है तथा केवल रस-सिद्धान्त को ही आनन्द से उद्भूत मानते है।

प्रसाद जी का यथार्थवाद के सम्बन्ध मे मत है कि इसमे स्वभावत दु ख की प्रधानता तथा वेदना की अनुभूति अनिवार्य होती है। इसकी विशेषताओ मे प्रधान विशेषता इसका लघुता की ओर दृष्टिपात है। लघुता से उनका तात्पर्य साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त, व्यक्तिगत जीवन के दु ख और अभावो के वास्तविक उल्लेख से है।[1] वे इसका लक्षण, दैवी शक्ति तथा महत्त्व से हट कर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता मे विश्वास तथा सकीर्ण सस्कारो के प्रति द्वेष होना मानते है। उनके विचार से यथार्थवादी साहित्य व्यापक दु ख सवलित मानवता का स्पर्श करने वाला है, जिसमे अभाव, पतन और वेदना के अश प्रचुरता से होते है। यह वेदना से प्रेरित होकर जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुचने का प्रयत्न करता है तथा साधारण समाज के दु खो और कष्टो का कारण, प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढियो को मानता है तथा अपराधो को समाज के कृत्रिम पाप मात्र समझता है।

इसी प्रकार प्रसाद जी का आदर्शवाद के सम्बन्ध मे विचार है कि "आरम्भ मे जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है, जिसमे राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नही, उसमे रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य मे ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ मे किया जाता है।"[2] वे आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते है कि "सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था।"[3] प्रसाद जी ने यथार्थ तथा आदर्श दोनो को ही विवेक प्रसूत माना है। वे दोनो ही आनन्द से उद्भूत, अद्वैतमय तथा रसपूर्ण नही हैं। वे आदर्शवाद या महत्त्व, यथार्थवाद या लघुत्व दोनो की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्ति-सिद्धान्त मे दोनो के अश हो सकते है किन्तु दोनो की सीमाए नही हैं और दोनो की मूल दु खात्मकता का भी निषेध है।[4] उनका विचार है कि आदर्श तथा यथार्थ दोनो ही वाद, द्वैत पर स्थित है तथा रहस्यवाद अद्वैत पर।

---

१ देखिए 'काव्य और कला' (स० १९९६), पृ० १३८ ।
२ वही, पृ० १४० ।
३ वही पृ० १८-१९ ।
४ देखिए वही पृ० १९ ।

वे छायावाद को महत्त्व और लघुत्व या आदर्श तथा यथार्थ दोनो सीमान्तों के बीच की वस्तु मानते है। इसमे वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अ‍ि व्यक्ति होती है। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा की अपेक्षा वे इसमे नए ग की अभिव्यक्ति मानते है। उनका विचार है कि इसमे नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श मे पुलकित है। जव आभ्यन्तर सूक्ष्म भावो की प्रेरणा ने वाह्यस्थूल आकार मे कुछ विचित्रता उत्पन्न कर दी और इन भावो के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही, तव नवीन शब्दो की भगिमा, नवीन शैली तथा नया वाक्य-विन्यास आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगे। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न करके, सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।[1] वे छायावाद को अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर निर्भर मानते हैं। उनका विचार है कि ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताए है।[2] वे छायावाद को एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी मानते है और दार्शनिक अभ्युत्थान भी। दार्शनिक दृष्टि से वे इस अभ्युत्थान को प्राचीन रहस्यवाद की परम्परा मे ही मानते है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी काव्य मे वहिरग तथा अन्तरग का समन्वय उपयुक्त समझते है। उनका विचार है कि इन दोनो से ही काव्य का सर्वागीण विकास होता है। वे भावो की सत्ता शब्दो से ही मानते है। इस प्रकार वे उत्तर ध्वनिकालीन काव्य-सिद्धान्त के अनुयायी है। वे काव्य मे स्पष्टता आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि "अस्पष्ट, छाया-भावो का चित्रण भी सुस्पष्ट, मोती के पानी जैसा भीतर से दमकता और नैसर्गिक होना चाहिए।[3] वे काव्य मे भावना का विश्लेषण ही सव कुछ नही मानते, प्राकृतिक रूपो द्वारा उसकी व्यजना भी आवश्यक समझते है। उन्होंने काव्य के तीन विशिष्ट गुण माने हैं, व्यक्त अनुभूतियो की सच्चाई, मर्मस्पर्शिता और सौन्दर्य। वे साहित्य मे समदृष्टि के अनुयायी है। वे भोग की वृत्ति को विकासोन्मुख काव्य का लक्षण नही मानते क्योकि भोग स्वत कोई अनभूति नही है, वह तो इन्द्रियो की विवशता मात्र है। इसलिए उनके विचार से काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुए है।[4] किन्तु वे यौवन सुलभ सभी सौन्दर्य की भावनाओ को भोग नही कहते हैं। उनके विचार से केवल वही भावना भोग होगी जो निस्सग तथा सौन्दर्य तक ही सीमित होती है। उन्होने किसी युग की प्रवृत्ति विशेष के प्रकाशन को श्रेय साहित्य का गुण

---

१ देखिए 'काव्य और कला' तथा अन्य निवन्ध (स० १९९६), पृ० १४३ ।

२ "अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर्स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।" वही, पृ० १४९ ।

३ हि० सा०, वीसवी शताव्दी (प्रथम सस्करण), पृ० १७२ ।

४. वही, पृ० २०७ ।

नही माना है वरन् उसके साथ जागृत चेतना द्वारा अनुभूतियो का सयमन और परीक्षण भी आवश्यक समझा है।

वाजपेयी जी शुक्ल जी से इस बात मे सहमत नही है कि जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है तथा काव्य उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। उनका विचार है कि काव्य मे जगत् की ही अभिव्यक्ति नही होती वरन् प्रत्येक समुन्नत काव्य मे अलौकिक तत्व की भी व्यजना होती है और जिस काव्य मे अलौकिक तत्व की अभिव्यक्ति होती है वह काव्य उत्कृष्ट काव्य होता है। वे प्रबन्धकार कवि का वास्तविक कार्य यह नही समझते कि वह कथा से अथवा कथा के सूत्र से ही अपने भावो को उच्छ्वसित करे। उनका विचार है कि, "मनोवेगो का जो उत्थान, काव्य-चरित्रो का जो निर्माण, केवल कथा या घटना के सहारे होता है, वह उतना समृद्ध नही बन सकता, जितना उससे तटस्थ रहने पर। चरित्रो का मनोवैज्ञानिक विकास किसी पूर्व-निश्चित कथा के आश्रय से नही कराया जा सकता। मन एक स्वतत्र वस्तु है, जिसकी सूक्ष्म गतियो का विश्लेषण करना भी कवि का काम है। किन्तु इस काम को वह कथा को प्रधानता देकर नही कर सकता।"[1] इसी प्रकार वे शुक्ल जी की यह मान्यता भी नही मानते कि महाकाव्य मे नायक मे शक्ति, शील तथा सौन्दर्य की पराकाष्ठा होनी चाहिए। उनका विचार है कि यह परम्परागत काव्य का लक्षण हो सकता है, जैसा धीरोदात्त का होता है, पर काव्य किसी नियम से बधकर नही चलता। वे कहते है कि, "फ्रासीसी और रूसी क्रान्ति की प्रेरणाओ के फलस्वरूप बहुत सी साहित्य-सृष्टियो के नायक कुरूप और दु शील है, फिर भी उनके प्रति पाठक की परिपूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। और शक्ति के सम्बन्ध मे यह कहना अधिक असगत न होगा कि केवल सुखान्त काव्यो के नायक शक्ति के पूर्ण स्रोत हुआ करते है। शेक्सपियर के दुखान्त महानाटको की अवला नायिकाए अपनी नि शक्तता, अपनी विवशता मे ही शक्ति का उत्फुल्ल विकास दिखा देती है। उन्हे देखने के बाद कौन कह सकता है कि शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा कला का कोई अनिवार्य अग है।"[2]

वे हिन्दी मे छायावाद को केवल अभिव्यजना की शैली मात्र न मान कर एक नया कला-आन्दोलन मानते है, जो योरुप के प्रसिद्ध 'रिनेसा' के समान हिन्दी का पुनरुत्थान आन्दोलन है। उनका विचार है कि इस वाद ने समृद्धि और अलकरण के लिए विभिन्न दिशाओ मे प्रसरण किया है तथा उपनिषदो के दिव्य दर्शन, महात्मा बुद्ध की क्रान्तिकारिणी शिक्षाओ, प्राचीन रहस्यवादी सन्तो की वाणियो, पाश्चात्य टेक्नीक तथा पश्चिमी पालिश, भारतीय इतिहास के समृद्धिकालीन युगो के वृत्तान्त और भारत की प्राचीन कला सामग्री का उपयोग किया है। वाजपेयी जी ने छायावाद के महत्त्व का प्रतिपादन करने मे जितनी शक्ति तथा प्रतिभा का प्रयोग किया है, उतना

---

१. हि० सा० 'बीसवी शताब्दी' (प्रथम संस्करण), पृ० ८४ ।
२ वही, पृ० ८५।

उसकी रूप रेखा को अधिक स्पष्ट करने में नही। फिर भी छायावादी काव्य की विद्वत्तापूर्ण व्यावहारिक आलोचना से उनके विचार इस काव्य की विशिष्टताओं के सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। छायावादी आन्दोलन ने काव्य के वाह्य स्वरूप (छन्द, भाषा आदि) तथा आभ्यन्तर स्वरूप (नवीन भावना, कल्पना, नव्य जीवन-दर्शन और नवनिर्माण आदि) दोनों मे जो स्पष्ट परिवर्तन किए हैं, उनका विश्लेषण वाजपेयी जी ने अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा किया है।

वे कविता की ज्योति, समय, समाज तथा कवि की आत्मा के भीतर देखते है। महाकाव्य के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि, "महाकाव्य की रचना जातीय सस्कृति के किसी महाप्रवाह, सभ्यता के उद्गम, सयम, प्रलय, किसी महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष अथवा आत्मतत्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए की जाती है।"[1] उनका विचार है कि महाकाव्य मे घटनाओ का पूर्ण समाहार होना आवश्यक होता है। इसके चित्र न तो निकट से खीचे जाते हैं, न छोटे ही जान पडते है। वे कहते हैं कि "महाकाव्य के चित्र दूरी की व्यजना करते है, जैसे गगा के इस पार से कोई उस पार सुदूर की वृक्ष-राजि देख रहा हो। ऐसे चित्रों को अकित करके कवि मानो विराट् के सकेत सूत्र को अपने हाथो मे कर लेता है। दर्शकों को भी विराट् की अनुभूति होती है।"[2] वे प्रवन्ध काव्य में किसी दृश्य के प्रत्यक्ष वर्णन से अधिक महत्त्व परोक्ष अध्याहार का मानते है। उनका विचार है कि राम भक्ति की महिमा के लिए रामचरित्र के प्रत्यक्ष वर्णन से अधिक महत्त्व राम के विना सूनी साकेत का दृश्य दिखाने का है।

वाजपेयी जी गीतिकाव्य तथा प्रवन्ध काव्य की प्रचलित परिभाषा को नही मानते। वे यह नही मानते कि जिसमे अन्त सौन्दर्य होता है वह गीति काव्य है तथा जिसमे वाह्य सौन्दर्य व्यक्त होता है, वह प्रवन्ध काव्य होता है। वे समझते हैं कि प्रवन्ध काव्यों के कथानको मे भी उत्कृष्ट कोटि का भाव-सौन्दर्य छिपा रहता है। उनकी दृष्टि में गीति काव्य वह है, जहा छोटी-छोटी भावनाए एक मे केन्द्रित होकर गेय हो उठती हैं। उनका कथन है कि "वास्तव मे सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य-साचे की वदिनी नही। वर्णनात्मक और गीतात्मक काव्य भेद मे इसके वाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असगत है। गीति काव्य और प्रवन्ध-रचना मे भेद यह है कि एक मे काव्य किसी एक ही सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवन समस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे में वहुमुखी जीवन-दिशाओ और स्थितियों का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य की भूमिका प्राय उदात्त और स्वर गम्भीर हुआ करता है, जब कि गीतों मे माधुर्य की प्रधानता होती है। वर्णनात्मक काव्य में वाह्य जगत् और जीवन-व्यापारो का सौन्दर्य दर्शनीय होता है और मुक्तक काव्य में मानसिक स्वरूपों, सूक्ष्म रहस्यमय मनोगतियो की सुषमा अधिक देखने को मिलती है।

---

१ हि० सा०, 'बीसवी शताब्दी' (प्रथम सस्करण), पृ० ८५।

२ वही, पृ० ४८।

दोनो मे ही उच्च कोटि का काव्य, जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हमे मिलती है।"[१] वे प्रत्येक काव्य मे सब प्रकार का (बाह्य तथा आन्तरिक) सौन्दर्य समाहित मानते हैं। वे उसी काव्य को महत्त्वपूर्ण मानते है, जो व्यापक और बहुमखी जीवन-दृष्टि का सन्देश सुनाने वाला हो और जिसमे एकागिता, अव्यावहारिकता, निर्बलता तथा ह्रासोन्मुखी रूढि की नियोजना न हो। कामायनी को वे इसी कारण श्रेष्ठ मानते है।[२]

वे काव्य मे बुद्धि तत्व, भावना तथा कल्पना तीनो का सामजस्य उचित मानते हैं। उनके विचार मे उसी कृति मे काव्य की प्रतिष्ठा होती है, जिसमे ओजस्विता, प्रवाह तथा प्रभावोत्पादकता होती है। वे काव्य मे बाह्य उपकरणो का महत्त्व केवल इतना ही मानते है कि वे उसमे निहित जीवन-सौन्दर्य की कला को पाठको के हृदय मे खिला दे। उनके विचार से वही काव्य सुन्दर है, जो जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करे। वे कहते है कि काव्य कला का उद्देश्य सौन्दर्य का उन्मेष करना है, क्योकि सौन्दर्य ही चेतना है तथा चेतना ही जीवन है। उनका विचार है कि काव्य की प्राथमिक क्रिया यह है कि वह हमे अनुभूतिशील तथा भावनाशील बनाता है, जिससे हम ससार के दृश्यो को आखे खोल कर देखते है तथा उनके सौन्दर्य से सुखी होते है। वे मानते हैं कि काव्य का प्रमुख लक्ष्य वास्तव मे सचेतन जीवन परमाणुओ को सघटित करना और उन्हे दृढ बनाना है। उनके विचार से यह कार्य युग की शक्तियो से परिचित होकर तथा रचनात्मक शक्तियो का सग्रह करके भली प्रकार से हो सकता है, जिसे देश तथा काल के तत्वो को समझने वाला कवि ही कर सकता है। चाहे उच्च तथा प्रशस्त कल्पनाए, परिश्रम-लब्ध विद्या और काव्य-योग्यता से उच्च साहित्य की सृष्टि हो जाए किन्तु देश-काल की शक्तियो से परिचित न रहने से काव्य के चरम उद्देश्य—जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की सिद्धि नही हो सकती। इन सब की सहायता से मूर्तिमयी होने वाली जीवन-सौन्दर्य की भावना ही प्रत्येक कवि की अपनी देन है। इसी के द्वारा वे उसके व्यक्तित्व का ऐसा निर्माण होना मानते है, जो शताब्दियो तक जीवित रहता है। उनका विचार है कि इसके बिना कवि की वास्तविक सत्ता प्रकट नही होती।[३]

वे छन्दो के लिए भावानुकूलता आवश्यक मानते हैं। भावानुकूलता से उनका तात्पर्य भावना की क्षिप्र तथा तीव्र गति से नही है, वरन् सम्पूर्ण वातावरण से है, जिसे उपस्थित करने मे छन्द की शक्ति लगनी चाहिए। उनका विचार है कि कुशल कवि छन्द के आवर्तविवर्त से अभीप्सित भाव प्रतिमाए खडी करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि छन्दो के द्वारा दूरी तथा समीपता का भी आभास कराया जाता है। वे खडी बोली मे ऐसे छन्दो की कमी मानते हैं, जो दूरी का प्रदर्शन करने वाले हो।

---

१. हि० सा०, बीसवी शताब्दी (प्रथम सस्करण), पृ० ११९।
२. देखिए वही, पृ० १२४।
३. वही, पृ० १४६।

परवर्ती काल में कुछ प्रयोगवादी कवियो ने इस ओर नए कदम उठाए तथा छन्दो और वर्णों में दूरी तथा समीपता की भी अभिव्यक्ति का विचार अपने सामने रखा।[1]

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—

मिश्र जी काव्य-रचना को स्वान्त सुखाय न मानकर परान्त सुखाय मानते है। उनका विचार है कि काव्य-रचना का व्यक्ति-वैचित्र्य से कोई विशेष सम्बन्ध ही नही है। वे उसका सम्बन्ध कवि के अतिरिक्त विशेष रूप से पाठक से भी मानते हैं। वे तुलसी के समान काव्य को सब का हित करने वाला मानते है।

वे पाश्चात्य समीक्षको के अनुसार काव्य की अनुभूति को केवल सौन्दर्यानुभूति नही मानते है। उनका विचार है कि पाठक काव्य के सौन्दर्य पर ही मुग्ध नही होता वरन् उन भावो मे भी रमता है, जो काव्य मे व्यक्त किए जाते है। वह काव्य का रस लेता है। वे काव्य की सर्वप्रधान विशेषता, रमणीयता मानते है, श्लाघनीयता नही। उनका विचार है कि काव्य को सुन्दर मात्र कह देने से उसका महत्त्व बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।

वे काव्य मे आदर्शवाद का पक्ष अधिक ग्रहण करते है, किन्तु उसके नाम पर नकली चरित्र प्रस्तुत करने के पक्ष मे नही है। प्रयोजनीय रूप मे, वे यथार्थवाद के भी पक्ष मे है।

वे काव्य का मूल अरस्तू तथा धनजय की भाति शुद्ध अनुकरण न मानकर भाव या विभाव मानते है, जिसकी प्रेरणा से अनुकरण की प्रवृत्ति जगती है।[2]

वे पाश्चात्य साहित्यालोचन मे मान्य, कविता के दो प्रकार—बाह्यार्थ निरूपक तथा स्वानुभूति-व्यजक को नही मानते। बाह्यार्थ-निरूपक कविता मे भी वे प्रच्छन्न रूप से कवि के व्यक्तित्व का ओत-प्रोत रहना मानते हैं। उनका कथन है कि यदि ऐसा न होता तो एक ही प्रकार के ग्रन्थो मे तथा एक ही चरित्र को लेकर लिखे जाने वाले ग्रन्थो मे इतनी भिन्नता नही होती। वे समझते है कि बाह्यार्थ-निरूपक काव्यो मे कवि की स्वानुभूति तो होती है, पर वह लोकानुभूति के मूल मे रहकर चलती है। वे बाह्यार्थ-निरूपक कविताओ मे स्वानुभूति तथा लोकानुभूति दोनो का सामजस्य मानते है।

वे काव्य को भावो का विधान करके रसमग्न करने वाली रचना तथा मानव वृत्तियो का शोधन करने वाला मानते है। उनका विचार है कि काव्य समाज की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। उसे केवल मनोरजन की वस्तु मानना हृदय-हीनता मात्र है। उनके विचार से काव्य और धर्म का एक ही उद्देश्य है, क्योकि वे दोनो ही वृत्तियों का परिष्कार करते है। वे काव्य को धर्म, समाज-तत्व या राजनीति आदि किसी से भी

---

१. देखिए 'तार सप्तक' (स० १९४३), पृ० ४३ ।
२. देखिए 'वाङ्मयविमर्ष' (स० २०००), पृ० १९५ ।

कम महत्त्व का नही मानते है। वे उत्पादक की दृष्टि से काव्य का मुख्य प्रयोजन, यश तथा तृप्ति का लाभ तथा गौण प्रयोजन अर्थ या कार्य का लाभ मानते है और ग्राहक की दृष्टि से प्रधान प्रयोजन आनन्दानुभूति या रसमग्नता तथा गौण प्रयोजन सकेत-प्राप्त व्यावहारिक ज्ञान, जिसे शास्त्रो मे कान्ता-सम्मित उपदेश कहा गया है, मानते हैं। मिश्र जी ने शैली, अर्थ तथा बन्ध की दृष्टि से काव्य के तीन भेद माने है। शैली की दृष्टि से इसके तीन भेद—गद्य, पद्य और चम्पू, अर्थ की दृष्टि से उत्तम, मध्यम तथा अधम या सामान्य और बन्ध की दृष्टि से प्रबन्ध तथा निबन्ध है। वे निबन्ध काव्य, उसे कहते है, जिसमे कोई विशेष कथा का अभाव होता है और जो स्वच्छन्द रूप से किसी पद्य या गद्य खण्ड के द्वारा किसी रस, भाव या तथ्य को व्यक्त करता है।[1] इसी प्रकार वे प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य के अतिरिक्त हिन्दी मे एक और विशेष काव्य का रूप मानते है, जो महाकाव्य की भाति पूर्ण जीवन वृत्त सहित होने पर भी वस्तु के विस्तार मे उससे कम होता है तथा उसमे जीवन के एक पक्ष का ही विस्तार के साथ प्रदर्शन होता है। उसे वे 'एकार्थ काव्य' कहते है। यह हिन्दी की अपनी विशेषता है तथा मिश्र जी ने पहली बार उसकी ओर ध्यान दिलाया है।[2]

वे मम्मट की भाति काव्य-शक्ति, लोक-निरीक्षण तथा अभ्यास को काव्य का हेतु मानते है। उन्होने भी दो प्रकार की काव्य-शक्ति मानी है—सहजा तथा उत्पाद्या। उनके विचार से निपुणता के अन्तर्गत लोक का निरीक्षण, शास्त्रो का अनुशीलन तथा काव्य-परम्परा का अध्ययन आता है। वे निरीक्षण के लिए बोधवृत्ति तथा रागवृत्ति दोनो का योग आवश्यक समझते है। वे काव्य का अन्य वाङ्मयो से व्यतिरेक इस बात मे मानते है कि इसका लक्ष्य हमारे मनोवेगो को उत्तेजित करना ही नही होता, ज्ञान की वृद्धि करना भी होता है। उनका विचार है कि काव्य दूसरो के साथ हमारा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और अन्य वाङ्मयो का हमारे साथ सम्बन्ध प्रज्ञात्मक होता है। वे मुक्तक कविता के तीन प्रकार मानते हैं—रसकार कवियो की, उक्ति वैचित्र्य वाली तथा लोक-नीति को लेकर चलने वाली। इनके अतिरिक्त उन्होने शब्द, अर्थ, अलकार, रस, शास्त्र आदि के आधार पर किए हुए कवियो के काव्य के भेदो का भी उल्लेख किया है।

वे भी काव्य को कला नही मानते, क्योकि पाश्चात्य मतानुसार निर्धारित कलाओ मे केवल सौन्दर्य-अनुभूति होती है, रसानुभूति नही, जबकि भारतीय साहित्यालोचन के अन्तर्गत काव्य मे भाव-मग्न अथवा रस-मग्न करने की क्षमता भी होती है। उनका विचार है कि काव्य रसानुभूति कर चुकने के बाद सौन्दर्यानुभूति भी करता है।

---

१ देखिए 'वाङ्मय विमर्श' (स० २०००), पृ० १२।
२ देखिए वही, पृ० १२।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'—

'सुधाशु' जी जीवन के तत्वो और काव्य के तत्वो का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। उनका विचार है कि काव्य की प्रकृति, प्रेरणा तथा प्रवृत्तिया जीवन के वातावरण द्वारा निर्मित तथा निश्चित होती है। उन्होने जीवन के उन शाश्वत तत्वो का विश्लेषण किया, जिनका सम्बन्ध काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तो के साथ होता है।

भाव-विन्यास तथा जीवन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए, वे जीवन के दो मूल भाव, सुख तथा दुःख, मानते है। इन्ही को दूसरे शब्दो मे वे राग-द्वेष कहते हैं। उनका विचार है कि इन्ही दोनो मुख्य भावो से हृदय के अगणित भावो की उत्पत्ति होती है। साहित्य-शास्त्र की रस-पद्धति भी इन दो ही तत्वो पर अवलम्बित है। आश्रय तथा आलम्बन के विचार से ये दोनो मूलभाव मनोविकारो के कई रूपो मे परिवर्तित हो जाते है। वे उसी काव्य को सच्चा काव्य मानते है, जो जीवन के सरल भावो को न दिखा कर विपरीत भावो के सघर्प, स्वाभाविक परिवर्तन तथा गति-क्रम का सौन्दर्य दिखाता है। क्योकि मानव-हृदय के भिन्न-भिन्न भावो के वृत्ति-चक्र समस्त मानव-सृष्टि मे न्यूनाधिक रूप से एक ही प्रकार के होते है, इसलिए वे काव्य के अन्तर्गत जीवन की मूल भावनाओ का विन्यास प्रदर्शित करना ही सत्काव्य का लक्ष्य मानते है। उनका विचार है कि काव्य मे वर्णित वैयक्तिक विशेषता केवल एक उपलक्षण मात्र होती है, वास्तविक उद्देश्य तो-मूल भावनाओ का विन्यास दिखाना ही है।

वे मानते हैं कि कवि साधारण जीवन तथा बाह्य जगत् के सौन्दर्य के अनुभव और ज्ञान के आधार पर अन्तर्प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण करने की क्षमता रखता है। सच्चा कवि आन्तरिक तथा बाह्य प्रकृति, रूप तथा गुण के सौन्दर्य का चित्रण करता है। वे कवि के लिए प्रतिभावान होना इतना आवश्यक नही समझते जितना उन मूल भावो की अनुभूति प्राप्त करना आवश्यक समझते है, जो जीवन के विचित्र कर्मो तथा व्यापारो के मूल मे रहते है। उनका विचार है कि जीवन मे शक्त तथा अशक्त दोनो भाव मिले हुए हैं तथा सच्चे कवि मे हृदय की सभी वृत्तिया तथा भाव होते है तथा वह इन सबकी काव्य मे अभिव्यक्ति करता है।[1]

उनका विचार है कि भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग मे भी अन्तर है। वे जीवन के साथ विषाद तथा आनन्द दोनो का ही सम्बन्ध मानते हैं। वे कहते है कि "काव्य का आनन्द जीवन का स्वार्थ है परन्तु यह स्वार्थ परमार्थ की परिधि मे रहता आया है। स्थायी आनन्द-वृत्ति जब जगत् और जीवन के किसी आधार को पाकर जाग्रत होती है, तब प्रफुल्लता होती है और विषाद वृत्ति मे झुझलाहट। ऐसे मनोभाव अपनी मूल वृत्तियो की स्थिति को सूचित करते हैं।"[2]

---

१. 'जीवन-के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० १६।
२ वही, पृ० २०।

उनका विचार है कि हमारे जीवन मे सस्कारो (जो एक आध्यात्मिक शक्ति है तथा जिसे हम देख नही पाते) का ऐसा वातावरण फैला रहता है जिसका प्रभाव हमारे कल्पनाशील मन पर बराबर पडता है। इन सस्कारो की आध्यात्मिक सत्ता ही जीवन के आवरण मे रहकर काव्य मे आती है। जिस प्रकार सस्कारो के योग से जीवन की प्रकृति मे परिवतन होता है, उसी प्रकार काव्य की प्रकृति मे भी थोडा बहुत तदनुकूल परिवर्तन होता है।[1] उनकी मान्यता है कि काव्य मे अभिव्यक्त होने वाले मनोविकार, क्षमा, क्रोध, उत्साह, सहानुभूति आदि यद्यपि नर्सागक हैं तथापि इनकी सत्ता समाज में ही प्रकट होती है। इसलिए वे काव्य का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते है। उनका विचार है कि काव्य की उपयोगिता और आनन्द भी समाज पर आश्रित है। जीवन का चित्रण जीवन के सघर्ष में ही हो सकता है। जहा जीवन को व्यक्त करने के लिए सामयिक जीवन का आधार नही मिलता, वहा भी अतीत जीवन के सम्मरणो के सहारे उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

वे कहते है कि "जगत् में जो जीवन है काव्य में वही जीवन नही रहता वल्कि उसका प्रभाव मात्र रहता है। जिस जीवन मे प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है, काव्य में उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का फोटो उसके आलोक और छाया के अतिरिक्त और कुछ नही, उसी प्रकार काव्य का जीवन भी उसकी सत्ता के प्रभाव के सिवा और कुछ नही।"[2] काव्य में जीवन का समुचित, औचित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक प्रभाव तभी व्यक्त हो सकता है जब जीवन को उसके समुचित वातावरण मे रखा जाए। यह जीवन का समुचित वातावरण मानव-समाज ही है। इसलिए उनका विचार है कि "काव्य मे जीवन पर समुचित प्रकाश डालने के लिए समस्त सामाजिक वातावरण का चित्रण आवश्यक हो जाता है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध रहा है।"[3]

काव्य मे कल्पना की योजना के विषय में उनका विचार है कि, "प्रत्यक्ष जीवन का सौन्दर्य काव्य में परोक्ष सौन्दय के रूप मे प्रविष्ट होता है। अत जब तक परोक्ष को कल्पना की विशेषता न प्राप्त होगी तब तक वह प्रत्यक्ष के सामने टिक नही सकता।"[4] बुद्धि तथा प्रतिभा में वे प्रतिभा को अधिक काव्योपयुक्त मानते है। वे समझते है कि जीवन के समस्त सौन्दर्य को काव्य मे प्रविष्ट नही कराया जा सकता। उनका कथन है कि "जहा सौन्दय की अपूर्णता है, वहा काव्य मे पूर्णता का आवरण देकर पाठको को भुलाने की चेष्टा की जाती है, किन्तु जहा सौन्दर्य पूर्ण है वहां वह अपनी सारी पूर्णता को लेकर काव्य मे अट भी नही सकता। सारांश यह है कि

---

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० २२ ।
२. वही, पृ० २७ ।
३. वही, पृ० ३० ।
४ वही, पृ० ३० ।

प्रत्यक्ष जीवन के सौन्दर्य का जो मान दण्ड है, उससे काव्य का काम सदा नही चलता। सारग्राहिता के विचार से थोडी देर के लिए कलाकार को भी समीक्षक बनना पडता है।"[१] वे मानते है कि काव्य मे आने के पहले जीवन की बहुत सी बाते छोड दी जाती है और ऐसी बहुत सी बाते भी ली जाती हैं, जिनका अस्तित्व केवल कल्पना-जगत् मे ही पाया जाता है।[२] यह चुनाव कवि अपनी प्रकृति के अनुसार, कल्पना, प्रतिभा तथा निर्णायक बुद्धि की सहायता से करता है। इस प्रकार लोक जीवन की प्रकृति ही काव्य की प्रकृति बन जाती है।

वे काव्य मे वर्णित विचारो को मौलिक नही मानते क्योकि वे कवि के विवेक से उत्पन्न नही होते, वरन् परम्परा से आई हुई धारणाओ मे योग देने वाले होते है। इसी तथ्य से काव्य मे प्रयुक्त धारणाओ की सर्वसामान्यता प्रमाणित होती है। इसी से काव्यगत जीवन मे भूत और वर्तमान का कोई विच्छेद नही मालूम पडता। उनका विचार है कि "जिस काव्य मे किसी न किसी रूप मे अतीत प्रतिध्वनित नही होता, वह भविष्य के निर्माण मे समर्थ नही हो सकता। वर्तमान को अतीत ही सजीवित रखता है। अतीत से वर्तमान का विच्छेद उसी दिन सम्भव है जिस दिन सृष्टि मे मानव जीवन की इस परम्परा का अन्त हो जाय और तब स्थायी साहित्य का कोई मूल्य भी नही रह जाता है।"[३] उनका विचार है कि कोई काव्य नैतिक आदर्श की महानता के कारण महत् नही होता। उसमे जीवन की क्रियाए, जिनमे शक्ति तथा अशक्ति का द्वन्द्व चलता रहता है, प्रधान होती है। विधायक कल्पना द्वारा जीवन की वास्तविकता काव्यगत सत्य के साथ इस प्रकार मिलती है कि जीवन की सत्ता काव्य से भिन्न नही दिखाई पडती।

सुधाशु जी कला का यह प्रयोजन मानते है कि वह एक हृदय के प्रत्यक्ष और अनुभूत भावो को दूसरे हृदयो तक पहुचाकर उन्हे रस-मग्न करती है। वे कलाकार के आत्मभाव का काव्य-विधान मे विशेष महत्त्व मानते है। उनका विचार है कि कलाकार के आत्मभाव के सयोग के बिना उसकी कला सजीव नही हो सकती।[४] यही आत्म-भाव की अनेकता विविध विषयो मे व्यक्त हो जाती है, पर यह जीवन की परम्परा से सर्वथा भिन्न नही होती। इसी लिए काव्य मे जो आत्म-भाव प्रतिष्ठित किया जाता है, वह परम्परा को लेकर ही चलता है। वे काव्य का प्रयोजन मनुष्य के

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' (सन् १९४२), पृ० ३१।

२ वही, पृ० ३२।

३ वही, पृ० ३५।

४ "सृष्टि मे ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है, वही काव्य मे कवि की रहती है। सृष्टि के अणु परमाणु मे ब्रह्म व्याप्त है, परन्तु वह लक्षित भी नही होता। काव्य के वर्ण मे कवि का आत्मभाव परिव्याप्त रहता है, किन्तु वह स्पष्ट कही भी लक्षित नही होता।" वही, पृ० ४४।

कर्मों का ही चित्रण करना नही, वरन् उसकी अन्तर्वृत्तियो का विश्लेषण करना भी मानते है।[1] उनका विचार है कि कवि अपने काव्य से भिन्न नही है। कवि मे अनुभव करने और अनुभव को पदावली मे व्यक्त करने की शक्ति एक ही है। उसकी विधायक तथा ग्राहक कल्पना का क्रम एक-दूसरे से भिन्न नही है। काव्य का विधान पाठक या श्रोता की विश्वास-वृत्ति पर ही निर्भर रहता है। काव्य के पढने से हमारी सशयात्मक प्रवृत्ति पर आनन्द की कल्पना का आवरण पड जाता है और हम इस भौतिक ससार को भूलकर भाव के विश्व में सचरण करने लगते है। रस प्राप्त करने का सस्कार हमारे तर्कों को भगा देता है। वाह्य जगत् का सत्य साहित्यकार के अन्तर्जगत् के द्वारा अपने विस्तृत तत्वो को सकुचित करके, काव्य मे अपने मौलिक रूप में आता है। वे कवि की रचना को उसके जीवन का अग मात्र मानते है और अग की समीक्षा मे अगी को भुलाना ठीक नही समझते है।

उनका विचार है कि काव्य का उद्देश्य ज्ञान-वर्द्धन करने की अपेक्षा शक्ति देना है। वे कहते हैं, "हमारे हृदय मे शक्ति के अविकसित अकुर छिपे रहते है, उन्हें विकसित करके प्रकाश मे लाना सच्चे कलाकार का काम है। शक्ति का विकास होने पर हमारे जीवन का स्तर ऊचा उठता रहता है और ज्ञान की प्राप्ति करके हम उसी समतल पर आगे बटते रहते हैं। इस प्रकार काव्य की शक्ति हमें ऊचा उठाती है और ज्ञान हमे आग वढाता है। जीवन की सारी सवेदनाओ को हिलाकर शक्तियो का विकास करने वाली काव्य-कला का स्थान उस ज्ञान-ग्रथ से कही ऊचा है, जो हमारे मस्तिष्क मे केवल सख्या-वृद्धि करता है।"[2] इस प्रकार वे ज्ञान से काव्य के स्थान को ऊचा मानते हैं।

वे काव्य और चमत्कार मे यह अन्तर मानते है कि काव्य को तो एक प्रतीति के रूप में ग्रहण करके हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते है और वैचित्र्य या चमत्कार से हम अपना मौन भग करके 'वाह वाह' कर उठते है।[3] पाठक या श्रोता इस वैचित्र्य या चमत्कार के सत्य को तथ्य समझकर ही उसका आनन्द लेता है।

वे काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरजन की अपेक्षा जगत् के साथ मानव हृदय का सम्वन्ध स्थापित करना मानते है। उनके विचार से मनोरजन का उद्देश्य तो चित्त वृत्ति को रस दशा की उस भाव भूमि पर पहुचा कर सलग्न रखना है, जहा काव्य

---

१ "किस वृत्ति से किस कर्म की उत्पत्ति हुई है यही स्पष्ट करना काव्य का उद्देश्य हैं और स्थिति मे कलाकार अपने भाव का न्याय्य प्रमाणित कर सकता है।"
— 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त', पृ० ५९।

२. वही, पृ० ४५।

३ देखिए वही, पृ० ७१।

के मूल उद्देश्य रागात्मक प्रतीति का महत्त्व बढ जाता है। वे समझते है कि काव्यगत सत्य की प्रतिष्ठा असीम से ससीम तक आने में होती है और तभी वह सत्य अपना अर्थ बोध भी करता है। सत्य जब अपरिमिति मे रहता है, तो हम उसे वहा उसके अपरिमित रूप मे इसलिए नही देख सकते कि हमारी शक्ति परिमित होती है और परिधि के अन्तर्गत सत्य मे इतनी अधिक रमणीयता उत्पन्न होती है कि वह हमारे हृदय को वरबस अपनी ओर खीचती है। इसके अतिरिक्त वे समझते है कि काव्य का वोध प्रत्येक मनुष्य को अपनी वृत्ति, सस्कार या विचार के अनुकूल होता है। अभिव्यक्त करने वाले हृदय के साथ जिसकी पूर्ण सहानुभूति रहेगी, वही उस कविता के मर्म को अच्छी तरह समझ सकता है। वे अर्थ बोध के लिए कला की स्पष्टता अनिवार्य समझते है।

उनका विचार है कि "काव्य की बहुत सी वस्तुए हमे प्रिय तो मालूम होती हैं पर उनका अर्थबोध नही होता। ऐसे अर्थ-ज्ञान हीन सुखानुभव को शास्त्रीय दृष्टि से अप्रबुद्ध उपभोग कहते हैं। हमारे अन्तर्जगत् की शक्ति हमारे ज्ञान-शक्ति के मर्यादित क्षेत्र को खोलने मे सहायक होती है। जब तक ज्ञान-शक्ति भावो के व्यक्त होने के लिए मार्ग नही खोलती, काव्य के अर्थ-बोध पर आवरण ही पडा रहता है। काव्य का उद्देश्य किसी पद-विशेष का आकलन कर लेना नही, वरन् मनुष्य की अन्तर्शक्ति को विकसित करना है। उनका विचार है कि काव्य एक प्रतीति के रूप मे जितना रमणीय हो सकता है, उतना प्रतिपादन के रूप मे नही। आग्रह और तर्क रूप मे काव्य अपना कार्य सम्पादित नही करता। वास्तव में मनुष्य के हृदय की प्रतीति ही काव्य के रूप मे अभिव्यक्त होती है। काव्य मे भावो का सचारण, बुद्धि की क्रिया की सहायता से ही होता है, पर काव्य मे ऐसे बहुत से स्थल आते है, जहा बुद्धि की अग्राह्यता पर ही हमे आनन्द मिलता है। वचित्र्य या चमत्कार की बाते बुद्धि के लिए अग्राह्य होने पर भी कभी-कभी हमे युक्तिसगत मालूम देती है तथा हमे उनसे आनन्द मिलता है और अर्थबोध में कोई बाधा भी नही पडती। इसीलिए साहित्य-शास्त्र मे वाच्यार्थ से अधिक महत्त्व व्यग्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को दिया गया है। उनका विचार है कि यथार्थ रस तो वाच्यार्थ ही देता है। वे उस व्यग्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को महत्त्व देते हैं, जो वाच्यार्थ मे छिपा रहता है।

उनका विचार है कि काव्य मे सब स्थानो पर वर्णन ही नही होते, उसका बहुत सा काम सकेतो तथा उपेक्षाओ से हो जाता है। जो घटनाए सत्य तथा बहु कालव्यापिनी हैं, उनका काल्पनिक चित्र किसी सकेत को पाकर मन मे क्षण भर मे सजीव हो उठता है। यदि सकेत और उपेक्षा से कार्य न लिया जाए, तो काव्य मे इतनी अनावश्यक वस्तुए भर जाएगी कि मन का सारा ओज आरम्भ मे ही समाप्त हो जाएगा। उनका कथन है कि, "कवि अपना भाव पाठक को नही देता, बल्कि वह सकेत से ही पाठक या श्रोता के हृदय के ही भाव को सचारित कर देता है। यदि पाठक या श्रोता के हृदय मे उस प्रकार

के भाव का मूल वर्तमान न हो, तो उसे कवि के इस प्रकार के भाव-सकेत से आनन्द नही मिल सकता।"[1]

'सुधांशु' जी छंद को भी भाषा की भाति कवि के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनका विचार है कि कालानुसार, इन स्वाभाविक अभिव्यक्तियो पर नियमो के बन्धन डाल दिए गए है। जितने प्रकार की अभिव्यक्तिया लय के सामजस्य के साथ हो सकती थी, उनका विधान छद-शास्त्र मे कर दिया गया है। वे यह नही मानते कि पुराने छंद आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने मे असमर्थ है और समय के साथ-साथ सब प्रकार के भावो को व्यक्त करने के लिए अनुपयुक्त हो गए हैं। उनका कहना है कि यदि छदो का नया पुराना होना सम्भव है, तब तो पुरानी वर्णमाला का अनुपयुक्त होना भी माना जा सकता है और पुरानी वर्णमाला के स्थान पर नई ध्वनियो के बदलने की भी आवश्यकता हो सकती है। यदि वर्णो के चिन्हो को बदला भी जाय, तो भी उच्चारण की ध्वनिया कुछ ऐसी निश्चित है, जो नही बदली जा सकती। हमारे प्रचलित छदो का विधान नाद-सौन्दर्य की विशेषता पर अवलम्बित है। उनके भीतर की लय जीवन के तत्वो के द्वारा निर्मित भाषा का बन्धन है, कोई बाहरी वस्तु नही। ये बन्धन लय-सौन्दर्य के अनुरूप है तथा काव्य को दीर्घायु बनाते हैं। भाषा-प्रयोग के ये बन्धन वास्तव मे बन्धन नही है, वरन् धनुष की चढी हुई डोरी की तरह उसकी शक्ति को बढाने वाले हैं। साधारण वाक्य से जो प्रवाह तथा प्रभाव नही व्याप्त होता, वह व्यवस्था से पैदा कर लिया जाता है। वे छन्द को एक स्वाभाविक प्रवृत्ति का कृत्रिम बन्धन मानते हैं। उनका विचार है कि भाषा का जो बोधात्मक पक्ष है, वह स्वयं लययुक्त रहता है। मनुष्य की लयात्मक प्रवृत्ति उसको और अधिक श्रुति-मधुर तथा प्रभविष्णुतामय बनाने के लिए ताल के ढग पर पद-विन्यास करती है तथा उससे वाछित स्वर-प्लावन करके, पद का निर्माण कर देती है। उनका विचार है कि छन्दो मे जहा तक लय का समावेश है, वह जीवन की चिरन्तन उद्भावना है।

मुक्त छन्दो के बारे मे उनका विचार है कि लय के आधार पर निश्चित प्रणाली के नए छद बनाए तो जा सकते है, पर छद के मूल तत्व, लय का बहिष्कार मानव-प्रकृति के विरुद्ध है। वे भावो की अभिव्यक्ति के लिए छदो की बंधी हुई योजना का होना उचित समझते है तथा लय के अवस्थान का विस्तृत तथा सकुचित होते रहना भी उचित मानते हैं। वे छंद शास्त्र को किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के लिए नही, वरन् काव्य-रचना की सुगमता के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि भिन्न-भिन्न छदो का व्यवहार जीवन-व्यापी भिन्न-भिन्न भावो तथा विचारो की अभिव्यक्ति को अनुकूल मार्ग देने के लिए है। वे समझते है कि कवि की प्रतिभा का निर्णय, भावो के उपयुक्त छद का चुनाव करने तथा उसका स्वाभाविक निर्वाह करने से होता है।

---

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त', पृ० ७६ ।

वे पन्त जी की भाति तुको के भी विशेष महत्त्व को मानते है। इसके सम्बन्ध मे उनका कथन है, "तुकान्त का प्रभाव भी कुछ ऐसा होता है कि चरण के मध्य की स्वर-भिन्नता को दबाकर अन्त मे स्वर को एक ताल पर बैठा देता है। हृदय की लयात्मक प्रवृत्ति से अन्त्यानुप्रास या तुकान्त का इतना सामजस्य है कि पदोच्चारण के पहले ही विवक्षित पदान्त की कल्पना से ही सम पर मस्तक झुक जाता है, सो नही कि पाठक या श्रोता थके मजदूर की तरह घर पहुच कर सर का बोझा धम्म से पटक देते हैं।"[1]

छायावाद के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि यह द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न हुआ था, पर उसकी कथावस्तु अक्षय और अव्यक्त की झाकी लेने के अतिरिक्त जीवन के किसी दूसरे क्षेत्र मे अवतरित नही हुई। छायावाद मे भावना क्षेत्र का तो विकास नही हुआ, किन्तु कल्पना को स्वच्छन्द गति अवश्य मिल गई। उनका विचार है कि इस काव्य मे भारतीय शास्त्र पद्धति की ध्वनि, रीति, रस, अलकार आदि को कल्पना के उन्मुक्त क्षेत्र मे दूसरे ही सुर ताल के साथ उपस्थित होना पडा।

प्रगतिशील काव्य के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि यह सामान्य जीवन के चित्रण को महत्त्व देता है। वे इसे विजातीय वस्तु नही, वरन् जीवन तथा काव्य का सामान्य लक्षण मानते हैं। उनका विचार है कि काव्य की सार्थकता जीवन के विविध अगो तथा रूपो को अपने भीतर समाविष्ट कर लेने मे है। प्रगतिवाद एक अग विशेष को, जो अब तक उपेक्षित रहा है, अपनाता है। वह आदर्शवाद की अपेक्षा यथार्थ को अधिक महत्त्व देता है। उनके विचार से इस प्रकार के सामाजिक साहित्य का उपयोग रूढि-ग्रस्तता तथा सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए किया जाता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—

'निराला' जी मूर्त्ति-प्रेम को काव्य कला का जन्म-दाता मानते हैं। वे उसी को बडा कलाकार मानते है, जो भावनापूर्ण, सर्वांग सुन्दर मूर्त्ति खीचने मे अधिकाधिक कृतविद्य होता है। उनके विचार से वही काव्य उत्कृष्ट है, जिसमे छोटे-छोटे चित्रो की अपेक्षा विराट् चित्रो का अधिक समावेश होता है।[2] उनका विचार है कि छोटे रूप की क्षणिक प्रभा मे स्थायी प्रभाव नही मिलता। वे मानते है कि काव्य कला—"केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलकार या ध्वनि की सुन्दरता नही, किन्तु इन सभी से सबद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है।"[3]

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त', पृ० १७०।

२ "काव्य मे साहित्य के हृदय को दिगन्त व्याप्त करने के लिए विराट् रूपो की प्रतिष्ठा अत्यन्त आवश्यक है।" 'प्रबन्ध पद्म' (स० १९९१), पृ० १६६

३ 'प्रबन्ध प्रतिमा' (स० १९९७), पृ० २७२।

वे काव्य विषय की इसी प्रकार से असख्य कलाए मानते हैं जैसे एक केन्द्र से खीची हुई असख्य रेखाए। उनके विचार से काव्य-कला सृष्टि के समान ही व्यापक तथा असख्य है। इस प्रकार वे वास्तव मे उच्च कोटि का पूर्ण काव्य वह मानते हैं, जिसमें सब अवयवो, भाषा, भाव, छन्द, रस, अलकार आदि की पूर्णता हो, एक अग मात्र की ही नही।[१] उनकी काव्य की विशेष व्यापक धारणा है। वे उमे सौन्दर्य की सृष्टि मानते है। उन्होने अपने विवेचन मे कला तथा काव्य का समान अर्थों मे प्रयोग किया है। वे काव्य को उसके विभिन्न तत्वो का मधुरतम परिणाम स्वीकार करते हुए भी उन तत्वो से उसे पृथक् नही मानते वरन् उस परिणाम का आधार मानते हैं। उनकी दृष्टि मे काव्य का आनन्द पूर्णत्व का आनन्द है, खण्ड का नही। वे किसी कविता का रस उसके पूर्ण स्वरूप मे मानते है खण्ड मे नही।[२] सूक्तियो और उद्देश्यो को तो वे कवि की कमजोरी मानते है। उनका विचार है कि "साधक जिस तरह विभूति मे आकर दृष्टि से अलग हो जाता है, कवि उसी तरह उपदेश करता हुआ कविता की दृष्टि से पतित हो जाता है। फिर भी नीतिया, सूक्तिया, उपदेश कविता मे प्रचलित हैं, कवि लिखते हैं।"[३]

'निराला' जी काव्य मे भाषा, भाव और छन्द तीनो की स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। उनका विचार है कि "भावो की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है।"[४] वे कहते है कि "बन्दिश वालो के बन्द मुक्त छन्द की होड मे नही टिक सकते।"[५] उनके विचार से मुक्त छन्द पढने और गाने योग्य दोनो प्रकार के होते है। पढने के मुक्त छन्द वर्ण वृत्त मे होते है तथा गाने के मात्रा वृत्त मे।[६] मुक्त छन्द मे भाव के साथ रूप सौन्दर्य पर भी ध्यान रक्खा जाता है तथा उसमे कोई कृत्रिमता नही रहती।

वे कवित्त छन्द मे पुरुषत्व, मौलिकता, सौन्दर्य, मन को उच्च परिस्थिति मे ले जाने की शक्ति, स्वर-विचित्रता आदि विशेषताए मानते हैं।[७] उनका विचार है कि स्वच्छन्द छन्द, व्यजन प्रधान है, उसमे कवित्व का पुरुष गर्व है तथा उसका सौन्दर्य गाने मे नही, वार्तालाप करने मे है। यह ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक सगीत पर नही चल सकता। इसकी सृष्टि कवित्त छन्द से हुई है। उनका विचार है कि मुक्त छन्द मे बाह्य समता नही है

---

१ "मैं लिख चुका हू, केवल रस, अलकार या ध्वनि कला नही। अगर है तो खडार्थ मे हैं, पूर्णार्थ मे नही।" प्रबन्ध पद्म, पृ० २९३।

२. "मेरी छोटी रचनाए और गीत प्राय ऐसे ही हैं, इनकी कला इनके सम्पूर्ण रूप मे है, खड मे नही।" वही, पृ० २८४।

३ 'प्रबन्ध प्रतिमा' (स० १९९७), पृ० २८४।

४ वही, पृ० २७०।

५ वही, पृ० २७०।

६. देखिए वही, पृ० २७।

७ देखिए 'प्रबन्ध पद्म' पृ० ८८।

वरन् उसके पाठ के प्रवाह से सुख तथा उच्चारण से मुक्ति की अबाध धारा का भाव प्राप्त होता है।[1] वे मुक्त काव्य मे स्वर का सयम नही मानते। उनके विचार से उसमे स्वर की लडी बराबर नही मिलती, केवल कविता की मूर्ति ही सामने आती है। इस प्रकार उन्होने काव्य के अन्त तथा बाह्य स्वरूप का गम्भीर विवेचन किया है।

सुमित्रानन्दन पन्त—

पन्त जी ने कविता के विवेचन के अन्तर्गत कविता की भाषा तथा छन्दो का विशेष विवेचन किया है। इस विषय मे उन्होने कुछ मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए है। उनका कविता सम्बन्धी विवेचन अधिकाश मे उनके निजी रचनात्मक काव्य की व्याख्या के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। उन्होने छायावाद तथा प्रगतिवाद पर भी अपने निजी विचार प्रगट किए है तथा उनका अपने दृष्टिकोण से विवेचन किया है। उन्होने काव्य की भाषा के शब्दो पर भी विचार किया है। वे काव्य मे ऐसे शब्दो का प्रयोग वाछनीय मानते है, जिनमे लिंग का अर्थ के साथ सामजस्य हो, क्योकि उनके विचार से, ऐसा न होने से उन शब्दो का ठीक-ठीक चित्र ही आखो के सामने नही आ सकता।[2] इसी कारण उन्होने व्याकरण की अवहेलना करके 'प्रभात' को स्त्रीलिग तथा 'बूद', 'कम्पन' आदि शब्दो को उभय लिंगो मे प्रयुक्त किया है। वाछित अर्थ के स्वाभाविक रूप को ग्रहण करने के लिए ही उन्होने 'मरुदाकाश' के स्थान पर 'मरुताकाश', 'अन्वेषण' के स्थान पर 'अन्वेषन' आदि शब्दो का स्वतन्त्र प्रयोग किया है। वे शब्दो को भावो की अभिव्यक्ति का साधन मानते है।

उन्होने काव्य के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग आवश्यक समझा है, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके तथा जिसकी शक्ति इतनी गम्भीर और व्यापक हो कि ससार के सब प्रकार के विषयो, सब देशो के वातावरणो, मानव जाति की सभ्यता के उत्थान तथा पतनो एव दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाज-नीति आदि सब को समा सके। उनका विचार है कि काव्य की भाषा का परिवर्तन समय के साथ-साथ होना चाहिए। वे काव्य की भाषा का भाव के साथ ऐक्य अथवा मैत्री आवश्यक समझते है तथा मानते है कि भाव और भाषा का सामजस्य तथा स्वरैक्य जब हो जाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो भाव ही भाषा मे घनीभूत हो गए हो। उन्होने लिखा है कि "जहा भाव और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नही

---

१. 'प्रबन्ध पद्म' (स०१९९१), पृ० ९३ ।

२. "वास्तव मे जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों मे बने हुए होते है, उनमे भाव तथा स्वर का पूर्ण सामजस्य मिलता है और कविता मे ऐसे ही शब्दो की आवश्यकता भी पड़ती है।" 'पल्लव' का विज्ञापन, पृ० ग ।

रहता, वहा स्वरो के पावस मे केवल शब्दो के 'बटु-समुदाय' ही दादुरो की तरह इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते है।"[1]

वे कविता की भाषा का प्राण राग मानते है तथा उसे ऐसी शक्ति और आकर्षण समझते है, जिसके विद्युत्-स्पर्श से खिचकर पाठक शब्दो की आत्मा तक पहुच जाते है। वे समझते है कि शब्दो की रागमयता का उनके व्याकरण की नियम-वश्यता से सामजस्य होने पर उनमें परिपूर्णता आ जाती है। वे कविता मे शब्द तथा अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता नही मानते। उनका विचार है कि वे दोनो ही भावो की अभिव्यक्ति मे डूब जाते हैं। वे भाषा के सुन्दर, विशिष्ट तथा अलकृत होने पर भी, कविता मे उसकी स्वतन्त्र सत्ता न मानकर, भावो को ही प्रमुख स्थान देते हैं। उनका विचार है कि काव्य मे एक-एक शब्द अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए भी एक दूसरे से परस्पर अन्योन्याश्रित रहता है।[2]

पन्त जी कविता तथा छन्द का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध मानते है। उनका विचार है कि कविता यदि प्राणो का सगीत है, तो छन्द उसका हृत्कम्पन है। वे कविता के स्वभाव को ही छन्द मे लयमान मानते है। उन्होने लिखा है कि "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणो की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सगीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणो से हमारा जीवन छन्द मे ही बहने लगता है, उसमे एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा सयम आ जाता है।"[3] वे छन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध भाषा के उच्चारण तथा उसके सगीत के साथ मानते है। उनका विचार है कि हिन्दी भाषा के सगीत का वार्णिक छन्दो की अपेक्षा मात्रिक छन्दो ही में स्वाभाविक विकास होता है।[4] वे समझते है कि वार्णिक वृत्तो से उसकी स्वाभाविकता छिन जाती है, उसमे कृत्रिमता आ जाती है तथा उसकी गति शिथिल और विकृत हो जाती है। उनका विचार है कि कवित्त मे वाणी का स्वाभाविक स्वर तथा सगीत का विकास रुका सा प्रतीत होता है, इसलिए उसकी पूर्ति अनुप्रासो तथा अलकारो की अधिकता से करनी पडती है। उनका विचार है कि कवित्त का राग व्यजन-प्रधान है तथा उसमे स्वर और मात्राओ के विकास के लिए स्थान नही है। भावना का रूप, स्वरो के सम्मिश्रण तथा उनकी मत्री पर ही निर्भर है, व्यजन-सगीत तो उसमे गौण स्थान रखता है।[5] वे छन्द

---

१ पल्लव, 'भूमिका' (सन् १९२६ ई०), पृ० २५ ।

२ देखिए वही, पृ० २७-२८ ।

३ देखिए वही, पृ० ३५ ।

४ "हिन्दी का स्वाभाविक सगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओ को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द मे बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने मे जितना काल तथा विस्तार मिलता है उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप मे भी साधारणत मिलता है, दोनो मे अधिक अन्तर नही रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है।" वही, पृ० ३५ ।

५ देखिए 'पल्लव', भूमिका (सन १९२६ ई०), पृ० ३७ ।

के राग को ध्वनि लोक की कल्पना मानते है। उनका विचार है कि जो कार्य भाव-जगत् मे कल्पना करती है वही शब्द-जगत् मे राग करता है तथा दोनो ही अभिन्न हैं।[1] वे समझते हैं कि भिन्न-भिन्न छन्दो की भिन्न भिन्न गति होने के कारण वे तदनुसार रस विशेष की सृष्टि करने मे सहायक होते है।

मुक्त छद के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता है कि इसमे भाव तथा भाषा का सामजस्य ध्वनि तथा लय पर चल कर पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। इसमे छन्द के चरण भावनानुकूल ह्रस्व तथा दीर्घ हो सकते है तथा इसका सा आन्तरिक ऐक्य तथा भावजगत् का साम्य, अन्य छन्दो मे नही होता। इसमे स्वाभाविक रूप मे छन्द के चरण घटा बढाकर काव्य को सम्बद्ध तथा सयमित किया जाता है, जिससे सतुलन बना रहता है। वे अन्य छन्दो की भाति मुक्त-काव्य की सफलता भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक सगीत की लय पर ही आश्रित मानते है।

उनका तुक के सम्बन्ध मे विचार है कि वह राग का हृदय है। वे मानते हैं कि जो शब्द छन्द की प्रमुख भावना का आधार स्वरूप होता है, उसी मे तुक अच्छा लगता है। उनकी धारणा है कि तुक वाला शब्द, वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण भाव को भली भाति हृदयगम कराने मे सहायक होता है।

प्रगतिवाद के जन्म के सम्बन्ध मे उनका मत है कि हिन्दी मे इसकी उत्पत्ति उस समय हुई जब छायावाद मे भविष्य के लिए उपयोगी तथा नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन-विचारो का रस नही रहा तथा वह एक ओर निगूढ, रहस्यात्मक, भाव-प्रधान और वैयक्तिक हो गया और दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया। वे प्रगतिवाद के दर्शन को ऐतिहासिक-भौतिकवाद कहते है, जो दर्शन और विज्ञान तथा मानव सभ्यता के अतर्बाह्य का ऐतिहासिक समन्वय है। वे ऐतिहासिक-भौतिकवाद तथा भारतीय अध्यात्म-दर्शन मे कोई विरोध नही समझते तथा दोनो के कल्याणकारी सास्कृतिक पक्ष को ग्रहण करते है। उनका विश्वास है कि मानवता एव सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना वेदान्त मे है, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन मे भी है। वे लिखते है कि "आधुनिक भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और आध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनो ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने मे सहायक होते है और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते है।"[2] उनका विचार है कि आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धान्तो का पक्षपाती है। वे काव्य मे कल्पना के सत्य को सबसे बडा सत्य मानते है तथा विचार और कला मे से

---

१ 'पल्लव भूमिका', (सन १९२६) पृ० ३९।
२ 'आधुनिक कवि' (स० २००३), पृ० ३५।

विचारो को प्राधान्य देते है। वे काव्य मे उपयोगितावाद के भी समर्थक हैं[1] तथा प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का पर्याय मानते है। इस प्रकार उन्होने भाषा, छन्द, तुक आदि के विवेचन के अतिरिक्त छायावाद तथा प्रगतिवाद पर भी अपने निजी मौलिक विचार प्रस्तुत किए है। उनका प्रगतिवाद का विवेचन पाश्चात्य तथा भारतीय चिन्तनधाराओ के आधार को लेकर चलता है, केवल पाश्चात्य-सिद्धान्तो पर ही आधारित नही है।

महादेवी वर्मा—

महादेवी जी ने कविता की परिभाषा, स्वरूप-व्याख्या, प्रक्रिया, लक्ष्य तथा अन्य कलाओ से उसके सम्बन्ध तथा स्थान का विवेचन किया है। उन्होने छायावाद की उत्पत्ति के कारणो का निर्देश करके उसकी प्राचीनता सिद्ध की है। उसके स्वरूप विवेचन मे उन्होने अन्य समकालीन आलोचको के विचारो का भी खण्डन किया है। इसी प्रकार उन्होने भारतीय रहस्यवाद का पाश्चात्य रहस्यवाद से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके भारतीय रहस्यवाद की निजी विशिष्टताए बताई है। उन्होने यथार्थ तथा आदर्श का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

महादेवी जी कविता को मनुष्य के बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भाव-क्षेत्र मे समान रूप से व्याप्त, सत्य की सहज अभिव्यक्ति का माध्यम मानती है।[2] उनका विचार है कि "काव्य कला का सत्य जीवन की परिधि मे सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।"[3] वे मानती है कि कविता बाह्य अनुशासनो का सहारा देकर जीवन को गति ही नही देती वरन् अन्तर्जगत मे ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देती है कि जिससे उसमे सामजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो जाती है। वे काव्य का प्रभाव बौद्धिक नही वरन् जीवन के सत्य को दूसरे के लिए सवेदनीय बनाकर प्रस्तुत करना मानती है। वे समझती है कि कवि बुद्धि द्वारा अन्तर का बोध करा कर एकता का निर्दश नही करता वरन् हृदय द्वारा मानव-हृदय की एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर सकेत करता है। उसका ज्ञान अनुभूतियो से रूप, कल्पना से रग और भावजगत् से सौन्दर्य पाकर साकार हो जाता है।[4] वे काव्य मे विषय की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने की शक्ति का अधिक महत्त्व मानती है।[5]

---

१ "अपनी युग परिस्थितियो से प्रभावित होकर मैं साहित्य मे उपयोगितावाद को प्रमुख स्थान देता हू। लेकिन सोने को सुगधित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।" 'आधुनिक कवि' (स० २००३), पृ० ३४।

२ देखिए 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' (प्रथम सस्करण), पृ० ५।

३ वही, पृ० ८।

४ देखिए वही, पृ० २१।

५ देखिए वही, पृ० ४०।

वे मानव हृदय की एकता को कविता का प्राण मानती हैं। उनका विचार है कि कविता मनुष्य के हृदय से निकलकर मनुष्य के हृदय तक जाती है। टाल्सटाय की भांति वे यह मानती हैं कि भाव सक्रामक होने के कारण सवेदनीय होने में ही अपनी सफलता रखते हैं।[१] उनका विचार है कि "कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाधती है। साहित्य के अन्य अग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उनमें सामजस्य की ऐसी परिणति होती है, न आयासहीनता। जीवन की विविधता में सामजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है, जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामजस्य पर स्थित है।"[२]

उन्होंने छायावाद को पूर्णतया नवीन युग की देन की अपेक्षा अतीतकाल का बालक माना है। उनके विचार से इसकी उत्पत्ति कविता के बन्धनों तथा सृष्टि के बाह्याकार के प्रति अधिक दृष्टिपात के विरोध में हुई थी। वे लिखती हैं कि " मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"[३] उनका विचार है कि छायावादी कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। उनका विचार है कि "बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सभाल सकी।"[४] उनका विचार है कि छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए हैं, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था। वे इसे अभिव्यक्तियों की विभिन्न शैलियों से भिन्न वर्ण का मानती हैं।

वे इस काव्य की भाव-धारा को मूलत नवीन नहीं मानती तथा प्रसाद जी की भांति उसका सम्बन्ध प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा साहित्य से जोड़ती हैं। इस प्रकार इनका मत शुक्ल जी के विपरीत पड़ता है, जो छायावाद को केवल नवीन शैली तथा पद्धति मात्र मानते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप तथा उसे सगिनी के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि उत्कृष्ट काव्यों से लेकर लोक-गीतों तक व्याप्त हो चुकी है। इसी प्रकार वे छायावाद की सांकेतिक

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' (प्रथम सस्करण), पृ० ५० ।
२. वही, पृ० ४८ ।
३. वही, पृ० ६० ।
४. वही, पृ० ६१ ।

शैली तथा स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को भी पाश्चात्य देन न मानकर भारतीय समझती है।[1] उनके विचार से छायावाद का मूल आधार भावात्मक सर्ववाद है।[2]

इनका विचार है कि छायावादी कविता स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियो, परम्परागत नियम शृंखला, यथार्थ चित्रण तथा रूढिगत आदर्श के विरोध मे उत्पन्न हुई तथा उसने सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति, नवीन-छन्द-बन्ध ध्वनि, वर्ण और अर्थ, प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य मे व्यक्त परोक्ष-सत्ता के आभास, प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता के आरोप, अभिव्यक्ति की विशेष शैली, सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, सवेदना की गहराई, कल्पना के सूक्ष्म रग तथा भावना की मर्म-स्पर्शिता आदि को अपनाया है।[3] वे छायावाद मे अस्पष्टता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायन वृत्ति अथवा अतीत और वर्तमान से सम्बन्धहीन अस्तित्व की अद्भुतता नही मानती है। उनका विचार है कि छायावाद ने किसी रूढिगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्त को नही अपनाया वरन् केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर हमे जागरूक कर दिया है। इसलिए वह यथार्थ रूप मे नही अपनाया गया। वे यह मानती है कि छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही रहा। उसे वे कविता के लिए आवश्यक भी नही समझती क्योकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन के अखण्ड रूप की भावना नही करा सकता तथा चिन्तन को एकागी बना देता है। वे मानती है कि जीवन की पूर्णता भावात्मक दृष्टिकोण ही दे सकता है। पलायन वृत्ति के सम्बन्ध मे भी उनके विचार मौलिक है। वे पलायन वृत्ति को न तो जीवन सग्राम की असमर्थता समझती है, न यह मानती है कि यथार्थ का सामना न कर सकने वाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है। उनका विचार है कि छायावाद के जन्म काल मे न तो मध्यम वर्ग की क्रान्ति थी, न आर्थिक प्रश्न उग्र था और न सामाजिक विपमताओ के प्रति क्षोभ ही अधिक था, जिससे कि छायावादी कवि सघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन करते।

छायावाद की ही भाति वे प्राचीन भारतीय काव्य मे रहस्यानुभूति का भी ऐसा क्रमवद्ध इतिहास देखती है, जैसा अन्यत्र कही नही मिलता।[4] उनका विचार है कि आधुनिक रहस्यवाद की प्रवृत्तियो के मूल रूप उपनिषदो की विचारधारा मे मिलते

---

१ "इसके अतिरिक्त हमारे यहा तत्व-चिन्तन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए एक सकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी।" 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' (प्रथम सस्करण), पृ० ९२।

२. देखिए वही, पृ० १००।

३ देखिए वही, पृ० ६५।

४. "प्रकृति के अस्तव्यस्त सौन्दर्य मे रूप प्रतिष्ठा, बिखरे रूपो मे गुण प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि मे एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त मे रहस्यानुभूति का जैसा क्रम-बद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।" वही, पृ० ११४।

है।[1] रहस्यवादियो के परमतत्व और आत्मा के बीच के माधुर्य-भाव-मूलक सम्वन्ध का भी आधार वे भारतीय साख्य-दर्शन ही मानती है।[2] उनका मत है कि भारतीय रहस्य भावना मूलत बुद्धि और हृदय की सन्धि मे स्थिति रखती है। वे लिखती है कि "रहस्यानुभूति भावावेश की आधी नही वरन् ज्ञान के अनन्त आकाश के नीचे अजस्र प्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्वदर्शक वौद्धिक तथ्य को हृदय का सत्य वना सके। वुद्धि जव अपनी हार के क्षणो मे थके स्वर मे कहती है—अविज्ञात विजानताम् (जानने वालो को वह व्रह्म अज्ञात है) तव हृदय उसकी हार को जय वनाता हुआ विश्वास भरे कण्ठ से उत्तर देता है—(तुम स्वय वही हो)"।[3] उनका विचार है कि पश्चिमी रहस्य भावना उस प्रकृतिवाद से सम्वन्ध रखती है, जिसमे प्रकृति का प्रत्येक अग सजीव और स्वतन्त्र स्थिति रखता है, किन्तु भारतीय रहस्यानुभूति मे प्रकृति की खडश सजीवता एक व्यापक परम तत्व की अखड सजीवता पर आश्रित रहती है, जो आत्मा का प्रेम है। वे हिन्दी के रहस्यवाद मे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो प्रभावो का मिश्रण मानती है।[4]

महादेवी जी काव्य मे यथार्थ तथा आदर्श को अन्योन्याश्रित मानती है। उनका विचार है कि " जीवन में वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नही केवल शव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नही, प्रेत मात्र है।"[5] वे आदर्श के सत्य को निरपेक्ष किन्तु यथार्थ के सत्य को सापेक्ष की सीमा मे वद्ध मानती है। उनका विचार है कि आदर्श व्यक्त होते ही यथार्थ की परिधि मे आ जाता है। वह हमारी दृष्टि को विखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि मे सीमित चेतना को समष्टि तक पहुचने की दिशा सुझाता है तथा हमारी खडित भावना को जीवन की विविधता नाप लेने मे समर्थ वनाता है। वे विज्ञान के यथार्थ से काव्य के यथार्थ को भिन्न मानती है, क्योकि यह सीमित सजीवता से भी व्यापक सजीवता तथा अखडता का परिचय देता है। वे प्रत्येक व्यक्ति को यथार्थवादी तथा आदर्शवादी मानती है। उनका विचार है कि यथार्थ 'जो है' को वताता है तथा आदर्श वह 'कसा होना चाहिए' के प्रश्न को उत्पन्न करता है। वे आदर्श को सम्भाव्य यथार्थ कहती है।[6] इस प्रकार महादेवी जी ने काव्य के स्वरूप-विवेचन के अतिरिक्त छायावाद,

---

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', (प्रथम सस्करण), पृ० १२३।

२. वही, पृ० १२६।

३ वही, पृ० १२८-१२९।

४. "हिन्दी काव्य मे रहस्यवाद वहा से आरम्भ होता है, जहा दोनो ओर के तत्वदर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नही, एक सीमित धरती पर भी साथ खडे हो सके।" वही, पृ० १३८।

५. वही, पृ० १९१।

६ वही, पृ० २०८।

रहस्यवाद, यथार्थवाद तथा आदर्शवाद पर अपने निजी विचार प्रकट करके उनके अन्तर्तत्वो का विश्लेषण किया है।

डा० रामकुमार वर्मा—

वर्मा जी ने काव्य की परिभाषा, प्रक्रिया, स्वरूप, शक्ति, छन्द तथा कवि के आवश्यक गुणो का विवेचन किया है तथा छायावाद और रहस्यवाद पर अपने विचार प्रकट किए है। वे कविता को कवि विशेष की भावनाओ का चित्रण समझते हैं। उनका विचार है कि यह चित्रण इतना तीव्र होता है कि उससे कवि के हृदय की भावनाए किसी दूसरे के हृदय मे आविर्भूत हो जाती है। वे कवि मे कल्पना, विशेष भावनाओ की अभिव्यक्ति की शक्ति तथा अनुभूति को महत्त्व देते है। उनका विचार है कि कविता मे जीवन की शक्तिया होने के कारण वह नीरस पदार्थ को सरस बना कर वस्तु-स्वभाव मे विशेष परिवर्तन कर सकती है।

वे कविता के लिए छन्द को नितान्त आवश्यक नही मानते। उनका विचार है कि यदि पक्तियो मे सम्बद्धता और नाद हैं, तो उनसे भी उत्कृष्ट कविता की रचना हो सकती है तथा सच्ची छायावादी कविता का भाव बिखरे हुए शब्दो मे भी सज्जित हो सकता है। वे कविता मे भाषा से अधिक भावो को महत्त्व देते है।

वे छायावाद को जीवात्मा की उस अर्तहित प्रवृत्ति का प्रकाशन मानते हैं, जिसमे वह दिव्य और लौकिक शक्ति से अपना शात और निश्चल सम्बन्ध जोडना चाहती है।[1] उनका विचार है कि जिस काव्य मे परमात्मा के सभी गुण, आत्मा मे प्रतिबिम्बित होने लगते है और आत्मा के गुण परमात्मा मे अथवा परमात्मा की छाया आत्मा मे पडने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा मे, उसे छायावाद कहते है।[2] उनका कथन है कि पुरुष या ईश्वर की छाया को जब कवि ससार के अगो मे वर्णन करता है तो उस वर्णन को छायावाद का नाम दिया जाता है।[3] वे छायावाद तथा रहस्यवाद को पर्यायवाची मानते है। उनका विचार है कि छायावादी कवि ससीम से असीम का अनुभव करता है।[4] वे सच्चे छायावाद की सफलता की चार बाधाए मानते है, अत्यधिक भावुकता, सत्य के सौन्दर्य मे भावात्मक कल्पनाए करना, कवि का सदैव आकाश मे ही उडते रहना तथा ईश्वर की सत्ता के सामने आत्मा की सत्ता को कुछ न समझना।

गुलाब राय—

गुलाब राय जी ने काव्य के स्वरूप-विवेचन और वर्गीकरण पर अपने विचार

---

१ 'साहित्य समालोचना' (१९४२), पृ० ११।
२ देखिए वही, पृ० ११।
३ देखिए वही, पृ० ११।
४ वही पृ० १४।

प्रकट किए है। वे अनुरूप तथा सुरम्य शब्दावली मे आनन्द की अभिव्यक्ति को काव्य कहते है।[1] उनके विचार से यह आनन्द की अनुभूति ससार के दृश्यो की तल्लीनता के द्वारा उत्पन्न होती है। वे काव्य का मूल आनन्द मे ही मानते है तथा उसके प्रभाव को भी आनन्दमय ही कहते है। उनका विचार है कि काव्य का आनन्द सत्वगुण प्रधान ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति के निकट ले जाता है। किन्तु उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है, क्योकि मनुष्य के हृदय को ससार के सभी दृश्य तल्लीन नही कर सकते और यदि वह सहृदयता के कारण इन दृश्यो मे तल्लीन होता भी है तो इस बात का क्या प्रमाण है कि उस तल्लीनता मे आनन्द ही हो। किसी दृश्य की तल्लीनता मे दुख अथवा वैराग्य, आश्चर्य, कौतूहल आदि भाव भी हो सकते है। यदि दृश्यो से उत्पन्न आनन्द ही शब्दो मे व्यक्त होकर बाहर आता है तो आन्तरिक आनन्द और काव्यानन्द एक ही है। गुलाब राय जी ने यह भी नही बताया कि उस आनन्द को बाहर आने की क्या विवशता है। किसी वस्तु से उत्पन्न दृश्य का आनन्द तथा कविता का आनन्द यदि पूर्णतया एक ही वस्तु हो तो प्रत्येक व्यक्ति, जो बाह्य वस्तुओ से आनन्दित होकर आनन्द की अभिव्यक्ति करता है, वह कवि है। इस प्रकार इनकी परिभाषा मनोविज्ञान के आधार पर पूर्ण नही उतरती।

वे दो प्रकार के काव्य मानते हैं, प्रगीत या लिरिकल तथा अनुकृत (इमीटेटिव)। प्रगीत मे आपबीती, भावात्मकता, प्रवाह, अन्तर्मुखी-वृत्ति तथा सगीतात्मकता होती है तथा अनुकृत मे जगबीती, बहिर्मुखी-वृत्ति तथा वर्णन की प्रधानता होती है। उनका विचार है कि जब जगबीती का वर्णन पद्य मे होता है, तो वह प्राय महाकाव्य होता है।[2] इसमे आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग की भावना का प्राधान्य होता है। इसका नायक जाति का नायक और प्रतिनिधि होता है। इनका अनुकृत काव्य वास्तव मे वर्णनात्मक काव्य ही है। प्रत्येक काव्य मे ही अनुकृति किसी न किसी रूप मे स्थित रहती है, इसलिए अनुकृत को पृथक् काव्य मानने का कोई युक्तियुक्त कारण नही है। यदि अनुकृत कोई काव्य होता है, तो वह दृश्य काव्य ही है। इस प्रकार इनका काव्य का वर्गीकरण विशेष सगत नही है।

शाति प्रिय द्विवेदी—

द्विवेदी जी ने कविता तथा सूक्ति का अन्तर प्रस्तुत करके काव्य के स्वरूप, कार्य, गुण, द्वन्द्व तथा उसकी कला का विवेचन किया है। उन्होने प्रकृत कवि तथा कविता के गुणो का निर्देश करके छायावादी तथा रहस्यवादी काव्य की विशेषताओ पर अपने विचार प्रकट किए है। वे रस-सयुक्त भावो को कविता का प्राण कहते है तथा सूक्ति का सम्बन्ध हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क से जोडते है। उनका विचार है कि सूक्ति

---

१. देखिए 'हिन्दी नाट्य विमर्श' (१९४२), पृ० २ ।

२. देखिए वही, पृ० ४ ।

चमत्कार प्रधान होती है तथा अनुरजन के साथ-साथ उपदेश भी देती है। कविता के स्वरूप के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "कविता हमारी भावनाओ का सुघरतम रूप है। ससार के कोलाहल से दूर हृदय के एकान्त मे जब हम अपने (आप) मे निमग्न होने लगते है, उस समय हम सरस हो उठते है और तब कुछ ऐसे भावमय उद्गार हमारे अतल से स्वयमेव निकल पडते है, जिनकी स्वर लहरी मे ससार का सम्पूर्ण वैषम्य वह जाता है एव हमारे तन, मन, प्राण एक असम भार से मुक्ति पाकर हल्के हो जाते है, हममे नई स्फूर्ति, नई ज्योति आ जाती है।"[1] वे कविता को हृदय की सास कहते है। उनका विचार है कि कविता का कार्य अनुभूति को प्रेषित करना है तथा वे प्रकृत कवि उसी को समझते है, जो वाह्य ससार को देख कर उस पर अन्तस्तू-लिका से काव्यत्व का निर्मल रग चढा देता है। उन्होने द्विवेदी जी की भाति कविता मे सरलता, अलकारविहीनता तथा आडम्बरहीनता को अच्छा समझा है।

वे काव्य को सम्पन्न बनाने वाली तीन वस्तुए, विभूति, श्री तथा ऊर्ज को मानते हैं। विभूति मे विविध भावो का विपुल विस्तार, श्री मे कोमल कान्त पद-माधुरी, ऊर्ज मे पौरुष का ओज रहता है।[2] इसी प्रकार काव्य के अन्तर्गत वे उसकी अनुभूति के भी तीन स्वरूप मानते है, भावना, चिन्तना तथा प्रभूति। प्रभूति को वे अनुभूति का पुजीभूत विशद् रूप मानते है। इन्ही तीन का सम्बन्ध वे सत्य, शिव, सुन्दरम से समझते हैं। उनके विचार में सुन्दरम् का सम्बन्ध भावना से, सत्यम् का चिन्तना से तथा शिव का सम्बन्ध प्रभूति से है। वे भावो को मनोरम रूप मे उपस्थित करने के लिए काव्य मे कला की आवश्यकता मानते हैं, जिसके बाह्य-उपकरण शब्द, छन्द, शैली तथा कल्पना हैं।

छन्दो के सम्बन्ध मे उनका विचार हैं कि सगीत मे जो काम ताल का है, काव्य मे वही काम छन्द का। शब्द यदि भावो मे सास भरते है तो छन्द भावो को गति देते हैं। किस गति के लिए किस छन्द की उपयुक्ता है, इसके लिए रस-विदग्धता चाहिए, तभी छन्दो का रसानुकूल निर्वाह हो सकता है।"[3] उनका विचार है कि शब्द से लेकर रस तक काव्य मे प्रवाह की एक लडी सी बधी रहती है—शब्द छन्द को अग्रसर करते हैं, छन्द भाव को और भाव रस को।

उनका विचार है कि छायावादी काव्य शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को परिपुष्ट करता है,[4] पार्थिव विश्व को आत्मिक मनोभावो से मनोहर बनाने का उपक्रम करता है,[5] विषय की इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर जीवन स्पर्शिता को

---

१. 'कवि और काव्य' (१९३६), पृ० २२।
२. देखिए वही, पृ० ५।
३. देखिए वही, पृ० ७।
४. देखिए वही, पृ० १४४।
५. देखिए वही, पृ० १४७।

ग्रहण करता है,[1] स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म प्राण से सम्बन्ध रखता है,[2] तथा विश्व की समग्र सृष्टि के साथ कवि हृदय का एकात्म करता है। वे छायावादी कविताओ को—द्विवेदी जी तथा पद्मसिंह शर्मा की भाति अस्पष्ट नही समझते। उनका विचार है कि "वे अस्पष्ट कविताए वस्तुत अस्पष्ट नही होती, हम अपने हृदय को कवि की तत्कालीन परिस्थिति मे रख कर उन कविताओ पर दृष्टिपात नही करते, इसलिए वे अस्पष्ट जान पडती है।"[3] कविता मे आत्मानुभूति तथा मर्म-स्पर्शिता की आवश्यकता मानते हुए भी वे उसकी अस्पष्टता को उसका गुण ही मानते है, यदि वह अपनी सीमा मे रहे।

वे रहस्यवाद को छायावाद से आगे की चीज मानते है। उनका विचार है कि "छायावाद मे यदि एक के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद मे आत्मा का परमात्मा के साथ। एक मे लौकिक अभिव्यक्ति है, दूसरे मे अलौकिक।"[4] वे निखिल सृष्टि मे एक परोक्ष सत्ता के आभास को रहस्यवाद कहते है।[5] उनके विचार से दर्शन तथा रहस्यवाद मे हृदय तथा मस्तिष्क का अन्तर है।

डा० नगेन्द्र—

नगेन्द्र जी ने भी अन्य समकालीन आलोचको की भाति काव्य के विभिन्न तत्व, उत्पत्ति, काव्य रचना के कारण आदि विषयो के विवेचन के साथ-साथ छायावाद, रहस्यवाद, तथा प्रगतिवाद के आधार, उत्पत्ति, स्वरूप आदि पर विचार प्रकट किए है। उन्होने गीतिकाव्य के स्वरूप का भी विश्लेषण किया है। इनके विचार पाश्चात्य साहित्यालोचन तथा मनोविज्ञान, शास्त्र आदि से विशेष रूप से प्रभावित है। उनका विचार है कि मनुष्य के लिए कविता इसलिए अधिक प्रिय रही है कि वह उसके ममत्व की भूख को मिटाने मे सब से अधिक समृद्ध है और उसके राग-द्वेषो का सबसे सुन्दर प्रतिबिम्ब है। वे कविता के तीन तत्व मानते है, राग, कल्पना और विचार तथा इन मे से भी राग का प्राधान्य मानते है।[6] वे कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीडा, दोनो का सयोग अनिवार्य समझते हैं। उनका विचार है कि अभाव की पीडा मे जब कवि को माधुर्य की अनुभूति होने लगती है तभी उसके मानस मे कविता की उत्पत्ति होती है।

---

१ देखिए 'कवि और काव्य' (१९३६), पृ० १४७ ।
२ देखिए वही, पृ० १४२ ।
३ देखिए वही, पृ० १६६ ।
४ देखिए वही, पृ० १४९ ।
५ देखिए वही, पृ० १५० ।
६ देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४०), पृ० १३२

नगेन्द्र जी ने मनोविज्ञान के आधार पर यश और अर्थ को कवि की काव्य-रचना का प्रेरक नही माना है। उनका विचार है कि कवि इन दो कारणो से तभी कविता लिखने को प्रेरित हो सकता है जब उसमे रसपूर्ण कविता लिखने की शक्ति वर्तमान हो। उनका विचार है कि यश और अर्थ ही काव्य रचना के प्रेरक नही हो सकते। ये कवि को लिखने की प्रेरणा तो दे सकते हैं, परन्तु रस सृष्टि करने की प्रेरणा इनसे नही मिल सकती। वे समझते है कि प्राचीन आचार्यो ने केवल कवि के कर्म के बाह्य रूप की व्याख्या अधिक की है, क्रिया मे सलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नही किया है।

वे स्थूल के प्रति सूक्ष्म, उपयोगितावाद के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य और काव्य के बन्धनो के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टेकनिक के विद्रोह को छायावाद का आधार मानते है। उनका विचार है कि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता के विरुद्ध स्वातन्त्र्य, भावयोग, अनेकरूपता, कल्पना और विद्रोह के तत्वो ने जो नवीन जाग्रति उत्पन्न की थी, उसको विद्वानो ने उपहास करने के लिए 'छायावाद' का नाम दिया था।[1] वे पूर्वकालीन आलोचको की भाति रहस्यवाद को छायावाद का पर्याय मानने की अपेक्षा एक अग मात्र मानते हैं। अग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी पुनरुत्थान की भाति उन्होने इस काव्य की नीव, सौन्दर्य तथा अद्‌भुत के मिश्रण पर स्थित मानी है। इसमे प्रकृति का-चित्रण, उसमे एक सवेदनशील हृदय मान कर किया जाता है तथा इसके आलम्बन, अवतार या ऐश्वर्यशील व्यक्ति की अपेक्षा साधारण मानव होते है। वे इस काव्य मे वर्तमान के प्रति असतोष, दूरवर्ती धुधले रहस्यपूर्ण पुरातन के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान की भावना, उन्मुक्त आत्माभिव्यजना, व्यक्तिगत रागविराग की निस्सकोच अभि-व्यक्ति, नैतिक बन्धनो के प्रति विरोध, मानसिक स्वातन्त्र्य की स्थापना, करुणा की धारा का समावेश, भौतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया तथा रहस्य की प्रवृत्ति मानते है। छाया-वादी कविता के कलापक्ष की विशेषताओ मे वे इसकी लाक्षणिक शक्ति, व्यजना-शक्ति, चित्रमयता, कल्पना, वक्रता, सगीत, गति, लय, ताल तथा ग्राम-गीतो के आधार पर निर्मित नवीन छन्द के अतिरिक्त अग्रेजी के विशेषण-विपर्यय, ध्वनि-चित्रण, मानवीकरण आदि के समावेश का उल्लेख करते है।

वे अग्रेजी आचार्यो की भाति भाव को गीति-काव्य की आत्मा मानते है। यह भाव किसी प्रेरणा से दब कर एक साथ गीत मे फूट निकलता है। उसमे हार्दिक एकसूत्रता (स्पोन्टेनिटी) तथा सुगठितता रहती है।[2] उनका विचार है कि गीत की तीव्रता और वेग कवि की प्रकृति के अनुसार होता है। इसका विस्फोट क्षणिक तथा अस्थायी होता है, इसलिए ये शुद्ध गीतिया छोटी होती है। वे चिन्तन तथा आलकारिकता को गीतिकाव्य के रस मे बाधक मानते हैं।

---

१ देखिए 'सुमित्रानन्दन पन्त' (२००३), पृ० २-

२. देखिए वही, पृ० ३३।

उन्होने प्रगतिवाद का जन्म छायावाद की पलायन वृत्ति तथा अमूर्त्त उपासना के विरुद्ध माना है। वे मानते है कि प्रगतिवाद जीवन को प्रगति का पर्याय तथा भौतिक जीवन की साधना को जीवन का मुख्य ध्येय मानता है। वह जीवन मे साम्य को ढूँढता है तथा धनपति सामत आदि का विरोधी है और शोपितो तथा पीडितो के प्रति सहानुभूति रखता है। वे इसके मूल्यो का केवल एक ही माप—जनहित—मानते हैं। उनका विचार है कि प्रगतिवाद उस आधीन जन-सस्कृति का विरोधी है, जिसके द्वारा जनता का शोपण और धनपतियो की वृद्धि होती है। वह भौतिक समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करता है, जीवन की व्याख्या भावो की अपेक्षा वृद्धि के द्वारा करता है, किसी वस्तु को निरपेक्ष रूप मे (अर्थात् अपने व्यक्तित्व को सर्वथा पृथक् रख कर) देखता है, पुरानी सौन्दर्य कल्पनाओ को छोड वस्तु-जगत् की सत्यता को ही अपने काव्य का उपकरण वनाता है तथा किसी विशेप प्रकार की भापा या टेकनीक को नही मानता।[1]

अज्ञेय—

'अज्ञेय' जी काव्य की व्याख्या के साथ काव्य की प्रेपणीयता की समस्या पर भी विचार करते हैं। उन्होने इलियट के विचारो का समर्थन तथा रिचार्ड के अभिव्यक्ति सम्बन्धी मत का विरोध किया है। उन्होने इलियट की परम्परा सम्बन्धी धारणा को भी मान्यता दी है। उन्होने अन्य आलोचको की भाति प्रगतिवाद की व्याख्या नही की है वरन् उसके सिद्धान्तो का तर्क-पूर्ण खडन किया है।

वे कविता को ही कवि का परम वक्तव्य मानते है। इसलिए यदि उसमे व्याख्या करने की आवश्यकता पडे तो वे उसमे पूर्णता का अभाव समझते है। वे मानते हैं कि काव्य का सत्य जितना ही व्यापक होता है, उतना ही उत्कर्पकारी भी होता है। वे आधुनिक कविता की सव से वडी समस्या व्यक्ति के सत्य को उसकी सम्पूर्णता मे समष्टि तक पहुचाना मानते है। उनका विचार है कि आज की भापा मे समाज के विस्तार के अनुरूप व्यापकत्व नही है। इसलिए वह अपनी उलझी हुई सवेदना की सृष्टि को पाठको तक अक्षुण्ण रूप मे पहुचाने के लिए भापा की क्रमश सकुचित होती हुई सार्थकता की कैंचुल फाड कर उसमे नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है, जिससे उसका व्यक्ति-सत्य व्यापक सत्य वन सके।[2] उनका यह विचार कि कवि अपनी उलझी हुई सवेदनाओ को ही अभिव्यक्त करता है, हमारे विचार से दोपपूर्ण है। काव्य की रचना प्रक्रिया यह है कि वह पहले इन उलझी हुई सवेदनाओ का मानसिक स्पष्टीकरण तथा सुलझाव करता है, तव उसे स्पष्ट रूप मे व्यक्त करता है। स्पष्टता तथा मूर्त्तता काव्य के अनिवार्य तत्व हैं। इसलिए उलझी हुई सवेदनाओ के लिए उलझे हुए या टूटे हुए प्रतीक भी विशेष आवश्यक नही है।

---

१. देखिए 'साकेत. एक अध्ययन' (सन् १९४०), पृ० २६।
२. देखिए 'तारसप्तक', पृ० ७५।

वे कविता का स्वान्त. सुखाय लिखा जाना भी नही मानते। उनका विचार है कि आत्माभिव्यक्ति के लिए भी ग्राहक या पाठक या श्रोता की आवश्यकता होती है। वे रिचार्ड की भाति यह नही मानते कि मानस-जगत् मे ही अभिव्यक्ति तथा ग्राहक उपस्थित रहते है। उनके विचार से भावाभिव्यक्ति करने वाला व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड, ग्रहण करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड से पृथक् है।

वे इलियट की भाति काव्य-कला के भावो और व्यक्तिगत भावो का पार्थक्य अनिवार्य मानते है तथा समझते है कि पाठक के लिए कवि या साहित्यकार का महत्त्व उसकी निजी भावनाओ के कारण नही है वरन् उसकी रचना करने की क्रिया की तीव्रता के कारण है। वे मानते है कि "वास्तव मे काव्य मे कवि का व्यक्तित्व नही, वह माध्यम प्रकाशित होता है, जिसमे विभिन्न अनुभूतिया और भावनाए चामत्कारिक योग मे युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नही, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।" उनका विचार है कि कलाकार का मन एक भण्डार है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतिया, शब्द, विचार, चित्र, उस क्षण की प्रतीक्षा मे एकत्रित होते रहते है जब कि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चामत्कारिक योग नही उत्पन्न होता।[२] वे कविता की श्रेष्ठता उसमें वर्णित भाव की श्रेष्ठता मे नही वरन् उस रासायनिक क्रिया की तीव्रता मे मानते है, जिनके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते है और चमत्कार उत्पन्न करते है। यह रचनात्मक या रासायनिक क्रिया चेष्टित या आयासपूर्ण नही वरन् स्वय चामत्कारिक होती है।

वे काव्य के भावो को निर्वैयक्तिक मानते है। उनका विचार है कि कवि इन निर्वैयक्तिक भावो का ग्रहण तथा आयासहीन-अभिव्यजना तभी कर सकता है, जब वह व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकल कर एक महानतर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके और उसकी अभिव्यक्ति वर्तमान की ही नही वरन् त्रिकाल की भी हो। इसीलिए वे परम्परा को वर्तमान के साथ अतीत की सम्बद्धता तथा तार-तम्य कहते है। उनका विचार है कि कवि, अतीत या रूढि द्वारा उतना ही नियमित होता है, जितना कि वह स्वय उसे परिवर्तित अथवा परिवर्धित करता है। वह अपने आप को परम्परा से विच्छेद नही कर सकता केवल उसके आगे जोड सकता है।

वे प्रगतिवाद का सिद्धान्त साहित्य-सृष्टि की अपेक्षा राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र मे ही मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्य, चिरन्तन, शाश्वत और आत्यन्तिक हैं तथा उसमे किसी प्रकार की प्रगति नही होती वरन् गति ही होती है। प्रगति तो नीतियो और रूढियो के समान सापेक्ष्य तथा अचिर है। जो आज प्रगति है, कल

---

१ 'त्रिशकु' (सन् १९४५), पृ० ३८।

२ "काव्य का 'रस' कवि मे या कवि के जीवन मे या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति मे, या किसी शब्द विशेष मे नही है, वह काव्य-रचना की चामत्कारिक तीव्रता मे है।" वही, पृ० ४१।

प्रतिगति हो सकती है। वे प्रगतिवादियो की भाति किसी एक दिए हुए ढाचे पर साहित्य अथवा काव्य का निर्माण करने या कराने की आशा को भ्रामक मानते है। साहित्य जिस विशेष परिस्थिति में पैदा होकर जैसा होता है, उसके अतिरिक्त कुछ और हो ही नही सकता। उनका विचार है कि साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति मे कार्य-कारण-परम्परा जोडने की वृत्ति है।[१]

शिवदान सिह चौहान—

चौहान जी ने छायावादी कविता का वर्ग-भेद के आधार पर विवेचन किया है। वे छायावादी काव्य को पूजीवाद की कविता मानते है। उनका विचार है कि छायावादी कवि पूजीवादी होकर भी चिर-विद्रोही तथा चिर-अधीन है तथा उसकी कविता असतोष और प्रगतिवाद के भावो से ओतप्रोत है। उनका कथन है कि "कविता सत्य के एक नूतन कल्पनात्मक ससार की रचना करती है और इस कल्पनात्मक ससार के विशिष्ट गुणो के साथ हमारा भावात्मक तादात्म्य उपस्थित करती है। इस कल्पनात्मक ससार से हमारा सम्बन्ध अन्त प्रेरणाओ द्वारा नही होता वरन् आर्थिक, सामाजिक जीवन की आवश्यकताओ की चेतना द्वारा होता है। इस कल्पनात्मक ससार की सृष्टि सामूहिक अनुभूति के आधार पर होती है।"[२] वे समझते है कि पूजीवादी समाज की वास्तविकता ने छायावादी कवियो को इतना अहवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि यह पूजीवादी सत्ता के विरोध तथा असतोष का अस्त्र भी फेक चुके है तथा वर्तमान शासक वर्ग और आधुनिक समाज के सम्बन्धो की ही अभिव्यक्ति करते है।[३] इस प्रकार वे छायावादी कविता में असतोष की भावना की प्रधानता मानते है। उनका विचार है कि छायावादी कवि के सौन्दर्य के मूल्य व्यापक होकर भी सीमित है तथा सघर्षरत मानवता के सौन्दर्य-मूल्यो का प्रतिनिधित्व नही करते।[४]

गगा प्रसाद पाण्डेय—

पाण्डेय जी ने काव्य के स्वरूप तथा उद्देश्य पर अपने विचार प्रकट किए है। वे काव्य की पूर्णता सुन्दरता मे नही वरन् शिव और सत्य मे मानते है। वे कविता का उद्देश्य एक ऐसा सदेश देना समझते है कि जिसे पढ कर लोग निराशा मे आशा, एकान्त मे ज्ञान, भय में धैर्य धारण करे और उसकी सहायता से अपने जीवन-युद्ध मे

---

१ त्रिशकु (१९४५), पृ० ७८।

२ 'आधुनिक हिन्दी काव्य' (सन् १९४०), पृ० १४२।

३. देखिए वही, पृ० १६७।

४. देखिए, वही, पृ० १६०।

सफलता प्राप्त कर सुखी और प्रसन्न हो।[1] वे कविता का सम्बन्ध सत्य तथा लोकहित से अनिवार्य रूप मे मानते हैं। उनका विचार है कि कवि का उद्देश्य समाज की बुरी प्रवृत्तियो को दबाना और उसे ऊचे उठाकर एक उच्च आदर्श की ओर प्रेरित करना है।[2] वे उसी को सत्काव्य मानते है, जो उपयोगिता, आवश्यकता तथा परिस्थिति-विशेष से ऊचा उठकर वस्तु के सौन्दर्य द्वारा आत्मतृप्ति प्रदान करता है। वे प्रगतिशील कविता उसे कहते है, जिसमे अपने युग का सदेश तथा साहित्य के सभी वाछनीय गुण अपने ढग तथा साहित्यिक रग के साथ आ जाते हैं। वे उन्नति, प्रगतिशीलता तथा मानवता के चिरन्तन प्रवाह को ससार का सत्य मानते है और उनका विचार है कि यह सत्काव्य मे विद्यमान रहता है।

इन आलोचको के अतिरिक्त कुछ अन्य आलोचको ने भी कही-कही काव्य, रहस्यवाद तथा छायावाद पर अपने विचार प्रकट किए है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने समस्त नूतन प्रणाली की रचनाओ को छायावाद कहा है। विशेष रूप मे वे उस काव्य को छायावाद कहते है, जिसमे अचिन्तनीय तथा अव्यक्त परमात्मा की ससार मे सत्ता के प्रतिबिम्ब के आधार पर, उसके विषय मे कुछ सोचा विचारा जाता है।[3] वे उसे प्राचीन रहस्यवाद का ही आधुनिक सस्करण मानते है।[4] उनका विचार है कि छायावादी कविता की सरस-ध्वनि, व्यजना तथा कोमल-कान्त-पदावली ने ही खडी बोली की कर्कशता को दूर किया है। वे इसके दोषो मे जटिलता, वस्तु-बोधगम्यता तथा हृदय-स्पर्शिता का अभाव और देश, जाति और समाज की उपेक्षा का भाव मानते है।[5] सद्गुरु शरण अवस्थी का शुक्ल जी के समान विचार है कि छायावाद का सम्बन्ध अभिव्यजना की विचित्रता और दुरूह भाव-व्यजना से तथा रहस्यवाद का सम्बन्ध सीधे वस्तु-विधान से है।[6] उनका विचार है कि रहस्यवाद बिना छायावाद के सहारे भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। वे दोनो को काव्य के पृथक्-पृथक् रूप मानते है।

इसी प्रकार पदमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व साहित्य' नामक पुस्तक मे पाश्चात्य काव्य का परिचय देते हुए काव्य की उत्पत्ति का यह कारण बताया है कि मनुष्य क्योकि अपने ज्ञान के रूप को सीमित नही देखना चाहता, इसलिए बुद्धि के काम न करने पर कल्पना का आश्रय लेता है तथा इसी से काव्य की उत्पत्ति होती है।[7] वे

---

१ देखिए 'काव्य कलना' (सन् १९४१), पृ० ५।
२ देखिए वही, पृ० २।
३ देखिए 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' (प्रथम सस्करण), पृ० ५८३।
४ देखिए वही, पृ० ५८७।
५ देखिए वही, पृ० ५९४।
६. देखिए 'विचार विमर्ष', ले० सद्गुरुशरण अवस्थी (सन् १९४०), पृ० ३५
७ देखिए 'विश्व साहित्य' (तृतीय सस्करण), (स० २०१०), पृ० ७०।

कवि को काव्य से पृथक् नहीं मानते, क्योंकि उनके विचार से कवि का जीवन काव्य नहीं है, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है।[1]

नरेन्द्र शर्मा प्रगतिशील कवि ने प्रतिकूल वस्तु-स्थिति को बदलने की सक्रिय शक्ति, जर्जर संस्कारों का विनाश करने की साध तथा नवीन-निर्माण करने की लगन को अनिवार्य समझते हैं। उनका विचार है कि यह तभी सम्भव है, जब इस में सामाजिक स्थिति को समझकर ग्रहण कर सकने की शक्ति हो।[2]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आधुनिक आलोचकों ने काव्य के स्वरूप का विवेचन परम्परागत रूप में शब्दार्थ, रमणीयार्थ, गुण तथा अलंकारयुक्तता, रस, ध्वनि, व्यंजना, दोषहीनता, आदि तत्वों के आधार पर न करके, नवीन रूप में किया है। इन्होंने प्राय. भारतीय साहित्यालोचन का ही पाश्चात्य-साहित्यालोचन के सदर्भ में विकास प्रस्तुत किया है। इनकी परिभाषाएं प्राय. मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषाओं का विस्तार, संशोधन, प्रसार, स्पष्टीकरण, वैज्ञानिक निरीक्षण तथा दार्शनिक विवेचन मात्र हैं। इन्होंने पाश्चात्य काव्य के लक्षणों को मूल रूप में कहीं स्वीकार नहीं किया है। इन पर पाश्चात्य-साहित्यालोचन का प्रभाव काव्य के स्वरूप-विवेचन की अपेक्षा काव्य-रचना की प्रक्रिया के विवेचन पर अधिक पड़ा है, क्योंकि प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र में तो इस समस्या पर विचार ही नहीं किया गया था। इनमें तो केवल दृश्य-काव्य के प्रसग में साधारणीकरण की समस्या पर ही विचार हुआ था, सामान्य काव्यानन्द की समस्या पर नहीं।

द्विवेदी जी ने प्राचीन लक्षणों में प्रयुक्त शब्द या वाक्य के स्थान पर किसी मनोरंजक लेख तथा प्रभावोत्पादक वक्तृता को काव्य कहा है। शुक्ल जी आचार्यों के शब्द तथा वाक्य के स्थान पर 'वाणी' अथवा 'शब्द-विधान' शब्द का प्रयोग करते हैं तथा अर्थ के स्थान पर रस का। वे कविता को मनुष्य के हृदय की मुक्ति अथवा रस दशा की साधना का वाणी द्वारा किया गया शब्द-विधान मानते हैं। इस प्रकार वे काव्य में रस को ही लक्ष्य मान कर विश्वनाथ की परिभाषा का ही विकास करते हैं। इसी आधार पर उन्होंने सूक्ति और काव्य का भेद भी व्यक्त किया है। श्याम-सुन्दर दास जी भी मम्मट की ही परिभाषा का स्पष्टीकरण करके भाषा तथा भाव दोनों के अभिन्न रूप को काव्य कहते हैं। प्रसाद जी भी काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति तथा श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा कहकर काव्य में रस की ही महत्ता मानते हैं। इसी लिए वे काव्य को आध्यात्मिक तथा काव्यानन्द को अलौकिक कहते हैं। वाजपेयी जी भी काव्य में बहिरंग तथा अन्तरग का समन्वय मानकर मूलतः शब्द तथा अर्थ के समन्वय पर ही जोर देते हैं। मिश्र जी पंडितराज की भांति रमणीयता को काव्य का प्रधान तत्व मानते हैं। सुधांशु जी काव्य के मूल में सुख दु:ख

---

१. देखिए 'विश्व साहित्य', (सन १९४०) पृ० १२० ।

२. देखिए 'मिट्टी और फूल' (सन् १९४२), निवेदन, पृ० २ ।

के मनोविकारो को मान कर प्रकारान्तर से उसमे भाव तथा रस की ही प्रतिष्ठा करते है। निराला तथा अज्ञेय भी काव्य के पूर्णत्व के आनन्द को मानकर शब्द तथा अर्थ, भाषा तथा भाव के समन्वयात्मक रूप तथा रस की ही ओर सकेत करते है। महादेवी जी काव्य को ज्ञान तथा भाव के क्षेत्र मे फैले सत्य की अभिव्यक्ति कहकर, भाव अथवा रस की ही ओर सकेत करती है। इस प्रकार प्राय इस युग के सभी आधुनिक आलोचको ने काव्य के स्वरूप विवेचन मे भारतीय काव्य-शास्त्र का मूल आधार ग्रहण किया है।

किन्तु कुछ आलोचको पर पाश्चात्य-साहित्यालोचन का भी कुछ अशो मे प्रभाव पडा है। रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि के विपरीत श्यामसुन्दर दास, महादेवी, निराला, सुधाशु आदि काव्य को पाश्चात्य मतानुसार कला मानते है। इसके अतिरिक्त श्यामसुन्दर दास जी ने मैथ्यू आर्नल्ड की भाति कविता को जीवन की व्याख्या माना है, द्विवेदी जी ने मिल्टन के गुण, सादगी, असलियत तथा जोश और वर्ड्स्वर्थ के भाषा की सादगी के सिद्धान्त को अपनाया है, प्रयोगवादियो ने परम्परावाद, बिम्बवाद, अन्तश्चेतनावाद तथा प्रगतिवादियो ने मार्क्स-वादी विचारधारा को अपनाया है।

इन आलोचको के विचार से कविता की प्रमुख विशेषताए, प्रभावोत्पादकता, मनोरजकता, यथार्थता, स्वाभाविकता, परिवर्तनशीलता, अनियत्रितता, नवीनता, सरसता, हृदयस्पर्शिता, सौन्दर्य-पूर्णता, मधुरता, विषय की महत्ता, नैतिक शक्ति का समावेश, विचारो की गहनता, स्पष्टता, अनुभूतियो की सच्चाई आदि है। इन्होने काव्य-रचना की प्रक्रिया मे योग देने वाले बिम्ब-ग्रहण, मूर्त्त-विधान, अनुभूति, कल्पना, भाषा, सोन्दर्य आदि तत्वो के विवेचन के साथ-साथ अनुभूति की प्रेषणीयता तथा काव्य-बोध की समस्या पर भी विचार प्रकट किए है। इन्होने पाश्चात्य साहित्यालोचन के विभिन्न वादो, मतो तथा सिद्धान्तो पर भी विचार प्रकट कर के, उनमे से कुछ को मान्यता दी है तथा कुछ का बहिष्कार किया है। शुक्ल जी ने फ्रायड के स्वप्न तथा काम सिद्धान्त तथा क्रोचे के अभिव्यजनावाद, मिश्र जी ने अनुकृति के सिद्धान्त, प्रसाद जी ने हीगल के कला के सिद्धान्त तथा क्रोचे के मत की आलोचना की है।

भारतीय आचार्यो ने कविता मे केवल शब्द तथा अर्थ की ही व्याख्या की हैं। उनके इस अर्थ शब्द मे भाव भी समाहित है। उन्होने अर्थ के विषय मे उसके रमणीय होने का तो विवेचन किया है किन्तु भाव का कविता के सम्बन्ध मे ऐसा विस्तृत तथा व्यापक विवेचन नही किया है, जितना रस के सम्बन्ध मे। पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे भावो तथा मनोविकारो का विवेचन कलात्मक आनन्द या रस की अपेक्षा कविता की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है। वहा अर्थ का विवेचन अधिक नही हुआ है। हिन्दी के इन आलोचको ने भी कविता के सम्बन्ध मे भावो का विवेचन विशेष रूप से किया है। द्विवेदी जी ने कविता का प्राण ही अर्थ-सौरम्य माना है। प्रसाद तथा मिश्र जी काव्य मे भाव को सौन्दर्य से ऊपर मानते है। महादेवी जी कविता के भावो मे टाल्सटाय की भाति सक्रामकता तथा सवेदनीयता का गुण मानती हैं।

इन आलोचकों ने काव्य की मानसिक रचना-प्रक्रिया के मूलभूत तत्व अथवा काव्य के स्वरूप के प्रमुख अंग के रूप में 'कल्पना' का विवेचन किया है। इन्होंने कल्पना को काव्य की भूमि अथवा अन्तःकरण माना है। इनका विचार है कि इसके द्वारा ही जीवन का प्रत्यक्ष सौन्दर्य परोक्ष रूप में प्रकट होता है। शुक्ल जी ने मनोविज्ञान के आधार पर कल्पना का विवेचन किया है। वे उसे काव्य का साधन मानते हैं, साध्य नहीं। उन्होंने कल्पना को भावना तथा उपासना का पर्याय कहा है, क्योंकि इन तीनों में ही दूर की वस्तु की मूर्ति पास लाई जाती है। हमारा विचार है कि कल्पना, भावना तथा उपासना का पर्याय नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो भावना तथा उपासना के भी मूल में रहकर वस्तु का मूर्त्तिकरण करती है। उन्होंने कल्पना के दो रूप, विधायक तथा ग्राहक कल्पना भी माने हैं। इस सम्बन्ध में भी हमारा विचार है कि ये कल्पना के दो प्रकार नहीं हैं, वरन् कल्पना की दो प्रक्रियाएं हैं। कल्पना की विभिन्न प्रक्रियाएं तो सम्भव हैं किन्तु उसके प्रकार नहीं हो सकते। सुधांशु जी भी विधायक तथा ग्राहक कल्पना को एक दूसरे से पृथक् नहीं मानते।

पाश्चात्य साहित्यालोचन में जिस प्रकार कालरिज, कीट्स, लेसिंग, काण्ट, क्रोचे, रिचार्ड्स, टाल्सटाय आदि आलोचकों ने काव्य के स्वरूप के प्रमुख तत्व के रूप में सौन्दर्य का विवेचन किया है, उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी आलोचकों ने भी काव्य में सौन्दर्य के महत्त्व तथा स्वरूप पर अपने विचार प्रकट किए हैं। श्यामसुन्दर दास जी ने कालरिज की भांति सौन्दर्य को काव्य का एक उपकरण माना है। वाजपेयी जी पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी आलोचकों के अनुसार काव्य का लक्ष्य सौन्दर्य का उन्मेष करना मानते हैं। शुक्ल जी ने क्रोचे के मत के विरुद्ध सौन्दर्य को केवल मानसिक जगत् की वस्तु न मानकर बाह्य संसार की वस्तु माना है। वे वस्तु का सौन्दर्य केवल वस्तु के अन्दर मानते हैं, किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से यह मत ठीक नहीं बैठता। किसी वस्तु का सौन्दर्य दर्शक के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तथा रुचि पर निर्भर होता है। श्यामसुन्दर दास का यही विचार है। शुक्ल जी वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत होने को ही सौन्दर्य की अनुभूति कहते हैं। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति को उन्होंने भावना अर्थात् मानसिक जगत् तक सीमित कर दिया है। काण्ट ने जिस प्रकार सौन्दर्य का प्रसार करके उदात्त की सीमा में कुरूप को भी ले लिया था, इसी प्रकार इन आलोचकों ने भी सौन्दर्य को विशेष व्यापकत्व प्रदान किया है। इन्होंने सौन्दर्य को वस्तुओं के रूपरंग के अतिरिक्त कर्म, आदर्श, अन्तः तथा बाह्य प्रकृति आदि में भी माना है। शुक्ल जी तथा मिश्र जी ने सौन्दर्यानुभूति को भावानुभूति की पुष्टि करने वाला समझा है। 'सुधांशु' जी का विचार है कि काव्य में जीवन का पूर्ण सौन्दर्य व्यक्त नहीं हो सकता। प्रगतिवादी आलोचकों ने काव्य में सूक्ष्म सौन्दर्य की अपेक्षा स्थूल सौन्दर्य को विशेष महत्त्व दिया है।

प्राचीन आचार्यों तथा हिन्दी के आधुनिक रीतिकारों ने कविता के विवेचन में केवल वर्ण, शब्द, वाक्य आदि का ही उल्लेख किया था। उन्होंने गुण तथा रीति के

विवेचन के अन्तर्गत वर्णो तथा शब्दो की रसानुकूलता का भी विवेचन किया था। किन्तु आलोच्य काल के आलोचको ने वर्णो तथा शब्दो का ही विवेचन न करके काव्य भाषा का भी विवेचन किया है। इन्होंने पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार-स्वरूप भाषा को भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण विशेष महत्त्व दिया है तथा प्रेषणीयता की सफलता उसी पर आश्रित मानी है। किन्तु ये भाव को भावो से गौण स्थान देते है। श्यामसुन्दर दास ने सस्कृत के आचार्यो की भाति भाषा को कविता का अभिन्न तत्व माना है पर महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, सुमित्रानन्दन पन्त, रामकुमार वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी, अज्ञेय आदि आलोचको ने भाषा को भावो की उत्कृष्टता का ही साधन समझा है। इन्होने भाषा मे सरलता, शुद्धता, मुहावरो का उचित प्रयोग, विषयानुकूल-शब्द-स्थापना, चटपटापन, मधुर शब्दो का समावेश, लाक्षणिकता, नाद-सौन्दर्य, विशेष रूप व्यापार के द्योतक शब्दो का प्रयोग, व्यक्तिवाचक नामो का प्रयोग, लिग का अर्थ के साथ सामजस्य, भावो की अभिव्यक्ति के लिए शब्दो के रूपो का परिवर्तन तथा व्याकरण के नियमो की अवहेलना, सगीतात्मकता, अधिकाधिक व्यापक तथा सारगर्भित अर्थपूर्णता आदि विशेषताए मानी है। पन्त जी ने भाषा की शक्ति का इतना विस्तार होना आवश्यक समझा है कि जिसमे ससार का प्रत्येक विचार तथा भाव अभिव्यक्त हो सके। अज्ञेय जी ने भी भाषा मे मनुष्य की उलझी हुई सवेदनाओ को अभिव्यक्त करने की शक्ति का होना अनिवार्य समझा है। इन आलोचको ने काव्य-भाषा का विवेचन उसकी शैली के सौन्दर्य, शक्ति, प्रयोग, नाद-सौन्दर्य, चित्रोपमता आदि विषयो के आधार पर किया है।

इन्होने पूर्ववर्ती आलोचको के विपरीत, काव्य के विवेचन के साथ ही, पिगल को भी सम्बद्ध कर लिया है। प्राचीन आचार्यो के द्वारा पिंगल का विवेचन काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत न होकर पृथक् ही होता था। पर इन्होने छन्दो पर अपने विचार परम्परागत वर्ण, मात्रा आदि के आधार पर ही नही, वरन् भाषा, सगीत (मलाडी), लय आदि के आधार पर भी व्यक्त किए है। द्विवेदी जी तथा शुक्ल जी ने पुराने छन्दो के स्थान पर नवीन छन्दो के निर्माण की आवश्यकता बताई है पर 'सुधाशु' जी ने पुराने छन्दो को भी नवीन भावो के अभिव्यक्त करने मे समर्थ समझा है। इन आलोचको ने नवीन छन्दो के निर्माण के अतिरिक्त सस्कृत, उर्दू, अग्रेजी के छन्दो के प्रयोग को भी उचित बताया है। इनके द्वारा काव्य मे छन्दो के प्रयोग की अनिवार्यता पर भी विचार प्रकट किए गए है। श्यामसुन्दर दास, निराला, रामकुमार आदि ने कविता मे छन्दो की अनिवार्यता स्वीकार नही की किन्तु पन्त, सुधाशु, शान्तिप्रिय द्विवेदी ने काव्य के लिए छन्दो के बन्धनो को भी अपनाया है। इन आलोचको ने वार्णिक तथा मात्रिक छन्दो के मूल्य की भी पारस्परिक तुलना की है। शुक्ल जी तथा निराला ने वार्णिक छन्दो को भावो की अभिव्यक्ति के अधिक उपयुक्त समझा है तथा पन्त जी ने मात्रिक को। इन आलोचको ने इसका भी विचार किया है कि मुक्त छन्द स्वर-प्रधान है या व्यजन-प्रधान। निराला जी ने इन्हें व्यजन-प्रधान तथा पन्त जी ने स्वर-प्रधान माना है।

निराला जी ने मुक्त छन्द के भी दो रूप माने है, एक वर्ण वृत्त जो पढने योग्य होते है तथा दूसरे मात्रिक, जो गाने योग्य होते है। इन आलोचको का विचार है कि छन्दो का रसानुकूल तथा भावानुकूल होना तथा उनका भाषा तथा सगीत के साथ सम्बद्ध होना आवश्यक है। इन्होंने 'लय' को छन्दो का मूल तत्व स्वीकार किया है। इनके विचार से ये भावो को तीव्र गति ही नही देते, वरन् भाव विशेष का सम्पूर्ण वातावरण भी चित्रित करते है। ये छन्दो के द्वारा दूरी तथा समीपता का भी चित्रण सम्भव मानते हैं।

सस्कृत कविता मे तुक का बधन न होने से प्राचीन भारतीय साहित्यालोचन मे उसका विवेचन नही हुआ था, किन्तु हिन्दी के इस काल के आलोचको ने तुक के सम्बन्ध मे भी विभिन्न विचार तथा मत प्रकट किए है। आलोच्य काल से पूर्व न तुकहीन कविता लिखी जाती थी न तुक सम्बन्धी विशेष विवेचन ही हुआ था, किन्तु अग्रेजी तथा बगला काव्य के प्रभाववश, इन्होंने हिन्दी मे भी तुक का विशेष विवेचन किया है। तुक के सम्बन्ध मे इन आलोचको की दो विचारधाराए रही हैं। द्विवेदी जी आदि आलोचको ने तुक, वजन तथा काफिए का विरोध किया है तथा पन्त, सुधाशु आदि ने इनका विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। इन्होंने तुक को राग का हृदय तथा छन्द के राग को स्पष्ट तथा परिपुष्ट करने वाला माना है तथा तुक वाले शब्द की विशेष व्याख्या की है।

आलोच्य काल से पूर्व हिन्दी मे कविता के विषय का क्षेत्र विशेष सकुचित था, इसलिए उस काल के प्रारम्भिक आलोचको ने कविता मे नवीन विपयो का समावेश करने का विशेप आग्रह किया है। द्विवेदी जी तथा शुक्ल जी ने नवीन विषयो के चयन के लिए सम्पूर्ण मानव-जीवन तथा जगत् को काव्य का विषय माना है। शुक्ल जी ने काव्य के विपय को लोक बाह्य नही माना है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने दो मौलिक बाते कही हैं, एक तो यह कि काव्य की वस्तु सामान्य नही वरन् विशेष होती है तथा यदि वह विशेष भी हो तो भी उसमे सामान्य गुणो का समावेश होता है, दूसरे यह कि सम्पूर्ण जीवन तथा जगत्, जो काव्य का विषय है, विभाव-पक्ष के अन्तर्गत आता है तथा उसका आश्रय केवल मनुष्य है। शुक्ल जी तथा श्यामसुन्दर दास जी ने काव्य-विपय का वर्गीकरण भी किया है। शुक्ल जी ने काव्य के तीन क्षेत्र, नरक्षत्र, मनुष्येतर वाह्य सृष्टि तथा समस्त चराचर को माना है तथा श्यामसुन्दर दास जी ने किसी व्यक्ति के अनुभव, मनुष्य मात्र के अनुभव, मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध तथा दृश्यमान प्राकृतिक जगत् और उसके सम्बन्ध आदि को काव्य के विषयो के विभिन्न भेद माना है। इनका यह वर्गीकरण शुक्ल जी के जीवन और जगत् को ही लेकर किया गया है। शुक्ल जी ने अपने विभाजन मे नरक्षेत्र को अन्य क्षेत्रो से अधिक विस्तारपूर्ण माना है। इन आलोचको का विचार है कि कविता के विषय के लिए मनोरजकता, उपदेशपूर्णता, नवीनता, विचारपूर्णता, अनुभवसिद्धता, महत्त्वपूर्णता आदि गुणो की विशेष आवश्यकता है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य का विभाजन, दृश्य तथा श्रव्य के रूप मे किया था। श्रव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य तथा प्रबन्ध के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यायिका, कथा आदि का विभाजन किया गया था। गद्य-पद्य युक्त चम्पू एक पृथक् रूप था। पाश्चात्य साहित्यालोचन मे काव्य का विभाजन, महाकाव्य (एपिक), लिरिक (गीतिकाव्य), नाटक (ड्रामा), दु खान्त, सुखान्त आदि के रूप मे हुआ था। कविता की प्रक्रिया के आधार पर उसके दो रूप वस्तुगत काव्य (आवजेक्टिव पोयट्री) तथा आत्मगत काव्य (सबजेक्टिव पोयट्री) भी माने गए थे। आलोच्यकाल के हिन्दी आलोचको ने काव्य के विभिन्न प्रकार के विभाजन में दोनो ही प्रकार की काव्यालोचन पद्धतियों तथा विचारो का ही आधार नही ग्रहण किया है, वरन् हिन्दी के निजी साहित्य के आधार पर भी नवीन चिन्तन किया है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बन्ध की दृष्टि से 'निबन्ध' नामक नवीन-काव्य तथा प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत 'एकार्थ-काव्य' की उद्भावना की है। उन्होंने वाह्यार्थ निरूपक तथा स्वानुभूति-व्यजक नामक पाश्चात्य काव्य के विवेचन को मान्यता नही दी है तथा उसकी दोषपूर्णता दिखाई है। इन आलोचको ने भारतीय आचार्यो के अनुसार आख तथा कान के आधार पर या पाश्चात्य आचार्यो की भाति कविता की प्रक्रिया के आधार पर काव्य का वर्गीकरण नही किया है। इन्होने काव्य की उक्ति, सत्काव्य तथा काव्याभास, आनन्द तथा रस, मनोवृत्ति, विषय, शैली, अर्थ, बन्ध, शब्द, अलकार आदि के आधार पर काव्य का विभाजन किया है। श्यामसुन्दर दास तथा गुलाव राय ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्राय. पाश्चात्य विभाजन को ही मान्यता दी है। गुलाब राय का अनुकृत काव्य वास्तव मे वर्णनात्मक काव्य ही है। यद्यपि वर्गीकरण के इतने आधार ग्रहण करने के कारण इन आलोचको के वर्गीकरण मे विशेष मौलिकता आ गई है, किन्तु इन्होंने इस वात का विचार नही किया कि काव्य के वर्गीकरण का निश्चित आधार क्या होना चाहिए। वर्गीकरण के सर्व-सम्मत आधार के अभाव मे ही इन्होने इतने अधिक भेदों की उद्भावना की है। हमारे विचार से काव्य के वर्गीकरण का आधार अर्थ (भाव या रस) तथा शैली होना चाहिए। हम समझते है कि सत्काव्य तथा काव्याभास के आधार पर काव्य की पहचान हो सकती है, वर्गीकरण नही हो सकता, जैसा शुक्ल जी ने किया है। इन आलोचको के आनन्द, रस, अर्थ आदि का समावेश हमारे निर्देशित पहले प्रकार में तथा उक्ति, शब्द, बन्ध, अलंकार का समावेश दूसरे प्रकार में हो सकता है।

इन्होंने प्राचीन आचार्यो के निर्देशित काव्य के हेतुओ के परिचयात्मक विवरण तथा स्पष्टीकरण के अतिरिक्त काव्य की उत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक कारणो का भी निर्देश किया है। इन्होने प्राचीन हेतुओ में से शक्ति (प्रतिभा), निपुणता, अभ्यास, ज्ञान, शिक्षा आदि की व्याख्या की है। दीन जी ने निपुणता तथा प्रतिभा और मिश्र जी ने लोक-निरीक्षण की विशेष व्याख्या की है। श्यामसुन्दर दास जी ने आत्मा- भिव्यजन की इच्छा, मानव व्यापारो में अनुराग, नित्य तथा काल्पनिक ससार में तथा सौन्दर्य-प्रियता को काव्य के मूल कारण के रूप मे अपनाया है।

इन्होंने कविता का लक्ष्य शिक्षा देना, पथ प्रदर्शन करना तथा मनोरंजन करना नही माना है। ये मनोरंजन को केवल मनोयोग का साधन-मात्र ही समझते है। इनका विचार है कि मनोरंजन तो चित्तवृत्तियो को केवल रस दशा की भाव भूमि पर पहुंचाकर सलग्न करता है। ये कविता को केवल स्वान्त सुखाय नही मानते। इनका विचार है कि काव्य मे भावो की अभिव्यक्ति पाठको के ग्रहण करने के लिए होती है। इन्होने साधारणत कविता का लक्ष्य, मनुष्य को मनुष्यता की परमोच्च भूमि पर ले जाना, मनुष्य के हृदय को उसकी प्रकृतावस्था मे स्थित करना, रसानुभूति या हृदय की मुक्तावस्था उत्पन्न करना, मनुष्य के हृदय का प्रसार करना, उसकी विश्व के साथ एकता की अनुभूति कराना, साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न करना, एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुचाना, मनुष्य को अनुभूतिशील तथा भावनाशील बनाना तथा मनुष्य के सचेतन परमाणुओं को सघटित करना माना है।

भारतीय आचार्यो ने कविता के द्वारा चारो फल, कला मे विचक्षणता, कीर्ति, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दु खनाश, शीघ्र-परमानन्द और कान्ता-सम्मित मधुरिमा-युक्त उपदेश की प्राप्ति आदि लाभो का वर्णन किया है तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन मे कविता के द्वारा केवल आनन्द और शिक्षा की प्राप्ति स्वीकार की गई है। इन आलोचकों ने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो पद्धतियो का अनुसरण करके कविता के द्वारा आनन्द की प्राप्ति, विकृतियों, कठोरताओ तथा अप्रकृत व्यवहारो का सुधार, सासारिक व्यापारो की व्यग्रता से निवृत्ति, मानव वृत्तियो का परिष्कार, स्वार्थ-परायणता, नीरसता तथा तटस्थता से मुक्ति, ज्ञान की वृद्धि, मनोवेगो का उत्तेजन, मनुष्य के कर्मो का चित्रण, अन्तर्वृत्तियो का विश्लेषण तथा छिपे हुए शक्ति के अकुरो का प्रकाशन माना है। ये समझते है कि कविता द्वारा इन्द्रियगोचर सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक भावो को समझने तथा अनुभव करने की शक्ति, अन्तर्जगत् मे स्फूर्ति, सामजस्यपूर्ण गतिशीलता आदि की प्राप्ति भी होती है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उत्पादक तथा ग्राहक के रूप में काव्य की उपादेयता का विचार प्रकट करके प्राचीन भारतीय आचार्यो के मत का ही परिवर्द्धन किया है।

भारतीय काव्यालोचन के अन्तर्गत काव्य की आत्मा को लेकर तो विभिन्न सम्प्रदाय खडे हुए हैं, पर किसी वाद, प्रकार या वर्ग की कविताओ के आधार पर सद्धान्तिक विवेचन नहीं हुआ है। इसमे कविता का सामान्य रूप मे एक इकाई मानकर विवेचन किया गया है, जब कि पाश्चात्य साहित्यालोचन में एक प्रकार की कविता का स्वरूप कुछ सिद्धान्तो के आधार पर दूसरे प्रकार की कविता से पृथक् माना गया है। इसलिए उसके अन्तर्गत शास्त्रीय (क्लासिक), नव-शास्त्रीय (नियोक्लासिक), पुनरुत्थानवादी, स्वच्छन्दतावादी, अन्तश्चेतनावादी, कलावादी, मूल्यवादी, मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) कविता का विवेचन विभिन्न कालो मे किया गया है। आलोच्य-काल मे हिन्दी मे भी कविता के छ वर्ग मिलते है, जिनका सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है—(१) भारतेन्दु युग की रीति परम्परावादी कविता, (२) द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता,

(३) छायावादी कविता, (४) रहस्यवादी कविता, (५) प्रगतिवादी कविता तथा (६) प्रयोगवादी कविता। इनमे से प्रथम दो प्रकार की कविता की विशेषताओ का सामान्य उल्लेख मात्र हुआ है तथा अन्य प्रकार की कविताओ के सम्बन्ध मे प्रमुख लेखको ने अपने विचार प्रकट किए है तथा अन्य समकालीन आलोचको के विचारो का निरीक्षण तथा परीक्षण किया है।

इन आलोचको ने रहस्यवाद के दो वर्ग, साम्प्रदायिक तथा स्वाभाविक माने है और दोनो की रचना शैली के अन्तर का निर्देश किया है। इन्होने विभिन्न देशो के रहस्यवादी काव्य का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करके रहस्यवाद की उत्पत्ति के कारणो का भी निर्देश किया है। शुक्ल जी ने रहस्यवाद को एक दार्शनिक सिद्धान्त समझा है तथा प्रसाद जी ने उसे आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा माना है तथा उसके द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय समझा है। प्रसाद, महादेवी, डा० रामकुमार आदि ने रहस्यवाद का मूल भारतीय दर्शन मे स्वीकार किया है किन्तु शुक्ल जी ने भारत मे रहस्यवाद की उत्पत्ति के न होने के कारणो का भी निर्देश किया है। रामचन्द्र शुक्ल, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि कुछ आलोचको ने छायावाद को रहस्यवाद के अर्थ मे ग्रहण किया है। शुक्ल जी ने इसके दो रूप माने है, एक तो रहस्यवाद, जो काव्य वस्तु से सम्बद्ध है तथा दूसरे शैली या पद्धति। प्रसाद जी इसे आदर्श तथा यथार्थ के बीच की वस्तु मानते है तथा वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति कहते है। वाजपेयी जी के विचार से यह एक महान् कला-आन्दोलन है तथा रामकुमार इसे जीवात्मा की वह अन्तर्हित प्रवृत्ति मानते है, जो परमसत्ता से सम्बन्ध जोडती है। नगेन्द्र जी इसे रहस्यवाद का पर्याय न मानकर रहस्यवाद को ही उसका अग कहते है। शिवदानसिंह चौहान ने उसे पूजीवादी कविता कहा है। शुक्ल जी, प्रसाद, वाजपेयी, महादेवी आदि ने इसका सम्बन्ध प्राचीन भारतीय सस्कृति, साहित्य तथा दर्शन से जोडा है।

इन्होने इस कविता की विशेषताए चित्रमयी-शैली का वैलक्षण्य, अन्योक्ति पद्धति का अवलम्बन, आभ्यन्तर सूक्ष्म भावो की अभिव्यक्ति, ध्वन्यात्मकता, उपचार-वक्रता, स्वानुभूति की विवृति, सूक्ष्म अभिव्यक्ति, ध्वनि, रीति, रस, अलकार के सिद्धान्तो का नए रूप मे प्रयोग, अत्यधिक भावुकता, सौन्दर्यानुभूति, ईश्वर की सत्ता के आगे आत्मा की सत्ता की एकता, नए छन्द-बन्ध, नवीन-ध्वनि, वर्ण तथा अर्थो का समावेश, सवेदना की गहराई, भावना की मर्मस्पर्शिता, बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर भावना की अखण्डता, स्वातन्त्र्य, भावयोग, अनेकरूपता, वर्तमान के प्रति असतोष, पुरातन के प्रति श्रद्धा, उन्मुक्त आत्माभिव्यजन, सूक्ष्म नैतिक बन्धनो के प्रति विरोध, मानसिक स्वतन्त्रता, करुणा की धारा, भौतिकता के प्रति प्रतिक्रिया, रहस्य की प्रवृत्ति, दुरूह भावगम्यता आदि मानी है। इन्होने इस कविता मे साम्प्रदायिकता, अग्रेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोगो के अनुकरण की प्रवृत्ति, दुरूहता, भाव-अभिव्यजन हीनता, अस्पष्टता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायन, अतीत से सम्बन्धहीनता, अहवादिता, समाज विरोध, व्यक्तिवादि, अर्थहीनता, भाव-भाषा तथा शैली की अपरिमितता आदि दोष भी माने है।

इन्होंने प्रगतिवादी काव्य की ये विशेषताए मानी हैं कि यह सामान्य जीवन को महत्त्व देता है, यथार्थ की ओर प्रवृत्त रहता है, समाज के उपेक्षित अगो को अपनाता है, रूढिग्रस्तता तथा सामाजिक अव्यवस्थाओं को दूर करने का प्रयत्न करता है, जीवन को प्रगति का पर्याय तथा अध्यात्म और परलोक को पलायन समझता है, भौतिक जीवन की साधना को मुख्य समझता है, शोषक का विरोध तथा शोषितो से सहानुभूति रखता है, जीवन मे साम्य, जनहित तथा निर्वैयक्तिकता को अपनाता है, भावो की अपेक्षा बुद्धि को मान्यता देता है, वस्तुजगत् के सत्य को अपनाता है, प्रतिकूल वस्तुस्थिति को बदलने की सक्रिय शक्ति रखता है, जर्जर सस्कारो का विनाश तथा नवीन निर्माण करता है।

सुधाशु जी ने इसे विजातीय वस्तु न मान कर जीवन तथा काव्य का लक्षण ही माना है। पन्त जी इसके दर्शन तथा भारतीय दर्शन मे कोई अन्तर नही मानते, क्योंकि वे दोनो मे भारतीय सर्वभूतहित की विशद भावना मानते है। अज्ञेय जी ने प्रगति की अनुभूति तथा परिस्थिति मे कार्यकारण परम्परा जोडने की वृत्ति माना है। वे इसे राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्न मानते हैं, साहित्यिक नही। गगाप्रसाद पाण्डेय उसे प्रगतिशील साहित्य समझते हैं, जिसमे साहित्य के सभी वाछनीय गुण अपने ढग तथा साहित्यिक रग के साथ रहते हैं।

इन्होने रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद के अतिरिक्त यथार्थवाद, आदर्शवाद, महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य, प्रयोगवाद आदि पर भी अपने विचार प्रकट किए है। महादेवी जी ने यथार्थ तथा आदर्श को अन्योन्याश्रित माना है। वे यथार्थ को आदर्श कहती हैं। प्रसाद जी का विचार है कि यथार्थवाद लघुता की ओर तथा आदर्श-वाद महत्त्व की ओर प्रवृत्त होता है। वे इन्हे द्वैतदर्शन पर आधारित मानते है।

प्रकरण ६

गद्य

भारतीय साहित्य मे कथा-साहित्य (कहानी तथा उपन्यास) सम्बन्धी आलोचना का विकास :—

प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे कहानी अथवा उपन्यास नामक साहित्य के आधुनिक रूपो के लिए कथा तथा आख्यायिका शब्दो का प्रयोग होता था। भामह, दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द तथा विश्वनाथ आदि आचार्यो ने इनके स्वरूप की विशेष व्याख्या की है। छठी शताब्दी के भी पूर्व आख्यायिकाओ की वे विशेषताए, जिनका उल्लेख भामह ने 'काव्यालकार' मे किया है, विद्वानो को ज्ञात थी। पतजलि ने 'कथा' तथा 'आख्यायिका' के पृथक् भेदो का उल्लेख किया है।[1] भामह के विचार से आख्यायिका, वह साहित्यिक रचना है, जो गद्य मे लिखी जाती है, श्रव्य होती है, विपय के अनुरूप रहती है, वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दो मे लिखी जाती है, कथा सूत्र मे भविप्य की घटनाओ का सकेत करती है, ऐसे उदात्त अर्थ (कथानक) से युक्त होती है, जिसमे कवि कल्पना द्वारा प्रदत्त तत्त्वो का योग होता है, जिसका विपय कन्या-अपहरण, सग्राम, विप्रलम्भ तथा नायक की विजय (उदय) होता है, जिसमें नायक के द्वारा ही उसके कार्य-कलापो का वर्णन होता है तथा जो विभिन्न उच्छ्वासो मे विभक्त होकर लिखी जाती है। आख्यायिका की अपेक्षा कथा मे वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दो का प्रयोग नही होता है, इसकी कथा विभिन्न उच्छ्वासो में विभक्त होती है, नायक द्वारा वर्णित न होकर अन्य किसी पात्र द्वारा वर्णित होती है तथा सस्कृत अथवा अपभ्रंश मे लिखी जाती है।[2] कृष्णमाचार्य का विचार है कि 'कथा' कदाचित् सस्कृत में ही लिखी जाती होगी।[3]

दण्डी ने भामह की परिभाषाओ का विवेचन किया है तथा इनके 'कथा' और

---

१ "दी टू क्लासेज ऑव वर्क्स कथा एण्ड आख्यायिका वेअर नोन टू पतजलि हू नेम्ड सेवरल ऑव देम देट लोग बिफोर दी सिक्स्थ सेन्चुअरी ए० डी० (एज एटेस्टेड त्राई सुबन्ध एण्ड वाण) आख्यायिकाज एक्जीबिटेड दी स्पेशल फीचरस ओन व्हिच भामह ड्वेल्स"
'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोयिटिक्स' (सन् १९५१), ले० पी० वी० काणे, पृ० १००।

२. देखिए 'काव्यालकार', १।२५-२९।

३ देखिए 'हिस्ट्री आव क्लासिकल सस्कृत लिट्रेचर' (सन् १९३७), ले० डा० एम० कृष्णमाचार्य एम०ए०, एम० एल०, पी०-एच० डी०, पृ० ४३७।

'आख्यायिका' के भेद को मान्यता नही दी है। इनके विचार से कथा तथा आख्यायिका एक ही प्रकार की रचनाए हैं तथा उनमे विशेष पार्थक्य नही है। वे छन्दो के ऐसे अनुक्रम को, जिनका छन्दो के चरणो मे विभाजन नही होता गद्य कहते हैं तथा इसके दो भेद कथा तथा आख्यायिका मानते हैं। उन्होने भामह का कथा तथा आख्यायिका का यह अन्तर स्वीकार नही किया है कि आख्यायिका मे केवल नायक, कार्यकलापो का वर्णन करता हैं तथा कथा मे अन्य पात्र अथवा नायक में से कोई भी कर सकता हैं। उनका विचार है कि नायक स्वय वर्णन करे अथवा अन्य पात्रो मे से कोई वर्णन करे, इसमें कोई विशेष अन्तर नही है। यदि कथा तथा आख्यायिका मे यही भेद हैं कि आख्यायिका मे वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दो और उच्छ्वासो का प्रयोग होता है तो कथा मे भी कभी-कभी आर्या आदि छन्दो का व्यवहार होता है तथा उसमे भी उच्छ्वासो की भाति 'लम्भ' आदि का प्रयोग होता है। इसलिए वे कथा तथा आख्यायिका को एक ही जाति की वस्तुओं के दो नाम मानते हैं। दण्डी का विचार है कि सग्राम, विप्रलम्भ, नायक की विजय, कन्यापहरण आदि विषय, केवल आख्यायिका की विशेपताए नही हैं, इनका प्रयोग तो सर्गबन्ध (महाकाव्यो) मे भी होता है।[1]

रुद्रट का कथा के सम्बन्ध मे यह विचार हैं कि इसमे छन्द मे देवता और गुरुओ की वन्दना होती हैं, सक्षेप मे लेखक के कुल तथा लक्ष्य का वर्णन होता है, यह सस्कृत के गद्य में अनुप्रास-युक्त शब्दो मे लिखी जाती है, इसमे पुर वर्णन आदि का समावेश होता है, प्रारम्भ मे एक कथान्तर होता है, जो प्रमुख कथानक मे न्यस्त हो जाता है तथा इसका प्रमुख विषय कन्यालाभ होने के कारण इसमें शृगार का आधिक्य होता है।[2] इसी प्रकार वे आख्यायिका के सम्बन्ध मे यह कहते है कि इसमे देवता तथा गुरुओ की पद्यबद्ध वन्दना होती हैं, प्रसगवश प्राचीन कवियो का गुण गान होता है, कवि अपने कथाकार होने की अयोग्यता पर भी कथा लिखने का उद्देश्य, किसी विशेष नरेश के प्रति भक्ति की भावना अथवा दूसरो से गुण कीर्तन कराना अथवा केवल लिखने का व्यसन होना बताता है। इसकी कहानी, कथा की भाति गद्य मे लिखी जाती है, किन्तु इसमे कवि तथा उसके कुल का वर्णन भी होता है। यह उच्छ्वासो मे लिखी जाती है, किन्तु प्रथम उच्छ्वास को छोड़कर अन्य मे दो आर्या छन्दो का आरम्भ मे प्रयोग होता है।[3]

विश्वनाथ का कथा के सम्बन्ध मे यह विचार हैं कि इसकी सरस वस्तु गद्य में लिखी जाती है, इसमे कही आर्या तथा कही वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दो का प्रयोग होता है और प्रारम्भ में पद्यो मे वन्दना तथा खलादिको के चरित्रो का वर्णन होता है। वे आख्यायिका को कथा के समान ही मानते है। उनका विचार है कि उसमे कवि-वश

---

१ देखिए 'काव्यादर्श' प्रथम परिच्छेद, २३-२८।

२. देखिए 'काव्यालकार (निर्णय सागर प्रेस बम्बई), अध्याय १६, पृ० १७०-१७१।

३ देखिए वही पृ० १७०-१७१।

का वर्णन तथा अन्य कवियो का वृत्त वर्णन होता है, कथा के अशो का नाम 'आश्वास' होता है तथा आर्या और अपरवक्त्र छन्दो के द्वारा अन्योक्ति से 'आश्वास' के प्रारम्भ मे अगली कथा की सूचना दी जाती है।'

इस प्रकार भारतीय साहित्यालोचन मे कथा तथा आख्यायिका का सैद्धान्तिक विवेचन, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श आदि के रचनात्मक साहित्य के आधार पर हुआ है। इसमे 'कथा' शब्द विशेष प्रचलित हुआ है तथा साधारण कहानी चरित-काव्य, अलकृत-काव्य, अलकृत-गद्य-काव्य आदि सभी के लिए इसका प्रयोग होता रहा है।[2] इनमे से भी विशेष रूप मे, यह अलकृत गद्य-काव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा भामह और दण्डी ने इसी रूप मे इसका प्रयोग किया है।[3] इस प्रकार भारतीय साहित्यालोचन मे 'कथा' शब्द बहुत व्यापक अर्थों मे प्रयुक्त होता रहा है। आख्यायिका की अपेक्षा, जो केवल सस्कृत मे लिखी जाती थी, यह सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श मे भी लिखी जाती थी।[4] इसमे कल्पना के लिए अधिक स्थान होता था, इसके लक्ष्य का निर्देश आरम्भ मे ही कर दिया जाता था, कथान्तर मुख्य कथा मे न्यस्त कर दिए जाते थे तथा इसका प्रमुख विषय कन्यापहरण और मुख्य रस शृगार होता था। इस प्रकार सस्कृत-कथा के इस रूप से हिन्दी के आधुनिक काल के आरम्भ मे लिखी हुई कहानिया विशेष रूप मे प्रभावित हुई है तथा उनमे इसके समान ही काल्पनिक तथा अलकृत-शैली का आधिक्य, किसी वस्तु का वर्णन, लक्ष्य का स्पष्ट निर्देश, एक प्रमुख-विषय तथा रस का समावेश होता था। धीरे-धीरे उस पर पाश्चात्य 'छोटी कहानी' के स्वरूप का प्रभाव भी पडने लगा तथा उसमे से अलकृत तथा अनुप्रास-युक्त शैली, वस्तु-वर्णन, आकार की दीर्घता आदि तत्त्वो का बहिष्कार होता गया।

इसके विपरीत आख्यायिका मे विषय का विस्तार, अधिक रसो का समावेश, नायक के विभिन्न कार्य-कलापो का वर्णन, ऐतिहासिकता तथा काल्पनिकता का मिश्रण, उसकी कथा-वस्तु का विभिन्न उच्छ्वासो मे वर्गीकरण, अगली कथा की सूचना देने की परिपाटी आदि विशेषताए होती थी। अतएव आख्यायिका का प्रभाव आधुनिक उपन्यास पर विशेष रूप मे पडा है। आधुनिक ऐतिहासिक रोमास तथा अद्भुत कार्यों से पूर्ण, उपन्यासो के मूल इसमे ही मिलते है।

इस प्रकार हमारा विचार है कि आधुनिक कहानी के मूल मे 'कथा' की शैली का प्रभाव है तथा उपन्यासो मे 'आख्यायिका' की शैली का। 'कहानी' ही दोनो का मूल वक्तव्य होने के कारण कहानी तथा उपन्यास दोनो ही, इन दोनो के स्वरूपो से समान रूप मे प्रभावित हुए है तथा उन पर इनकी काव्य-शैलियो तथा कथानक-रूढियो का प्रभाव

---

१ देखिए 'साहित्य दर्पण', पृ० ६।३० ।
२ देखिए 'हिन्दी साहित्य का आदि काल', ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२ ।
३ वही, पृ० ५८ ।
४ देखिए वही, पृ० ५४ ।

पड़ा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक कहानी पर पाश्चात्य 'छोटी कहानी' तथा उपन्यास पर आधुनिक उपन्यास के स्वरूप का भी प्रभाव पड़ा है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन में उपन्यास-सम्बन्धी आलोचना का विकास

अंग्रेजी शब्द 'नोविल' की उत्पत्ति 'नोवेला' शब्द से हुई है, जो समाचारपत्र का पर्यायवाची है तथा जिसका अभिप्राय 'कथात्मक वर्णन' से लिया जाता है।[1] इसका उत्तरोत्तर विकास, नाटक तथा कविता के क्षेत्र का अतिक्रमण करते हुए, काल्पनिकता से यथार्थता की ओर अग्रसर होते हुए तथा गद्य के अन्य सभी रूपों, निबन्ध, पत्र, डायरी, जीवनी, इतिहास, स्केच, धार्मिक-सिद्धान्त-पत्र, यात्रा-वर्णन, विवरण आदि को आत्मसात् करते हुए हुआ है। शिपले का विचार है कि इसके विकास का एक छोर, वीर गाथाओं (हीरोइक लीजेन्ड्स) मे तथा दूसरा आधुनिक पत्रकारिता मे मिलता है।[2] प्रारम्भ से ही इसका प्रमुख उद्देश्य अधिकाधिक यथार्थता को अपनाना तथा पुरातन आदर्शों और असत्य सिद्धान्तो की आलोचना करना रहा है।[3]

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे उपन्यास की परिभाषाएं विभिन्न प्रकार से दी गई हैं। वेबस्टर के विचार से उपन्यास एक निश्चित लम्बाई की एक ऐसी काल्पनिक तथा गद्यात्मक कथा या वृत्तान्त है, जिसमे एक कथानक के द्वारा वास्तविक जीवन के पात्रो तथा कार्यों का चित्रण होता है।[4] इसी प्रकार 'दी सेन्च्युरी डिक्शनरी' का लेखक उस काल्पनिक, गद्यात्मक कथा तथा विवरण को उपन्यास कहता है, जिसमे थोड़ा या बहुत गुंथा हुआ कथानक होता है तथा जो ऐसे ऐतिहासिक काल और समाज के वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत करने का लक्ष्य सामने रखता है, जिसके पात्रो तथा उनके व्यवहारो, दृश्यो तथा परिस्थितियो आदि का उस उपन्यास मे चित्रण होता है।[5] 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के विचार से उपन्यास, साहित्य मे उस देर तक चलने वाली कहानी का नाम है, जो ऐतिहासिक रूप मे सत्य न होने पर भी साधारणतया ऐसी ही लगती है।[6] वेबस्टर के विचार से काल्पनिक वृत्तान्तो के विकास-क्रम मे प्रथम महाकाव्य (ऐपिक) द्वितीय प्रेमाख्यान-काव्य (रोमास) तथा तृतीय स्थान उपन्यास का है। उपन्यास ने अपनी कला मे काव्य की रचनात्मक शक्ति, इतिहास का ब्योरेवार वर्णन तथा दर्शन की सामान्य अनुभूतियो को समाहित कर लिया है, इसलिए वह जीवन के काल्पनिक चित्रो द्वारा गम्भीर विचारो तथा भावो की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन बन गया। मानव-मस्तिष्क की गूढ विचारधारा तथा दर्शन की अभिव्यक्ति की नाटक से अधिक योग्यता

---

१. देखिए 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर', शिपले (सन् १९४३), पृ० ४०५।

२ "दस दी डवलपमेन्ट ऑव दी नोविल टचेज हीरोइक लीजेन्ड एट वन एक्सट्रीम एण्ड माडर्न जरनलिज्म एट दी अदर" वही, पृ० ४०५।

३. देखिए वही, पृ० ४०५।

४. देखिए 'वेबस्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी', भाग २, पृ० १४७४।

५. देखिए 'दी सेन्च्युरी डिक्शनरी', भाग १०, पृ० ४०३१।

६. देखिए 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', पृ० ५७२।

रखने के कारण, यह नाटक से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो गया है ।[1]

मेरियन क्राफोर्ड के विचार से उपन्यास नाटक से श्रेष्ठ है, क्योकि इसको रंगमच तथा अभिनय का आधार नही लेना पडता। वे इसे 'जेबी थियेटर' पुकारते हैं क्योकि इसके अन्तर्गत, कथानक, पात्र, वेश-भूषा, दृश्य, रगमच आदि सभी का एकत्र समावेश होता है।[2] विलियम हेनरी हडसन ने कथा साहित्य के, कथानक, पात्र, सम्वाद, देश काल, शैली तथा अभिव्यक्त जीवन-दर्शन आदि प्रमुख तत्त्व माने हैं।[3] मेरिडिथ, उपन्यास को, वास्तविक जीवन की सक्षिप्त कथा, मनुष्य के वाह्य तथा अन्तर का चित्र, गद्य और पद्य मे लिखित तथा शिथिल अथवा तीव्र रूप मे दर्शन का सहायक मानते है।[4] फ्लेप्स के विचार से उपन्यास 'एक अच्छी प्रकार से कही गई सुन्दर कहानी' है।[5] शिपले के अनुसार आधुनिक उपन्यास की विशेषताए, कल्पना को उद्‌बुद्ध करने तथा प्रभाव डालने की शक्ति, सत्य तथा सुन्दर का समावेश, अन्तर्दृष्टि की गहराई, निरीक्षण का विस्तार, जीवन का समन्वय, शैली तथा निर्वाह का विस्तार तथा निजी अनुभवो को सामान्य बना कर चित्रण करने की शक्ति है।[6] उनके विचार से यही साहित्य का एक ऐसा रूप है, जिसमे कला तथा मानव की गाथा दोनो ही का अधिकाधिक समावेश है।

पाश्चात्य उपन्यास साहित्य में स्काट ने अपने उपन्यासो मे किसी काल तथा स्थान के समाज का चित्रण करना अपना उद्देश्य रखा था, किन्तु फ्रान्स के स्टेन्डल, वलजाक आदि यथार्थवादियो ने इसकी अपेक्षा समकालीन दृश्यो को अकित करना अपना लक्ष्य वनाया। वे एक प्रकार से अपने समय के इतिहासकार थे। जोला ने उपन्यास को जीवन के एक भाग का किसी विशेष मानसिक स्थिति द्वारा चित्रण समझा है।[7] किन्तु मोपासा ने प्रकृतिवादियो के फोटू के समान चित्रो का उपन्यास से त्याग कर दिया, क्योकि ये चित्र उसके विचार से अकलात्मक तथा बौद्धिक तत्त्व से हीन होते थे। इनमे एक क्षण की अभिव्यक्ति तो होती थी पर विभिन्न अभिव्यक्तियो का समन्वय नही होता था। इनमे किसी स्थान तथा व्यक्ति के सारे व्योरो का समावेश तो होता था, पर उनका कलात्मक चुनाव नही होता था। इसके पश्चात्, पाश्चात्य उपन्यासकार, यथार्थवाद से

---

१ देखिए 'वेवस्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी', भाग २, पृ० १४७४।

२ देखिए 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आव इगलिश लिटरेचर', ले० हडसन (मु० १९५४), पृ० १२९।

३ वही, पृ० १३०।

४ देखिए 'प्रिंसिपल्स आव क्रिटिसिज्म', वोर्सफोल्ड (मु० १९२२), पृ० २१०।

५ देखिए 'दी एडवान्स आव दी इगलिश नोविल', विलियम लियोन फ्लेप्स, लन्दन, पृ० १२।

६. देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेचर', शिपले (सन् १९४३), पृ० ४०७।

७ देखिए वही, पृ० ४०६।

प्रभाववाद, सामाजिक से मनोवैज्ञानिक तथा वर्णन से वर्णनकर्ता की ओर अधिकाधिक खिंचते गए। फिर डिकेन्स आदि उपन्यासकारो ने उपन्यासो में किसी एक चरित्र के माध्यम से अपने मानसिक विचारो तथा प्रभावो का चित्रण करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ उपन्यास की माग साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा इतनी अधिक बढ गई कि उपन्यास यथार्थ तथा प्रभाव को छोड कर फिर रोमान्टिक गाथाओ की ओर अग्रसर होने लगा।

किन्तु कुछ समय के पश्चात् रोमास और उपन्यास में विषय तथा शैली का भेद समझा जाने लगा। क्लारा रीव के मत से रोमास, काव्यात्मक तथा समृद्ध भाषा में ऐसी वस्तु का वर्णन करता है, जो न कभी घटित हुई है, न घटित हो सकती है तथा उपन्यास, अपने समय के वास्तविक जीवन और व्यवहार का चित्र होता है।[1] डब्ल्यू० एल० क्रोस भी यथार्थ जीवन से वास्तविक सम्बन्ध रखने वाले काल्पनिक गद्य को उपन्यास तथा असत्य और अविश्वसनीय रूप में जीवन से सम्बन्ध रखने वाले काल्पनिक गद्य को रोमास कहते हैं।[2] वेवस्टर का यह भी विचार है कि उपन्यास प्राय प्रेम आदि मनोविकारो पर आधारित होते हैं तथा प्राय. इतने लम्बे होते हैं कि प्राय एक से अधिक भागो में पूर्ण होते हैं।[3]

इस प्रकार पाश्चात्य आलोचको के मतानुसार उपन्यास एक काल्पनिक गद्यात्मक कथा या वृत्तान्त है, जिसमे पात्रो तथा कार्यों द्वारा, पात्रो तथा कार्यो का प्रतिनिधित्व होता है, किसी समाज के वास्तविक जीवन-व्यवहार का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, काल्पनिक चित्रो द्वारा गम्भीर विचारो तथा भावो की अभिव्यक्ति होती है, जो सत्य तथा सम्भावना पर आधारित होता है, जिसमे नाटक के सभी तत्त्व उपस्थित रहते हैं, जो मनुष्य के बाह्य तथा अन्तर का चित्र होता है, अधिकाधिक यथार्थता को अपनाता है, पुरातन आदर्शो तथा असत्य सिद्धान्तो की आलोचना करता है, समकालीन दृश्यो को चित्रित करता है, जीवन तथा प्रकृति की वस्तुओं का कलात्मक चुनाव प्रस्तुत करता है, किसी एक पात्र या पात्रो द्वारा प्रभावों तथा विचारो की अभिव्यक्ति करता है तथा जिसके प्रमुख तत्त्व कथानक, पात्र, सवाद, देश काल, शैली तथा जीवन-दर्शन होते हैं। इसका तथा रोमास का पहले एक ही स्वरूप था, किन्तु धीरे-धीरे यह रोमास से पृथक होता चला गया।

पाश्चात्य साहित्य में उपन्यासो के वस्तु तथा लक्ष्य के अनुसार विभिन्न प्रकार माने गए हैं, जैसे, सामाजिक, उच्च-वर्गीय, मनोवैज्ञानिक, वर्णनात्मक, स्थानीय, जुर्म

१ देखिए 'वेबस्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी', पृ० १४७४।
२ देखिए वही, पृ० १४७४।
३ देखिए वही, पृ० १४७४।

(क्राइम) सम्बन्धी, भावुकतामय, दार्शनिक आदि। इनमे से सामाजिक उपन्यास के अन्तर्गत भी समस्या-उपन्यास, प्रचार-उपन्यास आदि का अन्तर्विभाजन मिलता है। इसी प्रकार इसमे शैली-शिल्प के आधार पर भी दो प्रकार के उपन्यास मिलते हैं, एक दृश्यमय उपन्यास तथा दूसरे नाटकीय। इसके अतिरिक्त 'दी सेन्च्युरी डिक्शनरी' ने जासूसी, चरित्र-सुधार, सैनिक-जीवन, आलोचना तथा व्यग्य सम्बन्धी और क्रीडामय उपन्यास आदि का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य मे उपन्यास के बहिर्मुखी विकास के कारण इसके अनेक रूपो का जन्म हुआ है।

आलोच्यकाल मे हिन्दी मे उपन्यास सबन्धी आलोचना का विकास--

आलोच्य काल से पूर्व उपन्यास का विवेचन पाश्चात्य-साहित्यालोचन की अपेक्षा भारतीय 'कथा' तथा 'आख्यायिका के स्वरूपो के अनुकूल था। वास्तव मे उपन्यास का स्वरूप जैसा आलोच्य काल मे विकसित हुआ है वैसा इससे पूर्व नही था, इसलिए इससे पूर्व आधुनिक आलोचना-पद्धति के अनुकूल इसके विवेचन की न अनुकूल परिस्थितिया थी, न सम्भावनाए। अतएव यत्र-तत्र क्षीण रूप मे कथा, आख्यायिका के स्वरूप का परम्परागत उल्लेख ही मिलता है। आलोच्य काल के प्रारम्भ मे भी उपन्यास के स्वरूप का इतना विवेचन नही हुआ, जितना उसके विषय का नैतिक आधार पर विवेचन। किन्तु धीरे-धीरे पाश्चात्य-साहित्यालोचन के प्रभाव-वश उपन्यास के स्वरूप, महत्त्व, उत्पत्ति, परम्परा, विषय, चरित्र, कथोपकथन, प्रकार, उद्देश्य, रचना-प्रक्रिया, प्रभाव आदि विषयो का गम्भीर विवेचन होने लगा। इस काल मे उपन्यास का साहित्य के अन्य अगो से भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। आलोच्य काल के अन्त मे उपन्यास की सैद्धान्तिक आलोचना से अधिक व्यावहारिक आलोचना का विस्तार होने लगा। इस काल के आलोचको ने उपन्यास का विवेचन, भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर करने के साथ साथ हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के स्वरूप के आधार पर भी किया। इस काल के प्रमुख लेखको का उपन्यास सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार है —

जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' —

भानु जी न उपन्यास को गद्य-काव्य मानते है और न कथा, कथानिका, कथन, आलाप, आख्यान, आख्यायिका, खण्ड-कथा, परिकथा, सकीर्ण आदि को उसके भेद कहते है। वे उपन्यासो मे शृगार, ऐय्यारी, तिलस्म, अद्भुत, निरर्थक तथा कपोल-कल्पित बातो की प्रचुरता तथा शिक्षा के अभाव की निन्दा करते है। वे मानते है कि रसीली तथा कामोद्दीपक कथाओ के स्थान पर ऐसे उपन्यासो का प्रचार होना चाहिए, जिनमे कुछ लाभदायक बातो का समावेश हो।[1] उनका यही कल्पित तथा अद्भुत कथाओ के प्रति विक्षोभ, परवर्ती-काल मे उपन्यासो मे यथार्थता तथा सम्भवता की पूर्ण मांग के रूप मे परिवर्तित हो गया।

---

१ देखिए 'काव्य-प्रभाकर' (स० १९६६), पृ० १२९।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने उपन्यास की उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य तथा रचना-प्रक्रिया पर अपने विचार प्रकट किए है। उनका विवेचन अपने युग की परिस्थितियो से प्रभावित है। इसीलिए उन्होने उपन्यासो के उद्देश्य का विवेचन नैतिक दृष्टि से किया है।

उनका विचार है कि उपन्यास प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे भी पाया जाता है किन्तु उसके नवीन स्वरूप के जनन, उन्नयन तथा प्रचलन का श्रेय पाश्चात्य लेखको को है। वे उपन्यासो को जातीय जीवन का मुकुर मानते है। उसके विषय के विस्तार के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याए, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयो के दृश्य दिखाए जाते है।"[1] वे उपन्यास मे केवल ऐसे यथार्थ चित्रण के पक्षपाती है, जिसका समाज पर हितकर प्रभाव हो। डाकुओ, चोरो, व्यभिचारियो आदि का चित्रण वे केवल दोष-निरूपण के रूप मे ही उचित समझते हैं। उनका विचार है कि जो उपन्यास-लेखक अश्लील दृश्य दिखाकर पाठको के पाशविक विचारो की उत्तेजना करता है अथवा ऐसे चरित्रो के चित्र खीचता है, जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है।[2] वे उन्हे ही श्रेष्ठ उपन्यास मानते है, जिनके पात्र चिर-काल तक सदुपदेश तथा समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं। वे उपन्यासो मे सम्पूर्ण-समाज के चित्रण के पक्षपाती है तथा समाज के किसी एक अग को लेकर चलने वाले उपन्यासो को मध्यम-श्रेणी का मानते है। वे मानते हैं कि उपन्यासो द्वारा काव्य, नाटक तथा साहित्य के अन्य रूपो से अधिक सरलता से शिक्षा दी जा सकती है।

उनका विचार है कि श्रेष्ठ उपन्यास लिखने के लिए पाश्चात्य साहित्यालोचन का उपन्यास सम्बन्धी तत्त्व-विवेचन अनिवार्य नही है। इससे अपरिचित रह कर भी मनुष्य-स्वभाव के ज्ञान, विचारो की अभिव्यक्ति की शक्ति तथा समाज के हित तथा अनहित का ध्यान रखने की शक्ति के आधार पर भी अच्छे उपन्यास लिखे जा सकते हैं।[3] वे केवल मनोविज्ञान के नियमो के आधार पर ही उपन्यास-रचना करने मे सफलता नही मानते। उनका विचार है कि उपन्यासो मे किसी के मन के भावो की अभिव्यक्ति के लिए उसके सस्कार, तत्कालीन अवस्था, आसपास की व्यवस्था तथा उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियो की आलोचना करनी भी आवश्यक है।[4] वे मनुष्यो के मानसिक भावो की अभिव्यक्ति तथा विकास करने के लिए सयत कल्पना को आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि मनुष्यो के शरीर, भाषा, चित्रकला, कारीगरी तथा अनुमान के द्वारा उनके

---

१. 'सचयन' सकलनकर्त्ता प्रभात शास्त्री (स० २००६), पृ० १४६।
२. देखिए वही, पृ० १४७।
३ देखिए वही, पृ० १४०।
४ देखिए वही, पृ० १४४-१४५।

मानसिक भावो का पता चल सकता है। उनका विचार है कि उपन्यासकार को अपने मन को माप-दण्ड समझ कर उसी के द्वारा औरो के मन की माप नही लेनी चाहिए, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति का मन पृथक् पृथक् परिस्थितियो मे पृथक् प्रकार से कार्य करता है।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने उपन्यास के स्वरूप, प्रभाव, उत्पत्ति, प्रकार तथा लक्ष्य का विवेचन किया है। वे उपन्यास को साहित्य का एक प्रधान अग मानते है। उनका विचार है कि मानव-प्रकृति पर उपन्यासो का विशेष प्रभाव होने के कारण इनसे भाषा की बहुत कुछ पूर्ति तथा समाज का बहुत सा कल्याण होता है[1] और आधुनिक हिन्दी मे उपन्यास का नाम तथा उसका अगरेजी ढाचा बगला से आया है। वे उनके पुराने तथा नए दो प्रकार के ढाचे मानते है। उनका विचार है कि पुराने ढाचे मे काव्यत्व की मात्रा रहती है तथा नये मे काव्यत्व, दृश्य-वर्णन, भाव-व्यजना तथा आलकारिक चमत्कार का वहिष्कार होता है। इन दोनो की विशेपताओ के सम्बन्ध मे वे लिखते है कि "उपन्यासो के पुराने ढाचे मे भारतीय कथात्मक-गद्य-प्रबन्धो, जैसे कादम्बरी, दश कुमार-चरित आदि के स्वरूपो का आभास रहता है और मनुष्य के दोषो और पापो को उदार दृष्टि से देखना, सत्पथ से भटके हुए लोगो के प्रति घृणा का भाव न उत्पन्न करके दया का भाव उत्पन्न करना और जीवन की कठोर वास्तविक परिस्थितियो के बीच भी उदात्त और कोमल भावो का स्फुरण दिखाना आधुनिक उपन्यासो का आदर्श माना जाता है।"[2]

वे उपन्यासो मे उक्ति-वैचित्र्य तथा भाव-विधान के लिए कोई स्थान नही मानते। उनका विचार है कि उपन्यास मे अर्थ का प्रकृत, सरल तथा अभिधात्मक रूप और घटनाओ की मर्मस्पर्शिता ही प्रमुख रूप मे विद्यमान रहती है। इस बात मे उनका श्यामसुन्दर दास जी से मतभेद है, जो घटनाओ का प्रभाव, चरित्र के प्रभाव से अधिक स्थायी नही मानते। वास्तव मे उपन्यासो मे घटनाओ की प्रधानता तो होती है किन्तु यह नही कहा जा सकता कि मन को रमाने की शक्ति केवल घटनाओ मे ही है। पात्रो के भावो की अभिव्यजना, उनके विचारो की अभिव्यक्ति तथा वस्तु-चित्रण मे भी मन को रमाने की शक्ति रहती है। श्यामसुन्दर दास जी पात्रो के भावो को भी घटनाओ के समान ही महत्त्व देते है। उनके विचार से घटना का प्रभाव इतना स्थिर नही रहता, जितना किसी पात्र के गम्भीर मर्मस्पर्शी भावो का, जो उसके चरित्र के चित्र को मानस-पटल पर स्थायी रूप मे अकित करने मे सहायक होते हैं।

उन्होने उपन्यासो के अन्य प्रकारो की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यास का विवेचन अधिक किया है। उनका विचार है कि ऐतिहासिक उपन्यासो के लिखने मे उपन्यासकार

---

१. 'उपन्यास' शीर्षक निवन्ध भाग १५ ना० प्र०प०, सख्या २ ।
२ 'चिन्तामणि', भाग २ (स० २००२), पृ० २५७ ।

को इतिहास की उस घटना पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए, जिसका इतिहासकार ने वर्णन नही किया है। इतिहास में वर्णित, देश, काल, आचार, व्यवहार आदि की सीमा मे उसे उस व्यापार को विस्तार के साथ, चित्र के रूप मे रखना चाहिए, जो केवल उसमे दो एक शब्दो मे ही निर्दिष्ट हो। वे मानते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासो मे इतिहासकार जो कुछ परिवर्तन करता है, वह इतिहास के तथ्य के आधार पर कर सकता है, कोरी कल्पना या अनुमान पर नही।

शुक्ल जी उपन्यास का लक्ष्य मानव जीवन के अनेक रूपो का परिचय कराना मानते है। उनका विचार है कि ये उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओ को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करते है, जिनसे मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है।[1] इस प्रकार वे उपन्यास को भावनाओ की अपेक्षा घटनाओ मे सम्बद्ध करते हैं।[2]

श्यामसुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास जी ने उपन्यास की परिभाषा, स्वरूप, उत्पत्ति, परम्परा, प्रकार तथा उसके विभिन्न तत्त्वो पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वे पाश्चात्य आलोचको की भाति उपन्यास को मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा कहते हैं[3] तथा उपन्यास के अन्तर्गत उस सम्पूर्ण कथा-साहित्य को ग्रहण करते है, जो गद्य की प्रणाली मे लिखा जाता है।[4] वे हिन्दी के उपन्यासो को या तो आधुनिक समय की उत्पत्ति मानते है या उनकी परम्परा का सम्बन्ध प्रेमाख्यानक काव्यो से जोडते है। उन्होने इसे सामान्य रूप मे श्रव्य काव्य के अन्तर्गत रखा है तथा जीवनी और कविता के मध्य की वस्तु माना है। वे इसकी काल्पनिक कथा को असत्य कथा नही समझते तथा इसमें कुछ व्यक्तियो के साथ कुछ घटनाओ को किसी एक क्रम-विशेष से इस प्रकार घटित होता हुआ मानते हैं कि समस्त व्यापार मे नित्य-प्रति के से जीवन की सी वास्तविकता दिखाई पडती है। इसकी वास्तविकता के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि "कवि, लेखक या चित्रकार आदि को सत्यता, वास्तविकता और कल्पना का मेल मिलाना पडता है। उसका अकित चित्र वास्तविक भी होता है तथा काल्पनिक भी। वह वास्तविक तो इसलिए होता है कि सचमुच होने वाली घटनाओ से बहुत कुछ मिलता-जुलता होता है और कल्पित इसलिए होता है कि वास्तव मे उसका कोई अस्तित्व नही होता। तात्पर्य यह है कि वास्तविकता और कल्पना दोनो की समान रूप से आवश्यकता होती है। न तो

---

१ देखिए 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', ले० शिव प्रसाद, पृ० ११२ ।

२ "उपन्यास मे मन बहुत कुछ घटना-चक्र मे लगा रहता है। पाठक का मर्म-स्पर्श बहुत कुछ घटनाए करती है, पात्रो द्वारा भावो की लम्बी चौडी व्यजना की अपेक्षा उतनी नही रहती।" 'चिन्तामणि' भाग २ (स० २००२), पृ० १७७ ।

३ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृ० १७६ ।

४ देखिए वही, पृ० १७६ ।

कोरी कल्पना से ही काम चल सकता है और न निरी वास्तविकता से ही। वास्तविकता मे कल्पना का और कल्पना मे वास्तविकता का सम्मिश्रण ही आनन्ददायक और शिक्षाप्रद हो सकता है।"[1] सत्यता तथा वास्तविकता के अनन्तर वे उसमे नीति का विशेष स्थान मानते है। उनका विचार है कि "यदि उपन्यास का सम्बन्ध जीवन से है तो नीति से भी उसका सम्वन्ध होना चाहिए और नीति के साथ उसका जितना ही अधिक मम्वन्ध होगा, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय होगा।"[2] पर वे उपन्यासो के द्वारा प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष रूप मे ही नतिक शिक्षाए देने के पक्ष मे है।

उन्होने हडसन की भाति उपन्यास के ६ तत्त्वो—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली तथा उद्देश्य का विवेचन किया है।[3] वे उपन्यासो मे जीवन की साधारण और तुच्छ वातो की अपेक्षा मूल भावो का चित्रण आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि "किसी अच्छे उपन्यास की महत्ता इसी में होती है कि वह उन वातो पर अधिक जोर दे जो जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, दृढ और शिक्षामय बनाती है।"[4] वे मानते है कि जब तक उपन्यासकार की कल्पना-शक्ति अनुभव का सहारा लेकर अपने कार्य मे प्रवृत्त न होगी, तव तक वह उपन्यास की कथा-वस्तु के सजोने में सफल नही होगा। वे समझते है कि उपन्यास की कथा-वस्तु चित्ताकर्षक, पाठको के मर्म का स्पर्श करने वाली, चित्त को वहलाने वाली तथा शक्ति देने वाली हो। उसमे मानव जीवन के वास्तविक रहस्य छिपे हो, उसकी कथा के सब अगो मे परस्पर साम्य तथा समीचीनता हो, वर्णित घटनाए अपने मूल आधार से स्वत निकलती हो, साधारण वाते भी असाधारणत्व प्राप्त करके प्रकट हो, असाधारण वस्तुए भी साधारण तथा स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत हो, कथा का अन्त वर्णित घटनाओ के अनुकूल हो और उसका समाहार पूर्वापर विचार से ठीक-ठीक हुआ हो। उनका विचार है कि कथा कहने का कौशल इस वात में है कि उसमें कोई कष्ट-कल्पना या अस्वाभाविकता न हो तथा उसके कहने में सुगमता, स्वाभाविकता और मनो मुग्धकारिता स्पष्ट दिखाई देती हो। वे उपन्यासो मे इतनी सम्बद्धता होनी भी उचित नही समझते कि उसके अलग-अलग परिच्छेद अलग कथाए ही जान पडे।[5] वे उसकी अवान्तर कथाओ का दूध-चीनी का सा मिश्रण आवश्यक समझते है। उन्होंने उपन्यासो की कथा कहने के तीन ढगो का निर्देश किया है (१) ऐतिहासिक या अन्य-पुरुष वाचक, (२) आत्मचारित्रिक या उत्तम-पुरुषवाचक, और (३) पत्रात्मक। इनमे से वे पहले ढग को सर्वश्रेष्ठ मानते है।

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन', पृ० २१५।
२ वही, पृ० २१५।
३ देखिए 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑव लिटरेचर' (प्र० १९१३) मु० १९५४, पृ० १३१।
४ वही, पृ० १७९।
५ देखिए वही, पृ० १९४।

वे उपन्यासों के पात्र-चित्रण में सजीव वर्णन की विशेष आवश्यकता समझते हैं। उनका विचार है कि "जैसे किसी दृश्य-काव्य में किसी पात्र और उसके अभिनय को देखकर हम उसके चरित्र से परिचित होते हैं, वैसे ही उपन्यास में उसके आकार-प्रकार और रूप-रंग का जीता जागता वर्णन पढ़कर हम उससे अपना मानसिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।"[१] वे मानते हैं कि उपन्यास के पात्रों की शारीरिक बनावट या प्रकृति आदि में जो कुछ विशेषता हो तथा किसी संकट के समय उनकी भाव भंगी और आचार-व्यवहार में जो कुछ महत्ता या विशिष्टता हो वह पाठकों के मानसिक नेत्रों के सामने वर्णन द्वारा साक्षात् सजीव रूप धारण करके उपस्थित होनी चाहिए।[२] वे मानते हैं कि उपन्यासकार को पात्रों के सम्बन्ध में सब बातें एक साथ न कह कर उन्हें अपनी स्थिति तथा अनुभव के अनुसार, अपने चरित्र को क्रमशः प्रकट करने के लिए छोड़ देना चाहिए। उपन्यास के पात्रों को सजीव स्त्री-पुरुषों की भांति अपनी भूमिका सम्पादित करनी चाहिए और अपनी मानवी स्थिति का भाव पाठकों के मन पर अंकित कर देना चाहिए।[३] वे समझते हैं कि कल्पित पात्र भी उपन्यासकार की विभावना की तीव्रता या उत्कर्ष और कल्पना की यथार्थकारिता की शक्ति से वास्तविकता प्राप्त कर लेते हैं। वे चरित्र-चित्रण के लिए, उपन्यासकार में, संसार के अनुभव तथा मानव-प्रकृति के विश्लेषण की विशिष्ट आवश्यकता मानते हैं। उन्होंने भी पाश्चात्य मतानुसार चरित्र-चित्रण की विश्लेषणात्मक तथा अभिनयात्मक नामक दो प्रमुख प्रणालियां मानी हैं। वे वस्तु तथा पात्र-चित्रण में से चरित्र-चित्रण का महत्त्व अधिक मानते हैं, क्योंकि उनके विचार से मनुष्य के हृदय पर घटनाओं का प्रभाव पात्रों की अपेक्षा अधिक तथा स्थायी नहीं हो सकता।[४] वे उपन्यासकार के लिए पात्रों के चरित्रों में अकस्मात् परिवर्तन होने के कारणों की सूचना देना भी आवश्यक समझते हैं।

कथोपकथन के सम्बन्ध में उनका विचार है कि इसका प्रमुख उद्देश्य वस्तु का विकास तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण करना है। वे मानते हैं कि कथोपकथन, पात्रों की स्थिति तथा अवसर के अनुकूल, सुबोध, सरस, स्पष्ट तथा मनोहर होना चाहिए अन्यथा वह बनावटी, नीरस, भद्दा तथा अनुपयुक्त प्रतीत होगा। वे कथोपकथन में स्वाभाविकता, उपयुक्तता तथा अभिनयात्मकता का समन्वय होना आवश्यक समझते हैं।

उपन्यासों के देश काल से उनका तात्पर्य उनमें वर्णित आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन और परिस्थिति से है। देश-काल को वे, ऐतिहासिक तथा सामाजिक, दो भागों में विभक्त करते हैं। उनका विचार है कि जिन सामाजिक उपन्यासों में समाज के विशिष्ट-वर्ग, देश के किसी विशिष्ट-अंग से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन होता है, वह

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (सं० १९९९), पृ० १९६।

२. देखिए वही, पृ० १९६-१९७।

३ देखिए वही, पृ० १९५।

४ देखिए वही, पृ० १९९।

विशेष मनोरंजक होता है। वे मानते हैं कि यदि कोई उपन्यास ऐतिहासिक काल की घटनाओं के आधार पर लिखा जाए तो उस काल के विचारों, भावों, व्यवहारों तथा परिपाटियों आदि का उसमें ठीक-ठीक और पूरा-पूरा वर्णन होना चाहिए।[1] वे ऐसे उपन्यासों में उसके पात्रों की अवस्था और प्राकृतिक घटनाओं में सामंजस्य स्थापित होना आवश्यक समझते हैं।

श्यामसुन्दर दास जी उपन्यास की चार कोटियां मानते हैं—(१) घटना-प्रधान, (२) सामाजिक या व्यवहार सम्बन्धी (३) अन्तरंग जीवन सम्बन्धी तथा (४) देश-काल-सापेक्ष और निरपेक्ष। उनके विचार से घटना-प्रधान उपन्यास केवल आश्चर्य-जनक घटनाओं को कौतूहलवर्धक रीति से सज्जित करने के लिए लिखे जाते हैं और प्रेम, अपराध अथवा गुप्त-नीति का रूप दिखाकर रस उत्पन्न करते हैं। असाधारणता तथा विरलता की अनोखी दुनिया का चित्रण करते हैं तथा सुखान्त होते हैं। सामाजिक तथा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यास अधिक समय तथा विशेष आशय से लिखे जाते हैं तथा विरलता की अपेक्षा सामूहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं।[2] अन्तरंग जीवन के उपन्यास, काल या समय की गति को ही प्रधानता देने वाले तथा पात्रों के सुख-दुःख से रंजित, एक स्मृति-पटल मात्र बना देने वाले होते हैं।[3] इनमें पात्रों और घटनाओं की संख्या थोड़ी और घटना-स्थल संकीर्ण होता है तथा दुःखमय और सुखमय नाटकों का सम्मिलित रूप प्राप्त होता है। इनमें भावना की भी तीव्रता होती है। इसी प्रकार देश-काल-निरपेक्ष तथा सापेक्ष उपन्यासों में या तो देश-काल दोनों का समान रूप में ध्यान रखा जाता है या दोनों ही समान रूप में विस्मृत हो जाते हैं। वस्तु-विन्यास के विचार से उन्होंने उपन्यासों के दो भेद किए हैं, एक वे, जिनमें भिन्न घटनाओं का असम्बद्ध वर्णन होता है तथा दूसरे वे जिनमें इनका सम्बद्ध वर्णन रहता है।

प्रेमचन्द—

प्रेमचन्द उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझते हैं।[4] वे उनका मुख्य कर्तव्य मनुष्यों की चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व में भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना मानते हैं। इस प्रकार वे उपन्यास का मूलाधार चरित्र-चित्रण समझते हैं, जो तभी सफल हो सकता है, जब उपन्यासकार का मानव-चरित्र का अध्ययन, सूक्ष्म तथा विस्तृत होगा।

---

१. देखिए साहित्यालोचन, पृ० २०८।
२. देखिए वही, पृ० १७९।
३. देखिए वही, पृ० १८९।
४. देखिए 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४), पृ० ५४।

उन्होंने उपन्यासो का सम्बन्ध मनुष्यो के चरित्रो के कर्म तथा विचार, देवत्व तथा पशुत्व तथा उत्कर्ष और अपकर्ष से माना है। वे उपन्यास का विषय मनोभावो के विभिन्न रूपो का भिन्न-भिन्न दशाओ मे विकास दिखाना मानते है तथा उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र के समान विस्तृत समझते है।[१] उनका कथन है कि "समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयो के लिए उपन्यास मे स्थान है। यहा लेखक को अपनी कला का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के किसी और अग मे नही मिल सकता।"[२] वे उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन अथवा कल्पना शक्ति मानते है, जिसके बिना न तो चरित्रो मे जीवन का सचार होता है और न उनकी जीती-जागती तस्वीरे खिच सकती है।

उन्होंने उपन्यास की सफलता मे विषय के महत्त्व तथा उसकी गहराई का विशेष मूल्य माना है। वे उपन्यास का आदर्श विषय, जीवन-सग्राम मे किसी मनुष्य की आन्तरिक दशा, सत् और असत् के सघर्ष और अन्त मे सत्य की विजय का मार्मिक ढग से वर्णन करना मानते है तथा केवल मानवीय दुर्बलताए, कमजोरिया तथा अपकीर्तिया दिखाना ही उनका काम नही समझते। वे उपन्यासकार का सम्बन्ध सत्य तथा सुन्दर से मानते है तथा नवीन की अपेक्षा पुराने कथानको मे अधिक रस होने के कारण उनका अधिकाधिक प्रयोग उचित समझते है। वे उपन्यासो की सामग्री पुस्तको की अपेक्षा जीवन से लेना अधिक उपयुक्त मानते है। उनका विचार है कि यदि उपन्यासकार कल्पनाकुशल है, तो वह सूक्ष्मतम भावो से भी जीवन को व्यक्त कर सकता है। वे कथाओ के गहरे भावो मे स्पर्श करने का मसाला होना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि "मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति मे तब तक जागरित नही होती, जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के भाव साधारण दशाओ मे आन्दोलित नही होते।"[३] वे उपन्यास मे वे ही घटनाए तथा विचार लाना उपयुक्त समझते है, जिनसे कथा का माधुर्य बढ जाए, जो प्लाट के विकास मे सहायक हो तथा जो चरित्रो के गुप्त मनोभावो का प्रदर्शन करते हो।[४]

चू कि उनके विचार से आधुनिक उपन्यासो का लक्ष्य, मनोभावो तथा चरित्रो के रहस्यो को खोलना है, इसलिए वे उनमे उपकथाओ की अधिकता की अपेक्षा चरित्रो का ही सर्वांग रूप मे दिखाना आवश्यक समझते है। वे मानते है कि सफल उपन्यासकार अपने पाठको के हृदय मे उन्ही भावो को जाग्रत करता है, जो उसके पात्रो मे होते है। इससे पाठको तथा पात्रो के बीच मे आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है। पर इसके लिए वे ऐसी घटनाओ की कल्पना वाछनीय मानते है, जो हमारे

---

१ देखिए 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० ६७।
२ देखिए वही, पृ० ७०।
३ देखिए वही, पृ० ७०।
४ देखिए वही, पृ० ६९।

भावो की गहराई तक पहुच जाए। उनका विचार है कि उपन्यासों के चरित्रो का चित्रण जितना स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा, उतना ही पढने वालो पर उनका असर पडेगा।[1] वे विकासशील चरित्रो को ही उपन्यास का प्राण मानते है तथा उपन्यास के पात्रो का विकास परिस्थिति के अनुसार करना और उनके चरित्रगत अन्तर को स्पष्ट करना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि उपन्यास के चरित्रो का आधार, कल्पना की अपेक्षा सत्य होना आवश्यक है तथा वही पात्र श्रेष्ठ है, जो कल्पना की अपेक्षा अनुभूति पर खडे होते हैं।

उन्होंने उपन्यासो में कथोपकथन का स्वाभाविक परिस्थितियो के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना आवश्यक समझा है।[2] उनका विचार है कि पात्रो के प्रत्येक वाक्य को उनके मनोभावो और चरित्रो पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। वे मानते है कि उपन्यास में जितने अधिक वार्त्तालाप का समावेश होगा और लेखक की कलम से जितना कम लिखा जाएगा उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वे उपन्यासो की रचना का सरल होना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि "इसमें सन्देह नही कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि हम शब्दो का गोरखधन्धा रच कर पाठक को इस भ्रम मे डाल दे कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ आशय है।"[3]

वे उपन्यासो में यथार्थवाद तथा आदर्शवाद, दोनो ही का प्रयोग आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि इनमें से केवल एक का ही प्रयोग एकागी तथा दोषपूर्ण होता है। उनका कथन है कि "वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते है, जहा यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेपता हैं। उपन्यासकार की सब से बडी विभूति ऐसे चरित्रो की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रो में यह गुण नही है, वह दो कौडी का है।"[4]

यथार्थवाद के दोषो के बारे मे उनका विचार है कि "यथार्थवाद अनुभव की बेडियों मे जकडा होता है और चूकि ससार मे बुरे चरित्रो की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र मे भी कुछ न कुछ दाग धब्बे रहते है—इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओं का नग्न-चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर

---

१ देखिए 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४), पृ० ७४ ।
२ देखिए वही, पृ० ७३ ।
३ वही, पृ० ६८ ।
४ वही, पृ० ५७ ।

से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।"[१] किन्तु यथार्थवाद का वे यह महत्त्व भी मानते हैं कि वह समाज की कुप्रथाओं की ओर ध्यान दिलाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि यह सम्भव है कि उसके बिना बुराई दिखाने में अत्युक्ति से काम लिया जाय। किन्तु वे यह भी मानते हैं कि यह जब दुर्बलताओं का चित्रण शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण करके करता है, तब आपत्तिजनक हो जाता है।

वे हर एक उपन्यास में यथार्थ का चित्रण अरुचिकर समझते हैं। उनका विचार है कि यथार्थ से ऊपर उठकर आदर्श के लोक में ही सुख शान्ति मिलती है। वे कहते हैं कि "यथार्थवाद यदि हमारी आंखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है।"[२] आदर्शवाद के बारे में उनका विचार है कि मानव स्वभाव की यह विशेषता है कि "वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़ कर पहुंच जाना चाहता है, जहां उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हूं, जहां उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहां छल, कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो।"[३] ऐसे संसार का निर्माण आदर्शवाद करता है। आदर्शवाद के गुणों के सम्बन्ध में उनका विचार है कि "वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहारकुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोका देती है, लेकिन काइंयापन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।"[४] वे आदर्शवाद के नाम पर ऐसे चरित्रों का चित्रण उपयुक्त नहीं समझते, जो केवल सिद्धान्तों की मूर्त्तिमात्र हों तथा जिनमें जीवन न हो।

वे उपन्यासों में यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के सम्यक् समावेश के साथ-साथ 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त का भी उपयोगितावाद के सिद्धान्त से समन्वय स्थापित करना उचित समझते हैं। चूंकि वे साहित्य की विशेष उपयोगिता स्वीकार करते हैं, इसलिए उपन्यासों का भी एक ऊंचा उद्देश्य मानते हैं। वे लिखते हैं कि "साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊंचा है। वह हमारा

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४), पृ० ५६।
२. वही, पृ० ५७।
३. वही, पृ० ५६।
४. वही, पृ० ५७।

पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममे सद्भावो का सचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"[1] इसी प्रकार साहित्य की उपयोगिता को मानते हुए वे 'कला के लिए कला' का भी महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखते है कि "वह साहित्य चिरायु हो सकता है, जो मनुष्य की मौलिक वृत्तियो पर अवलम्बित हो, ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दु ख और लज्जा, यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तिया है, उन्ही की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है।"[2] उपयोगितावाद तथा कलावाद के पारस्परिक समन्वय के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "हमारा ख्याल है कि क्यो न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे, जिसमे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो का सम्बन्ध निभता रहे। हा, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हो, उपन्यास की स्वाभाविकता मे उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पडने पाए, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जाएगा।[3]

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—

बख्शी जी काव्य के अन्तर्गत, नाटक तथा उपन्यास का समाहार करते है तथा यह मानते है कि उपन्यासो मे घटनाए कल्पित होने पर भी वे सत्य तथा प्रकृति के नियमो का अतिक्रमण नही करती। उनका विचार है कि उपन्यास के विषय के महत्त्वपूर्ण होने से ही कोई उपन्यास महत्त्वपूर्ण नही होता। वे भावुकता को उसका कोई विशेष अनिवार्य अग नही मानते तथा उपन्यासो मे सजीवता अर्थात् कल्पना द्वारा प्रत्यक्षीकरण तथा मानव-चरित्र के विकास का प्रदर्शन, मुख्य समझते है। उनका विचार है कि उपन्यासकार को किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यो की सृष्टि नही करनी चाहिए।

वे उपन्यासो का उद्देश्य केवल मनोरजन ही नही वरन् ज्ञान का प्रचार करना भी मानते है तथा उसी उपन्यास को श्रेष्ठ समझते है, जिससे मनुष्यत्व का अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त होता हो।[4] उनका विचार है कि उपन्यास से मनुष्य का मनोरजन ही इसलिए होता है कि उससे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। वे मानते है कि उपन्यासो के द्वारा मनुष्यो के विभिन्न प्रकार के स्वभावो का भी ज्ञान हो जाता है।

नन्ददुलारे वाजपेयी—

वाजपेयी जी का उपन्यास सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन अधिकाश रूप मे उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत ही मिलता है। उन्होने उपन्यास की रचना, स्वरूप,

---

१ 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४), पृ० ५८।
२ वही, पृ० ५८।
३ वही, पृ० ५९।
४ देखिए 'साहित्य परिचय' (सन् १९५०), पृ० १०१।

आदर्श, कला, चरित्र-चित्रण तथा कथानक के निर्माण पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वे उपन्यास में कलाकार के व्यक्तित्व, चैतन्य-आत्मा तथा चेतना को अन्तर्हित देखना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि "प्रत्येक कला वस्तु को बाहर से चाहे जितना रसमय बनाने का परिश्रम किया जाय, जब तक उसके अन्तर में कृतिकार की चैतन्य-आत्मा नहीं फल सकती, जब तक विवेकप्रसूत एक दर्शन, एक प्रवाह की भांति उस कला के शरीर को सजीवता नहीं प्रदान करता, तब तक हम उसे सम्यक् रूप में कलाकृति नहीं कह सकते हैं। यह तो एक कला कृति की बात हुई। हम तो रचयिता की सम्पूर्ण कृतियों में एक अन्तर्निहित चेतना-धारा देखना चाहते हैं।"[१] वे उपन्यासों में घटना-बाहुल्य और वर्णनों के अनावश्यक विस्तार को केवल कला की स्थूलता मात्र मानते हैं तथा उनमें स्पष्टता, सरलता, मूर्त्तता तथा प्रत्यक्षीकरण को विशेष महत्त्व देते हैं। उनका विचार है कि "कला कृति का प्रत्येक अंग—उपन्यास का प्रत्येक परिच्छेद—उसके रचयिता के सामने आरसी सा दिखाई देना चाहिए। चिकने, रुखडे, धवले, साफ, सुन्दर, भांति-भांति के रूप, जैसे भी व्यक्त किए जाएं, लेखक को प्रत्यक्ष होने ही चाहिए।"[२]

वे उपन्यास में चरित्रों के निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान और कला के सौष्ठव आदि पर जोर देते हैं। उनका विचार है कि अच्छा उपन्यास फूल की भांति खिलता तथा आप ही मुरझा कर गिर जाता है। पुष्प के विकास के समान उसके सभी अंगों का विकास होना अनिवार्य है। वे उपन्यासों में कथानक तथा चरित्र-चित्रण के साथ-साथ उसके विचार सूत्र तथा कला के सौन्दर्य को भी आवश्यक समझते हैं।

उन्होंने चरित्र-चित्रण में पात्रों के स्पष्ट व्यक्तित्व के निखरने तथा उनके सुख-दुःख की समस्या के स्पष्टीकरण की समस्या पर जोर दिया है तथा चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार में अन्तर्दृष्टि की विशेष आवश्यकता समझी है। उनका विचार है कि उपन्यासकार को केवल अपने पात्रों अथवा व्यक्तियों के भावों का ही चित्रण नहीं करना है, वरन् उनके संस्कार, परिस्थिति, रुचि, मानसिक संघटन आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। उसे मनुष्य की विविधता तथा उसके असंख्य यथार्थ रूपों का भी चित्रण करना आवश्यक है। उनका कथन है कि "उपन्यासकार अथवा कहानी-लेखक यदि अपने पात्रों की रुचि का, विकास का, प्रत्येक गति का, अध्ययन नहीं करता रहेगा तो क्या वह अन्य-साहित्य की सृष्टि करेगा? साहित्य का सच्चे अर्थ में रसमय होना साहित्यकार की इसी अन्तर्दृष्टि पर अवलम्बित है।"[३]

उनका विचार है कि उपन्यास की कथा स्वतः समाप्त होनी चाहिए। वे उपन्यास के कथानक का आधार संघर्ष नहीं मानते हैं। इस बात में उनका प्रेमचन्द जी से

---

१ 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' (प्रथम संस्करण), पृ० ९२।

२ वही, पृ० ९२।

३ वही, पृ० ९२

मतभेद है, जो सघर्ष का कथानक के निर्माण मे विशेष महत्व मानते है। वे भारतीय आलोचको की भाति सघर्ष के स्थान पर समन्वय को ही उपन्यास का लक्ष्य समझते है। उनका विचार है कि मनुष्य का मनुष्य को विग्रह की अपेक्षा सन्धि की दृष्टि से देखना अधिक उचित है। वे सुन्दर की कल्पना के लिए असुन्दर का सहारा लेना आवश्यक नही समझते। उनका विचार है कि प्रकाश को अपने विस्तार के लिए अन्धकार की आवश्यकता नही है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—

मिश्र जी ने कथा-काव्य को कविता से पृथक् करते हुए, एक ही वृत्ति को कुतूहल वृत्ति तथा दूसरी को रमण वृत्ति मानकर दोनो को साहित्य की पृथक्-पृथक् धाराए माना है। इस प्रकार वे भी शुक्ल जी की भाति उपन्यास मे घटना-चमत्कार की प्रमुखता तथा रमण-वृत्ति की गौणता मानते है। हमे यह बात पूर्ण रूप से मान्य नही है, क्योकि यह आवश्यक नही है कि उपन्यास मे रमण-वृत्ति की प्रधानता कही हो ही नही। कभी-कभी भावपूर्ण स्थलो पर जब मन रम जाता है, तो उसे बार-बार पढने को उसी प्रकार मन करता है, जिस प्रकार काव्य को। उपन्यास में कौतूहल-वृत्ति के अतिरिक्त रमण-वृत्ति भी होती है और यह जितनी अधिक होगी उपन्यास उतना ही हृदयस्पर्शी होगा। इसलिए इनको साहित्य की पूर्णतया पृथक् धाराए नही माना जा सकता। श्यामसुन्दर दास जी भी उसी उपन्यास को श्रेष्ठ मानते हैं, जिसमे दोनो वृत्तियो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। केवल कौतूहल-प्रधान उपन्यासो का युग अब नही रहा है। आधुनिक उपन्यासो मे हृदय के मार्मिक स्थलो का स्पर्श करके भावो को उद्वेलित करने की शक्ति का होना अनिवार्य है। यदि कोई उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक भावनाओ के अन्त सघर्ष का यथार्थ चित्रण कुशलता से करता है, तो पाठक का मन ही उपन्यास मे नही रमता, वह कविता के रस की भाति उसके आनन्द मे सब कुछ भूल भी जाता है।

वे उपन्यासो की उत्पत्ति सस्कृत की आख्यायिकाओ तथा कथाओ से मानते है। उनका विचार है कि इतिवृत्त वाली कथा 'आख्यायिका' तथा कल्पित कथा 'कथा' कहलाती है। वे इन कथा-काव्यो मे वैचित्र्यपूर्ण घटनाओ की अपेक्षा काव्य-तत्त्व का विशेष विधान मानते है। उनके विचार से आधुनिक उपन्यासो तथा सस्कृत के कथा-काव्यो मे यह अन्तर है कि सस्कृत के कथा-काव्यो का लक्ष्य रस और आधुनिक उपन्यासो का लक्ष्य शील-वैचित्र्य होता है। प्राचीन काव्यो मे सारे पात्रो की विशेषताओ तथा शील पर दृष्टि नही रखी जाती थी, केवल काव्य के नायक और नायिका पर ही थोडी-बहुत दृष्टि रहती थी। इन नायक-नायिकाओ के भी ढले-ढलाए साचे ही काम मे लाए जाते थे।

वे शुक्ल जी की भाति हिन्दी के नवीन उपन्यासो की रचना अगरेजी तथा बगला के उपन्यासो से मानते है। उन्होंने हिन्दी उपन्यासो की चार प्रवृत्तियों की ओर ध्यान दिलाया है। प्रथम तो उनकी कथा सर्व सामान्य तथा व्यापक कथा-भूमियो पर निर्मित

न रह कर उनके जीवन मे ही सीमित रहती है, जिनमे उपन्यास पढने की रुचि है। दूसरे, इनमे वर्णनो का सकोच होता जा रहा है तथा स्थानो और प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन और पात्रो के चित्र हटाए जा रहे है। वे उपन्यासो मे वर्णन के विशेष पक्ष मे है। उनका विचार है कि "पाठक अपनी ओर से चित्र की कल्पना कर लेगा, कोई समाधान नही। घटनाओं की पूर्णता इसी मे है कि वे हमे किसी विशेष स्थल मे घटित होती दिखाई दे। उनकी यदि सूक्ष्म नही तो स्थूल रूपरेखा होनी चाहिए। जसे प्रबन्ध-काव्य वर्णन की अपेक्षा रखता है, वैसे ही उपन्यास भी।"[1] तीसरे हिन्दी उपन्यासो के द्वारा साम्प्रदायिक प्रचार होता है, जिसके कारण निरीक्षण दोषपूर्ण होता जा रहा है तथा चौथे इन उपन्यासकारो मे कुछ करके दिखाने का हौसला है, जो उन्हे पथ-भ्रष्ट करता जा रहा है।

उपन्यास के तत्त्वो के सम्बन्ध मे विचार करते हुए वे भारतीय साहित्य-शास्त्र के तीन तत्त्व—वस्तु, नेता तथा रस एव पाश्चात्य साहित्यालोचन के ६ तत्त्व, वस्तु, चरित्र, सम्वाद, देश काल, शैली और उद्देश्य मे से केवल वस्तु को ही उभयनिष्ठ मानते है। वे उपन्य म की कथा-वस्तु के सघटन के विचार से उसके दो भेद मानते है, पहला शिथिल या निरवयव (लूज) तथा दूसरा सावयव (ओरगेनिक)। इसी प्रकार विस्तार के विचार मे उन्होने कथाओ के दो भेद किए है—शुद्ध या एकार्थ (सिपिल) और सकुल (कम्पाउण्ड)।

इस प्रकार उन्होने प्रकृति के विचार से पात्रो के भी दो प्रकार माने है, गूढ (कम्पलेक्स) और अगूढ (सिम्पिल या फ्लेट)। वे जातिगत तारतम्य के विचार से मनुष्यतागत, वर्गगत और व्यक्तिगत विशेपता वाले तीन प्रकार के पात्र मानते है। वर्गगत चरित्र किसी वर्ग के प्रतिनिधि, व्यक्तिगत चरित्र स्वगत विशेपताओ से युक्त तथा आदर्श-चरित्र साधु या असाधु होते है। वे रहन-सहन के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के चरित्र और मानते है। इनमे से जो अनेक आपत्तियो के पडने पर भी स्थिर चित्त रहे, वे उत्तम और जो कम समय तक स्थिर रहे और फिर उद्विग्न हो जाय वे मध्यम और जो साधारण आपत्तियो से ही घबरा उठे वे अधम है।[2]

उनका विचार है कि उपन्यासो के भेद, कथा-वस्तु, घटना, पात्र, चरित्र, कथन-शैली तथा उद्दिष्ट विषय के विचार से किए जा सकते है। इनमे से कथा-वस्तु के तीन भेद है—(१) ख्यात वृत्त, (२) कल्पित वृत्त, तथा (३) मिश्र। ख्यात वृत्त मे ऐतिहासिक वृत्त ग्रहण किया जाता है। इनके भी वे दो भेद मानते है—एक तो वे, जिनमे पुरातत्त्व के अनुसधान पर शुद्ध ऐतिहासिक कथा का सविधान किया जाता है और दूसरे वे जिनमे स्थूल रूप मे ऐतिहासिक कथा ग्रहीत होती है।[3] उनके कल्पित वृत्त के अन्तर्गत

१. 'वाङ्मय विमर्श' (स० २०००), पृ० ५२।

२ वही, पृ० ५१।

३ देखिए वही, पृ० ५४।

उपन्यासो के सभी भेद आ जाते है। घटनाओ के विचार से उन्होंने उनके दो भेद माने है, प्रथम वे, जिनमे घटनाओ की प्रधानता होती है तथा दूसरे वे, जिनमे इनकी गौणता होती है। इसी प्रकार घटना-प्रधान उपन्यासो के भी वे दो भेद मानते है, एक वे जिनमे असम्बद्ध किन्तु चमत्कार-पूर्ण घटनाए होती है तथा दूसरे वे जिनमे सुसम्बद्ध तथा रोचक घटनाए होती है। उनका विचार है कि घटनाओ की गौणता वाले उपन्यासो मे भाषा-व्यजना या कवित्व का चमत्कार दिखाना ही ध्येय होता है, घटनाओ का उत्कर्ष दिखाना नही। इसी प्रकार वे मिश्र वृत्तो के अन्तर्गत नाम मात्र के लिए ही ख्यात वृत्त का ग्रहण मानते है।

वे उन कथा-काव्यो को शुद्ध साहित्यिक मानते है, जिनमे घटनाओ तथा पात्रों का तुल्य वल-विधान होता है। इसके अतिरिक्त उन्होने कथन-शैली के विचार से चार प्रकार के उपन्यासो का निर्देश किया है, ऐतिहासिक या अन्य पुरुष वाचक, आत्म-चरित या उत्तम पुरुष वाचक, पत्रात्मक तथा डायरी-शैली वाले। इसके अतिरिक्त वे भाषा-चमत्कार के प्रदर्शन की शैली वाले उपन्यास भी मानते है जैसे 'ठेठ हिन्दी का ठाट' आदि। उद्देश्य के विचार से उन्होने समस्यामूलक उपन्यासो की भी एक कोटि मानी है।

विनोदशकर व्यास—

व्यास जी ने 'उपन्यास-कला' मे उपन्यास की कला का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने उपन्यास के स्वरूप, कथानक, चरित्र-चित्रण, देश काल, वार्त्तालाप, प्रकार तथा उद्देश्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि भिन्न-भिन्न कथाओ के समाविष्ट होने पर भी प्रत्येक उपन्यास का एक विशेष स्वरूप होता है। वे मानते हैं कि उपन्यास का स्वरूप तभी स्पष्ट हो सकता है,जब उसमे घटनाए, चरित्र-चित्रण तथा सामाजिक परिस्थितियो का विस्तृत वर्णन हो। यदि लेखक समय का विचार नही करेगा, तो वह उपन्यास के भिन्न-भिन्न अवयवो को न तो एक ढाचे मे ढाल सकता है, न उसका स्वरूप खडा कर सकता है। उनका विचार है कि "उपन्यास एक चित्रित किया हुआ चित्र है तो कहानी पत्थर पर उभडी हुई वे रेखाए है, जो स्वय एक चित्र है"[१] वे सम्पूर्ण जीवन को उपन्यास का क्षेत्र मानते है। उनका विचार है कि उसमे कहानी से अधिक विषय तथा घटनाए आ सकती है तथा उसमे भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव उत्पन्न किए जा सकते हैं।

वे उपन्यास मे कथानक क वह महत्त्व मानते है, जो शरीर मे हड्डियो का है। उनका विचार है कि इसके कथानक की रचना एक निश्चित वैज्ञानिक क्रम से होनी चाहिए। कथानक को अपने सम्पूर्ण अवयवो के साथ क्रमश विकसित होकर अन्त तक पहुचना चाहिए। वे कथानक के चार भाग मानते है। आरम्भिक या प्रस्तावना के

१. देखिए 'उपन्यास-कला' (सन १९४१), पृ० ११८।

भाग मे, पात्रो का परिचय तथा घटना-क्रम का पूर्व इतिहास अथवा परिस्थिति का चित्रण होता है और भविष्य की घटनाओ का पूर्वाभास दिया जाता है। इसके पश्चात् दूसरा भाग कथानक के वास्तविक स्वरूप को लिए हुए होता है। इसमे कथानक का क्रियात्मक अश आरम्भ होता है, सघर्ष की तैयारी होने लगती है और मानसिक सघर्ष तथा परिस्थितिया द्रुत गति से दौडने लगती है। कथा का तीसरा भाग सघर्ष है तथा चौथा परिणाम है। परिणाम मे कथानक के सभी रहस्य छिपे रहते है। यही उपन्यास का मूल जीवन-स्पन्दन है तथा इसमे स्वाभाविकता और सन्देहहीनता का होना अनिवार्य है। वे कथानक के परिणाम के साथ सभी रहस्यो का खुल जाना तथा सभी घटनाओ का विश्लेषण हो जाना आवश्यक समझते है।[1]

वे उपन्यास की कला तथा निपुणता को उसके चरित्र-चित्रण पर निर्भर मानते है। उनका विचार है कि उपन्यास की वस्तु-स्थिति का पात्रो के चरित्र से निकट सम्बन्ध होता है। उन्होने चरित्र-चित्रण के पाच प्रकारो का उल्लेख किया है, वर्णनो द्वारा, सकेतो द्वारा (जिसमे चरित्र की कृतियो का लाक्षणिक उल्लेख, दृश्यो तथा घटनाओ के सहारे होता है) वार्त्तालाप द्वारा, घटनाओ द्वारा (जो पात्रो मे परिवर्तन प्रस्तुत करती है) तथा पात्रो के एकाकी विचार द्वारा (जिसमे मनोवैज्ञानिक अनुभवो का आधार वाछनीय होता है)। इनके अतिरिक्त उपयुक्त भाषा, स्पष्ट भाव-व्यजना और वस्तु तथा पात्रो के उचित सामजस्य से भी चरित्र-चित्रण सफल होता है।

वे मानते है कि उपन्यास मे स्थान तथा परिस्थितिया कार्य पर प्रभाव डालती हैं तथा कार्य का प्रभाव तभी गम्भीर और दृढ होता है, जब स्थान तथा कार्य मे सामजस्य हो। इसी प्रकार पात्रो के हृदय के सघर्ष को दिखाने के लिए समय का सीमित या विस्तृत करना भी वे आवश्यक मानते है। वे समय के नियत्रण के लिए स्थान का नियत्रण होना आवश्यक समझते है। उनके विचार से उपन्यासो मे वास्तविक सप्ताहो तथा महीनो का कोई महत्त्व नही है, वरन् हृदय पर समय के अनुमान के प्रति जो भावनाए उठती है, उनका ही महत्त्व है।[2]

वे अच्छे उपन्यास के लिए वार्त्तालाप मे नीरसता तथा अनावश्यक विस्तार का अभाव होना आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि वार्त्तालाप का उपन्यासो मे इसलिए विशेष महत्त्व है कि यह घटनाओ को गतिशील बनाने मे सहायक होता है, आकर्षण तथा मनोरजन की वृद्धि करता है तथा चरित्र-चित्रण मे स्वाभाविकता उत्पन्न करता है। उसके द्वारा कथा-भाग तथा घटनाओ का उल्लेख एव समाज तथा सस्कृति का वर्णन भी होता है।

---

१ देखिए 'उपन्यास कला' (सन् १९४१), पृ० १६२।

२ देखिए वही, पृ० १७६।

वे उपन्यासो के सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक आदि प्रकारो को उपन्यासो के प्रकार की अपेक्षा उनके उद्देश्य समझते है।[1] उन्होंने गुण की विशेषता के आधार पर उनके चरित्र-प्रधान, क्रियात्मक, ऐतिहासिक तथा सामयिक, नामक पाच प्रकार माने हैं। उनका विचार है कि चरित्र-प्रधान उपन्यासो मे पात्र स्थिर होते है तथा इनमे केवल उपन्यासकार का ध्यान चरित्रगत विशेषताओ तथा दुर्बलताओ पर प्रकाश डालना होता है। ऐसे उपन्यासो मे कथानक, गठित तथा सुदृढ नही रहता। क्रियात्मक उपन्यास मे एक घटना को प्रधानता देकर अनेक घटनाओ को उसके चारो ओर केन्द्रित किया जाता है। वे घटनाए एक क्रम से घटित होती है तथा किसी भी परिणाम तक पहुच सकती है। इसमें उपन्यास का उद्देश्य घटनाओ को उपस्थित करना होता है। नाटकीय उपन्यासो मे कथानक तथा पात्र दोनो ही स्वतत्र रूप मे एक दूसरे से बधे रहते है। पात्रो की विशेषताए क्रिया को निश्चित करती है तथा परिणाम मे क्रियाए पात्रो को विकसित करती हुई परिवर्तित होती है। इनमे पात्रो का क्षेत्र सकुचित होने के कारण क्रियाए विषमतर होती जाती है। इनका अन्त दो प्रकार से होता है—मृत्यु अथवा सामजस्य से। ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐतिहासिक पात्रो के जीवन पर प्रकाश डालना ही लेखक का मुख्य उद्देश्य होता है। इसमे ऐतिहासिक घटना को विस्तृत करके उसके महत्त्वपूर्ण अग पर प्रकाश डाला जाता है। सामयिक उपन्यासो मे समय की गति तथा विचार का विशेष ध्यान रहता हैं। ये उपन्यास परिस्थितियो द्वारा नियत्रित रहते हैं।

उनका विचार है कि उपन्यास का उद्देश्य प्रभावशाली होना चाहिए तथा पाठक का उस पर विश्वास जम जाना चाहिए। उपन्यासकार का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह भिन्न-भिन्न उपायो द्वारा यह व्यक्त कर दे कि कहने वाले का व्यक्तित्व कैसा है। वे उद्देश्य के अनुसार ही परिस्थिति तथा पात्रो का चित्रण होना अनिवार्य मानते है।

शिवनारायण श्रीवास्तव—

श्रीवास्तव जी ने 'हिन्दी उपन्यास' नामक पुस्तक मे उपन्यास की कला का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होने उपन्यासो की उत्पत्ति, प्रभाव, स्वरूप, कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, उद्देश्य, प्रकार, विषय आदि विषयो का निरूपण किया है। वे कहानियो के विकसित रूप को उपन्यास मानते है तथा उसे परिवर्तित सामाजिक एव कलात्मक परिस्थितियो की देन समझते है।[2] उनका विचार है कि उपन्यास मानव-जीवन से सम्बद्ध तथा अभिव्यजना का बिलकुल निजी तथा सवेदनापूर्ण साधन है। वे मिश्र जी की भाति उपन्यासो मे कुतूहल वृत्ति को प्रधान तथा रमणवृत्ति

---

१ देखिए 'उपन्यास कला' (सन् १९४१), पृ० १३१।
२. देखिए 'हिन्दी उपन्यास' (स० २००२), प्र० सरस्वती मन्दिर, पृ० २।

को गौण मानते हैं। वे उपन्यासो को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) कहते हैं। उन्होंने नाटक को साहित्य का सब से बड़ा तथा उपन्यास को उसका सब से खुला रूप माना है। वे भी नवीन उपन्यासो को पाश्चात्य प्रभाव से अनुरंजित मानते है।[1] वे मानते है कि हिन्दी के आरम्भिक कथावाङ्मय पर पुरातन पद्यात्मक कथा-वाङ्मय का विशेष प्रभाव पडा है।

वे उपन्यास की कथा-वस्तु मे रोचकता, सलक्षणता, सुसगतता, सचाई, अनुभव का आधार, घटनाओ की कुशल सघटना, स्वाभाविक प्रवाह, अकृत्रिमता तथा विश्वास-जनक उपायो के प्रयोग की आवश्यकता का अनुभव करते है। उन्होने भी मिश्र जी की भाति उपन्यासो की दो प्रकार की कथा-वस्तु मानी है—प्रथम असम्बद्ध या शिथिल तथा दूसरी सम्बद्ध तथा सुगठित। वे कथा-वस्तु की घटना का मूल पात्रो मे समाहार होना आवश्यक मानते है तथा सजीवता, वास्तविकता, स्वच्छन्दता और निजी व्यक्तित्व का चित्रण आदि चरित्र-चित्रण की विशेषताए समझते है। इसी प्रकार वे श्रेष्ठ कथोप-कथन का मानदण्ड वास्तविक जीवन की बातचीत की अनुरूपता मानते है तथा उसमें स्वाभाविकता, प्रसगानुकूलता, रमणीयता, सहजता, युक्तिसगतता, सार्थकता, प्रभा-वान्विति (यूनिटी आव् इम्प्रेशन) पूर्णता, सम्बद्धता तथा पात्रो की वैयक्तिकता आदि गुण होना आवश्यक मानते हैं।

वे देश काल का उचित प्रयोग उपन्यास की रचना को अधिक सजीव, सलक्षण तथा सुसगत बनाने के लिए उचित समझते है तथा इसमे आचार-विचार, राज नीति, रहन-सहन, प्राकृतिक पीठिका तथा परिस्थिति आदि को सम्मिलित करते है। उन्होंने इसके दो भेद किए है, सामाजिक तथा भौतिक या प्राकृतिक (मेटीरियल)। वे देश-काल के वर्णन को कथा तथा चरित्र-चित्रण से आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि बाह्य-दृश्य-विधान कई प्रकार से कहानी मे विशालता, विस्तार, गाम्भीर्य, शक्ति तथा सौन्दर्य उपस्थित करता है। वे मानते है कि इसका समावेश, सुरुचि तथा सुबुद्धि से प्रेरित होना चाहिए।

उनका विचार है कि उपन्यास का पूर्व निश्चित उद्देश्य होना चाहिए। वे उसका उद्देश्य मतो के खडन-मडन या किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन की अपेक्षा मानव जीवन का निरीक्षण करके केवल उसके छाया-चित्र उपस्थित करना मानते है।[2] वे उपन्यासो का सम्बन्ध नीति से मानते है तथा उपन्यासकार की सफलता तथा महत्ता उसकी नैतिक शक्ति और अन्तर्दृष्टि तथा सम्पूर्ण दार्शनिक व्याख्या के भावार्थ और प्रवृत्ति पर निर्भर समझते है।[3]

उन्होंने भी उपन्यासो के प्रकारो का वर्गीकरण, तत्त्व, वर्ण्य वस्तु तथा रूप-भेद के आधार पर किया है। वे तत्त्वो के अनुसार, घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान तथा

---

१ देखिए 'हिन्दी उपन्यास' (स० २००२), प्र० सरस्वती मन्दिर, पृ० ५६।
२ देखिए वही, पृ० २५।
३ देखिए वही, पृ० ३०।

घटना-चरित्र-प्रधान, नाटकीय तथा वर्ण्य वस्तु के विचार से, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक, आर्थिक और प्राकृतिक तथा रूप-भेद के आधार पर उसके चार भेद घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, घटना-चरित्र सापेक्ष या नाटकीय और ऐतिहासिक मानते है। वे आदर्शवाद के रूप मे इनके वर्गीकरण का कोई सगत आधार नही मानते तथा प्रेमचन्द की भाति 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के अनुयायी है।[1]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—

द्विवेदी जी ने कहानी के प्राचीन इतिहास का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि यद्यपि वैदिक साहित्य मे गद्य-पद्य मे लिखी हुई कहानियो की कमी नही है, तथापि अलकृत गद्य-काव्य का प्रचार गप्त-सम्राटो के समय मे हुआ था। यह गद्य-काव्य, कहानी या उपन्यास ही होता था[2] तथा इसके दो प्रकार होते थे, कथा तथा आख्यायिका। उनका विचार है कि कथा की कहानी कल्पित होती है तथा आख्यायिका ऐतिहासिक। इन दोनो की आत्मा रस ही होती थी तथा इनमे अलकारो की योजना और पद-सघटना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता था, किन्तु इनका प्रधान वक्तव्य कहानी ही होता था। इस प्रकार कथा आख्यायिकाओ को वे बृहत्कथा की सतान मानते है। इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार की आख्यायिकाए रोमाटिक होती थी, जिनमे अलकरण की अपेक्षा कहानी पर अधिक ध्यान दिया जाता था।[3]

उनका विचार है कि हिन्दी की प्रथम कहानिया इसी परम्परा की थी, किन्तु गद्य युग के उपन्यासो मे वैयक्तिक स्वाधीनता का आदर्श उपस्थित है, जो यत्र-युग की विशेप देन है। वे उपन्यास का सब से महत्त्वपूर्ण कार्य यह मानते है कि वह समाज की स्थिति और गति को ठीक-ठीक चित्रित करता है। वे उपन्यास को स्थायी साहित्य समझते है, क्योकि उसमे लेखक का अपना एक जबरदस्त मत होता है, जिसकी सच्चाई के विपय मे उसे पूरा विश्वास होता है। उन्होने उसे वैयक्तिक स्वाधीनता का सर्वोत्तम रूप माना है।[4] उनका विचार है कि इस युग के उपन्यास एक ही साथ शिष्टाचार का सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकिट का थियेटर हो गया है। वे इसके साहित्य को मशीन की विजय-ध्वजा मानते है।

उपर्युक्त लेखको के अतिरिक्त भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने उपन्यास को जीवन का पूर्ण चित्र कहा है। वे कथा-साहित्य को तभी साहित्य की कोटि मे अपनाते हैं, जब वह जीवन की अभिव्यजना मे जागरूक हो तथा मानवता का चिर-जाग्रत रूप प्रदर्शित कर सके। वे उपन्यासो का विषय नारी तथा पुरुष की आदि समस्या मानते है

---

१ देखिए 'हिन्दी उपन्यास' (स० २००२), प्र० सरस्वती मन्दिर, पृ० ५१।
२ देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', सम्पादक वात्स्यायन, (सन् १९४०), पृ० ५१।
३ देखिए वही, पृ० ६३।
४ देखिए वही, पृ० ६७।

तथा समाज और व्यक्ति के समन्वय को भी उसका क्षेत्र कहते हैं। वे उपन्यास को एक ऐसा साथी मानते हैं, जो पाठक से मूक होकर भी कभी हस-हस कर बोलता है तथा कभी रुदन करता है और उसकी उपचेतना तक में रम गया है। इलाचन्द जोशी उन्हें श्रेष्ठ उपन्यास मानते हैं, जो ठोस जीवन के केन्द्र पर स्थित हो, जीवन के मर्म को छूते हो तथा कठोर वास्तविक जीवन-सघर्ष के माध्यम से ही रुग्ण जीवन का उपचार सुझाने में समर्थ हो, चाहे वे घटना-चक्र पूर्ण, शान्त, गम्भीर विवेचन से युक्त, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पूर्ण तथा सरल हो या न हो।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि आधुनिक आलोचको ने उपन्यास की परिभाषा, स्वरूप, उत्पत्ति, विषय, भेद, महत्त्व, उपादेयता, उद्देश्य, तत्त्व आदि का विवेचन किया है। इन आलोचको ने उपन्यास को साहित्य का एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण अग माना है, जो मानव प्रकृति पर विशेष रूप मे प्रभाव डालने वाला है। कुछ आलोचको ने इसे गद्य-साहित्य का एक प्रमुख रूप माना है तथा कुछ ने इसे गद्य-काव्य के अन्तर्गत स्थान दिया है। भानु जी न इसे गद्य-काव्य के अन्तर्गत मानते है न कथा, कथानिका, आख्यायिका, परिकथा, खण्डकथा के समान समझते है। श्यामसुन्दर दास जी उसे श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत तथा जीवनी और कविता के बीच की वस्तु, प्रेमचन्द उसे मानव चरित्र का चित्र, व्यास जी चित्रित किया हुआ चित्र तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिष्टाचार का सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र, पाकेट का थियेटर और मशीन की विजय-ध्वजा तथा शिव नारायण श्रीवास्तव कहानियो का विकसित रूप और गद्यमय महाकाव्य (ऐपिक इन प्रोज) मानते हैं। द्विवेदी जी का विचार है कि यह स्थायी साहित्य है, क्योकि इसमें लेखक का एक जबरदस्त अपना मत होता है। इन आलोचको ने उपन्यास के तत्त्व, कुतूहल-वृत्ति, वृत्त-वर्णन, घटना-चमत्कार, चरित्र पर प्रकाश डालना, पात्रो के रहस्यो को खोलना, कल्पना, सृजन-शक्ति, सामाजिक परिस्थिति आदि माने हैं। ये उपन्यास का आधार कल्पना, अनुमान, सत्य तथा अनुभूति मानते हैं तथा उसके मूल में वृत्त वर्णन तथा उत्सुकता-वृत्ति के तत्त्वो को स्वीकार करते है। वाजपेयी जी ने उपन्यासो मे स्पष्टता, सरलता, मूर्तता, व्यक्ति-तत्त्व, चरित्र-चित्रण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान, कला का सौष्ठव, सभी अगो का अनिवार्य विकास, कथानक, चरित्र, विचार-सूत्र, कला का सौन्दर्य, आवश्यक विस्तार, घटनाओ की मर्यादा तथा समन्वय का भाव आवश्यक समझा है।

ये आलोचक उपन्यासो में अद्भुत, निरर्थक तथा कपोल-कल्पित बातो का समावेश उचित नही समझते हैं। इनका विचार है कि उपन्यासो से मनुष्य का विशेष कल्याण हो सकता है। ये मानव जीवन के अनेक रूपो का परिचय कराते हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओ को प्रत्यक्ष कराते है तथा लाभदायक बातो से युक्त होते हैं।

शुक्ल जी का विचार है कि उपन्यासो मे पाठको का मन, घटनाओं की अपेक्षा सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओ में रमता है किन्तु इनकी धारणा इसलिए अमान्य है कि घटनाओ की अपेक्षा पाठक का मन पात्रो तथा उसके भावो मे अधिक रमता है। उपन्यासो

मे चाहे उक्ति-वैचित्र्य के लिए स्थान न हो पर भावो की व्यजना तो उसमे होती ही है। हमारा विचार है कि उपन्यासो मे घटनाओ तथा भावो दोनो का सम्मिश्रण होता है तथा इसमे दोनो ही का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावो के चित्रण के विना उपन्यास हृदय को स्पर्श नही कर सकता तथा भावो का आन्दोलन घटना-चक्र के आधार पर होता है। शुक्ल जी उपन्यास का आधार कल्पना की अपेक्षा अनुमान की शक्ति मानते है। हमारे विचार से उपन्याम के लिए कल्पना तथा अनुमान दोनो शक्तियो की विशेष आवश्यकता है। कल्पना, कथा तथा पात्रो के निर्माण मे तथा पाठको के हृदय मे पात्रो के स्वरूप को उत्पन्न करने मे आवश्यक होती है तथा अनुमान का आधार कथा को पूर्ण स्वरूप देने के लिए किया जाता है। उपन्यासकार कथा मे वहुत सी वातो की उपेक्षा के लिए वाध्य होता है तथा पाठको को उनका ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है।

इन्होने उपन्यासो की उत्पत्ति के बारे मे भी विचार किया है। प्राय इन सभी का विचार है कि उपन्यास अपने नए रूप मे पाश्चात्य उपन्यास-कला से प्रभावित हुए है। ये यह तो मानते है कि इनकी उत्पत्ति सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श की कथाओ तथा आख्यायिकाओ से हुई है पर साथ-साथ ये यह भी मानते है कि नए उपन्यासो की कला पश्चिम से प्रभावित हुई है। इनका विचार है कि प्राचीन कहानियो मे काव्यत्व, रस, नायक-नायिका की प्रमुखता तथा ढले-ढलाए साचे होते थे तथा नए उपन्यासो मे वैचित्र्यपूर्ण घटनाए, शील-वैचित्र्य आदि का समावेश होता है। ये मानते है कि आधुनिक उपन्यासो मे वर्णनो का सकोच हो रहा है तथा प्राकृतिक वर्णनो और पात्रो के चित्र हटाए जा रहे है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी नए उपन्यासो मे वैयक्तिक स्वाधीनता का गुण मानते है। शुक्ल जी उपन्यासो के नए तथा पुराने दो प्रकार के ढाचे मानते है। उनका विचार है कि पुराने ढाचो मे काव्यत्व की मात्रा तथा पुराने कथात्मक गद्य-प्रवन्धो का आभास मिलता है और नवीन मे काव्यत्व, दृश्य-वर्णन, भाव-व्यजना, आलकारिक चमत्कार का वहिष्कार, मनुष्य के दोषो तथा पापो को उदार दृष्टि से देखना, वुरो के प्रति घृणा की अपेक्षा दया का भाव तथा कठोर परिस्थितियो के वीच भी कोमल तथा उदात्त भावो का स्फुरण दिखाना आदि विशेषताए है।

इन्होने उपन्यासो मे विपय के महत्त्व तथा गहराई को विशेष मान्यता दी है। इनका विचार है कि उपन्यासो का विपय मानव-चरित्र के समान विस्तृत है। मनुष्य के चरित्र के कर्म, विचार, उत्कर्ष, अपकर्ष, मनोभावो के विभिन्न रूप तथा उनकी विभिन्न दशाए, समाज और व्यक्ति का समन्वय, नारी तथा पुरुष की समस्याए, समाज-नीति, राजनीति, विज्ञान, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, पुरातत्त्व आदि सभी उपन्यासो के विषय के अन्तर्गत आते है। प्रेमचन्द आदि लेखको का विचार है कि उपन्यासो की सामग्री पुस्तको की अपेक्षा जीवन से चुननी अधिक उपयुक्त है। वे उपन्यासो के विषय का विस्तार जीवन के समान ही विस्तृत मानते है।

इन आलोचको ने उपन्यास के विभिन्न तत्त्वो के सम्बन्ध मे भी अपने विचार प्रकट किए है। प० विश्वनाथ प्रसाद जी का विचार है कि भारतीय कथा साहित्य के

वस्तु, नेता तथा रस नामक तीन तत्त्वो मे से केवल वस्तु नामक तत्त्व ही पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो साहित्यालोचनो मे उभयनिष्ठ है। इन आलोचको मे इस बात मे मतभेद है कि उपन्यासो में घटनाओ तथा पात्रो मे कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है। शुक्ल जी के विरुद्ध श्यामसुन्दर दास जी उपन्यासो मे घटनाओ की अपेक्षा पात्रो को विशेष महत्त्व देते है। इसी प्रकार कथानक के आधार के सम्बन्ध मे भी इन आलोचको मे मतभेद है। प्रेमचन्द जी पाश्चात्य विचारानुसार कथानको का आधार सघर्ष अथवा विग्रह मानते है किन्तु प० नन्ददुलारे वाजपेयी उनका आधार समन्वय अथवा सधि समझते है। ये आलोचक उपन्यास में कथानक का महत्त्व शरीर मे हड्डियो के समान मानते है। इनका विचार है कि इसकी रचना, अनुभूति, कल्पना तथा निश्चित वैज्ञानिक आधार पर होनी चाहिए। इन्होने सम्पूर्ण कथानक को चार भागो, आरम्भिक भाग (प्रस्तावना), क्रियात्मक भाग, सघर्ष तथा परिणाम मे विभाजित किया है। इनमे ये परिणाम को विशेष महत्त्व देते है तथा इसमे स्वाभाविकता, सन्देशहीनता, घटनाओ का विश्लेषण, रहस्यो के उद्घाटन तथा मूल जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति आवश्यक समझते है। इन्होने कथानक मे रोचकता, चित्ताकर्षकता, मर्मस्पर्शिता, सुगमता, मनोमुग्धकारिता, सलक्षणता, सुसगतता, सचाई, अनुभव का आधार, घटनाओ की कुशल-सघटना, स्वाभाविक प्रवाह, अकृत्रिम तथा विश्वासजनक उपायो का योग, चित्त को बहलाने की शक्ति, शक्ति देने की सामर्थ्य, विभिन्न अगो मे परस्पर साम्य तथा समीचीनता, साधारण बातो का असाधारण लगना, असाधारण बातो का साधारण लगना, पूर्वापर-क्रमबद्धता, सम्बद्धता तथा असम्बद्धता का समन्वय, अवान्तर कथाओ का दूध चीनी का सा मिश्रण, मूल भावो के चित्रण का समावेश, उत्साहपूर्ण, उद्योगी, दृढ तथा शिक्षामय बातो का समावेश आदि विशेषताओ का होना अनिवार्य माना है। इन्होने दो प्रकार के कथानको का उल्लेख किया है, एकार्थ तथा सकुल और असम्बद्ध या शिथिल तथा सम्बद्ध या सुगठित। हमारा विचार है कि कथानको का वर्गीकरण मिश्र जी की भाति एकार्थ तथा सकुल मे ही हो सकता है। असम्बद्धता तथा सम्बद्धता कथानको के प्रकार नही हो सकते, उनके स्वरूप के निर्देशक हैं। ये कथानक कहने की तीन शैलिया, ऐतिहासिक, आत्म-चारित्रिक तथा पत्रात्मक मानते हैं।

इन आलोचको मे चरित्र-चित्रण तथा वस्तु के पारस्परिक महत्त्व के सम्बन्ध मे मतभेद हैं। शुक्ल जी पात्रो की अपेक्षा घटनाओ को महत्त्व देते है तथा श्यामसुन्दर दास, प्रेमचन्द आदि आलोचक पात्रो को। ये उपन्यास की कला तथा निपुणता चरित्रो के सर्वाग-चित्रण पर आधारित मानते है। अन्य आलोचक इन दोनो मे समन्वय के पक्ष मे है तथा घटनाओ और पात्रो के तुल्य बल-विधान को आवश्यक समझते है। इनका विचार है कि चरित्र-चित्रण के लिए अनुभव, कल्पना, मानव-प्रकृति के विश्लेषण की शक्ति, अन्तर्दृष्टि, उपयुक्त-भाषा, स्पष्ट भाव-व्यजना, मनुष्य की विविधता तथा उसके यथार्थ रूपो का अध्ययन तथा पात्रो के सस्कार, परिस्थिति, रुचि, मानसिक सघटन,

विकाम, गति, चरित्रगत अन्तर आदि का ज्ञान आवश्यक है। इनका विचार है कि उपन्याम के पात्र परिस्थिति तथा अनुभूति के आधार पर खडे हो, सद्-विचार तथा सद्-व्यवहार से पाठको को मोहित करने वाले हो, उद्देश्य के अनुसार चित्रित हो, मानवी स्थिति का भाव प्रकट करते हो, पाठको को मोहित करके आनन्द देने वाले हो, सिद्धान्तो की मूर्त्ति मात्र होने की अपेक्षा सजीव हो और स्पष्ट व्यक्तित्वपूर्ण तथा वास्तविक समाज के प्रतिनिधि हो। ये चरित्र-चित्रण का स्पष्ट, गहरा, विकासपूर्ण, सजीव, वास्तविक, स्वच्छन्द तथा व्यक्तित्वपूर्ण होना आवश्यक समझते है। इन्होने पात्रो के प्रकृति के विचार से गूढ (कम्पलेक्स) तथा अगूढ (सिम्पिल या फ्लेट) जातिगत तारतम्य के विचार से, मनुष्यतागत, वर्गगत, व्यक्तिगत, विशेषता वाले तथा सहन शक्ति के अनुसार, उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्र माने है। इन्होने चरित्र-चित्रण के पाश्चात्य-साहित्यालोचन के अनुसार दो प्रकार विश्लेषणात्मक तथा अभिनयात्मक और वर्णन, सकेत, वार्त्तालाप, घटनाओ तथा एकाकी-विचार द्वारा अन्य पाच प्रकारो का उल्लेख किया है।

इसी प्रकार इन्होने उपन्यासो मे अधिक से अधिक वार्तालाप का समावेश, घटनाओ को गतिशील बनाने, वस्तु का विकास करने, चरित्र-चित्रण मे स्वाभाविकता उत्पन्न करने और कथाभाग, घटनाओ, समाज तथा सस्कृति का वर्णन करने के लिए आवश्यक समझा है। ये उपन्यासो के कथोपकथन का स्वाभाविक परिस्थितियो के अनुकूल, सरस, सूक्ष्म, चरित्र को अभिव्यक्त करने वाला, अनावश्यक-विस्तार-रहित, वास्तविक बातचीत के अनुरूप, स्वाभाविक, प्रसगानुकूल, रमणीय, सहज, युक्ति-सगत, सार्थक प्रभावपूर्ण, पूर्णता सहित सम्बद्ध, सुबोध, स्पष्ट, मनोहर, उपयुक्त, अभिनयात्मक, पात्रो की वैयक्तिकतापूर्ण होना उचित समझते है।

ये आलोचक उपन्यास के देश काल से समाज के आचार-विचार, रीति-नीति, रहन-सहन, प्राकृतिक पीठिका तथा परिस्थिति का तात्पर्य ग्रहण करते है। इनका विचार है कि यह कहानी मे विशालता, विस्तार, गाम्भीर्य, शक्ति, सौन्दर्य, सजीवता, सलक्षणता तथा सुसगतता लाने के लिए आवश्यक होता है तथा इसे सुरुचि और सुबद्धि से प्रेरित, पात्रो की अवस्था तथा प्राकृतिक घटनाओ मे सामजस्य प्रस्तुत करने वाला तथा उपन्यास के उद्देश्य के अनुकूल होना चाहिए। ये मानते है कि समय के नियत्रण के लिए स्थान का नियत्रण आवश्यक है तथा समय और स्थान अर्थात् परिस्थितिया कार्य पर प्रभाव डालती है। ये श्रेष्ठ उपन्यासो के लिए काल तथा स्थान का सामजस्य उचित समझते हैं तथा देश काल के दो भेद, सामाजिक तथा भौतिक या प्राकृतिक (मेटीरियल) मानते है। कुछ आलोचको ने इसका महत्त्व, कथा तथा चरित्र-चित्रण से भी अधिक माना है।

इन्होने उपन्यासो का लक्ष्य अभिन्नत्व मे भिन्नत्व तथा भिन्नत्व मे अभिन्नत्व दिखाना, मनोभावो तथा चरित्रो के रहस्यो को खोलना, प्रकाश, जीवन तथा आनन्द प्रदान करना, मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तिया दिखाना, परिस्थितियो तथा पात्रो का चित्रण करना, व्यक्तित्व को प्रकट करना, पाठको पर प्रभाव डालना, समाज की स्थिति और

गति को ठीक ठीक चित्रित करना माना है। ये उपन्यासो का लक्ष्य मनोरजन की अपेक्षा प्रदर्शन करना, मनुष्य को जगाना, सद्‌भावो का सचार करना, पाठको की दृष्टि को फैलाना तथा उपदेश और शिक्षा देना मानते है।

इन आलोचको ने उपन्यासकारो की अनिवार्य विशेषताओ का भी उल्लेख किया है। इनका विचार है कि उपन्यासकारो मे मनुष्य स्वभाव का ज्ञान, विचारो की अभिव्यक्ति की शक्ति, समाज के हित-अनहित का ध्यान, मनोवैज्ञानिक नियमो का पालन, मन की अभिव्यक्ति के सस्कारो की पूर्णता का होना अनिवार्य है।

इन आलोचको ने उपन्यासो के कथावस्तु, पात्र, कथन-शैली, विषय, घटना, गुण, तत्त्व, रूप-भेद के आधार पर विभिन्न प्रकारो का उल्लेख किया है। श्यामसुन्दर दास स्थूल रूप मे उनके चार प्रकार, घटना-प्रधान, सामाजिक या व्यवहार-सम्बन्धी, अन्तरग जीवन-सम्बन्धी तथा देश काल सापेक्ष और निरपेक्ष मानते है। इनका यह विभाजन दोषपूर्ण है, क्योकि घटना-प्रधान उपन्यासो मे भी सामाजिक तथा सामाजिक मे भी घटना-प्रधान उपन्यास हो सकते है। इसी प्रकार घटना-प्रधान तथा सामाजिक उपन्यास भी देश काल सापेक्ष अथवा निरपेक्ष हो सकते है। उन्होने उनके विभाजन का स्पष्ट आधार नही दिया। मिश्र जी कथावस्तु के विचार से तीन प्रकार, ख्यात वृत्त वाले, कल्पित वृत्त वाले तथा मिश्र वृत्त वाले, कथन-शैली के आधार पर ऐतिहासिक, अन्य पुरुषवाचक, उत्तम पुरुष वाले, पत्रात्मक या डायरी शैली वाले, कथा-सघटन के आधार पर शिथिल तथा सावयव कथा वाले, विस्तार के आधार पर शुद्ध या एकार्थ तथा अगूढ तथा घटनाओ के आधार पर घटनाओ की प्रधानता वाले तथा घटनाओ को गौण महत्त्व देने वाले उपन्यास मानते है। व्यास जी ने इनके गुण के आधार पर चरित्र-प्रधान, क्रियात्मक, नाटकीय, ऐतिहासिक, सामाजिक, नामक पाच भेद किए है तथा सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक आदि प्रकारो को उपन्यास के प्रकार की अपेक्षा इनके उद्देश्य माना है। शिवनारायण श्रीवास्तव ने तत्त्वो के आधार पर इनके घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान तथा घटना-चरित्र-प्रधान नामक तीन भेद, वर्ण्य-वस्तु के आधार पर धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक, आर्थिक तथा प्राकृतिक, और रूप-भेद के आधार पर घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, घटना-चरित्र सापेक्ष, नाटकीय और ऐतिहासिक नामक चार भेद माने है। वे आदर्शवाद तथा यथार्थवाद नामक वर्गीकरण का इनका कोई आधार नही मानते। इस प्रकार इस काल मे उपन्यासो का कोई सर्वमान्य तथा निश्चित आधार पर वर्गीकरण नही हो सका।

कहानी

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे कहानी सम्बन्धी आलोचना का विकास--

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे आधुनिक कहानी का जन्म १९वी शताब्दी से हुआ

माना जाता है।[1] एडगर ऐलेन पो ने सन् १८४२ मे पहली बार उन सिद्धान्तो का निरूपण किया, जो पुरातन कथाओं से इसका अन्तर स्पष्ट करते हैं। उन्होने इसके सक्षिप्तता तथा पूर्ण और विशिष्ट प्रभाव डालने की क्षमता नामक गुणो पर विशेष जोर दिया तथा घटना, भाषा, औचित्य, शैली आदि को इसके प्रभाव का माध्यम समझा। उनका कथन है कि "छोटी कहानी वह वृत्तात्मक कथा है, जो इतनी छोटी होती है कि एक बैठक मे पढ़ी जा सकती है तथा जो पाठक पर एक विशेष प्रभाव डालने के लिए लिखी जाती है और उसके पूर्ण और निश्चित प्रभाव मे सहायक न होने वाली अन्य सब बातों का बहिष्कार करती है।"[2] इनके पश्चात् ओ० हेनरी ने कहानी कला के विवेचन को अन्य सिद्धान्तो से समृद्ध बनाया तथा कहानी मे स्थानीय की अपेक्षा प्रादेशिक चित्रण, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली, नाटकीय सकोच, व्यग्यात्मक अन्त, सामयिकता तथा एक प्रभाव के समावेश आदि सिद्धान्तो को मान्यता दी।[3] उनका विचार है कि अधिकाश आधुनिक कहानियाँ शीघ्र समाप्त होने वाली, शैली मे सरल, नाटकीय चरम-सीमा-युक्त तथा आकस्मिक अन्त लिए हुए होती है। इसी प्रकार हडसन का विचार है कि आधुनिक कहानी अपनी रचना की सीमा मे स्वय पूर्ण, अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा रहित, गठन मे सुन्दर अनुपात सहित, अनावश्यक भावो से रहित, एक ही घटना, चरित्र, अनुभव, दृश्य तथा उद्देश्य पर केन्द्रित, भाव, कार्य, उद्देश्य तथा प्रभाव की एकता से युक्त, सक्षिप्त तथा केन्द्रीभूत और सूक्ष्म ब्योरेपूर्ण रचना तथा गठन से पूर्ण होती है। इसके विशिष्ट, अपूर्व तथा अविभाजित प्रभाव से इसकी घटनाए सम्बद्ध रहती है तथा इसका प्रमुख भाव, दोष हीन, अबाध तथा शुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।[4] इस प्रकार पाश्चात्य समालोचको ने आधुनिक कहानी के शैली तथा वस्तु सम्बन्धी तत्त्वो का विश्लेपण किया है।

इनकी कहानी की परिभाषाओ मे भी उसके स्वरूप का ही अधिकाश निर्देश किया गया है। कुछ विद्वानो ने इसके सक्षिप्तता के गुण पर जोर दिया है। एच० डी० वेल्स ने इसकी यह परिभाषा दी है कि यह एक घटे मे पढी जा सकती है। सर ह्यू वालपोल ने इसके लिए लिखा है कि "छोटी कहानी एक कहानी होनी चाहिए। यह ऐसी वस्तुओ का लेखा है, जिसमे साधारण तथा आकस्मिक घटनाए, प्रगति तथा ऐसा अप्रत्याशित विकास होना है, जो अनिश्चय के भाव (सस्पेन्स) के द्वारा चरम सीमा तथा एक सतोपप्रद फलागम तक पहुचता है।"[5] जेम्स, डब्ल्यू० लेनिन का विचार है कि "कहानी किसी एक

---

१ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेचर', शिप्ले (सन् १९४३), पृ० ५२२।
२ 'दी क्वेस्ट फार लिटरेचर', जे० टी० शिप्ले, पृ० ३८९।
३ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेचर', शिप्ले (सन् १९४३), पृ० ५२२-५२३।
४ 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आव लिटरेचर', ले० विलियम हेनरी हडसन, (सन् १९५४), पृ० ३३८ से ३४१।
५ 'टेन्डेन्सीज आव दी मार्डन नाविल' ह्यू वाल पोल, पृ० १७ 'काव्य के रूप' (स० २००४) पृ० २१४ से उद्धृत।

पात्र के जीवन की किसी एक परिवर्तनकारी विशेष घटना की नाटकीय रूप मे अभिव्यक्ति है।"[१] इसी प्रकार मैक्सिम गोर्की उसे कहानी कहते है, जो पाठको के मन पर चोट करे तथा उस पर डडे की चोट की तरह बैठ जाय ।[२] शिप्ले का विचार है कि कहानी कोई ऐसा सक्षिप्त वृत्तात है, जो प्राय शिथिलता से जुडा रहता है तथा वास्तविकता तक सीमित न होकर मगल में अथवा परियो के देश मे घटित होता है।[३] कुछ आलोचको ने इसे 'स्नेप शाट' या 'जीवन का एक भाग' (स्लाइस फ्राम लाइफ) भी कहा है।

इन लेखको के अतिरिक्त कोषकारो ने भी कुछ तत्त्वो के आधार पर कहानी की परिभाषाए दी है। वेबस्टर कहानी को 'एक गद्य अथवा पद्य का वृत्तान्त' तथा उपन्यास मे सक्षिप्त एक काल्पनिक वृत्तान्त कहते है।[४] 'दी सेन्च्युअरी डिक्शनरी' मे इसे सत्य अथवा काल्पनिक गद्य अथवा पद्य में लिखा हुआ वृत्तान्त अथवा थोडी बहुत काल्पनिक शैली मे लिखी हुई वह कथा, जो या तो घटित हो चुकी है या जो घटित हुई मानी जाती है तथा जो उपन्यास से छोटी और कम विस्तार की होती है, कहा गया है।[५]

उपर्युक्त परिभाषाओ के अनुसार पाश्चात्य-साहित्यालोचन में आधुनिक कहानी मे सक्षिप्तता, कथात्मकता, साधारण तथा असाधारण घटनाए, क्षिप्रगति, अप्रत्याशित विकास, चरम सीमा, फलागम, प्रभाव-पूणता, वृत्तान्त-कथन, वास्तविकता की अपेक्षा काल्पनिकता का समावेश, मगलपूर्णता आदि अनिवार्य तत्त्वो का समावेश होता है।

आलोच्य काल मे हिन्दी में कहानी सम्बन्धी आलोचना का विकास—

उपन्यास की भाति कहानी भी आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक नवीन रूप है। कहानी का इस नए रूप मे विकास आलोच्य काल में ही हुआ है, अतएव इसके सम्बन्ध में आलोचनात्मक विचार भी इसी काल में प्रतिपादित हुए है। यद्यपि हिन्दी मे कहानी का विकास पूर्णतया भारतीय कथा तथा आख्यायिकाओ की परम्परा से असम्बद्ध न होकर नही हुआ है फिर भी इसके स्वरूप-निर्माण मे पाश्चात्य कहानी के स्वरूप का विशेष प्रभाव पडा है। आधुनिक हिन्दी के आलोचको के कहानी सम्बन्धी विवेचन पर भी पाश्चात्य साहित्यालोचन का विशेष प्रभाव पडा है। किन्तु कुछ आलोचको ने हिन्दी के कहानी के निजी स्वरूप, विकास तथा वर्गीकरण का विवेचन हिन्दी की प्रकृति के आधार पर तथा सस्कृत कथा और आख्यायिका की परम्परा के सदर्भ मे किया है। इन आलोचको ने कहानी के इतिहास, उत्पत्ति, परिभाषा, स्वरूप, विकास तथा समृद्धि-काल, कहानी के

---

१ 'कहानी एक कला' (सन् १९४१) पृ० १२।

२ देखिए वही, पृष्ठ १२४।

३ देखिए 'दी क्वेस्ट फार लिटरेचर', जे० टी० शिप्ले। पृ० ३८९।

४ देखिए 'व्रेब्स्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी', पृ० २०५२।

५ देखिए 'दी सेन्चुअरी डिक्शनरी', पृ० ५९७२।

प्रमुख अग, प्राचीन तथा आधुनिक कहानियो के भेद तथा विशेषताओ, साहित्य के अन्य रूपो के इसमे समाहित होने वाले तत्त्व, साहित्य के अन्य रूपो से कहानी की तुलना, कहानी का कथानक, चरित्र-चित्रण, सवाद, देश-काल, शैली, लक्ष्य, भेद आदि विपयो पर अपने विचार प्रकट किये है। इस काल मे इनका कहानी सम्बन्धी विवेचन दो प्रकार से मिलता है, प्रथम तो कहानी सग्रहो की भूमिकाओ के रूप मे तथा द्वितीय फुटकर निबन्धो तथा आलोचनात्मक लेखो और पुस्तको के रूप मे। आलोच्य काल के कहानी सम्बन्धी आलोचनात्मक विचार प्रकट करने वाले प्रमुख लेखक निम्नाकित है —

पं० रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्ल जी ने कहानी की प्राचीनता, उसका इतिहास, हिन्दी कहानी के स्वरूप की मौलिकता तथा विशिष्टता, प्राचीन तथा नवीन कहानी के अन्तर, कहानी के भेद आदि विपयो पर अपने विचार प्रकट किये है। उनका विचार है कि कहानियो का चलन सभ्य और असभ्य सभी जातियो मे सदा से चला आ रहा है तथा उनका समावेश सर्वत्र शिष्ट-साहित्य के भीतर होता रहा है।[1] वे आधुनिक कहानियो के विभिन्न रूपो, रगो तथा प्रकारो को पाश्चात्य लक्षणो और आदर्शो के भीतर ही समाहित नही करते।[2] वे समझते है कि हिन्दी की सारी कहानिया पाश्चात्य कहानियो की भाति न तो विस्तार के किसी नियम का पालन करती है न उन सभी मे चरित्र-विकास के लिए अवकाश ही होता है। इनमे उनके समान न एक सवेदना या मनोभाव के होने का सिद्धान्त ही सर्वत्र घटित होता है, न वस्तु-विन्यास का ढग ही सदैव एक-सा रहता है। इसकी अपेक्षा इन भारतीय कहानियो की घटनाओ मे काल के पूर्वापर-क्रम का विपर्यय भी कही-कही मिलता है तथा वृत्त के बीच मे परिस्थिति का नाटकीय ढग का एक छोटा-सा चित्र भी आ जाता है। उदाहरणस्वरूप वे 'शाति निकेतन' नामक कहानी को भी कहानी का एक विशेप ढग मानते है, जिसमे न घटनाए ही है, न कथोपकथन ही है। इसमे पाश्चात्य साहित्यालोचन द्वारा निर्देशित कहानी-कला के किसी आदर्श का निर्वाह नही हुआ है। इसलिए वे हिन्दी की आधुनिक कहानी के सभी अवयवो को विदेशी नही मानते है तथा उनमे कुछ निजी विशिष्टताए समझते है।[3]

शुक्ल जी आधुनिक कहानियो का आरम्भ द्वितीय उत्थान काल (स० १९५० से १९५५) के अन्तिम भाग से मानते है तथा उसका पूर्ण विकास-काल तृतीय उत्थान-काल मे समझते है।[4] उन्होंने कहानी के घटना-प्रधान, मार्मिकता-प्रधान तथा इन दोनो का मिश्रण, नामक तीन भेद माने है। उनके विचार से घटना-प्रधान कहानी मे "इतिवृत्त

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९) पृ० ५५४।

२ देखिए वही, पृ० ५४३।

३. देखिए वही, पृ० ५४३।

४ देखिए वही, पृ० ५०५।

का प्रवाह मात्र अपेक्षित होता है पर दूसरी कोटि की कहानियों में भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है।"[1] इसी प्रकार मार्मिक परिस्थितियाँ लक्ष्य में रखकर कहानियाँ बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-रंगों के साथ परिस्थितियों का भी विशद चित्रण करती हैं तथा उनमें घटनाएँ और कथोपकथन बहुत अल्प रहते हैं।[2] वे मानते हैं कि आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों के स्वरूप के विकास के लिए कुछ बातें नाटकों की ली गई हैं, जैसे कथोपकथन, घटनाओं का विन्यास-वैचित्र्य, बाह्य और आभ्यन्तर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव-व्यंजना।

वे मानते हैं कि पुरानी कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला करता था, जिसमें घटनाएँ पूर्वापर-क्रम से जुड़ती हुई सीधी चली जाती थीं, किन्तु आधुनिक कहानियों में ऐसा नहीं रहा है। उनमें कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रख कर चल सकते हैं तथा उनमें घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर उधर अन्य शृंखलाओं से गुम्फित होती चलती है। उनका विचार है कि "घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है, जो उन्हें पुराने ढंग की कथा कहानियों से अलग करती है।"[3] वे मानते हैं कि पुरानी कथाओं में 'एक राजा था अथवा एक रानी थी' कह कर कथा का क्रम सीधा चलता था तथा घटनाओं का विन्यास भी सीधा रहता था पर आधुनिक कहानियों में घटनाओं का विन्यास वक्र तथा अद्भुतता लिए हुए है।

शुक्ल जी स्थूल दृष्टि से कहानी के पाँच भेद मानते हैं—(१) सादे ढंग से उत्पन्न व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत लाने वाली कहानियाँ, जो एक गम्भीर संवेदना या मनोभाव में पर्यवसित हों, जैसे 'उसने कहा था', (२) परिस्थिति के विशद और मार्मिक कभी-कभी रमणीय और अलंकृत वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मधुर गति से चल कर एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित होने वाली, जैसे 'शान्ति निकेतन', (३) घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति के आधार पर लेखक द्वारा मार्मिक व्याख्या करने वाली कहानियाँ, जैसे प्रेमचन्द की कहानियाँ, (४) घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली, जैसे प्रसाद तथा रायकृष्णदास की कहानियाँ, तथा (५) किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करने वाली लाक्षणिक कहानियाँ। इसी प्रकार वस्तु के विचार से उन्होंने ९ वर्गों में कहानियों का विभाजन किया है, जैसे जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता लाने वाली, भिन्न-भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने लाने वाली, देश की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लाने वाली, राजनीतिक आंदोलनों में सम्मिलित नवयुवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करने वाली,

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९) पृ० ५५४।
२ देखिए वही (सं २००५), पृ० ६५२–६५३।
३ वही, पृ० ६०२।

किसी मधुर या मार्मिक प्रसग, कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खड चित्र दिखाने वाली, समाज के पाखड-पूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लाने वाली, सभ्यता तथा सस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदिम रूप झलकाने वाली, अतीत के किसी पौराणिक काल-खड के बीच अत्यन्त मार्मिक रमणीय प्रसग का अवस्थान करने वाली तथा हास्य-विनोद द्वारा अनुरजन करने वाली कहानिया। पर अपने इन्दौर वाले भाषण मे उन्होने कहानी के चार रूप ही माने है, घटनाए और बातचीत सामने रखने वाला, अलकृत-दृश्य-चित्र युक्त रूप, कल्पनात्मक और भावात्मक रूप तथा हास्य-रस वाला रूप।

श्यामसुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास जी ने कहानी की उत्पत्ति, स्वरूप, उपकरण, शैली, लक्ष्य उसके उपन्यास से भेद, नाटक, गीति-काव्य आदि के उस पर पडे प्रभाव आदि का विवेचन प्रस्तुत किया है। वे साहित्यिक आख्यायिकाओ का विकास अपने नवीन रूप मे पाश्चात्य देशो से हुआ मानते है।[1] उनका विचार है कि कहानी की घटनाए, वर्णन, पात्र आदि एक लक्ष्य से अवश्य बधी रहनी चाहिए। वे इनका इधर उधर चक्कर लगाना या भटकना या अन्तर्कथाओ की सृष्टि करना उसके लिए निषिद्ध मानते है। कहानी की इसी विशिष्टता के द्वारा वे उसे उपन्यास से पृथक् मानते है।[2]

वे कहानी तथा उपन्यास मे काल्पनिक सृष्टि, यथार्थ-अनुरूपता तथा घटना और पात्रो की ऐसी योजना अनिवार्य मानते है, जिससे वे काल्पनिक रचनाए पूर्ण रूप से सजीव दिखाई दे सके।[3] वे उपन्यास की अपेक्षा कहानी को अधिक सयम की वस्तु मानते है, क्योकि इसका क्षेत्र अत्यन्त सकुचित रहता है और सकुचित होते हुए भी इसमे दृष्टिकोण, समय, स्थान आदि का, आदि से अन्त तक बडी सावधानी से निर्वाह होता है। वे उपन्यास की सपूर्णता की अपेक्षा, कहानी मे लाक्षणिकता अधिक मानते है। इसकी छोटी सीमा के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि "जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने छोटे से घर मे बहुसख्यक अतिथियो को आमन्त्रित नही कर सकता और न उनके स्वागत, सत्कार या भोजन-पान की ही उचित व्यवस्था कर सकता है, उसी प्रकार एक आख्यायिका लेखक भी अपने परिमित क्षेत्र मे अनेकानेक चरित्रो और कथानको की अवतारणा नही कर सकता।"[4] उनका विचार है कि उपन्यासो मे घटनाओ का अनिर्दिष्ट क्रम और कथा का स्वच्छन्द विकास किया जा सकता है, किन्तु छोटी कहानी मे नही। वे समझते है कि कहानी की शैली प्रत्यक्ष शैली है, जिसमे लेखक पाठको के सामने चित्र के रूप मे

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १९९९) पृ० २१६।

२ देखिए वही, पृ० २२०।

३ देखिए वही, पृ० २१८।

४ देखिए वही, पृ० २१९।

उपस्थित होकर अतरग की भाति वाते करता है, किन्तु उपन्यास मे अस्पष्ट इगित तथा उल्लेख भी रहते है।[1] वे कहानी की कला को व्यक्ति-प्रधान शैली की कला मानते है। इन दोनो के अन्तर के सम्बन्ध मे वे लिखते है कि "आख्यायिका का अध्ययन पाठकों की वुद्धि का तकाजा करता है। उपन्यासो की भाति आख्यायिका पढकर जिज्ञासा की शाति नही होती, वह और बढती है। अधिक उत्तेजित होकर पाठक की वुद्धि जीव-जगत् के रहस्यो को जानने के लिए उन्मुख होती है। यह आधुनिक आख्यायिका की बौद्धिक विशेषता उसे उपन्यासो से भिन्न कोटि मे ला रखती है।"[2]

वे कहानी को एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को रख कर लिखा गया नाटकीय आख्यान कहते है, क्योकि इसमे नाटक सम्बन्धी वस्तु, स्थान तथा काल-सकलन अपनाया जाता है।[3] कहानी मे गीतिकाव्य के समान व्यक्तित्व की प्रधानता, एक ही प्रधान भावना का समावेश तथा एक ही प्रधान लक्ष्य की पूर्ति के समावेश के कारण वे इन दोनो की कलाओ को वहुत अधिक मात्रा मे मिलती जुलती मानते है। उनका विचार है कि कहानियो मे नाटक के प्रभाव-स्वरूप ही घटना तथा पात्र अन्योन्याश्रित बना दिए गए है तथा इन दोनो के सम्मिलित उत्थान के द्वारा ही उनमे नाटकीय चमत्कार सन्निहित किया गया है। वे कहानी मे वास्तविक कथनोपकथन की आवश्यकता तो मानते है, किन्तु उसका यह अर्थ नही लगाते कि साधारण रूप मे मनुष्य जिस प्रकार की बातचीत करते है, उसमे उसी का समावेश किया जाए। उनका विचार है कि इसका कथोपकथन अत्यन्त मार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक होना चाहिए।

वे कहानी के दो ही उपकरण मानते है, उद्देश्य तथा घटना और पात्र। उनके विचार से कहानी का प्रमुख उपकरण एक ही लक्ष्य या भाव है तथा दूसरा 'नाटकीय उपकरण' है, जिसमे सकलन, घटना, पात्र, कथोपकथन आदि का समावेश होता है। उनका विचार है कि आख्यायिका की शैली प्रत्यक्ष शैली होती है। वे लिखते है कि "आख्यायिका-लेखक की शैली पाठक के अतरग-मित्र की सी होती है। वह घरेलू और आपसी आदमियो की भाति गपशप करता है। उसकी कला ऐसी ही शैली की आवश्यकता रखती है। वह व्यक्तित्व-प्रधान-शैली की कला है।[4]

वे उपदेश-प्रधान कहानियो को कलात्मक नही मानते। उनका विचार है कि कहानी का लक्ष्य उसी मे छिपा रहना चाहिए। वे कहते है कि स्वाभाविक कथानक का ततु तान कर उसमे कथा के लक्ष्य को इस प्रकार लपेट लेना चाहिए, जिस प्रकार माता अपने वालक को गोद मे छिपा लेती है।[5] वे लिखते है कि "गल्प मनुष्य जीवन की आनुषगिक

---

१. देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १९९९) पृ० २२०।
२ वही, पृ० २२१।
३ वही, पृ० २२९।
४ वही, पृ० २२१।
५ वही, पृ० २२२।

कथा को कल्पना के रग मे रजित करके गद्य मे व्यक्त करती है। वह केवल एक प्रसग को लेकर उसकी एक मार्मिक झलक दिखा देने का ही उद्देश्य रखती है तथा जीवन का समय सापेक्ष, चतुर्दिक् चित्रण अकित कर केवल एक क्षण में घनीभूत जीवन का दृश्य दिखाती है।"[1]

प्रेमचन्द जी—

प्रेमचन्द जी ने कहानी के स्वरूप, कला, तत्त्व, उपन्यास तथा कहानी से इसके भद आदि विषयो का विवेचन किया है। वे कहानी को वह ध्रुपद की तान मानते है, जिसमे गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है तथा एक क्षण मे चित्र को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना कोई रात भर गाना सुनने से भी नही हो सकता।[2] वे आख्यायिका को साधारण जनता की तथा उपन्यासो को धनवानो की वस्तु मानते है। उनका विचार है कि उपन्यास घटनाओ, पात्रो और चरित्रो का समूह है तथा आख्यायिका केवल एक घटना मात्र है, क्योकि इसकी अन्य बाते सब उसी घटना के अन्तर्गत होती है। इस विचार से वे इसकी तुलना नाटक से करते है।

वे कहानी मे आदर्शवाद के समर्थक हैं, पर यथार्थ का इतना सम्मिश्रण आवश्यक समझते है कि कहानी सत्य से दूर न जाकर यथार्थ प्रतीत हो। उनका विचार है कि वर्तमान आख्यायिका, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमे कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियो की मात्रा अधिक होती है। इसकी अनुभूतिया ही रचनाशील भावना से अनुरजित होकर कहानी बन जाती है।[3] उनका विचार है कि पुरानी कहानियो में बहुरूपता, वैचित्र्य, कुतूहल तथा रोमान्स आदि तत्त्व थे और उनमे जीवन की समस्याए, मनोविज्ञान के रहस्य, अनुभूतियो की प्रचुरता तथा जीवन का सत्य-चित्रण नही था। वे भी उपन्यास की भाति कहानी की कला को पश्चिम की देन मानते है।

आधुनिक कहानी की कला के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि वह थोडे से शब्दो मे कही जाय, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किए रहे, उसमे कुछ चटपटापन, ताजगी तथा विकास हो, तथा कुछ तत्त्व भी हो, क्योकि तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरजन भले ही हो, मानसिक तृप्ति नही हो सकती। वे उसी कहानी को सफल मानते हैं, जिसमे मनोरजन और मानसिक तृप्ति मे से एक अवश्य उपलब्ध हो। उनका विचार है कि "आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरजन है, पर साहित्यिक मनोरजन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओ को प्रोत्साहन मिले,

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (स० १९९८) पृ० १४८।
२ देखिए 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४) पृ० ३७।
३ देखिए वही, पृ० ३७।

इसमें सत्य, निःस्वार्थ सेवा, त्याग आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जाग्रत हों।'[1] वे कहानी में जीवन के सत्य की अवहेलना को उचित नहीं मानते। उनका विचार है कि आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उसमें पाठक अपने जीवन का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं।'[2] वे उपन्यास की भाँति दो प्रकार की कहानियाँ मानते हैं, घटना-प्रधान तथा चरित्र-प्रधान। उनके विचार में कहानी का आधार घटना की अपेक्षा अनुभूति है।

नन्ददुलारे वाजपेयी—

वाजपेयी जी के कहानी के सम्बन्ध में विचार अधिकांश में उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं। वे कहानी में जीवन की वास्तविक ओजस्विता, प्रवाह तथा मानव-जीवन के साहसी और सक्रिय स्वरूपों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता मानते हैं। वे कहानियों में जीवन की प्रगति के चित्रण की अपेक्षा प्रगति के आदर्श का विशेष महत्त्व समझते हैं तथा ह्रासोन्मुखी जीवन के चित्र की अपेक्षा उन्नतिशील जीवन का चित्रण श्रेयस्कर मानते हैं। वे साहित्य के अन्य रूपों की भाँति कहानी में असाधारण परिस्थितियों, ऐकान्तिक मनोविज्ञान, सामाजिक निष्क्रियता और उद्देश्यहीनता का विरोध करते हैं। उनका विचार है कि कहानी की रचना में मनोवैज्ञानिक अध्ययन, चुस्ती, कलात्मक पूर्णता, जीवन-तत्त्वों की सूक्ष्म और असाधारण पहचान, अनुभव, कला की विश्वसनीयता, निर्माण की कुशलता, परिपुष्ट विवेक, निर्माण की कुशलता, समुन्नत भावना की प्रेरणा, व्यक्तिगत सहानुभूति, विवेक की व्यापकता और विशालता आदि गुण होने चाहिए।'[3] वे मानते हैं कि कहानीकार का लक्ष्य अपनी कलाकृति द्वारा पाठक की संवेदना को सम्यक् रूप में जगाकर सम्यक् दिशा में लगाना है।

वाजपेयी जी नवीन हिन्दी-कहानियों की स्वतन्त्र सत्ता तथा प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य में उनका तात्त्विक साम्य मानते हैं। उनका विचार है कि कहानी का मुख्य आकर्षण घटना की प्रगति होना है। वे कहानी की वस्तु और उद्देश्य में साम्य की स्थापना आवश्यक समझते हैं तथा इसीलिए कहानी को 'अर्थपूर्ण कथानक' कहते हैं। वे देश, काल, चरित्र तथा कथा के संकलन-सम्बन्धी उपांगों को कहानी का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—

मिश्र जी ने कहानी की प्राचीनता, प्राचीन कहानी के भेद, कथा तथा आख्यायिका का कहानी तथा उपन्यास से सम्बन्ध तथा कहानी के कुछ प्रमुख तत्त्वों का विवेकपूर्ण विवेचन किया है। वे मनुष्य समाज में कहानियों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से मानते

---

१ 'साहित्य का उद्देश्य' (सन् १९५४) पृ० ५० ।

२ वही, पृ० ५० ।

३ देखिए 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' (प्रथम संस्करण) पृ० १८४–१८९ ।

है। उनका विचार है कि वेदो, ब्राह्मण ग्रन्थो और उपनिषदो आदि में भी यथास्थान कहानिया पाई जाती है तथा पुराण, महाभारत तो कहानियो के भडार ही है।[1] उनके मत से ये कहानिया दो प्रकार की होती थी, प्रथम उपदेशात्मक, जिनमें वाणी के अमोघ वरदान मे विभूषित होकर पशु-पक्षी भी बोला करते थे तथा जिनमें मनोरजन की अपेक्षा किसी गम्भीर तत्त्व की आलोचना, नीति तथा धर्म की शिक्षा अधिक रहती थी ओर दूसरी पहेली बुझौवल के ढग की होती थी, जो आश्चर्यचकित करने तथा मस्तिष्क का विलक्षण आभास दिखाने के लिए लिखी जाती थी। इन कहानियो मे कौतूहल, आश्चर्य, अस्वाभाविकता, अतिप्राकृतिकता तथा अतिमानुषिक प्रसगो की अवतारणा होती थी, जो आधुनिक कहानियो मे नही है।

इनकी अपेक्षा वे आधुनिक कहानियो मे बुद्धि का अधिक समाधान तथा सम्भवता का आधिक्य मानते है। नई कहानी के सम्बन्ध में उनका विचार है कि यह किसी वस्तु की विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा केवल किसी जीवनगत मार्मिक अनुभूति या तथ्य की व्यजना ही कर सकती है।[2] वे मानते हैं कि चूँकि कहानी विशेष रूप मे नैत्यिक जीवन से सलग्न रहती है, इसलिए यह साहित्य और जीवन के बीच पडने वाले व्यवधानको दूर करती रहती है तथा लोकजीवन से अधिकाधिक सपृक्त रहती है।

वे प्राचीन आख्यायिका तथा कथा को कहानी की अपेक्षा उपन्यासो के भेद मानते हैं। उनके विचार से इनमे आख्यायिका के अन्तर्गत ऐतिहासिक उपन्यास आते है, जिनमें क्रमबद्ध घटनाए विस्तार से आती हैं और कथा के अन्तर्गत कल्पित कथाए आती हैं, जिनमें केवल थोडी घटनाओं का समावेश होता है। वे ऐतिहासिक तथा पौराणिक कहानियो के लिए हिन्दी में आख्यायिका शब्द को ग्रहण करना उचित समझते है। वे भी कहानी में एक ही कथानक को मान्यता देते है। उनका विचार है कि कहानियो मे उपन्यासो की भाति शाखा-प्रशाखा की परम्परा नही रखी जा सकती। उनकी कथा एक ही रहती है तथा उसमे विशेष प्रकार के मोडो से धारा नही उत्पन्न की जा सकती। उन्होने कहानी के कथानक, सवाद, चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य नामक केवल चार अगो का ही विवेचन किया है।

कहानी के छोटे आकार के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "छोटी कहानी अब इतनी छोटी होने लगी है कि दस, पन्द्रह पक्तियो के अनुच्छेद तक मे समाप्त हो जाती है। बाना रूप तो अलग रहे यह नामरूपहीन निर्गुण बन रही है।"[3] इस सम्बन्ध मे उनका मत है कि ये आजकल अपने छोटे रूप मे प्रतीको से भी काम लेने लगी है। इसी से प्रतीकात्मक छोटे-छोटे गद्य-खडो को भी कहानिया कहा जाता है।

---

१ देखिए वाड्मय विमर्श (स० २०००) तृतीय सस्करण, पृ० ६२।
२ देखिए वही, पृ० ६३ ।
३ वही, पृ० ६३।

वे कहानियो तथा उपन्यासो मे खड-काव्य तथा महाकाव्य का सा अन्तर मानते है। उनका विचार है कि कहानियो मे उपन्यास के समान चरित्र के विकास या निरूपण को अवकाश प्राप्त नही होता, क्योकि कहानियो मे जीवन की एक झलक मे, घटनाओ, कार्य-व्यापारो, सवादो तथा परिस्थितियो आदि कई वातो पर लेखक को दृष्टि जमानी पड़ती है। वे कहानी की अपेक्षा उपन्यास मे अधिक शक्ति मानते है, क्योकि कहानी के गृहीत जीवन-खड मे विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि चुना हुआ खड-जीवन मार्मिक नही हुआ तो कहानी आकर्षक नही हो सकती।

वे कहानी के सवादो का आकार प्रकार भी छोटा और सधा हुआ होना अच्छा समझते है। उनकी स्वाभाविकता के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "सवाद रखने मे ऐसी सावधानी भी रखनी चाहिए जिससे पता चले कि दो व्यक्ति वातचीत कर रहे है, केवल दो मुख नही वोल रहे है।"[1] उनके विचार से कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य चरित्र पर प्रकाश डालना, घटनाओ को गतिशील वनाना तथा कथावस्तु मे मनोरजकता लाना है। वे मानते है कि इसके द्वारा कहानी मे व्यक्तियो की भिन्नता दिखाई जा सकती है।

वे देश काल का विचार उन कहानियो मे विशेष रूप से आवश्यक समझते है, जिनमे स्मृत्याभास-पद्धति से अतीत-जीवन की अनुभूति कराई जाती है।[2] उन्होने कहानियो का उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य वनाने मे सहायता पहुचाना तथा उसको असस्कृत वासनाओ से निकाल कर मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करना माना है।

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'—

शिलीमुख जी ने 'आधुनिक हिन्दी कहानिया' की भूमिका मे कहानी का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होने कहानी के मूल, उत्पत्ति, पुरानी कहानी से अन्तर उपन्यास मे भेद, परिभाषा, स्वरूप, प्लाट, शीर्षक, वातावरण, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, दोष, प्रकार आदि तत्त्वो का गम्भीर विवेचन किया है। वे कहानी के मूल मे वृत्त वर्णन, सम्वाद तथा उत्सुकता मानते है।[3] उनका विचार है कि कहानी का मूल ऋग्वेद मे है। वे कथा तथा आख्यायिका की गणना उपन्यास मे करते है तथा उनकी अपेक्षा हितोपदेश और ईसप की कहानियो को आधुनिक कहानियो का पूर्व रूप मानते है। वे आधुनिक छोटी कहानी को पाश्चात्य आदर्शो की वस्तु मानते है।

उनके विचार से आधुनिक तथा पुरानी कहानी मे यह अन्तर है कि पुरानी कहानी का मूल उद्देश्य उपदेश करना तथा सब वातो को अद्भुत रूप मे प्रस्तुत करना होता था

---

१ वाङ्मय विमर्श (स० २०००) तृतीय सस्करण, पृ० ७० ।
२. वही, पृ० ७० ।
३ "मनुष्य वर्ग का अन्त अपने सजातीयो के सम्बन्ध मे कुछ कहना सुनना चाहता ही है—जिज्ञासा से नही, केवल उत्सुकता के विनोद के लिए।" आधुनिक हिन्दी कहानिया, प्रथम सस्करण, पृ० ६ ।

और आधुनिक कहानी काव्य का एक अग है, कहानी-शिल्प की ओर ध्यान देती है, प्राकृतिक रूप मे सामने आती है, मनुष्य की मनुष्य के प्रति सम्वेदना और उत्कठा जाग्रत करती है, भिन्न-भिन्न मानव वृत्तियो का आश्रय लेती है तथा रस-परिपाक की ओर ध्यान देती है ।

वे कहानी तथा उपन्यास का मूल भेद आकार की अपेक्षा एकतथ्यता तथा सवेदना मानते हैं। उनका विचार है कि कहानी मे मूल तथ्य एक ही होता है तथा अन्य तथ्य सहायक मात्र होते है। उसके एक तथ्य मे एक ही उत्कट सवेदना भी होती है। इसकी अपेक्षा उपन्यास मे व्याख्या का तत्त्व अधिक होता है, जिससे सवेदना की तीव्रता नष्ट हो जाती है तथा कहानी की सवेदना की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि उसका प्रभाव आकस्मिक तथा असामान्य होता है ।

वे कहानी मे सवेदना, स्मृति-विस्मृति की महत्ता तथा लेखक के निजी दृष्टिकोण और अनुभव के मूल आधार की महत्ता स्वीकार करते है। उनका विचार है कि कहानी मे लेखक की सहृदयता, राग-विरागमयी प्रवृत्ति की अनुरजना तथा उसकी तीव्र सवेदना का प्रकट होना आवश्यक है। कहानी मे लेखक को अपने अनुभव की कुछ प्रमुख बातो को व्यक्त करना चाहिए तथा जो महत्त्वहीन हो उन्हे विस्मृत कर देना चाहिए। कहानी मे सार्थक तत्त्वो के चुनने से ही वास्तविकता की अनुभूति होती है तथा तत्त्वो की सार्थकता का निर्णय लेखक के अपने सवेदना-कोण से होता है।[1] कहानी-लेखक के अनुभव के आधार मनुष्य और उसके कार्य है तथा वह अपनी मूल सवेदना की अभिव्यक्ति, स्थान, व्यक्ति तथा कार्य अर्थात् वातावरण, पात्र तथा प्लाट के माध्यम से कर सकता है। उनका कथन है "प्लाट उन तमाम घटनाओ की व्यवस्थित समष्टि है, जिसका दर्शन हमको कहानी मे होता है, पात्र उन घटनाओ के अधिनेता या अधिनीत है और वातावरण, स्थान तथा अवसर सम्वन्धी परिस्थिति है।"[2]

वे कहानी के प्लाट के आवश्यक गुण क्रमबद्धता तथा मौलिकता समझते है तथा उसमे घटनाओ की स्वाभाविक सम्वद्धता, कारण-कार्य सम्वन्ध, गतिशीलता, सोद्देश्यक प्रभाव-पूर्णता तथा सवेदना के स्पष्टीकरण की शक्ति मानते है। उनका विचार है कि कहानी की मौलिकता नई घटनाओ को ढूढ निकालने में नही वरन् सवेदना ढूढने मे है। वे कहानी के शीर्षक को किसी उद्देश्य का सूचक, निरर्थक वाक्य या शब्द शून्य, पाठक के मन को भ्रम में न डालने वाला तथा उसकी उत्सुकता को जाग्रत करके उसे दूसरी ओर न ले जाने वाला होना मानते है। उनका विचार है कि कहानी के आरम्भ मे भूमिका का समावेश उचित नही होता तथा उसका आरम्भ किसी आकस्मिक घटना या वार्तालाप से करना ठीक है। कहानी का प्रारम्भ प्लाट के किसी भी स्थल से कलात्मक रूप मे हो सकता है तथा उसका अन्त भी आकस्मिक तथा स्वाभाविक होना चाहिए। वे कहानी की

---

१ देखिए 'आधुनिक हिन्दी कहानिया' (प्रथम सस्करण) पृ० १८-१९।

२. वही, पृ० २०।

चरम सीमा को उसकी पुंजीभूत संवेदना मानते हैं तथा उसके एक-एक वाक्य का उसकी ओर अग्रसर होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि कहानी में लेखक का व्यक्तित्व बड़े महत्त्व का होता है क्योंकि यही उसके संवेदनकोण को उत्पन्न करता है

वे कहानी में वातावरण के लिए उतना ही स्थान अपेक्षित मानते हैं, जितने से वह संवेदना को तीव्र बना सके। वे मानते हैं कि जिन कहानियों में लेखक भौतिक घटनाओं के स्थल पर अन्तर्जगत् की घटनाओं की संवेदना को ही अपना लक्ष्य बनाता है वे ही कहानियां अमर होती हैं। उनके विचार से कहानी में वातावरण का आभासमात्र देकर उसकी पूर्ति पात्रों के कार्य-कलापों तथा संवादों से ही होनी चाहिए।

प्लाट और वातावरण की भांति वे चरित्र-चित्रण का उद्देश्य संवेदना को तीव्र रूप में उद्दीप्त तथा अग्रसर करना मानते हैं। वे चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता को आवश्यक समझते हैं, जो पात्रों के स्वयं अपनी बातचीत तथा कार्यों द्वारा अपने चरित्र को प्रकट करने से आ सकती है। वे कहानी में चरित्र-चित्रण के लिए स्थान नहीं मानते। उनका विचार है कि जिस प्रकार उचित स्थान पर बिन्दु रख देने से वृत्त की कल्पना हो जाती है, वैसे ही कहानी में चरित्र के एक तथ्य की तीव्रतम संवेदना से पात्र के साधारण चरित्र के वृत्त की कल्पना स्वयं हो जाती है। वे उस कहानी को श्रेष्ठ कहते हैं, जिसमें व्यंजनात्मकता अधिक होती है।

वे मानते हैं कि कथोपकथन कहानी को नेत्रों के समान चमका देता है और प्लाट की गति को अग्रसर करके तथा पात्रों की अवस्था या चरित्रों की सूचना देकर एक द्विविध उद्देश्य की पूर्ति करता है।[1] उनका विचार है कि किसी पात्र के मुख से कहलाया गया एक भी वाक्य उस पात्र के उतने चरित्र और परिस्थिति का द्योतक होना चाहिए जितने का मुख्य संवेदना से सम्बन्ध हो।

उन्होंने राबर्ट डेविस द्वारा प्रतिपादित कहानी के चार दोष, असम्बद्धता, प्लाट की हीनता, अमौलिकता तथा दुरारम्भ को भी मान्यता दी है। इनके अतिरिक्त भी वे इसमें लेखक के उद्देश्य, उपदेश वृत्ति तथा भाषा शैली से सम्बन्ध रखने वाले अनेक अन्य दोषों का उत्पन्न होना मानते हैं।

वे कहानी लिखने की पद्धति के आधार पर कहानी के ऐतिहासिक, आत्मचरितात्मक, कथोपकथनात्मक, पत्रात्मक तथा डायरी सम्बन्धी अनेक प्रकार मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे भी राजनैतिक, पौराणिक, जासूसी, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, भावुक, अद्भुत, साहसिक रूपक के ढंग की (ऐलीगोरिकल) छायावादी आदि असंख्य प्रकार की कहानियां मानते हैं। वैज्ञानिक कहानियों के अन्तर्गत वे भौगोलिक, जीव-विद्या-सम्बन्धी आदि कहानियों को ग्रहण करते हैं।

वे कहानियों में उद्देश्य के समर्थक तो हैं, पर उनका विचार है कि कहानी का उद्देश्य किसी संवेदना के रूप में प्रकट होना चाहिए, उपदेश के रूप में नहीं। वे मानते

---

१. देखिए 'आधुनिक हिन्दी कहानियां' (१९३१) प्रथम संस्करण, पृ० ५५।

है कि कहानी मे लेखक को उद्देश्य का आग्रह नही ेना चाहिए, वरन् उसे उद्देश्य के पीछे अपने को छिपा लेना चाहिए ।

डा० रामकुमार वर्मा—

वर्मा जी कहानी की उत्पत्ति अनन्तकाल से मानते है । उन्होने 'साहित्य समालोचना' नामक पुस्तक मे भारतीय साहित्य मे कहानी के विकास का विवरण प्रस्तुत किया है ।[1] वे कहानी के मुख्य पाच अग मानते है, घटनाए तथा कार्य, पात्र, कथोपकथन, शैली तथा आदर्श । इन्ही को उपन्यास के भी प्रमुख तत्त्व मानते है । इस प्रकार उन्होने उपन्यास तथा कहानी के एक ही से तत्त्व माने है । वे कहानी के कथानक मे प्रवाह तथा अग-सगठन की आवश्यकता मानते है । उनका विचार है कि इसके प्रारम्भिक भाग मे पाठको के लिए आकर्षण, उसका कहानी से पूर्ण सामजस्य तथा उसमे उद्देश्य का आभास मिलना चाहिए । वे इसका दूसरा भाग (विकास) मानते है तथा उसका उतना ही विस्तार आवश्यक समझते है, जितना पात्रो और घटनाओ को आगे बढाने के लिए आवश्यक है । इनके विचार से कहानी का तीसरा भाग कौतूहल है, जो 'विकास' तथा कहानी की चौथी अवस्था 'चरम सीमा' के बीच का पुल है । इस कौतूहलता से ही वे कहानी मे रोचकता का आविर्भाव मानते है । वे 'चरम सीमा' की दशा मे कहानी का सारभूत तत्त्व सन्निहित समझते है । वे कहानी के चरित्र-चित्रण मे पात्रो के वाह्य रूप तथा उनके भावात्मक विचारो का स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझते है तथा 'कथोपकथन' को कहानी का सर्वोत्तम भाग मानते है । उनका विचार है कि कथोपकथन, स्वाभाविक, उपयुक्त, भावनात्मक तथा बोलने वाले के अनुरूप होना चाहिए ।[2] वे कहानी के उद्देश्य का तात्पर्य जीवन की किसी विशेष दशा का चित्रण करना समझते है तथा उसकी विशेष अनिवार्यता मानते है । उनका विचार है कि श्रेष्ठ कहानी मे मौलिकता, घटनाओ की स्वाभाविकता, लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, सरसता, कहानी-कला के तत्त्वो का पूर्ण आधार, वाछनीय विषय तथा हृदयस्पर्शिता के गुण होने आवश्यक है ।[3]

विनोद शकर व्यास तथा ज्ञानचन्द्र जैन—

इन लेखको ने 'कहानी कला' नामक पुस्तक मे कहानी का विवेचन प्रस्तुत किया है तथा उसके स्वरूप, उत्पत्ति, उपन्यास से भेद, प्लाट, शीर्षक, वार्त्तालाप, अग, प्रकार आदि विषयो का विवेचन किया है । वे मानते है कि कहानियो मे आकार, प्रकार, रूप-रेखा तथा सामग्री मे कालानुसार परिवर्तन होता आया है ।[4] वे आधुनिक कहानियो के

---

१ देखिए 'साहित्य समालोचना' (१९४२) पृ० २५ से ३१ ।

२ वही, पृ० ७३ ।

३ देखिए वही, पृ० ८५ से ९० ।

४ 'कहानी कला' (प्रथम सस्करण), प्रकाशकः हिन्दी साहित्य कुटीर, पृ० १ ।

रूप-निर्माण में फ्रेंच तथा रूसी कहानियों का विशेष महत्त्व मानते हैं तथा उनमें प्राचीन कहानियों की अनियंत्रित तथा अप्रासंगिक भावुकता, उपदेशात्मकता और निर्णयात्मकता की अपेक्षा मनोरहस्यों के उद्‌घाटन की प्रवृत्ति, विश्लेषणात्मकता और शोधनात्मक भावना की प्रधानता समझते हैं।[१] वे समझते हैं कि कहानी में किसी भावना विशेष का चित्रण रहता है तथा उपन्यास का 'कन्वास' विस्तृत होता है। उसमें संपूर्ण जीवन की विविधता का चित्र उतारा जा सकता है।[२]

आधुनिक कहानी के सम्बन्ध में उनका विचार है कि उसमें किसी अनावश्यक प्रसंग के लिए स्थान नहीं होता तथा उसका प्रत्येक चरण उसके प्रधान उद्देश्य की पूर्त्ति करने वाला होता है।[३] वे श्यामसुन्दरदास की भांति यह मानते हैं कि इसकी घटनाओं का प्रवाह ऐसा होना चाहिए कि पाठक की उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जाय तथा उसका लक्ष्य 'क्लाइमेक्स' की तीव्रतम स्थिति पर ही व्यक्त हो। उनके विचार से कहानीकार की सफलता उसकी भावों की प्रेषणीयता करने की शक्ति में है।[४]

वे कहानी के प्लाट को उन घटनाओं का समूह मानते हैं, जो अपने में सम्पूर्ण होता है, जिसका सम्मिलित रूप में एक निश्चित अर्थ होता है तथा जो एक निश्चित मन्तव्य को व्यक्त करने की क्षमता रखता है। उनके विचार से कहानी में प्लाट का वही महत्त्व है, जो शरीर में हड्डियों का होता है।[५] वे प्लाट को रचना-क्रम के अनुसार चार भागों में बांटते हैं, (१) प्रस्तावना, (२) मुख्यांश, (३) क्लाइमेक्स तथा (४) पृष्ठ भाग।

वे भी अन्य आलोचकों की भांति शीर्षक का विशेष महत्त्व मानते हैं। उनका कथन है "जैसे किसी बड़ी दुकान में उसकी खिड़कियों को सजाना पड़ता है, उसी तरह कहानियों में शीर्षक का आकर्षक होना आवश्यक है।"[६] वे उसकी सफलता इस बात में मानते हैं कि वह कहानी को अपने धुंधले आवरण में छिपा ले तथा कहानी से सामंजस्य हो। वार्तालाप के संबंध में उनका विचार है कि "उसका प्रयोग कहानी में उसी स्थल पर उचित है, जहां वातावरण के अनुसार उसका प्रयोग स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी जान पड़े।"[७] वे मानते हैं कि वार्तालाप का स्वरूप मनोभावों के अनुरूप हो, वह प्रतिदिन के वार्तालाप से भिन्न हो तथा उसमें उसकी अपेक्षा विशेष पालिश हो।

---

१. 'कहानी कला' (प्रथम संस्करण) प्रकाशकः हिन्दी साहित्य कुटीर, पृ० ११।
२. देखिए वही, पृ० १२।
३. देखिए वही, पृ० १३।
४. देखिए वही, पृ० १२।
५. देखिए वही, पृ० १५।
६. देखिए वही, पृ० ३४।
७. देखिए वही, पृ० ६१।

उनके विचार से कहानी के विभिन्न अग प्लाट, रचना-क्रम, शीर्षक, आरम्भ और अन्त, चरित्र, वार्तालाप, भाषा और शैली है। इनमे से वे प्लाट को प्रथम तथा रचना-क्रम को द्वितीय महत्त्व देते है। उन्होने पाच प्रकार की कहानियो का वर्णन किया है, साहसिक, घटनात्मक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा भावात्मक।

रायकृष्ण दास तथा पद्मनारायण आचार्य—

इन लेखको के कहानी सम्बन्धी सिद्धान्त हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर निर्भर है, अन्य भाषा की कहानियो के आधार पर नही। इसलिए इनकी कहानी सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचारधारा नवीनता सम्पन्न है। इन्होने हिन्दी की नई कहानियो की विशेषताओ तथा तत्त्वो का विशेष निरूपण किया है। वे कहानी को अगरेजी के 'पसनल ऐसे' के समान मानते है, जिसमे लेखक के मन पर जो किसी परिस्थिति की प्रतिक्रिया तथा अनुभूति होती है या प्रभाव पडता है, उसी के आधार पर घटना या परिस्थिति का चित्रण भी होता है। वे मानते है कि कहानी मे जीवन के एक बिल्कुल असाधारण अथवा साधारण पहलू को आकर्षक तथा रोचक रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। वे घटना-रहित तथा परिस्थिति-रहित कहानियो की भी सभावना मानते है।

वे मानते हैं कि हिन्दी की नई कहानियो मे प्राय कथानक, अभिव्यक्ति की रमणीयता, वर्णन और आन्तरिक विश्लेषण की प्रमुखता रहती है।[1] हिन्दी कहानी मे न तो काव्य की सी आलकारिक उक्तिया तथा वर्णन है न नाटको का सा आलकारिक तथा काव्यात्मक कथोपकथन। वे इनमे दो ही भावनाए प्रमुख मानते है, कटु विरोध या व्यापक सहानुभूति।

वे कहानी को शिक्षा, उपदेश तथा नैतिक सन्देश की अवतारणा करने वाली अथवा किसी लक्ष्य की आवश्यकता रखने वाली नही मानते। उनका विचार है कि यदि उसमे वस्तुत सच्चा चित्रण है तो कहानी को किसी अन्य बात की अपेक्षा नही है।[2]

गिरधारी लाल—

गिरधारीलाल जी ने अपनी पुस्तक 'कहानी—एक कला' मे विस्तार से कहानी-कला का विवेचन किया है। उन्होने भी अन्य अर्वाचीन लेखको की भाति कहानी के स्वरूप, उपन्यास से इसके भेद, कथानक, शीर्षक, पात्र, चित्रण, सवाद, शैली, देशकाल, उद्देश्य आदि विषयो पर विचार प्रकट किए है। वे कहानी की वर्तमान उच्चकोटि की कला तथा सफलता का कारण अमरीकी तथा यूरोपीय कलाकारो की कृतिया बताते है।[3]

---

१. देखिए 'नई कहानिया' प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (स० १९९८) पृ० २।
२. देखिए वही पृ० ५।
३. देखिए 'कहानी—एक कला' (सन् १९४१) पृ० ६।

वे कहानी को मानवीय अनुभवो तथा कल्पनाओ का मिश्रण मानते है तथा शुक्ल जी की भाति उसके स्वरूप निर्माण मे नाटक, उपन्यास, उपाख्यान आदि का श्रेय समझते है।

वे उसे किसी एक पात्र के जीवन की मानव हृदय पर गहरा प्रभाव डालने वाली ऐसी घटना समझते है, जिससे जीवन मे एक वेग तथा गति का सचार होता है, क्योंकि उसमे वैचित्र्य तथा वास्तविकता के सामजस्य की प्रतिष्ठा होती है। वे उसमे पूर्णता तथा पराकाष्ठा की गुजाइश नही मानते। उनका विचार है कि "कहानी अपने प्रधान पात्र के भावना-वैचित्र्य की गहरी छाप लगाती हुई अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए अग्रसर होती रहती है।"[1] वे ऐडगर ऐलन पो की भाति कहानी मे प्रभाव की एकता को भी अनिवार्य मानते है। उनका विचार है कि जब तक कहानी जिगर मे न पैठ जाय तब तक वह अपने प्रभाव मे सफल नही होती तथा जिगर मे पैठने के लिए उसके प्रभाव का शक्तिशाली होना आवश्यक है।[2]

उन्होंने भी कहानी मे सक्षिप्तता के गुण की आवश्यकता बताई है। उनका विचार है कि वह इतनी बडी होनी चाहिए, जिससे पाठक का जी न ऊब जाए।[3] वे डा० श्रीकृष्णलाल की भाति उसमे कम से कम घटनाओ तथा प्रसगो का समावेश होना उचित समझते है। उनका कथन है कि "कहानी मे एक विशेष घटना को ही लेकर कहानी आगे बढती है एव उसी के साथ समाप्त भी हो जाती है। जीवनी, इतिहास अथवा उपन्यास की भाति उसमे क्रमबद्ध घटनाए नही होती।"[4] यदि घटनाए अधिक हो तो वे उनका एक दूसरे से तथा लक्ष्य से सम्बद्ध रहना आवश्यक समझते है।

वे हड्सन के अनुसार कहानी को उपन्यास से केवल आकार मे ही नही वरन् गठन, उद्देश्य आदि मे भी भिन्न मानते है।[5] उनका विचार है कि उपन्यास की अपेक्षा इसमे मौलिक भाव तथा कल्पना का होना अधिक आवश्यक है।[6] यदि कहानी मे नाटकीय गुणो का समावेश न हो तो वह सुन्दर नही बन सकती। वे उसके घटना-वैचित्र्य, मार्मिक दृश्यो के सरल रोचक वर्णन की बहुलता, आधार एव पात्रो की न्यूनता, कथोपकथन, हृदय पर गहरी छाप लगाने वाली रीतियो का प्रयोग, पात्रो के जीवन मे सकट उपस्थित करना, स्थिति को प्रोत्साहन देना आदि गुणो को नाट्य-कला की देन मानते है।[7] वे मानते

---

१ देखिए 'कहानी—एक कला' (सन् १९४१), पृ० ११।
२. देखिए वही पृ० २१६।
३ देखिए वही पृ० १०–११।
४ वही पृ० १०–११।
५ "एज दी स्टोरी डिफर्स फ्रॉम दि नॉविल इन लैंग्थ सो इट मस्ट ऑव नैसेसिटी डिफर फ्रॉम इट इन मोटिव, प्लान एण्ड स्ट्रक्चर" 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑव् लिट्रेचर' हडसन (द्वितीय सस्करण) १९५४, पृ० ३३८।
६ देखिए 'कहानी—एक कला' (सन् १९४१) पृ० १९।
७ देखिए वही पृ० १२।

हैं कि कहानी भी नाटक की भाति भूमिका या प्रस्तावना के बिना प्रभावोत्पादक बनती है। उनके विचार से कहानी का स्केच से यह अन्तर है कि स्केच मे कहानी जैसा प्रवाह तो है पर उस जैसी कथानक की तीव्रतम स्थिति तथा आकस्मिक परिसमाप्ति का गुण नही है

वे कहानी के कथानक का श्रेष्ठ आधार, मानव जीवन सम्बन्धी गहरे अनुभवो की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति मानते है। उनका विचार है कि यदि कहानी मे एक से अधिक घटनाए हो तो माला के फूलो की तरह गुंथी हुई होनी चाहिएँ तथा सबकी गति एक ही ओर होनी चाहिए। वे कथानक के आदि, मध्य और अन्त मे विशेष सावधानी का प्रयोग आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि चूंकि कहानी मे भूमिका तथा पूर्ण विवरण के लिए स्थान नही होता, इसलिए उसमें ऐसा निर्देश आवश्यक है, जो सम्पूर्णता का सूचक हो।[1] वे उसी कथा को उच्चकोटि का मानते है, जिसकी रचना जीवन की कठिन से कठिन गुत्थियो और उच्च सिद्धान्तो से होती है।[2] उनका विचार है कि यदि कहानी का प्रारम्भ अच्छा न होगा, तो भीतर लाख सुन्दरता होने पर भी उसे कोई नही पढेगा।[3] इसलिए वे सिद्धान्त विशेष के अनुसार किसी दृश्य के वर्णन द्वारा, किसी पात्र के जीवन के निर्देशात्मक परिचय द्वारा तथा घटनाओ या कथोपकथन द्वारा, उसका प्रारम्भ करना अच्छा समझते है। वे कहानी की प्रत्येक घटना का अन्त से सम्बद्ध होना आवश्यक समझते है। वे कथानक मे रोचकता, नूतनता, आश्चर्यजनकता, मौलिक भाव, रहस्य तथा समस्याओ और उनके समाधान की आवश्यकता बताते है।

वे भी अन्य आधुनिक आलोचको की भाति कहानी की उत्कृष्टता तथा निकृष्टता उसके शीर्षक पर आधारित मानते है; उनका विचार है कि कहानी का शीर्षक आकर्षक, निरुद्देश्य, विशिष्ट तथा नवीन होना चाहिए तथा वह उसके मुख्य पात्र, विषय, भाव, रस, प्रधान घटना, मुख्य वस्तु अथवा दृश्य तथा स्थान के आधार पर रखा जाना चाहिए।

वे उस कहानी को सफल कहते है, जिसमे समुचित रूप से वस्तु और पात्र दोनो का निर्विरोध निर्वाह होता है।[4] उनका विचार है कि कहानी के चरित्रो के विकास का आधार एक ही महत्वपूर्ण घटना होनी चाहिए।[5] वे मानते है कि कहानी के पात्र मानव समाज के सन्निकट होने चाहिए तथा उनका चरित्र-चित्रण पूर्णतया स्वाभाविक होना चाहिए। वे पात्रो के चित्रण के लिए उनके निजी व्यक्तित्व तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विशेष आवश्यकता समझते है तथा स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की कुजी आदर्श समन्वित यथार्थवाद मानते हैं।

---

१. देखिए 'कहानी—एक कला' (सन् १९४१) पृ० ५०।
२ देखिए वही पृ० ४१।
३. देखिए वही पृ० ५८।
४ देखिए वही पृ० ५८।
५. देखिए वही पृ० ६८।

सवादो के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि कहानी मे सरस तथा मन को आकर्षित करने वाले सवाद आने चाहिए क्योंकि ये कहानी को गतिशील करते हैं तथा उसके पात्रो के चरित्रो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके उनका ज्ञान कराते हैं। इन्होने अस्वाभाविकता, अनुपयुक्तता तथा अश्लीलता को सवादो की मर्यादा नष्ट करने वाले दोष माना है।

वे सस्थान-समावेश तथा दृश्यावली (एटमासफीयर तथा बैकग्राउण्ड) को चरित्र का विकास करने के लिए विशेष प्रयोजनीय मानते है, क्योकि ये कहानी की मोहकता की वृद्धि करते है तथा दृश्यो और पात्रो की स्वाभाविकता को सच्चा तथा आकर्षक बनाते है। वे पात्रो के स्वभाव के वर्णन मे समय तथा स्थान का स्वाभाविक वर्णन आवश्यक समझते है तथा यह मानते है कि घटनाओ की गतिशीलता एक मात्र दृश्यो पर ही निर्भर रहती है।

वे कहानी का उद्देश्य शिक्षा देने की अपेक्षा मानव हृदय की किसी भी अनुभूति का हृदयस्पर्शी तथा मार्मिक वर्णन करके आनन्द प्रदान करना मानते है। वे मानते हैं कि कहानी आनन्द देने के लिए ही सौन्दर्य की सृष्टि करती है तथा किसी अविच्छिन्न भाव-धारा का हृदय मे उद्रेक करना ही कहानी का उद्देश्य है। उनके विचार से जहा कला है वहा सत्शिक्षा स्वय उपस्थित रहती है।

उन्होने कहानी मे शैली का विशेष महत्त्व स्वीकार किया है।[1] इसलिए वे कुछ विद्वानो के इस विचार को कि 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कोऊ होय' नही मानते। वे जटिलता को कहानी के सौन्दर्य मे बाधक समझते हैं तथा सरलता मे ही उसका सौन्दर्य मानते है, क्योकि इसके द्वारा ही कहानी लोक रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।[2] उनका विचार है कि भाषा कहानी के भावो का आधार है तथा यह सरल और मुहावरेदार होनी चाहिए। वे लिखते है कि "कहानी मे कहने की बात, प्रकट करने का विषय, नपे-तुले शब्दो मे सरल-सीधी भाषा मे कह देना चाहिए .. ..कुशल कलाकार अपने भावो का शृंगार कदापि नही करते। बहुत थोडे मे ही वे मूल प्रभाव की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, अगर उनके भाव, वाक्य, उनके मनोभावो को व्यक्त नही कर पाते, तो जानिए पहले कदम मे वे चूक गए।"[3] वे भाषा तथा शैली का यही उद्देश्य मानते हैं कि लेखक इसके द्वारा अपनी गूढ से गूढ भावनाओ को स्पष्ट रूप से रोचकता के साथ व्यक्त कर सकता है। वे शैली के लिए उचित शब्दो, विराम-चिन्हो तथा सुसज्जित और छोटे-छोटे पैराग्राफो में कहानी के विभाजन की आवश्यकता समझते है।

---

१. देखिए 'कहानी—एक कला' (१९४१) पृ० ९१।
२. देखिए वही पृ० ४।
३. वही पृ० ५६।

डा० श्रीकृष्णलाल—

डा० श्रीकृष्णलाल ने कहानी की प्राचीनता, इतिहास तथा विकास और आधुनिक कहानी के तत्त्वो का विवेचन किया है। उन्होने कहानी के कथानक, चरित्र-चित्रण शैलियो तथा वर्गो का विवेचन किया है। उन्होने भारतवर्ष मे कहानियो का प्रारम्भ उपनिषदो की रूपक-कथाओ, महाभारत के उपाख्यानो तथा बौद्ध-साहित्य की जातक-कथाओ से तथा आधुनिक कहानी का प्रारम्भ स० १९०० से माना है।[1] वे भारत मे कथा-साहित्य के विकास के मुख्य तीन युग मानते है, पहला आदि काल से बारहवी शताब्दी तक का, जिसमे प्राचीन काल से चली आती हुई उपनिषदो की रूपक कथाओ, महाभारत के उपाख्यानो तथा जातक कथाओ की परम्परा चलती रही, दूसरा तेरहवी शताब्दी से उन्नीसवी के अन्त तक का, जिसमे मुसलमानो की सस्कृति तथा कथा-कहानियो की परम्परा का प्रभाव भारतीय कथा-साहित्य पर पडा तथा कहानियो की प्रमुख विशेषताएँ लौकिक प्रेम तथा भोग विलास का चित्रण, हास्य और विनोद की बहुलता तथा अति प्राकृतिक और अति मानुषिक प्रसगो की अवतारणा थी तथा तीसरा, बीसवी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, जिसमे पाश्चात्य साहित्य, सस्कृति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और भौतिक विचार-धारा का इतना प्रभाव पडा कि जनता की रुचि, विचार, भावना, आदर्श और दृष्टिकोण प्राचीन काल से इतने अधिक भिन्न हो गए कि प्राचीन कहानी को कहानी ही नही माना गया। हम इनके इस वर्गीकरण से सहमत नही है। तेरहवी शताब्दी से १९वी शताब्दी तक के कथा-साहित्य पर मुसलमानो की सस्कृति तथा कहानियो की परम्परा का प्रभाव मानने का कोई आधार नही है। वास्तव मे इस काल मे भी वीर-काव्यो, रासो-ग्रन्थो, प्रेमाख्यानो के रूप मे प्राचीन कथा-साहित्य की शैली तथा रूढिया चलती रही थी।[2] यह माना जा सकता है कि उन पर तत्कालीन परिस्थितियो तथा रुचियो का प्रभाव अवश्य पडा होगा।

वे प्राचीन और आधुनिक कहानियो के अन्तर का प्रमुख कारण आधुनिक काल मे पाश्चात्य सस्कृति और विचारो से उत्पन्न नवीन जाग्रति, चेतना, आलोचनात्मक प्रवृत्ति तथा वैज्ञानिकता मानते है। उनका विचार है कि आधुनिक कहानी मे बाह्य शक्ति की अभौतिक तथा अतिभौतिक सत्ताओ के स्थान पर मानव की अन्त प्रकृति का चित्रण होने लगा है तथा इसका विषय और उपादान का क्षेत्र विशेष विस्तृत हो गया है। इसलिए प्राचीन कहानियो की अपेक्षा इसकी आत्मा अधिक सजीव, गम्भीर और सूक्ष्म है।[3]

उनकी धारणा है कि आज का कहानी-लेखक काल्पनिक कथा मे ऐसे वातावरण की सृष्टि करता है कि उसकी गम्भीरता, स्वाभाविकता और यथार्थवादिता से प्रभावित होकर पाठक को पूर्ण कहानी को सत्य मानना पडता है। इन कहानियो मे वातावरण

---

१. हिन्दी कहानिया (स० २०००) पृ० १।
२. देखिए 'हिन्दी का आदि काल' (स० २००९) पृ० ६१।
३. देखिए वही पृ० १०–११।

की सृष्टि से वही प्रभाव पड़ता है, जो नाटकों मे रगमचीय कौशल से पड़ता है।'[1] वे समझते हैं कि स्थान, काल और पात्र का विचार कर सम्भाव्य सभी बातो के चित्रण मे आधुनिक लेखक वातावरण की सृष्टि करता है और यह सृष्टि लेखक की कल्पना पर एक रहस्यमय अवगुण्ठन डाल कर उसे सत्य का स्वरूप प्रदान करती है। वह असम्भव घटना को भी इस कौशल से प्रस्तुत करता है कि पाठक इस असम्भव को सम्भाव्य मान लेता है। वे इस वातावरण को आधुनिक कहानी की एक मौलिक एव नवीन सृष्टि समझते हैं।'[2] उनके विचार मे आत्मा और वातावरण के अतिरिक्त आधुनिक कहानी के रूप और शैली भी प्राचीन कहानियों से नितान्त भिन्न है। उनमे मनोवैज्ञानिकता तथा सामान्य मानवता का अधिक यथार्थ चित्रण होता है।'[3]

वे कहानी को उपन्यास का छोटा रूप नही मानते वरन् उससे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र साहित्य मानते है। उनका विचार है कि प्रभाव क्षेत्र और विस्तार के विचार से आधुनिक कहानी एकाकी नाटक और निबन्ध के बहुत निकट है। वे कल्पना के आरोप तथा कम से कम पात्रो द्वारा कम से कम घटनाओं और प्रसगो की सहायता से, कथानक, चरित्र, वातावरण और प्रभाव इत्यादि की सृष्टि करना, आधुनिक कहानी की प्रमुख विशेषताए मानते हैं।[4]

वे आधुनिक कहानी में कथानक का होना आवश्यक होने हुए भी अनिवार्य नही मानते, क्योंकि उनके विचार मे "कभी-कभी केवल कुछ मनोरंजक बातो, चुटकलो और चित्त को आकर्षित करने वाली सूझो के आधार पर ही कहानी की सृष्टि हो जाया करती है।"[5] वे कहानी मे जीवन के एक अग पर प्रकाश डालने वाले ऐसे कथानक को श्रेष्ठ मानते है, जो अपने ही में पूर्ण भी हो।

उन्होंने हिन्दी की कहानियो को तीन वर्गो मे विभाजित किया है, कथा-प्रधान, वातावरण-प्रधान तथा प्रभाव-प्रधान और कथा-प्रधान कहानियो के भी तीन प्रकार माने है, चरित्र-प्रधान, घटना प्रधान तथा कार्य-प्रधान। कार्य-प्रधान कहानियो के अन्तर्गत कार्य पर जोर दिया जाता है तथा साहसिक, रहस्यमूलक, अद्भुत तथा वैज्ञानिक कहानिया इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। वे घटना-प्रधान कहानियो को कला तथा सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे साधारण मानते है। उनके विचार से वातावरण-प्रधान कहानिया कला की दृष्टि से सबसे अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इनमे लेखक को वातावरण के चित्रण और परिपार्श्व (सेटिंग) की अवतारणा द्वारा कला की करामात दिखाने का उपयुक्त अवसर मिलता है। प्रभाव-प्रधान कहानियो मे चरित्र, वातावरण, घटना आदि से अधिक प्रधानता

---

१. हिन्दी का आदि काल (स० २००९) पृ० १३।
२ देखिए वही पृ० १६।
३. देखिए वही पृ० १७।
४ देखिए वही पृ० २३।
५. देखिए वही पृ० १९।

किसी विशेष प्रभाव की सृष्टि को दी जाती है। इन तीन प्रकार की मुख्य कहानियो के अतिरिक्त वे रहस्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्राकृतवादी और प्रतीकवादी आदि कहानियो के भी अन्य प्रकार मानते है।

वे कहानियो की चार शैलिया मानते है, ऐतिहासिक, जो सबसे प्रचलित शैली है। इसमे लेखक तटस्थ सा होकर अन्य पुरुष के रूप मे इतिहासकार की भाति कहानी का वर्णन करता है। यह शैली मनोविज्ञान के आधार पर परिष्कृत, स्वाभाविक तथा पूर्ण हो गई है। चरित-शैली मे कहानी का कोई पात्र उत्तम पुरुष के रूप मे कहानी कहता है। कहानी की तीसरी शैली पत्र-शैली है, जो विशेष दोष-पूर्ण है। इसमे कहानी को समझने के लिए दिमाग लगाना पडता है, क्योकि एक पत्र मे लिखी हुई बातो का विवरण और विश्लेषण अन्य पत्रो के पढने पर ही हो सकता है। इसी से बहुत कुछ मिलती हुई डायरी-शैली है, जिसमे पात्रो के उद्धरण से पूरी कहानी कही जाती है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी—

वाजपेयी जी ने 'हिन्दी की प्रतिनिधि कहानिया' नामक कहानी-सकलन की भूमिका मे कहानी का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। वे कहानी को मानव-सृष्टि के समान पुरानी मानते है तथा उसका मूलाधार, वृत्त-वर्णन समझते हैं। उनका कथन है कि "किसी भी वस्तु का वर्णन करना या उसके प्रति अपने विचार प्रकट करना एक प्रकार से उसकी कहानी कहना है।"[1] वे प्रारम्भिक कहानी का जन्म वेदना से मानते हैं तथा उसके आधुनिक रूप को केवल एक शताब्दी पुराना समझते है।

वे कहानी तथा उपन्यास मे यह अन्तर मानते है कि यदि उपन्यास स्याही का छिडकाव है, तो कहानी पैसिल की पतली लकीर है[2] और उपन्यास मे अनेक समावनाएं तथा कहानी मे एक ही सम्भावना होती है। कहानी के स्वरूप के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि यह जीवन के किसी एक अग अथवा अवस्था का चित्रण है, जिसके द्वारा एक ही प्रभाव या एक ही सवेदना की उत्पत्ति होती है।[3] वे कहानी मे सक्षिप्तता, एक ही भावना का उद्रेक, अनुभवो की सक्षिप्त व्यजना, स्मृति के साथ विस्मृति का आधार, वस्तु, पात्र तथा वातावरण का समावेश भी आवश्यक समझते हैं।

उन्होने कहानी के घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान तथा वर्णनात्मक नामक चार प्रकार के कथानक माने है। वे कम से कम शब्दो मे किसी पात्र का चित्रण करने के पक्ष मे है तथा कहानी के पात्रो के चुनाव मे कोई बन्धन स्वीकार नही करते। वे भी अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण की शैली को विश्लेषणात्मक से अधिक महत्त्व देते है। उनका विचार है कि शैली या प्रणाली की चारुता भी कहानी का सर्वमान्य अग है। वे कहानी

---

१. हिन्दी की प्रतिनिधि कहानिया, प्रथम संस्करण (स० २००७) पृ० (क)।
२ देखिए वही पृ० (घ)।
३ देखिए वही पृ० (घ)।

की ऐतिहासिक, आत्म-चरितात्मक, कथोपकथनात्मक, पत्रात्मक, डायरी तथा वातावरण नामक प्रणालियां मानते हैं। वे भी अन्य आलोचकों की भांति कहानी के विषय का विशेष विस्तार मानते हैं। उन्होंने भी डेविस की भांति कहानी में असम्बद्धता, अमौलिकता, प्लाट की हीनता, दुरारम्भ आदि दोषों का उल्लेख किया है तथा उसमें विषय, कथानक, पात्र तथा प्रतिपादन की मौलिकता को अनिवार्य समझा है।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखकों ने भी कहानी का विवेचन किया है। सुदर्शन जी ने अपने लेख 'कहानी की कहानी' में भारतीय कहानी-लेखकों का यह उद्देश्य माना है कि वे संसार को ऊंचा उठाएं। उनका मत है कि भारत में कहानी का जन्म संसार में सबसे पूर्व हुआ है।[१] वे कहानी में जीवन का सुन्दर तथा यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के पक्ष में हैं तथा यह मानते हैं कि आधुनिक कहानी-लेखक दुनिया के वर्णन करने की अपेक्षा घर और दिल के रहस्यों को खोलते हैं। वे आधुनिक कहानी द्वारा प्रच्छन्न रूप में उपदेश देने को उचित मानते हैं।

नलिनीमोहन सान्याल कथा-साहित्य के अन्तर्गत उप-कथा, गल्प, कहानी या किस्सा, उपाख्यान, आख्यायिका या दास्तान, उपन्यास या रोमान्स को ग्रहण करते हैं। वे कहानी में उसके चार उपादानों, संवेदना, प्लाट, परिस्थिति तथा पात्र की समग्रता अथवा सामंजस्य को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका विचार है कि कल्पना की विभिन्नता तथा संवेदना की तीव्रता के तारतम्य के कारण कहानियों में विभिन्नता का समावेश होता है तथा प्राचीन कहानियों में रस तथा आधुनिक में संवेदना की प्रमुखता होती है। वे भी कहानियों में ध्वनि या व्यंजना की विशेष आवश्यकता मानते हैं। उनका विचार है कि कहानी के विषय तथा गठन पर जितना मनोयोग आवश्यक है उतना अन्य किसी साहित्यिक रचना पर नहीं है। उनके विचार से यह छील-तराश के द्वारा अनावश्यक अंगों का परित्याग करने से विशेष प्रभावोत्पादक हो जाती है। वे कहते हैं कि कहानी में आन्तरिक सजीवता, शैली, विषय का महत्त्व, चरित्रों के गठन का सम्पूर्ण सामञ्जस्य तथा एकता होती है तथा वह इसी के आधार पर कल्पित निर्माण करती है।[२]

इलाचन्द्र जोशी कहानी की यह विशेषता मानते हैं कि वह व्यक्ति के प्रति-दिन के साधारण जीवन की वास्तविक वेदना की सत्ता को यथार्थ रूप में अंकित करके अनन्त की सत्ता के साथ मिला देने में समर्थ होती है। वे उसके मूल तत्त्वों का सम्बन्ध मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से मानते हैं। उनका विचार है कि उसका उद्देश्य मनोरंजन तथा शिक्षा वृत्ति को जाग्रत करने की अपेक्षा रसावेग को उभारना है।[३] वे सौन्दर्य को स्वयं एक शिक्षा मानते हैं। उनका विचार है कि सौन्दर्य की स्वाभाविकता मनुष्य को अपकर्मों से बचाने में जितनी सहायक होती है, उतनी शिक्षा नहीं हो सकती।

---

१. देखिए साहित्य शिक्षा (सन् १९४३) पृ० ५५।
२. देखिए 'समालोचना तत्त्व' (सन् १९३६) पृ० ६८।
३. देखिए 'साहित्य सर्जना' (सन् १९४०) पृ० ३४–३५।

प्रभाकर माचवे कहानी के मूल मे कुतूहल तथा जिज्ञासा मानते हैं। उनका विचार है कि कथासार आत्म-निर्माण की राह से सर्वात्म-निर्माण की ओर बढता है। वे मानते है कि कहानी के अस्तित्व की पूर्ति, यथार्थता तथा जीवन के सहेतुक चित्रण द्वारा होती है। वे कहानी मे, सूक्ष्म निरीक्षण तथा व्यापक और विशद सहानुभूति को आवश्यक समझते है। वे लेखक के उच्चतम अहं के अन्तर्ज्ञान (इनट्यूशन) के अभिव्यक्त होने मे कहानी को लिखने की प्रेरणा का केन्द्र-विन्दु मानते हैं।[1] उनका विचार है कि कहानीकार के जीवन के अनुभवो की सवेदनाए अवकाश और अनुकूल मन स्थिति मे कल्पना शक्ति को ठेस दे कर कहानी के रूप मे निकल पडती है।[2] वे कहानी के तीन प्रकार मानते हैं, सुधारवादियो की बुद्धि-प्रधान, क्रान्तिवादियो की भावुकता को महत्त्व देने वाली तथा लेखक की आन्तरिक अनुभूति से अधिक सम्बन्ध न रख कर बहिर्गत स्थूल प्रयोजन से उत्प्रेरित होने वाली कहानिया।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आलोच्य काल मे कहानी सम्बन्धी अधिकाश आलोचनाए कहानी-सग्रहो की भूमिकाओ के रूप मे लिखी गई तथा कहानी-सम्बन्धी आलोचना के स्वतन्त्र ग्रन्थो का बाहुल्य नही रहा। कहानी का सैद्धान्तिक विवेचन प्राय पाश्चात्य साहित्यालोचन तथा पाश्चात्य कहानी-साहित्य के आधार पर किया गया, किन्तु रामचन्द्र शुक्ल, रायकृष्णदास आदि आलोचको ने हिन्दी के कहानी-साहि य के आधार पर भी अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। शुक्ल जी का कहानियो का वर्गीकरण केवल हिन्दी की कहानियो के आधार पर ही है। इस प्रकार आधुनिक आलोचको द्वारा कहानी सम्बन्धी आलोचना मे मौलिक चिन्तन का प्रवेश भी इस काल मे होने लगा।

इन सभी आलोचको का विचार है कि कहानी का इतिहास मनुष्य के इतिहास के समान ही पुराना है तथा उसका मूल मनुष्य की प्रकृति के मूल मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे सदैव रहा है। समय के साथ-साथ इसके रूप तथा वस्तु का परिवर्तन तथा विकास होता रहा है। इनकी यह भी मान्यता है कि सभी देशो के कथा-साहित्य के प्राचीन स्वरूपो मे कुछ वस्तुगत एव रूपगत साम्य भी मिलता है। इन्होंने कहानी की उत्पत्ति के मूल कारण, कुतूहल, वृत्त-वर्णन की इच्छा, उत्सुकता, सवाद तथा उच्चतर अहं के अन्तर्ज्ञान की अभिव्यक्ति आदि माने है।

कहानी की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इन आलोचको के दो प्रकार के मत है। श्याम सुन्दर दास, डॉ० श्री कृष्णलाल, विनोदशकर व्यास, गिरधारीलाल, शिलीमुख, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि का मत है कि आधुनिक कहानी का प्राचीन भारतीय कथा साहित्य से कोई विशेष सम्बन्ध नही है तथा इसके विपरीत इसके विकास का सारा श्रेय पाश्चात्य साहित्य को ही है। रामचन्द्र शुक्ल आदि दूसरे आलोचक या तो हिन्दी कहानियो की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं या इनमे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो ही प्रभावो का मिश्रण

---

१. देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १९४०) पृ० ७४।
२. देखिए वही पृ० ७९।

स्वीकार करते हैं। इनका विचार है कि हिन्दी कहानी अपनी निजी शैली तथा वस्तु के आधार पर अपना अस्तित्व प्रकट कर रही है। परवर्ती काल में प० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा गुलाबराय का यही मत है।[1]

इन आलोचकों का विचार है कि आधुनिक हिन्दी कहानी के विकास का आरम्भ बीसवीं शताब्दी से तथा उसकी विशेष समृद्धि का काल इसके दूसरे दशाब्द के मध्य से प्रारम्भ होता है, जिस समय प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन, प्रसाद आदि ने मौलिक कहानिया लिखना आरम्भ किया था। जैसा हम पहले निवेदन कर चुके है, आधुनिक हिन्दी-कहानी पर पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो कहानियो का बाह्य तथा आन्तरिक दोनो रूपो मे सैद्धान्तिक प्रभाव है। इसके शैली तथा वस्तु दोनो पक्षो पर बाह्य प्रभाव होने पर भी भारतीय कथा-साहित्य की परम्परागत आने वाली मूल-धारा का भी इस पर विशेष प्रभाव है। इसके अतिरिक्त इस काल मे कहानी एक विशिष्ट निजी रूप मे अपने स्वरूप का निर्माण करके स्वय अपने नवीन सिद्धान्तो को भी जन्म दे रही है।

इन आलोचको ने कहानी के अन्तर्गत उपकथा, गल्प, कहानी, किस्सा, उपाख्यान, आख्यायिका, दास्तान, रोमान्स आदि का समाहार किया है। इन्होने कहानी के अग, कथानक, सवाद, देश-काल, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, शैली, शीर्षक आदि पर विभिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं। इनके विचार से कहानी के कथानक, शीर्षक, आरम्भ, अन्त, चरित्र, सवाद, भाषा, शैली, उद्देश्य, दृश्य, सवेदना, परिस्थिति, अनुभवो की सक्षिप्त व्यञ्जना, सामजस्य, प्रतिपादन की मौलिकता, आदि अग माने गए है तथा इनमे से भी किसी आलोचक ने कथानक, किसी ने लक्ष्य तथा किसी ने वस्तु, पात्र तथा दृश्य तीनो को ही प्रमुख अग समझा है।

इन लेखको ने प्राचीन कहानियो की प्रमुख विशेषताओ का भी निर्देश किया है। इनका विचार है कि प्राचीन कहानियो मे आकस्मिक घटनाए, सयोग (कोइन्सीडेन्सेज) अलौकिक तथा अतिभौतिक सत्ताओ का उपयोग, बहुरूपता, वैचित्र्य, कौतूहल, रोमास, रस, मनोरजन की अपेक्षा नीति तथा धर्म की शिक्षा, गम्भीर तत्त्वो की आलोचना, उपदेशात्मकता, निर्णयात्मकता, अनियन्त्रित तथा अप्रासगिक भावुकता के तत्त्व, आश्चर्य, अस्वाभाविकता, अतिप्राकृतिक तथा अतिमानुषिक प्रसगो की उद्भावनाए, आदर्श आदि का बाहुल्य रहता है। वे मानते है कि इनमे कथा का क्रम, सीधा-सीधा तथा कथानक जटिल होता है, प्रेम का चित्रण अधिक होता है, वातावरण के चित्रण का अभाव होता है तथा पशु, पक्षी और मनुष्य समान धरातल पर होते हैं।

इसी प्रकार इन्होने नवीन कहानियो की भी प्रमुख विशेषताओ का निरूपण किया है तथा इनकी आत्मा, वातावरण, रूप और शैली को प्राचीन कहानियो से भिन्न माना है। इनका विचार है कि नवीन कहानी मे जीवन की समस्याए, मनोविज्ञान के रहस्य,

---

१. देखिए 'आधुनिक साहित्य' (स० २००७) पृ० १८८ तथा 'काव्य के रूप' (सन् १९५०) ले० गुलाब राय एम० ए०, पृ० २११।

कल्पना की अपेक्षा अनुभूतियो की मात्रा की प्रचुरता, सामान्य जीवन का सत्य, यथार्थ तथा स्वाभाविक चित्रण, अनावश्यक शब्दो का बहिष्कार, चटपटापन, ताजगी, विकास के तत्त्व, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, शोधनात्मक भावना, मनुष्य के मस्तिष्क तथा मन का अधिकाधिक प्रभाव और महत्त्व, सजीवता, सूक्ष्मता, गम्भीरता, शिल्प, सौन्दर्य, कला, प्राकृतिक रूप के प्रति श्रद्धा, विषय तथा उपादान के क्षेत्र की व्यापकता या सम्पूर्ण मानवीय भावनाओ का चित्रण, स्वाभाविकता, सरलता, बुद्धि का अधिकाधिक समाधान तथा सभ्यता का आधार, रस-परिपाक, पशु-पक्षी की उपेक्षा, मानव का अधिकाधिक आश्रय, रोचकता, सक्षिप्तता, प्रभाव की एकता, सौन्दर्य-सृष्टि, रस-मग्नता, छायात्मकता की अपेक्षा सत्तात्मकता, लोकरुचि, वातावरण-चित्रण, भावनाओ की सूक्ष्म व्यजना, अभिव्यक्ति की रमणीयता, वर्णन, आन्तरिक विश्लेषण, आकर्षित करने की शक्ति आदि विशेषताए मिलती है। इनका विचार है कि आधुनिक कहानी मे कम से कम घटनाओ तथा प्रसगो की सहायता से, कथानक, चरित्र, वातावरण और प्रभाव की सृष्टि होती है, क्रम-बद्धता तथा सगठन होता है, घटनाए लक्ष्य से सम्बद्ध रहती है, उसका लक्ष्य उसके लिखने से पूर्व निश्चित हो जाता है तथा उसकी अभिव्यक्ति चरम उत्कर्ष (क्लाइमेक्स) पर होती है, यह जीवन के साधारण तथा असाधारण पहलू को आकर्षक तथा रोचक रूप मे प्रस्तुत करती है, इसमे कटु विरोध तथा व्यापक सहानुभूति होती है, यह मनुष्य की मनुष्य के प्रति सवेदना तथा उत्कण्ठा जाग्रत करती है, भिन्न-भिन्न मानव-वृत्तियो का आश्रय लेती है, रस-परिपाक की ओर ध्यान देती है, इसका एक-एक वाक्य, चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है तथा चरम-सीमा उसकी पुजीभूत तीव्र सवेदना होती है।

इन्होने कहानी के स्वरूप का भी विवेचन किया है। ये इसे उपन्यास के छोटे रूप की अपेक्षा सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र साहित्य का एक विशिष्ट रूप मानते है तथा इसे अग्रेजी के 'पर्सनल ऐसे' के समान समझते हैं, जिसमे लेखक की प्रतिक्रियाए, अनुभूतिया तथा प्रभाव, घटना और परिस्थिति के रूप मे चित्रित होते है,। ये कहानी मे सवेदना, व्यजनात्मकता, स्मृति, विस्मृति की महत्ता, लेखक के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, सवेदन-कोण तथा निजी अनुभव का विशेष महत्त्व मानते है।

इन आलोचको का विचार है कि कहानी के विभिन्न तत्त्व, नाटक, निबन्ध, उपन्यास, उपाख्यान, आदि से लिए गए है। इनके मत से कहानी ने नाटको से कथोपकथन, घटनाओ का विन्यास-वैचित्र्य, बाह्य तथा आभ्यन्तर परिस्थितियो का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव-व्यजना, मार्मिक स्थलो का सरल तथा रोचक वर्णन, पात्रो की न्यूनता, हृदय पर छाप लगाने वाली रीतियो का समावेश, पात्रो के जीवन मे सकट उपस्थित करने की प्रणाली, घटना का उत्थान, चरमावस्था, पतन, पात्र-चित्रण आदि तत्त्वो को ग्रहण किया है। इसी प्रकार श्यामसुन्दर दास जी ने कहानी तथा गीति-काव्य मे व्यक्तित्व की प्रधानता, एक ही प्रधान भावना का समावेश, एक ही लक्ष्य की पूर्त्ति, भावना की एक ही धारा, केवल प्रयोजनीय दृश्यो तथा मार्मिक प्रभावो का ही समावेश आदि तत्त्वो की

समानता का निर्देश किया है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी कहानी का खंड-कथा, परिकथा तथा कथालिका से अन्तर स्पष्ट किया है।

इन्होंने कहानी की कला की तुलना, उपन्यास, नाटक, गीति-काव्य, संस्कृत की कथा आदि से भी की है। इनमें से कुछ आलोचकों का विचार है कि पहले कहानी की गणना उपन्यास में ही थी, किन्तु उसके निजी व्यक्तित्व के विकास के साथ वह उससे पृथक् हो गई। श्यामसुन्दर दास आदि का विचार है कि उपन्यास तथा कहानी में काल्पनिक सृष्टि, यथार्थ की अनुरूपता, सजीवता आदि कुछ प्रधान गुणों का समावेश है। ये आलोचक उपन्यास की अपेक्षा कहानी में क्षेत्र का संकोच, लाक्षणिकता का समावेश, कथानक की अनिवार्यहीनता, एक ही कथा की मुख्यता, जीवन के एक ही अंश का चित्रण, खंड जीवन का चुनाव, प्रतीकों का प्रयोग, एकतथ्यता का समावेश, एक ही उत्कट संवेदना का आधिक्य, व्याख्या की कमी, आनन्द तथा सौन्दर्य की प्रधानता, बौद्धिकता आदि तत्त्वों का समावेश आदि विशिष्ट विशेषताएं मानते हैं।

इन्होंने कथानक की परिभाषा, विषय, गुण, महत्त्व, आधार आदि का विवेचन किया है। 'शिलीमुख' जी ने घटनाओं की व्यवस्थित समष्टि को प्लाट कहा है। व्यास तथा जैन जी ने ऐसी घटनाओं के संग्रह को प्लाट माना है, जो सम्मिलित रूप में लेखक के किसी मन्तव्य को व्यक्त करने की क्षमता रखता हो। गर्ग जी उन घटनाओं तथा कार्यों को कथानक कहते है, जिन पर कहानी का विकास अवलम्बित होता है। इन्होंने कहानी के विषय, मनुष्य, उसके कार्य तथा उसके जीवन के अनुभव माने हैं। ये कहानी में ऐसी ही कथा की अनिवार्यता मानते है, जो अपने में पूर्ण हो तथा जीवन के पूरे चित्र की अपेक्षा एक अंग पर ही प्रकाश डाले। व्यास तथा जैन जी प्लाट रचना के चार भाग —प्रस्तावना, मुख्यांश, क्लाइमेक्स, पृष्ठ भाग आदि मानते हैं तथा गर्ग जी उसमें आदि, अन्त तथा शीर्षक का महत्त्व समझते हैं। इन्होंने शीर्षक का आकर्षक, संक्षिप्त, स्पष्ट उत्सुकता को जाग्रत करने वाला, निरुद्देश्य, विशिष्ट तथा नवीन होना आवश्यक समझा है। उनका विचार है कि चार शब्दों का ही शीर्षक अच्छा होता है। ये कहानी में भूमिका की आवश्यकता नहीं समझते। इनका विचार है कि कहानी का आरम्भ प्लाट के किसी भी स्थल से हो सकता है। इनके द्वारा निर्देशित कथानक के गुण, मौलिकता, क्रमबद्धता, घटनाओं की स्वाभाविक सम्बद्धता, कारण-कार्य-सम्बन्ध, गतिशीलता, सोद्देश्यता, प्रभावपूर्णता, नवीन संवेदना आदि हैं। इन्होंने कहानी के संवादों का भी विवेचन किया है।

इनके विचार से कहानी के संवादों में यथार्थता, संक्षिप्तता, मानवोचितता, सरसता, सार्थकता, वातावरण की अनुकूलता, पोलिश, मार्मिकता, मनोवैज्ञानिकता तथा मनोभावों के प्रयोग की अनिवार्यता आदि विशेषताएं अनिवार्य है। ये कहानी के सम्वादों का उद्देश्य चरित्रों पर प्रकाश डालना, घटनाओं को गतिशील बनाना, व्यक्तियों की भिन्नता का प्रदर्शन करना तथा कहानी को नेत्रों के सामने लाकर चमका देना मानते हैं।

इसी प्रकार ये कहानी मे देश-काल का समावेश, कहानी की मोहकता के बढाने, सवेदना को तीव्र बनाने तथा पात्रो के स्वभाव के वर्णन के लिए आवश्यक समझते हैं । मिश्र जी का विचार है कि जीवन की अनुभूति कराने वाली कहानियो मे उसका विशेष विचार अपेक्षित है । ये कहानियो मे वातावरण तथा दृश्यो का केवल आभास मात्र देना ही पर्याप्त समझते हैं ।

इन आलोचको ने कहानी की शैली को विशेष महत्त्व दिया है । इन्होने इसके दो अग, उपादान तथा रूप, माने है । इनका विचार है कि कहानी की शैली, प्रत्यक्ष और अन्तरंग तथा घरेलू आदमी की सी होती है तथा इसका उद्देश्य गूढ भावनाओ को स्पष्ट रूप मे व्यक्त करना होता है । इन्होने इसकी ऐतिहासिक, चरित्र, पत्र तथा डायरी शैलियो का निर्देश किया है ।

इन आलोचको के विचार से कहानी का लक्ष्य थोडे ही समय मे आनन्द प्राप्त कराना, किसी अविच्छिन्न भाव-धारा का हृदय मे उद्रेक करना, पात्रो की भावनाओ से पाठको को तन्मय करना, मस्तिष्क की अपेक्षा भावो को उद्बुद्ध करके आनन्द प्रदान करना, शिक्षा वृत्ति की अपेक्षा रसावेग को उभारना, जीवनगत किसी मार्मिक अनुभूति या तथ्य को व्यजित करना, थोडे से थोडे समय मे अधिक से अधिक आनन्द देना तथा मनुष्य के मनोरहस्यो का उद्घाटन करना आदि हैं । ये मानते है कि कहानी का उद्देश्य प्रत्यक्ष नही वरन् सवेदना के रूप मे प्रकट होना चाहिए ।

इन आलोचको ने कहानी के प्रमुख भेदो का भी निर्देश किया है । शुक्ल जी ने घटना-प्रधान, परिस्थितियो का मार्मिक चित्रण करने वाली तथा इन दोनो के मिश्रण वाली कहानियो का निर्देश किया है । इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने स्थूल दृष्टि से हिन्दी कहानी के पाच भेद तथा वस्तु के आधार पर नौ भेद किए है । इनके अतिरिक्त इन्होने इन्दौर वाले भाषण मे कहानी के चार अन्य रूप, घटनाए तथा बातचीत सामने रखने वाला, अलकृत दृश्य तथा चित्र युक्त, कल्पनात्मक और भावात्मक, हास्य-रस-युक्त, नामक कहानियो के अन्य रूप भी माने हैं । व्यास तथा जैन जी, साहसिक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा भावात्मक प्रकार की कहानिया मानते हैं । डॉ० श्री कृष्णलाल ने प्रमुख रूप मे कथा-प्रधान, वातावरण-प्रधान तथा प्रभाव-प्रधान कहानियो का उल्लेख करके हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्राकृतवादी तथा प्रतीकवादी आदि अन्य प्रकारो का भी निर्देश किया है । उन्होने सामयिक सत्य की व्यजना के आधार पर पौराणिक, प्रभाववादी तथा अभ्यान्तरिक नामक प्रकारो का भी पृथक् निर्देश किया है ।

इन्होने प्राचीन कहानियो का भी वर्णन किया है । डॉ० श्रीकृष्णलाल ने कहानी के तीन युगो मे तीन प्रकार की कहानिया मानी है, प्रथम गम्भीर तत्त्व का विवेचन करने वाली, नीति तथा धर्म की शिक्षा देने वाली, द्वितीय प्रेम तथा विनोद की कहानिया तथा तृतीय आधुनिक ढंग की कहानिया । प० विश्वनाथ मिश्र ने इनके दो रूप उपदेशात्मक तथा पहेली बुझौवल माने हैं ।

इन्होंने प्राचीन आख्यायिका तथा कथाओं के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इन्हें उपन्यासों के भेद मानते हैं। उनका विचार है कि आख्यायिका के अन्तर्गत ऐतिहासिक उपन्यास तथा पौराणिक कहानियां तथा कथा के अन्तर्गत कल्पित कहानियां आती हैं।

निबन्ध

भारतीय साहित्यालोचन में निबन्ध सम्बन्धी आलोचना का विकास—

संस्कृत साहित्य में आधुनिक निबन्ध के समान निबन्ध का साहित्य कभी नहीं लिखा गया। संस्कृत में निबन्ध उस रचना को कहते हैं, जिसमें निःशेष रूप में बन्ध या संगठन हो। बन्ध शब्द का अर्थ तारतम्य तथा संगठन है। प्रबन्ध में भी निबन्ध के समान तारतम्य तथा संगठन होता है, किन्तु प्रारम्भ में हिन्दी प्रबन्ध तथा निबन्ध को दो विभिन्न अर्थों में अपनाया गया था। प्रबन्ध एक सम्बद्ध विचार तथा विषय वाली एक व्यापक रचना होती थी, जिसमें गम्भीरतापूर्वक किसी विषय के स्वरूप या महत्त्व आदि का प्रतिपादन होता था तथा निबन्ध एक व्यक्तित्व-प्रधान, संक्षिप्त तथा स्वतन्त्र रचना समझी जाती थी। किन्तु अब निबन्ध तथा प्रबन्ध प्रायः पर्यायवाची माने जाते हैं। हिन्दी को संस्कृत साहित्य से 'निबन्ध' नामक कोई साहित्य का रूप प्राप्त नहीं हुआ है, केवल उसका नाम प्राप्त हुआ है। संस्कृत आचार्यों ने निबन्ध को दार्शनिक विश्लेषण तथा बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया था। इनकी शैली प्रायः छन्दात्मक, जटिल, सूत्रवत्, रूखी, वैज्ञानिक तथा बुद्धि प्रधान थी। गद्य में लिखे प्रबन्ध भी रूखे, बौद्धिक तथा शुद्ध तार्किक होते थे। उनका विवेचन वस्तुपरक होता था। हिन्दी के निबन्ध इनसे भिन्न हैं, इसलिए उनमें बौद्धिकता के साथ-साथ भावात्मकता, अवैयक्तिकता अथवा वस्तुपरकता के स्थान पर व्यक्तिपरकता, तटस्थता के स्थान पर आत्मीयता आ गई है। इस पर पाश्चात्य 'ऐसे' का विशेष प्रभाव पड़ा है किन्तु आधुनिक निबन्ध में वैयक्तिकता का विशेष आधार होने के कारण हिन्दी निबन्ध का स्वरूप अपनी निजी मौलिकता तथा विशिष्टता भी रखता है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन में निबन्ध सम्बन्धी आलोचना का विकास—

पाश्चात्य साहित्य में निबन्ध के जन्मदाता मोनटेन हैं, जिन्होंने निबन्धों को साहित्य की नूतन दशा का 'प्रयास' मात्र माना था। उनके निबन्धों में वैयक्तिकता, सम्भाषण की सी अनौपचारिकता, पाठक से सान्निध्य, विशृंखलता तथा आत्मीय अनुभवों की प्रत्यक्ष तथा सीधी अभिव्यक्ति है। उनकी निबन्ध की धारणा भी यही थी।[1] इसी प्रकार

---

१. देखिए 'दी डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर' (१९४३) पृ० २२०।

डा० जानसन भी निबन्ध में क्रमबद्धता नही मानते। उनका मत है कि निबन्ध कोई क्रमपूर्ण तथा व्यवस्थित रचना नही है तथा मस्तिष्क का एक शिथिल विलास तथा एक अव्यवस्थित और अपरिपक्व विचार खड है।[1] इनकी परिभाषा में निबन्ध मे क्रमबद्धता तथा निर्दिष्टता का तत्त्व नही अपनाया गया है। किन्तु परवर्ती निबन्धकारो ने निबन्ध मे अधिकाधिक निर्दिष्टता तथा व्यवस्था को स्थान दिया है। बेकन ने पहले ही निबन्ध को सक्षिप्तता, गठन तथा सारपूर्णता के गुणो से विभूषित कर दिया था।

विभिन्न आधुनिक आलोचको ने निबन्ध के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है। शिपले का विचार है कि "निबन्ध साधारणतया गद्य के रूप मे एक सक्षिप्त लम्बाई तथा सीमित विषय की एक रचना है।"[2] वे निबन्ध के दो रूपो मे (वस्तुपरक जिनमे बुद्धि-तत्त्व का प्राधान्य होता है तथा आत्मपरक, जिनमे कल्पनात्मक अनुभवो का प्राचुर्य है), प्राय सभी प्रकार के निबधो का समाहार करते हैं। इसी प्रकार 'आक्सफोर्ड इगलिश डिक्शनरी' ने निबन्ध की पुरातन तथा नवीन धारणाओ का समन्वय प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "निबन्ध किसी विशेष विषय या उपविषय पर सक्षिप्त लम्बाई की एक रचना है, जिसमे प्रारम्भ मे कलात्मक पूर्णता का अभाव था, किन्तु अब एक ऐसी रचना को कहा जाता है, जिसकी सीमा का क्षेत्र मर्यादित होने पर भी, जिसकी शैली अब थोडी बहुत व्यापक तथा प्रौढ हो गई है।"[3] निबन्ध के प्रारम्भिक काल मे निबन्ध गद्य तथा पद्य दोनो मे लिखा जाता था, किन्तु अब वह केवल एक गद्य की ही रचना माना जाता है। 'एलेक्जेडर स्मिथ' का विचार है कि साहित्यिक रूप मे निबन्ध गीति-काव्य से मिलता है, तथा उसी के समान इसका निर्माण भी किसी प्रमुख मानसिक प्रवृत्ति के आधार पर होता है। निबन्ध के स्वरूप का विकास एक विशेष मानसिक प्रवृति की अभिव्यक्ति के रूप मे पहले वाक्य से अन्तिम वाक्य तक होता रहता है। निबन्ध की रचना भावावेग की प्रेरणा से नही होती तथा उसमे नवीन सामग्री की उत्पत्ति की अपेक्षा वर्तमान सामग्री पर ही विचार प्रकट होते है। वे निबन्धकार का स्थान कवि तथा इतिहास लेखक के पश्चात् मानते है। इसी प्रकार 'वेबस्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी' का विचार है कि निबन्ध एक विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक प्रवृत्ति की साहित्यिक रचना है, जिसमें किसी विषय का निर्वाह सीमित तथा व्यक्तिगत आधार पर किया जाता है तथा जिसकी रचना मे रीति तथा शैली की विशेष स्वतन्त्रता होती है। ये निबन्ध प्राय सक्षिप्त और एक ही बैठक मे पढने योग्य होते हैं। इनमे अग्रजी 'ट्रीटाइज' की सी व्यवस्था तथा औपचारिकता नही होती, थीसेज की सी एक औपचारिक विचार तक सीमित रहने की भावना नही होती तथा इतिहास और जीवनी की सी सम्पूर्णता की अपेक्षा किसी

---

१ देखिए 'दी इगलिश ऐसे एन्ड ऐसेइस्ट' ले० ह्यू वाल्कर मुद्रित (१९२८) पृ० १।

२ देखिए 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर' ('१९४३) पृ० २२०।

३. देखिए 'दी इगलिश ऐसे एन्ड ऐसेइस्ट' ह्यू वाल्कर मुद्रित (१९२८) पृ० १।

विषय के एक अग तक सीमित रहने का विचार नही होता है।[1] 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' मे निबन्ध के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार दी गई है कि "साहित्य की एक विधा के रूप मे निबन्ध प्राय गद्य मे लिखी हुई छोटी लम्बाई की एक रचना है, जो एक सरल तथा सक्षिप्त शैली मे किसी विषय का उसी सीमा तक निर्वाह करती है, जिस तक वह विषय लेखक को प्रभावित करता है।"[2]

इस प्रकार अग्रेजी मे निबन्ध का स्वरूप सदैव स्थिर नही रहा है। समय के साथ-साथ उसके स्वरूप तथा तथ्यो मे परिवर्तन प्रस्तुत होता गया है। प्रारम्भ मे निबन्ध मे वैयक्तिकता, सम्भाषण की सी अनौपचारिकता, पाठक से निकटता, विशृखलता, अव्यवस्था, आत्मीयता, घनिष्ठता, अपरिपक्कता, असबद्धता आदि तत्त्व माने जाते थे तथा यह गद्य तथा पद्य दोनो मे लिखा जाता था। किन्तु अब आधुनिक निबन्ध मे अधिकतर गद्य का प्रयोग, छोटा आकार, सरल व्यापक, प्रौढ, अवकाशपूर्ण, स्वतन्त्र तथा सक्षिप्त शैली तथा रीति का प्रयोग, किसी विषय के किसी अग का सीमित तथा व्यक्तिगत आधार पर निर्वाह, वैयक्तिकता, विश्लेपणात्मक तथा व्याख्यात्मक प्रकृति, भावावेग की अपेक्षा बौद्धिक प्ररणा का आधिक्य, नवीन सामग्री की रचना की अपेक्षा पुरातन पर भावो तथा विचारो की अभिव्यक्ति, कलात्मक पूर्णता, कल्पनात्मकता, व्यक्तिपरकता तथा वस्तुपरकता दोनो का समावेश आदि विशेषताए मानी जाती हैं।

आलोच्य-काल मे हिन्दी में निबन्ध सम्बन्धी आलोचना का विकास—

आलोच्य काल से पूर्व हिन्दी मे 'निबन्ध' नामक साहित्य की उत्पत्ति नही हुई थी। इसका विकास भारतेन्दु काल से ही विशेष महत्त्वपूर्ण रूप में हुआ है तथा इसकी आलोचना का विकास द्विवेदीकाल के पश्चात् हुआ है। इस काल मे अधिकाश मे निबन्ध की आलोचना तीन प्रकार की पुस्तको मे मिलती है, एक तो साहित्यालोचन के ग्रन्थो मे जैसे 'साहित्यालोचन', 'चिन्तामणि', 'वाड्मय-विमर्श' आदि मे, दूसरे निबन्ध सम्बन्धी पुस्तको मे जैसे 'हिन्दी-साहित्य मे निबन्ध', 'हिन्दी मे निबन्ध-साहित्य' तथा तीसरे निबन्ध सग्रहो की भूमिकाओ मे। इस काल के निबन्ध सम्बन्धी आलोचना के विकास मे योग देने वाले लेखक निम्नाकित है ·

रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्ल जी ने निबन्धो के स्वरूप की व्यापक व्याख्या करके उनके प्रकारो का निर्देश किया है। ये निबन्ध को गद्य की कसौटी कहते है। इनका विचार है कि यदि गद्य कवियो तथा लेखको की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।[3] वे मानते है कि निबन्धो

---

१. देखिए 'वेबस्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी' पृ० ७५० ।
२. देखिए 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' भाग २ (१९४७) पृ० ७१६ ।
३ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९) पृ० ५५८ ।

में ही गद्य की पूर्ण शक्ति का सबसे अधिक विकास होता है, इसलिए जो समालोचक गद्य के लेखको की आलोचना किया करते है, वे प्राय निबन्धो से ही उदाहरण चुना करते है।[1]

वे आधुनिक पाश्चात्य विद्वानो की भाति निबन्ध में व्यक्तित्व का अधिकाधिक समावेश होना तो आवश्यक मानते हैं पर उनका व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत-विशेषता का अर्थ उनसे भिन्न है। उनका कथन है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणो के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमे व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय, व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नही है कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृ खला रखी ही न जाय या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड दी जाय, भावो की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थयोजना की जाय, जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालो की सी कसरते या हठयोगियो के से आसन कराए जाय, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हों।" इस प्रकार वे निबन्ध मे व्यक्तित्व के समावेश से यह तात्पर्य लेते है कि उसमे विचारो की सम्बद्ध शृखला तथा भावो की विचित्रता के प्रदर्शन के स्थान पर अनुभूत प्रकृत-स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली अर्थ-योजना हो। उनका विचार है कि व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार निबन्ध लेखक का अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से किसी विषय के विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रो को पकड कर चलना है।[2]

वे दार्शनिक और निबन्धकार मे यह अन्तर समझते है कि दार्शनिक अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए कुछ उपयोगी सम्बन्ध सूत्रो को पकड कर किसी भी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरो मे नही फसता, पर निबन्धकार अर्थ के सूत्रो की टेढी-मेढी पगडडियो पर भी चलता है। एक ही बात को लेकर किसी निबन्धकार का मन किसी ओर दौड सकता है तथा किसी का किसी दूसरी ओर। निबन्धकार के मन मे एक ही वस्तु के प्रति अनेक भाव उत्पन्न हो सकते है। वे लिखते है कि "निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओ पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ के सम्बन्ध-सूत्रो की टेढी-मेढी रेखाए ही भिन्न-भिन्न लेखको का दृष्टि-पथ निर्दिष्ट करती है। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"[3] उनकी व्यक्तिगत विशेषता की धारणा पाश्चात्य आलोचको से नही मिलती। पाश्चात्य आचार्य व्यक्तिगत विशेषता से केवल यही तात्पर्य लेते है कि

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९), पृ० ५५८।
२ देखिए वही, पृ० ५५८।
३ देखिए वही, पृ० ५५९।

निवन्ध मे वस्तु तथा अर्थ का इतना महत्त्व नही है जितना विचारो को व्यक्त करने के ढग तथा शैली का है। वे विचारो के व्यक्त करने की शैली को सरल, स्वाभाविक तथा हृदय को सहसा स्पर्श करने वाली होना आवश्यक समझते है तथा प्रस्तुत विपय को विशेष महत्त्व न देकर उस विपय का आधार लेकर की हुई निजी आत्माभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व देते है। इनके विपरीत शुक्ल जी व्यक्तिगत विशेषता से अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेपता का अथवा एक ही वात को भिन्न दृष्टि से देखने का तात्पर्य समझते है।

वे निवन्धकार की यह प्रमुख विशेपता मानते है कि वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ निवन्ध-लेखन के कार्य मे लगता है। उसके निवन्धो मे बुद्धि के साथ-साथ उसके भावात्मक हृदय का भी योग रहता है। जब कि तत्त्व-चिन्तक केवल बुद्धि का सहारा लेकर चलता है, निवन्धकार बुद्धि के साथ-साथ भावात्मकता के आधार पर विभिन्न भावो का अनुभव करके उसकी व्यजना करता चलता है।[1] उनका विचार है कि जव निवन्ध मे इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ तथा भाव सम्बन्धो के वैचित्र्य के दर्शन होगे तथा अर्थ की परम्परा गतिशील होकर आगे वढेगी, इसमे भाषा तथा अभिव्यजना-प्रणाली की विशेषता दिखाई देगी अन्यथा भाषा एक ही स्थान पर खडी-खडी तरह-तरह की मुद्रा दिखाती हुई तमाशा करती रह जाएगी। वे निबन्ध की अर्थगत विशेपता के आधार पर ही भापा और अभिव्यजना प्रणाली की विशेपता—शैली की विशेपता को आधारित मानते है।[2] वे निवन्धो मे विचार-प्रवाह के अतिरिक्त व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा हृदय के भावो की आवश्यकता अधिक समझते है।[3] उनका विचार है कि काव्य, नाटक, उपन्यास तथा गद्य-काव्य मे कल्पना-प्रसूत अर्थ का प्राधान्य रहता है तथा निवन्ध मे विचार-प्रसूत अर्थ मुख्य होता है तथा आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ गौण रूप मे होता है।

वे प्रमुख रूप मे निवन्ध के तीन प्रकार मानते है, विचारात्मक, भावात्मक तथा वर्णनात्मक। वे यह आवश्यक नही समझते है कि यह अपनी पृथक्ता बनाये ही रहे, क्यो कि प्रवीण तथा कुशल लेखको के निवन्धो मे तीनो प्रकार के निबन्धो का सुन्दर मेल भी हो जाता है। इन निबन्धो मे लक्ष्य-भेद से कई प्रकार की शैलिया भी दिखाई पडती है। वे विचारात्मक निवन्धो को इन निवन्धो मे श्रेष्ठ समझते है। इनमे विचारो की एक गूढ गुम्फित परम्परा होती है, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड पडती है। उनका विचार है कि शुद्ध विचारात्मक निवन्धो का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहा एक-एक पैराग्राफ मे विचार दबा-दबा कर कसे गए हों[4]। उनका दृष्टिकोण पाश्चात्य आलोचको से भिन्न है। पाश्चात्य आलोचक निवन्धो

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृ० ५६०।

२ देखिए वही, पृ० ५६०।

३. "प्रकृत निवन्ध अर्थ प्रधान होता है। व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थोपहित होता है, अर्थ के साथ मिला-जुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तिया बीच-बीच मे अर्थ के साथ झलक मारती है।" चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७७।

४ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृ० ५६३।

को काव्य के समकक्ष रखना चाहते है तथा निबन्धो मे सरलता का 'विधान उचित समझते है पर शुक्ल जी निबन्ध मे बुद्धि तथा विचार की ही प्रधानता स्वीकार करते है। वे निबन्ध मे काव्य के तथा काव्य मे निबन्ध के तत्त्वो का सम्मिश्रण अनुचित समझते है। इसी प्रकार वैयक्तिक निबन्धो के सम्बन्ध मे भी उनकी निजी धारणा है। वे उनमे लेखक की शैली या वाग्वैचित्र्य को तो मानते है ही पर इनके अतिरिक्त उसमे अर्थो या तथ्यो के साथ हृदय के भावो या प्रवृत्तियो की भी झलक मानते है। वे अपनी आलोचनाओ को भी निबन्ध की श्रेणी मे ही मानते है तथा उन्हे निबन्ध या प्रबन्ध कहते है।

श्यामसुन्दर दास —

श्यामसुन्दरदास जी ने भी निबन्ध के स्वरूप की व्याख्या की है। वे निबन्ध को आख्यायिका तथा गीति-काव्य के बीच की रचना मानते है। उनका विचार है कि इन दोनो के उपकरण इसमे अश रूप मे रहते हैं तथा वह न तो पूर्ण रूप से गीति-काव्य की रसमयता का लाभ उठा सकता है तथा न आख्यायिका की भाति कथानक की सहानुभूति प्राप्त कर सकता है। उनका विचार है कि निबन्ध की शैली मे शैथिल्यपूर्ण वातावरण की ही प्रधानता रहती है। इस शैथिल्य मे आत्मीयता तथा सुकरता की ध्वनि भरी होने के कारण निबन्ध से बौद्धिक विचारो की शुष्कता तथा दुरूहता दूर होती है, जिससे पाठको का मन इसमे लग जाता है। वे कला की दृष्टि से निबन्ध मे यह शैथिल्यपूर्ण वातावरण बनाना आवश्यक समझते है, जिससे निबन्ध विशेष प्रभावपूर्ण हो जाए। उन्होने निबन्धो मे व्यक्तिगत चिन्तन का विशेष महत्त्व माना है।[१]

वे भी शुक्ल जी की भाति अच्छे निबन्धो मे विचारो के साथ भावना की भी आवश्यकता मानते है। उनका विचार है कि क्योकि निबन्ध व्यक्तिगत अनुभूति को लेकर चलता है, उसकी कला मे अनुकरण का तत्त्व नही होता। वे आत्मीयता को निबन्ध का विशिष्ट गुण मानते है तथा कृत्रिमता को उसकी कला मे घातक समझते है। इसके अतिरिक्त उन्होने साधारण कोटि की भावुकता तथा भाषा के अलकरण को भी निबन्ध के लिए हानिकारक माना है।

वे आख्यायिका की भाति निबन्ध का भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व मानते है। उनके विचार से किसी ग्रन्थ विशेष का अध्याय निबन्ध नही हो सकता, क्योकि निबन्ध की अपनी विशिष्टता, कला तथा विशेष स्वरूप होता है। हिन्दी के नवीन तथा प्राचीन निबन्ध मे अन्तर बताते हुए वे कहते है कि प्राचीन सस्कृत परम्परा का निबन्ध केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन मात्र था। उसकी शैली वस्तु-प्रधान, जटिल तथा सूत्रबद्ध थी। उसमे लेखक की व्यक्तिगत सत्ता के दर्शन नही होते थे तथा उसका प्रयोग एक विषय को

---

१ "व्यक्तिगत विचारो का अनोखा आकर्षण होता है जो रसज्ञो पर अपनी मुद्रा अकित किए बिना नही रहता, उन विचारो को व्यक्त करने मे लेखक अपने व्यक्तित्व को भी प्रकट ही कर देता है।" 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृ० २३७।

लेकर दार्शनिक विश्लेषण अथवा अंग-प्रत्यंग की मीमांसा के लिए होता था। उनमें साहित्य की रसात्मकता का भी अभाव था, क्योंकि न तो उसमें व्यक्तित्व के दर्शन होते थे न भावना-प्रधान शैली का समावेश। वे रूखे, बुद्धि-विशिष्ट तथा वैज्ञानिक कोटिक्रम के होते थे।

निबन्ध के सम्बन्ध में इन्होंने निजी विचार व्यक्त नहीं किए हैं। अंगरेजी साहित्य के प्रमुख तथा ख्याति-प्राप्त निबन्ध-लेखकों के निबन्धों की विशिष्ट शैलियों तथा उनकी निबन्ध-कला के विशिष्ट योग से ही इन्होंने निबन्ध की कला का विवेचन किया है तथा भारतीय स्वरूप से उनका भेद प्रदर्शित किया है।

ब्रह्मदत्त शर्मा —

शर्माजी ने 'हिन्दी साहित्य में निबन्ध' नामक पुस्तक में निबन्ध की परिभाषा, सार्थकता, व्याख्या, प्रकार, तत्त्व, महत्त्व तथा विभिन्न शैलियों का विवेचन किया है। वे निबन्ध शब्द का ऐसे लेख से तात्पर्य मानते हैं, जिसमें लेखक विचार-परम्परा के साथ बहुत कुछ अपने भावों और मनोवृत्तियों को भी निराले तथा व्यक्तिगत ढंग से व्यक्त करता चलता है।' वे अंगरेजी 'ऐस्से' को निबन्ध का आधार मानते हुए भी उनका निबन्ध से यह अन्तर मानते हैं कि भावों तथा विचारों के व्यवस्थित रूप और उनके कसाव पर अंग्रेजी निबंधकारों की दृष्टि दिखाई नहीं पड़ती तथा 'हिन्दी' के निबन्धकार इनकी ओर विशेष ध्यान देते हैं। अंग्रेजी के निबन्धों में वैयक्तिकता की प्रधानता और प्रस्तुत विषय की अप्रधानता होती है तथा उनका व्यक्तित्व उनके निजी दृष्टिकोण अथवा अनुभव के रूप में उनकी रचना-शैली में प्रकट हो जाता है। अंगरेजी के प्रायः सभी निबन्धों में विषय-वस्तु के स्थान में लेखक की शैली की ओर ही ध्यान जाता है। वे उन्हें अनिवार्यतः एक अगढ़ तथा अव्यवस्थित रचना मानते हैं।

उन्होंने निबन्ध शब्द का भेद, रचना, लेख, प्रबन्ध, सन्दर्भ, गद्य-विधान आदि से प्रस्तुत किया है। उनके विचार से रचना बहुत व्यापक शब्द है और निबन्ध सीमित, क्योंकि जो कुछ शब्दों द्वारा कहा जाता है वह रचना के अन्तर्गत आता है। गद्य विधान एक सामान्य शब्द है तथा जो रचनाएं गद्य हो सकती हैं, वे उसके अन्तर्गत आती हैं। लेख भी एक व्यापक शब्द है तथा सभी लिखी हुई सामग्री इसके अन्तर्गत आती है। इसलिए इनसे इनसे किसी विशिष्ट स्वरूप का बोध नहीं होता। उनका विचार है कि निबन्ध की सी गठनता तथा साहित्यिकता लेखों में नहीं होती। इसी प्रकार, सदर्भ को भी वे एक सम्बद्ध रचना मानते हैं, जिससे निबन्ध का बोध नहीं होता। उनका विचार है कि प्रबन्ध में व्यवस्था-बद्धता, विषय-प्रधानता, विशदता आदि गुण होते हैं तथा वह एक सुबद्ध तथा व्यापक रचना के लिए प्रयुक्त होता है। इन दोनों के अन्तर के सम्बन्ध में उनका विचार है कि निबन्ध तथा प्रबन्ध में साम्य है अवश्य, पर दो भिन्न प्रकार की रचनाओं से तात्पर्य लिया

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य में निबन्ध' (सन् १९४५), पृ० १८।

जाता है, निबन्ध सक्षिप्त तथा बहुत कुछ अनियन्त्रित होता है, प्रबन्ध व्यवस्थाबद्ध और विशद होता है। प्रबन्ध विषय-प्रधान और निबन्ध व्यक्ति-प्रधान होता है।[1]

उन्होने साहित्य के अन्य अग, काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, गीतिकाव्य आदि से भी निबन्ध की तुलना करके उसके निजी, विशिष्ट, स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रतिपादित किया है। उनका विचार है कि "अर्थ-प्रधान होने के कारण निबन्धो में रचना-चमत्कार की कलात्मकता, उक्ति की वक्रता अथवा पटुता, अर्थ के आश्रित अथवा अर्थ मे मिली होती है। हृदय-स्थित भाव केवल बीच-बीच मे ही अर्थ के साथ झलक मारते रहते है बुद्धि के पीछे-पीछे चल कर हृदय निबन्ध को साहित्यिकता तथा रोचकता प्रदान करता है।[2] इस प्रकार उनका विचार शुक्ल जी से मिलता है। वे भी निबन्धो मे विचारो को महत्त्व देकर स्थान-स्थान पर भावो के समावेश को भी उचित मानते है।

वे निबन्ध के तीन तत्त्वो को मान्यता देते हैं, प्रस्तावना, विवेचन और परिणाम। उनका विचार है कि प्रस्तावना मे विषय का आरम्भ इस प्रकार से होता है कि सक्षेप मे उससे निबन्ध का ज्ञान हो जाता है। वे विषय का विवेचन भी दो प्रकार का मानते हैं, प्रथम मे किसी मुख्य घटना तथा विचार के वर्णन करने के स्वाभाविक क्रम का ध्यान रखा जाता है तथा दूसरे मे मस्तिष्क मे जिस क्रम से उनका प्रादुर्भाव होता है वही क्रम प्रस्तुत किया जाता है। वे मानते है कि निबन्ध के परिणाम का विशेष प्रभाव पडना चाहिए तथा वह बहुत देर तक मस्तिष्क में रहना चाहिए। उनका विचार है कि निबन्ध का विषय, आकर्षक, प्रभावात्मक तथा अनुरजक होना चाहिए। वे उसके विषय की कोई सीमा नही मानते।

वे अच्छे निबन्ध के लिए भाषा तथा भाव का सामजस्य आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि भावो के अनुसार हिन्दी निवन्धो मे व्यास, समास, धारा (जिसमे भावो का प्रवाह अनवरत चलता है) विक्षेप (जिसमे भाषा का प्रवाह रुक कर चलता है) तथा प्रलाप शैली का प्रयोग होता है। वे अच्छे निबन्धो मे उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त भाषा का प्रयोग आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि निबन्ध के शब्दो मे शक्ति, वृत्ति तथा गुण का ध्यान रखना आवश्यक है। वे निबन्धो मे बराबर के वाक्याशो का प्रयोग इसलिए उचित मानते है कि इनसे मन पर विशेष प्रभाव पडता है। वे निबन्ध के वाक्यो मे योग्यता, आकाक्षा तथा सान्निध्य अथवा आसक्ति का होना आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि माधुर्य, सुस्वरता तथा कलात्मक विधान से इनका लालित्य बढ जाता है तथा भाव, विचार और कल्पना के योग से इनका मूल्य बढ जाता है। वे निबन्धो मे रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक दोनो तत्त्वो की अनिवार्यता मानते हैं तथा निबन्ध की शैली में पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो तत्त्वो का सम्मिश्रण उचित समझते हैं।

निबन्धो के वर्गीकरण में उनके विचार शुक्ल जी से भिन्न नही है। वे हिन्दी मे विषय-प्रधान, वस्तु-प्रधान तथा व्यक्ति-प्रधान दो पृथक् निबन्धो की श्रेणियां नही मानते।

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य मे निबन्ध' (सन् १९४५), पृ० १९।

२ देखिए वही, पृष्ठ १०।

उनका विचार है कि "निबन्धकार की प्रतिपादन-शैली मे उसके व्यक्तित्व की छाप लगी अवश्य रहती है, परन्तु हिन्दी निबन्धो मे यह विषय-वस्तु के साथ समुचित रूप मे घुला-मिला रहता है। तात्पर्य यह है कि हिन्दी निबन्धो के लिए जो विशिष्ट साहित्य के अन्तर्गत माने जाते है तथा जिनमे विचार की प्रधानता होती है विषय की प्रधानता तथा व्यक्ति की प्रधानता अभिन्न ठहरती है।"[1] वे निबन्ध के विचारात्मक तथा भावात्मक दो ही प्रकार मानते है तथा इनमें भी विचारात्मक का विशेष महत्त्व समझते है।[2] उन्होने निबन्धो के विचारात्मक, भावात्मक, आत्मव्यजक, वर्णनात्मक तथा कथात्मक नामक भेदो को वैज्ञानिक नही माना है। इन भेदो के वे दो आधार मानते है। प्रथम तीन का आधार मानव-हृदय तथा बुद्धि है तथा अन्तिम दो का आधार शैली है। उनका विचार है कि अभिव्यक्ति-शैली के अनुसार विभक्त निबन्धो मे भी भाव या विचार ही व्यक्त होते है, इसलिए उनको पृथक् करने की आवश्यकता नही है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —

मिश्र जी लेख के दो रूप मानते है प्रबन्ध तथा निबन्ध। उनका विचार है कि प्रबन्ध विस्तार से लिखा जाने वाला वह लेख है जिसमे प्रतिपादित विषय प्रधान होता है और व्यक्तित्व की योजना नाममात्र को होती है तथा निबन्ध अपेक्षाकृत ऐसी छोटी रचना है, जिसमे लेखक का व्यक्तित्व अपनी झलक देता चलता है, भाषा मे कसावट होती है तथा बध निगूढ होता है।[3] वे निबन्ध को बुद्धिजनित तथा व्यवसायात्मक मानते है, क्योकि उसमे ज्ञानात्मक अवयव या विचार का प्राधान्य होता है। उनके विचार से निबन्ध-वाङ्मय का शास्त्र पक्ष है।

वे पाच प्रकार के निबन्ध मानते है —(१) विचारात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) भावात्मक, (४) कथात्मक, तथा (५) आत्म-व्यजक। वे उन निबन्धो को शुद्ध विचारात्मक तथा साहित्यिक मानते है, जिनमे बुद्धि और हृदय का समान योग होता है। उन्होने हिन्दी के निबन्ध साहित्य का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है तथा तर्क द्वारा सिद्ध किए जाने वाले विषय के निबन्ध दो प्रकार के माने है, निगमन शैली के तथा आगमन शैली के। निगमन शैली के निबन्धो मे सिद्धान्त की बात प्रस्तुत करके उसके लिए अनेक तर्क और उन तर्को की सिद्धि के लिए दृष्टान्त प्रस्तुत किए जाते है। इस श्रेणी मे वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध रखते है। आगमन शैली के निबन्धो मे अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत करके, उनमे से कोई सिद्धान्त निकाला जाता है। इन निबन्धो मे प्रतिपाद्य सिद्धान्त की ऐसी व्याप्ति प्रस्तुत की जाती है कि जिससे फालतू बाते छट कर विषय की सीमा निर्धारित हो जाती है। शुक्ल जी के निबन्धो को वे इस श्रेणी मे रखते है।

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य मे निबन्ध' (१९४५), पृ० ३२।

२ देखिए वही, पृ० ३२।

३ देखिए 'वाङ्मय विमर्श' (स० २००७), तृतीय सस्करण, पृ० ७१।

वे वर्णनात्मक निबन्ध उन्हे कहते है, जिनमे लेखक एक वस्तु का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करता हुआ दिखाई देता है तथा अपने पाठको को प्रत्येक वस्तु के निकट उपस्थित करना चाहता है। उनका विचार है कि ये निबन्ध सश्लिष्ट तथा असश्लिष्ट दो प्रकार के होते है तथा वर्ण्य विषय के विचार से इनमे कृति और प्रकृति दोनो का वर्णन आता है। मानवी वृत्ति का वर्णन अधिकतर शुद्ध रूप मे दिखाई देता है किन्तु प्रकृति का वर्णन शुद्ध, भावपूर्ण और अलकृत आदि प्रकारो से देखा जाता है।[1]

इसी प्रकार वे भावात्मक निबन्धो की दो शैलिया, धारा शैली तथा तरग शैली मानते है। धारा शैली मे भाव की व्यजना की धारा बहती है तथा तरग शैली मे बीच-बीच मे भावो की व्यजना होती है। वे कथात्मक निबन्धो के अन्तर्गत यात्रा-विवरण और जीवनियो को ग्रहण करते है तथा इस श्रेणी मे पद्मसिह शर्मा के निबन्धो का उदाहरण देते है। उनका विचार है कि आत्मव्यजक निबन्धो मे प्रधान रूप से लेखक का व्यक्तित्व व्यजित होता है। ये दो प्रकार के होते है, प्रथम जिनमे वर्ण्य विषय का किंचित् मात्र भी महत्त्व नही होता तथा दूसरे वे जिनमे विषय का भी कुछ महत्त्व होता है। वे आत्म-व्यजक निबन्धो को भी विचारात्मक ही मानते है।

मिश्र जी का निबन्धो का वर्गीकरण हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इन्होने प्रत्येक निबन्ध के प्रकार के प्रमुख लेखकों का भी निर्देश किया है। इस दृष्टि से इनका निबन्धो का विभाजन मौलिक तथा विशेष महत्त्व का है।

सूर्यकान्त शास्त्री —

शास्त्री जी साहित्य की उस विद्या विशेष को निबन्ध कहते है, जिसका लक्ष्य साहित्यिक मूल्य विशेष होता है और जो जीवन के व्याख्यान के लिए, अपनी दृष्टि के अनुसार, भाषा का माध्यम के रूप मे उपयोग करती है।[2] वे निबन्ध का प्रमुख लक्ष्य पाठक को आनन्द देना मानते है तथा उसे एक प्रकार का स्वगत-भाषण कहते हैं। वे इसकी सफलता के लिए लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि उसे इस प्रकार से निबन्ध की रचना करनी चाहिए कि पाठक का मन उसके विषय से हट कर उसकी रचना मे प्रवाहित होने वाले उसके व्यक्तित्व पर आकृष्ट हो जाए। उसे पाठक से परिचय तथा सान्निध्य स्थापित कर लेना चाहिए। वे मानते है कि हिन्दी मे निवन्ध-लेखन की कला अपने वर्त्तमान रूप मे अग्रेजी साहित्य से आई है।[3]

---

१ देखिए 'वाङ्मय विमर्श', पृ० ७२।

२ देखिए 'साहित्य मीमासा' (प्रथम सस्करण), पृ० ३०६।

३ देखिए वही, पृ० ३१६।

जनार्दनस्वरूप अग्रवालः—

अग्रवाल जी लेख तथा निबन्ध में अन्तर मानते है। उनका विचार है कि निबन्ध में लेख से अधिक आत्मीयता तथा व्यक्तित्व के दर्शन होते है।[1] वे निबन्ध-लेखन को उपन्यास, कहानी तथा नाटक सभी से कठिन मानते हैं तथा समझते है कि इसके लेखन के लिए लेखक का भाषा, भाव, विचार तथा शैली सब पर अधिकार होना अनिवार्य है। वे निवन्ध को गद्य की कसौटी कहते हैं तथा हिन्दी मे निवन्ध के विकास का श्रेय अग्रेजी साहित्य को देते है। उनका विचार है कि निवन्ध मे मैत्री सुलभ सहानुभूति, आत्मीयता, व्यक्तिगत तथा स्वानुभूत विचारो की नैसर्गिकता तथा व्यक्तित्व के गुण रहते है, जिसके कारण पाठक की घनिष्ठता लेखक के साथ हो जाती है।[2] वे अभिभाषण, व्याख्यान, मासिक पत्रिकाओ के साधारण लेख, समालोचनात्मक प्रबन्ध, वार्तालाप तथा सवाद और निबन्ध मे विशेष भेद मानते है तथा इनका निबन्ध के लक्ष्य से अन्तर समझते है। वे निबन्ध के लिए परिमार्जित शैली, विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण, गम्भीर चिन्तन तथा मनन की आवश्यकता समझते है। उनका विचार है कि सस्कृत-निबन्ध केवल सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण के लिए प्रयुक्त होता था, इसलिए उसमे रूक्षता, बुद्धि-विशिष्टता तथा वैज्ञानिकता का अधिकाधिक समावेश था और साहित्य की रसात्मकता का अभाव था। वे निबन्ध तथा प्रबन्ध का यह अन्तर मानते है कि निवन्ध एक व्यक्तित्व-प्रधान, सक्षिप्त एव स्वतन्त्र रचना है तथा प्रबन्ध एक सम्बद्ध-विचार तथा विपय वाली व्यापक रचना होती है। वे भी हिन्दी मे निबन्धो की अवतारणा पाश्चात्य साहित्य से मानते है। वे प्रमुख तीन प्रकार के निबन्ध मानते है, विचारात्मक, भावात्मक तथा वर्णनात्मक।

रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'—

'सरस' जी का विचार है कि निवन्ध, मानसिक विचारो और भावो के व्यक्त करने वाले वाक्यो की वह रचना है, जिसमे स्पष्टता, सुन्दरता, सबलता, विचार, यौक्तिक-क्रम, स्वाभाविकता, एकता, धारावाहिकता, सुव्यवस्थितता तथा सुसगठितता हो, उपयोगी, आवश्यक तथा अनुभवपूर्ण बाते हो, नैतिक सिद्धान्तो की स्थापना हो तथा रचना-सौन्दर्य, शैली-सौदर्य, भाषा-गौरव के साथ-साथ प्रभावपूर्ण चातुर्य-चमत्कार और मनोरजक भाव-विकास हो।[3] वे निवन्धो की सृष्टि विचारो तथा भावो के प्रतिपादन के लिए मानते है। उनका विचार है कि निबन्ध का उद्देश्य सर्वोपयोगी, ज्ञानानुभव-पूर्ण, उच्च उद्भावनाओ तथा विचारो का व्यापक प्रसार तथा सरक्षण करना है। वे मानते है कि जिन विचारो से देश तथा समाज की उन्नति तथा उनका उपकार होने की सम्भावना हो, ऐसे ही विचारो से

---

१ देखिए 'हिन्दी मे निबन्ध साहित्य' (स० २००२), भूमिका, पृ० ३।

२ देखिए वही, पृ० ९।

३ देखिए 'साहित्यादर्श' (प्रथम सस्करण), पृ० १००।

पूर्ण निबन्ध की रचना होनी चाहिए। उन्होने अच्छे निबन्ध के लेखन के लिए लेखक मे चारित्रिक और मानसिक शुद्धता तथा ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता मानी है।[1] वे भी निबन्ध के तीन भेद, कथात्मक, वर्णनात्मक तथा भावात्मक मानते है। वे कथात्मक निबन्धो मे स्थापना, घटना-क्रम की स्वाभाविकता, औचित्य, पात्रो का परिचय तथा सरल, स्वाभाविक और भावमय भाषा का होना आवश्यक मानते है। इसी प्रकार वर्णनात्मक निबन्धो मे वे दो प्रकार का वर्णन उचित समझते है, स्वगत्यात्मक तथा अगत्यात्मक। अगत्यात्मक वर्णन मे लेखक स्थान पर बैठा हुआ वर्णन करता रहता है। वे व्याख्यात्मक तथा भावात्मक निबन्धो को प्राय सैद्धान्तिक और बुद्धि-तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले मानते हैं। इसलिए इनमे गूढता, गम्भीरता, व्यापकता और मननशीलता विशेष पाई जाती है।[2]

उपर्युक्त लेखको के अतिरिक्त विद्यार्थियो के पाठ्य-क्रम के लिए लिखे गए निबन्ध-सग्रहो की भूमिका के रूप मे निबन्धो की कला का विवेचन भी इस काल के लेखको ने किया, किन्तु विद्यार्थियो के लिए लिखे जाने के कारण यह अधिकाश मे परिचयात्मक और साधारण कोटि का है। इसमे पाश्चात्य तथा भारतीय विचार-धारा के अनुरूप निबन्धो के स्वरूप को समझा कर निबन्धो के विकास का परिचय मात्र दिया गया है और निबन्धो के सर्वमान्य प्रकारो की व्याख्या की गई है। कुछ सग्रहो मे निबन्ध किस प्रकार लिखा जाता है, इसका भी निर्देश किया गया है। अयोध्यासिह उपाध्याय की 'गद्य-माधुरी', हरिहरनाथ टडन की 'गद्य-चन्द्रिका', कृष्णानन्द पत की 'गद्य-सग्रह', इसी प्रकार की पुस्तके है। इन भूमिकाओ मे निबन्ध के शैली-पक्ष पर विशेष विचार प्रकट किए गए हैं। इनमे निबन्ध की भाषा, वाक्य-विन्यास, शब्द-प्रयोग, शैली, शैली के स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि इन आलोचको ने निबन्ध की परिभाषा, स्वरूप, महत्त्व, उद्देश्य, भाषा, शैली, दोष, तत्त्व, प्राचीन सस्कृत के निबन्ध से हिन्दी निबन्धो के अन्तर, अग्रेजी 'ऐस्से' से इनका अन्तर तथा साहित्य के अन्य रूपो से इनकी तुलना आदि विषयो का विवेचन किया है।

निबन्धो के स्वरूप के सम्बन्ध मे इन लेखको का विचार है कि इनमे बुद्धि के साथ-साथ भावात्मक हृदय का योग रहता है, भिन्न-भिन्न अर्थ तथा भाव सम्बन्धो के वैचित्र्य के दर्शन होते है, अर्थगत विशेषता के आधार पर भाषा और अभिव्यजना प्रणाली की विशेषता आधारित रहती है, विचार-प्रसूत अर्थ मुख्य होता है तथा आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ गौण रहता है, शैथिल्यपूर्ण वातावरण होता है, जिसमें सुकरता तथा आत्मीयता की ध्वनि भरी रहती है। ये व्यक्तिगत अनुभति पर आधारित होते है, इनमे रागात्मक

---

१ देखिए 'साहित्यादर्श' (प्रथम सस्करण), पृ० ९९।
२ देखिए वही, पृ० १०।

तथा प्रज्ञात्मक दोनों तत्त्वों की अनिवार्यता होती है, इनका स्वरूप छोटा होता है, लेखक के व्यक्तित्व की झलक होती है, भाषा में कसावट होती है तथा इसका बंध निगूढ़ होता है, जीवन की व्याख्या के लिए भाषा का माध्यम के रूप में प्रयोग होता है, स्वगत भाषण की समानता, पाठक से परिचय तथा सान्निध्य स्थापित होता है, मैत्रीसुलभ सहानुभूति, आत्मीयता, व्यक्तिगत तथा सहानुभूतिपूर्ण विचारों की नैसर्गिकता, घनिष्ठता तथा व्यक्तित्व के गुण रहते हैं तथा स्पष्टता, सुन्दरता, विचार यौक्तिक-क्रम, स्वाभाविकता, एकता, धारावाहिकता, सुव्यवस्थितता, सुसगठितता, उपयोगी अनुभवपूर्ण बातें, नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना, रचना-सौन्दर्य, शैली-सौन्दर्य, भाषा-गौरव, प्रभावपूर्ण चमत्कार, मनोरंजक भाव-विकास होता है।

शुक्ल जी तथा मिश्र जी निबन्धों में बुद्धि तथा विचार की प्रधानता स्वीकार करते हैं। मिश्र जी उसे वाङ्मय का शास्त्र-पक्ष कहते हैं। वे निबन्ध में काव्य के तथा काव्य में निबन्ध के तत्त्वों का सम्मिश्रण अनुचित समझते हैं तथा श्यामसुन्दर दास, शुक्ल जी, ब्रह्मदत्त अच्छे निबन्धों में विचारों के साथ भावना का मेल आवश्यक मानते हैं।

इनका विचार है कि निबन्ध में व्यक्तित्व का अनिवार्यत समावेश होता है। शुक्लजी का व्यक्तित्व के समावेश से यह तात्पर्य है कि निबन्ध में विचारों की सम्बद्ध शृंखला तथा भावों की विचित्रता के प्रदर्शन के स्थान पर लेखक की अनुभूति के प्रकृत स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली अर्थ योजना है। वे व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना मानते हैं तथा वस्तु और अर्थ की अपेक्षा उनके आधार पर की हुई आत्माभिव्यक्ति को महत्त्व देते हैं। सूर्यकान्त शास्त्री निबन्ध के अन्तराल में निहित लेखक के व्यक्तित्व पर ही पाठक का ध्यान आकृष्ट होना अनिवार्य मानते हैं।

साहित्य में निबन्ध के महत्त्व के बारे में इनका विचार है कि निबन्ध गद्य की कसौटी है तथा इसमें ही गद्य की पूर्ण शक्ति का सबसे अधिक विकास होता है। ये निबन्ध की अपनी विशिष्टता, कला तथा विशेष स्वरूप मानते हैं। श्यामसुन्दर दास जी का विचार है कि निबन्ध किसी ग्रन्थ-विशेष का कोई अध्याय नहीं होता। प्राय इन सब का यही विचार है कि आधुनिक निबन्ध पश्चिम की देन है।

इन्होंने हिन्दी के नवीन तथा प्राचीन संस्कृत के निबन्धों के अन्तर का भी निर्देश किया है। इनका विचार है कि प्राचीन संस्कृत परम्परा के निबन्ध केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति के साधन थे तथा उनमें वस्तु की प्रधानता, जटिलता, सूत्रबद्धता, अवैयक्तिकता, दार्शनिक विश्लेषण, अंग-प्रत्यंग की मीमांसा, बुद्धि की विशिष्टता, वैज्ञानिक कोटि-क्रम, स्थापन, भावना का अभाव आदि विशेषताएं थीं।

इन्होंने अंग्रेजी के 'ऐस्से' के स्वरूप का भी विवेचन किया है। इनका विचार है कि अंग्रेजी 'ऐस्से' में भावों और विचारों के व्यवस्थित रूप और कसाव का अभाव, वैयक्तिकता की प्रधानता, प्रस्तुत विषय की अप्रधानता, लेखक के निजी दृष्टिकोण तथा अनुभव के रूप में उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, विषय-वस्तु के स्थान पर शैली की ओर ध्यान, अपूर्णता तथा अव्यवस्थितता आदि विशेषताएं होती हैं।

इन लेखको ने निवन्ध तथा निबन्धकार की साहित्य के अन्य रूपो से तुलना की है। इन्होने निबन्धकार का दार्शनिक से यह अन्तर बताया है कि दार्शनिक व्यापक सिद्धान्तो के कुछ उपयोगी सम्बन्ध-सूत्र पकड कर सीधा चलता है तथा निबन्धकार बीच के ब्योरो मे भी फसता चलता है । श्यामसुन्दर दास जी निवन्ध को गीति-काव्य तथा आख्यायिका के वीच की वस्तु मानते है तथा इसमे दोनो के उपकरण सम्मिलित समझते है। ब्रह्मदत्त शर्मा ने निबन्ध का, रचना, लेख, प्रबन्ध, सदर्भ, गद्य-विधान से भेद प्रस्तुत किया है। जनार्दनस्वरूप अग्रवाल तथा ब्रह्मदत्त शर्मा ने इनका काव्य,उपन्यास, नाटक, कहानी, गीति-काव्य, अभिभाषण, व्याख्यान, प्रबन्ध, वार्तालाप, सवाद आदि से भेद बता कर इनके स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा की है। जनार्दन स्वरूप अग्रवाल का विचार है कि निवन्ध-लेखन, उपन्यास, कहानी तथा नाटक सभी से कठिन होता है।

ये आलोचक निबन्धो के विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक तथा कथात्मक प्रकार मानते है । शुक्ल जी इनके केवल तीन प्रकार, विचारात्मक, भावात्मक तथा वर्णनात्मक मानते है। इनका विचार है कि कुशल लेखको के निबन्धो मे तीनो प्रकार के निवन्धो का सुन्दर मेल होता है। शुक्ल जी इनमे से विचारात्मक निवन्धो को श्रेष्ठ समझते है। ब्रह्मदत्त शर्मा ने केवल विचारात्मक तथा भावात्मक दो ही प्रकार के निवन्ध माने है तथा विचारात्मक, आत्म-व्यजक, वर्णनात्मक, कथात्मक आदि भेदो को वैज्ञानिक नही समझा है, क्योकि इनका आधार भी भाव या विचार ही होते हैं । मिश्र जी विचारात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक, कथात्मक तथा आत्म-व्यजक नामक पाच प्रकार के निबन्ध मानते है। उन्होने शैली के अनुसार इनके दो विशेष प्रकार, आगमन शैली वाले तथा निगमन शैली वाले भी माने है।

इन्होने साधारण कोटि की भावुकता, भाषा का अत्यधिक अलकरण, कृत्रिमता आदि निवन्धो के दोष माने हैं। ये निवन्ध-लेखन के लिए, लेखक मे परिमार्जित शैली, विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण, गम्भीर चिन्तन तथा मनन, चारित्रिक और मानसिक शुद्धता, ज्ञान, अनुभव आदि विशेषताओ की आवश्यकता समझते है । इसके विषय के सम्वन्ध मे इनका विचार है कि इसकी कोई सीमा नही है तथा यह आकर्षक, प्रभावोत्पादक तथा अनुरजक होना चाहिए। इन्होने निबन्धो का उद्देश्य आनन्द देना तथा व्यक्तित्व का प्रदर्शन करना, सर्वोपयोगी, ज्ञानानुभवपूर्ण, उच्च सद्भावो तथा विचारो का व्यापक प्रसार तथा सरक्षण करना माना है।

इन्होने निवन्ध की भाषा तथा शैली के सम्वन्ध मे भी अपने विचार प्रकट किए हैं। ये अच्छे निवन्ध के लिए भाषा तथा शैली का सामजस्य, भावानुकूल भाषा, शब्दो मे शक्ति, वृति तथा गुण का ध्यान, बराबर के वाक्याशो का प्रयोग, वाक्यो मे योग्यता, आकाक्षा, सान्निध्य, माधुर्य, सुस्वरता, कलात्मक विधान का प्रयोग तथा भाव, विचार और कल्पना का योग उचित समझते है। ये हिन्दी मे निवन्धो की व्यास, समास, धारा, विक्षेप तथा प्रलाप शैली का प्रचार मानते है तथा इनकी शैली मे पाश्चात्य और भारतीय दोनो तत्त्वो का सम्मिश्रण उचित समझते है।

प्रकरण ७

नाटक

भारतीय साहित्य मे नाटक सम्बन्धी आलोचना का विकास—

भारतीय साहित्यालोचन मे नाटक सम्बन्धी आलोचना का समृद्ध भडार प्राप्त है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र मे नाट्य-कला की दैवी उत्पत्ति मानी है। उनका विचार है कि ब्रह्मा जी ने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय-कला तथा अथर्ववेद से रस लेकर एक पचम वेद, नाट्य-वेद की रचना की थी। इसके लिए विश्वकर्मा ने रगमच, शिव ने ताडव, पार्वती ने लास्य, नृत्य तथा विष्णु ने चार नाट्य-शैलियो का योग दिया था। इस कथन से यह तात्पर्य ग्रहण किया जा सकता है कि नाट्य-शास्त्र का आधार कथोपकथन, गायन, अभिनय, रस, रगमच, लास्य-नृत्य तथा चार-शैलिया है और बीज रूप मे नाट्य-कला वैदिक युग मे उपस्थित थी। यह नाट्य-वेद अभी तक अप्राप्य है तथा बाद के लक्षण-ग्रन्थो मे इसका कही उल्लेख भी नही मिलता है।

नाट्य-वेद के अतिरिक्त पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे शिलालिन और कृशाश्व के नट सूत्रो का उल्लेख किया है।[1] पर उन्होने भी दृश्य-काव्य अर्थात् नाट्य-शास्त्र के आचार्य रूप मे भरत को ही मान्यता दी है। इन दोनो का आचार्य रूप मे उल्लेख भी परवर्ती काल मे कही नही हुआ है। इन नट सूत्रो के सम्बन्ध मे भी अभी तक कुछ विशेष रूप मे ज्ञात नही हुआ है। इस प्रकार अब तक के दृश्य-काव्य से सम्बन्ध रखने वाले प्राप्त लक्षण-ग्रन्थो का आदि-ग्रन्थ भरत का 'नाट्य-शास्त्र' ही है। इस ग्रन्थ की न तो प्राचीन हस्तलिखित प्रतिया मिलती है, न टीकाए, इसलिए यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि जिस रूप मे यह आज प्राप्त है, वह इसका मौलिक रूप है या नही। इसमे अनुष्टुप छन्दो मे ३७ परिच्छेदो मे लगभग ६००० श्लोक है। इसके विवेचन के मुख्य विषय नाट्य, मडप, देवार्चन, ताडव, पूर्वरग, नादी, प्रस्तावना, रस भाव, अभिनय, नृत्य-भाव, पात्र, प्रवृत्ति, छन्द, अलकार, कथावस्तु, सधि, वृत्ति, हाव-भाव, नायक-नायिका-भेद, अभिनय-कला, दर्शक, वादन-यत्र आदि है। परवर्ती काल मे नाट्य-शास्त्र के विकास के बीज इसी ग्रन्थ मे निहित है। जिस प्रकार रस-सम्प्रदाय के विकास मे इसका विशिष्ट महत्त्व है, उसी प्रकार समस्त भारतीय नाट्य-कला के विवेचन का भवन इसी

---

१ पाराशर्य शिलालिभ्या भिक्षुनट सूत्रयो ४।३।११० तथा 'कर्मन्द कृशाश्वादिनि' ४।३।१११—"अष्टाध्यायी पाणिनि"

नीव पर ही आधारित है। यह ग्रन्थ ऐरिस्टोटल आदि प्राचीन पाश्चात्य आचार्यो के ग्रन्थ से भी कही अधिक पूर्ण है।[१] नाट्य-शास्त्र की दो टीकाओ का उल्लेख राघव भट्ट ने अपनी 'अभिज्ञान शाकुतल' की टीका मे किया है, एक तो अभिनव गुप्त कृत 'अभिनव-भारती टीका' तथा दूसरी मातृगुप्त कृत व्याख्या। मातृगुप्त को कुछ विद्वान् स्वतन्त्र लेखक भी मानते है।[२] इनके अतिरिक्त कदाचित् मगल तथा भागुरि ने भी इसके कुछ अगो की टीका तो नही की पर अपने ग्रन्थो मे इसके कुछ सूत्रो की व्याख्या की है।

भरत के नाट्य-शास्त्र के कई शताब्दियो के पश्चात् तक कोई अन्य लक्षण-ग्रन्थ इस विषय पर नही मिलता। इसके पश्चात् सागरनन्दी का 'नाटक-लक्षण-शब्द-कोश' प्राप्त होता है, जिसमे चारायण, कात्यायन, राहुल, गर्ग, हर्ष तथा मातृगुप्त का उल्लेख तथा इनके उद्धरण दिए हैं। इन आचार्यो मे से हर्ष कदाचित् 'नाट्य-शास्त्र' के वार्त्तिक-कार थे। सागरनन्दी के ग्रन्थ का आधार भी भरत का 'नाट्य-शास्त्र' ही है। कात्यायन, राहुल तथा हर्ष की रचनाओ के उद्धरण अभिनव-भारती मे भी मिलते है। कुछ ऐसे अन्य ग्रन्थ भी देखे गए हैं, जिनका उल्लेख तो प्राचीन साहित्य मे मिलता है, किन्तु वे अभी अप्राप्य है। नन्दिकेश्वर का 'नाट्यार्णव', रुय्यक की 'नाटक-मीमासा', 'नाटक-प्रकाश' तथा मोहनदास के 'नाटकावतार' आदि ऐसे ही ग्रन्थ है।

सागरनन्दी के 'नाटक-लक्षण-रत्न-कोश' की समकालीन दूसरी रचना धनञ्जय का 'दश-रूपक' है, जिसमे नाट्य-शास्त्र के साहित्य-पक्ष का ही विवेचन मुख्य रूप मे हुआ है। इसके चार प्रकाशो मे तीन सौ कारिकाए है। प्रथम प्रकाश मे रूपक के दस भेद, पच सधि तथा उनके अग और विष्कम्भक, चूलिकादि का विवरण दिया गया है, द्वितीय मे नायक-नायिका भेद; उनके मित्र, चारो वृत्तियो का अगो सहित वर्णन है, तृतीय मे नाटका-रम्भ, प्रस्तावनादि नाटक के अभिनय के आवश्यक कार्यो का वर्णन है तथा चतुर्थ मे रस का विस्तृत विवेचन है। इसकी एक विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण अवलोक नामक टीका धनजय के भाई धनिक ने की है। इस पर भी कई टीकाओ की रचना हुई है। नाट्य-शास्त्र के पश्चात् दृश्य-काव्य के लक्षण-ग्रन्थो मे इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है तथा नाटक की प्रधान बातो की इसकी व्याख्या विशिष्ट महत्त्वपूर्ण मानी गई है।

इसके पश्चात् बारहवी शताब्दी मे रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा रचित नाटक-दर्पण 'दश-रूपक' की अपेक्षा एक अधिक विस्तृत ग्रन्थ है, जिसमे बारह प्रकार के रूपको तथा अनेक रूपको का निरूपण किया गया है। इसका आधार 'नाट्य-शास्त्र' तथा 'अभिनव-भारती' है। शारदातनय के 'भाव-प्रकाशन' के दस प्रकरणो मे रूपको तथा

---

१ "दी नाट्य शास्त्र, इन ३६ चैप्टर्स, इज़ कम्पलीट देन दी वर्क ऑव् ऐरिस्टोटल, एण्ड प्रोवाइड्स ए फुल व्यू ऑव् सस्कृत ड्रेमेटिक पोयट्री"। डॉ० राघवन 'ऐनसाइक्लोपीडिया ऑव् सस्कृत लिट्रेचर'; प्र० खण्ड, पृ० ४६८।

२ देखिए 'भरत मुनि कृत नाट्य-शास्त्र', प्रो० भोलानाथ शर्मा (१९५४), पृ० २८।

उपरूपको के स्वरूप का सोदाहरण वर्णन किया गया है। शिंग भूपाल के दो ग्रन्थो मे भी नाटकों का विवेचन किया गया है। इनके 'रसार्णव सुधाकर' तथा 'नाटक चन्द्रिका' के आधार पर रूप-गोस्वामी की 'नाटक-चन्द्रिका' की रचना हुई है, जिसका कोई विशेष महत्त्व नही है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त सस्कृत साहित्यालोचन मे कुछ ग्रन्थ ऐसे भी लिखे गए है, जिनमे साहित्य-शास्त्र के अन्य अगो के साथ नाटक का भी विवेचन किया गया है। राजा भोज के 'श्रृ गार प्रकाश' के १२वे प्रकरण मे नाटको का वर्णन तथा 'सरस्वती कण्ठाभरण' के पाचवे परिच्छेद मे नाटक सम्बन्धी विषयो का प्रतिपादन मिलता है। चौदहवी शताब्दी मे लिखे हुए विद्यानाथ कृत 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' के तीसरे प्रकरण मे नाट्य-कला का विवेचन किया गया है। इसी समय के लगभग विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' के छठे परिच्छेद मे 'नाट्य-शास्त्र' के सभी अगो का विस्तृत तथा पाडित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। 'नाट्य-शास्त्र' तथा 'दशरूपक' के पश्चात् इसका ही विशेष महत्त्व माना जाता है। इस के अतिरिक्त चौदहवी शताब्दी मे शिगभूपाल के 'रसार्णव सुधाकर', सोलहवी शताब्दी मे रूप गोस्वामी की 'नाटक-चन्द्रिका' तथा सुन्दर मिश्र का 'नाट्य-प्रदीप' आदि ग्रन्थ लिखे गए, जिनमे कोई विशेष मौलिकता नही है तथा जिनका आधार भी नाट्य-शास्त्र तथा दशरूपक ही है।

इस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत नाटक सम्बन्धी आलोचना का विशेष महत्त्व रहा है तथा इसका विशाल साहित्य मिलता है। नाट्यालोचन के ग्रन्थो मे 'नाट्यशास्त्र' तथा 'दशरूपक' का विशेष प्रतिष्ठित स्थान रहा है तथा अन्य ग्रन्थो ने भी इनको आधार रूप मे स्वीकार किया है। सस्कृत मे नाट्यालोचन सम्बन्धी ग्रन्थ दो प्रकार के है, एक तो वे जो पूर्ण रूप मे केवल नाट्यालोचन को लेकर चले है, दूसरे वे जो साहित्य के अन्य अगो के साथ नाटक के विषय का भी विवेचन करते है। इसके अन्तर्गत प्रसिद्ध मूल ग्रन्थो की टीकाओ तथा व्याख्याओ के रूप में भी इस आलोचना का विकास हुआ है। सस्कृत साहित्य मे नाट्यालोचन के प्रमुख विषय, रूपक, उपरूपक, सवाद, गायन, अभिनय, रस, रगमच, नृत्य, नादी, प्रस्तावना, पात्र, प्रवृत्ति, छन्द, अलकार, कथावस्तु, सधि, वृत्ति, नायक-नायिका-भेद, दर्शक, वादन-यन्त्र, हाव-भाव आदि रहे है। आलोच्य काल के प्रारम्भ मे इसी प्रकार की आलोचना शैली तथा इन्ही विषयो का परिचयात्मक विवरण बहुत समय तक दिया जाता रहा।

पाश्चात्य साहित्य मे नाटक सम्बन्धी आलोचना का विकास :—

पाश्चात्य साहित्य मे नाटक सम्बन्धी आलोचना का जन्मदाता अरस्तू है, जिसने अपने ग्रन्थ 'पेरिपोइतिकीस' (पोयिटिक्स) में नाटक-रचना सम्बन्धी मूलभूत सिद्धान्तो को स्थिर किया था। इनकी त्रासदी (ट्रेजेडी) अर्थात् दुःखान्त-नाटक की व्याख्या परवर्ती नाट्यालोचन का मूल आधार बन गई। इसी प्रकार रोम के नाटकीय सिद्धान्तो के प्रमुख प्राचीन आचार्य होरेस है। अरस्तू तथा होरेस के नाटक सम्बन्धी सिद्धान्तो ने

यूरोप मे परवर्ती सिद्धान्तो को विशेष रूप से प्रभावित किया है। नाट्यालोचन के अतिरिक्त इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्यालोचन मे रगमच सम्बन्धी आलोचना के सूत्रधार 'फ्राग्स' के लेखक एरिस्टोफेन्स है।

पुनरुत्थान काल से पूर्व नाट्यालोचन नैतिक तथा धार्मिक स्वरूप का था, जो क्लासिकल नाटक के रगमच की शृ गारिकता तथा कामुकता की निन्दा करता था, किन्तु इसके पश्चात् तथा एरिस्टोटल की पोयिटिक्स के एक भाग के प्राप्त होने पर रेचन की समस्या (केथेरेसिस), सत्याभास, तीनो-सकलन, होरेस के विचारो का ऐरिस्टोटल के विचारो में समन्वय तथा क्लासिकल नाट्यालोचन के सिद्धान्तो का नवीन सिद्धान्तो से समन्वय आदि विषय, परवर्त्ती शताब्दियो की आलोचना के प्रमुख विषय बन गए। सेंट ऐवरीमोन्ड ने ऐरिस्टोटल के दया तथा भय के सिद्धान्त के स्थान पर 'आत्मा की महत्ता' की सुन्दर अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[1] मौलियर ने प्राचीन सभी सिद्धान्तो से अधिक 'आनन्द प्रदान करने के' लक्ष्य को महत्ता दी। हीगल ने नाटकीय कार्य का प्रमुख तत्त्व दु खमय सघर्ष (ट्रेजिक कनफ्लिक्ट) माना। इस प्रकार श्लीगल, कालरिज आदि आलोचको ने एरिस्टोटल के कार्य को नाटक मे विशेष महत्त्व दिया। हीगल के विचारो ने परवर्ती काल मे इबसन, शा आदि नाटककारो के विषय तथा शैली सम्बन्धी विचारो को प्रभावित किया।

स्वच्छन्दतावादी काल मे श्लीगल के आत्मपरकता के महत्त्व, ससीम के असीम मे रहस्यात्मक परिवर्तन, वास्तविक जगत् के प्रकार तथा प्रतीको के द्वारा कवि के किसी वृहत्तर, अधिक रहस्यात्मक तथा अधिक दार्शनिक भाव (इन्ट्यूशन) की अभिव्यक्ति की स्थूल जगत् के अनुभवो के चित्रण की अपेक्षा, विशेष रूप में प्रतिष्ठा तथा मान्यता हुई।[2] सन् १८२७ मे विक्टर ह्यूगो ने फ्रासिसी नव-क्लासिक-नियम-बद्धता की प्रतिक्रिया मे यथार्थवाद की विशेष अवतारणा की, जिसका प्रचार सामयिक नाटक के साथ-साथ प्राय. सारे यूरोप तथा अमेरिका मे होने लगा। इसके द्वारा वास्तविक जीवन की निकटतम सत्य-अभिव्यक्ति, मनोवैज्ञानिक ब्योरो का निर्देश, भौतिक मनोविकारो का प्रदर्शन तथा टेकनीक की यथार्थता, पर ध्यान दिया जाता था। इसकी अतिशयता तथा गद्यात्मकता के बाहुल्य की प्रतिक्रिया स्वरूप एक नव-स्वच्छन्दतावादी अथवा प्रतीकवादी आलोचना-धारा का उदय हुआ, जिसके प्रधान प्रवर्तक मेटरलिंक थे। इस यथार्थवादी धारा का विरोध अभिव्यक्तिवादी तथा प्रभाववादी लेखको द्वारा भी होने लगा। यूरोप मे आधुनिक नाट्यालोचन की प्रवृत्ति, नाटकीय रगमच को, कला का समन्वय कर्त्ता, विभिन्न शैलियो को अपनाने वाला, कल्पनापूर्ण तथा समकालीन-जीवन की अभिव्यक्ति करने वाला मानने की है।

---

१ देखिए 'डिक्शनरी ऑव् वर्ल्ड लिट्रेचर' (१९४५), पृ० १७५।
२ देखिए 'डिक्शनरी ऑव् वर्ल्ड लिट्रेचर' (१९४३), पृ० १७५।

इस प्रकार पाश्चात्य नाट्यालोचन का क्रमश विकास हुआ है। ऐरिस्टोटल, होरेस तथा ऐरिस्टोफेन्स के नाटक तथा रगमच सम्बन्धी सिद्धान्तो को ज्यों-का-त्यो न अपना कर उनका समय तथा परिस्थिति के अनुकूल विवेचन तथा विश्लेषण हुआ है। पुनरुत्थानवादी, स्वच्छन्दतावादी, यथार्थवादी तथा आधुनिक विचार-धाराओ का दृष्टिकोण नाटक तथा रगमच के सम्बन्ध मे बदलता गया है। इसकी अपेक्षा भारतीय साहित्यालोचन के सिद्धान्त रूढ है तथा उनमे विवेचन तथा विश्लेषण के द्वारा प्रगति नही हुई। इसमें भरत के 'नाट्य-शास्त्र' तथा 'दशरूपक' के सिद्धान्तो की ही निरन्तर व्याख्या होती गई तथा विभिन्न नवीन विचारधाराओ मे इसका व्यापक प्रसार नही हुआ। आलोच्यकाल मे हिन्दी की नाटक-सम्बन्धी आलोचना मे भारतीय नाट्य-सिद्धान्तो का परिचय तथा व्याख्यात्मक विवरण होने के साथ-साथ विभिन्न पाश्चात्य विचार-धाराओ का भी समावेश हुआ है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे नाटक की विभिन्न परिभाषाए दी गई है। व्यापक रूप में इसका तात्पर्य किसी नकल, स्वाग, मूक अभिनय तथा प्राचीन धार्मिक क्रिया तथा उत्सव से है।[१] स्थूल रूप मे नाटक साधारणतया एक खेल है, जिसमे कुछ मनुष्यो का समूह कुछ साथियो के समूह के सामने कुछ पात्रो का रूप धारण करता है। शिपले ने इसके प्रमुख दो तत्त्वो का उल्लेख किया है, प्रथम उद्देश्य, दूसरे दर्शको की उपस्थिति। वे नाटक तथा उपन्यास मे दर्शको की उपस्थिति होने का ही अन्तर मानते है।[२] दी सेन्च्युरी डिक्शनरी के लेखक के विचार से नाटक कार्य रूप मे घटित होने वाली एक कथा है अथवा मनुष्यो के द्वारा मनुष्यो के यथार्थ प्रतिनिधित्व से कही हुई, मानव जीवन की एक गाथा है, जिसमे परिवृत्त स्थितियो, सहकारी वस्तुओ, वेश-भूषा, भाव-भगिमा, वाणी, भाषा आदि का अनुकरण होता है। यह सम्पूर्ण कथा सत्य सम्भावना के आधार पर सगीत, नृत्य, चित्र तथा साज-सज्जा के सहित तथा उससे रहित कही जाती है।[३] एस० सी० वार्ड के विचार से नाटक किसी ऐसे एक कार्य का अनुकरण है, जो पूर्ण माना जाता है। इस पूर्ण कार्य के घटना-क्रम के निरीक्षण मे तथा इस निरीक्षण के अनुसार उसका अनुकरण करने मे नाटक के प्रारम्भिक विकास का पता चलता है।[४] इसी प्रकार आर० एल० स्टीवेन्सन का विचार है कि नाटक घटनाओ की अपेक्षा भावो से निर्मित होता है। यही भाव पात्र को अभिनय का आधार देता है। इस भाव की क्रमपूर्ण वृद्धि अनिवार्य है अन्यथा अभिनेता नाटक के अग्रसर होने पर दर्शको की रुचि तथा भाव (इमोशन) को निम्न स्तर से ऊचे

---

१. देखिए 'डिक्शनरी ऑव् वर्ल्ड लिट्रेचर' (१९४३), पृ० १७२।

२. देखिए 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिट्रेचर' शिपले (१९४३), पृ० १७३।

३. देखिए 'दी सेन्च्युरी डिक्शनरी', पृ० १७५९।

४. देखिए 'इगलिश ड्रेमेटिक लिट्रेचर' ले० एस० सी० वार्ड (भूमिका), पृ० १७ उद्धृत दी सेन्च्युरी डिक्शनरी, पृ० १७५९।

उठाने मे असमर्थ होगा।[1] पाश्चात्य साहित्यालोचन मे नाटक के निर्माण के साधारणतया तीन स्तर है, प्रथम, आन्दोलन (कार्य) का आरम्भ, द्वितीय कार्य की उत्पत्ति तथा विकास और तृतीय अन्त (केटेस्ट्रोफी) जो प्रत्येक नाटक मे कार्य की ही अन्तिम परिणति होती है और अक, दृश्य तथा विभिन्न परिस्थितियो द्वारा प्रकट होता रहता है।[2]

पाश्चात्य साहित्य मे प्रारम्भिक नाटक का परम्परागत रूप काव्यात्मक था।[3] किन्तु १८वी शताब्दी मे इसमे अधिकाधिक समकालीन कथाओ तथा गद्य के प्रयोगो का समावेश होने लगा। किन्तु गद्य के प्रयोग के पश्चात् भी पाश्चात्य रगमच का कविता की ओर झुकाव कम नही हुआ[4] क्योकि यह माना जाता रहा है कि काव्यात्मक प्रयोग से नाटक मे भावात्मक तथा आत्मिक शक्ति की वृद्धि होती है। इसी प्रकार पाश्चात्य समालोचको ने ऐरिस्टोटल के समय से ही इस विषय का भी विशेष विवेचन किया कि नाटक का अभिनय वाछनीय है या नही। वाल्टेयर, स्पिन्गर्न आदि का विचार है कि नाटक की कलात्मक आलोचना के लिए रगमच का कोई स्थान नही है। किन्तु श्लीगल, बार्कर आदि ने रगमच के विशेष महत्व को स्वीकार किया है।[5] शिपले का विचार है कि नाटक का पूर्ण आनन्द लेने के लिए उसका रगमच पर देखना तथा पढना, फिर देखना तथा फिर पढना, आवश्यक है।[6]

इन आलोचको ने नाटक के प्रमुख दो भेद, दुखान्त, तथा सुखान्त माने है, किन्तु इनके सशोधन तथा सयोजन से अन्य प्रकारो, जैसे दुखान्त-सुखान्त, मैलोड्रामा, लिरिक-ड्रामा अथवा ग्रान्ड ओपरा, ओपरा, वर्फे, फार्स, बर्लेस्क, बर्लेटा आदि की भी उत्पत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त विषय तथा शैली भेद के अनुसार अन्य प्रकार, नाविक-सम्बन्धी-ड्रामा, गोचारण-ड्रामा, समाज सम्बन्धी ड्रामा, आदि है।[7] दुखान्त तथा सुखान्त नाटको का चरम उत्कर्ष ग्रीक ड्रामा के काल मे हुआ। इस प्रकार इनके नाटको के भेद रूपक तथा उपरूपक की भाति नही है और समय की विचारधारा तथा परिस्थितियो के अनुकूल उत्पन्न हो गए है। इसके विपरीत भारतीय साहित्यालोचन में रूपक तथा उपरूपक के विभिन्न भेदो का जड परिचयात्मक-विवरण मात्र दिया जाता रहा है। नए भेदो की उत्पत्ति केवल पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हुई। हा, आलोच्य-काल मे भारतीय

---

१ देखिए 'दी सेन्च्युरी डिक्शनरी', पृ० १७५९।

२ देखिए वही, पृ० १७५९।

३ 'दी कन्वेन्शनल फार्म ऑव अरली ड्रामा वाज प्रीवेलिंगली पोइटिक", 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिट्रेचर' (१९४३), पृ० १७३।

४ देखिए वही, पृ० १७३।

५ देखिए वही, पृ० १७४।

६ देखिए वही, पृ १७४।

७ देखिए 'दी सेन्च्युरी डिक्शनरी', पृ० १७५९।

लोक-नाट्य के रामलीला, यात्रा, रास, ललित, मवाइ, नौटकी तथा साग आदि विभिन्न रूपो का भी इसमे प्रचार रहा ।

इस प्रकार पाश्चात्य विचारको द्वारा नाटक मे वेश-भूषा, भाव-भंगिमा, वाणी तथा भाषा का अनुकरण, रूप-धारण, अभिनय, उद्देश्य, दर्शको की उपस्थिति, कार्य-रूप मे घटित होने वाली कथा, पात्रो द्वारा मनुष्यो की गाथा का वर्णन, सत्य तथा सम्भावना का आधार, सगीत, नृत्य, चित्र तथा साज-सज्जा का समावेश, कार्य की एकता तथा पूर्णता, भावो की क्रम-पूर्ण वृद्धि, गद्य तथा पद्य अथवा दोनो का समावेश, रगमच का अस्तित्व तथा नाटकीय नियमो आदि विशेषताओ का समावेश होता है ।

आलोच्य-काल मे हिन्दी मे नाटक सम्बन्धी आलोचना का विकास.—

आलोच्य-काल से पूर्व नाट्यालोचन का हिन्दी मे प्राय अभाव ही था । आलोच्य-काल मे साहित्य के अन्य रूपो की आलोचना की भाति इसका भी विकास हुआ । उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की भाति इसकी आलोचना अधिकाश मे पाश्चात्य साहित्यालोचन से प्रभावित तथा निर्मित नही हुई । आलोच्य-काल के प्रारम्भ मे भारतेन्दु, बलदेव मिश्र महावीरप्रसाद द्विवेदी, भानु जी आदि आलोचको ने प्राचीन नाट्य-शास्त्र का परिचयात्मक विवरण देकर आधुनिक-काल के उपयुक्त प्राचीन नियमो की व्याख्या की । इनके द्वारा प्राचीन नियमो मे से इस काल के अनुपयुक्त नियमो की अवहेलना की गई तथा उपयुक्त को मान्यता प्रदान की गई । हिन्दी मे नाट्यालोचन नए सिरे से पाश्चात्य प्रभाव तथा रग को लेकर नही चला । पाश्चात्य नाट्यालोचन तथा नाट्य साहित्य के स्वरूप के प्रकाश मे प्राचीन भारतीय नाटय-शास्त्र का तर्क तथा रुचि के आधार पर पुनर्निरीक्षण तथा मूल्याकन किया गया ।

इनके पश्चात् श्यामसुन्दर दास, सेठ गोविन्ददास आदि आलोचको ने पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्यालोचन के मिश्रण के आधार पर नाटको के सिद्धान्तो का विवेचन किया है । शुक्ल जी, श्यामसुन्दरदास, प्रसाद, मिश्र जी आदि इस काल के प्रमुख आलोचको ने भारतीय नाट्यालोचन के नियमो तथा सिद्धान्तो को पाश्चात्य नाट्यालोचन के सिद्धान्तो से अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण माना है । इनका यह विचार रहा है कि हिन्दी नाटक तथा उसके स्वरूप का विकास पाश्चात्य-नाट्यालोचन के प्रभाव के बिना अपने मौलिक रूप मे भी हो सकता है । शुक्ल जी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नगेन्द्र आदि आलोचको ने हिन्दी के रचनात्मक नाट्य-साहित्य को लक्ष्य मे रख कर नाटको का विवेचन किया है । इन आलोचको ने नाट्यालोचन के विभिन्न विषयो, नाटको की परिभाषा, स्वरूप, उत्पत्ति, महत्त्व, मूल, जन्म, प्राचीनता, अग, रस, भेद, प्रभाव, वस्तु, चरित्र-चित्रण, सवाद, देश-काल, उद्देश्य, अभिनय, नवीन तथा प्राचीन नाटको का अन्तर, नाट्यालोचन के प्राचीन नियमो की उपयोगिता, नाटको का अनुवाद, पात्रो की भाषा, दु.खान्त तथा सुखान्त नाटक, नाटक तथा कविता का अन्तर, दृश्य-काव्य के विकास का काल-विभाजन, पाश्चात्य तथा भारतीय नाटको की तुलना, रगशाला आदि पर अपने विचार प्रकट किए है

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र.—

हिन्दी मे नाटक सम्वन्धी आलोचना का सूत्रपात वास्तव मे भारतेन्दु द्वारा हुआ है। 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद करते समय स० १९३१ मे उनका ध्यान नाटको के विवेचन की ओर गया, जिसके फलस्वरूप स० १९४० मे 'नाटक' नामक निबन्ध प्रकाशित हुआ। इनका यह 'नाटक' नामक निबन्ध दशरूपक, नाट्य-शास्त्र, साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश, 'विल्सन्स हिन्दू थियेटर्स', 'लायफ ऑव् दी एमिनेन्ट परसन्स', 'ड्रेमेटिस्ट एण्ड नोविलिस्ट्स', 'हिस्ट्री डी इटालिक थियेटर्स' तथा 'आर्य-दर्शन' नामक ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है तथा उनके निजी मौलिक विचारो का भी प्रतिपादन करता है। इन्होने नाटक, दृश्य-काव्य, नाटक के भेद, नवीन तथा प्राचीन नाटको का अन्तर, नाटक के प्राचीन नियम तथा उनकी उपयोगिता, नाटक की वस्तु, कथोपकथन, भाषा, रस, उद्देश्य, अभिनय, नाटको के अनुवाद आदि विषयो का विशेष रूप मे विवेचन किया है।

उन्होने नाटक शब्द का अर्थ नट लोगो की क्रिया माना है। वे उसे नाटक कहते है, जो विद्या के प्रभाव से अपने या किसी वस्तु के स्वरूप को फेर ले। उनका कथन है कि "नाटक मे पात्र-गण अपना स्वरूप परिवर्तन करके रसादिक का स्वरूप धारण करते है व वेप-विन्यास के पश्चात् रगभूमि मे स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं।"[1] वे दृश्य-काव्य उसे कहते है, जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे।[2] वे श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य की चौगुनी महत्ता मानते है तथा दृश्य-काव्य, नाटक तथा कुशीलव-शास्त्र को पर्यायवाची कहते है। रगस्थ खेल के रूप मे वे नाटक के तीन भेदो का उल्लेख करते है, काव्य-मिश्र, शुद्ध-कौतुक और भ्रष्ट। कठपुतली का खेल, गूगे-बहरो का नाटक, बाजीगरी तथा घोडे के तमाशे में सवाद, भूत-प्रेतादि की नकल आदि को वे शुद्ध-कौतुक तथा भाड, इन्द्र-सभा, रास, यात्रा, लीला, झाकी और पारसियो के नाटक आदि को भ्रष्ट कहते हैं तथा इन मे अब नाटकत्व शेष नहीं मानते। इसी प्रकार काव्य-मिश्र की वे दो श्रेणिया मानते है, प्राचीन तथा नवीन, जिनमे से प्राचीन आचार्यो के दो भेद, रूपक तथा उपरूपक हैं।

उन्होंने प्राचीन तथा नवीन नाटको का मुख्य अन्तर यह माना है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन नाटको में बार-बार दृश्य परिवर्तन होते रहते हैं। वे नवीन नाटको के दो भेद मानते है, प्रथम वे जिनमे कथा-भाग विशेष तथा गीति-भाग न्यून होता है तथा दूसरे गीति-रूपक, जिसमे गीति-भाग विशेष तथा कथा-भाग न्यून होता है। इसी प्रकार कथाओं के स्वभाव से उन्होने तीन प्रकार के नाटक माने हैं—(१) सयोगान्त, (२) वियोगान्त, (३) मिश्र। वे नवीन नाटको की रचना के ५ उद्देश्य मानते है, (१) शृगार, (२) हास्य, (३) कौतुक, (४) समाज-सस्कार, तथा (५) देशवत्सलता। उनका विचार है कि कौतुक-विशिष्ट नाटको मे अद्भुत घटनाए, समाज सस्कार के नाटको मे देश की कुरीतिया

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग—१ (नाटक) (स० २००७), पृ० ७१५।
२ देखिए वही, पृ० ७१५।

तथा देशवत्सल नाटको मे स्वदेशानुराग का आधिक्य होता है, जैसे 'भारत-जननी', 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटको मे।

वे आधुनिक समय मे समस्त प्राचीन नाटको के नियमो के अनुसार नाटक लिखना युक्ति-सगत नही मानते। उनका विचार है कि नाटक की रचना किसी देश तथा काल के सहृदयो की रुचि तथा रीति-नीति के प्रवाह के अनुसार होनी चाहिए। उन्होने नाट्य-रचना के अन्तर्गत देश, काल तथा पात्र का ध्यान रखना विशेष रूप मे आवश्यक समझा है। वे प्राचीन नियमो, पद्धतियो तथा रीतियो मे से उन्ही का ग्रहण उचित समझते हैं, जो आधुनिक सामाजिको की रुचि के अनुकूल हो। इसीलिए वे समकालीन नाटको मे आशी आदि नाट्यालकार, प्रकरी, विलोमन, सफेट, पच-सधि तथा ऐसे ही अन्य विषयो की कोई आवश्यकता नही समझते। उनका विचार है कि प्राचीन लक्षण रख कर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उलटा फल होता है।[1]

उन्होने अपने निबन्ध मे भरत के नाट्य-शास्त्र के उन्ही नियमो का परिचयात्मक विवरण दिया है, जो नितान्त उपयोगी तथा आधुनिक रुचि के अनुकूल है। इनमे से सर्वप्रथम प्रतिकृति है, जिसका नामान्तर आपटी या चित्रपट या दृश्य या स्थान है। वे किसी पर्वत, वन या उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते है।[2] यद्यपि भरत के नाट्य-शास्त्र मे इसका कोई विशिष्ट उल्लेख नही है, पर वे प्राचीन काल मे उसके अस्तित्व की सभावना मानते है तथा इसे नाटक मे बहुत प्रयोजनीय वस्तु समझते है।[3] वे गर्भाक उसे कहते है, जहा दृश्य बदलते है तथा जिसमे जवनिका का गिरना आवश्यक होता है। उनके विचार से जवनिका या वाह्य-पटी वह पट है, जो रगमच को ढकने के लिए नाट्य-शाला के सामने गिराया जाता है। वे प्रस्तावना, नाटक के आरम्भ हो जाने से पूर्व विदूषक, पारिपार्श्वक तथा सूत्रधार से मिल कर प्रस्ताव विषयक ऐसे कथोपकथन को कहते है, जिससे नाटक के इतिवृत्त की सूचना मिलती है। इस प्रस्तावना की पाच प्रणालियो, वृद्धात्मक, कथोत्घात, प्रयोगातिशय प्रवर्तक और अवगलित मे से वे चार का हिन्दी नाटको मे व्यवहार होना मानते है।[4] प्रस्तावना के अतिरिक्त वे हिन्दी नाटको मे पटाक्षेप के साथ चचरिका का विधान अब भी आवश्यक समझते है। वे चचरिका बहुत से स्वरो से मिल कर बजने वाले बाजे या गाने को कहते हैं, जो नेपथ्य मे पटाक्षेप के साथ ही आरम्भ हो जाता है। इसमे नाटक की कथा के अनुरूप गीतो या बाजो का बजाना आवश्यक होता है, जैसे सबेरे के समय के दृश्य मे भैरवी का बजना आवश्यक समझा जाता है। इस निबन्ध मे उन्होने चारो वृत्तियो, उपक्षेप प्ररोचना, उद्देश्य, बीज, कथावस्तु, अभिनय, पात्र, अभिनय-प्रकार, अग, वैषम्यपात दोष, अक,

---

१ देखिए भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १ (नाटक), स० २००७, पृ० ७२२।
२ देखिए वही, पृ० ७२२।
३. देखिए वही, पृ० ७२३।
४. देखिए वही, पृ० २४२।

अकावयव, विरोध, नायक, परिच्छेद, देशकाल, विष्कम्भक, भाषा आदि के भी लक्षण दिए है ।

वे नाटक-रचना मे शैथिल्य दोष के विरोधी है । नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष को प्रारम्भ करके उसे अधूरा छोडना या अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलोच्छेद करना वे बुरा समझते है। वे उस नाटक को श्रेष्ठ नही मानते, जिसके कार्य को देखते-देखते पूर्व-कार्य विस्मृत होते जाते है। उनका विचार है कि नाटक की श्रेष्ठता उत्तम वस्तु पर ही निर्भर नही वरन् उत्तम, मध्यम, अधम, तीनो प्रकार की वस्तुओ पर आधारित है ।

इसी प्रकार नाटक के कथनोपकथन के बारे में उनका विचार है कि "ग्रन्थ-कर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रो की बातचीत की योजना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक मे वाचाल पात्र की मितभापिता, मितभापी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पडित का मौनी भाव विडबना मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अग है। नाटक मे वाक् प्रपच एक प्रधान दोष है— नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोडी बात मे गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोडी सी बात मे अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है।"[1]

वे पात्रो की भाषा का स्वभावानुकूल होना आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि हिन्दी मे भरत के नान्दी आदि नियम की अवहेलना हो सकती है। इसी प्रकार वे हिन्दी नाटको के लिए विदूषको की अनिवार्यता स्वीकार नही करते। उनका विचार है कि वीर तथा करुण रस के नाटक मे तो विदूषक की आवश्यकता है ही नही पर शृंगार मे भी उसकी आवश्यकता हर समय नही हो सकती। किसी-किसी स्थान पर वे विदूषक के स्थान पर विट, चेट, नर्म सखा प्रभृति पात्रो का प्रवेश अधिक स्वाभाविक समझते है ।

उन्होने नाटक के लिए शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शान्त, भक्ति या दास्य, प्रेम या माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद या आनन्द नामक रस माने है तथा उनके विभिन्न उदाहरण भी दिए है। वे नाटक रचना मे विरोधी रसो के समावेश को अनुचित समझते है। वे मानते है कि चाहे नायक-नायिका के चरित्र की समाप्ति सुखमय हो या दुखमय, किन्तु नाटक के परिणाम से दर्शको को कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए तथा नाटक की कथा के अन्त का आभास किंचिन्मात्र भी नही होना चाहिए ।

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १ (नाटक), स० २००७, पृ० ७३४ ।

उन्होने अभिनय-सम्बन्धी नियमो का भी वर्णन किया है, जैसे स्वरो का घटाना-बढाना, पात्रो की दृष्टि का दर्शको पर ही टिकना, स्थान-स्थान पर स्वर तथा अग भगी, भावो का प्रदर्शन, पात्रो को पीठ दिखाना, लम्बे-चौडे कथोपकथन का न होना आदि। वे मानते है कि नाटककार को सब प्रकार के ज्ञान को अपना कर मनुष्य की प्रकृति की आलोचना तथा मानसिक वृत्तियो और हृदयस्थ भावो की अभिव्यजना करनी चाहिए। वे उसके लिए राजनीति, धर्मनीति, दण्ड-नीति, सामाजिक तथा व्यावहारिक रीति-नीति का ज्ञान आवश्यक समझते हैं। नाटको के अनुवाद करने के बारे मे उनका विचार है कि "बिना पूर्व कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नही कवि की लोकान्तर-स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।"[1] इस प्रकार भारतेन्दु ने भारतीय नाट्यालोचन के प्रमुख तत्त्वो का युग-परिस्थिति के सदर्भ मे विश्लेषण तथा विवेचन किया है तथा विभिन्न विषयो का तर्क तथा रुचि के आधार पर निरीक्षण किया है।

बलदेव प्रसाद मिश्र —

मिश्र जी महावीर प्रसाद द्विवेदी के विपरीत सस्कृत के नाटक सम्बन्धी नियमो की हिन्दी मे आवश्यकता मानते है तथा रूपक की कला को पुराणो से प्राचीन तथा इसी देश की समझते है। उन्होने अपने 'नाट्यप्रबन्ध' मे नायक-नायिका, वस्तु, वृत्तिया, अर्थ प्रकृति, सधि, नाटको के १० भेद तथा उपनाटिकादिक के १८ भेदो की परिभाषाए दी है। वे सस्कृत नाटको की भाति विभिन्न पात्रो से विभिन्न भाषाओ का प्रयोग कराना विधेय नही समझते। वे श्रव्य-काव्य उसे कहते है, जिसमे कवि किसी प्रख्यात कथा का आप ही वर्णन करता है तथा दृश्य उसे कहते है, जिसमे जिस-जिस स्थिति का वह वर्णन करना चाहता है, उसी स्थिति के व्यक्तियो से वर्णन कराता है।[2] वे भी रूप के आरोप को रूपक कहते है। उनका विचार है कि अभिनय रूपक का प्रधान अग है तथा इसके बिना रस की सिद्धि नही होती। उन्होने नाटको मे सूत्रधार, नट अथवा नटी को आवश्यक माना है तथा कुछ रूपको मे शास्त्रीय-नायको के अतिरिक्त झूठे, कपटी तथा धूर्त नायको के प्रयोग को उचित समझा है। वे विदूषको का प्रयोग केवल शृगार रस के नाटको मे उपयुक्त समझते है। उन्होने नाटक की वस्तु का लक्ष्य रस की सिद्धि माना है तथा उसकी पुष्टि करने वाली प्रत्येक बात के समावेश को ठीक समझा है।

जगन्नाथ प्रसाद भानु —

भानु जी ने अपने ग्रन्थ 'काव्य प्रभाकर' मे दृश्य-काव्य अर्थात् नाटक पर सक्षेप मे विचार किया है। इनकी आलोचना मे पाश्चात्य-साहित्यालोचन की अपेक्षा भारतीय

---

१ देखिये भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १ (नाटक), स० २००७, पृ० ७५३।

२ देखिए 'नाटय प्रबन्व', (स० १९६०), भूमिका, पृ० २।

साहित्यालोचन का अधिक प्रभाव है तथा कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, देशकाल, सवाद, भाषाशैली की विस्तृत आलोचना की अपेक्षा रस, वृत्तियो तथा अभिनय का ही विशेष वर्णन है। कथानक के सम्बन्ध मे इन्होने एक ही बात लिखी है कि वह अनोखा तथा पूर्वापर सम्बन्ध मे बधा होना चाहिए। उनकी नाटक की परिभाषा केवल परिचयात्मक है। वे नट लोगो की क्रिया अथवा काव्य के सर्वगुण सम्पन्न खेल को नाटक कहते है। इसके अतिरिक्त उन्होने प्रतिकृति, जवनिका, नेपथ्य, प्रस्तावना, अभिनय, पात्र, अक, नायक आदि की परिभाषाए तथा व्याख्याए प्रस्तुत की है। ये नाटक मे स्वाभाविकता को एक विशेष गुण तथा वाक् प्रपच को दोष मानते है। इनका विचार है कि थोडे विषय मे अधिकाधिक भाव का समावेश करना नाटक का जीवन सर्वस्व है। वे नाटको में मनुष्य स्वभाव की पूर्ण आलोचना तथा एक प्रधान रस होने के पक्ष मे है। उन्होने नाटक के चौदह रसो का वर्णन किया है, जिनमे सर्वमान्य नव-रसो के अतिरिक्त भक्ति, प्रेम, सख्य, वात्सल्य तथा प्रसाद को भी सम्मिलित किया है। वे नाटको मे रस-विरोध को नाटक के आनन्द मे बाधक मानते हैं। उन्होने परम्परागत रूप मे वृत्तियो की भी व्याख्या की है। रस-विवेचन के अतिरिक्त उन्होने नाटक की आलोचना, कथा, पात्रो के स्वरो, दृष्टियो, भावो, चलने-फिरने, परस्पर बातचीत आदि पर भी विचार प्रस्तुत किए है तथा इस बात का निर्देश किया है कि विदूषक किस रस मे किस प्रकार का होना चाहिए।

अभिनय के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि भावो के अनुसार पात्रो के स्वर यथोचित रूप मे घटने-बढने चाहिए। उनकी दृष्टि पात्रो पर भी रहनी चाहिए तथा दर्शको पर इस प्रकार से पडनी चाहिए कि दर्शको को यह बोध न हो कि वे दशको से बाते कर रहे है। उन्हे स्वर, भाव तथा शारीरिक मोड आदि से भावो का प्रदर्शन करना चाहिए तथा इस प्रकार चलना फिरना चाहिए कि दर्शको को पीठ न दिखाई दे। उनकी इन बातो का उल्लेख नाटक की रचना तथा कौशल की अपेक्षा अभिनय से ही सम्बन्ध रखता है। 'वे नाटक का उद्देश्य उत्तम शिक्षा देना मानते है।'[1]

महावीर प्रसाद द्विवेदी —

द्विवेदी जी ने सन् १९०३ मे 'नाट्य-शास्त्र' नामक एक निबन्ध लिखा, जो सन् १९११ मे प्रकाशित हुआ। इसके विषय-प्रवेश मे उन्होने नाटक, रूपक, दृश्य-काव्य, अभिनय, नान्दी, काव्य-शास्त्र की व्युत्पत्ति बता कर उनकी परिभाषाए दी है। उन्होने प्राचीन आचार्यो के नाटक तथा अभिनय सम्बन्धी नियमो की समकालीन परिस्थितियो मे उपयोगिता, दु खान्त नाटको का व्यवहार, नाटको की वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, उद्देश्य, दृश्य काव्य के विकास का काल-विभाजन आदि विषयो पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वे नटो के कर्म को नाट्य अथवा नाटक कहते है तथा नाट्य-शास्त्र मे नटो से

---

१ देखिए काव्य-प्रभाकर (स० १९६६), पृ० ८७।

सम्बन्ध रखने वाले कार्यो तथा भावो का वर्णन होना मानते है। वे रूपक उसे कहते हैं, जिसमे रूप का आरोप किया जाता है तथा यह मानते है कि इसमे प्रत्येक पात्र किसी दूसरे रूप को धारण करके उसी के अनुसार व्यवहार करता है। इसी प्रकार उनकी दृश्य की परिभाषा यह है कि इसमे कवि स्वय कुछ नही करता तथा जो कुछ उसे कहना होता है उसे वह उन बातो से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियो से कहलाता है।[1] इसी प्रकार वे अभिनय उसे कहते है, जिसमे किसी के कार्य का अनुकरण, अग, वाणी, वेश-भूषा अथवा मनोवृत्ति सूचक शारीरिक चिन्हो से दिखाया जाता है।[2] वे अभिनय को अनुकरण का पर्यायवाची शब्द मानते है तथा इसका यह कौशल समझते हैं कि इससे दर्शको को यह ज्ञान नही होता कि वे खेल देख रहे है। उनका विचार है कि इसके द्वारा मनुष्य की सब अवस्थाओ और उसके विचारो का ऐसा अनुकरण किया जाता है कि दर्शको को उनका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। वे 'नाट्य शास्त्र' उस शास्त्र को कहते हैं जिसमे अनुकरण करने के नियमो का समावेश होता है। नान्दी के सम्बन्ध में भी उनके विचार भारतेन्दु से भिन्न हैं। 'नान्द्यते सूत्रधार' शब्दो से भारतेन्दु जी यह अर्थ लगाते है कि नान्दी के अन्त मे सूत्रधार आता है परन्तु द्विवेदी जी कहते है कि सूत्रधार ही नान्दी का उच्चारण करता है। इसका तात्पर्य वे यह मानते है कि नान्दी हो जाने पर सूत्रधार ने अगला काय आरम्भ किया।

द्विवेदी जी तथा भारतेन्दु जी दोनो ने ही नाटको को नट की क्रिया माना है, किन्तु दोनो ने इनकी क्रिया की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। भारतेन्दु जी ने नटो की क्रिया को अपने स्वरूप का परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करना माना है, किन्तु द्विवेदी जी ने नटो का व्यवसाय नाचना कहा है। उनका विचार है कि नाट्य-कला की आदिम-अवस्था मे नट केवल नाचते ही थे, ठीक अभिनय नही करते थे। किन्तु थोडे समय के पश्चात् वे अग, वाणी, वेश आदि के द्वारा पूरा-पूरा अभिनय भी करने लगे। द्विवेदी जी की दृश्य-काव्य की परिभाषा से भारतेन्दु जी की परिभाषा अधिक सारपूर्ण है। वे दृश्य काव्य की सज्ञा ही रूपक मानते हैं।

द्विवेदी जी भारतेन्दु जी के समान प्राचीन आचार्यों के नाटक तथा अभिनय के नियमो की आधुनिक समय के लिए अनिवार्यता नही मानते। वे नाटक लिखने के लिए रूपक तथा उपरूपक के सब भेदो का विचार करना विशेष आवश्यक नही समझते। उनका विचार हैं कि "इन भेदो का विचार करके इनमे किसी एक शुद्ध प्रकार का नाटक लिखना इस समय प्राय असम्भव भी है। देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गए सभी नाटक, जिनसे मनोरजन और सदुपदेश मिले प्रशसनीय है, वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्यों के सारे नियमो के अनुकूल बने हो चाहे न बने हो, उनसे लाभ अवश्य ही होगा।"[3] वे मानते है

---

१. देखिए 'नाट्य-शास्त्र' (सन् १९२३) पृ० २।
२. देखिए वही पृ० ४।
३. देखिये, वही, पृ० ३०।

कि प्राचीन नियमो का उल्लघन करके यदि कोई नाटककार मनोरजन भी कर सके तथा अपने खेल द्वारा सदुपदेश भी दे सके, तो उसका प्रयास मफल है।

वे प्राचीन आचार्यो के इस सिद्धान्त को भी नही मानते कि दु खान्त नाटक नही लिखे जाने चाहिए तथा प्रत्येक नाटक का आरम्भ तथा अन्त मगलमय होना चाहिए। उनका विचार है कि "दुराचारियो के कर्मो का फल प्राय. दु खमय ही हुआ करता है। अतएव यदि ऐसो का चरित दृश्य-काव्य मे दिखलाया जाय, तो उमका अन्त दु.खद होना ही चाहिए। अतएव वियोगान्त अथवा दु खान्त नाटक लिखना हमारी समझ मे अनुचित नही है।"[1]

वे रूपक रचना मे तीन वातो का विशेष ध्यान रखना आवश्यक समझते हैं, वस्तु, अर्थ प्रकृति तथा सन्धि। वास्तव मे अन्य दो बाते अर्थ प्रकृति तथा सन्धि, कार्य-अवस्थाओ के साथ वस्तु के अन्तर्गत ही आ जाती है तथा इनका पृथक् उल्लेख करना व्यर्थ है। वे नाटक की कथावस्तु मे अवान्तर कथाओ का ऐसा मेल आवश्यक समझते है, जिसमे वे एक दूसरे से पृथक् न जान पडे। उनका विचार है कि मूल-कथा मे रस-विघातक तथा असम्भव वातो का समावेश नही होना चाहिए। वे भी नाटक का अन्त आकस्मिक ही अच्छा समझते है।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि पात्रो की कल्पना कार्य के अनुसार होनी चाहिए, पात्र के अनुसार कार्य की कल्पना नही। वे मानते हैं कि प्रत्येक पात्र का, उसकी अवस्था, वृत्ति या स्वभाव के अनुकूल निर्वाह होना चाहिए। उनका कथन है कि "रगभूमि मे प्रत्येक पात्र का काम उसी का मा हो, उसमे किसी दूसरे के स्वभाव का मेल न हो। उसकी वात, उसके कार्य, उसकी अग भगी से सामाजिको को तत्काल ही उसका परिचय हो जाना चाहिए।"[2] वे यह आवश्यक नही समझते कि नाट्य-शास्त्र के निर्देशित पात्र ही सब प्रकार के रूपको और उप-रूपको मे आए। उनका विचार है कि पात्रो की कल्पना शास्त्रीय नियमो के अनुसार न होकर वस्तु-स्थिति के अनुसार स्वतन्त्र रूप मे होनी चाहिए। इसीलिए वे विदूषको को सब प्रकार के नाटको मे न रख कर उसी स्थल पर रखना ठीक समझते हैं, जहा उनका हास्य-कारक भाषण शोभा देता हो।"[3]

पात्रो के कथोपकथन की भाषा के सम्बन्ध में भी वे सस्कृत नाटको के नियम को नही मानते। प्राचीन नाटको मे पात्रो की योग्यता के अनुसार संस्कृत तथा प्राकृत बोलने के नियम के विरुद्ध उनका विचार है कि "नाटक के पात्रो की भाषा उनकी स्थिति के अनुकूल होनी चाहिए अर्थात् साधारणत व्यवहार मे जो जैसी भाषा बोलता हो वैसी ही भाषा का प्रयोग रगभूमि मे अभिनय के समय भी होना चाहिए। यह नियम करना कि

---

१ नाट्य-शास्त्र (सन् १९२३), पृ० ४१।

२ वही, पृ० ३०।

देखिए वही पृ० ३७।

कौन किस भाषा मे बातचीत करे सर्वथा ठीक नही है।"[१] वे नाटको मे गद्य तथा पद्य के प्रयोग का भी कोई नियम नही मानते। उनका विचार है कि कवि को स्वय इस बात का निर्णय करना चाहिए कि कहा गद्य और कहा पद्य अधिक रुचिकर और शोभावर्द्धक है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुकूल वे यह आवश्यक नही समझते कि साधारण बाते तो गद्य मे लिखी जाय तथा भावात्मक स्थलो पर पद्य का प्रयोग हो।

वे नाटक का उद्देश्य मनोरजन के साथ उपदेश देना मानते है। उनका विचार है कि नाटक प्रभावोत्पादक होना चाहिए। वे लिखते है कि "खेल मे जिस वस्तु का अनुकरण किया जाय वह ऐसी योग्यता से किया जाना चाहिए कि जिस रस का वह पोषक हो उस रस से सामाजिको का अन्त करण परिप्लुत, पराभूत, किंवा द्रवित हो जाय।"[२] वे मानते है कि काव्य की सरसता और अभिनय की पूर्णता तभी सिद्ध होगी, जब दर्शको मे रगभूमि पर प्रदर्शित दृश्यो को देखते ही उनके साथ तत्काल सहानुभूति उत्पन्न हो जाए।

उन्होने दृश्य-काव्य के विकास का काल-विभाजन भी प्रस्तुत किया है। इसका १०० वर्ष ईसवी पूर्व से दसवी शताब्दी तक आदिम काल, ग्यारहवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी तक मध्यम काल तथा उसके बाद अन्तिम-काल मानते है। उन्होने अपने नाट्य-शास्त्र नामक निबन्ध मे रूपक, उपरूपक, पात्र, कल्पना, भाषा, रचना-चातुर्य, वृत्तिया, अलकार लक्षण, जवनिका, परदे, देश-सेवा आदि का वर्णन किया है। वे नाटककार के लिए लोक-व्यवहार और मनुष्य प्रकृति का पूरा ज्ञान आवश्यक समझते है।

द्विवेदी जी ने इस निबन्ध मे नाटक सम्बन्धी प्राचीन नियमो का परिचयात्मक विवरण देकर स्थान-स्थान पर जो अपने विचार प्रकट किए है, उनसे ही हिन्दी के अपने नाट्य-शास्त्र के नियमो का विकास प्रारम्भ हुआ है। इनकी नाटक सम्बन्धी धारणाओ पर भारतीय तथा पाश्चात्य प्रभावो के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियो का भी विशेष प्रभाव पडा है। भारतीय नाटको की भाति पाश्चात्य नाटक इतने अधिक व्यवस्थित रूप मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमो से सजाया तथा सवारा हुआ नही है। वह प्रगतिशील तथा विकासपूर्ण है। उसके प्रभाव से भारतेन्दु की भाति द्विवेदी जी ने भी परम्परागत भारतीय नाट्य-कला के नियमो मे यत्र-तत्र सशोधन तथा मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। नाटक-रचना सम्बन्धी विचारो मे उन्होने भी भारतेन्दु की भाति मौलिक योग दिया है। इनके विवेचन का मूल आधार भी भरत का 'नाट्य-शास्त्र' तथा धनञ्जय का 'दशरूपक' है।

रामचन्द्र शुक्ल :—

शुक्ल जी ने इन्दौर वाले भाषण मे भाषा, शैली तथा दर्शक की दृष्टि से

---

१ नाट्य-शास्त्र (१९२३), पृ० ३८-३९।

२ वही, पृ० ३९।

कविता और नाटक का भेद प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि "काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक मे भाव-व्यजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। भाषा अपनी अर्थ-क्रिया सीधे ढग से करती है, केवल बीच-बीच मे ही भाव या चमत्कार उसे दबा कर अपना काम लेते है। बात तो यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रो की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए अतिरजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जाएगी और सारा नाटकत्व निकल जाएगा।"[1] इस प्रकार इनका विचार प्राचीन आचार्यो से भिन्न है, जो नाटक तथा कविता मे भेद मानते थे। वे उनमे केवल रूप का ही भेद मानते थे कि एक दृश्य-काव्य है तो दूसरा श्रव्य। प्राचीन नाटककार भी कवि ही माने जाते थे तथा काव्य मे नाटक को ही श्रेष्ठ समझा जाता था "काव्येषु नाटकम् रम्यम्" किन्तु इसके विपरीत शुक्ल जी काव्य मे व्यजना या चमत्कार या रजना अधिक मानते है तथा नाटक मे भाषा की सीधी अर्थ-क्रिया अधिक समझते है, किन्तु प्रसाद के नाटक यह सिद्ध करते है कि शुक्ल जी का यह विचार ठीक नही है। वास्तव मे उनके नाटको मे कवित्वपूर्ण भाषा होने पर भी नाटकत्व रहा ही नही है, वरन् और भी बढ गया है।

शुक्ल जी इस पक्ष मे नही है कि भारतीय-नाटक अपनी शास्त्रीय पद्धति को छोड कर पाश्चात्य नाटको का अनुकरण करे। पाश्चात्य नाटक अन्त प्रकृति के वैचित्र्य-प्रदर्शन पर आधारित है तथा उनकी प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर है। उनमे नाटक से काव्यत्व तथा भावात्मकता दूर करने का प्रयास हो रहा है। उनकी अपेक्षा भारतीय नाटक, काव्य के अन्तर्गत होने के कारण रस पर ही अपनी दृष्टि रखता है। इसलिए उनका कथन है कि "मेरा नम्र निवेदन यह है कि पश्चिम मे चाहे जो रहा हो, हमे अपने दृश्य साहित्य को एकदम मगनी की वस्तु बनाने की आवश्यकता नही है। जिस देश मे दृश्य-काव्य का आविर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल मे हुआ हो उसके भीतर उसका स्वतन्त्र रूप मे नूतन विकास न हो सके, यह खेद की बात होगी।"[2] उनका विचार है कि हिन्दी मे वैसे तो भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो शैलियो के सम्मिश्रण से नाट्य-कला का विकास हो रहा है पर प्रसाद जी के नाटको मे स्वतन्त्र रूप मे प्राचीन दृश्य-काव्य के नूतन विकास के लक्षण दिखाई देते है।

श्याम सुन्दर दास :—

श्याम सुन्दर दास जी ने १९२५ ई० के 'समालोचक' मे तथा स० १९८२ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे नाट्य-कला पर अपने लेख प्रकाशित किए। इन्होंने स०

---

१ चिन्तामणि भाग २ (स० २००२), पृ० १७६।
२ वही, पृ० २५४-२५५।

१९७९ मे प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में गद्य-काव्य के अन्तर्गत, दृश्य-काव्य, रस और शैली का विवेचन प्रस्तुत किया। इस सब सामग्री को लेकर स० १९८८ में इन्होने तथा डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने 'रूपक-रहस्य' की रचना की, जिसमे रूपक का विकास, रूपक का परिचय, वस्तु का विन्यास, पात्रो का प्रयोग, वृत्तियो का विचार, रूपक की रचना, रूपक और उपन्यास, रसो का रहस्य तथा भारतीय रगशाला या प्रेक्षा-गृह, शीर्षको मे रूपक का विस्तृत विवेचन किया गया। यह ग्रन्थ भारतीय-साहित्यालोचन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमे लेखक के निजी विचारो की अभिव्यक्ति की अपेक्षा भारतीय रूपक-कला की विशद तथा विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ का मूलाधार 'दशरूपक' तथा उस पर की हुई धनिक की टीका है, पर अनेक स्थानो पर 'रसार्णव सुधाकर', 'साहित्य-दर्पण' तथा भरत के 'नाट्य-शास्त्र' का उपयोग किया गया है। सस्कृत नाट्य-शास्त्र का ऐसा विवेचन आलोच्य काल मे इस रूप मे फिर नही हुआ।

'साहित्यालोचन' मे पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो नाट्य-शास्त्रो के आधार पर वैज्ञानिक रूप मे दृश्य-काव्य का विवेचन हुआ है। भारतेन्दु के 'नाटक' तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'नाट्य-शास्त्र' मे केवल भारतीय-नाट्य-शास्त्र के स्वरूप की ही व्याख्या दी गई थी, केवल कही-कही पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक रचना पर विचार प्रकट किए गए थे और तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार प्राचीन नियमो मे सशोधन मात्र प्रस्तुत किए गए थे। इनमे पाश्चात्य-शास्त्र का भी कही-कही परिचयात्मक विवरण दिया था। किन्तु 'साहित्यालोचन' मे भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करके लेखक ने हिन्दी की प्रकृति, युग की समकालीन परिस्थिति तथा माग के अनुसार, उनमे से कुछ विशिष्ट भारतीय तथा पाश्चात्य नियमो को स्वीकार किया है तथा अपने निजी मौलिक विचार भी प्रकट किए है। इनका नाट्यालोचन पिछले विवेचनो से अधिक वैज्ञानिक तथा व्यापक है, इसलिए इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। इन्होने नाटको की उत्पत्ति, भारतीय नाटको की प्राचीनता, भारतीय तथा पाश्चात्य नाटको की तुलना, भेद तथा उद्देश्य, नाटको मे अभिनय तथा रंगशाला का महत्त्व, वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, काल तथा देश सकलन, पात्रो की भाषा, आदि विषयो पर अपने विचार प्रकट किए हैं।

श्यामसुन्दर दास जी ने नाटको की उत्पत्ति नट् धातु से मानी है, जिसका अर्थ वे धनजय के अनुसार सात्विक भावो का प्रदर्शन मानते हैं। उनका विचार है कि नाटको की उत्पत्ति कठपुतलियों के खेलो से हुई है। इस सम्बन्ध मे वे लिखते है कि "जान पडता है कि भारतवर्ष मे सबसे पहले कठपुतलियो का नाच प्रारम्भ हुआ था। उन पुतलियो को रगमच पर यथास्थान रखने तथा सजाने वाला स्थापक कहलाता था और जो व्यक्ति उन कठपुतलियो के धागे हाथ मे पकड कर उनको नचाता था, वह सूत्रधार कहलाता था। पीछे से इन्ही सूत्रधार और स्थापक ने मिल कर ऐसी योजना की कि कठपुतलियो के स्थान

पर नटो को रखा और नाटक के नाच गाने तथा सवाद आदि का कार्य उन नटो से लिया जाने लगा। परन्तु सूत्रधार और स्थापक वही कठपुतलियो के नाच वाले थे।"[1]

भारतीय नाटको की प्राचीनता के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि ईसा से चार-पाच सौ वर्ष पहले भारत मे नाट्य-कला की इतनी उन्नति हो चुकी थी कि उसके सम्बन्ध में अनेक लक्षण-ग्रन्थ वन गए थे। वे यूनानी-नाटको से भारत के नाटको को प्राचीन मानते है, क्योकि उनका विचार है कि यूनानी नाटको का प्रारम्भ वहा के महाकाव्यो तथा गीति-काव्यो से हुआ था और भारतीय नाटको का गद्य तथा गीति-काव्य से। वे कहते है कि साहित्य के इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, फिर गीतिकाव्य और उसके बाद महाकाव्य आते है, इसलिए भारतीय नाटक यूनानी नाटको से प्राचीन है।[2] उनका यह विचार प्रसाद जी आदि आलोचको को मान्य नही हुआ, क्योकि वे साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य का आना नहीं मानते। भारतीय नाटको पर यूनानी नाटको के किसी प्रकार के प्रभाव के न मानने के उनके यह कारण है कि इनसे कही पूर्व भारत में नाटक लिखे जाते थे तथा उनका प्रचलन था। भारतवासियो ने कभी अच्छी तरह यूनानी भाषा नही सीखी तथा भारतीय और यूनानी दोनो नाटको के तत्त्वो में आकाश-पाताल का अतर है, क्योकि यूनानी नाटको में केवल चरित्र-चित्रण की प्रधानता है तथा भारतीयो में प्राकृतिक शोभा का वर्णन, रसो की प्रधानता तथा रगमच की विशिष्टता है। वे भी हिन्दी नाटको की रचना भारतेन्दु के समय से ही मानते हैं, क्योकि इनसे पूर्व के नाटक या तो अनुवाद मात्र थे या केवल शुद्ध काव्य।

उन्होने भारतीय तथा पाश्चात्य नाटको का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे भारतीय नाटको की पहली विशेषता यह मानते है कि यह पाश्चात्य नाटको की भाति कभी दु.खान्त तथा सुखान्त के भेद में नही पडा। इसीलिए यह बहुत अश मे कृत्रिमता से बचा रहा। उनका कथन है कि "जीवन के आमोद-प्रमोद एक ही दृश्य में दिखाते हुए यहा के नाटककार मानो प्रकृति के सामने दपण लेकर खडे हो गए हो। रूपको के भिन्न भेदो पर दृष्टि डाले, तो पता चलेगा कि महाकाव्य के उदात्त पात्रो और घटनाओ मे लेकर साधारण और विकृत पात्रो के व्यग्य-चित्र तक नाटको में दिखाये जा सकते थे।"[3] वे मानते है कि विभिन्न भारतीय-रूपको तथा उपरूपको का क्षेत्र पाश्चात्य नाटको से कही विस्तृत है। इसमे पौराणिक अथवा एतिहासिक कथाओ से लेकर लौकिक तथा कवि-कल्पित तक के लिए स्थान है। कोई रूपक छोटा तथा कोई बडा हो सकता है। इसलिए उनका विचार है कि "भारतीय नाटको का कलापक्ष विशेष समुन्नत और पुष्ट है

---

१ 'रूपक-रहस्य' (स० १९८८) पृ० १८।
२ देखिए वही, पृ० २३।
३ 'साहित्यालोचन' (स० १९९९), पृ० १२५।

तथा हमारे नाट्य-शास्त्र मे एसी व्यवस्थाए की गई है कि जिनसे अधिकाधिक रमणीयता, स्वाभाविकता और जीवन-सम्बन्धी व्यापकता हमारे नाटको का अग बन सके ।"[१]

भारतीय तथा पाश्चात्य नाटक-रचना के भेदो के सम्बन्ध मे वे कहते हैं कि "यदि दोनो मे कोई मुख्य अन्तर है तो यह हैं कि पाश्चात्य विद्वानो ने सघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय की सीमा वहुत सकुचित कर दी है और हमारे यहा के आचार्यो ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है । हमारे विभाग और उनके विवेचन के अन्तर्गत उनके विभाग और उनका विवेचन सहज मे आ सकता हैं, पर उनके सकुचित विवेचन मे हमारे विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नही है ।"[२] आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारो ने सघर्ष या विरोध के आधार पर ही नाटक को पाच भागो में विभक्त किया है–(१) आरम्भ, (२) विकास, (३) चरम सीमा, (४) निगति या उतार, तथा (५) अन्त या समाप्ति । किन्तु भारतीय नाटक का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि प्राप्त करना होने के कारण इसके कथावस्तु के विभाग आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं । इसमें विरोध भाव को प्रधानता न देकर केवल उद्योग और सफलता का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है ।

वे भारतीय तथा पाश्चात्य नाटको के उद्देश्यो मे भी अन्तर मानते हैं । उनका विचार है कि हमारे यहां धर्म, अर्थ, काम मे तीन या एक या दो की सिद्धि आवश्यक मानी गई है तथा उस नाटक को निरर्थक समझा गया है, जिसमे इनमें से किसी एक की भी सिद्धि न हो । इन सिद्धियो से तात्पर्य मनुष्य की धार्मिकता, नीतिमत्ता के बढने तथा उसके आचरण के सुधरने और उसमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने की योग्यता के आने मे है । वे इन दोनो प्रकार के नाटको में यह विभिन्नता मानते है कि भारतीयों का उद्देश्य आदर्श चरित्र उपस्थित करना और यूरोप वालो का वास्तविक स्थिति का परिचय देना है अर्थात् भारतीय यह दिखाना चाहते हैं कि जीवन कैसा होना चाहिए और यूरोप वाले यह दिखाना चाहते हैं कि जीवन कैसा है । उद्देश्य की दृष्टि से वे भारतीय नाटको को उच्च कोटि का मानते हैं, क्योकि उनमें सबसे अधिक जोर जीवन की व्याख्या पर दिया जाता है और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श प्रस्तुत किए जाते हैं ।[३]

वे काव्य की उस विशेष दशा को रूपक कहते है, जिसमें लोक परलोक का तथा अघटित घटनाओ का दृश्य दिखाने का आयोजन होता है और इस कार्य के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है ।[४] इसमें अनुकृति की प्रधानता होती है तथा वह प्रत्यक्ष रूप में रहती है । उनके विचार से काव्य-कला के विभिन्न स्वरूपो से दृश्य-काव्य की यही मौलिक

---

१ साहित्यालोचन (सं० १९९९), पृ० १२६ ।

२. वही, पृ० १६१-१६२ ।

३. देखिए वही पृ० १५८ तथा देखिए 'रूपक-रहस्य' (स० १९८८), पृ० १५ ।

४ देखिए वही पृ० ११५ ।

विशेपता है कि इसमे अनुकरण का जैसा अमिश्र रूप प्रस्फुटित होता है वैसा किसी काव्य मे नही होता। इनकी रूपक की परिभाषा भारतेन्दु तथा द्विवेदी जी से अधिक पूर्ण है। इसमे अनुकरण के अवयव, रूप, हावभाव, वेश भूषा, बोल-चाल आदि का स्पष्ट उल्लेख है। वे रूपको की उत्पत्ति के मूल मे गीति-काव्य, आख्यान, कथोपकथन आदि तत्त्व मानते हैं, जो वैदिक काल मे उपस्थित थे। इसलिए उनका मत है कि भारत मे नाटक का सूत्रपात ऋग्वेद काल के कुछ ही पीछे हो गया था।[1] वे रूपक के तीन उपकरण मानते हैं, घटनाओ के साथ दृश्यो का आयोजन, अभिनय तथा अनुकरण।

वे मानते है कि नाटक की प्रगति रगमच और अभिनय की प्रगति पर अवलम्बित है। वे भारतीय नाट्य-कला की श्रेष्ठता का मुख्य कारण यहा की रंगशाला का उत्कृष्ट होना तथा अभिनय का पूर्ण होना मानते है। उनका विचार है कि अभिनय की जो सूक्ष्म और मार्मिक व्यवस्थाए यहा पुरातन काल मे थी, यूरोप मे सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दी मे भी नही थी। वहा शैक्सपीयर के समय तक नकाब-पोश पात्र रगमच पर आकर अपना बेढगा रूप दिखाते थे, परदा गिराने तथा चढाने का भद्दा ढग प्रचलित था, पर्दो की चित्रकारी कृत्रिम थी तथा थियेटर विशालकाय होता था। प्रत्येक पात्र कविता की भाषा बोलता था तथा गीति-काव्य तथा दृश्य-काव्य का भेद प्रकट नही था। इस प्रकार उन्होने प्राचीन पाश्चात्य नाटक से भारतीय नाटक की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

भारतेन्दु तथा द्विवेदी जी ने नाट्य-शास्त्र के आधार पर वस्तु, नेता तथा रस का ही विवेचन किया था और पाश्चात्य नाटक के तत्त्वो को उन्ही के अन्तर्गत समाहित कर लिया था, किन्तु इन्होने पाचात्य नाटक के पाच तत्त्वो, वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य का विवेचन करके भारतीय तत्त्वो से उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे मानते है कि कथोपकथन तथा देशकाल का समावेश तो भारतीय तत्व 'नायक' मे हो सकता है पर उद्देश्य पर अलग ध्यान देने की आवश्यकता है।[2]

वे मानते है कि नाटक की कथावस्तु मर्यादित तथा सक्षिप्त होनी चाहिए।[3] उन्होने कथा के दोनो भागो, दृश्य तथा सूच्य, आधिकारिक तथा प्रासगिक की परिभाषाए शास्त्रानुकूल दी है। वे भारतेन्दु के इस विचार से सहमत नही है कि गर्भांक का तात्पर्य दृश्य है। उनका विचार है कि अक के मध्यम मे आने वाले अक दृश्य को गर्भांक कहते है तथा इसका प्रयोग रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढाने के लिए होता है।

वे चरित्र-चित्रण को नाटक का सर्वप्रधान और स्थायी तत्त्व मानते है। उनका विचार है कि वह सक्षिप्त तथा अभिनयात्मक शैली का होना चाहिए तथा उसमे कथो-

---

१ देखिए 'रूपक-रहस्य' (स० १९८८), पृ० २।

२ देखिए वही, पृ० १३५।

३ देखिए वही, पृ० १३६।

पकथन और कथावस्तु का योग होना चाहिए। नायक-नायिका भेद का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करके उन्होंने 'दशरूपक' के अनुसार नायको के २२ गुणो का वर्णन किया है।

वे कथोपकथन को चरित्र-चित्रण का साधन मानते है। उनका विचार है कि पात्रो के भावो, विचारो और प्रवृत्तियो आदि के विकास और विरोध आदि का पता कथोपकथन से चलता है। वे इसका स्वाभाविक होना आवश्यक समझते है, जिससे प्रधान पात्रो के उन गुणो का स्पष्ट और शीघ्र ज्ञान हो जाय, जिन पर कथावस्तु आश्रित रहती है। वे आकाश-भाषित को भारतीय नाट्य-साहित्य की विशेषता मानते हैं तथा उसके प्रयोग को कभी-कभी रोचक तथा उपयोगी भी समझते हैं। वे प्राचीन भारतीय कथोपकथन के तीन भाग, नियत-श्राव्य, सर्व-श्राव्य तथा अश्राव्य मे से अश्राव्य को ही पाश्चात्य स्वगत-कथन मानते हैं तथा उसे अर्वाचीन आलोचको की भाति अस्वाभाविक समझते हैं।

उन्होने नाटको मे पाश्चात्य, वस्तु, काल तथा देश-सकलन का उतना ही ध्यान रखना अनिवार्य समझा है, जितने से कला के सौदर्य और उसकी उपयोगिता का नाश न हो सके। वे वस्तु-सकलन के अन्तर्गत मूल तथा प्रासगिक कथा के उचित सामजस्य का ध्यान रखना आवश्यक मानते है। काल-सकलन के लिए वे दो बातो का ध्यान रखना उचित समझते हैं, एक तो पहले होने वाली घटनाओ का उल्लेख पीछे होने वाली घटनाओ या दृश्यो के पीछे न हो तथा दूसरे, दो घटनाओ के बीच मे जो समय वास्तव मे बीता हो उस पर दर्शक का ध्यान न जाय। उनका विचार है कि भारतीय रूपको के विभिन्न प्रकारो मे काल-सकलन का ध्यान बहुत अधिक और अच्छे ढग से रखा जाता था, जैसे व्यायोग मे, एक दिन का चरित्र, समवकार मे पहले अक मे १२ घडियो का चरित्र, दूसरे मे चार तथा तीसरे मे दो घडियो का चरित्र होता था। उनका विचार है कि स्थल-सकलन की व्यवस्था कला की दृष्टि से दूषित और अस्वाभाविक होने के कारण ही उसका भारतीय नाट्य-शास्त्र मे कोई स्थान नही है।[1] यूनान मे तो रगशाला का दृश्य आदि से अन्त तक एक रहता था। उनमे अक तथा गर्भाक होते थे, इसलिए नाटक के बीच-बीच मे गाना गाने वालो के द्वारा विश्राम हो जाता था। उनके नाटको की रचना भी सादी होती थी, इसलिए स्थल के दृश्य परिवर्तन की विशेष आवश्यकता नही होती थी। उनका विचार है कि प्राचीनो के भाषा सम्बन्धी नियम भाषा मे वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए थे, किन्तु आगे के नाटक-कारो ने बोलचाल की भाषा मे कैसे परिवर्तन हो गया, इसका ध्यान न रख कर उसी पुरानी पद्धति का अनुसरण किया है।

जयशकर प्रसाद :—

प्रसाद जी ने नाटको की उत्पत्ति तथा प्राचीनता, रगमच, मत्तवारणी, यवनिका, अभिनय, आधुनिक नाटको का स्वरूप, नाटको की भाषा आदि विषयो पर अपने विचार

---

१ देखिए 'साहित्यालोचन' (१९९९), पृ० १५९।

प्रकट किए है। उनका विचार है कि भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही नृत्य और अभिनय से पूर्ण नाटक और गीति-नाट्य प्रचलित थे तथा वैदिक, बौद्ध, रामायण और महाभारत काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था।[1] वे राग-काव्यों को आधुनिक गीति नाट्यों का पूर्व रूप मानते हैं। उन्होंने श्यामसुन्दर दास की दो धारणाओं का विरोध किया है। वे उनके समान यह नहीं मानते कि साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, फिर गीति-काव्य तथा इसके पीछे महाकाव्य आते है। उनका विचार है कि लौकिक साहित्य में तो पहले पहल पद्य का ही प्रयोग हुआ था किन्तु वैदिक साहित्य में भी पहले पहल ऋचाए लिखी गई थी। इस प्रकार वे गद्य तथा गीति-काव्य को महाकाव्य से बाद का मानते हैं। उन्होंने नाटकों को रामायण तथा महाभारत से भी प्राचीन माना है, क्योंकि उनके विचार से रामायण मे भी नाटकों का उल्लेख मिलता है। वे नाटको के विकास के बीज वैदिक-काल में मानते हैं, क्योंकि इस काल में बडे-बडे यज्ञो के अवसर पर अभिनय हुआ करता था। उनका विचार है कि नाट्य के साथ नृत्य, नृत, ताण्डव, लास्य आदि की योजना ने अति प्राचीन काल मे ही अभिनय को सम्पूर्ण बना दिया था तथा बौद्ध काल में भी नाटक, भारत मे प्रचलित थे। वे उनकी इस धारणा को भी नही मानते कि नाटको का आरम्भ कठपुतलियों से हुआ है तथा छाया-नाटक नाटकों के प्रारम्भिक रूप थे।[2] उन्होंने उनका सूत्रधार शब्द का अर्थ ग्रहण न करके उसका यह लाक्षणिक अर्थ माना है कि जिसमे अनेक वस्तु ग्रथित हो और जो सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते हैं। वे मानते हैं कि कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानो का जो ठीक-ठीक सचालन करता हो वह सूत्रधार आज-कल के डायरेक्टर ही की तरह होता था।

हिन्दी के नाट्यालोचन मे रगमच का वर्णन शास्त्रानुकूल तथा सक्षेप में होता रहा था तथा हिन्दी के आधुनिक रगमच से उसकी तुलना करके उसके अभावो का निर्देश भी प्राय किया गया था। प्रसाद जी ने इस विषय में सर्वप्रथम कुछ मौलिक विचारो क प्रतिपादन किया है। रगमच के निर्माण का निर्देश करते हुए वे मत्तवारणी के सम्बन्ध मे कहते हैं कि "यह रग पीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खमो से रुकावट के लिए बनाई ज ी थी। मत्तवारणी शब्द से ही यही अर्थ निकलता है कि यह मतवालों का वारण करे। यह डेढ हाथ ऊची रगपीठ के अगले भाग मे लगा दी जाती थी।"[3] प्राचीन काल में मत्तवारणी के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार के अर्थ लगाए गए थे। प्राचीन रगमच के सम्बन्ध में उनका विचार है कि वह इतना पूर्ण तथा विस्तृत था कि उसमे सब प्रकार के दृश्य दिखाए जा सकते थे। इसी प्रकार उन्होने यवनिका द्वारा फैला हुआ यह भ्रम भी दूर किया कि यवनिका, यवनो या ग्रीकों से नाटको मे ली गई है। उन्होंने इस शब्द का शुद्ध रूप जवनिका माना है, जिसका अर्थ वह पट है, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। इसी प्रकार वे अन्य पटों, काण्ड-पट, प्रतिशीरा और तिरस्करिणी को भी साभिप्राय मानते

१ देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० ९६।

२ देखिए वही, पृ० ९५।

३ वही, पृ० १०१।

है। वे अपटीक्षेप उन स्थानो पर मानते हैं, जहा सहसा पात्र उपस्थित हो जाता था।

उनका विचार है कि अति प्राचीन काल मे भारतीय नाटको मे स्त्रिया नाटको को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी जाती थी। इनको अप्सरा, रगोपजीवना आदि कहते थे। ये रगमच पर गाना गाती थी तथा पढ़ने की वस्तु का प्रयोग पुरुष करते थे। वे मानते है कि नाटक के अभिनय मे दो विधान माननीय थे, एक लोकधर्मी तथा दूसरा नाट्य-धर्मी। लोकधर्मी अभिनय मे कृत्रिमता तथा स्वाभाविकता अधिक रहती थी तथा नाट्य-धर्मी अभिनयो मे अतिसत्व क्रियाए, असाधारण कर्म, अतिभाषित, लोक-प्रसिद्ध द्रव्यो का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान अदि का प्रदर्शन और ललित अगहार आदि का प्रयोग होता था। स्वगतकथन, आकाश भाषित इत्यादि अस्वाभाविक बातो का समावेश भी नाट्यधर्मी अभिनय मे होता था। रगमच मे नटो के गति-प्रचार (मूवमेट), वस्तु निवेदन (डिलीवरी), सभाषण (स्पीच) इत्यादि पर भी सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता है।

प्रसाद जी रगमच तथा नाटक मे से नाटक को अधिक महत्त्व देते है। उनके विचार से रगमच का स्थान गौण है, क्योकि वह नाटक के अनुसार अपना विस्तार करता है। वे मानते है कि जो नाटककार रगमच का ध्यान करके नाटक लिखते है, वे अपनी सीमा बना कर काय करते है तथा उनकी मौलिकता पर प्रतिबन्ध लग जाता है। उनका कथन है कि "काव्यो की सुविधा जुटाना रगमच का काम है, क्योकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायो से नही प्रदर्शित किये जा सकते और रगमच ने सुविधानुसार काव्यो के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप परिवर्तन किया है।"[1] वे यही चाहते है कि जैसे काव्यो के अनुसार प्राचीन रगमच विकसित हुए और रगमचो की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नही हुए, उसी प्रकार से हिन्दी मे भी होना चाहिए।

वे आधुनिक नाटको तथा रगमच को प्राचीन परम्परा का ही विकसित रूप मानते है। उनका विचार है कि प्राचीन रूपको के विभिन्न प्रकार ही समय के प्रभाव से आज रूप बदल कर प्रचलित हो रहे है जैसे भाडो की परिहास की अधिकता, सरकृत, भाण, मुकुन्दानन्द और रस सदन आदि की परम्परा मे हैं और नाटक या नौटकी प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की शेष स्मृतिया है। वे चाहते है कि भारतेन्दु ने रगमच की अव्यवस्थाओ को देख कर जिस हिन्दी रगमंच की स्वतन्त्र स्थापना की थी, उसकी स्वतन्त्र चेतना को सजीव रख कर रगमच की रक्षा करनी चाहिए। वे केवल नई पाश्चात्य प्रेरणाओ को ही पथ-प्रदर्शक बनाने के पक्ष मे नही है।

वे इस बात का विरोध करते हैं कि वर्तमान रगमच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल और वास्तविक होनी चाहिए। उनका मत है कि वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ 'इब्सनिज्म' है, जिसके आधार पर व्यक्ति-वैचित्र्य का समर्थन होता है। वे प्रभाव का असम्बद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक मानते हैं। इसलिए वे भाषा

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० १११।

की सरलता को आवश्यक नही समझते है। वे कहते है कि "मैं तो कहूगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रो के भावो और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रो के भावो और विचारो के आधार पर भाषा का प्रयोग नाटको मे होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचडी भाषाओ का प्रयोग हिन्दी नाटको के लिए ठीक नही है। पात्रो की सस्कृति के अनुसार उनके भावो और विचारो मे तारतम्य होना भाषाओ के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[1] वे इस विचार को नही मानते कि भिन्न-भिन्न पात्रो से उनकी अपनी भिन्न-भिन्न भाषा का प्रयोग कराना चाहिए।

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—

मिश्र जी ने 'वाङ्मय विमर्श' तथा 'हिन्दी नाटक साहित्य का विकास' नामक पुस्तको मे नाटक का विवेचन गद्य के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि काव्य के दो भेदो, दृश्य तथा श्रव्य का वर्गीकरण—इन्द्रियो की मध्यस्थता के विचार से किया गया है। उन्होने प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर भारतीय-नाटक के तीन तत्त्व, कथावस्तु, नेता तथा रस का विवेचन सक्षेप मे व्याख्यात्मक-पद्धति से किया है। प्राय. पिछले सभी वर्णनो से इनका वर्णन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक तथा पूर्ण है।

उन्होने कथावस्तु के भेदो का वर्णन इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और सवाद के आधार पर किया है, जैसे इतिवृत्त के अनुसार, प्रख्यात, कल्पित और मिश्रित, अधिकारी की दृष्टि से, वाच्य और सूच्य, सवाद के विचार से सर्वश्राव्य, नियत श्राव्य और अश्राव्य। आज के युग मे वे भी नियत-श्राव्य तथा आकाश-भाषित की योजना को कृत्रिम मानते हैं। उनका विचार है कि जो आधुनिक नाटककार कथा-वस्तु का आधुनिक ढग से विधान नही करते, उनकी रचनाओ मे अवस्थाए, अर्थ-प्रकृतिया तथा सधिया आदि अस्थानस्थ हो जाती है। उनका विचार है कि प्राचीन काल मे अन्त पटी का प्रयोग नही होता था, इसलिए सूच्य आदि का प्रयोग होता था पर अब अको को दृश्यो मे विभक्त करने के कारण बहुत सी प्राचीन विधिया त्यागी जा रही हैं। भारतीय नाटको मे दिए गए वर्जित दृश्यो के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "नाटक की मूल कथा, जिन दृश्यो के कारण रुकती हुई मालूम पडती है या जिनसे सामाजिको के हृदय मे उद्वेग उत्पन्न हो वैसे दृश्यो का वर्जन किया गया है।"[2] आवश्यक वध इत्यादि को लक्षणकारो ने भी त्याज्य नही माना है।

उनका विचार है कि प्राचीन नाटको मे नायक-नायिकाओ का विचार तथा उनका भेद-वर्णन वर्ण्य-विषय का विस्तार करने के लिए नही केवल अनुकार्यो का स्वरूप समझाने

---

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (स० १९९६), पृ० ११९।
२ 'वाङ्मय विमर्श' (तृतीय सस्करण), स० २००७, पृ० ८५।

के लिए होता था, इसलिए इनके बधे-बधाए साचे थे। इनकी अपेक्षा आधुनिक नाटको मे पाश्चात्य नाटको के अनुसार शील-निदर्शन, जो व्यक्ति-वैचित्र्य पर आधारित है, मुख्य समझा जाता है।

उन्होने नाटको के विषय, शैली तथा रगमच के अनुसार भेद किए है, विषय के अनुसार, ऐतिहासिक तथा सामाजिक, शैली के अनुसार प्राचीन-पद्धति-प्रधान तथा नवीन-पद्धति-प्रधान तथा रगमच की दृष्टि से रगमचानुरूप तथा पाठ्य-नाटक। ऐतिहासिक के भी उन्होंने दो भेद किए हैं, सस्कृत शैली पर लिखे गए रस-प्रधान तथा आधुनिक-शैली पर लिखे गए शील-वैचित्र्य-प्रधान नाटक। मिश्र जी के नाटको के भेद इनके मौलिक चिन्तन का फल है, किन्तु रगमच के आधार पर नाटको का भेद अनावश्यक है। प्रसाद जी ने तो प्रत्येक नाटक को ही अभिनय के योग्य माना है।

व्रजरत्न दास :—

व्रजरत्न दास ने 'हिन्दी नाट्य साहित्य' के प्रथम प्रकरण मे नाटक-सम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति की है। वे नाटको के आरम्भ, स्वरूप, उनके विकास के काल-विभाजन तथा उनके पात्रो की भाषा पर अपने विचार प्रकट करते है। वे भारतीय नाटक का आरम्भ ढाई सहस्र तथा उससे भी अधिक वर्षो से मानते है। उनका विचार है कि ये बीज रूप मे वैदिक काल मे भी थे तथा पौराणिक काल मे इनका विकास होने लगा था।[1] वे भारतीय नाटको को यूनानी नाटको से पहले की वस्तु मानते है। उन्होने महाकाव्यो को नाटको का पूर्ववर्ती माना है, क्योकि उनमे कविता का अश सदैव प्रचुर रहा है। उनका विचार है कि "पहले काव्य श्रव्य थे तथा उनमे गद्य का मिश्रण करके दृश्य बनाने का उपाय ही नाटको का विकास कहा जा सकता है।"[2] उनका विचार तर्कपूर्ण नही है। नाटको में कविता का अश प्रचुर रूप मे होने का यह तात्पर्य नही है कि दृश्य-काव्य से पूर्व केवल श्रव्य-काव्य ही रचे जाते रहे होगे। यह भी किसी प्रकार से आवश्यक नही माना जा सकता कि गद्य के मिश्रण से ही नाटको का उत्तरोत्तर विकास हुआ होगा, क्योकि सस्कृत के प्रारम्भिक नाटककारो की ख्याति, गद्य के समावेश के कारण नही है, वरन् काव्य से ही है।

वे हिन्दी के नाट्य-साहित्य को तीन कालो मे विभाजित करते है, पूर्व भारतेन्दु काल (स० १ से १९००), भारतेन्दुकाल (स० १९०१–१९५०) तथा वर्तमान काल (स० १९५० से वर्तमान समय तक)। नाटको को प्रधानत गद्य-ग्रन्थ मानने के कारण वे हिन्दी नाटको को पूरी एक शताब्दी पुराना भी नही मानते, क्योकि गद्य का प्रादुर्भाव हुए अभी एक पूरी शताब्दी भी नही बीती है। हिन्दी मे नाटको के अभाव का एक कारण वे यहा अभिनयशालाओ का अभाव मानते है।

वे नट् क्रिया का अर्थ नृत्य या अभिनय करना मानते है। उन्होने उसका वास्तविक अर्थ अभिनय लिया है, पर उसका कुछ आधार नही दिया है, केवल सगति मिलाने के लिए

---

१ 'हिन्दी नाट्य साहित्य' (स० १९९५), पृ० ४–५।

२. वही, पृ० ९।

ऐसा किया है। उनका विचार है कि चूँकि नाटक मे पहले नृत्य होता था, इसलिए यह नाम-करण चला आ रहा है। उनकी रूपक की परिभाषा यह है "नट गण अर्थात् अभिनेतागण दूसरो का रूप धारण कर अपने को नए रूप देकर ही जिस रचना के आधार पर अभिनय करते है, उसी को रूपक कहते है।"[1] उनका विचार है कि यवनिका का नाम यूनानी-वस्त्र से बनने के कारण पडा। यह पट, रगमच तथा नेपथ्य के बीच मे पडा रहता था। वे इसका यूनानी नाटको से कोई सम्बन्ध नही मानते।

नाटक की भाषा के सम्बन्ध मे उनका प्राचीन आचार्यो से मतभेद है। वे भी सारे नाटक मे एक ही भाषा का प्रयोग उचित समझते है।[2] उनका विचार है कि भाषा पात्रो के अनुकूल होनी चाहिए। वे मानते है कि प्राचीन रगमच आजकल के थियेटर के समान ही थे, प्राचीन समय में पूर्व रग के कृत्यों की ओर प्राचीनो ने विशेष ध्यान नही दिया था तथा अभिनेता अपनी रुचि के अनुसार इन कृत्यो को करने मे स्वतन्त्र थे।

रामशकर शुक्ल 'रसाल'—

'रसाल' जी ने अपने ग्रन्थ 'नाट्य-निर्णय' मे नाटक-रचना के प्राचीन नियमो का विवरण दिया है तथा नाटकों की उत्पत्ति, विकास, प्राचीनता, रूपक की परिभाषा, नाटकों के विकास का काल-विभाजन, नाटको का अभिनय आदि विषयों का विवेचन किया है। वे नाटक का जन्म मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति से तथा उसका विकास, कलाकौशल-प्रिय प्रवृत्ति से मानते है। उन्होने नाट्य-शास्त्र के दो प्रमुख भाग, नाट्य-कला अथवा नाट्य-विज्ञान तथा रूपक-कला अथवा रूपक-शास्त्र माने है। इनमे नाट्य-कला शारीरिक-अगो का विषय होकर, प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) या कार्य-रूप है तथा नाट्य-शास्त्र मानसिक तथा सैद्धान्तिक रूप है।

वे भी रूपक का परम्परागत अर्थ मे मुख्य कार्य रूप धारण करना ही मानते है। उनकी नाटक की यह परिभाषा है कि "मनोरजनार्थ अनुकरण या नकल करने के उन्नत, परिष्कृत एव सौख्यपूर्ण शिष्ट रूप को, जिसमें सुन्दर आगिक अनुकरण के, जिसे अभिनय कहते है साथ ही साथ मानसिक एव चारित्र्यादि के अनुकरणो का भी अच्छा प्राधान्य रहता है, नाटक कहा जाता है।"[3] वे सगीत या नृत्य को नाटक का मूल कारण मानते है क्योंकि नाटक शब्द का मूल अर्थ नाचना है। इसीलिए वे नाटको मे अभिनय की अपेक्षा नृत्य एव नृत्त का एक बहुत बडा भाग मानते है।

वे भी नाटको की प्राचीनता वेदो से मानते है। उनका विचार है कि भारत मे नाट्य-कला का विकास यूनान से पूर्व हो गया था तथा उस पर यूनानी नाटको का प्रभाव नही है, क्योंकि ग्रीक नाटको से उसमे मौलिक भेद है। उनका विचार है कि

---

१ देखिए 'हिन्दी नाट्य साहित्य' पृ० २६।

२ देखिए वही, पृ० ४१।

३ नाट्य-निर्णय (सन १९३०), भूमिका पृ० ३।

पाणिनि के समय से उन पर लक्षण-ग्रन्थ भी तैयार होने लगे थे तथा शिलालिन और कृशाग्वाचार्य के समय में ही उसमें नृत्य एव सगीत, पात्र, सवाद, भाव, वेश-भूषा आदि तत्त्वो का समाहार हो गया था। वे भी श्यामसुन्दरदास जी की भाति पुत्तली-कौतुक, नाटक के खेल का प्राचीन एव प्रारम्भिक रूप मानते है। उनका विचार है कि यह खेल भारत से ही यूनान मे पहुचा था। उन्होने नाट्य-वेद की बात को किवदन्ती मात्र माना है तथा उसका यह अर्थ लिया है कि मूल-तत्त्व प्राय वेदो से लिए गए होगे।

उन्होने नाटक के विकास को तीन भागो मे विभक्त किया है। प्रारम्भिक रूप में व्यक्ति की लीलाओ या घटनाओं को चित्रो या मूर्त्तियो द्वारा प्रकट किया जाता था या कठपुतलियो आदि के द्वारा मानव-व्यापारो का अभिनय या अनुकरण होता था या स्वाग बनाकर किसी व्यक्ति की वेश-भूषा का अनुकरण होता था। दूसरे विकसित रूप मे केवल रूप धारण करके जीवन-कथा का पाठ होता था या रूपादि के अनुकरण के अतिरिक्त अन्य बातो का भी अनुकरण करते हुए पूर्ण अभिनय होता था तथा तीसरे वर्तमान रूप में सब प्रकार की स्वाभाविकता, सत्यता एव प्रत्यक्षता का पुट देते हुए इन्ही का परिष्कृत रूप मे अभिनय होता है।[1] इस प्रकार उनका नाटको के क्रमागत विकास का वर्णन अन्य आलोचको से अधिक तर्कसगत तथा पूर्ण है। उन्होने अभिनय प्रधान नाटको के विकास का विभाजन भी चार प्रकार से किया है। प्रथम मे धार्मिक उत्सवो मे देवादि के प्रसन्न करने के लिए नृत्य एव सगीत के साथ अभिनय होता था। द्वितीय में देवताओ के अतिरिक्त वीरो और प्राचीन महापुरुषो की स्मृति तथा उनके आदर्शों की शिक्षा के प्रचार के लिए अभिनय होता था तथा तृतीय (वर्तमान) काल मे दृश्यादि से सुसज्जित रगशाला मे पूर्ण विकसित एव परिष्कृत रूप से वार्तालापादि के साथ अभिनय होता है तथा चौथे वैज्ञानिक नाटक-चित्रण मे प्रगतिशील चित्रो द्वारा सस्वर मत्रो के साथ नाटक किया जाता हे।

वे विचारो के आधार पर उत्तम, मध्यम तथा अधम, नाटकीय वस्तु के आधार पर कल्पित, ऐतिहासिक, वास्तविक तथा मिश्रित, नाटक के उद्देश्यो के आधार पर, आदर्शात्मक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक, स्वाभाविक, तथा शैली की दृष्टि से सगीतात्मक, पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा मिश्रित नाटक मानते है। उनका नाटको का एक अन्य वर्गीकरण, शुद्ध साहित्यिक, साधारण रूपान्तरित तथा नाटकाभास नामक भी है। वे नाटक के दो प्रकार मानते है, एक तो साहित्यिक, जो काव्य के रूप मे रचे जाते थे तथा जो रगमच पर नही खेले जाते थे तथा दूसरे शुद्ध नाटक जो साधारण भाषा में लिखे जाते थे तथा रगमच पर खेले जाते थे।

उनका विचार हैं कि भारतीय नाटको मे अभिनयात्मक सकेत प्राचीन काल मे प्रचुरता से थे। ये दो प्रकार के होते थे, एक तो नाट्य-कला-कौशल-सम्बन्धी तथा दूसरे

---

१ देखिए 'नाट्य-निर्णय' (सन १९३०) पृ० २९-३०।

नाटक-रचना-सम्बन्धी। ये संकेत चार प्रकार के थे, वेश-भूषा एव बाह्य उपकरणो से सम्बन्ध रखने वाले, भावनाओ के संकेत, कथनादि के सर्वश्राव्य, स्वगत आदि संकेत तथा दृश्यादि सम्बन्धी विशिष्ट बातो के सूचक संकेत। उनका विचार है कि पाश्चात्य नाटककारो के कथावस्तु के साथ-साथ इन संकेतो को रखने से वे एक प्रकार से नाटकोपन्यास से लगते है।[1]

सेठ गोविन्द दास:—

सेठ जी ने अपने 'तीन नाटक' नामक ग्रन्थ के प्राक्कथन के रूप मे जो नाट्य-कला का विवेचन किया है, उसे उन्होंने स० १९९२ मे नाट्य-कला मीमासा के नाम से प्रकाशित किया है। इसमे उन्होने दृश्य-काव्य के महत्त्व, नाटक के स्वरूप, उद्देश्य तथा उसकी भाषा पर अपने विचार प्रकट किए है। वे दृश्य-काव्य को काव्य-कला मे सर्वोच्च स्थान देते है, क्योकि यह कानो तथा आंखो द्वारा ही आनन्द नही देता वरन् इसके द्वारा पाचो ललित-कलाओं का भी एकत्रित आनन्द प्राप्त हो जाता है। इनका भी भारतेन्दु के समान यह विचार है कि कोई नाटककार केवल प्राचीन भारतीय पद्धति का आश्रय लेकर नाटक-रचना करने पर पूर्णतया सफल नही हो सकता।[2] वे भरत तथा अरस्तू के मूल सिद्धान्तो मे विशेष अन्तर नही मानते क्योकि अरस्तू ने भी भरत की भाति, प्लाट (वस्तु), हीरो (नेताओं) तथा इमोशन (रस) को प्रधानता दी है। इसीलिए वे नाटककारो के लिए भारतीय तथा यूनानी दोनो नाट्य-पद्धतियो का ज्ञान आवश्यक समझते हैं।

उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी नाटककारो के सैद्धान्तिक विवेचन का संक्षिप्त विकास देकर आधुनिक तथा प्राचीन, पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानो के मतो के सम्मिश्रण से अपना नाट्य-विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि नाटक मे सर्वप्रथम किसी विचार की आवश्यकता होती है। विचार का अर्थ वे जीवन की कोई समस्या मानते है, जिसके विकास के लिए वे संघर्ष होना अनिवार्य समझते है। उनका विचार है कि प्लाट की सृष्टि, विचार और संघर्ष की सम्बद्धता तथा मनोरंजकता के लिए होती है।[3] वे नाटक की उत्तमता और सफलता के लिए सारे नाटक पर एकता (यूनिवर्सेलिटी) की स्थापना आवश्यक समझते है, जो नेता की प्रधानता, दैवी पात्रो के समावेश, पताका या प्रकरी के सम्मिश्रण तथा प्राकृतिक वर्णन मे से किसी उपाय के द्वारा प्रतिपादित हो सकती है।

उनका विचार है कि नाटक का आरम्भ संघर्ष मे तथा अन्त चरम सीमा पर या उपसंहार के अनन्तर होना ठीक है। वे मानते है कि रंगमंच पर तो घटना-प्रधान या

---

१ देखिए 'नाट्य-निर्णय' (सन् १९३०), पृ० १०७।

२ देखिए 'नाट्य-कला मीमांसा' (स० १९९२), प्र महाकोशल साहित्य मंदिर, पृ० १४।

३ देखिए वही, पृ० १५।

वस्तु-प्रधान नाटक सफल होते है पर पढते समय भाव-प्रधान नाटक ही अधिक सफल हो सकते है। वे उत्तम-नाटक-रचना के साधन, जीवन सम्बन्धी समस्याओ का मनन, मनोविज्ञान का ज्ञान, ससार का अनुभव, लेखक की प्रतिभा तथा स्वाभाविकता का समावेश मानते है तथा स्वाभाविकता के लिए नियत-श्राव्य को तो पूर्णतया बाधक समझते हैं किन्तु स्वगत-कथन को किन्ही स्थलो पर उपयोगी समझते हैं। वे इब्सन की भाति स्वाभाविकता के लिए पद्य, कविता और नृत्य का सर्वथा बहिष्कार आवश्यक नही समझते, क्योकि कुछ पात्रो को गाने का प्रेम होना स्वाभाविक है। किन्तु यह गाना, गाने-योग्य स्वाभाविक अवसर पर ही होना चाहिए। इसी प्रकार वे नाटक मे कविता आदि का प्रयोग भी उद्धरण आदि के रूप मे तथा नृत्य का समावेश सभाओ, प्रीतिभोज आदि के अवसरो पर उचित मानते है। वे लम्बे भाषणो का प्रयोग भी सर्वथा अनुचित नही मानते, क्योकि कुछ स्थलो पर वे उपयुक्त भी हो सकते है। इसी प्रकार उन्होने नाटको मे तीन अक होने की प्रथा को मान्यता नही दी है। वे नाटको मे अधिक पात्रो का समावेश भी नाटक की स्वाभाविकता के लिए घातक समझते है। वे यह भी मानते है कि नाटको मे नियमबद्धता तथा स्वाभाविकता के पीछे इतना नही पडना चाहिए कि नाटक का रस ही भग हो जाए।

वे डा० ए० निकोल की भाति मनोरजन की दृष्टि से नाटक का साहित्य मे बहुत ऊचा स्थान मानते है, किन्तु यह भी आवश्यक समझते है कि नाटक को मनोरजन देने के साथ-साथ सिद्धान्तो का प्रदर्शन करना भी आवश्यक है। उन्होने दु खान्त नाटको मे भी हास्य रस का समावेश उचित समझा है। वे मानते है कि असाधारण या विकृत रूप, वेश, सकेत, चरित्र से साधारण कोटि का हास्य तथा असाधारण या विकृत परिस्थिति, शब्द और वाक्य से उच्चकोटि का हास्य उत्पन्न होता है। उन्होने नाटक मे व्यग्य के तीन भेद, सैटायर, विट, ह्यूमर, का भी प्रयोग आवश्यक समझा है।

उनका विचार है कि नाटको मे हिन्दी-भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओ जैसे अग्रेजी तथा उर्दू के शब्दो का प्रयोग, स्वाभाविक रूप मे हो सकता है तथा उनमे मुसलमान पात्र उर्दू-मिश्रित हिन्दी तथा हिन्दू सरल हिन्दी बोल सकते है। वे साहित्यिक पाठ्य-नाटको से अभिनेय-नाटको को उत्तम समझते है। उनका विचार है कि रगमच पर अभिनय मे प्रवेश तथा प्रस्थान का प्रयोग उचित है। वे नाटको मे दृश्यो की भी कोई निर्धारित सख्या होना उचित नही मानते।

डा० रामकुमार वर्मा:—

वर्मा जी ने 'साहित्य समालोचना' मे नाट्यालोचन सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए है। उनका विचार है कि नाटक के तत्त्व वेदो मे वर्तमान थे तथा प्राचीन काल मे यह एक धार्मिक सस्थान के रूप मे माना जाता था। वे नाटक मे केवल कथा को ही महत्त्व नही देते वरन् कुतूहल-वर्द्धक घटनाओ और पात्रो की अनेकता को भी आवश्यक समझते है। वे नाटको का अटूट सबन्ध रगमच तथा अभिनय से मानते है।[1] उनका विचार है कि मच

---

१ देखिए 'साहित्य समालोचना' (१९४२), पृ० ९७।

की अवलहेना करने वाले निरे साहित्यिक नाटको से हिन्दी का नाट्य-क्षत्र गौरवान्वित नही हो सकता। वे हिन्दी नाटको मे रगमच सम्बन्धी सकेतो के अभाव, स्वगत कथन के बाहुल्य तथा केवल साहित्यिकता के समावेश को उचित नही मानते।

गुलाब राय—

गुलाव राय जी ने 'हिन्दी नाट्य विमर्श' मे नाटक की परिभाषा, मूल, स्वरूप महत्त्व, उत्पत्ति, विकास तथा उसके विभिन्न तत्त्वो का विवेचन किया है। उन्होंने नाटको के वर्गीकरण तथा सुखान्त और दुखान्त नाटको पर भी अपने विचार प्रकट किए है। वे नाटक को गद्य-पद्य के बीच की वस्तु मानते है।[1] वे उसे नाटक कहते हैं, जिसमे शब्दो के अतिरिक्त पात्रो की वेशभूषा, उनकी आकृति और भाव-भगी तथा क्रियाओ के अनुकरण और भावो के अभिनय द्वारा दर्शको को भावयुक्त किया जाता है।[2] वे नाटक को जीवन की सजीव अनुकृति मानते है। उनका विचार है कि नाटक एक कला है तथा उसमे चुनाव और प्रभावोत्पादन के कार्य का विशेष महत्त्व है। वे 'दशरूपक' के आधार पर नाटक को अवस्थाओ की अनुकृति मानते है तथा 'साहित्य दर्पण' के अनुसार उसमे अनुकार्यो का नटो पर आरोप मानते हैं। उन्होंने उनमें लोक-हित तथा लोक-रजन की क्षमता मानी है। उनका विचार है कि स्थापत्य, चित्रकला, सगीत, नृत्य, काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, वेशभूषा की सजावट, कपडो का रगना आदि शास्त्रो तथा कलाओ का आश्रय लेने के कारण यह महत्त्वपूर्ण होता है। इनका यह विचार भरत से मिलता है, जो नाटक में सारे योग, कर्म-शास्त्र तथा कार्यो का समावेश मानते है।[3]

वे नाटको के मूल में अनुकरण, पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार, जाति की रक्षा तथा आत्माभिव्यक्ति नामक मनोवृत्तिया मानते हैं। नाटको के उदय के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि "भारतीय नाटको का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरो पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यो से हुआ है तथा पीछे से रामायण, महाभारत काव्य और इतिहास ग्रन्थो से पर्याप्त सामग्री प्राप्त करने से वह पूर्ण रूप मे आ गया है।"[4] उनका भी यह विचार है कि इस देश के नाटक का सम्बन्ध जातीय जीवन से रहने के कारण इस पर यूनानी नाटको का प्रभाव नही पडा है। वे यूनानी तथा भारतीय नाटको की मौलिक विशेषताओ की विभिन्नताए मानते है।[5]

वे नाटक के लिए वस्तु, पात्र, अभिनय और उद्देश्य आदि तत्त्वो को आवश्यक समझते है। उनका विचार है कि यूरोपीय नाटक के तत्त्वो का समाहार, भारतीय तत्त्वो

१ देखिए 'हिन्दी नाट्य विमर्श' (सन् १९४०), पृ० ४।
२ देखिए वही, पृ० ४।
३ देखिए वही, पृ० ४।
४ देखिए वही, पृ० ११।
५ देखिए वही, पृ० २६।

वस्तु, नेता या पात्र, रस और अभिनय से हो जाता है। उन्होंने वस्तु की व्याख्या भरत तथा धनञ्जय के आधार पर की है। वे भारतीय समीक्षा शास्त्र की पाच अवस्थाओ तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन की अवस्थाओ का मूल भेद सघर्ष मानते हैं। उनका विचार है कि "यूरोपियन-नाटक-रचना मे सघर्ष की मुख्यता रहती है। वहा सघर्ष, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य, नाटक की जान माना जाता है। यहा यह फल-सिद्धि में एक बाधा के रूप मे स्वीकार किया जाता है। सस्कृत-नाटको की कथा-वस्तु मे सघर्ष को अनुमेय रखा है स्पष्ट नही किया। हमारे यहा फल भी निश्चित सा ही रहता था वह था नेता की अभीष्ट सिद्धि।"[१] उनका विचार है कि सस्कृत नाटको मे पात्र प्राय एक बधे हुए केडे के होते थे, किन्तु तब भी उनमे व्यक्तित्व रहता था। वे दु खान्त नाटको के सम्बन्ध मे यह मानते है कि इन नाटको मे दु ख आनन्द मे बाधक नही, वरन् सहायक होता है। दुःखान्त नाटको का मूल अर्थ गम्भीरता-प्रधान (सीरियस) नाटक था। इनमे जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण सुखान्त नाटको की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है, जिससे हमारी आत्मा का विस्तार होता है।[२] किन्तु उनका विचार है कि दु खान्त नाटको के दु ख की अतिशयता का भी बुरा प्रभाव पडता है। इसलिए दु खान्त नाटको को भारतीय साहित्य मे नही अपनाया गया। उनका विचार है कि "एक ओर दु खान्त नाटको द्वारा भावो की परिशुद्धि और सस्कार का प्रश्न और दूसरी ओर ईश्वरीय न्याय की रक्षा का निर्वाह, इस उभयत पाश से बचने के लिए ही सस्कृत नाटककारो ने दु खान्त नाटको के स्थान पर सुखात्मक नाटको की रचना की थी।"[३]

वे नाटको मे रूपको तथा उपरूपको का कोई उपयोग नही मानते। उन्होंने आधुनिक नाटको का वर्गीकरण विषय के आकार पर ही माना है जैसे ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, दु खान्त, सुखान्त, यथार्थवादी तथा आदर्शवादी, वस्तु प्रधान तथा भाव प्रधान आदि। उनके विचार रगमच के सम्बन्ध मे प्रसाद जी के समान ही है।[४]

उदयशकर भट्टः—

भट्ट जी का विचार है कि नाटक समाज या व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इसका उद्देश्य मनुष्य का उसके भीतर अपने को झाक कर देखना नही रहा है, वरन् बाह्य प्रदर्शन करना है। वे वस्तु, पात्र तथा रस को नाटको की जान मानते हैं तथा न तो नाटककार का कवि होना आवश्यक समझते है, न नाटको मे गीतो का प्राचुर्य ही आवश्यक मानते है। वे नाटको मे गीत का प्रयोग पात्र की योग्यता तथा परिस्थिति के अनुकूल

---

१ देखिए 'हिन्दी नाट्य विमर्श' (सन् १९४०), पृ० ३५।
२ वही पृ० ५६।
३. देखिए वही, पृ० ५८।
४ देखिए वही, पृ० १२।

उचित समझते हैं।' उनकी यह परिभाषा नकारात्मक तथा अस्पष्ट है। वे लिखते हैं कि "नाटक मे पात्र अपनी अभिव्यक्ति आप ही कर लेते है। नाटककार का काम तो उनके लिए वैसा साधन जुटा देना भर है।"[2] वे समय तथा स्थान-सकलन को न मान कर गति को नाटक का आवश्यक अग मानते है।[3]

शिखर चन्द जैनः—

जैन जी नाटको के अभिनय के लिए नृत्य तथा गायन की अपेक्षा अनुकरण का विशेष महत्त्व मानते है। उनका विचार है कि सगीत-कला नाटको मे अभिनय-कला का सहायक मात्र है, उसका अग नही है। उन्होंने भी नाटको मे स्वगत-कथन का प्रयोग अस्वाभाविक माना है पर वे उन स्वगत-कथनो को क्षम्य मानते हैं, जो उन नाटको मे होते है, जिनमे एक ही पात्र हो और जो वस्तु, घटना आदि के सूचनार्थ प्रयुक्त हुए हो, वे नाटको में सरल तथा सुबोध भाषा के प्रयोग के पक्ष मे हैं। उन्होने हिन्दी नाटको की विकासहीनता का प्रमुख कारण हिन्दी के रगमच का अभाव माना है।[4]

वे ट्रेजेडी तथा कामेडी के लिए दु खान्त तथा सुखान्त की अपेक्षा सयोगात्मक तथा विषादात्मक शब्दो का प्रयोग ठीक समझते है। उनका विचार है कि सयोगात्मक ऐसे नाटक माने जाने चाहिएँ, जिनमे प्रारम्भ से अन्त तक सयोग शृ गार, हास्य-विनोद, सुखपूर्ण वातावरण हो या इनकी प्रधानता हो तथा वियोग अथवा विषाद को या तो स्थान ही न मिले और मिले तो गौण रूप मे मिले।[5] उनके वर्गीकरण का आधार नाटको के अन्त की अपेक्षा उनकी मूल भावना है। वे यह भी मानते हैं कि कुछ नाटक, न सयोगात्मक श्रेणी मे आते है न विषादात्मक में तथा सघर्ष प्रधान होते हैं।

सूर्य कान्त शास्त्री —

शास्त्री जी ने 'साहित्य मीमासा' मे नाटक का विवेचन किया है। उन्होने इसमे पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य-शास्त्र के आधार पर नाटक रचना की प्रमुख विशेषताओ तथा उनके तत्त्वों का निर्देश किया है। वे नाटक का कार्य अभिनय और कथोपकथन द्वारा अनुकरण करना मानते है तथा उसके लिए रगमच की अनिवार्यता समझते हैं। वे इसके अभिनय का सार इसकी गतिशीलता मानते हैं। उनका विचार है कि इसकी कथावस्तु की उत्पत्ति दो विरोधी शक्तियो के पारस्परिक विग्रह से होती है।[6] वे इसके

---

१ देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १९४०), पृ० १२१।
२ देखिए वही, पृ० १२४।
३ देखिए वही पृ० १२४।
४ देखिए 'हिन्दी नाट्य-चिन्तन' (सन् १९४१), पृ० २०।
५ देखिए वही पृ० २७।
६ देखिए 'साहित्य मीमासा' (सन् १९४१), पृ० ३७५।

कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण दोनों में संक्षेप तथा संकोच से काम लेना अच्छा समझते हैं तथा नाटकों के चरित्र-चित्रण को गरिमामय बनाने के लिए उसमें सवादिता, परिपूर्णता, प्रकाश, सारवत्ता, दर्शनीयता, पर्याप्तता तथा औचित्य आवश्यक मानते हैं।[1] कथोपकथन के सम्बन्ध में उनका विचार है कि "यदि कथा का घटन नाटक का ढाचा है, तो कथोपकथन को हम उस ढाचे को अनुप्राणित करने वाला रुधिर तथा प्राण कह सकते हैं।"[2] वे नाटक का उद्देश्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना करना मानते हैं। उन्होंने भी नाटक के आवश्यक उपकरण वेदों में प्राप्त माने हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी:--

द्विवेदी जी नाट्य-शास्त्र को आर्यों की विद्या नहीं मानते। उनका विचार है कि यदि यह आर्यों की विद्या होती, तो पाचवें वेद की कथा की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे मानते हैं कि भारतीय नाटक पहले केवल अभिनय रूप में ही दिखाए जाते थे। उनमें भाषा का प्रयोग करना आर्य संशोधन या परिवर्धन है। वे पूर्व आर्य-काल के नाटकों का प्रधान उपकरण अभिनय तथा लक्ष्य रस-निष्पत्ति मानते हैं।

डा० नगेन्द्र:—

नगेन्द्र जी ने 'आधुनिक हिन्दी नाटक' नामक पुस्तक में नाटकों के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। उन्होंने हिन्दी नाटकों के प्रभाव, स्वरूप, वर्ग-विभाजन, नाटकों के विभिन्न-भेद तथा गीति-नाट्यों के स्वरूप का विवेचन किया है। वे हिन्दी नाटकों के निर्माण में पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों प्रभावों का समावेश मानते हैं। उनका विचार है कि इनमें अंग्रेजी रोमांटिक ड्रामा की ट्रेजेडी (जीवन में सघर्ष की भावना), व्यक्ति-वैशिष्ट्य, सुख-दु ख की सीमाए, मुख्य कथा में हास्य का अन्तर्भाव, टेकनीक के क्षेत्र में पाच अंकों में नाटकों का विभाजन आदि बातें तथा इब्सन और शा के प्रभाव से समस्या-नाटक की प्रणाली, भावोद्रेक के स्थान पर चिन्तन तथा तर्क की शक्ति की अधिकता, गद्य का माध्यम तथा यथार्थवाद आदि आ गए हैं।

उन्होंने आधुनिक नाटकों का वर्ग-विभाजन कथा-वस्तु के आधार पर ऐतिहासिक, सामाजिक, समस्या-प्रधान तथा कलापूर्ण-रूपक के रूप में न करके हिन्दी के रचनात्मक साहित्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया है। इनके विचार से नाटकों का पहला वर्ग वह है, जिसमें सर्वत्र सास्कृतिक-चेतना मिलती है। इनमें छायावाद के प्रभाव के कारण एक ओर पलायन वृत्ति और दूसरी ओर जीवन के सूक्ष्म तत्त्वों का प्राधान्य होता है। इनके दूसरे वर्ग के नाटकों में नैतिक चेतना होती है। वे इसके दो रूप मानते हैं, राष्ट्रीय नैतिक चेतना तथा पौराणिक नैतिक-चेतना। इसी प्रकार इनके तीसरे वर्ग में समस्या-

---

१. देखिए 'साहित्य मीमांसा' (सन् १९४१), पृ० २९९।
२. वही, पृ० ४११।

नाटक आते हैं, जो दो प्रकार के है, व्यक्ति की समस्या वाले तथा सामाजिक और राज-नीतिक समस्याओ वाले, जिनका आधार व्यावहारिक आदर्शवाद होता है। इनके अतिरिक्त, उन्होने हिन्दी के अन्य तीन प्रकार के नाटको का विवेचन भी किया है, नाट्य-रूपक, गीति-नाट्य तथा भाव-नाट्य। वे गीति-नाट्य को रूपक का ही एक भेद मानते है, जिसका प्राण-तत्त्व भावना या मन का सघर्ष है तथा माध्यम कविता है। नाट्य-कविता से इसका यह अन्तर है कि इसमे उससे नाट्य-तत्त्व मुख्य होता है। वे प्रसाद के 'करुणालय' को गीति-नाट्य मानते हैं। वे भाव-नाट्य तथा गीति-नाट्य का यह अन्तर मानते है कि गीति-नाट्य सर्वथा कविता-बद्ध होता है तथा भाव-नाट्यो का माध्यम गद्य होता है। वे सस्कृत नाटिका की परिभाषा मे भावनाट्य के सभी लक्षण मानते है।

इन आलोचकों के अतिरिक्त इस काल मे अन्य लेखको ने भी नाट्यालोचन पर पुस्तके लिखी है। प० चन्द्र राज भडारी ने 'नाट्य-कला-दर्शन' नामक पुस्तक के आधे भाग मे नाटको का सामान्य विवेचन किया है, जो नाट्यालोचन के विवेचन मे कोई विशेष योग नही देता। भीमसेन जी की 'हिन्दी नाटक साहित्य' पुस्तक मे भी नाटको के सिद्धान्तो का साधारण विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि इन आलोचको ने पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो नाट्यालोचनो के आधार पर नाटक सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन किया है। कुछ आलोचको ने केवल भारतीय नाट्य-शास्त्र के महत्त्व का प्रतिपादन तथा उसकी ही महत्ता प्रदर्शित की है, कुछ ने दोनो के समन्वित रूप को अपनाने का आग्रह किया है तथा कुछ ने हिन्दी के स्वतन्त्र नाट्य-शास्त्र तथा साहित्य के निर्माण को महत्त्व दिया है। इन आलोचको मे से कुछ ने नाटक सम्बन्धी आलोचना के विचार पाश्चात्य नाट्य-साहित्य पर आधारित किए है तथा कुछ ने पाश्चात्य तथा हिन्दी दोनो के नाट्य-साहित्य पर। अधिकाश आलोचको ने भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्राचीन नियमो का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करके तर्क के आधार पर उनकी उपयोगिता का विवेचन किया है। इन्होने नाटको की प्राचीनता, उत्पत्ति, उद्देश्य, पाश्चात्य तथा भारतीय नाटको की तुलना, नाटक तथा रूपक की परिभाषा तथा स्वरूप, नाटको के गुण-दोष, अभिनय, रगमच, नाटक का विषय, कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि तत्त्व तथा पात्रो की भाषा आदि विषयो का विवेचन किया है।

इन्होने नाटको की प्राचीनता के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए है। प्राय सभी आलोचको का मत है कि भारत मे नाटको का विकसित रूप बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है तथा यूनानियो का इस पर कोई विशेष प्रभाव नही है। इनका विचार है कि वैदिक, रामायण, महाभारत, बौद्ध तथा पुराण काल मे नृत्य तथा अभिनय से पूर्ण नाटको का प्रयोग होता था। भारतेन्दु, श्यामसुन्दर दास, प्रसाद, ब्रजरत्न दास, बलदेव प्रसाद मिश्र आदि आलोचको का विचार है कि नाटको का श्रीगणेश वैदिक काल से ही हुआ है, किन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि नाट्य-शास्त्र आर्यो की विद्या नही है। वे मानते हैं कि आर्यो के पूर्व भी भारत मे नाटको का अभिनय होता था, किन्तु

इसमे भाषा का प्रयोग करना आर्यो का कार्य था । श्याम सुन्दर दास का विचार है कि साहित्य के अनुक्रम मे पहले गद्य, फिर गीति-काव्य और पीछे महाकाव्य आते है, किन्तु इनकी इस धारणा का प्रसाद जी ने विरोध किया है। इन आलोचको ने हिन्दी के नाटको को लगभग एक शताब्दी पुराना माना है।

इन लेखको ने नाटक की उत्पत्ति पर भी विचार किया है। इनके विचार से नाटको की उत्पत्ति के कारण, अनुकरण की भावना, आनन्द प्राप्त करने की प्रवृत्ति, पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार, जाति रक्षा की भावना, आत्माभिव्यक्ति आदि हैं। श्यामसुन्दर दास, 'रसाल' जी आदि विद्वानो का मत है कि नाटको की उत्पत्ति कठपुतलियो से हुई है, किन्तु प्रसाद जी ने इस मत की निराधारता सिद्ध की है। नाटको के क्रमश होने वाले विकास पर भी इन्होंने अपने विचार प्रकट किए है । ये नाटको के विकास के चार स्तर मानते हैं। पहले नाटक धार्मिक उत्सवो के नृत्य आदि के रूप मे प्रयुक्त होते थे, फिर वीरो की स्मृति तथा उनके आदर्श के प्रसार मे काम आने लगे, फिर इनका प्रयोग सुसज्जित रगशाला मे, वार्तालाप के साथ अभिनय के रूप में होने लगा तथा अन्त मे नूतन वैज्ञानिक रूप मे इनका अभिनय तथा चित्रण होने लगा । 'रसाल' जी ने नाटको के विकास के तीन रूप माने है, प्रथम, चित्रो, मूर्त्तियो तथा कठपुतलियो का, दूसरे, व्यक्ति-विशेष के अनुकरण का तथा तीसरे, परिष्कृत तथा प्रौढ रूप मे नवीन अभिनय का। श्याम सुन्दर दास जी रूपको की उत्पत्ति के मूल मे गीति-काव्य, आख्यान, कथोपकथन आदि वैदिक कालीन तत्त्व मानते हैं । प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इनके चार उपादान—आख्यान, गान, अभिनय तथा रस मानते हैं।

इन्होने पाश्चात्य तथा भारतीय-नाटको का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। श्याम सुन्दर दास जी का विचार है कि भारतीय नाटको मे सुखान्त तथा दु खान्त का अन्तर तथा कृत्रिमता नही है। इनमे प्राकृतिक शोभा का वर्णन, रसो की प्रधानता, रगमच की विशिष्टता, कलापक्ष की श्रेष्ठता, रमणीयता, स्वाभाविकता तथा जीवन सम्बन्धी व्यापकता है। इनमे पौराणिक, ऐतिहासिक, लौकिक तथा कवि-कल्पित तक के लिए स्थान नही है, इनका क्षेत्र पाश्चात्य नाटको से विशाल है तथा पाश्चात्य नाटको के विरोध की अपेक्षा इनमे उद्योग तथा सफलता का महत्त्व है। इसी प्रकार वे पाश्चात्य नाटको मे आदर्शवाद, सघर्ष, विरोध, वास्तविकता की ओर प्रवृत्ति, काव्यत्व तथा भावात्मकता का बहिष्कार, नाट्य-कला, नाटक-रचना तथा कथा-वस्तु के सकेत आदि के समावेश की विशेषताए मानते हैं।

इन्होंने नाटक तथा रूपक की परिभाषाओ की भी व्याख्याए की है। इनका विचार है कि नाटक नट्-धातु से उत्पन्न है । इन्होंने नाटक को नटो की क्रिया अथवा खेल और सात्विक भावो का प्रदर्शन माना है। श्यामसुन्दर दास नट् का अर्थ सात्विक भावो का प्रदर्शन मानते हैं तथा भारतेन्दु और व्रजरत्नदास इसका अर्थ नृत्य समझते है। इनका विचार है कि नाटको को कुशीलव-शास्त्र भी कहा जाता था। इनके विचार से नाटक, दृश्य-काव्य का पर्याय भी माना जाता रहा है। भट्ट जी उसे नाटक कहते है, जो न काव्य

के द्वारा प्रकट हो, न कहानी के द्वारा। गुलाबराय जी नाटक को गद्य तथा पद्य के बीच की चीज मानते है। ये नट उस व्यक्ति को कहते हैं, जो विद्या के प्रभाव से अपने या किसी वस्तु के प्रभाव को फेर ले या स्वरूप परिवर्तन कर ले। इसी प्रकार से इन आलोचको ने रूपक की भी विभिन्न परिभाषाए दी है। भारतेन्दु का विचार है कि रूपक उसे कहते है, जिसमे रूप का आरोप होता है। मिश्र जी का विचार है कि इसमे लोक-परलोक की घटित तथा अघटित घटनाओ का दृश्य दिखाने का आयोजन अभिनय की सहायता से होता है। श्यामसुन्दर दास जी इसका अर्थ सफल अनुकरण मानते हैं, ब्रजरत्न दास का विचार है कि अपने को नए रूप देकर अभिनय करना ही रूपक है तथा 'रसाल' जी रूप धारण करने को रूपक कहते हैं।

इस प्रकार इनके द्वारा रूपक मे रूप का आरोप, दृश्य दिखाने का आयोजन तथा अभिनय नामक तीन तत्त्वो को मान्यता दी गई है। भारतेन्दु का विचार है कि दृश्य काव्य वह है, जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। इन्होने नाट्य-शास्त्र उन नियमो के समूह को कहा है, जिनसे अभिनय किया जाता है। ये नाट्य-शास्त्र के दो अग, नाट्य-कला (जो व्यावहारिक रूप है) तथा नाट्य-विज्ञान (जो सैद्धान्तिक रूप है) मानते है।

इन्होने नाटको के गुणो तथा दोषो का भी निरूपण किया है। इनका विचार है कि नाटको मे स्वाभाविकता, मितभाषिता, थोडी बात मे अधिक मर्म भरना, ससार की उत्तम, मध्यम तथा अधम सभी प्रकार की वस्तुओ का चुनाव करना, प्रभावोत्पादकता, सरसता, शुद्ध या अमिश्र अनुकृति की प्रधानता, लोकहित तथा लोक-रजन की क्षमता तथा श्रेष्ठ रगमच का प्रयोग होना आवश्यक है। ये नाटको मे वाक्-प्रपच, शैथिल्य, अधूरा कार्य छोडना तथा पिछली बातो को विस्तृत करना उचित नही समझते।

नाटक के अतिरिक्त इन्होने नाटक के प्रमुख अग अभिनय की भी व्याख्या की है तथा नाटक मे अभिनय के विशेष महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका विचार है कि किसी के कार्य का अग, वाणी, वेश भूषा, मनोवृत्ति सूचक चिन्हो से अनुकरण करना अभिनय है। ये अनेक बातो का एक शृ खला मे होना यथाक्रम, यथा-समय, यथारीति से उचित शब्द, वेश-भूषा तथा अग भगी दिखाना अभिनय मानते हैं। प्रसाद जी का विचार है कि नाटको का अभिनय बहुत प्राचीन काल मे नृत्य, नृत्त, ताण्डव, लास्य आदि से पूर्ण हो गया था। 'रसाल' जी का विचार है कि नृत्य तथा सगीत अभिनय के ही अग है पर बलदेवप्रसाद मिश्र अग की अपेक्षा इन्हे अभिनय के सहायक कहते है। प्रसाद जी ने अभिनय के दो भेद भी किए हैं, लोक-धर्मी तथा नाट्यधर्मी। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अभिनय की श्रेष्ठता के लिए तन्मयता का प्रदर्शन तथा स्वाभाविकता के गुणो का उल्लेख किया है।

जयशकर प्रसाद, 'रसाल' जी, राम कुमार वर्मा तथा गुलाब राय ने नाटक के लिए रगमच के विशेष महत्त्व की व्याख्या की है। प्रसाद जी ने रगमच से नाटक को विशेष महत्ता दी है तथा रगमच को नाटक का सहायक माना है। इन लेखको ने रगमच के वर्णन के साथ-साथ मत्तवारिणी, जवनिका आदि के अर्थो की भी व्याख्या की है।

इन्होंने नवीन तथा प्राचीन नाटकों का भी अन्तर स्पष्ट करके नवीन नाटकों का उद्देश्य केवल मनोरंजन प्रदान करना नहीं, वरन् शृंगार तथा हास्य का आनन्द, कौतुक, संस्कार की भावना, देश-वत्सलता, शिक्षा, धार्मिकता, नीतिमत्ता, आचरण का सुधार करना, उत्तमतापूर्वक जीवन का निर्वाह करने की योग्यता देना, वास्तविक जीवन के चित्रण की अपेक्षा आदर्श-जीवन की व्याख्या तथा नैतिक आदर्श प्रस्तुत करना और निजी व्यक्तित्व का बाह्य प्रदर्शन करना माना है।

इन्होंने रंगस्थ खेल के रूप, कथाओं के स्वभाव, विषय, शैली, रंगमंच, विचार, कथा वस्तु, उद्देश्य आदि के विचार से नाटकों के विभिन्न प्रकार माने हैं। भारतेन्दु जी ने रंगस्थ खेल के रूप में इनके काव्य-मिश्र, शुद्ध-कौतुक तथा भ्रष्ट नामक तीन रूप माने हैं तथा काव्य-मिश्र के प्राचीन और नवीन दो रूप किए हैं। इन्होंने प्राचीन काव्य-मिश्र के भी दो रूप, रूपक तथा उपरूपक माने हैं और नवीन के दो रूप नाटक तथा गीति-रूपक। इन्होंने कथाओं के स्वभाव के अनुसार नाटकों के संयोगान्त, वियोगान्त तथा मिश्र नामक तीन रूप माने हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र विषय के अनुसार ऐतिहासिक, सामाजिक, शैली के अनुसार प्राचीन-पद्धति-प्रधान तथा नवीन-पद्धति प्रधान तथा रंगमंच की दृष्टि से रंगमंचानुरूप तथा पाठ्यानुरूप नामक दो भेद मानते हैं। 'रमाल' जी विचारों के आधार पर कल्पित, ऐतिहासिक, वास्तविक तथा मिश्रित; उद्देश्य के आधार पर आदर्शात्मक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक तथा चारित्रिक; और शैली के अनुसार, संगीतात्मक, पद्यात्मक, गद्यात्मक, शुद्ध साहित्यिक, साधारण साहित्यिक तथा साधारण रूपान्तरित भेद मानते हैं। इसी प्रकार नगेन्द्र जी ने आन्तरिक प्रवृत्ति, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक-चेतना तथा समस्या के आधार पर इनके भेद किए हैं। इन्होंने इसके स्वरूप के अनुसार तीन रूप, नाट्य-रूपक, गीति-नाट्य तथा भाव-नाट्य का भी उल्लेख किया है।

इनका विचार है कि नाटकों की रचना सहृदयों की रुचि, रीति, नीति के प्रवाह के अनुसार, देश, काल तथा पात्र का ध्यान रख कर होनी चाहिए। नाटकों के सारे प्राचीन नियमों का आधुनिक नाटक में प्रयोग नहीं होना चाहिए तथा उनका आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार सुधार हो जाना चाहिए। किन्तु बलदेव प्रसाद मिश्र संस्कृत के प्राचीन नियमों की हिन्दी में आवश्यकता मानते हैं।

प्राय. इन सभी आलोचकों ने नाटकों के विशेष महत्त्व को स्वीकार किया है। से गोविन्द दास का विचार है कि नाटक में पाँचों ललित कलाओं का आनन्द आता है। ये टकों की उत्तम रचना के लिए जीवन की समस्याओं का मनन, मनोविज्ञान का ज्ञान, सार का अनुभव, प्रतिभा, स्वाभाविकता आदि को मानते हैं। इनका विचार है कि साहित्यिक नाटकों में अभिनय-नाटक उत्तम है तथा नाटकों में दृश्यों की संख्या का कोई विधान नहीं होना चाहिए।

इन्होंने भारतीय नाट्य-तत्त्व, वस्तु तथा रस के अतिरिक्त, चरित्र-चित्रण, सम्वाद, देश-काल, भाषा तथा शैली का भी विशेष विवेचन किया है। उनके विचार से कथा-वस्तु मर्यादित तथा संक्षिप्त होनी चाहिए। यह इतिवृत्त के अनुसार प्रख्यात, कल्पित तथा मिश्रित,

अधिकारी के अनुसार आधिकारिक तथा प्रासंगिक और अभिनय के विचार से वाच्य तथा सूच्य, दो प्रकार की होती है। ये कथानक मे पाश्चात्य-सकलन-त्रय का बहिष्कार उचित समझते हैं तथा अको की भी विशिष्ट सख्या नही मानते। इन्होने स्वाभाविक सम्वादो की आवश्यकता मानी है तथा उन्हे चरित्र-चित्रण का साधन समझा है तथा अश्राव्य (स्वगत कथन), नियत श्राव्य, आकाश-भाषित, लम्बे-भाषण आदि को अनुचित तथा अस्वाभाविक कहा हैं। ये कही-कही स्वगत-कथन आदि को स्वाभाविक भी मानते है। श्यामसुन्दर दास जी का विचार है कि भारतीय रूपको मे वस्तु, देश तथा काल-सकलन का विचार रखा जाता था तथा कला के सौन्दर्य तथा उपयोगिता के अनुसार इनका ध्यान अब भी रखना चाहिए। उन्होने स्थल-सकलन को कला की दृष्टि से दूषित माना है।

इन्होने नाटको मे चरित्र-चित्रण का भी विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। इनका विचार है कि चरित्र-चित्रण मे सम्वाद तथा कथोपकथन का योग रहता है। ये नाटको मे पात्रो की कल्पना, शास्त्रीय नियमो की अपेक्षा उनकी निजी स्थिति के अनुसार होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि पात्रो की कल्पना, कार्य के अनुसार होनी चाहिए, पात्र के अनुसार कार्य की कल्पना नही। ये पात्रो की भाषा, नियमो की अपेक्षा उनकी स्थिति के अनुकूल, सक्षिप्त तथा स्वभाव का परिचय कराने वाली होना उचित समझते है। इनका विचार है कि पाश्चात्य पाठको मे भारतीय रस की अपेक्षा शील-निर्देशन तथा व्यक्ति-वैचित्र्य की प्रमुखता है। ये चरित्र-चित्रण के प्राचीन नियमो को भी स्वीकार नही करते तथा चार प्रकार के शास्त्रीय नाटको की अपेक्षा झूठे, कपटी तथा धूर्त्त का भी नायक होना स्वीकार करते है। इनका विचार है कि विदूषक नाटको के लिए अनिवार्य नही तथा उसका प्रयोग करुण तथा वीर रस के नाटको मे अनावश्यक है तथा शृगार रस के नाटको में भी हर समय नही आना चाहिए। ये विदूषको का प्रयोग केवल हास्य रस के नाटको मे विधेय मानते है।

इन आलोचको मे नाटको के पात्रो की भाषा के सम्बन्ध मे विशेष मतभेद रहा है। भारतेन्दु जी पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग उचित समझते है। बलदेवप्रसाद मिश्र भी विभिन्न पात्रो द्वारा विभिन्न भाषाओ का प्रयोग ठीक मानते है। रसाल जी सरल तथा सुबोध भाषा के पक्ष मे है पर प्रसाद जी का विचार है कि भाषा की सरलता तथा क्लिष्टता पात्रो के विचारो के अनुसार ही होनी ठीक है। इसके विपरीत ब्रजरत्नदास सारे नाटक मे एक सी भाषा का ही प्रयोग वाछनीय मानते है।

एकांकी नाटक

भारतीय साहित्यालोचन मे एकाकी नाटक सम्बन्धी आलोचना का विकासः—

प्राचीन सस्कृत लक्षण-ग्रन्थो में आधुनिक एकाकी के स्वरूप का विवेचन तो नही मिलता किन्तु एक अक के छोटे नाटको तथा उपरूपको की व्याख्या मिलती है। सस्कृत के एक अक वाले रूपक के भेद अक, व्यायोग, भाण, वीथी, ईहामृग, प्रहसन थे तथा उपरूपक

के भेद गोष्ठी, नाट्यरासक तथा 'काव्य' थे। अक का स्थायी रस करुण होता है, कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है, नायक नायिका साधारण व्यक्ति होते है, कथा का अभिप्राय हार अथवा जीत का चित्रण होता है तथा इसमे स्त्रियो का विलाप होता है। वीथी मे एक पुरुष नायक कल्पित कर लिया जाता है। आकाश-भाषित के द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है तथा शृगार की बहुलता होती हैं। 'भाण' मे धूर्तो के चरित्र की अनेक परिहासपूर्ण अवस्थाओ का चित्रण होता है, कथा कल्पित होती है, आकाश-भाषित द्वारा उक्ति प्रत्युक्ति होती है, प्राय भारती वृत्ति, मुख और निर्वहण सन्धियो तथा लास्य के दस अगो का प्रयोग होता है। व्यायोग मे इतिहास प्रसिद्ध कथा, प्रख्यात नायक, पुरुष पात्रो की अधिकता, कम स्त्रीपात्र, हास्य तथा शृगार रस से पृथक् रसो का समावेश तथा युद्ध का कारण स्त्री के अतिरिक्त कुछ और होता है। गोष्ठी मे नौ या दस प्राकृत या साधारण श्रेणी के पात्र, जिनमे पाच-छ. स्त्रिया तथा कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है। प्रहसन मे हास्य रस की प्रधानता होती है तथा यह तीन प्रकार का शुद्ध, विवृत और सकर होता है। नाट्यरासक एक प्रकार का गीति-एकाकी है, जिसका प्रमुख पात्र उदात्त तथा उपनायक पीठ-मर्द, प्रधानरस हास्य, नायिका वासक-सज्जा तथा मुख और निर्वहण सन्धिया होती है। इसी प्रकार 'काव्य' मे व्यापक रस हास्य, गीतो का बाहुल्य, उदात्त नायक-नायिका तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धिया होती है। इनके अतिरिक्त प्रेंखण, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीस नामक उपरूपक भी एकाकी ही है।

सस्कृत के उपर्युक्त एकाकी नाटको के भेद, चरित्रो के प्रकार तथा सख्या, नायक-नायिकाओ के प्रकार, रसो, वृत्तियो, सधियो, लास्यागो, कथा के प्रकारो, कथा के विस्तार तथा सक्षिप्त रूप, सम्भाषण की शैलियो, गीतो के बाहुल्य तथा कमी और अभिनय-प्रणाली के आधार पर किए गए है। प्राचीन आचार्यो ने इनके विशिष्ट स्वरूपो का निर्देश करके नाटक के प्रत्येक भेद तथा उपरूपको के विभिन्न भेदो के विशेष रूपो का प्रतिपादन किया था। इनमे से प्रत्येक प्रकार के एकाकी का प्रभाव एक दूसरे से पृथक् होता था। निश्चय ही बिना एकाकी नाटको के विशेष प्रचलन के इनके विभिन्न स्वरूपो का निर्देश तथा उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या नही हो सकती थी। इस प्रकार एक दीर्घकालीन परम्परा के समृद्ध होने पर ही उनके विभिन्न स्वरूपो की अवतारणा हुई होगी। आधुनिक हिन्दी साहित्य के एकाकी-विवेचन मे कुछ आलोचको ने आधुनिक एकाकी की परम्परा का सम्बन्ध इन एकाकी नाटको से जोडा है तथा कुछ ने पाश्चात्य से। हमारा विचार है कि हिन्दी का एकाकी अपनी निजी तथा मौलिक सत्ता रखता है तथा इसके स्वरूप-निर्माण मे पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो एकाकियो का ही न्यूनाधिक प्रभाव मिलता है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे एकाकी नाटक सम्बन्धी आलोचना का विकासः—

पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे एकाकी नाटको के स्वरूप का विवेचन स्वभावतः एकांकियो के विकास के साथ साथ ही विकसित होता गया। प्राचीन काल मे मिस्ट्री, मिरेकिल तथा मोरेलिटी-प्लेज एकाकी होते थे। इनके पश्चात् प्रधान-नाटको के अन्त मे 'आफ्टर

पीसेज' तथा प्रारम्भ मे 'कर्टेन रेजर' नामक हास्य रस पूर्ण तथा मनोरजक एकाकी खेले जाते रहे। पाश्चात्य आधुनिक एकाकी नाटक इनसे भिन्न है। इनमे पुरानी अभिनय परिपाटी, पुराने प्रसिद्ध नट, पुराना काव्यमय कथोपकथन, पुरानी परिपाटी की गम्भीर कथा-वस्तु तथा पुराना रगमच सब के प्रति प्रतिक्रिया मिलती है। इब्सन तथा पिनेरो इस प्रतिक्रिया के प्रेरक थे। इन्होने एकाकी नाटको मे नाटको की कृत्रिमता, अतिशय भावुकता तथा रगमच के सस्तेपन के विरुद्ध स्पष्टवादिता, स्वाभाविकता, यथार्थवादिता, समस्याओ का चित्रण, अभिनय सकेतो का आधिक्य, स्वगत तथा विलग का बहिष्कार, तुकबन्दी का बहिष्कार, गद्य का प्रयोग, दैनिक जीवन तथा उसकी समस्याओ का चित्रण, व्यग, उपहास, कटाक्ष और आलोचना का प्रयोग आदि विशेपताओ को अपनाया।

पाश्चात्य-साहित्यालोचन में एकाकी नाटको में समय, स्थान, कार्य की एकता, सक्षिप्तता, अल्प समय मे उद्देश्य की पूर्त्ति, कथा-वस्तु का ऐक्य तथा समन्वीकरण,[1] प्रभाव-ऐक्य, वातावरण-ऐक्य, तीव्रगति, जीवन से सम्बद्धता, मनोरजकता, उपयुक्त समय पर आकस्मिक अन्त, मर्मस्पर्शिता, मूर्त्तता, प्रत्यक्ष प्रभाव डालने की शक्ति, रगमंच की सुविधाओ का पूर्ण प्रयोग आदि तत्त्वो को मान्यता मिली है।[2] इसमें प्रत्येक प्रतिभाशाली एकाकी नाटककार की व्यक्तिगत प्रतिभा का योग भी सम्मिलित है। इस प्रकार एकाकी नाटक की कला प्रगतिशील है तथा समय और परिस्थितियो के अनुकूल निर्मित होती जाती है।

आलोच्यकाल मे हिन्दी मे एकाकी नाटक की आलोचना का विकासः—

आलोच्य काल के उत्तरार्ध में एकाकी नाटको की कला का विकास हुआ है। भारतीय शैली के विकास-स्वरूप एकाकियो का प्रचलन भारतेन्दु के समय से ही हो गया था। तब इन पर पाश्चात्य प्रभाव नही पडा था तथा प्रहसन ही का अधिकाश में प्रयोग होता था। प्रसाद जी का 'एक घूट' भी अपनी मौलिकता तथा विशिष्टता मे महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के एकाकी नाटको मे पाश्चात्य प्रभाव का समावेश डा० राम कुमार वर्मा के एकाकी नाटको से हुआ है।[3] इनके पूर्व हिन्दी मे एकाकी नाटको का सैद्धान्तिक विवेचन नही हुआ। एकाकी नाटको की आलोचना का विकास इनके रचनात्मक साहित्य के विकास के साथ-साथ विकसित हुआ। प्राय एकाकी नाटककारो ने अपने सग्रहो मे इनका विवेचन किया है। पृथक् पुस्तक के रूप मे एकाकी नाटको की कला का विवेचन आलोच्य-काल के पश्चात् हुआ। भूमिकाओ के अतिरिक्त नाटको के विवेचन की पुस्तको मे जैसे डा० नगेन्द्र की 'आधुनिक

१. "वन एक्ट प्ले इज करेक्टराइज्ड वाई सुपीरियर यूनीटी एण्ड इकोनोमी इट इज पोसिवल इन ए कम्पेरेटिवली शोर्ट स्पेस आव् टाइम एण्ड इट इज टू बी ऐसीमीलेटेड एज ए व्होल" 'दी क्रेफट्मेनशिप आव् वन एक्ट प्ले' ले० पी वाइल्ड उद्धृत 'हिन्दी एकाकी और एकाकीकार' प्रो० राम चरण महेन्द्र (१९५३) पृ० २५।

२ देखिए "वही,' पृ० २६।

३ देखिए 'चारुमित्रा' राम कुमार वर्मा (सन् १९४२) भूमिका प० ८।

काकी नाटक' तथा साहित्यालोचन के ग्रन्थो में जैसे वाङ्मय विमर्श' मे सक्षिप्त रूप मे इसका विवेचन होने लगा। एकाकी नाटको की आलोचना मे योग देने वाले प्रमुख आलोचक निम्नांकित है।

डा० रामकुमार वर्मा:—

वर्मा जी ने एकाकी नाटको के स्वरूप, महत्त्व, कला तथा विभिन्न तत्वो का अपने एकाकी नाटको के सग्रहो की भूमिकाओ मे विवेचन किया है। वे एकाकी नाटको का साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान मानते है। वे इसे कृत्रिम या फैशन की सी वस्तु नही समझते तथा इसका साहित्य मे प्रवेश साहित्य के अन्य नवीन रूपो के समान जीवन की आवश्यकता के अनुसार मानते है। वे प्राचीन सस्कृत एकाकी, भाण, व्यायोग, डिम, ईहामृग, अक, वीथी, गोष्ठी आदि मे जटिल लक्षणो की चरितार्थता मात्र तथा आधुनिक एकाकियो मे इनकी अपेक्षा जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति मानते हैं। वे आधुनिक एकाकी नाटको मे आतरिक सघर्ष की प्रधानता उनकी सफलता के लिए आवश्यक समझते हैं।[1]

उनका विचार है कि एकाकी नाटक की कला इस बात मे निहित है कि वह किसी मार्मिक घटना को एक ही अश मे थोड़े से समय मे अधिक से अधिक उत्कृष्ट रूप दे दे। वे मानते है कि एकाकी नाटक मे अनावश्यक विस्तार के लिए स्थान नही होता। इसका विषय जीवन का एक चित्र, एक रेखा, एक बिन्दु, एक झाकी, एक अनुभव, एक परिस्थिति तथा एक पटल होता है।[2] यह पाठक को इतनी तीव्रता और मार्मिकता से इसलिए प्रभावित कर सकता है कि इसमे एकाकीकार की सारी कुशलता, कल्पना तथा शक्ति एक ही घटना मे पुजीभूत हो जाती है। एकाकी नाटको मे अन्य प्रकार के नाटको से वे यह विशेषता मानते हैं कि इनमें एक ही घटना होती है, जो नाटकीय कौशल से कौतूहल का सचय करते हुए चरम सीमा तक पहुचती है। इसमें कोई अप्रधान प्रसग नही रहता तथा इसका एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द इसके लिए प्राण की तरह आवश्यक रहता है।[3] वे मानते है कि एकाकी की छोटी तथा मार्मिक घटना के चयन मे ही लेखक की कुशलता तथा सफलता रहती है। उस घटना का कोई भाग उखडा हुआ या असम्बद्ध प्रतीत नही होता। उन्होने लिखा है कि इसकी "घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य शरीर के समान है, जिसमें अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की सृष्टि होती है, कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमे वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार एकाकी नाटक की रचना साधारण नाटक की रचना से कठिन है। उसमें विस्तार के लिए अवकाश ही नही। अतएव स्वाभाविकता के साथ नाटकीय कथावस्तु का प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा और अत बिना किसी शैथिल्य के हो जाना चाहिए।

---

१ देखिए 'पृथ्वीराज की आखें' (स० २०००) पूर्व रग पृ० १० ।
२. देखिए 'आठ एकाकी नाटक' (१९४२), पृ० ७ ।
३ देखिए 'पृथ्वीराज की आखें' (स० २०००), पूर्व रग, पृ० ११ ।

जिस प्रकार कहानी उपन्यास से भिन्न है, उसी प्रकार एकाकी नाटक साधारण नाटक से।"[1]

वे एकाकी नाटको मे पात्रो की सख्या अधिक से अधिक चार या पाच होनी उचित मानते है। इनमे से भी वे प्रधान-पात्र दो या एक ही होना ठीक समझते है, क्योकि अधिक पात्रो के चरित्र की मार्मिकता के प्रदर्शन के लिए एकाकी मे स्थान नही रहता। वे पात्रो का घटना की गतिविधि मे विशेष स्थान मानते है तथा केवल मनोरजन के लिए अनावश्यक पात्रो के समावेश को ठीक नही समझते। वे चरित्र-चित्रण मे पात्रो के आन्तरिक द्वन्द्व को उत्कृष्टता के साथ दिखाना जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्य के दर्शन के लिए आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि एकाकी मे प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाति स्पष्ट और गहरी होती है।[2]

एकाकी के सम्भाषण के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि इसमे नपे-तुले अर्थ से भरे हुए शब्दो का प्रयोग होता है तथा व्यर्थ के विशेषण तथा प्रलाप नही होते। वे सवादो का रोचक, तर्कपूर्ण, गतिशील, तीव्र, प्रवाहपूर्ण तथा प्रभावशाली होना उनकी सफलता के लिए आवश्यक समझते है। वे एकाकी के लिए लम्बे भाषणो का होना ठीक नही समझते क्योकि उनके विचार से उनसे उसकी गति शिथिल हो जाती है।

उन्होने एकाकी की कथावस्तु बाहर से लेने की अपेक्षा जीवन के चारो ओर बहने वाले घटनाओ के उस प्रवाह से लेना उचित समझा है, जिसमे प्राणो के तत्त्वो का अत्यन्त रहस्यमय सकेत रहता है। वे एकाकियो मे जीवन के अभ्युदयशील क्षणो के भावो के चित्रण के पक्षपाती है तथा जीवन के बाह्य और सामयिक द्वन्द्वो की अपेक्षा मानव-हृदय के शाश्वत प्रश्नो की ओर इगित करना ज्यादा पसन्द करते है।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार.—

चन्द्रगुप्त जी ने एकाकी को रगमच पर खेला जाने वाला कहानी का एक छोटा सा सस्करण मात्र माना है तथा इसकी कोई विशिष्ट निजी सत्ता नही समझी है।[3] वे उसे विज्ञापन मे सहायक सम्भाषण मात्र भी कहते है। वे मानते है कि न तो उसकी कोई निजी टेक्नीक बनी है, न बन सकती है। उनका विचार है कि एकाकी मे पात्रो के व्यक्तित्व का चित्रण तथा विकास नही होता केवल मनोरजन तथा अर्थपूर्ण वार्त्तालाप होता है। वे इनकी आधारभूत श्रेष्ठता इनकी कहानी में निहित मनते है तथा कला की दृष्टि से उनकी कोई उपादेयता भी नही समझते। वे इनके प्रचार के तीन कारण मानते है, एक तो यह किसी नाटक के अन्तराल मे सरलता से खेला जा सकता है तथा दूसरा यह कि इसका लिखना सरल है तथा तीसरे रेडियो द्वारा इसके प्रचार मे सहायता मिली है। वे मानते है कि इनमे क्लाइ-मेक्स का होना भी आवश्यक नही है तथा जो व्यक्ति मनोरजन के साथ थोडा सम्भाषण

---

१ देखिए 'पृथ्वीराज की आखें', (स० २०००) पूर्वरग, पृ० १२।

२. वही पृ० ११।

३. देखिए 'हस', एकाकी अक (१९३८), पृ० ८०१।

लिख सकता है वह इसे अच्छी भाति लिख सकता है। वे इसके द्वारा किसी नई दुनिया के निर्माण की कल्पना भी नही करते तथा इसे विज्ञापनबाजी तथा प्रोपेगेन्डा की वस्तु मानते है।

जैनेन्द्र कुमार जैन —

जैनेन्द्र जी एकाकी नाटक को आज कल के फैशन की चीज मानते हैं तथा इसके अपनाए जाने का कारण इसकी आवश्यकता नही वरन् फैशन समझते है। वे इसे साहित्य का एक कृत्रिम रूप मानते हैं तथा इसमें दिए गए निर्देशो को कृत्रिम समझते है, क्योंकि उन का विचार है कि जब हिन्दी मे कोई अपना रगमच ही नही है तो उन निर्देशो की क्या महत्ता तथा आवश्यकता है। वे मानते है कि यदि एकाकी छपे तो उसे सुपाठ्य होना चाहिए।[1]

श्रीपत राय —

श्रीपत राय एकाकी का एक विशेप अस्तित्व तथा उसका साहित्य मे विशिष्ट स्थान मानते है। वे कहानी के समान ही कम समय मे मनोरजन देने के कारण इसकी उत्पत्ति होना मानते हैं। उनका विचार है कि एकाकी, चूंकि थोडे समय मे आनन्द देता है, इसलिए इसका विशेप प्रचार होता जा रहा है। वे चन्द्रगुप्त जी की क्लाइमेक्स तथा विज्ञापन वाली बात नही मानते। उनका विचार है कि विज्ञापन तो साहित्य के प्रायः सभी रूपो मे पाया जाता है, फिर एकाकी में ही उसका विशेप समावेश क्यो माना जाए।[2] वे वैसे इस बात से सहमत है कि एकाकी जब अपनी उचित मर्यादा से च्युत हो जाता है, तो विज्ञापन का रूप ले लेता है।

डा० नगेन्द्र —

नगेन्द्र जी ने 'आधुनिक हिन्दी नाटक' मे एकाकी के स्वरूप, उत्पत्ति, प्रकार, कला आदि के विपय मे अपने विचार प्रकट किए है। वे एकाकी को कहानी की भाति पाश्चात्य साहित्य की देन मानते है। उनका विचार है कि इसका प्राचीन भारतीय एकाकी नाटको से कोई सम्बन्ध नही है।[3] वे मानते है कि एकाकी का नाटक से ठीक वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से होता है। वे उसे एक ही अक मे समाप्त होने वाला नाटक मानते है। उनका विचार है कि उसकी परिधि के सकोच से ही उसकी कथा के सकोच का आभास मिलता है। वे लिखते है कि "एकाकी मे हमे जीवन का क्रम-बद्ध विवेचन न मिल कर,

---

१. देखिए 'हम के एकाकी नाटक मे प्रकाशित पत्र', उद्धृत 'हिन्दी एकाकी एव एकाकीकार, प्रो० राम चरण मन्हेंद्र (२०१०), पृ० ५९।

२ देखिए वही, (२०१०) सम्पादकीय।

३. आधुनिक हिन्दी नाटक (स० १९९९), पृ० १२६।

उसके एक पहलू, एक महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।"[1] वे उनमे एकता एव एकाग्रता को अनिवार्य मानते है, क्योकि इनके कारण आकस्मिकता का गुण अपने आप आ जाता है। इसी प्रकार उनका विचार है कि इस एकाग्रता के लिए सकलन-त्रय का निर्वाह भी सहायक हो सकता है, किन्तु वे इसे इसके लिए अनिवार्य नही मानते है।

वे फेन्टेसी, रेडियो-प्ले तथा झाकी को एकाकी के स्वरूप या भेद मानते है। उनका विचार है कि फेन्टेसी, एकाकी का अत्यन्त रोमान्टिक रूप है, ललित कल्पना की सृष्टि है, किन्तु इसमे लेखक का दृष्टि-कोण एकान्त, वस्तुगत और स्वच्छन्द होता है तथा उसमे किसी प्रकार का मनोगत-विधान नही होता।[2] झाकी मे एक दृश्य, एक ही घटना, एक अनुभव तथा एक परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण वाली बात बडी सच्चाई के साथ घटती है। रेडियो-प्ले से वे एकाकी का केवल यह अन्तर मानते है कि रेडियो-प्ले मे श्रव्य अश अधिक रहता है तथा इसमे दृश्य अश अधिक रहता है।

वे कहानी तथा एकाकी की अन्तरात्मा मे वैसे तो कोई विशेष अन्तर नही मानते पर उनका विचार है कि इन दोनो मे यह अन्तर होता है कि कहानी मे घटना तथा पात्रो की रूपरेखा इतनी स्पष्ट तथा मूर्त्त नही होती, जितनी एकाकी मे अनिवार्य रूप से होती है। वे किसी एकाकी को तब तक एकाकी नही कहते, जब तक उसमे अभिनय की सभी मागे पूरी न होती हो। वे साहित्य मे एकाकी का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते है।[3] टेकनिक की दृष्टि से वे इसके दो प्रकार मानते है, एक जिसमे विकास की प्रमुखता होती है तथा दूसरा जिसमे विन्यास या उद्घाटन की। पहले मे क्रमिक उतार-चढाव के सहारे घटना अथवा पात्र चरम परिणति तक पहुचता है, रूप पाठक की जिज्ञासा को उभार कर तुष्ट कर देता है, विशेष वस्तु-कौशल होता है तथा दूसरे मे विकास का कोई स्पष्ट क्रम दिखाई नही पडता, परितोष का निश्चित साधन नही होता तथा मनोविश्लेषण की शक्ति होती है।[4] उनका विचार है कि हिन्दी मे समस्या-एकाकी, रोमान्टिक, ऐतिहासिक, फेन्टेसी, मोनोड्रामा, प्रहसन आदि रूप मिलते हैं तथा उसके टेक्नीक मे नवीनता तथा फेशनेबिल-चित्रमयता बढती जा रही है।

सद्गुरुशरण अवस्थी—

अवस्थी जी ने एकाकी नाटको के स्वरूप, उत्पत्ति, इतिहास, भेद, लक्ष्य, विषय आदि विषयो का विवेचन किया है। वे भारतीय एकाकी नाटको के नए रूप रग मे यूरोपीय प्रभाव मानते है। उनका विचार है कि जैसे यूरोपीय नाटको का पहले दूसरा ही रूप था,

---

१ आधुनिक हिन्दी नाटक (स० १९९९) पृ० १२७।
२ देखिए वही पृ० १३०।
३ देखिए वही पृ० १३१।
४ देखिए वही पृ० १३४-१३५।

अब दूसरा हो गया है, वैसे ही सस्कृत के नाटको का भी रूपरग आधुनिक काल मे पाश्चात्य प्रभाव से वदल गया है। वे मानते है कि सस्कृत मे भी भाण, व्यायोग, अक, वीथी, प्रहसन, गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य-प्रेक्षण, रासक, श्रीगदित तथा विलासिता आदि सब एकाकी नाटक ही थे, किन्तु आज के एकाकी नाटको से इनका कोई विशेष साम्य नही है।

इनका विचार है कि यूरोप मे पन्द्रहवी तथा सोलहवी शताब्दी मे एकाकी नाटक, कथानक की सक्षिप्तता और विषय के एकाकीपन के लिए प्रसिद्ध थे। पर आधुनिक काल मे इनके नए रूप का उद्देश्य समाज के सामने सामाजिक समस्याओ को व्यग्यपूर्ण रूप में रखना तथा उसका मनोरजन करना है। वे मानते है कि आधुनिक एकाकी का जन्म तथा रूप-निर्माण पुरानी कला तथा साहित्य की परिपाटी के ध्वस मे से हुआ है।[1] उनका विचार है कि इन एकाकी नाटको में कही-कही पर केवल एक ही दृश्य रहता है तथा कही कही पर उससे अधिक। इसमे पटाक्षेप अन्त में ही आता है और छोटी मध्य-यवनिका बीच मे भी गिर जाती है। उनका मत है कि एकाकी नाटको की सृष्टि अधिकाश मे दर्शको की रुचि के आधार पर होती है।

वे मानते है कि एकाकी नाटको की उत्पत्ति का कारण थोडे समय मे ही आनन्द प्राप्त करने की इच्छा है तथा यह प्राचीन दीर्घकाय नाटको के लम्बे-लम्बे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यजना, दृश्यो की सजावट की अतिशयता, विषयातरता तथा वर्णन-बाहुल्य, कथा-विकास तथा चरित्र-विकास की लपेट मे काव्य-विकास का लम्बा प्रयोग, औत्सुक्य प्रधानता के लिए एक उलझी कल्पना आदि लम्बे नाटक की विशेषताओ की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है।[2] वे मानते है कि एकाकी नाटक का एक सुनिश्चित और सु-कल्पित लक्ष्य होता है तथा उसमे केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या होती है।[3] विवरण-शैथिल्य को वे उसका घातक कहते हैं तथा उसकी कथावस्तु, परिस्थिति, व्यक्तित्व आदि के निदर्शन में मितव्ययिता और चातुर्य को आवश्यक समझते है। वे इनमे आकार का केन्द्रीभूत प्रभाव, वैयक्तिक और स्थानीय विशेषताओ का प्रयोग, तार्किक मौलिकता, निष्पक्ष समीक्षा, विषय प्रतिपादन की निष्ठा, वास्तविकता, मानसिकता, भावुकता-हीनता आदि गुणो की अनिवार्यता स्वीकार करते है।

वे मानते है कि एकाकी नाटक का विषय आकाश के नीचे क्षितिज के पार सब कुछ हो सकता है। उनका विचार है कि एकाकी नाटक न तो एकाकी नाटक का सक्षिप्त सस्करण है और न उसका एक अक। इस सम्बन्ध मे उनका कथन है कि वह बलि को छलनेवाला बावन अगुल का मनुष्य नही और न चक्र सुदर्शन-सहित विष्णु का हाथ है। वह न तो किसी का लघु सस्करण और न किसी का खड अवतार है। वह अपनी निजी सत्ता रखने वाला साहित्य का अग है। उसकी अपनी निजी आत्मा है और उस आत्मा के

---

१. देखिए 'दो एकाकी नाटक' (१९९७), पृ० १२, १३।
२. देखिए वही (भूमिका) पृ० १५।
३. देखिए वही (भूमिका) पृ० १५।

व्यक्तीकरण का उसका निजी ढग है।"[1] उनका विचार है कि वास्तविक चित्रण तथा सक्षिप्तता के प्रभाव के कारण यह मानवता के समूचे भाव-जगत् को झनझना देने की शक्ति रखता है।[2]

वे एकाकी नाटको की प्रमुख विशेषता उसमे चिंतना का प्रवेश मानते हैं। वे हृदय तथा मस्तिष्क के बीच में कोई दीवार खडी करनी उचित नही समझते, क्योंकि उनका विचार है कि आज की मानसिक क्रियाए अथवा चिंतना के सजग प्रत्यय ही कल के हृदय के भाव अथवा राग मे परिवर्तित हो सकते है।[3]

उपेन्द्रनाथ अश्कः—

अश्क जी एकाकी को हिन्दी रगमच के लिए सर्वथा नवीन वस्तु मानते है। उनका विचार है कि इसका हिन्दी मे विकास पश्चिम मे साहित्य और रगमच पर इसके विशेष प्रभाव के कारण हुआ है। वे मानते है कि इसका विशेष प्रचलन इसके सक्षिप्त स्वरूप के कारण है। वे प्राचीन सस्कृत साहित्य मे भी एकाकी नाटको की विद्यमानता मानते है। उन्होंने प्राचीन सस्कृत के तथा हिन्दी के एकाकी नाटको मे यह अन्तर माना है कि प्राचीन एकाकी नाटक जटिल नियमो से बद्ध होने पर केवल छोटे निर्देश रखते थे या निर्देशहीन होते थे तथा आधुनिक हिन्दी नाटक बधनमुक्त होने पर भी व्यापक तथा लम्बे नाटकीय सकेतो से पूर्ण है। ये प्राचीन एकाकी नाटको की अपेक्षा जीवन के अत्यधिक समीप है तथा कल्पना पर आधारित होने पर भी जीवन का उल्लघन नही करते।

वे एकाकी नाटको की अपनी निजी कला मानते हैं, जो नाटको से भिन्न है। उनका विचार है कि नाटको की अपेक्षा इनमे घटना के विस्तार, पात्रो के चरित्र-चित्रण, विस्तृत सम्भाषण तथा वर्षो के विस्तार के लिए स्थान नही होता। वे एकाकी को कहानी का रगमच पर खेला जाने वाला सस्करण मात्र नही मानते तथा दोनो की कला मे उद्देश्य का विशेष अन्तर समझते है। उनका विचार है कि "कहानी का उद्देश्य पाठक के मनोरजन और दृष्टिकोण को सामने रखना है और एकाकी का उद्देश्य दर्शक की दिलचस्पी तथा उसके मनोरजन को। इसीलिए जहा कहानी में कई बार घटना इतनी जरूरी नही होती वहा नाटक मे यह अत्यन्त आवश्यक होती है।"[4] इनमे कहानी से अधिक पात्रो के सम्भाषण अथवा अभिनय की विशेषता होती है। वे एकाकी को श्री चन्द्रगुप्त की भाति सम्भाषण ही नही मानते। उनका विचार है कि अर्थपूर्ण सम्भाषण तो तन्मयता, अन्यमनस्कता तथा अभिनय की भाति उसकी कला का एक अग मात्र है। वे मानते है कि हिन्दी मे ऐसे भी एकाकी लिखे जा रहे है, जो रगमच के अनुकूल नही है तथा

---

१ 'दो एकाकी नाटक' (१९९७) (भूमिका) पृ० १७।

२ देखिए वही पृ० १६।

३ देखिए वही पृ० १९।

४. 'देवताओ की छाया मे' द्वितीय सस्करण (सन १९४९), आमुख पृ० २०।

जिनमे सम्भापणो का ही आविक्य मात्र है। पर वे अभिनेयता को उसका विशेप महत्त्वपूर्ण अग मानते है।[1]

उदयशकर भट्ट.—

भट्ट जी का विचार है कि वर्तमान एकाकी की प्रेरणा सस्कृत की अपेक्षा पाश्चात्य-नाटक-साहित्य से मिली है। वे हिन्दी के एकाकी की विशेप निजी सत्ता मानते है। एकाकी की कला के सम्वन्ध मे इनका विचार है कि एकाकी अपने मे पूर्ण होता है। उसमे जीवन की एक छोटी सी घटना का रूप-दर्शन होता है, जो पात्र या पात्रो द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ पराकाष्ठा को पहुचता है। वे मानते है कि एकाकी नाटक एक गतिमान ध्येय को लेकर चलता है। वह वाण से चिडिया की आखे वेधने वाले अर्जुन की तरह एकाग्रता तथा तन्मयता का ध्येय लेकर चलता है। उनका विचार है कि इसमे पहले आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करके चरित्र-चित्रण को सवाद-चेष्टा, भाव-भगी के सहारे दिखलाया जाता है तथा वीच मे या अन्त मे एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि जहा घटना तीव्र वेग से गतिमान होने लगती है और एक धक्के की तरह या तो रुक जाती है या आगे चल कर परिणाम को दिखाकर समाप्त हो जाती है।[2] वे इनमे क्षिप्रगति के साथ-साथ सवाद की तीक्ष्णता तथा यथार्थ का होना आवश्यक समझते है। वे गतिमान एकाकी को ही रोचक तथा आकर्पक मानते है तथा इस गति के लिए सवाद, घटना, वस्तु तथा पात्रो का एकीकरण आवश्यक समझते है। उन्होने एकाकी की सफलता और उसकी पूर्णता एक दृश्य के होने मे मानी है।

उनका विचार है कि एकाकी नाटक, समस्यामूलक, ऋतु-सम्वन्धी (फैन्टेसी) प्रहसन, गम्भीर नाटक के उन्ट्रयूडर, व्यग्यात्मक, मैलोड्रामा, कामेडी, ऐतिहासिक आदि प्रकार के होते है। वे उनकी सफलता के लिए उनके आदि, मध्य तथा अन्त का विशेप ध्यान रखना आवश्यक समझते है।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र—

मिश्र जी एकाकी नाटक की उत्पत्ति विदेशी अनुकृति के कारण ही नही मानते। उनका विचार है कि भारतेन्दु तथा प्रसाद के छोटे नाटक भारतीय शैली पर लिखे गए एकाकी नाटक है। इस प्राचीन शैली मे ही नवीन रुचि के अनुसार परिष्कार हो सकता है। वे मानते है कि कई प्राचीन रूपक तथा उपरूपक एकाकी नाटको का ही प्रयोजन सिद्ध करने वाले थे। वे इनके हिन्दी मे प्रचलन के दो कारण, एक तो विदेशी अनुकृति तथा दूसरे इनके द्वारा सरल और अल्प-साध्य मार्ग से मनोरजन होना मानते है।[3] उनका विचार

---

१ देखिए 'देवताओ की छाया में' (द्वितीय सस्करण, स० १९४९) पृ० २१।
२. देखिए 'स्त्री का हृदय' (१९४२) भूमिका पृ० ७।
३. देखिए 'वाड्मय विमर्श' (स० २००७), पृ० १०४।

है कि अधिकाश में हिन्दी के एकाकियो मे कहानी का मसाला सवादो मे रख दिया जाता है तथा बीच-बीच मे 'रग निर्देश' दे दिए जाते हैं।

रामनाथ 'सुमन' —

'सुमन' जी ने एकाकी की परम्परा को बहुत प्राचीन माना है। उनका विचार है कि यूरोप और एशिया मे किसी न किसी रूप में इनकी स्थिति प्राचीन काल से चली आ रही है। वे सस्कृत के पाच रूपको, व्यायोग, अक, प्रहसन, भाण तथा वीथी को एकाकी मानते हैं। वे मानते है कि प्रारम्भ मे इन एकाकियो का प्रचार था किन्तु बाद में पाच अक के नाटको के प्रचार के बाद इनकी परम्परा लुप्त हो गई। गति की दृष्टि से वे एकाकी को नाट्य-साहित्य मे सबसे आगे मानते है। वे उनके प्रचार का यह कारण मानते है कि इसके अभिनय मे अधिक समय नही लगता, पात्र थोडे तथा सहज-लभ्य होते है और दृश्यो की तैयारी भी उतनी कठिन नही होती।[1]

ब्रजरत्न दास —

ब्रजरत्न दास जी का विचार है कि जो एकाकी आज लिखे जा रहे है, वे सवादो के रूप मे लिखे गए गल्प ज्ञात होते हैं जिन्हे मच के नियमानुसार निर्देशो से सुसज्जित कर दिया गया है।[2] उनके विचार से इनमे छोटी घटना, जीवन की एक झाकी, छोटे कथावस्तु तथा कम पात्रो का समावेश होता है। ये भारत मे इनका प्रारम्भ भारतेन्दु से मानते है, किन्तु इसके आधुनिक रूप को पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित समझते हैं।

इन लेखको के अतिरिक्त हरिकृष्ण प्रेमी एकाकी के प्रचलन का विशेष कारण पाठको के पास समय का अभाव मानते है। उनका विचार है कि पाठक थोडे समय मे ही इसके द्वारा आनन्द ग्रहण कर सकते है। इनके विचार से एकाकी नाटक का लक्ष्य नैतिकता का प्रतिपादन करना है।[3] इसी प्रकार गुलाब राय तथा शिखर चन्द जैन ने एकाकी नाटको के सम्बन्ध मे परिचयात्मक विवरण दिया है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि आधुनिक आलोचको ने एकाकी की उत्पत्ति, विकास, विषय, स्वरूप, तत्त्व, महत्त्व, उद्देश्य, प्रकार, साहित्य के अन्य रूपो से तुलना, पाश्चात्य अथवा भारतीय प्रभाव का समावेश, प्राचीन तथा आधुनिक एकाकी नाटको की तुलना, इसके प्रचार के कारण आदि विषयो पर विचार प्रकट किए हैं।

इनमे एकाकी के महत्त्व तथा उपयोगिता के सम्बन्ध मे मतभेद है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार तथा जैनेन्द्र कुमार जैन इसकी साहित्य मे कोई विशिष्ट सत्ता नही मानते तथा इसे फैशन की एक कृत्रिम वस्तु और प्रोपेगेण्डा तथा विज्ञापनबाजी मे सहायक सम्भाषण

---

१. देखिए 'चारु मित्रा' (स० २०००) भूमिका पृ० ८।
२ देखिए 'हिन्दी नाट्य साहित्य' ब्रजरत्न दास (स० २००८) पृ० ४२।
३. देखिए 'मन्दिर' (सन् १९४२) ज्योति पृ० ३।

मात्र मानते हैं। रामकुमार वर्मा, श्रीपतराय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि ने इसको साहित्य का एक नवीन रूप मानकर इसके निजी अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है तथा इसे फैशन की वस्तु न मानकर इसकी उत्पत्ति को जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार माना है। रामनाथ 'सुमन' गति की दृष्टि से इसे नाट्य-साहित्य में सब से आगे मानते हैं।

प्राय. इन सभी आलोचकों ने एकाकी की परम्परा को विशेष प्राचीन माना है यद्यपि इन सभी का विचार है कि आधुनिक एकाकी प्राचीन परम्परा से विच्छिन्न नवीन रूप-सम्पन्न है। इनमें इस सम्बन्ध में मतभेद है कि इसके नव अभ्युत्थान की प्रेरणा इसे पाश्चात्य साहित्य से मिली है या प्राचीन भारतीय साहित्य से। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के विपरीत, जो इसकी उत्पत्ति का कारण विदेशी अनुकृति न मानकर प्राचीन भारतीय एकांकी का नवीन रुचि से संस्कार मानते हैं, राम कुमार वर्मा, रामनाथ 'सुमन', उदयशंकर भट्ट, सद्गुरुशरण अवस्थी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नगेन्द्र आदि इसे पश्चिम के आधुनिक एकाकी से प्रभावित मानते है। इनका विचार है कि इसकी उत्पत्ति नाटक के प्राचीन भावनो तथा रूढ़ियो की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई है। इनकी मान्यता है कि आधुनिक एकाकी पश्चिमी तथा भारतीय प्राचीन एकांकी से पूर्णतया भिन्न है।

इन्होंने प्राचीन भारतीय एकाकियो तथा आधुनिक एकाकियो की तुलना करके दोनो का पारस्परिक अन्तर बताया है। इनका विचार है कि प्राचीन सस्कृत के एकाकियों में जटिल लक्षणो का समावेश, केवल छोटे निर्देश तथा जीवन की असम्बद्धता थी और आधुनिक एकाकियो मे जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति, आतरिक सघर्ष की प्रधानता, नियमों के बन्धन से स्वतन्त्रता, व्यापक तथा लम्बे नाटकीय सकेतो की पूर्णता और जीवन से निकटता है।

इन लेखकों ने आधुनिक एकाकी नाटक के स्वरूप का विवेचन भी किया है। इनका विचार है कि इसमें एक ही मार्मिक घटना एक ही अक में थोड़े से समय में उत्कृष्ट रूप में चित्रित होती है, अनावश्यक विस्तार नहीं होता, तीव्रता तथा मार्मिकता से प्रभावित करने की शक्ति होती है, इसकी एक ही घटना कौतूहल का सचय करते हुए चरम-सीमा तक पहुचती है, इसमें कोई अप्रधान प्रसग नहीं होता, जीवन के अभ्युदयशील क्षणो के भावों का चित्रण होता है, मानव हृदय के शाश्वत प्रश्नो का निदर्शन होता है, यह अपने मे पूर्ण तथा गतिमान होता है, इसमें संवाद, घटना, वस्तु तथा पात्र का एकीकरण होता है, एक ही दृश्य होता है, इसकी सृष्टि दर्शको की रुचि के आधार पर होती है, इसमे आकार का केन्द्रीभूत प्रभाव, वैयक्तिक और स्थानीय विशेषताओ की केवलता, तार्किक मौलिकता, निष्पक्ष समीक्षा, विषय प्रतिपादन की निष्ठा, वास्तविकता, मानसिकता, भावुकता हीनता होती है, यह मानवता के समूचे भाव जगत् को झनझनाने की शक्ति रखता है, इसमे भाव-पूर्णता के साथ चितना का भी समाहार होता है, इसमें जीवन के क्रमबद्ध विवेचन के स्थान पर उसके एक पहलू, एक महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति, एक उद्दीप्त क्षण का चित्रण होता है, तथा इसकी कला के अग, अर्थपूर्ण सम्भाषण, तन्मयता, अन्यमनस्कता, एकाग्रता, आकस्मिकता और अभिनय होते हैं।

इन्होने एकाकी नाटक के विषय पर भी विचार प्रकट किए है। इनका विचार है कि इसका विषय, जीवन का एक चित्र, एक रेखा, एक बिन्दु, एक झाकी, एक अनुभव, एक परिस्थिति तथा एक पटल होता है। ये मानते है कि इसके विषय की कोई सीमा नही है तथा इनका विषय जीवन की विभिन्न घटनाओ से लिया जाना उचित है।

इन्होने इनकी कथावस्तु, पात्र-चित्रण, सम्भापण, उद्देश्य आदि का भी विवेचन किया है। इसकी कथावस्तु के सम्बन्ध मे इनके विचार है कि यह स्पष्ट, कौतूहलपूर्ण, वर्णनात्मकता की अपेक्षा अभिनयात्मकता से युक्त, सक्षिप्त तथा समन्वित घटनाओ से युक्त होती है। वे इसकी कथावस्तु का तीव्र रूप मे प्रारम्भ से विकास, चरम सीमा और अत तक स्वाभाविक रूप मे जाना कलात्मक मानते है। एकाकी के पात्रो तथा उनके चित्रण के सम्बन्ध मे इनका विचार है कि इसके मुख्य पात्रो की सख्या दो या एक तथा अप्रधान पात्रो की सख्या चार या पाच ही होनी चाहिए, क्योकि अधिक पात्रो के चित्रण की मार्मिकता के लिए इसमे स्थान नही होता। ये इन पात्रो के स्वरूप की रूपरेखा पत्थर पर खिची हुई रेखा की भाति स्पष्ट होना ठीक समझते है। इनके विचार से इसके चरित्र-चित्रण मे आन्तरिक द्वन्द्व का प्रदर्शन तथा मनोवैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति आवश्यक है। इसके सम्भाषण के सम्बन्ध मे इनका विचार है कि ये रोचक, तर्कपूर्ण, गतिशील, तीक्ष्ण तीव्र, प्रवाहपूर्ण, प्रभावशाली, यथार्थ, व्यर्थ के विशेषण तथा प्रलाप से हीन तथा नपे-तुले अर्थपूर्ण शब्दो वाला होता है। इसी प्रकार इसके उद्देश्य के सम्बन्ध मे इनका विचार है कि आधुनिक एकाकियो का एक सुनिश्चित तथा सुकल्पित उद्देश्य होता है। ये इसका लक्ष्य समाज के सामने उसकी समस्याओ को व्यग्यपूर्ण रूप मे रखना, उसका मनोरजन करना तथा नैतिकता का प्रतिपादन करना मानते हैं।

इनके अधिकाधिक प्रचलन के कारणो के सम्बन्ध मे इनका विचार है कि चूंकि इनके विषय मे अधिक समय नही लगता, पात्र थोडे होते है, दृश्यो की तैयारी कठिन होती है, थोडे समय से अल्प-साध्य मार्ग से सरस मनोरजन हो जाता है, यह नाटक की अपेक्षा सरलता से खेला जाता है तथा इसका लिखना सरल होता है, इसलिए उत्तरोत्तर इसका प्रचार बढता जा रहा है।

इन्होने एकाकी का साहित्य के विभिन्न रूपो से भी तुलनात्मक अध्ययन किया है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार जी एकाकी को कहानी का रगमच पर खेला जाने वाला सक्षिप्त सस्करण मानते है तथा मिश्र जी एकाकी मे रग निर्देश के साथ कहानी का मसाला रखा हुआ समझते है। इनके विपरीत 'अश्क' जी इन दोनो के विभिन्न स्वरूपो को मान्यता देते हैं। उनका विचार है कि कहानी मे पाठक का दृष्टिकोण तथा एकाकी मे दर्शक का दृष्टिकोण प्रमुख होता है, कहानी मे घटना की अनिवार्यता नही होती, एकाकी नाटक मे विशेष रूप मे होती है, कहानी मे कहानी कहने पर ध्यान रहता है, एकाकी मे सम्भाषण तथा अभिनय की विशेषता पर रहता है तथा कहानी मे अभिनेयता तथा घटना और पात्रो की रूपरेखा इतनी स्पष्ट नही होती, जितनी एकाकी मे होती है। इसी प्रकार इन्होने कहानी को सम्भाषण से भी पृथक् माना है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार जी कहानी को सम्भाषण मात्र

मानते है तथा अश्क जी सम्भाषण को उसके अन्य तत्त्वो मे से एक तत्त्व मात्र समझते हैं। नगेन्द्र जी एकाकी का नाटक से वही अन्तर मानते है, जो उपन्यास तथा कहानी का अन्तर होता है।

इन्होंने एकाकी नाटको के समस्या-नाटक, ऋतु सम्बन्धी (फेन्टेसी), प्रहसन, गम्भीर नाटक के इन्ट्रयूडर, व्यग्यात्मक, कामेडी, ऐतिहासिक, रेडियो-प्ले, झाकी, रोमाटिक, मोनोड्रामा आदि रूप माने है। इनका विचार है कि फेन्टेसी इसका अत्यन्त रोमाटिक रूप है, जिसमें कल्पना की सृष्टि तथा लेखक का दृष्टिकोण एकान्त, वस्तुगत और स्वच्छन्द होता है और किसी प्रकार का मनोगत विधान नही होता। झाकी में एक दृश्य एक ही घटना, एक अनुभव तथा एक परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण वाली बात सच्चाई के साथ रहती है। इसी प्रकार 'रेडियो-प्ले' मे श्रव्य का अश तथा एकाकी में दृश्य का अश विशेष रूप मे रहता है। नगेन्द्र जी टेक्नीक की दृष्टि से इसके दो भेद करते है तथा एक मे विकास की प्रमुखता मानते हैं तथा दूसरे में विन्यास या उद्घाटन की।

प्रकरण ८

हिन्दी साहित्य का इतिहास

भारतीय-साहित्यालोचन मे साहित्य के इतिहास का विकास :—

इतिहास का (इति+ह+आस) 'आस' शब्द वैदिक काल का है। ऋक्-सहिता में इसका प्रयोग हुआ है।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में भी इतिहास-पुराण नामक पचम वेद का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण मे इतिहास को एक कला माना है। 'काव्य मीमासा' में चार उपवेदो में इतिहास-वेद का भी उल्लेख है। यास्क के निरुक्त ग्रन्थ मे इतिहास शब्द और ऐतिहासिक मत की चर्चा है। वेदो का अध्ययन भी इतिहास पुराण के बिना अधूरा माना गया है। इतना होने पर भी प्राचीन काल मे भारत में इतिहास लेखन की प्रथा का प्राय अभाव था।

सस्कृत साहित्य में कोई साहित्य का इतिहास नही लिखा गया, क्योकि सस्कृत के कवि तथा आचार्य अपने अथवा अपनी कृति के सम्बन्ध में विशेष कुछ लिखने के अभ्यस्त नही थे। भारतीय आचार्यो ने निर्वैयक्तिक रूप में सैद्धान्तिक आलोचना की तो अधिकाधिक रचना की, किन्तु व्यावहारिक-आलोचना तथा इतिहास-लेखन की ओर प्रवृत्त नही हुए। इतिहास-लेखन मे कलाकारो तथा उनकी कृतियो की व्यावहारिक-आलोचना का समावेश होता है, इसलिए ये आचार्य इससे तटस्थ ही रहे। इन्होने रचनात्मक-साहित्य के आधार पर विभिन्न-सिद्धान्तो का निर्वैयक्तिक निरूपण तो किया पर वैयक्तिक रूप में साहित्य की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत नही की। इनकी आलोचना वस्तुपरक अधिक है, व्यक्तिपरक कम। उनकी इस व्यक्तित्व-निरपेक्षता के कारण ही कवियो तथा ग्रन्थकारो के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। इनकी दृष्टि, साहित्य की आत्मा के निरीक्षण की अपेक्षा साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया, उसकी बौद्धिक-प्रक्रिया तथा साहित्य के रचना-क्रम के अध्ययन की ओर कम गई। यहा सैद्धान्तिक-विवेचन का इतना प्रसार हुआ और रचनात्मक-साहित्य के लिए सिद्धान्तो तथा नियमो का इतना अकुश स्थापित हुआ कि उसमें स्वतन्त्र-मार्ग ग्रहण करने की शक्ति नही रही, इसलिए उसके इतिहास तथा विकास के देखने की आवश्यकता भी नही समझी गई।

---

१ "तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्र मृड् मिश्र गाथा मिश्र भवति।" 'हिन्दी साहित्य प्रेरणाए और प्रवृत्तिया'—ले० शिवनन्दन प्रसाद एम० ए० (१९५५), पृ० १।

इनकी साहित्यालोचन की पद्धति सश्लेषणात्मक की अपेक्षा विश्लेषणात्मक अधिक रही है। वे विभिन्न ग्रन्थो की टीकाए तथा व्याख्याए पृथक् पृथक् रूप मे लिखते थे। टीकाओ मे भी प्रत्येक श्लोक की पृथक्-पृथक् व्याख्या करने की प्रवृत्ति अधिक तथा समन्वित रूप मे व्याख्या प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति कम थी। इस प्रकार किसी ग्रन्थ की सम्पूर्ण रूप मे व्याख्या प्रस्तुत करने की तथा मूल्याकन की ओर उनकी रुचि नही थी। सस्कृत-साहित्यालोचन की व्यावहारिक-आलोचना कृति तक सीमित रहती थी। उसमे न तो कलाकार, उसके व्यक्तित्व तथा उसके दृष्टिकोण के लिए स्थान ही था, न आलोचक की अपनी अनुभूति, रुचि तथा प्रभाव की अभिव्यक्ति होती थी। इनका विवेचन पूर्णतया व्यक्ति-निरपेक्ष तथा तटस्थ होता था, जो इतिहास-लेखन के अनुकूल नही है।

यहा राजनीतिक परिस्थितियो के कारण भी ग्रन्थो का सग्रह तथा उनका व्यवस्थित निरूपण होने का अवसर प्राप्त नही होता था। ये कवि तथा आचार्य अपने-अपने विषय तक ही सीमित रहते थे। यदि कभी पूर्ववर्त्ती कवियो, आचार्यो तथा आख्यायिका-लेखको का कोई उल्लेख भी होता था तो जिस शैली अथवा विषय की कृति होती थी, उसी के पूर्ववर्ती रचयिताओ का उल्लेख उनके द्वारा कर दिया जाता था। कवि तथा लेखक अपनी अपेक्षा अपने आश्रय-दाताओ का परिचय देने मे विशेष तत्पर रहते थे।

इन आचार्यो की एक अन्य प्रवृत्ति, सूक्ति रूप मे अपने विचारो को अभिव्यक्त करने की थी। ये विस्तार तथा व्याख्या की अपेक्षा, सक्षिप्त तथा सूक्ति रूप मे अपने विचार प्रकट करना श्रेयस्कर समझते थे। इस कारण इनकी प्रवृत्ति साहित्य के क्रमपूर्ण इतिहास की ओर नही गई तथा इन्होने विभिन्न सक्षिप्त उक्तियो तथा सूक्तियो द्वारा कवियो तथा उनकी कृतियो पर अपने विचार प्रकट किए।

इसके अतिरिक्त इन्होने अपने युग, परिस्थितियो, सामूहिक जीवन तथा जातिगत विशेषताओ का कोई उल्लेख न करके, अपने आपको व्यष्टि तक ही सीमित रखा है। इसमे समष्टि-भावना का अभाव था। इनके ग्रन्थो मे यदि कही किसी का उल्लेख मिलता भी है तो केवल व्यक्तियो (राजाओ, कवियो, आचार्यो आदि) का ही मिलता है। सामूहिक रूप मे किसी तथ्य अथवा वस्तु का दर्शन करने की वैज्ञानिक अथवा सामाजिक दृष्टि इन्हे प्राप्त नही थी। सामाजिक परिस्थितियो, यग-विशिष्टताओ तथा विभिन्न प्रदेशो तथा क्षेत्रो के विभिन्न वातावरणो का इन्होने निरीक्षण नही किया था। इनकी वृत्ति, जिस प्रकार व्यक्तित्व-निरीक्षण मे अधिक नही रमती थी, उसी प्रकार जीवन तथा जगत् की परि-स्थितियो तथा भाव-धाराओ मे अधिक लीन नही होती थी। इनका लक्ष्य जीवन तथा जगत् की विभिन्नता के सत्य की अपेक्षा ससार के पूर्ण तथा व्यापक सत्य के अनुसधान की ओर अधिक था। इसलिए उन्होने खण्ड-जीवन तथा व्यष्टिगत सत्य का वह निरूपण नही किया, जो इतिहासो मे होता है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण रखने के कारण भी ये यथार्थवादिता, वास्तविकता तथा तथ्य-पूर्णता से प्राय तटस्थ थे तथा कृति और कृतिकार के आन्तरिक विश्लेषण और विवेचन की अपेक्षा आदर्शो की व्याख्या मे अधिक तत्पर रहते थे और उनके आधार पर

कृतियो का वस्तुपरक निर्णय करने के अभ्यस्त थे। इतिहास लेखन के लिए आदर्श वादिता, निरपेक्षता तथा विषयपरकता के अतिरिक्त, यथार्थता, व्यक्तिपरकता तथा जीवन और जगत् के अध्ययन की अधिक अपेक्षा होती थी।

इस प्रकार विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति, निर्वैयक्तिक सिद्धान्त-निरूपण, व्याख्या की अपेक्षा सूक्ष्म-कथन की प्रवृत्ति, समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि तक सीमित रहने की मनोवृत्ति, विभिन्न विषयो की अपेक्षा एक विषय अथवा साहित्य के एक रूप में सीमित रहने के स्वभाव के कारण, सस्कृत लेखक व्यवस्थित इतिहास-लेखन से दूर रहे। परवर्ती काल मे हिन्दी साहित्य को भी इनकी यही विशेषता प्राप्त हुई।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे इतिहास सम्बन्धी आलोचना का विकास —

पाश्चात्य-साहित्यालोचन के अन्तर्गत इतिहास-लेखन का आरम्भ ईसा की पाचवी शताब्दी के पूर्व से ही हो गया था। उस समय इसमे, धार्मिक, नैतिक तथा देशभक्ति सम्बन्धी शिक्षाओ, कहानियो तथा अतीत के मनुष्यो के व्यवहार का वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक अध्ययन समाविष्ट रहता था।[1] मध्यकाल मे इसमें अतीत का बौद्धिक विवेचन होता था, इसीलिए बोलिग ब्रोक उस दर्शन को इतिहास कहते हैं, जो उदाहरणसहित शिक्षा देता है।[2] उन्नीसवी शताब्दी मे इतिहासकारो मे अतीतकाल तथा दूरवर्त्ती प्रदेशो के वातावरण को चित्रित करने की भावना तीव्र होने लगी थी तथा बीसवी शताब्दी में इतिहास-लेखन एक कला ही नही था, वरन् विज्ञान के पद पर आरूढ हो गया था।[3] इस समय इसमें तटस्थता, न्यायपूर्णता तथा निष्पक्षता का समावेश होने लगा और समीकरण के सिद्धान्त तथा तथ्यो के क्रमपूर्ण-विन्यास का लक्ष्य सामने रखा जाने लगा। आज भी इतिहास पूर्णतया विज्ञान नही माना जाता है, क्योकि यह केवल तथ्यो का समूह मात्र नही है, वरन् इनसे प्राप्त होने वाली समानताओ तथा नियमो की एक पद्धति है।[4] आधुनिक इतिहास-लेखन मे मानव व्यवहारो के ऐतिहासिक तथा भौतिक विकास के अध्ययन का भी विशेष आधार लिया जाता है।

उन्नीसवी शताब्दी मे सेन्ट ब्यूव ने किसी कृति का निर्णय करने के लिए उसके लेखक का ज्ञान होना आवश्यक माना है, इसलिए वे उसके जीवन का परीक्षण, मानसिक दृष्टिकोण तथा परिस्थितियो का अध्ययन आवश्यक समझते हैं। इनके समकालीन टेन, साहित्य को सामाजिक शक्तियो की उपज समझते है। उनके विचार से कोई साहित्यिक, जिस युग

---

१ देखिए 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेचर' शिपले (१९४३) पृ० २९९।
२ देखिए वही, पृ० ३००।
३ "इन दिस सेन्च्युरी देयर ओल्सो डेवेलप्ड दी क्लेम दैट हिस्ट्री इज नोट आर्ट बट साइंस" वही, पृ० ३००।
४. "साइंस इज नोट ए कलैक्शन आव फैक्ट्स। इट इज ए सिस्टम ऑव लाज़ और यूनी-फोरमिटिज, दी साइन्टिस्ट फाइन्ड्स इन फैक्ट्स" वही, पृ० ३०७।

में रहता है, जिस समाज मे उत्पन्न होता है तथा जिन परिस्थितियो से उसका स्वरूप-निर्माण होता है उन्ही की उपज होता है। उन्होने अपने रेस, मिल्यू तथा मोमेण्ट के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका रेम से तात्पर्य किसी जाति के मनुष्यो की परम्परागत मनोवृत्ति तथा स्वभाव से है, मिल्यू से तात्पर्य उनकी परिवृत्तियो, जलवायु, भौतिक परिस्थितियो, राजनीतिक सस्थाओ, सामाजिक स्थितियो आदि के समूह से है तथा मोमेन्ट से तात्पर्य उस काल की मूल-चेतना अथवा उसके राष्ट्रीय विकास के विशिष्ट स्तर से है। उनका मत है कि किसी जाति के व्यक्ति इन तीन शक्तियो की उपज होते हैं, इसलिए इतिहास-लेखन के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है। टेन के सिद्धान्त मे कुछ दोष है। वे व्यक्तियो की उन निजी विशिष्टताओ तथा गुणो का विचार नही करते, जिनसे मनुष्य अपनी परिस्थितियो से पृथक् भी अपना स्थान रखता है। वे इस बात का तो निर्देश करते है कि कोई युग लेखक को प्रभावित करता है, किन्तु इस बात का उल्लेख नही करते कि लेखक भी युग को प्रभावित करता है। उन्होने लेखक के व्यक्तित्व की रचनात्मक शक्ति की भी अवहेलना की है। वास्तव में कोई महान् लेखक अपने युग की उपज ही नही वरन् अपने युग का निर्माण करने वाला भी होता है। इसके अतिरिक्त किसी लेखक की कृति तथा उसके व्यक्तित्व का अध्ययन भी तटस्थ तथा पृथक् रूप मे नही हो सकता, क्योकि उसके विचारो तथा शैलियो पर अन्य मनुष्यो के विचारो तथा शैलियो का भी प्रभाव पडता है और उसको समझने के लिए उन प्रभावो के मूल स्रोत, महत्त्व, अच्छाई तथा बुराई को भी समझना आवश्यक होता है।[1] हडसन का विचार है कि एक युग का प्रतिभाशाली व्यक्ति कभी-कभी दूसरे युग की प्रतिभाओ को भी प्रभावित कर देता है तथा कभी एक देश की प्रतिभाओ का दूसरे देश के साहित्यिक विषयो, शैलियो तथा रूढ़ियो पर भी प्रभाव पडता है। इसी प्रकार वे यह भी मानते है कि किसी युग की साहित्यिक शैली के अध्ययन से भी उस युग के आन्तरिक जीवन के प्रभावो का पता चलता है, क्योकि बाह्य शैली-विधान भी किसी युग के आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति का ही सफल साधन है तथा उसके द्वारा निर्मित होता है।[2]

हडसन का साहित्य के सम्बन्ध मे विचार है कि किसी जाति का साहित्य किसी भाषा तथा भौगोलिक-प्रदेश मे लिखित पुस्तको का समूह नही है वरन् उस जाति के मस्तिष्क तथा चरित्र की विभिन्न युगो मे होने वाली प्रगतिशील अभिव्यक्ति है।[3] वे एक महान् लेखक का कोई पृथक् अस्तित्व नही स्वीकार करते तथा उसे भूत और वर्तमान से सम्बद्ध मानते हैं, जिसके कारण उसके द्वारा एक विकासशील, सजीव वस्तु का पता चलता है, जिसका एक निजी क्रमागत जीवन होता है तथा जो अपने विकास के क्रम में विभिन्न स्तरो में

---

१ देखिए 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑव् लिट्रेंचर' ले० हडसन (१९५४), पृ० ४४।

२. देखिए वही, पृ० ५२।

३ देखिए वही, पृ० ३२।

होकर गुजरता है।[1] इसलिए वे ऐतिहासिक अध्ययन के लिए एक तो निरन्तर जीवन क्रम या राष्ट्रीय मूल-चेतना तथा दूसरे उसके निरन्तर प्रवाहित जीवन मे परिवर्तनशील रूपो का अध्ययन करना आवश्यक मानते है।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे साहित्य के इतिहास का विकासः—

भारतीय साहित्यालोचन मे इतिहास-लेखन की कला का प्रचार न होने के कारण हिन्दी मे भी उन्नीसवी शताब्दी तक साहित्य के इतिहास लिखने की प्रवृत्ति के दर्शन नही होते। इससे पूर्व हिन्दी मे या तो किसी भक्त अथवा कवि की जीवनी मिलती है या किसी काल मे व्यक्तिगत रूप मे किसी कवि अथवा लेखक द्वारा अपने परवर्त्ती या समकालीन कवियो या भक्तो का उल्लेख मिलता है। कभी-कभी प्रसिद्ध कवियो ने अपने ग्रन्थो मे अपने उन पूर्ववर्त्ती कवियो का उल्लेख मात्र कर दिया है, जो उसी विषय, रस या शैली में काव्य-रचना करते थे। इस प्रकार का उल्लेख मलिक मोहम्मद जायसी ने अपनी पद्मावत में किया है।[2] पर इस प्रकार के उल्लेख मे ऐतिहासिकता की छाया मात्र भी नही दिखाई देती। इसका उद्देश्य केवल यह दिखाना होता था कि इस परम्परा मे उस कवि से पहले और कौन-कौन से कवि हो गए है, जिन्होने उस परम्परा का निर्वाह किया है। एक ही पुस्तक मे एक ही प्रकार के कवियो या भक्तो की नामावली तथा उनके जीवन-वृत्त का उल्लेख मिलता है, किन्तु कवियो तथा साहित्यिको का व्यवस्थित इतिहास नही मिलता।

इस प्रकार एक तो परम्परा का उल्लेख करने के लिए तथा दूसरे अपने पूर्ववर्त्ती भक्तो का चरित-गान करने के लिए कुछ नामावलिया, टीकाए, वार्ताए, भक्तमाल तथा प्रकाशिकाओ की रचना होती रही, जिनका उद्देश्य भक्तो का परिचय देना तथा उनकी महिमा का गान करना होता था। आलोच्य-काल से पूर्व इस प्रकार के ग्रन्थो मे प्रसिद्ध गोकुल नाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता', नाभादास का 'भक्त-माल', तुलसी की 'कविमाला', कालिदास त्रिवेदी का 'कालिदास हजारा', सूदन की 'कवि नामावली', सुब्बा सिंह की 'विद्वान मोदतरगिणी' आदि ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त हरिदास की 'भक्त-विरुदावली', प्रियादास की 'भक्तमाल की टीका', कर्ण कवि का 'काव्य-कुसुमोद्यान' तथा लल्लू लाल का 'सभाविलास' आदि ग्रन्थ भी लिखे गए। इन सभी ग्रन्थो का उद्देश्य भक्तो का जीवन चरित लिख कर जनता मे उनके महत्त्व को प्रतिपादित करना था। ये ग्रन्थ साहित्यिक-उद्देश्यो से नही लिखे गए थे। उनका साहित्य के विकास-क्रम मे उल्लेख इसलिए होता है कि ये उन भक्तो की वार्ताओ को लेकर चले हैं, जो साहित्य-रचना भी करते थे तथा जिन्होंने अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओ से हिन्दी-

---

१ देखिए 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिट्रेचर'—ले० हडसन (१९५४) पृ० ३१।

२. "विक्रम धसा प्रेम के बारा। सपनावति कह गएऊ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगंन पूर होइगा बैरागी॥ ...... ।"
'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ले० रामचन्द्र शुक्ल (१९९९) पृ० १११।

साहित्य की श्रीवृद्धि की है। इन रचनाओ का उद्देश्य तथा साहित्यिक महत्त्व, इतना कवियो के कवित्व तथा उनके व्यक्तित्व का निरूपण करना नही है, जितना उनके धार्मिक महत्त्व का प्रतिपादन करना है। इनमे समकालीन विचारधारा तथा साहित्य के क्रमागत-विकास का इतिहास भी नही दिया गया है।

इन धार्मिक तथा परिचयात्मक कवि-मालाओ के अतिरिक्त आलोच्य-काल से पूर्व राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने भाषा के विकास पर एक निबन्ध लिखा है, जो साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत नही आता है। इसके पश्चात् एशियाई भाषाओ के फ्रेन्च विद्वान गार्से द तासी ने फ्रेंच भाषा मे कवियो के नाम का सर्वप्रथम सग्रह 'इस्त्वार द ला लिनेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी' प्रस्तुत किया, जो इतिहास का आभास मात्र प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ मे अग्रेजी वर्णमाला के क्रम से हिन्दी तथा उर्दू के कवियो तथा कवयित्रियो का विवरण दिया गया है। इसके प्रारम्भ मे १४ पृष्ठो की एक भूमिका मे भाषा तथा साहित्य का विवेचन भी किया गया है। प्रथम बार हिन्दी कवियो का विवरण देने के लिए इसका विशेष महत्त्व है। इस प्रकार हिन्दी मे इतिहास-लेखन का प्रारम्भ कवियो के विवरणो तथा ग्रन्थो के वर्णन से होता है।

आलोच्य-काल मे हिन्दी साहित्य के इतिहास सम्बन्धी आलोचना का विकास —

'तासी' के ग्रन्थ के कारण जो कवियो के विवरण देने का क्रम हिन्दी मे प्रारम्भ हुआ वह बहुत समय तक चलता रहा। स० १९३० मे महेशदत्त शुक्ल द्वारा हिन्दी का पहला कवियो का सग्रह 'भाषा काव्य सग्रह' लिखा गया, जिसमे हिन्दी के कवियो की कविताओ के सग्रह के अतिरिक्त उनका, सक्षेप मे जीवन-चरित तथा अन्त में कठिन शब्दो का कोश दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य लेखक निम्नाकित है —

शिवसिंह सेगर —

इन्होने स० १९४० में अपना ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' प्रकाशित किया, जो इतिहास की अपेक्षा कवियो के विवरण, जीवनी तथा कविता के उदाहरणो का ग्रन्थ है। इसमें कवियो की सख्या 'तासी' के ग्रन्थ से अधिक है तथा पहली बार हिन्दी साहित्य के इतिहास का ढाचा खडा करने का प्रयत्न किया गया है।[1] इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि परवर्ती इतिहास-लेखको ने इसका आधार ग्रहण कर के अपने इतिहासो की रूप-रेखा तैयार की है।

सर जार्ज ग्रियर्सन —

'शिवसिंह सरोज' के आधार पर ग्रियर्सन ने स० १९४६ मे 'माडर्न वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव नार्दर्न हिन्दुस्तान' नामक कवि-वृत्त-सग्रह लिखा, जिसका हिन्दी-साहित्य

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' (स० २००९), पृ० १।

के परवर्ती इतिहासो के लिए आधार प्रस्तुत करने के कारण विशेष महत्त्व है। इसकी प्रमुख विशेषता इस वात मे है कि इसमे सबसे पहले हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन करने का प्रयत्न किया गया है। इसका काल-विभाजन इस प्रकार है: (१) चारण काव्य (७०० ई० से १३०० ई०), (२) पन्द्रहवी शताब्दी का धार्मिक पुनरूज्जीवन, (३) मलिक मोहम्मद जायसी का प्रेम काव्य, (४) व्रज का कृष्ण-सम्प्रदाय (१५०० ई० से १६०० ई०), (५) मुगल दरबार, (६) तुलसीदास, (७) अलकरण काल (सन् १५४० से १६९२ ई०), केशव, चिन्तामणि, बिहारी लाल (८) तुलसी दास के अन्य उत्तराधिकारी (सन् १६०० से सन् १७०० ई०), (९) अठारहवी शताब्दी, (१०) कम्पनी के अधिकार मे हिन्दुस्तान-(भाग १) बुन्देल खण्ड, बघेलखण्ड (भाग २), बनारस (भाग ३) अवध तथा (११) रानी के अधिकार मे हिन्दुस्तान। इस प्रकार इस काल-विभाजन का कोई निश्चित वैज्ञानिक आधार नही है तथा यह प्रारम्भिक, अव्यवस्थित, अपूर्ण तथा अविकसित रूप मे है। इसमे कही प्रवृत्तियो, कही राज्य, कही कवि-विशेष, कही प्रान्तो, कही शताब्दियो तथा कही निश्चित वर्षो के आधार पर विभाजन किया गया है। इनके काल-विभाजन का विशेष महत्त्व इसलिए नही है कि यह व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विभाजन है, पर इसलिए है कि यह हिन्दी साहित्य का प्रथम काल-विभाजन होने के नाते परवर्त्ती काल-विभाजनो क आधार-स्वरूप है।

इम ग्रन्थ मे सव से पहले कवियो की आलोचना के एक विशिष्ट-रूप के दर्शन होते है। तुलसी के काव्य के गुणो की मार्मिक महत्ता का प्रतिपादन इसी ग्रन्थ मे सबसे पहले हुआ है। इसीलिए यह पूर्ववर्त्ती सभी इतिहासो से अधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक इतिहाम हे।

इसके पश्चात् श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी कोविद रत्न-माला' का प्रकाशन दो भागो मे किया, जिसमे ८० आधुनिक-लेखको के जीवन-चरित के साथ उनकी कृतियो का विवरण भी दिया गया है। यह ग्रन्थ जीवन चरित तथा कृतियो के विवरण तक सीमित रहने के कारण सच्चे अर्थों मे साहित्य का इतिहास नही है तथा इसमे केवल परम्परा का निर्वाह मात्र है।

मिश्रवन्धु —

वत्त-सग्रहो की इसी परम्परा के एक विस्तत तथा विकसित रूप मे 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की प्रेरणा से मिश्रवन्धुओ का एक विशाल ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' नाम से निकला, जो सच्चे अर्थो मे इतिहास नही है। इसलिए लेखक ने स्वय इसका नाम इतिहास न रख कर 'विनोद' रखा है। इसका विशेष उद्देश्य भाषा सम्वन्धी परिवर्तनो तथा कवियो की आलोचना करने की अपेक्षा छोट वडे कवियो तथा लेखको को स्थान देना था। इस सम्वन्ध मे वे स्वय लिखते है कि "पहले हम इस ग्रन्थ का नाम 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' रखने वाले थे, पर इतिहास की गम्भीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि इसमे साहित्य का इतिहास लिखने की पात्रता नही है। फिर इतिहास ग्रन्थ मे छोटे वडे सभी कवियो एव

लेखकों को स्थान नही मिल सकता। उसमे भाषा सम्बन्धी गुणो एव परिवर्तनो पर तो मुख्य रूप से ध्यान देना पडेगा, कवियो पर गौण रूप से। परन्तु हमने कवियो पर भी पूरा ध्यान रक्खा है। यह ग्रन्थ इतिहास से भी इतर बातो का कथन करता है।"[१] इस प्रकार इनके कथन से इनकी इतिहास सम्बन्धी धारणा का पता चलता है। वे इतिहास-लेखन के कार्य को गम्भीर मानते है, यह तो ठीक है, पर उनकी यह धारणा कि उसमे केवल भाषा सम्बन्धी गुणो तथा परिवर्तनो का मुख्य विवेचन होता है, भ्रामक तथा सीमित है। उनका यह विचार भी भ्रामक है कि इतिहास मे छोटे-बडे सभी कवियो तथा लेखको को स्थान नही मिलता। वास्तव में साहित्य के इतिहास मे सभी छोटे-बडे लेखको को स्थान तथा भाषा आदि का विचार ही नही होता वरन् युगानुकूल परिस्थितियो तथा प्रवृत्तियो के आधार पर साहित्य का विवेचन तथा मूल्याकन भी होता है। पर साहित्य के इतिहास के इस आदर्श का उदय उस समय तक नही हुआ था। इसलिए मिश्रबन्धुओ का यह प्रयास किसी प्रकार कम महत्त्व का नही है। यह हिन्दी का पहला वृत्त-सग्रह है, जिसमे अधिक से अधिक कवियो के जीवन वृत्तो को प्रस्तुत किया गया है। परवर्ती काल के वैज्ञानिक इतिहासो का यह ग्रन्थ विशेष आधार है, क्योकि जब तक किसी भाषा के सारे कवियो के प्रामाणिक वृत्तो का सग्रह तैयार न हो, तब तक इतिहास की सच्ची रूप-रेखा तथा विश्लेषणात्मक रूप मे उसका विवेचन कठिन है। इसमे इतिहास का शुद्ध स्वरूप तथा क्रम बनाए रखने के लिए कवियो का विवरण समयानुसार दिया गया है तथा ग्रन्थ के आदि मे एक सक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है।

इन्होने इसमे वर्तमान काल का विस्तृत वर्णन अनावश्यक समझ कर तथा झगडे बखेडे के डर से छोड दिया है।[२] हमारा विचार है कि यदि वे वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर साहस के साथ, तर्कपूर्ण रीति से साहित्यालोचन मे प्रवृत्त होते, तो आधुनिक कवियो का भी विवेचन कर सकते थे। इस इतिहास मे उन्होने अपने से पूर्व के सभी वृत्त-सग्रहो का उपयोग किया है। इस ग्रन्थ मे कवियो का विवरण उनके जन्म काल से न देकर काव्यारम्भ-काल से दिया गया है।

मिश्रबन्धुओ ने भी अपने इतिहास मे ग्रियर्सन की भाति हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन दिया है, जो इस प्रकार है —

नाम	समय	कितनी कविता मिलती है
पूर्वारम्भिक काल	स० ७०० से १३४३ तक	बहुत कम
उत्तरारम्भिक काल	स० १३४४ से १४४४ तक	थोडी
पूर्व माध्यमिक काल	स० १४४५ से १५६० तक	कुछ अधिक
प्रौढ माध्यमिक-काल	स० १५६१ से १६८० तक	अच्छी मात्रा में
पूर्वालकृत-काल	स० १६८१ से १७९० तक	बहुत अच्छी मात्रा मे
उत्तरालकृत-काल	स० १७९१ से १८८९ तक	वर्तमान मात्रा मे
अज्ञात काल	—	साधारण
परिवर्त्तन काल	स० १८९० से १९२५ तक	प्रचुरता से
वर्त्तमान काल	स० १९२५ से अब तक	बहुत अधिक

१. देखिए 'मिश्रबन्धु विनोद' 'भूमिका' (सन् १९८३) पृ० ३।
२ देखिए वही, पृ० ५।

उन्होंने पहले तीन विभाजनो पर केवल एक प्रकरण तथा शेष छ पर पृथक्-पथक् एक प्रकरण लिखा है, क्योकि पहले तीन विभाजनो की सामग्री इनकी अपेक्षा वहुत कम है। प्रौढ माध्यमिक काल के प्रकरण मे सूर-तुलसी काल, पूर्वालकृत काल में भूषण तथा देव काल और उत्तरालकृत काल में दास-पद्माकर काल का वर्णन है। अलकृत-काल का नाम इस काल मे अलकृत भाषा के आधिक्य के कारण रखा गया है। इस काल-विभाजन की एक मौलिक-विशेषता अज्ञात-काल का समावेश है, जिसमे अज्ञात समय वाले लेखको का समावेश किया गया है। वे मानते है कि ये अज्ञात समय वाले कविगण प्राय उत्तरालकृत तथा परिवर्तन काल के हैं। हिन्दी के यथासाध्य सभी कवियो का विवरण देने की इच्छा से इन कवियो का समावेश भी किया गया है। परिवर्त्तन काल मे उस समय के कवियो का विवरण है, जब पाश्चात्य सम्पर्क से उत्पन्न नवीन मानव भाव हिन्दी में स्थान पा रहे थे। वर्तमान काल के प्रकरण मे नूतन-विचारो से प्रभावित साहित्य का विवरण दिया गया है।

इनका काल-विभाजन यद्यपि विशेष वैज्ञानिक नही है, पर ग्रियर्सन के विभाजन से अधिक सगत तथा व्यवस्थित है। इनके काल-विभाजन का आधार काव्य की पृष्ठभूमि (सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक), जन-क्रान्ति की व्यापकता, ज्ञात-सामग्री मे निर्भ्रान्त तथ्य प्राप्त करके तारतम्य स्थापित करना और नए दृष्टिकोण को देखना है।[1] इनके काल विभाजन मे भी कुछ अभाव है। एक तो इन्होंने चारो कालो को दो-दो भागो मे विभाजित करने का कोई कारण प्रस्तुत नही किया है, दूसरे अज्ञात काल मे कवियो का काल-निर्णय किए विना उन्हे इसी प्रकार रख दिया है, तीसरे कुछ कालो को प्रवतियो के नाम से जैसे अलकृतकाल तथा कुछ को काल-क्रमानुसार, जैसे 'माध्यमिक काल' आदि के नाम से रखा है। इस प्रकार इन्होने काल-विभाजन का कोई एक वैज्ञानिक आधार नही लिया है। इस ग्रन्थ मे विभिन्न कालो की पृथकता तथा विशेषता का निर्देश इस आधार पर किया गया है कि किस काल मे कितनी कविता प्राप्त होती है। कविता की मात्रा का निर्देश भी कम, थोडी, अधिक मात्रा में, वहुत अच्छी मात्रा में, वर्धमान मात्रा मे, साधारण, प्रचुरता से, वहुत अधिक आदि अनिश्चित अर्थो मे किया गया है, जो केवल एक स्थल-विवेचन का द्योतक है। फिर भी इनके इस काल-विभाजन का यह महत्त्व है कि आगे के लेखकों को इसने व्यवस्थित-चिन्तन का आधार दिया है।

मिश्रवन्धुओ ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ स० ७०० से माना है किन्तु इसका कोई कारण नही दिया है। वे अपभ्र श के साहित्य को भी हिन्दी के अतर्गत मानते हैं। इनकी विभिन्न कालो की आलोचना का आधार भी वैज्ञानिक तथा सगत नही है। इन्होंने किसी काल की अपनी निजी प्रवृत्तियो के दर्शन करने की अपेक्षा प्रत्येक काल मे

---

१ 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' (सन् १९४५) —ले० चतुरसेन 'भूमिका' पृ० ३।

कुछ निश्चित विशेषताएं देखने का प्रयत्न किया है, जो उनकी आलोचना के आधार-स्तम्भ हैं। वे प्रत्येक काल में यह देखते हैं कि उनमें कौन सी विशेषताएं पाई जाती हैं तथा कौन सी नहीं पाई जातीं। प्रारम्भिक-काल के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "उत्तर प्रारम्भिक काल में वीर, श्रृंगार, ज्ञान तथा कथा-विभागों की प्राय समान उन्नति हुई तथा इन सब का कुछ बल रहा, परन्तु रीति-ग्रन्थों और नाटक का अभाव एवं स्फुट विषयों तथा गद्य का शैथिल्य रहा पूर्वकाल में प्राकृत मिश्रित भाषा का चलन रहा, परन्तु उत्तर में कोई भी भाषा स्थिर नहीं हुई और विविध कवियों ने यथारुचि व्रज, अवधी, राजपूतानी, खड़ी, पूर्वी आदि सभी भाषाओं की रचना की।"[1] इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक काल में उन विषयों की भी खोज की जो उस काल की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थे, जैसे प्रारम्भिक-काल में नाटक, रीति, गद्य, स्फुट विषय आदि की खोज की गई है। वे प्रत्येक काल में, हर एक प्रकार के विषय तथा विचारों को ढूंढने का प्रयत्न करते हैं, जो इतिहास के आदर्श के प्रतिकूल है।

इस ग्रन्थ में कवियों की जीवनी के विवरण के अतिरिक्त उनके साहित्यिक मूल्य का भी विवेचन किया गया है, किन्तु इसकी आलोचना के मानदण्ड तथा आदर्श पुरातन हैं। उनकी आलोचना के स्वरूप का प्रमुख आधार कवियों का गुण-दोष-वर्णन तथा तुलना करना है। इस सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं कि "इसमें प्रत्येक कवि का विवरण थोड़ा है और समालोचनाएं भी छोटी तथा पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं हैं। जब प्रत्येक कवि के ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन करके उन पर गम्भीर मनन किया जाय और तब अच्छे विद्वान उन पर गम्भीर आलोचना लिखें तभी वह सांगोपांग, दुरुस्त बनेगी तो साधारण गुण-दोषों का कथन उसमें मिलेगा।"[2] इस ग्रन्थ के चारों भागों में ४५९१ कवियों का वर्णन है। इसमें केवल रुचि के आधार पर निर्णय करके कवियों का वर्गीकरण किया गया है। कहीं-कहीं इनकी भाषा भी इतिहास की आलोचना के उपयुक्त नहीं है। इनका आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक की अपेक्षा मध्यकालीन है तथा इनकी रुचि भी रीतिकालीन परम्परा से सम्बद्ध है। इसलिए उन्होंने हिन्दी कवियों में देव के काव्य को अधिक मान्यता दी है।

'मिश्रबन्धु-विनोद' की आलोचना सम्बन्धी कमी को उन्होंने 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ के द्वारा पूरा किया है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सं० १९६७ में तथा संशोधित और संवर्द्धित संस्करण सं० १९९१ में प्रकाशित हुआ था। इसके द्वितीय संस्करण में कवियों का क्रम बदल दिया गया है। पहले प्रमुख तीन कवियों में देव को स्थान मिला था किन्तु बाद में तुलसी का स्थान सर्वोपरि कर दिया गया है। इस प्रकार साहित्य के इतिहास तथा आलोचना के सम्बन्ध में इनकी धारणाएं परिवर्तित होती गई हैं। आलोच्य-

---

१ 'मिश्रबन्धु विनोद' (सं० १९८३) पृ० २१।
२ देखिए वहीं, पृ० २१।

काल के पश्चात् भी इनकी धारणाओ मे विशेष परिवर्त्तन आया है।[1]

इतिहासकार के रूप मे आधुनिक आलोचको मे मिश्रवन्धु के सम्वन्ध मे मतैक्य नहीं हैं। कुछ आलोचक इनको प्रथम इतिहासकार के रूप में विशेष महत्त्व देते है तथा कुछ केवल इतिवृत्तकार के रूप मे।[2] हमारा विचार है कि इस सम्बन्ध मे स्वय इनके वक्तव्य के आधार पर इनके इतिहास का मूल्य आका जाना चाहिए। वे स्वय स्वीकार करते है कि उनकी आलोचनाए छोटी तथा पूर्ण सतोषप्रद नही है तथा उनमे गुण-दोष कथन अधिक है और गम्भीर आलोचना का अभाव है।[3] वास्तव मे उनके इतिहास का महत्त्व आधुनिक आलोचना, व्याख्या तथा भाव-धाराओ के अध्ययन तथा विश्लेषण मे नही है, न उनसे इसकी आशा ही की जा सकती है। वे साहित्य का इतिहास अपने युग तथा उसके साहित्यिक-स्तर और आदर्शो से सीमित रहकर ही लिख सकते थे। उस समय किसी साहित्यिक के मस्तिष्क मे इतिहास की वह रूप-रेखा आनी असम्भव थी, जो समय की प्रगति तथा विभिन्न साहित्यिक तथा अन्य विचार-धाराओ के प्रभाव से आज बनती जा रही है। इसलिए यद्यपि उनके इतिहास का साहित्यिक महत्त्व अधिक नही है, फिर भी ऐतिहासिक रूप मे इसका विशेष महत्त्व है। इस विशाल वृत्त-सग्रह ने आगे चल कर उन सभी दिशाओ के द्वार उन्मक्त कर दिए, जिनसे साहित्यिक-प्रगति का रथ गतिशील हुआ। उनके कार्य की सच्चाई इस वात मे है कि उन्होंने अपनी सीमाओ को स्वीकार किया है तथा इसकी आवश्यकता का अनुभव किया है कि प्रत्येक कवि के ग्रन्थो का पूरा अध्ययन तथा उस पर गम्भीर विचार करके ही गम्भीर आलोचना प्रस्तुत हो सकती है।[4] अपने विनोद मे काल-विभाजन, कवियो के वृत्त, उनकी साहित्यिक विशेषताओ तथा विविध कालो का निरूपण तथा

---

१ देखिए 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास'—चतुरसेन (भूमिका) (सन् १९४६) पृ० ३–४।

२ "निश्चित रूप से मानना ही होगा कि ऐतिहासिक रूप रेखा से युक्त, पुष्ट आलोचनात्मक दृष्टिकोण को लिए हुए यदि आधुनिक काल मे हिन्दी के विशाल-साहित्य की कोई समीक्षा सर्व प्रथम प्रस्तुत की गई तो वह मिश्रवन्धु विनोद के रूप मे।" हिन्दी के आलोचक—ले० ललिताप्रसाद शुक्ल (१९५५) पृ० १४।

"हिन्दी के पुराने कवियो की समालोचना कही जा सकती है या नही, यह दूसरी वात है।" हिन्दी साहित्य का इतिहास, (स० १९९९) पृ० ५८५।

"मिश्रवन्धुओ की समीक्षा मे देशकाल के उपादानो का सग्रह हुआ और कवियो की जीवनी पर प्रकाश पडा, किन्तु वह सव उल्लेख नाम मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि मे कोई विशेष परिवर्त्तन न हो पाया।" आधुनिक साहित्य—ले० नन्ददुलारे वाजपेयी (स० २००७) पृ० २७५।

३ देखिए 'मिश्रवन्धु विनोद' भूमिका (स० १९८३), पृ० २१।

४ देखिए वही, पृ० २१।

विविध कालो की विभिन्न दशाओ का विवरण देकर इन दिशाओ मे आगे का मार्ग स्वच्छ तथा प्रशस्त कर दिया है।

रामनरेश त्रिपाठी —

'मिश्रबन्धु विनोद' के पश्चात् स० १९७४ मे प० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व के ८९ कवियो के जीवन का विवरण उनकी कुछ कविताओ के सग्रह के साथ प्रकाशित हुआ है। इसमे भी कवियो के काव्य की आलोचना तथा मूल्याकन की अपेक्षा, उनके जीवन का वृत्त मात्र दिया गया है। इसका दूसरा भाग स० १९८३ मे प्रकाशित हुआ, जिसमे ४९ आधुनिक लेखको और कवियो का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। यह ग्रन्थ भी पूर्व परम्परा का परिणाम है तथा इसमे भी इतिहास की भावना नही दिखाई पडती है।

एडविन ग्रीव्स तथा एफ० ई० के —

ग्रीव्स का "ए स्केच आव हिन्दी लिट्रेचर' नामक सक्षिप्त इतिहास पिछले काव्य तथा वृत्त-सग्रहो के आधार पर लिखा गया है। इन्होने भी हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन किया है तथा उसे पाच भागो मे विभाजित किया है। इन्होने धार्मिक काल को दो भागो मे बाट दिया है तथा हिन्दी के भविष्य पर भी एक अध्याय लिखा है। इनसे अधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक इतिहास एफ० ई० के का है, जो स० १९७७ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे भारतेन्दु के समय तक की विचार-धाराओ का विवेचन किया गया है। इस इतिहास मे साहित्य के आधुनिक प्रभावो के आधार पर समस्त साहित्य को तीन कालो मे विभाजित करके, इसका अध्ययन किया गया है तथा प्रारम्भ मे वीर गाथाओ का विवेचन भूमिका रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन्होने कालो का विभाजन सवतो की अपेक्षा ईसवी सनो मे किया है। उनके प्रथम काल का आरम्भ सन् १४०० से है, जब वैष्णव भक्ति का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पडना प्रारम्भ हुआ था तथा दूसरे काल का प्रारम्भ सन् १५५० से है, जब एक नवीन कलात्मक प्रभाव का इसमें समावेश हुआ था। इस काल मे इन्होने चार अध्यायो मे तुलसीदास तथा राम भक्ति-सम्प्रदाय, कबीर के उत्तराधिकारियो, कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय तथा वीरगाथाओ और अन्य प्रवृत्तियो का विवेचन किया है। इनके तीसरे काल का प्रारम्भ सन १८०० से है, जब हिन्दी पर पाश्चात्य-प्रभाव पडना आरम्भ हो गया था।[1] इन्होंने प्रत्येक काल के आरम्भ मे पहले उस साहित्य का अध्ययन किया है, जिसमे नवीन-चेतना का पूर्ण विकास दिखाई पडता है तथा बाद मे अन्य का।[2] इस सक्षिप्त पुस्तक

---

१. देखिए 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिट्रेचर' (सन् १९२०) पृ० ११।

२. "इन ईच पीरियड दी लिट्रेचर देट शोज दी न्यू स्प्रिट इन इट्स फुलनेस विल फर्स्ट ऑव आल बी डेस्क्राइब्ड एण्ड देन दी अदर फार्म्स इन टर्न, एण्ड सम थिंग विल बी सैड एज टू हाऊ फार ईच ग्रुप और ईच राइटर इज इन्फ्ल्यूएन्स्ड बाई दी न्यू आईडियाज" वही पृ० ११।

का नाम स्वय लेखक ने इतिहास रखा है तथा इसमें साहित्य की विभिन्न विचार-धाराओं और प्रवृत्तियो के आधार पर इतिहास की रूप-रेखा निर्मित की गई हैं।

इन इतिहासो के पश्चात् काव्य-सग्रहो की परम्परा मे एक नवीन पृष्ठ खोलने वाली पुस्तक वियोगी हरि की 'व्रज माधुरी सार' है, जिसमे हिन्दी की एक प्रमुख विभाषा व्रजभाषा के प्रमख कवियो का जीवन तथा काव्य-सग्रह काल-क्रमानुसार प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यह एक भाषा के कवियो के वृत्त तथा काव्य-सग्रहो को लेकर चला है। इसके पश्चात् निबन्धो के रूप मे इतिहास सम्बन्धी आलोचनात्मक विवेचन करने वाली पुस्तक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' स० १९८० मे निकली। इसमे हिन्दी साहित्य का आदि काल, सत वाणी सग्रह, हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि, हिन्दी साहित्य का मध्यकाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य आदि विषयो पर आलोचनात्मक-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक को इतिहास तो नही कहा जा सकता, किन्तु इसका मूल्य निबन्धो के द्वारा इतिहास का परम्परा-सम्बद्ध विवेचन करने के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमे इतिहास के विशिष्ट महत्त्वपूर्ण अगो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी भाषा और साहित्य का विहगावलोकन करते हुए एक छोटी सी पुस्तक स० १९८२ में बदरी नाथ भट्ट ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रकाशित की। इसमे केवल हिन्दी भाषा तथा साहित्य की परिचयात्मक रूप-रेखा मात्र दी गई है। किसी एक धर्म के कवियो के काव्य तथा वृत्त-सग्रह को लेकर चलने वाली पुस्तक अखौरी गगा प्रसाद की 'हिन्दी के मुसलमान कवि' स० १९८३ मे प्रकाशित हुई। इसमे जीवनियो का विवरण देने मे खोज का आधार लिया गया है। इसी प्रकार गौरीशकर द्विवेदी ने स० १९८४ मे 'सनाढ्य जाति' के कवियो की जीवनियो तथा काव्य का सग्रह 'सुकवि सरोज' नाम से प्रकाशित किया, जिसमे किसी जाति के कवियो का समावेश किया गया है। इसमे साहित्यिक प्रगतियो का विचार न रख कर केवल जीवन-विवरण मे कही-कही नवीन विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

रामचन्द्र शुक्ल —

'शिव सिंह सरोज', 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' तथा 'मिश्र-बन्धु विनोद' के पश्चात् हिन्दी का पहला प्रौढ तथा वास्तविक इतिहास शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है, जो सम्वत् १९८६ मे 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा सम्पादित शब्द-सागर की आठवी जिल्द मे प्रकाशित उनकी 'हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का परिवर्तित तथा परिवर्द्धित रूप है। इस इतिहास से पूर्व के वृत्त-सग्रहो मे भिन्न-भिन्न शाखाओ के कवियो की काल-क्रम मे गुथी हुई वृत्त-मालाए ही प्रस्तुत की गई थी। काल-विभाजन की दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य के सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खण्डो मे बिना किसी आधार के बाट दिया गया था। अपने पूर्व के इतिहासो की कठिनाइयो तथा अभावो के सम्बन्ध मे स्वय शुक्ल जी का विचार है कि "शिक्षित

जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए है, जिन-जिन प्रभावो की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न शाखाए फूटती रही है, उन सब के सम्यक्-निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए गए हुए सुसगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।"[1] शुक्ल जी के इतिहास में इन अभावो की पूर्ति होती है। उन्होने ऐसी सरणियो की नवीन उद्भावनाए की, जिनके अनुसार उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की सामग्री का समुचित वर्गीकरण किया।

उनका विश्वास है कि प्रत्येक देश का साहित्य जनता की चित्त वृत्तियो के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। यह जनता की चित्त वृत्तिया बहुत कुछ देश की राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियो के अनुसार होती है।[2] इसलिए उनकी इतिहास की परिभाषा यह है कि "आदि से अन्त तक इन्ही चित्तवृत्तियो की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"[3] इसी दृष्टिकोण से उन्होने इस इतिहास को लिखा भी है। उन्होंने इस बात का विशेष अध्ययन किया है कि किसी विशेष समय मे लोगो मे रुचि-विशेष का सचार तथा पोषण किधर मे और किस प्रकार से हुआ है। जनता की चित्तवृत्तियो का स्पष्टीकरण करने के लिए उन्होंने प्रत्येक काल के आरम्भ मे उस काल की परिस्थितियो का विवेचन किया है।

उन्होंने किसी काल की रचनाओ की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार उस काल का नामकरण किया है। वे उस काल मे अन्य प्रकार की रचनाओ की उत्पत्ति होती हुई मानते है तथा उनका भी मुख्य प्रवृत्ति वाली रचनाओं के पश्चात् वर्णन करते हैं, किन्तु किसी काल का नामकरण उस काल खण्ड की किसी विशेष ढग की प्रचुर रचनाओं के स्वरूप के अनुसार ही करते है। किसी एक ढग की रचना की प्रचुरता मे उनका तात्पर्य यह है कि शेष दूसरे ढगो की रचनाए मिल कर भी उसके बराबर नही होगी। इन रचनाओ मे भी वे उनकी प्रसिद्धि का विशेष ध्यान रखते हैं[4] तथा अप्रसिद्ध और साधारण ग्रन्थो की अपेक्षा, काल का नाम प्रसिद्ध ग्रन्थो के स्वरूप के आधार पर रखते है। इन अधिक सख्या वाले प्रसिद्ध ग्रन्थो के आधार पर ही उन्होंने प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण स्थापित किया है।

हिन्दी के यह पहले इतिहासकार है, जिन्होने वैज्ञानिक आधार पर हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करके उसके आधारो का भी तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण किया है। इसलिए परवर्ती-काल में इनके काल-विभाजन के इन आधारों को विशेष मान्यता मिली। प्रगति-

१ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (वक्तव्य) स० १९९९, पृ० १।
२ देखिए वही, पृ० २।
३ देखिए वही, पृ० १।
४. "प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है।" वही पृ० ३।

वादी लेखको ने इतिहास का अध्ययन पूजीवादी विचारधारा से पथक् प्रगतिवादी विचार-धाराओ के आधार पर करने की जो चर्चा आलोच्य-काल के पश्चात् की वह समाज शास्त्र के सिद्धान्त-विशेष के आधार पर। इस प्रकार तो अनेक दृष्टिकोणो से साहित्य के इतिहास का अध्ययन हो सकता है, किन्तु शुक्ल जी के काल-विभाजन के आधार सामान्य-रूप में हिन्दी साहित्य की प्रगति के आधार पर हैं, इसलिए अधिकाश मे मान्य रहे हैं। उनका काल-विभाजन न तो ग्रियर्सन की भाति, प्रवृत्तियो, राजाओ, प्रान्तो, कवियो तथा युगो आदि के आधार पर है, न मिश्रवन्धुओ की भाति, प्रवृत्तियो, अभावो तथा कालो के आधार पर। इसमे तो केवल प्रवृत्तियो को ही आधार बनाया गया है तथा उनके निरीक्षण और स्थिरीकरण का एक ठोस तथा वैज्ञानिक आधार भी स्थापित किया गया है। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है —(१) आदि काल (वीर गाथा काल) स० १३५० से स० १३७५ तक, (२) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) स० १३७५ से स० १७०० तक, (३) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) स० १७०० से स० १९०० तक तथा (४) आधुनिक काल (गद्यकाल) १९०० से स० १९८४ तक।

शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ स० १०५० से इसलिए माना है कि इस समय में अपभ्र श या पुरानी हिन्दी का प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओ में होने लगा था। वे प्राकृत की अन्तिम अपभ्र श अवस्था से हिन्दी साहित्य का आविर्भाव मानते हैं।[1] अपभ्र श को वे प्राकृताभास हिन्दी या पुरानी हिन्दी मानते है, इसलिए मिश्रवन्धुओ का उन पर यह आरोप कि वे अपभ्र श को हिन्दी नही मानते भ्रमपूर्ण है।[2] मिश्रवन्धुओ ने हिन्दी का आदिकाल स० ७०० से माना है क्योकि उन्होने इस काल के कवियो को सच्चा कवि माना है। किन्तु शुक्ल जी का विचार है कि इस काल की अधिकाश रचनाए साहित्य की कोटि में नही आ सकती, क्योकि कुछ जैन धर्म के तत्त्व निरूपण की, कुछ योग मार्ग की, कुछ केवल नोटिस मात्र तथा कुछ रचनाए पीछे की है। उन्हे इस काल में चार अपभ्र श की साहित्यिक पुस्तकें तथा आठ देश भाषा की पुस्तकें मिलती है, जिनमें अधिकाश वीरगाथात्मक है। इस प्रकार वे इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो को साहित्यिक नही मानते। कुछ आलोचको का विचार है कि शुक्ल जी का यह नामकरण अशुद्ध है। इस काल के कवि तो केवल नृपयश गान करते थे।[3] किन्तु शुक्ल जी का निश्चित विचार है कि इस समय "राज्याश्रित कवि अपने राजाओ के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन, अनूठी उक्तियो के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लासिनी कविताओ से वीरो को उत्साहित किया करते थे।"[4] वे यह मानते हैं कि इस काल के काव्य प्राय सदिग्ध है तथा उन्ही को लेकर उन्हें इस काल

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', वक्तव्य (स० १९९९), पृ० १।

२ " सम्भवत शुक्ल जी अपभ्र श को हिन्दी नही मानते रहे।" हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास,—ले० चतुरसेन शास्त्री, भूमिका, पृ० ११।

३ देखिए वही, पृ० १२।

४ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९), पृ० ३३।

पर विचार करना पड़ा है।[1] इसी काल के वर्णन के साथ साथ उन्होंने व्रजयानी सिद्धों तथा नाथ पंथी योगियों की परम्पराओं का विस्तृत विवेचन दो कारणों से किया है। एक तो इनकी भाषा की परम्परा का पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा से सम्बन्ध दिखाने के लिए तथा सन्त-सम्प्रदाय पर इनकी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उनके संस्कारों का प्रभाव दिखाने के लिए।[2] वैसे उनके विचार से सिद्धों और योगियों की रचनाएं साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं तथा शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं, क्योंकि उनका जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उन्होंने जहां एक ही काल में एक ही कोटि की रचनाओं के भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की परम्पराएं देखी हैं, वहां अलग-अलग शाखाएं करके उस सामग्री का विभाजन भी किया है, जैसे भक्तिकाल में दो काव्य-धाराएं—निर्गुण तथा सगुण भक्ति—निर्दिष्ट करके प्रत्येक धारा की दो-दो शाखाएं, निर्गुण की, ज्ञानाश्रयी तथा प्रेममार्गी तथा सगुण धारा की, राम भक्ति तथा कृष्ण भक्ति, बांटी हैं। इन्होंने इनकी एक दूसरी से पृथक् करने वाली विशेषताओं का भी निदर्शन किया है। इसलिए इनके भक्तिकाल के वर्णन को 'केवल वृक्षों के विवरण को जंगल का वर्णन समझ लेना' या 'केवल पांच साहित्यिक विषयों का विवरण मात्र कहना' भ्रमपूर्ण है।[3] इन्होंने रीतिकाल का कोई उप-विभाग नहीं किया है, क्योंकि रीतिबद्ध-कविता के स्वरूप आदि में कोई भेद न मिलने के कारण उसके उप-विभाग का उन्हें कोई संगत आधार नहीं मिला है।[4]

आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सब से प्रधान घटना होने के कारण इन्होंने उसके प्रसार का वर्णन विशेष विस्तार के साथ किया है। किन्तु इस काल को केवल गद्य-काल कहना उचित नहीं है। इसमें काव्य का विकास भी कम नहीं हुआ है। उनका विचार है कि इस काल में हिन्दी साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है, उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ। इस काल में उन्होंने अपने को सामान्य लक्षणों तथा प्रवृत्तियों के वर्णन तक सीमित रखा है, क्योंकि इस काल को वे इतिहास के अन्तर्गत लेना उपयुक्त नहीं समझते।[5] इन्होंने सं० १९२५ से सं० १९८४ तक के गद्य काल को २५, २५ वर्षों के तीन कालों में विभाजित किया है तथा उनके द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से व्रज

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', (सं० १९९९) पृ० ३३।
२. देखिए वही, पृ० २४।
३. देखिए 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' चतुरसेन शास्त्री (सन् १९४५) पृ० १२, १३।
४. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' शुक्ल (वक्तव्य) सं० १९९९, पृ० ६।
५. "हमारे गद्य साहित्य का यह काल अभी हमारे सामने है। इसके भीतर रहने के कारण इसके सम्बन्ध में हम या हमारे सहयोगी जो कुछ कहेंगे वह इस काल का अपने सम्बन्ध में अपना निर्णय होगा। सच पूछिए तो वर्तमान काल जो चल रहा है, हमसे इतना दूर पीछे नहीं छूटा है कि इतिहास के भीतर आ सके।" वही, पृ० ५८९।

भाषा तथा खडी बोली गद्य का विकास दिखाया है। यही हिन्दी के प्रचार कार्य का भी विवरण दिया गया है। उन्होने गद्य के साहित्य का विकास, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समालोचना शीर्षको मे प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थानो मे दिखाया है तथा काव्य का विकास, पुरानी धारा तथा नई धारा मे विभाजित करके और नई धारा को तीन उत्थानो मे बाट कर, दिखाया है। इस प्रकार के विभाजन का उन्होने कोई विशिष्ट आधार नही बताया है। उनका यह विभाजन भी अवैज्ञानिक तथा स्थूल है। साहित्य के किसी रूप अथवा प्रवृत्ति का विकास तब अधिक स्पष्ट हो सकता था, जब उसको पृथक् उत्थानो मे विभाजित न करके उसकी परम्परा को कार्य-कारण-शृखला मे बाध कर एक साथ दे देते। तभी उन रूपो की विशेषताओ की विभिन्नताओ का स्पष्ट वर्णन हो सकता था। उन्होने कुछ युगो का नामकरण साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो, जैसे वीरगाथा तथा भक्ति के आधार पर किया है तथा कुछ का उस युग के ग्रन्थो के स्वरूप तथा शैली के आधार पर, जैसे 'रीतिकाल' तथा कुछ का साहित्य के स्वरूप (गद्य अथवा पद्य) के आधार पर जैसे 'गद्य-काल' रक्खा है, जो युक्तिसगत नही है। सारे कालो के नामकरण भी कुछ चिन्तन तथा अध्ययन के पश्चात् प्रवृत्तियो के आधार पर हो सकते हैं, जैसे उदाहरण के रूप मे रीतिकाल का शृगार-काल अथवा अलकरण काल तथा आधुनिक काल के काव्य का विभाजन प्रथम, द्वितीय, तथा तृतीय उत्थानो की अपेक्षा आधुनिक रीतिकाव्य, इतिवृत्तात्मक-काव्य, छायावादी-काव्य, प्रगतिवादी-काव्य, प्रयोगवादी-काव्य के रूप में हो सकता है। उनके 'द्विवेदी-मडल का काव्य', 'द्विवेदी मडल के बाहर की काव्य-भूमि', 'छायावाद' आदि शीर्षक मे कोई क्रम, व्यवस्था तथा आधार नही है। इसी प्रकार वे किसी साहित्य की प्रवृत्ति का विकास केवल उसी एक काल मे दिखाते है, जिसमे उसकी अधिकता हो। अन्य कालो मे क्षीण-रूप मे बहने वाली उसकी धारा का निदर्शन नही करते, जिसके कारण उस प्रवृत्ति के अविच्छिन्न पूर्णरूप का दर्शन नही मिलता। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि किसी काल मे साहित्य के जिस रूप की सरिता वेग से प्रवाहित हुई है, वह आगे चलकर मद भले ही हो गई हो पर पूर्णतया सूखी नही है। उन्होंने उस धारा का पूर्ण दिग्दर्शन नही कराया है तथा उसकी मुख्य प्रवृत्तियो के परिचायक एक कवि को शीर्ष-स्थान पर रख कर उस काल की प्रमुख प्रवृत्तियो को उसके द्वारा व्यक्त किया है।

इस प्रकार उनका काल-विभाजन हिन्दी के इतिहासो मे स्पष्ट, उपयुक्त तथा प्रामाणिक है। उसका आधार तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक है। इसीलिए मिश्रबन्धुओ तक ने कठोर आलोचना करते हुए भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की है।[१] इस इतिहास मे किसी काल के प्रतिनिधि कवियो की उन प्रमुख विशेषताओ का सम्यक् वर्णन हुआ है, जिनका प्रभाव उस युग पर पडा है। इसमे रीतिकाल तथा आधुनिक-काल के कवियो की साहित्यिक विशेषताओ पर बहुत सक्षिप्त विचार प्रकट किए गए हैं, क्योकि उनका विचार है कि

---

१ देखिए 'हिन्दी भाषा तथा साहित्य का इतिहास' ले० चतुरसेन शास्त्री (१९४५) भूमिका, पृ० १३।

"इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी तो क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतन्त्र-प्रबन्ध या पुस्तक के रूप में लिखूंगा।"[1] इस प्रकार इतिहास में बहुत प्रसिद्ध कवियों के सम्बन्ध में ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखा गया है। वे अपने इतिहास में साहित्य की प्रवृत्तियों को ही प्रमुखता देते हैं, व्यक्तियों को नहीं, फिर भी उन्होंने लेखकों तथा कवियों की संक्षिप्त तथा प्रौढ आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं।

उनका यह इतिहास केवल शुद्ध साहित्य का इतिहास है तथा भाषा, बोलियों, चित्रकला, संगीत आदि के विकास का इसमें समावेश नहीं है। कलाओं का वे साहित्य से यह सम्बन्ध मानते हैं कि साहित्य में आकर इनका निजी सम्बन्ध नहीं रहता, वे उसका अंग बन जाती हैं। उन्होंने सिद्धों तथा योगियों के साम्प्रदायिक-काव्य को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत न होने के कारण साहित्य के इतिहास के लिए अनावश्यक समझा है तथा अपभ्रंश की उन बहुत सी पुस्तकों को जिनका उल्लेख मिश्रबन्धुओं ने किया था, साहित्य-बाह्य होने के कारण साहित्य के अन्तर्गत नहीं लिया है।

शुक्ल जी यह तो स्वीकार करते हैं कि किसी काल के साहित्य की प्रवृत्तियों तथा जनता की चित्तवृत्तियों का आधार उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियां होती हैं, किन्तु उनके प्रत्येक-काल के दिए गए परिचय के अन्तर्गत कहीं केवल राजनीतिक परिस्थिति तथा कहीं केवल धार्मिक या सांस्कृतिक परिस्थिति का ही उल्लेख हुआ है। रीतिकाल में किसी काल की परिस्थिति का चित्रण न करके केवल उसकी सामान्य विशेषताओं का अंकन मात्र किया गया है। यही अभाव आधुनिक काल में खटकता है। इसमें गद्य के विकास के सम्बन्ध में कुछ बातों का यत्र-तत्र उल्लेख मात्र कर दिया है तथा काव्य के विकास की विभिन्न प्रकार की स्थितियों तथा दशाओं का वर्णन न करके केवल पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन करके, आधुनिक स्वच्छन्दतावादी तथा छायावादी काव्य से उनका तारतम्य-मात्र स्थापित किया गया है। इस प्रकार इस इतिहास के अन्तर्गत उन्होंने, स्वच्छन्दतावाद, कलावाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, सत्य, शिव तथा सुन्दरम् के सिद्धान्त या फ्रायड के काम-वासना के सिद्धान्त आदि का विवेचन करके उस पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों तथा उसके अन्तर्दर्शन के आधार पर इस काल के साहित्य के विकास को अधिक वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का कम प्रयास किया है। किसी भाषा तथा साहित्य के इतिहासकार को अपनी दृष्टि केवल उस भाषा तथा साहित्य की प्रकृति, स्वरूप तथा विकास पर प्रमुख रूप से रखनी आवश्यक है। वह उस साहित्य पर दूसरी भाषाओं के पड़े प्रभावों का तो अध्ययन कर सकता है पर किसी काल के पूरे साहित्य का निरूपण किसी अन्य भाषा के काव्य के सिद्धान्तों, वादों तथा प्रवृत्तियों के आधार पर नहीं कर सकता। शुक्ल जी तथा हिन्दी के अन्य कुछ विद्वानों की

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९), पृ० १६।

यह बहुत बडी भूल रही है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य का अध्ययन हिन्दी के स्वाभाविक तथा प्रकृतिगत निजी विकास को विशेष रूप मे ध्यान में रखकर नही किया। यदि आधुनिक-काल पर अगरेजी अथवा पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव इतनी मात्रा मे दिखाना वे उचित समझते थे, तो रीतिकाल के काव्य पर भी उन्हे, अरबी, फारसी काव्य का कुछ प्रभाव दिखाना उचित था। शुक्ल जी के पश्चात् भी हिन्दी साहित्य का ऐसा कोई इतिहास नही लिखा गया, जो उपर्युक्त आवश्यकताओ की पूर्त्ति करता हो।

इतिहासकार का कार्य जैसा शुक्ल जी का मत है, इतिहास का पक्का और व्यवस्थित ढाचा खडा करना तो होता ही है, किन्तु साहित्य की प्रवृत्तियो, विचार-धाराओ, शैलियो, स्वरूपो, दोषो, गुणो, सिद्धान्तो, वादो आदि के अध्ययन के साथ साहित्य के रूपो का वर्गीकरण, विश्लेषण तथा मूल्याकन करना भी होता है। इनके अभाव मे साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक न रह सकेगा, केवल वृत्त अथवा काव्य-सग्रह मात्र रह जाएगा। इतिहासकार जितनी गवेषणा, आलोचना तथा ऐतिहासिक अनुसधान की शक्ति रखता है, उतना ही साहित्य के इतिहास की समुचित रूप-रेखा खडी करने में समर्थ होता है। आदि से अन्त तक इतिहासकार का कार्य निरीक्षण, परीक्षण, विवेचन, विश्लेषण तथा आलोचना का है। जिस इतिहासकार मे ये गुण जितने अनुपात में होंगे, वह उतना ही सफल इतिहासकार होगा। शुक्ल जी मे ये गुण पर्याप्त मात्र मे थे। वे अपने इतिहास मे इतिहासकार के अतिरिक्त सफल आलोचक के रूप मे भी दिखाई पडते है। अनुसधान, चिन्तन तथा इतिहास की सामग्री के अध्ययन, निरीक्षण, मूल्याकन के साथ-साथ इतिहास का तारतम्य सजाने तथा उसे व्यवस्था देने का कार्य तो उन्होंने किया ही है, पर आलोचनात्मक दृष्टि से उन्होने साहित्य के स्वरूप को भी परखा है। साहित्य के स्वरूप को परखने तथा गद्य और काव्य की प्रवृत्तियो का अध्ययन करके, किसी विशेष प्रकार के गद्य तथा काव्य का मूल्याकन करने के लिए आलोचक इतिहासकार को आलोचना के कुछ विशिष्ट मानदण्डो का प्रयोग करना होता है। सफल आलोचक इतिहासकार वही होगा, जो किसी विशेष प्रकार के साहित्य का मूल्याकन उस साहित्य की प्रकृति तथा स्वरूप की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर करे। किसी एक प्रकार के साहित्य या किसी विभाषा के साहित्य के मानदण्डो पर किसी अन्य काल के साहित्य का मूल्याकन करना भ्रमोत्पादक हो सकता है।

शुक्ल जी ने सिद्धो तथा योगियो के साहित्य को नैतिकता के आधार पर परखा है।[१] सगुण भक्ति की अपेक्षा निर्गुण भक्ति, विशेषकर सत-मत का उनका मूल्याकन सगुण-भक्ति-काव्य के, विशेष रूप मे, तुलसी के काव्य के लोकमगल, लोकादर्श, गुह्य तथा रहस्य के विरोध आदि आदर्शों से प्रभावित है। इसलिए उसका यथातथ्य मूल्याकन नही हो पाया है। जिन कवियो के काव्य की उन्होंने विस्तृत तथा गम्भीर आलोचनाए पृथक् लिखी

---

१ 'जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय देश के पूर्वी भागो मे धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९) पृ० १२।

हैं, उनके प्रति उनका कुछ लगाव अधिक है। इसीलिए उनकी रुचि तुलसी, जायसी, सूर के पक्ष में तथा कबीर, केशव आदि कवियों के विरोध में दिखाई पडती है। कबीर के व्यक्तित्व तथा काव्य को उन्होंने ऐसे रूप में प्रस्तुत किया है कि उसका वास्तविक महत्त्व दब गया है। उन्हें उनकी वाणी में लोक-धर्म की उपेक्षा दिखाई दी है। कबीर एक विशिष्ट परम्परा के उत्कर्षपूर्ण सांस्कृतिक स्वरूप के प्रतीक थे, यह वे नही दिखा सके। इसी प्रकार उन्होंने वैष्णव भक्ति की परम्परा का विकास न दिखाकर भक्ति-काव्य का कारण, मुसलमानो के आक्रमण से पैदा हुई निराशा बताया है, जो युक्तिपूर्ण नही है। निर्गुण पथ की किसी परम्परा का निदर्शन करना तो दूर, वे इसके अन्तर्गत कोई दार्शनिक-व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न ही व्यर्थ समझते हैं।[1] वे उस पथ के विभिन्न तत्त्वो का निदर्शन मात्र करके रह जाते हैं, परम्परा-प्रदर्शन तथा प्रमाणो की ओर अधिक नही जाते। रीतिकाल के साहित्य में दोषों तथा अभावो का निर्देश वे आधुनिक-काव्य के मानदण्डो के आधार पर करते हैं, उस काल के आधार पर नही।[2] छायावादी काव्य में अर्थभूमि का सकोच तथा शैली की विलक्षणता द्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शन का वेग भी उन्होंने काव्य के प्रति अपने निजी दृष्टि-कोण के आधार पर ही माना है।

उन्होंने काव्यालोचन के कुछ प्रमुख मानदण्डो तथा आधारो को मान्यता दी है। उन्होंने किसी काव्य में यह देखा है कि वह सच्चा काव्य है या सूक्ति मात्र है अथवा प्रबन्ध काव्य है या मुक्तक काव्य। मुक्तक में वे रस के छीटे देखकर उसकी उच्चता देखते हैं तथा प्रबन्ध में कथा का धारा-प्रवाह, मार्मिक स्थलो की पहचान तथा उसका विस्तृत-वर्णन, बाह्य दृश्य-वर्णन और स्वभाव-चित्रण की स्वाभाविकता तथा कौशल, छन्द के चुनाव की उपयुक्तता, रस और अलकारो के निर्वाह की समीचीनता, भाषा की प्रौढता तथा उसका नाद-सौन्दर्य, परिमार्जितता तथा भावानुकूलता आदि को देखते है। इसके अतिरिक्त कवि पर पडने वाले प्रभावो, उसके द्वारा परिस्थितियो के स्वरूप में परिवर्तन, कवि की सामग्री के उद्गम-स्थलो की खोज, उसकी मौलिकता, उसके काव्य पर पडने वाले प्रभाव, उसके काव्य की परम्परा, लोक-जीवन का हित तथा अनहित करने की उसकी शक्ति, कवि की अन्तर्वृत्ति का विवेचन आदि भी उनकी आलोचना-पद्धति के विभिन्न अग है। इसके साथ-साथ उन्होंने निस्सकोच रूप में आधुनिक साहित्यिको को साहित्य-निर्माणा के कार्य में आने वाली उनकी असावधानियो जैसे उपन्यास तथा नाटको में काल-दोष आदि का बहिष्कार, अपनी सस्कृति, परम्परा, व्यवहार, आचार तथा आदर्श के अनुरूप साहित्य रचना करना, साहित्य से एकदेशीयता, एकागिता, राजनीति, पाश्चात्य अनुपयोगी सिद्धान्तो का बहिष्कार करना तथा साहित्य को जीवन से सम्बद्ध तथा व्यापक बनाना आदि का निर्देश करके उनका मार्ग-प्रदर्शन भी किया है।

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९६), पृ० १०५।

२ "प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिंत्य बातो तथा जगत् के नाना रहस्यो की ओर कवियो की दृष्टि नही जाने पाई।' वही पृ० २६४।

अपने इतिहास में स्थान-स्थान पर उन्होंने साहित्य सम्बन्धी विभिन्न संकेत, निर्देश, प्ररणाएं तथा विचार प्रकट किए हैं। 'सूर-सागर' की गीत-काव्य-परम्परा का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि "देश की अन्तर्वर्त्तिनी मूल भाव धारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है। पर इस संग्रह-कार्य में उन्हीं का हाथ लगाना ठीक है, जिन्हें भारतीय-संस्कृति के मार्मिक स्वरूप की परख हो और जिन में पूर्ण ऐतिहासिक दृष्टि हो।[1]" इसी प्रकार उपन्यास तथा कहानियों में किस प्रकार का चित्रण हो सकता है, इसका भी उन्होंने एक लम्बा ब्योरा दिया है।[2] काव्यात्मक आलोचना शैली के विरोध में भी उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं कि "कविता भावमयी, रसमयी और चित्रमयी होती है, इससे यह आवश्यक नहीं कि उनके स्वरूप का निरूपण भी भाव-मय, रसमय और चित्रमय हो।"[3] इसी प्रकार तुकों तथा छन्दों के सम्बन्ध में उन्होंने अपना मत प्रकट किया है।[4]

उन्होंने कभी-कभी प्रशंसात्मक शैली को अपनाकर भविष्य सम्बन्धी अनुमानाश्रित भाव भी व्यंजित किए हैं, जिनका 'साहित्य के इतिहास' जैसी ठोस वस्तु में कोई स्थान नहीं है, जैसे कृष्ण काव्य के सम्बन्ध में उनका यह विचार कि "ये कृष्णभक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेम माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए हैं, उनके प्रभाव से हमारे काव्य-क्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। दुःखवाद की छाया आ आ कर भी टिकने न पाएगी।"[5] इस प्रकार के वाक्यों में प्रशंसा तथा विशिष्ट-रुचि प्रदर्शन ही की भावना अधिक है, गम्भीर विवेचन तथा विश्लेषण की नहीं है।

उन्होंने अपने इतिहास में विभिन्न ग्रन्थों की शैलियों की परम्पराओं की भी खोज-बीन करके निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। आख्यानक-काव्यों, रीतिग्रन्थों तथा दोहा चौपाई आदि की परम्पराओं का निरूपण इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कवियों की जीवनी के संदेहपूर्ण स्थलों का प्रमाण के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया है तथा ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के प्रश्नों को तर्क, विश्लेषण तथा अन्तः बाह्य साक्ष्यों के द्वारा सुलझाया है। 'पृथ्वी राज रासो' आदि ग्रन्थों का विवेचन इसका उदाहरण है।[6] इसी प्रकार पुराने कवियों के जीवन-चरित्रों को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने का बहुत अंशों में उन्होंने सफल प्रयास किया है। नवीन कवियों के सम्बन्ध में न इसकी इन्होंने आवश्यकता समझी, न इसके लिए उनके इतिहास में स्थान ही था।

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९९) पृ० १८६।
२ देखिए वही, पृ० २४४।
३ देखिए वही, पृ० ६२३।
४ देखिए वही, पृ० ७१४।
५. देखिए वही, पृ० २१८।
६ देखिए वही, पृ० ४४ से ५६ तक।

इतिहास लेखक के लिए जितनी गम्भीरता तथा सहनशीलता की आवश्यकता है, शुक्ल जी मे वह पर्याप्त मात्रा मे थी, किन्तु कुछ स्थलो पर उनकी लेखनी, तीखी तथा व्यंग्यपूर्ण हो गई। मिश्रबन्धुओ पर उन्होंने निर्दयता तथा निर्ममता के साथ व्यग्य ही नही किए, वरन् उनकी कटु आलोचना भी की है।[1] इसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा श्यामसुन्दर दास जैसे समकालीन विद्वानो के प्रति भी उन्होने ऐसे कठोर सत्यो की व्यंजना की है।[2] यही नही कभी-कभी आवेश मे आकर या जान कर उन्होने कटु शब्दो का भी प्रयोग किया है, जैसे 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका मे उन्होंने एक पथ विशेष के अनुयायियो को मूर्खपन्थी कहा है तथा मिश्रबन्धुओ को दृष्टि मे रख कर अपने इतिहास मे यह वाक्य लिखा है कि "अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियो की श्रेणी बाधना, उन्हे नम्बर देना एक बेहूदा बात समझी जाती है।"[3] इस प्रकार अपने समय के प्राय. बडे से बडे आलोचको की बात को उन्होने तर्क की कसौटी पर परख कर ही स्वीकार किया है अन्यथा जोरदार शब्दो मे उसे अस्वीकार कर दिया है।

इस प्रकार उनका इतिहास, विशेष रूप मे वैज्ञानिक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुकरण पर परवर्त्तीकाल मे बहुत से इतिहास लिखे गए, किन्तु इस रूप मे इससे सुन्दर तथा पूर्ण इतिहास हिन्दी को आलोच्य-काल मे फिर नही मिला।

श्यामसुन्दर दास :—

श्याम सुन्दर दास जी ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' मे इतिहास सम्बन्धी विचारो का प्रतिपादन किया है। स० १९२७ मे इनका 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक इतिहास भी प्रकाशित हुआ। इसकी विशेषता बताते हुए वे लिखते है कि "मैने प्रत्येक युग की मुख्य मुख्य विशेषताओ का उल्लेख किया है और यह दिखाने का उद्योग किया है कि साहित्य की प्रगति किस समय मे किस ढग की थी। इस विचार से यह अन्य इतिहासो से भिन्न है और यही इसके प्रस्तुत करने का मुख्य कारण है।"[4] उनका विचार है कि किसी साहित्य का इतिहास, भावो, विचारो तथा चित्तवृत्तियो के विकास का इतिहास है और भाषा का इतिहास अभावो, विचारो तथा चित्तवृत्तियो के व्यजन के ढग का इतिहास है। वे इतिहास

---

१. "जो वीर रस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कही वर्णो का द्वित्व देखकर ही प्रकृत भाषा और कही चौपाई देखकर ही अवधि या वैसवाड़ी समझते है, जो भाव को 'थोट' और विचार को 'फीलिग' कहते है, वे यदि उद्धृत पद्यो को सवत् १००० से क्या सम्वत् ५०० के भी बताए तो कोई आश्चर्य की बात नही है।" हिन्दी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९) वक्तव्य पृ० ५ तथा देखिए वही पृ० ५८५-५८६।

२ "द्विवेदी जी के लेखो को पढ कर ऐसा जान पडता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के लेखको के लिए लिख रहा है।" वही पृ० ५६३।

३. देखिए वही, पृ० ५८३।

४. देखिए 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (स० १९८७) पृ० ६।

लेखन के लिए विभिन्न कालो की साहित्यिक प्रगति का समुचित अन्वेषण तथा साहित्य की जातिगत, देशगत तथा कालगत विशेषताओ से परिचित होना आवश्यक समझते है।

वे मानते है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालो मे कठिनता मे बांटा जा सकता है, क्योकि हिन्दी साहित्य का जो प्रवाह बहा है वह बहता ही रहा है। उसमें विभिन्न कालो मे परिवर्तन तो होते रहे है, किन्तु प्रवाह का मूल एक सा ही बना रहा है।[1] उनका विचार है कि एक काल के कवियो को दूसरे काल के कवियो से पृथक् करने वाले कुछ विशेष गुण, जैसे कविता का विषय, विषय-प्रतिपादन की शैली तथा भाव-व्यजना का ढग आदि होते है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषताएं, उसके राजनीतिक-सघटन, धार्मिक-विचार तथा आध्यात्मिक कल्पनाओ के अतिरिक्त उसके साहित्य में भी व्यजित होती है। उनकी मान्यता है कि यद्यपि किसी कवि पर उसके काल, जाति तथा स्थिति का प्रभाव पडता है, पर वह भी उन पर अपना प्रभाव डालता है, क्योकि उसकी भी निजी सत्ता होती है। इसके अतिरिक्त किसी भाषा के साहित्य पर वे अन्य उन साहित्यो का भी प्रभाव होना मानते हैं, जिनसे उनका सम्पर्क होता है।[2]

उन्होने हिन्दी साहित्य को चार भागो मे बाटा है, (१) आदियुग (वीरगाथाओ का युग) स० १०५० से स० १४०० तक, (२) पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल) स० १४०० से स० १७०० तक, (३) उत्तर मध्यकाल (रीति ग्रन्थो का युग) स० १७०० से स० १९०० तक तथा (४) आधुनिक युग (नवीन विकास का युग) स० १९०० से अब तक। उनका यह विभाजन काल-क्रमानुसार, युगानुसार तथा प्रवृत्तियो के अनुसार किया गया है। इनके इतिहास के विभाजन का आधार समाज की विभिन्न परिस्थितियो का परिवर्तन है। वे यह तो मानते है कि समाज की विभिन्न स्थितियो से साहित्य का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, परन्तु वे उस सम्बन्ध को ऐसा यान्त्रिक तथा कठोर नही मानते कि साहित्य उन स्थितियो की अवहेलना न कर सके तथा स्वतन्त्र रूप में उसका विकास न हो सके। वे साहित्य को एक वैयक्तिक कला मानते है तथा उसके निर्माण मे प्रत्येक बडे साहित्यकार की अपनी वैयक्तिक-विशेषताओ को भी स्वीकार करते है।[3] वे किसी साहित्य के अध्ययन मे ऐतिहासिक दृष्टि से किसी जाति के परम्परागत जीवन अर्थात् उसके जातीय भाव पर तथा दूसरे उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर विचार करना आवश्यक समझते है।[4] जातीय भाव

---

१ देखिए 'हिन्दी भाषा और साहित्य' स० १९८७, पृ० ५१।

२ देखिए वही, पृ० ५६।

३ "वास्तव मे साहित्य के इतिहास का सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब विभिन्न कालो की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि स्थितियो से उसके सम्बन्ध का निरूपण होता जाय, साथ ही उसकी वे विशेषताए भी स्पष्ट हो जाए, जो प्रतिभाशाली तथा विलक्षण कवियो और लेखको से उसे प्राप्त होती है।" वही, पृ० १९५।

४. देखिए वही, पृ० ४६।

से उनका तात्पर्य उन साधारण भावो से है, जो किसी देश तथा काल मे अधिकता से वर्तमान रहते है और जातीय प्रकृति के व्यजक या बोधक होते है। इन्ही के आधार पर वे किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते है।

अपने इतिहास मे उन्होने हिन्दी के जातीय तथा देशगत साहित्य तथा उसके कलापक्ष की विशेषताओ का विवेचन किया है। वे हिन्दी की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं बताते है। पहली यह कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग से पूर्व, सस्कृत साहित्य उन्नति की चरम-सीमा को पहुच कर अध पतित हो गया था, जिसके कारण एक तो हिन्दी काव्य का क्षेत्र बहुत कुछ परिमित हो गया और दूसरे हिन्दी भाषा भी स्वाभाविक रूप मे विकसित न हो कर बहुत दिनो तक अव्यवस्थित बनी रही तथा दूसरी यह कि हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण युग अशान्ति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है, जिसके परिणामस्वरूप, हिन्दी मे सदैव करुणा की एक हलकी सी अन्तर्धारा व्याप्त रही है तथा इसमे नाटको, उपन्यासो तथा अन्य मनोरजक साहित्यागो का अभाव रहा है।

हम इनकी दोनो मान्यताओ को अमान्य समझते है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ से पूर्व, सस्कृत ही नही वरन् पाली, प्राकृत तथा अपभ्र श का साहित्य भी विशेष समृद्ध हो गया था किन्तु इनके समृद्ध या अध पतित होने से हिन्दी काव्य के क्षेत्र के परिमित होने का कोई कारण नही दिखाई देता। हम यह भी नही मानते कि हिन्दी-काव्य की अव्यवस्था बहुत दिनो तक बनी रही। वास्तव मे हिन्दी साहित्य का स्वाभाविक रूप मे विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार विकास हुआ है तथा उसके अव्यवस्थित होने का प्रमाण तथा लक्षण नही दिखाई देता। हिन्दी के प्राचीन साहित्य की सामग्री के अधिकाधिक उपलब्ध होने से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि इसका विकास स्वाभाविक तथा व्यवस्थित रूप मे हुआ है। उनकी दूसरी यह धारणा भी अमान्य है कि समस्त हिन्दी साहित्य मे करुण धारा ही व्याप्त है। वास्तव मे वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल का अधिकाश साहित्य करुणा की भावना से असम्पृक्त है। नवीन खोज के आधार पर यह भी सिद्ध होता जा रहा है कि मनोरजक साहित्य का इसमे अभाव नही रहा है।[१] इनकी इन दोनो विशेषताओ का निरूपण यह अवश्य प्रकट करता है कि इन्होने पहली बार सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के समन्वित रूप की विशेषताओ का चिन्तन किया है किन्तु वे हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो का, प्राचीन साहित्यिक परम्पराओ से सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ रहे।

---

१ "इस प्रकार विक्रम की तेरहवी शताब्दी से हिन्दी नाटक के विकसित रूप की परम्परा सिद्ध हो जाती है।" 'हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास'—ले० डा० दशरथ ओझा (१९५४), पृ० ९३।

अयोध्यासिंह उपाध्याय —

उपाध्याय जी ने बाबू रामदीन सिंह रीडरशिप के सम्बन्ध से पटना विश्वविद्यालय मे जो व्याख्यान दिए, उनके संग्रह को उन्होंने 'हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य का विकास' नाम से प्रकाशित किया। इसमें हिन्दी साहित्य के पूर्व रूप से ईसा की बीसवी शताब्दी तक के साहित्य का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। इसकी यह विशेषता है कि इसमे भाषा का विवेचन अधिक विस्तार से दिया गया है तथा इसकी शैली इतिहास के अनरूप न होकर व्याख्यान की है। इसमे प्रवृत्तियो के अनुसार साहित्य का विभाजन न करके कालानुसार विवरण मात्र दिया गया है तथा स्थान-स्थान पर अन्य आलोचको के कुछ कवियो के सम्बन्ध में लिखे विचारो के उद्धरण भी दिए है।

रामशकर शुक्ल 'रसाल' —

इनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' स० १९८८ मे प्रकाशित हुआ। इसमे किसी काल की प्रधान-विचार-धारा के अनुसार कालो का विभाजन किया गया है तथा हिन्दी का जन्म काल स० ७०० से ९०० तक माना गया है। 'रसाल' जी अपभ्रंश प्रभावित कवि-भाषा को हिन्दी नही कहते, इसलिए वे हिन्दी का साहित्यिक रूप मे प्रारम्भ स० १००० से मानते है। इनके इतिहास मे आधुनिक कवियो के काव्य का भी सक्षिप्त विवेचन मात्र है। इनके काल-विभाजन मे कुछ नवीनता मिलती है। हिन्दी के प्रथम काल को उन्होने वीरगाथा काल न कह कर 'आदि काल' कहा है तथा इस समय के साहित्य को 'जय काव्य' की सज्ञा दी है। दूसरे काल का नाम मध्य-काल रख कर उसके 'पूर्व' तथा 'उत्तर' दो भेद किए है, जिनके अन्तर्गत 'धार्मिक-काव्य' का शीर्षक देकर भक्ति, प्रेम तथा ज्ञानात्मक काव्य का विवेचन किया है। इसी प्रकार इन्होने रीतिकाल का नाम 'कला-काल' रक्खा है तथा काव्य रीति विषयक लक्षण-ग्रन्थो के साथ काव्य-कला को प्राधान्य देने वाले कवियो का भी विवेचन किया है। वर्तमान काल मे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, भौगोलिक तथा आर्थिक दशाओ के वर्णन के साथ उस काल पर पडने वाले प्रभावो का भी वर्णन किया है तथा साहित्यिक-काव्य-भाषा के विकास पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इस इतिहास मे भी कवियो की कृतियो के उदाहरण नही दिए गए है तथा लेखक के अपने निर्णयो के भी दर्शन नही होते है। इसमे केवल उपलब्ध सामग्री को ही वैज्ञानिक रूप में सजाने का प्रयास किया गया है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी —

द्विवेदी जी की 'कवि और काव्य' नामक पुस्तक के कुछ निबन्धो में उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण दिखाई पडता है। 'प्राचीन हिन्दी कविता' नामक लेख मे उन्होने प्राचीन हिन्दी की विशिष्टताओ का चिंतनपूर्ण विवेचन किया है। वे प्राचीन हिन्दी कविता का सर्वश्रेष्ठ अलौकिक विषय ईश्वर और उसकी विभूति तथा सर्वश्रेष्ठ लौकिक विषय-पुरुष और प्रकृति (नारी) मानते हैं। वे रीतिकाल के साहित्य के अध्ययन मे नैतिक दृष्टिकोण

का आधार लेना उचित नही समझते तथा उसके महत्त्व का अध्ययन स्नेह, सहानुभूति तथा गम्भीरता के आधार पर करना ठीक समझते है। वे रीतिकाल के साहित्य पर सस्कृत और फारसी की कविताओ का प्रभाव मानते है।[1] इसी प्रकार उन्होने 'इतिहास के आलोक में' तथा 'छायावाद और उसके वाद' नामक निबन्धो मे लोक-रुचि तथा लोक-विचार धारा के आधार पर साहित्य के विकास का अध्ययन किया है।[2]

कृष्णशकर शुक्ल —

शुक्ल जी का स० १९९१ मे प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' किसी एक काल को लेकर लिखा जाने वाला प्रथम इतिहास है, जिसमे केवल १०० वर्षो के साहित्य का इतिहास दिया गया है। इसमे पूर्व-पीठिका के रूप मे भारतेन्दु से पूर्व का सक्षिप्त इतिहास दिया गया है तथा फिर आधुनिक काव्य को व्रज-काव्य तथा खडी बोली काव्य-धारा मे विभाजित किया गया है। इन्होने सम्पूर्ण आधुनिक-काल को कालक्रमानुसार तीन भागो मे बाट दिया है, आरम्भिक-काल (स० १९२४ से स० १९६० तक) मध्य काल (स० १९६० से १९७५ तक) तथा नवीन काल (स० १९७५ से स० १९९३ तक) तथा गद्य और उसके विभिन्न रूपो का विवेचन पृथक् पृथक् किया है। इसमे साहित्य की प्रवृत्तियो का विवेचन तथा निजी निर्णय का अभाव है।

गौरीशकर 'सत्येन्द्र' —

स० १९८३ मे सत्येन्द्र जी ने अध्ययन शैली का स्वरूप उपस्थित करने तथा साहित्य के अमर रूप और उसके धारा-रूप की झाकी कराने के लिए 'साहित्य की झाकी' नामक पुस्तक लिखी। इसमे निबन्धो द्वारा हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण विषयो का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा उसके विकास की अविच्छिन्न धारा तथा उस पर पडे काल और परिस्थितियो के योग को प्रदर्शित किया गया है। इन निबन्धो मे इतिहास की सी क्रम-बद्धता नही है, किन्तु परम्परागत ऐतिहासिक विकास धारा को लेकर चलने के कारण इसका विशेष महत्त्व है।

डा० रामकुमार वर्मा —

वर्मा जी का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' स० १९९५ मे प्रकाशित हुआ। इसमें स० ७५० से १७५० तक के हिन्दी साहित्य का, नवीन दृष्टिकोण तथा शैली में वैज्ञानिक रूप मे विवेचन हुआ है। इनका लक्ष्य ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियो और साहित्यिको की प्रवृत्तियो की आलोचना करना है तथा इन्होंने साहित्य की सस्कृति का

---

१. देखिए 'कवि और काव्य' (१०३६), पृ० ५५।
२. देखिए 'युग और साहित्य', द्वितीय सस्करण (१९५०), पृ० ५१ तथा १९१।

आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, जिसमे वे बहुत कुछ सफल हो गए है।[1] इसकी एक यह भी विशेषता है कि इसमें आरम्भ में इतिहासो का सक्षिप्त इतिहास भी दिया है, जो अधिकाश परिचयात्मक ही है। विभिन्न इतिहासो की गम्भीर आलोचना इसमें नही की गई है। इसके अतिरिक्त इसमें हिन्दी के इतिहास की सामग्री तथा साधनो का उल्लेख करके हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन भी दिया गया है। इन्होने भी हिन्दी साहित्य को चार कालो मे विभाजित किया है, चारण काल (स० १००० से स० १३७५), भक्ति काल (स० १३७५ से स० १७०० तक), रीतिकाल (स० १७०० से स० १९०२ तक) तथा आधुनिक-काल (स० १९०२ से अब तक), इन विभाजनो के अतिरिक्त इन्होने प्रत्येक काल में एक विशिष्ट विचार-धारा तथा एक सस्कृति के केन्द्र का भी उल्लेख किया है।[2] इनका विचार है कि प्रथम काल मे सस्कृति की धारा, राजस्थान, द्वितीय में राजस्थान तथा मध्य प्रदेश, तृतीय में राजस्थान, मध्य प्रदेश और दक्षिण तथा चतुर्थ काल में सम्पूर्ण भारत मे थी। इसी प्रकार ये मानते है कि चारण-काल में साहित्य की विचारधारा लौकिक, भक्ति-काल मे पारलौकिक, रीतिकाल मे पारलौकिक के वेश मे लौकिक तथा आधुनिक काल मे लौकिक पारलौकिक रही है। इनका सस्कृति के केन्द्रो तथा विचारधाराओ के परिवर्तन का उल्लेख स्थूल कथन मात्र है तथा इतने बडे इतिहास की भव्यता के अनुकूल नही है। सस्कृति के केन्द्र के परिवर्तन के अतिरिक्त यदि ये हिन्दी के अन्तर्गत आने वाली भाषाओ के उत्थान-पतन तथा साहित्यिक उन्नति और अवनति के इतिहास की रूपरेखा का दिग्दर्शन करते तथा उनके भाग्य-विपर्यय का कारण प्रस्तुत करते, तो इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट समझने में सरलता होती। इस इतिहास में हिन्दी साहित्य के केवल दो काल, चारण-काल तथा भक्ति-काल का इतिहास दिया गया है। भक्ति-काल मे प्रवृत्तियो के आधार पर सत्य-काव्य, प्रेम-काव्य, राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्य का विवेचन किया गया है। हिन्दी के इन दो कालो के विवेचन के लिए यह इतिहास अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसका कवियो की जीवनी, जन्म-काल, ग्रन्थो, साहित्यिक-प्रवृत्तियो आदि का विवेचन विशेष वैज्ञानिक, गम्भीर तथा पाण्डित्यपूर्ण है।

मोतीलाल मेनारिया —

मेनारिया जी का 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ स० १९९६ मे प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी की किसी एक प्रान्तीय भाषा का प्रथम इतिहास है। उनका विचार है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासो मे पिंगल, अवधी, बुन्देलखडी आदि भाषाओ की अपेक्षा डिंगल भाषा के साहित्य की विशेष अवहेलना की गई है। इसलिए उन्होने इस इतिहास मे विशेष रूप से राजस्थानी साहित्यकारो की प्रमुख रचनाओ तथा उसके साहित्य की विशेषताओ का निरूपण किया है। इन्होने भी सम्पूर्ण राजस्थानी-साहित्य को प्राचीन-

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (प्रथम सस्करण) निवेदन पृ० २।
२ देखिए वही, पृ० २४, २५, २६।

काल, मध्य-काल, उत्तरकाल तथा आधुनिक-काल मे विभाजित किया है। इनका कथन है कि जब हिन्दी साहित्य के इतिहासकार वीरगाथा-काल मे डिंगल के कवियो को अपनाते है, तो क्या कारण है कि उनकी कृतियो का समावेश अन्य कालो मे न किया जाय।[1] इस पुस्तक की रचना, विशेष खोज तथा अध्ययन का परिणाम है तथा इसमे कवियो का चुनाव काव्योत्कर्ष, भाषा-शास्त्र तथा इतिहास की दृष्टि से किया गया है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी —

द्विवेदी जी ने सन् १९४० मे 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' प्रकाशित की, जिसमे 'विश्व भारती' के अहिन्दी भाषी साहित्यकारो को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने के लिए दिए गए व्याख्यानो का सकलन है। यद्यपि यह पुस्तक हिन्दी साहित्य का इतिहास नही है, फिर भी हिन्दी साहित्य की सास्कृतिक परम्पराओ के सदर्भ मे भक्तिकाल तथा रीतिकाल के साहित्य को शास्त्रीय आधार पर व्यक्त करने के कारण, इसका विशेष महत्त्व है। इसमे वीरगाथा-काल तथा आधुनिक काल का वर्णन नही है, क्योकि इसका उद्देश्य केवल हिन्दी साहित्य की एक ऐसी पाडित्यपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करना है, जो समकालीन इतिहासो को अधिक स्पष्ट तथा भविष्य मे लिखे जाने वाले इतिहासो का मार्ग प्रदर्शन कर सके। अपने दोनो उद्देश्यो मे यह विशेष सफल है।

इस भूमिका की दो प्रमुख विशेषताएं हैं, पहली तो यह है कि इसमे हिन्दी साहित्य के इतिहासो की परम्परा मे सब से पहले हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय-साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा मे देखा गया है तथा सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रश के साहित्य के आधार का अध्ययन हिन्दी साहित्य की विभिन्न धाराओ मे किया गया है। पुस्तक के अत मे सक्षेप मे वैदिक, बौद्ध और जैन-साहित्यो का परिचय भी कराया गया है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमे हिन्दी साहित्य की अविच्छिन्न-विकास परम्परा का अध्ययन तथा उसमे होने वाली विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओ का विश्लेषण करके, उसको प्रभावित करने वाले, भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा वैयक्तिक कारणो की खोज की गई है। भारतीय-समाज, सस्कृति, चिन्तन आदि के आधार पर साहित्य के क्रम-विकास का इसका दृष्टिकोण पूर्णतया नवीन है।

इन्होने इसमे कुछ मौलिक मान्यताओ को व्यक्त किया है तथा श्यामसुन्दर दास आदि विद्वानो के इस मत का विरोध किया है कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है तथा वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओ का मूर्त्त प्रतीक है।[2] उनका विचार है कि इसलाम के प्रवेश से हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कोई विशेष

---

१ देखिए 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा', भूमिका, पृ० १।
२. देखिए 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन् १९४०), पृ० २।

प्रभाव नही पडा है।[1] वे समझते है कि हिन्दी की सारी साहित्यिक चेतना स्वाभाविक है, अस्वाभाविक अधोगति की नही तथा सहस्राब्दक का हिन्दी साहित्य बौद्ध या अन्य किसी भी काल के इतिहास से कम महत्त्वपूर्ण नही है। उनके विचार से हिन्दी का आदि काल और भक्ति काल भारतीय साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास और लोक-चेतना का विकसित रूप तथा प्रतीक था, मुसलमानी आक्रमण का प्रतीक नही था। उन्होने इसकी माप विभिन्न मतो, सम्प्रदायो तथा दार्शनिक चिंतन के आधार पर नही की है। उनका यह विचार साहित्य के विकास के मान्य सिद्धान्तो के विपरीत है। यह तो माना जा सकता है कि हिन्दी साहित्य की एक अविच्छिन्न परम्परा है तथा उस पर पडे हुए वाह्य प्रभावो ने उसके स्वरूपो को कुछ ही अशो मे केवल वाह्य रूप मे प्रभावित किया है, पर यह नही कहा जा सकता कि इसलाम का इस पर किसी प्रकार से कोई प्रभाव नही पडा। इस प्रभाव को स्वय उन्होंने भी आगे चल कर मान लिया है।[2]

उन्होंने हिन्दी साहित्य को अपभ्रश की अविच्छिन्न परम्परा से सम्बद्ध करके उसकी धाराओ के विकास को अपभ्रश की कविता का स्वाभाविक विकास माना है। वे चन्द वरदाई को हिन्दी भाषा का आदि कवि कम तथा अपभ्रश का अन्तिम कवि अधिक मानते है।[3] वे शुक्ल जी के विपरीत यह मानते है कि सत मत पर इसलामी एकेश्वरवाद तथा सूफियो के प्रेमवाद की अपेक्षा भारतीय प्रभाव ही पडे है। उनका कथन है कि 'मैं केवल इस वात पर जोर देता रहा हू, जहा तक उनकी उपस्थापना पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलकार, छन्द, पद आदि का सम्बन्ध है, ये सन्त सौ फी सदी भारतीय परम्परा मे पड़ते है।"[4] इन्होंने हिन्दी मे दो प्रकार की अपभ्रशो से, भिन्न जाति की दो चीजो का विकास दिखाया है, पश्चिमी अपभ्रश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक, शृगारी-काव्य, नीति-विषयक फुटकल रचनाए और लोक-प्रचलित कथानक तथा पूर्वी-अपभ्रश से निर्गुणिया सन्तो की शास्त्र-निरपेक्ष उग्र विचार-धारा, झाड फटकार, अक्खडपना, सहजशून्य की साधना, योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएं। इसके अतिरिक्त इन्होने रीतिकाव्य की परम्परा का चित्रण भी किया है तथा उसमे नई पुरानी रूढियो और कवि प्रसिद्धियो का उल्लेख किया है।[5] वे रीतिकाल को प्राचीन सस्कृत साहित्य के लोकभाषा के साहित्य का ही विकास मानते हैं।[6]

---

१. "मै जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इसलाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का वारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन् १९४०) पृ० २ तथा, देखिए वही, पृ० १५।
२ देखिए वही, पृ० २९।
३ देखिए वही, पृ० २६।
४. देखिए वही, पृ० ४३।
५ देखिए वही, पृ० ११९।
६ देखिए वही, पृ० १३४।

उन्होने उपसहार मे आधुनिक काल के साहित्य का सक्षेप में सार दिया है तथा उसे भी प्राचीन भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि मे देखा है। आधुनिक युग के काव्य-विभाजन मे उन्होने शुक्ल जी से अधिक खरी-भाषा का प्रयोग किया है। वे इस काव्य के अतिवाद के सम्बन्ध मे लिखते है कि "इस अनन्य साधारण गुण के अभाव मे कई जगह हमारी वैयक्तिकता साहित्य मे गलदश्रु भावुकता से आरम्भ करके हिस्टीरिक प्रमाद तक का रूप धारण करती जा रही है, प्रकृति का आलम्बन थोथा वकवाद और शून्यगर्भ प्रलाप वाक्यो के रूप मे प्रकट हो रहा है, व्यक्तिगत प्रेमचर्या विज्ञापनवाजी सी मालूम होती है और मानवता के प्रति अर्पित श्रद्धाजलि रटी हुई सूक्तियो का आकार ग्रहण कर गई है।"[1] इस काल पर उन्होंने केवल अपने विचार ही प्रकट किए है, उसका इतिहास नही दिया है।

इस प्रकार उन्होने शुक्लजी की भाति किसी युग के साहित्य को न तो केवल उस युग की परिस्थितियो के आधार पर ही देखा न एक काल के साहित्य को दूसरे काल के साहित्य से विच्छिन्न करके उसका अध्ययन किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवेचन मे यह एक नया कदम है। हिन्दी साहित्य की प्रत्येक धारा को उसकी एक परम्परा से सम्बद्ध करके देखने का उनका कार्य महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बौद्धो के लोक-धर्म तथा योग मार्ग के परवर्त्ती साहित्य पर प्रभाव, सत मत की भारतीय-परम्परा के विकास, वैष्णव भक्तो की परम्परा, सगुण मतवाद तथा मध्य युग के सतों के सामान्य विकास की पाडित्यपूर्ण व्याख्या की है। इस विवेचन मे उन्होने जातीय तथा वर्ग-परम्परा के साथ युग की चेतनाओ, परि-वृत्तियो, अवस्थाओ तथा व्यक्तियो की विशिष्टताओ के सामूहिक प्रभाव के आधार को ध्यान मे रक्खा है। इन्होंने पहली वार हिन्दी साहित्य की परम्परा का भारतीय-चिन्ता के स्वाभाविक-विकास से नाता जोडा है। इस प्रकार इन्होंने साहित्य के अध्ययन के क्षितिज को अभूतपूर्व रूप से प्रसार प्रदान किया है। इसके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य सामयिक परिस्थितियो से ही न बधा रहा, उसका सम्बन्ध भूत तथा वर्त्तमान से जोडा गया, चाहे भविष्य की सम्भावनाओ से वह अब भी असपृक्त रहा।

इन्होने हिन्दी साहित्य के उपेक्षित तथा भ्रान्त-धारणाओ से युक्त कालो को लेकर अपने पाडित्यपूर्ण अध्ययन तथा खोज के आधार पर उनका वास्तविक स्वरूप तथा विकास दिखाने का सफल प्रयास किया है। शुक्ल जी ने भक्ति-काल की ज्ञानाश्रयी शाखा और सगुण-भक्ति की कृष्ण-भक्ति-शाखा के गम्भीर विवेचन की उपेक्षा ही नही की वरन् उसके अध्ययन तथा मूल्याकन मे वे अपनी निजी-धारणाओ के प्रवाह मे वह जाने के कारण तटस्थता नही दिखा सके। लोक-सग्रह तथा लोक-मगल के आदर्श को अपना स्थायी मानदड वना लेने के कारण, वे निर्गुण सत तथा सिद्ध कवियो की वाणी मे लोक धर्म की अवहेलना मानते थे तथा उनकी कविता को साम्प्रदायिक, सामाजिक, सहृदयता शून्य समझते थे। द्विवेदी जी ने कृष्ण-भक्ति-काव्य का विवेचन अपनी 'सूर-साहित्य' पुस्तक मे विस्तार से किया है तथा 'कबीर' मे निर्गुण सत-काव्य को लोक-धर्म से अविच्छिन्न सिद्ध किया है।

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन् १९४०), पृ० १३४।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे भी उन्होने उन दोनो युगो के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचारो का प्रतिपादन किया है। शुक्ल जी ने जिसे लोक-धर्म समझा था वास्तव मे वह हिन्दू समाज के उच्च वर्णो का विशिष्ट धर्म था, जिसका वास्तविक लोक धर्म के रूप मे विकास सगुण रामभक्ति के रूप मे हुआ। उससे पूर्व तो लोक-धर्म वही था, जिसकी अभिव्यक्ति योगियो तथा जैन कवियो के धर्म, विचारो तथा विश्वासो द्वारा हुई थी। उन्होने इस धारा का ही प्रामाणिक स्वरूप प्रस्तुत करके इतिहास के उपेक्षित कालो का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत किया है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —

मिश्र जी ने अपने ग्रन्थ 'वाड्मय विमर्श' मे सक्षेप मे हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है, जिसमे इतिहास के काल-विभाजन के बारे मे कुछ मौलिक विचार व्यक्त किए है। उन्होने इतिहास को कालानुसार तथा रस या प्रवृत्ति के अनुसार बाटना अच्छा समझा है। कालानुसार वे इसे आदि, मध्य तथा आधुनिक के रूप में तथा रस या प्रवृत्ति के अनुसार वीर, भक्ति, शृगार और प्रेम नामक कालो मे बाटना ठीक समझते है। इनका भक्ति-काल का विभाजन तो शुक्ल जी की भाति है, किन्तु इन्होने रीति काल को 'उत्तर मध्य काल' तथा 'शृगार काल' के नाम से पुकारा है। वे रीतिकाल मे दो प्रकार के कवि मानते है, एक तो रीति का सहारा लेकर चलने वाले तथा दूसरे रीतिमुक्त स्वच्छन्द कविता लिखने वाले। इसी प्रकार उन्होने रीतिबद्ध-कविता लिखने वाले कवियो के दो रूप माने है, एक तो रीतिशास्त्र के अनुसार लक्षण ग्रन्थ लिख कर अपने उदाहरण देने वाले तथा दूसरे स्फुट रचनाओ द्वारा रीति के तत्त्वो का प्रदर्शन करने वाले। वे रीतिकाल को 'शृगार काल' कहना अधिक उपयुक्त समझते है। उनका कथन है कि "उत्तर मध्य काल को 'रीति' कहना ठीक ही है। पर रीतिकाल मे अपनी स्वच्छद उद्भावना दिखाने वाला कोई नही हुआ। वस्तुत ये लोग रीति के आचार्य न होकर कवि मात्र थे अत. वर्ण्य इनके पास शृगार ही था। रीतिकाल कहने से इनकी रचनाओ के विभाजन का कोई मार्ग नही मिलता। पर शृगार-काल कहने से स्पष्ट विभाग दिखाई पडते है।"[1] इस प्रकार इनका काल-विभाजन निम्नाकित है —
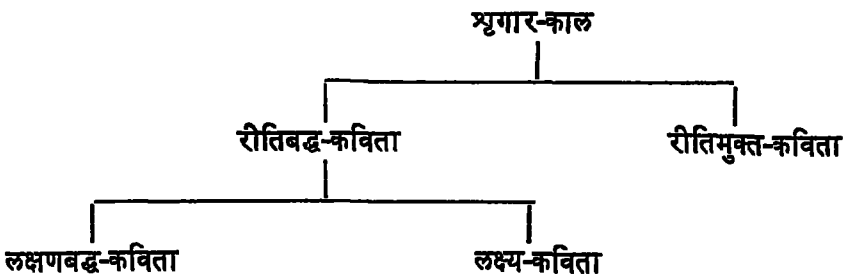
१ देखिए 'घनानन्द-कवित्त', भूमिका—प्र० सरस्वती मन्दिर जतनवर बनारस (स० २०००) पृ० ४।

इसी प्रकार इन्होने आधुनिक-काल को वर्ण्य विषय या मनोवृत्ति के आधार पर 'प्रेम-काल' कहना अधिक उचित समझा है। उनका विचार है कि इसे 'गद्य-काल' कहना तो शैली तथा रचना-बाहुल्य की दृष्टि से ठीक है, प्रवृत्ति के आधार पर नही। किन्तु हम इनकी धारणा को नही अपना सकते, क्योकि आधुनिक-काल केवल प्रेम की भावनाओ से पूर्ण नही है। इसमे विभिन्न प्रकार की भावनाओ की व्यजना हुई है।

इन इतिहासकारो तथा आलोचको के अतिरिक्त अन्य लेखको ने भी इतिहास के विकास मे योग दिया है। स० १९९४ मे राहुल साकृत्यायन की 'पुरातत्त्व निबन्धावली' मे प्राचीन साहित्य के इतिहास की खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है, जिसके आधार पर परवर्त्ती लेखको का ज्ञान विकसित हुआ है। इन निबन्धो मे साहित्य तथा धर्म की पुरातन परम्पराओ को पाण्डित्यपूर्ण रूप मे स्पष्ट किया गया है। स० १९९६ मे प्रो० हीरालाल जैन की पुस्तक, जिसके कुछ निबन्ध जैन-साहित्य के ज्ञान की वृद्धि करते है, प्रकाशित हुई। स० १९९८ मे ब्रजरत्न दास का 'खडी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ, जो केवल खडी बोली साहित्य का विकास दिखाता है। इसी वर्ष हिन्दी साहित्य की किसी एक प्रवृत्ति अथवा धारा का स्पष्टीकरण करने वाली पुस्तक भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' की सत-साहित्य है, जिसमें निर्गुणोपासक सतो की आध्यात्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियो का विवेचन किया गया है।

किसी एक शताब्दी के साहित्य के अध्ययन को लेकर चलने वाली विशेष महत्त्वपूर्ण रचना प० नन्ददुलारे वाजपेयी की 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' है, जिसमे निबन्धो के द्वारा बीसवी शताब्दी के चालीस वर्षो के इक्कीस साहित्यिक व्यक्तियो का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन निबन्धो मे ऐतिहासिक क्रम-विकास की अपेक्षा आधुनिक-साहित्य का विश्लेषण, विवेचन, अध्ययन तथा मूल्याकन विशेष पाण्डित्य के साथ किया गया है। वाजपेयी जी ने नवीन साहित्य के आधार पर ही उनकी विशेषताओ का गम्भीर रूप में निरूपण किया है। इस पुस्तक से नवीन साहित्य को एक नवीन दृष्टिकोण तथा आलोचना के विशिष्ट और खरे मानदण्ड प्राप्त हुए है।

इस काल मे साहित्य के इतिहास के विभिन्न अगो को मौलिक तथा व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत करने वाले मौलिक तथा अनूदित शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए, जिनमे डा० मदान का 'माडर्न हिन्दी लिट्रेचर', डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', डा० श्री कृष्ण लाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' प्रकाशित हुए, जिनमे आधुनिक काल के साहित्य के सर्वागीण विकास का विश्लेषणात्मक शैली मे, खोजपूर्ण सामग्री के आधार पर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इन विस्तृत इतिहासो के अतिरिक्त, इन्ही के आधार पर विद्यार्थियो के लाभ के लिए बहुत से सक्षिप्त इतिहास भी प्रकाशित हुए, जिनमे कोई विशेष मौलिकता नही है। काल-क्रमानुसार यह इतिहास रामनरेश त्रिपाठी का 'हिन्दी का सक्षिप्त इतिहास', राम शकर प्रसाद का 'हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास', मुशीराम शर्मा का 'हिन्दी साहित्य

के इतिहास का उपोद्घात', गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य', नन्द दुलारे वाजपेयी का 'हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास', रामचन्द्र शुक्ल 'रसाल' का 'साहित्य-परिचय' तथा 'साहित्य प्रकाश', ब्रजरत्न दास का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', गुलाव राय का 'हिन्दी साहित्य का सुवोध इतिहास', डा० सूर्यकान्त का 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा, गोपाल खन्ना का 'हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास', मिश्रवन्धुओ का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', उत्तमचन्द श्रीवास्तव का 'हिन्दी साहित्य का रेखा-चित्र' तथा रामनरेश त्रिपाठी का 'खडी वोली का सक्षिप्त परिचय' आदि हैं।

इनके अतिरिक्त साहित्य के विभिन्न रूपो के इतिहास भी लिखे गए, जिनके द्वारा कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निवन्ध, आलोचना, गद्य, पद्य आदि का विकास प्रस्तुत किया गया। कविता के इतिहास तथा ऐतिहासिक विवेचन से सम्वन्ध रखने वाले ग्रन्थ शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'कवि और काव्य', ज्योति प्रसाद निर्मल का 'नवयुग काव्य विमर्श', आनन्द कुमार का 'हिन्दी कविता का विकास', गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी के कवि तथा काव्य', गगा प्रसाद पाडे का 'काव्य-कलना', गिरिजा दत्त शुक्ल का 'हिन्दी के वर्त्तमान कवि और उनका काव्य', डा० केशरी नारायण शुक्ल का 'आधुनिक काव्य-धारा' आदि हैं। इन ग्रन्थो मे प्राचीन तथा नवीन कवियो के काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियो, शैलियो तथा रूपो का विवेचन किया गया है। ये ग्रन्थ काव्य के व्यवस्थित इतिहास नही है, पर काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियो की रूप-रेखा स्पष्ट करते है।

इसी प्रकार से नाटको के विकास से सम्वन्ध रखने वाले ग्रन्थ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास', वजरत्न दास का 'हिन्दी नाट्य साहित्य, गुलाव राय का 'हिन्दी नाट्य विमर्श', दिनेश नारायण उपाध्याय का 'हमारी नाट्य परम्परा', शिखर चन्द जैन का 'हिन्दी नाट्य-चिंतन', नगेन्द्र का 'आधुनिक हिन्दी नाटक', अमर नाथ गुप्त का 'एकाकी नाटक', भीमसेन का 'हिन्दी नाटक साहित्य की आलोचना' है। इन ग्रन्थो मे नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। कहानी तथा उपन्यास से सम्वन्ध रखने वाले ग्रन्थ 'हिन्दी के सामाजिक उपन्यास' 'हिन्दी उपन्यास' तथा निवन्ध का ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य मे निवन्ध' हैं। इसी प्रकार गद्य तथा गद्य-लेखको से सम्वन्ध रखने वाले ग्रन्थ भी लिखे गए, जिनमे गद्य का ऐतिहासिक विवेचन हुआ। गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का गद्य-काल' केशव प्रसाद मिश्र तथा पद्म नारायण आचार्य का 'गद्य भारती', डा० जगन्नाथ प्रसाद का 'हिन्दी के गद्य-निर्माता' गद्य के विकास को प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ है। किसी एक धारा के साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन करने वाले ग्रन्थ वात्स्यायन के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' और 'तार-सप्तक' तथा प्रकाशचन्द का 'नया हिन्दी साहित्य' है।

उपर्युक्त आलोचना का निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-काल मे साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रारम्भ प्राचीन परम्परा के स्वाभाविक-विकास के रूप मे नामावलियो, कवि-मालाओ, वृत्त-सग्रहो, कवियो के विवरणो तथा ग्रन्थों के वर्णनो से हुआ है। इस काल के प्रारम्भ मे इतिहास लिखने के लिए लेखको की पहली आवश्यकता कवियो के वृत्त तथा

कविताओ के सग्रह की थी, जिसके आधार पर परवर्त्ती-काल में इतिहास लिखने का कार्य सम्भव हो सका। आलोच्यकाल से पूर्व ही कवियो की काव्य तथा वृत्त की सामग्री को ऐतिहासिक काल-क्रम से रखने के क्षीण प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे, जिनका विकास आलोच्य काल के प्रारम्भ मे पूर्ण रूप से हुआ। 'सुकवि सरोज', 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान' आदि इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण कवि-वृत्त-सग्रह हैं, जिनका इतिहास लेखन की सामग्री जुटाने तथा वृत्त और कविताओ के उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण विशेष महत्त्व है। इस काल का साहित्यिक वातावरण कवियो के जीवन-चरित एकत्रित करने, ग्रन्थो की खोज करने तथा कवियो के परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने के अतिरिक्त किसी गम्भीर साहित्यिक कार्य के लिए अनुपयुक्त था।

आलोच्यकाल के प्रारम्भिक वृत्त-सग्रहो मे इतिहास की प्रवृत्तियो, विचारधाराओं तथा साहित्य चेतना के जीवन प्रवाह के दर्शन नही होते। इनमे न तो परिस्थितियो का अध्ययन है, न कवियो के काव्य का गवेषणापूर्ण विश्लेषण तथा विवेचन। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे यह युग, गुण-दोष-वर्णन का था, इसलिए इन वृत्त-सग्रहो मे केवल कवियो के परिचयात्मक विवरण के साथ-साथ उनके साहित्यिक महत्त्व का क्षीण निर्देश मात्र है। इन लेखको के हृदय मे इतिहास की भावना का आविर्भाव ही नही हुआ था, इसलिए इनके ग्रन्थो के नाम के साथ इतिहास शब्द नही लगाया गया है। इन्होने इतिहास शब्द की अपेक्षा अपना नाम भी शीर्षक के साथ लगा दिया है, जैसे 'शिवसिंह सरोज', 'मिश्र वन्धु विनोद' आदि। इन लेखको मे स्वय अपने मे इतिहास लेखन की पात्रता अथवा योग्यता के सम्बन्ध मे विश्वास नही था, जैसे मिश्रवन्धु अपने को इतिहास जैसे गम्भीर कार्य के अनुपयुक्त मानते थे।

इतिहास-लेखन के प्रारम्भिक प्रयत्न तीन प्रकार के थे, प्रथम, नवीन ग्रन्थो की खोज, प्रचार, अनुसधान, सम्पादन तथा प्रकाशन करना; द्वितीय, वृत्त तथा काव्य-सग्रह प्रस्तुत करना; तथा तृतीय, कवियो की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करके उनकी काव्यगत विशेषताए दिखाना तथा मूल्याकन करना। प्रथम कार्य 'नागरी प्रचारिणी सभा' तथा शिव सिंह सेगर, ग्रियर्सन, मिश्रवन्धु आदि लेखको द्वारा सम्पन्न हुआ, जिन्होने अधिकाधिक कवियो की खोज के आधार पर इतिहास की काल-क्रम से प्रारम्भिक रूप-रेखा सजाने का सफल प्रयत्न किया तथा तृतीय कार्य तत्कालीन भारतेन्दु, वालमुकुन्द गुप्त, वदरी नारायण चौधरी आदि लेखको तथा वृत्त सग्रहकारो ने किया। तत्कालीन लेखको ने समकालीन पत्र-पत्रिकाओ मे साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले निवन्ध लिख कर कवियो की शैली, भाषा, अलकार, रस आदि का वर्णन किया है। इनकी आलोचना स्थूल तथा वाह्य गुण-दोष वर्णन तक रही तथा इनके मानदण्ड भी भाषा, रस, अलंकार, सुरुचि, औचित्य आदि थे। इनकी रुचि भी आधुनिक की अपेक्षा रीतिकालीन अधिक थी, इसीलिए मिश्रवन्धुओ ने 'देव' को कवियो मे सर्वोच्च आसन का अधिकारी माना। नैतिकता की भावना के विकास के साथ-साथ उन्होने अपनी रुचि वदल कर, तुलसी को यह स्थान दे दिया। इस समय तक सम्पूर्ण साहित्य को उसके विभिन्न कालो की परिस्थितियों के सदर्भ

मे रखकर देखने की बात इतिहासकारो को नही सूझी थी। इनकी आलोचना इतनी स्थूल थी कि मिश्रबन्धु जैसे विद्वानो ने किसी काल की निजी विशेषताओ के निरीक्षण तथा अध्ययन की अपेक्षा केवल यही देखा है कि उसमे कौन कौन सी साहित्यिक विशेषताए हैं तथा कौन सी नही है तथा किस काल मे काव्य की मात्रा कितनी है।

आधुनिक प्रणाली के इतिहासो के बीज ग्रियर्सन के 'माडर्न वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान' मे मिलते है, जिसमे सबसे पहले साहित्य का काल-विभाजन तथा मूल्याकन मिलता है। के तथा ग्रीब्स के इतिहासो ने इस दिशा मे और विकास किया तथा इतिहास की व्यवस्था और वैज्ञानिकता बढाई। के ने सबसे पहले अपने इतिहास को 'इतिहास' की सज्ञा दी है। इसके पश्चात् शुक्ल जी, श्यामसुन्दर दास, अयोध्या सिंह, डा० रामकुमार आदि सभी इतिहासकारो ने अपनी इतिहास सम्बन्धी धारणाए बताई है तथा किसी न किसी विशेष आदर्श को अपना कर अपना इतिहास लिखा है। शुक्ल जी के इतिहास से इतिहासो ने एक व्यवस्थित इतिहास का स्वरूप पा लिया तथा इनके इतिहास के पश्चात् वृत्त-सग्रह की अपेक्षा इतिहास ही लिखे गए। अब इतिहासो मे केवल वृत्त-सग्रह तथा काव्य-सग्रह ही नही रहते थे, वरन् राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक तथा सास्कृतिक परिस्थितियो का अध्ययन, किसी काल की पृष्ठभूमि का व्यापक-विवेचन, कवियो की जीवनी के सदेहपूर्ण स्थलो का विवेचन, ग्रन्थो की प्रामाणिकता का अध्ययन, पुरातन काव्य-शैलियो तथा काव्य रूपो की परम्परा का अध्ययन, साहित्य के विभिन्न रूपो, काव्य, गद्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकाकी-नाटक, आलोचना, इतिहास आदि सब के विकास का दर्शन, काव्य के विभिन्न अग, छन्द, तुक, भाषा, अलकार आदि पर विचारो की अभिव्यक्ति, ग्रन्थकारो के ग्रन्थो के उद्गम स्थलो की खोज, सम्पूर्ण साहित्य का समष्टिगत रूप मे अध्ययन करके उसकी मौलिक विशेषताओ का निदर्शन, सम्पूर्ण साहित्य का एक अविच्छिन्न परम्परा के रूप मे भारतीय समाज, सस्कृति, चिन्तन आदि के आधार पर अवलोकन, हिन्दी साहित्य के इतिहास की परम्परा का भारतीय चिन्ता की परम्परा से सम्बन्ध जोडकर उसका अध्ययन, अन्य भाषाओ के साहित्य तथा उसकी प्रवृत्तियो और भावो के प्रभाव का हिन्दी पर अध्ययन आदि भी उनमे होने लगे। इस प्रकार हिन्दी मे साहित्य के इतिहास का एक विशिष्ट स्वरूप निर्मित होता गया, जिसका विकास स्वाभाविक रूप मे हिन्दी की आलोचना तथा रचनात्मक साहित्य के विकास के अनुरूप हुआ है। इस पर पाश्चात्य-साहित्य के इतिहासो की शैली तथा स्वरूप का प्रभाव तो पडा है, किन्तु इसका स्वरूप अपना निजी है, जो हिन्दी के विकास तथा उसकी परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ बनता गया है।

इन इतिहासो मे प्राय हिन्दी के शुद्ध-साहित्य के इतिहास अधिक है, जिनमे चित्र, मूर्त्ति, सगीत आदि कलाओ का समावेश नही है, किन्तु कुछ ग्रन्थो मे ललित-कलाओ का भी समावेश किया गया है, जैसे श्यामसुन्दर दास जी के इतिहास मे। इसी प्रकार शुक्ल जी के इतिहास मे साम्प्रदायिक साहित्य का समावेश नही हुआ है, किन्तु मिश्रबन्धु आदि के इतिहासो मे साम्प्रदायिक-साहित्य को भी इतिहास के अन्तर्गत ले लिया गया है। इसी-

लिए इनका इतिहास सं० १०५० से पूर्व का है। हिन्दी के प्रमुख इतिहासो मे किसी प्रवृत्ति के विकास का विवेचन किसी एक काल में ही सीमित करके देखा गया है। उसके शेष विकास की धारा का अन्य कालो में अध्ययन नही किया गया है। इसीलिए वीरगाथाओ का वीरगाथा काल में तथा भक्ति-काव्यों का भक्ति-काल मे तथा रीति-काव्यो का रीतिकाल में ही विशेष विवेचन किया गया है। इन कालो में प्राय. इनके प्रतिनिधि कवियो को शीर्ष स्थान पर रख कर, उनके काव्य का विवेचन करने की प्रणाली चलती रही, किन्तु सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को समष्टिगत रूप मे देखने के भी क्षीण प्रयत्न शुक्ल जी के इतिहास से दिखाई पड़ने लगे। शुक्ल जी ने सब से पहले सिद्धो तथा योगियो का विवेचन, भाषा की परम्परा का विकास तथा इनकी साम्प्रदायिक प्रवृत्तियो और सस्कारो का सत साहित्य पर प्रभाव दिखाने के लिए किया था। किन्तु इनका परम्परा का अध्ययन केवल इस काल तक ही सीमित रहा। अन्य कालो मे उन्होंने उस काल के साहित्य का परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करके नही देखा। यह कार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने विशेष रूप से किया तथा भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा से नाता जोड़ कर केवल विभिन्न कालो के अध्ययन की अपेक्षा साहित्य का समष्टि रूप मे अध्ययन करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार का क्षीण प्रयत्न श्यामसुन्दर दास जी ने भी किया है। उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की जातिगत, देशगत तथा कालगत विशेषताओ का विवेचन करके समस्त हिन्दी साहित्य को एक समन्वित रूप में सामने रखने का प्रयत्न किया है। उनका विचार है कि साहित्य के इतिहास को विभिन्न कालो मे कठिनता से बाटा जा सकता है, क्योकि साहित्य के स्वरूप की धारा का मूल एक ही होता है। सत्येन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि ने भी इस दिशा मे कुछ प्रयत्न किए।

आलोच्य काल में ऐसा कोई इतिहास नही लिखा गया, जिसमें हिन्दी साहित्य का समन्वित, सर्वांगीण तथा पूर्ण विकास दिखाने का प्रयत्न तथा प्रत्येक काल की सब प्रकार की परिस्थितियो का विवेचन पूर्ण रूप में किया गया हो और साथ ही केवल हिन्दी की प्रकृति तथा स्वभाव को ही लक्ष्य मे रखा गया हो। जैसे हिन्दी आलोचना-शास्त्र का ऐसा कोई रूप सामने नहीं आ सका, जिसमे हिन्दी का निजी-आलोचना-शास्त्र हो, इसी प्रकार हिन्दी साहित्य का ऐसा कोई इतिहास नही लिखा गया, हिन्दी के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य को एक इकाई मानकर केवल उसका ही इतिहास लिखा गया हो। हिन्दी के आधुनिक काल के इतिहास में यह अभाव अधिक अखरता है। इस काल का विवेचन अधिकांश में पाश्चात्य काव्य तथा आलोचना के वादों के आधार पर किया गया है, हिन्दी के निजी रचनात्मक साहित्य के अन्तःदर्शन का आधार लेकर नही। इसीलिए आधुनिक काल के साहित्य का न तो कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण हो सका है, न स्वरूप-निरूपण। इसी प्रकार जैसे आधुनिक काल के विवेचन में पाश्चात्य-साहित्यालोचन का आधिक्य रहा है, ऐसा रीतिकाल के विवेचन मे अरबी-फारसी काव्य की प्रवृत्तियो का विवेचन नही हुआ। इसमें केवल प्राचीन रीति-शास्त्र तथा शृंगारिक-काव्य की परम्पराओ का दर्शन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा० नगेन्द्र आदि ने किया है।

इतिहासो के उपर्युक्त दोषो के कारण ही साहित्य के इतिहास के मूल्याकन तथा स्वरूप-विश्लेषण के मानदण्ड सामान्य नही रह सके। शुक्ल जी ने एक काल के साहित्य के स्वरूप के आधार पर निर्मित मानदण्डो को दूसरे काल के विभिन्न स्वरूपो वाले साहित्य पर लागू किया। उन्होने सिद्धो तथा योगियो के साहित्य का नैतिकता की दृष्टि से तथा सत-साहित्य का तुलसी के काव्य के लोक-मगल, लोकादर्श, गुह्य तथा रहस्य के विरोध के आदर्श पर विवेचन किया। कभी-कभी एक युग के समृद्ध साहित्य से अधिक लगाव होने के कारण तथा उसका साहित्यिक-मूल्य अधिक समझने के कारण अन्य युगो के साहित्य को निष्पक्षता से नही देखा गया। शुक्ल जी ने रीतिकाल तथा सत काव्य के साथ ऐसा ही किया है।

इन इतिहासो में हिन्दी साहित्य के विभिन्न स्वरूपो के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित धारणाए स्थापित होती रही। डा० हजारी प्रसाद की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' से पूर्व भक्ति काल के साहित्य के उदय का कारण मुसलमानो के राज्य से उत्पन्न निराशा तथा खिन्नता माना जाता था। प्राय सभी इतिहासकारो की यही मान्यता थी। किन्तु द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति नही माना तथा इसलाम का उस पर कोई विशेष प्रभाव नही समझा। इसी प्रकार शुक्ल जी के लोक-धर्म तथा द्विवेदी जी के लोक-धर्म के आदर्शो मे भी अतर है तथा दोनो की सत-साहित्य के सम्बन्ध मे धारणाए भी भिन्न है।

इन इतिहासो में हिन्दी साहित्य के इतिहास के आरम्भ-काल के समय में भेद है। ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, रामकुमार वर्मा, रामशकर शुक्ल 'रसाल' आदि आलोचको ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ स० ७०० अथवा स० ७५० से माना है तथा रामचन्द्र शुक्ल, श्याम सुन्दर दास, अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि इतिहासकारो ने स० १०५० अथवा स० १००० से। डा० रामकुमार वर्मा, रसाल जी आदि का विचार है कि स० ७०० से हिन्दी साहित्य का स्वरूप बनता जा रहा था तथा उसका साहित्य के रूप में विकास स० १००० से ही हुआ है। शुक्ल जी का भी विचार है कि शुद्ध साहित्य का क्रम-बद्ध इतिहास स० १०५० से ही मिलता है। इसके पूर्व के साहित्य को वे साम्प्रदायिक कविता मात्र मानते हैं। उन्होने अपभ्रश को प्राकृताभास हिन्दी अथवा पुरानी हिन्दी माना है तथा उनका विचार है कि इसका साहित्य के रूप मे प्रयोग स० १०५० से होने लगा था। इनके विपरीत मिश्रबन्धुओ ने अपभ्रश-को सस्कृत से विभिन्न भाषा हिन्दी ही माना है, इसलिए उसका इतिहास स० ७०० से आरम्भ समझा है। अन्य इतिहासो के विपरीत, 'के' के इतिहास में प्रथम काल स० १४०० से माना है तथा इसके पूर्व के काल को भूमिका के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है। रसाल जी ने मिश्रबन्धुओ के विचार के विपरीत अपभ्रश-प्रभावित कवि-भाषा को हिन्दी नही माना है, इसलिए हिन्दी के साहित्य का इतिहास स० १००० से प्रारम्भ किया है।

इन इतिहास-लेखको की इतिहास के सम्बन्ध में भी निजी धारणाए थी। मिश्रबन्धुओ ने इतिहास को एक गम्भीर रचना माना है। उनका विचार है कि इसमे भाषा

सम्बन्धी गुणों एवं परिवर्तनों पर मुख्य रूप में ध्यान देना पड़ता है तथा छोटे और बड़े सभी कवियों और लेखकों को स्थान नहीं मिलता। वे यह भी मानते हैं कि इसमें कवियों का विवरण कालानुसार देना चाहिए। इनका यह विचार भ्रान्त है कि इतिहास में केवल भाषा के गुणों का तथा परिवर्तनों का ही विवेचन होता है तथा छोटे-बड़े सभी कवियों का समावेश नहीं होता। वास्तव में साहित्य के इतिहास में साहित्य सम्बन्धी सभी तथ्यों तथा तत्त्वों का विवेचन होता है तथा सभी कवियों के लिए उसमें स्थान होता है। शुक्ल जी उसे साहित्य का इतिहास कहते हैं, जिसमें जनता की परिवर्तित चित्त वृत्तियों की परम्परा को आदि से अंत तक परखते हुए उसका साहित्य के साथ सामंजस्य दिखाया जाता है। इसी प्रकार श्यामसुन्दर दास का विचार है कि साहित्य का इतिहास, भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों के विकास का इतिहास है। डा० रामकुमार वर्मा, इतिहास-लेखन के कार्य को विशेष कठिन मानते हैं। उनका विचार है कि इसमें वैज्ञानिक-काल-क्रम और विकास-क्रम के साथ वैज्ञानिक गम्भीर विवेचन की अपेक्षा होती है। रसाल जी का विचार है कि साहित्य के इतिहास के लिए साहित्य का विशेष ज्ञान, उसके ऐतिहासिक विकास से परिचय तथा उसकी विचार-धाराओं और रीतियों को जानना बहुत आवश्यक है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि इतिहास में साहित्य की अविच्छिन्न विकास-परम्परा का अध्ययन, उसकी विभिन्न क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण, उसको प्रभावित करने वाले भौगोलिक, आर्थिक, मनोविश्लेषणात्मक कारणों की खोज तथा समाज, संस्कृति, चिन्तन आदि के आधार पर उसके विकास-क्रम का निरीक्षण आवश्यक होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे इस काल के इतिहासकारों की इतिहास सम्बन्धी धारणा पुष्ट तथा विकसित होती गई।

इन इतिहासकारों ने इतिहास के समुचित अध्ययन के लिए समस्त साहित्य को विभिन्न कालों तथा युगों में विभाजित किया है। इस प्रकार अध्यायों के शीर्षकों के रूप में सबसे पहला विभाजन सर जार्ज ग्रियर्सन का है, जो प्रारम्भिक होने के कारण स्वभावतः अधिक व्यवस्थित, पूर्ण तथा विकसित नहीं है। इन्होंने समस्त साहित्य को १० कालों में बाटा है। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं ने इसे ९ कालों में विभाजित किया है, किन्तु इन्होंने इन तीन कालों को 'पूर्व' तथा 'उत्तर' रूप में और विभाजित कर दिया है। इसके पश्चात् प्राय. सभी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के केवल चार काल माने हैं। केवल ग्रीव्स ने पांच तथा 'के' ने तीन काल माने हैं। ग्रीव्स ने धार्मिक काल को दो भागों में बांट दिया है तथा के ने वीर-गाथाओं का विवरण भूमिका में किया है।

इन इतिहासकारों ने अपने काल-विभाजनों के कुछ आधार भी प्रस्तुत किए हैं। ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धुओं ने अपने विभाजन के आधार, स्वयं स्पष्ट नहीं किए, किन्तु उनके विभाजन से ही पता चलता है कि उनका विभाजन विशेष वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। ग्रियर्सन ने अपने विभिन्न कालों को काल-क्रमानुसार, नरेश अथवा कवि के नाम पर, प्रदेश तथा काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर बांटा है। मिश्रबन्धुओं ने प्रदेश तथा राज्य के अनुसार कालों का विभाजन न करके, काल-क्रमानुसार आदि, मध्य, उत्तर और

साहित्यिक प्रवृत्तियो के आधार पर किया है। शुक्ल जी ने अपना विभाजन विशेष वैज्ञानिक आवार पर किया है। उन्होने जनता की चित्तवृत्तियो के कालानुसार परिवर्तन तथा विभिन्न प्रभावो की प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली साहित्यिक शाखाओ के अध्ययन को अपना आधार बनाया है। उनका विचार है कि जनता को चित्तवृत्तियो का परिवर्तन, देश की सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक तया धार्मिक परिस्थितियो के अनुसार होता है। श्यामसुन्दर दास का आधार, किसी काल के कवियो के विशेष गुण, कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन की प्रणाली, भाव-व्यजना का ढग आदि है। अयोध्यासिह उपाध्याय ने प्रवृत्तियो के अनुमार, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कालानुमार तथा वृत्त या रस के आधार पर कालो का विभाजन किया है। इस प्रकार इन इतिहासकारो ने काल-क्रम, नरेश, महान् कवि, प्रदेश, काव्य की प्रवृत्ति, जनता की चित्तवृत्तियो, विभिन्न प्रभाव, कविता के गुण-दोष-प्रतिपादन की शैली, भाव-व्यजना के ढग, वृत्ति, रस तथा विभिन्न प्रकार की परिस्थितियो को अपने काल-विभाजन का आधार बनाया है।

इसी प्रकार विभिन्न लेखको ने कालो के विभिन्न नाम भी दिए है। हिन्दी के प्रथम काल का नाम ग्रियर्सन ने वार्डिक पोयट्री, मिश्रवन्धुओ ने पूर्वारम्भिक तथा उत्तरारम्भिक-काल, शुक्ल जी, श्यामसुन्दर दास आदि अन्य इतिहासकारो ने आदिकाल अथवा वीरगाथा काल, डा० रामकुमार वर्मा ने चारण-काल तथा रसाल जी ने 'जय-काव्य-काल' अथवा आदि काल रखा है। इसी प्रकार द्वितीय काल के भी विभिन्न नाम रखे गए है तथा उनकी कई उपशाखाए मानी गई है। ग्रियर्सन ने इस काल को कई भागो तथा शीर्षको मे वाटा है, जैसे रीलीजियस रिवाइवल आव दी फिफ्टीन्थ सेन्च्युरी, दी रोमान्टिक पोयट्री आव मलिक मोहम्मद जायसी, दी कृष्णा कल्ट आव वृज, तुलसीदास तथा अदर सक्सेमर्स आव तुलसीदास, मिश्रवन्धुओ ने इसे पूर्वमाध्यमिक तथा उत्तरमाध्यमिक काल मे, रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काल नाम देकर उसके दो भेद, निर्गुण भक्ति तथा सगुण भक्ति किए है तथा निर्गुण भक्ति की दो शाखाए, ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी और सगुण भक्ति की दो शाखाए, कृष्ण तथा रामभक्ति की है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी भक्तिकाल नाम देकर उसके चार विभाग, सतकाव्य, रामकाव्य तथा कृष्ण-काव्य किए है तथा रसाल जी ने इसका नाम मध्य काल रख कर, इसके दो भेद पूर्व तथा उत्तर किए है तथा उनके अन्तर्गत धार्मिक काव्य का शीर्षक देकर उसमे भक्ति, प्रेम तथा ज्ञानात्मक काव्य का विवेचन किया है। इसी प्रकार तृतीय काल को ग्रियर्सन ने तीन भागो मे वाट कर अध्ययन किया है, जैसे दी आर्ट्स पोइटिका, केशव, चिन्तामणि, बिहारी लाल तथा दी एट्टीन्थ सेन्च्युरी। मिश्र वन्धुओ ने अलकरण की प्रवृत्ति के आधार पर, इसे दो भागो मे बाट कर दो नाम, पूर्वालकृत काल तथा उत्तरालकृत काल रखे है। शुक्ल जी ने इसे उस युग के ग्रन्थो की शैली तथा स्वरूप के अनुसार रीतिकाल कहा है तथा उसके विभिन्न भेद नही किए है। रसाल जी ने उसमे कला की प्रवृत्ति देख कर, उसे 'कला-काल' कहा है तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रस के आधार पर, उसे शृंगार काल कहना उचित समझा है तथा उसके काव्य के दो भेद रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त माने है। उन्होने रीतिबद्ध कविता भी दो प्रकार की मानी है,

एक लक्षण मे बद्ध रहने वाली तथा दूसरी केवल स्फुट और लक्षणमुक्त। इसी प्रकार चतुर्थ काल को ग्रियर्सन ने दो कालो मे 'हिन्दुस्तान अण्डर दी कम्पनी' तथा 'हिन्दुस्तान अण्डर दी क्वीन' मे बाट कर प्रान्तो के आधार पर उसके साहित्य का विवेचन किया है, मिश्र बन्धुओ ने उसे अज्ञातकाल, परिवर्तन काल तथा वर्त्तमान काल नामक खण्डो मे बाटा है। शुक्ल जी ने उसे साहित्य के एक स्वरूप के आधिक्य के आधार पर गद्य-काल कहा है तथा उसका उप-विभाजन स्थूल रूप मे प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान के रूप मे तथा ब्रज काव्य-धारा और खडी बोली काव्य-धारा मे किया है। 'रसाल' जी ने उसे आधुनिक तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रस के आधार पर उसे 'प्रेम-काल' का नाम दिया है। हमारा विचार है कि 'आधुनिक काल' को गद्य तथा कविता के रूप मे बाट कर कविता का उप-विभाजन ब्रज तथा खडी बोली के स्थूल आधार पर न करके प्रवृत्तियो के आधार पर, आधुनिक रीतिकाव्य, इतिवृत्तात्मक-काव्य, छायावादी काव्य, प्रगतिवादी काव्य तथा प्रयोगवादी काव्य के रूप में करना चाहिए। इन कालो के विभिन्न नामकरण का कारण इतिहासकारो के विभिन्न आधारो का ग्रहण करना है।

इस काल मे इतिहास सम्बन्धी साहित्य की इतनी वृद्धि हुई है कि हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य के अतिरिक्त भी साहित्य के विभिन्न कालो तथा रूपो के अनेक इतिहास लिखे गए। इस प्रकार के विभिन्न इतिहासो में हिन्दी की किसी एक भाषा अथवा बोली के वृत्त-सग्रह तथा इतिहास, जैसे 'राजस्थानी साहित्य का इतिहास', 'खडी बोली हिन्दी का इतिहास' आदि, एक धर्म के कवियो के वृत्त-सग्रह तथा इतिहास, जैसे 'हिन्दी के मुसलमान कवि', एक जाति के कवियो के वृत्त सग्रह तथा इतिहास जैसे 'सुकवि सरोज', एक काल के साहित्य के इतिहास जैसे 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', एक वर्ग के काव्य का इतिहास जैसे 'सत साहित्य', साहित्य के विभिन्न रूपो तथा अगो के इतिहास जैसे 'हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास', काव्य की विभिन्न धाराओ, वादो तथा वृत्तियो के इतिहास आदि अनेक प्रकार के इतिहास लिखे गए। इतिहासो की विशिष्ट शैली के अतिरिक्त शोध, अनुसधान, विचार-विवेचन, तर्क तथा आलोचनात्मक निवन्धो के द्वारा भी इस काल में साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन होता रहा।

प्रकरण ९

व्यावहारिक आलोचना

भारतीय साहित्यालोचन में व्यावहारिक आलोचना का विकासः—

भारतीय आलोचना की प्रमुख विशेषता उसमे सैद्धान्तिक आलोचना का वाहुल्य तथा व्यावहारिक आलोचना का अपेक्षाकृत अभाव है। भारतीय आलोचक व्यक्तिपरक न होकर विषयपरक अधिक थे। इनकी प्रवृत्ति वैयक्तिक की अपेक्षा अवैयक्तिक रूप मे तथ्य-निरूपण की ओर अधिक थी। ये व्यावहारिक-आलोचना के लिए आलोचना के प्रतिष्ठित सिद्धान्तो का प्रयोग करते थे तथा इनके इन प्रयोगो मे ही इनकी रुचि, गवेषणा, सूक्ष्म-निरीक्षण, निर्णय, व्याख्या करने की शक्ति तथा दृष्टिकोण का पता चल जाता है। भारतीय रचनात्मक साहित्य का विकास भी स्वतन्त्र रूप से नही हुआ है, क्योकि उसकी रूप-रेखा, आकार, प्रकार, स्वरूप तथा आत्मा का निर्माण सैद्धान्तिक-आलोचना के सिद्धान्तो के द्वारा ही हुआ है।

भारतीय सैद्धान्तिक-आलोचना अवैयक्तिक और जीवन तथा जगत् की परिस्थितियो तथा भाव-धाराओ से भी असम्पृक्त थी। उसके परिवर्तनशील होने के कारण भारतीय रचनात्मक-साहित्य नवीन मार्गो मे विकसित नही हो सका। इस कारण भारतीय व्यावहारिक-आलोचना भी तटस्थ, व्यक्ति-निरपेक्ष, व्यक्तिगत-रुचि तथा दृष्टिकोण से हीन थी। उसमे केवल सिद्धान्तो के प्रकाश मे रचनात्मक साहित्य का अध्ययन, परीक्षण तथा मूल्याकन होता था। यह आलोचना काव्य-कर्ता अथवा रचयिता के दृष्टिकोण की अपेक्षा सामाजिक श्रोता तथा रस-भोक्ता के दृष्टिकोण को आधार में रख कर होती थी। यह कृतिकार की अपेक्षा कृति तक सीमित होने के कारण कृतिकार के व्यक्तित्व तक नही पहुचती थी। इसलिए इसमे कृतिकार के प्रति सहानुभूति, उसके दृष्टिकोण को समझने की प्रवृत्ति, उसकी कठिनाइयो को जानने का प्रयत्न तथा उसके युग के प्रभावो और प्रवृत्तियो का अध्ययन नही है। पाश्चात्य आलोचना-पद्धति, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, जीवन-चरितात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक आधारो को ग्रहण करके अपना कार्य सम्पादन करती है तथा भारतीय आलोचनात्मक-पद्धति सदैव प्रत्येक स्थिति मे कृति के विषयो, तथ्यो तथा सिद्धान्तो तक सीमित रहती है। उसका प्रमुख लक्ष्य तथ्य-निरूपण तथा विषय की आत्मा की खोज है तथा गौण लक्ष्य शारीरिक-अवयव, वाह्य-प्रभाव तथा वातावरण का निरीक्षण है। भारतीय व्यावहारिक-आलोचना सिद्धान्तो के निर्माण में भी सहायक रही है। सस्कृत-साहित्य में व्यावहारिक आलोचना की विशेष प्रकार

की विभिन्न प्रणालिया थी। सूत्र, कारिका, वृत्ति, फक्किका, पद्धति, टिप्पणी, पजिका, भाष्य, समीक्षा, वार्त्तिक, सूक्ति, टीका, अवतरणिका, व्याख्यान आदि पद्धतियो का इसमे विशेष विकास हुआ है।

सूत्र के द्वारा किसी विस्तृत विषय, सिद्धान्त, नियम आदि का अर्थ सक्षिप्त, सारपूर्ण, असदिग्ध, व्यर्थ शब्दहीन, व्यापक तथा अनिन्द्य रूप मे बताया जाता है।[1] कारिका सूत्र के अर्थ को सरल रूप मे प्रदर्शित करती है।[2] फक्किका मे किसी स्थिति, नवीन-तथ्य अथवा तर्क का प्रतिपादन होता है। सूत्र, कारिका तथा फक्किका का प्रयोग प्राय सैद्धान्तिक विवेचन मे ही होता है। वृत्त, सूत्रो के सार भाग का विवरण करने वाली व्याख्या की पद्धति है। इसका उद्देश्य सूत्रो की सक्षेप मे व्याख्या करना है।[3] 'टिप्पणी' का प्रयोग किसी व्याख्या के अन्तर्गत आने वाले कठिन अशो के स्पष्टीकरण के लिए होता है। 'पजिका' मे केवल कठिन शब्दो का सरल शब्दो द्वारा स्पष्टीकरण होता है। 'भाष्य' उसे कहते है, जिसमे अनेक शकाओ का उचित उत्तर देते हुए विस्तृत विवेचन होता है।[4] इसके द्वारा सूत्रो के अन्तर्गत आए हुए शब्दो की ऐसी व्याख्या होती है कि, जिसमे लेखक साथ-साथ अपने द्वारा प्रयुक्त हुए पदो का भी स्पष्टीकरण करता चलता है। व्याख्यात्मक-आलोचना के अन्य भेदो मे भाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका मूल स्वरूप विस्तृत विवेचन है। इसी प्रकार भाष्य के अवान्तर गर्भित अर्थो का स्पष्टीकरण 'समीक्षा' कहलाता है।[5] 'वार्तिक' उस आलोचना का भेद है, जिसमे सभी प्रकार के सूत्रो, सिद्धान्तो, तथ्यो और नियमो की इस प्रकार से पूर्ण व्याख्या की जाती है कि जो कहा गया है, वह भी स्पष्ट हो जाता है या जो नही कहा गया है, वह भी स्पष्ट कर दिया जाता है। 'भाष्य' और 'वार्तिक' मे मूल भेद यह है कि 'भाष्य' मे तो केवल मूल-ग्रन्थ का आशय प्रकट किया जाता है तथा उसका विस्तृत विवेचन होता है और वार्तिक मे सूत्र के शब्दो और पदो की ही व्याख्या नही होती वरन् उसके अन्तर्गत आने वाले सभी विषयो का स्पष्टीकरण होता है। हिन्दी साहित्य मे इस शैली का विशेष रूप मे विकास हुआ है और उसमे इसके वार्त्ता, वर्तिका, चर्चा आदि अन्य नाम भी मिलते है। 'व्याख्यान' के अन्तर्गत किसी सिद्धान्त या भाव को किसी आख्यान मे स्पष्ट करने की व्याख्या आती है। 'अवतरणिका' मे किसी बडे कथानक का सार लेकर उसकी व्याख्या की जाती है।

यथासम्भव सरल अर्थो का सकेत करना 'टीका' कहलाता है। इसके अन्तर्गत प्राय: भाष्य, वृत्ति, वार्तिक आदि सभी रूपो का समावेश होता है। इसमे प्रत्येक श्लोक को पृथक् पृथक् देखने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ का पूर्ण रूप मे ध्यान कम

---

१ देखिए 'काव्य मीमासा' (सन् १९४५), पृ० ११।
२. 'अर्थ प्रदर्शन कारिका' वही, पृ० ११।
३. देखिए वही, पृ० ११।
४. देखिए वही, पृ० ११।
५ देखिए वही, पृ० ११।

रखा जाता है। टीकाकार का उद्देश्य ग्रन्थ के अर्थो को स्पष्ट करना ही नही वरन् भाषा सम्बन्धी व्याख्या तथा उसके रस, अलकार, गुण, रीति आदि शास्त्रीय तत्त्वो का निर्देश करना भी होता है। इसमे ग्रन्थ की टीका करते समय स्थल-स्थल के अर्थो की व्याख्या के साथ उसकी रमणीयता का प्रतिपादन भी प्रशसात्मक शैली मे होता चलता है। कही कही सिद्धान्तो का विवेचन भी होता है तथा शास्त्रो के उद्धरण भी दिए जाते है। सस्कृत की टीका-पद्धति मे प्रौढ आलोचना के दर्शन होते है, जैसे 'मल्लिनाथ की टीका'। इन टीकाकारो ने विभिन्न आधारो पर (जैसे, रस, औचित्य, नैतिकता, अलकार, रीतिवादी आदि) काव्यालोचन किया है। इन्होने कवियो के दोष तथा गुणो का ही निर्देश नही किया है वरन् उनका पथ-निर्देशन भी किया है। कुछ टीकाकारो मे आलोचक के उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह, निष्पक्षता तथा सूक्ष्म-विश्लेषण-शक्ति के दर्शन होते है। इसी पद्धति को 'तिलक' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है।

'सूक्ति' भी आलोचना की प्रौढ शैली रही है। इसके विभिन्न स्वरूप सस्कृत आलोचना के क्षेत्र मे दिखाई पडते है। इन सूक्तियो मे गुण-दोष-विवेचन, तुलना, प्रशसा तथा गुण-वर्णन आदि के दर्शन होते है। सूक्ति-वाक्यो का आधार शास्त्रीय सैद्धान्तिक-आलोचना है, जिन पर यह निर्भर रहती है। जो सूक्तिया प्रशसात्मक है, वे या तो सामान्य कवियो की प्रशसा करती हैं या सहृदयो तथा साहित्यरसिको की।[1] काव्य की प्रशसा मे कही गई सूक्तिया भी प्राय मिलती है।[2] इन सामान्य सूक्तियो के अतिरिक्त कवि विशेष की आलोचना भी मूक्तियो मे मिलती है।[3] कही-कही इन सूक्तियो मे तुलनात्मक शैली को अपना कर कवियो की विशिष्टता का निरूपण किया गया है और उनमे से एक कवि को अन्य से श्रेष्ठ प्रदर्शित किया है।[4] इनमे इसका निरूपण भी दिखाई पडता है

---

१ जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा. कवीश्वरा ।
नास्ति येपा यश काये, जरामरणज भयम् ॥ सूक्ति शब्दावली, पृ० ३७।

२ क पृच्छाम सुरा स्वर्गे निवसामो वय भुवि ।
किं वा काव्य रस. स्वादु किं वा स्वादीयसी सुधा ॥ सूक्ति शब्दावली, पृ० ३७ ।

३ नीलोत्पलदलश्यामा विज्ञाना नाम जानता ।
वृथैव दणिनाऽप्युक्त सर्वशुक्ला सरस्वती ॥
कविरमर कविरचल कविरमिन्दनश्च कालिदासश्च ।
अन्य कवय· कपयश्चापल भाग पद दघति ॥ श्री शकर वर्मा आलोचना ।

४ नैपधे पद-लालित्य किराते त्वर्थगौरवम् ।
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणा. ॥
उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दडिन. पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा ॥
देखिए 'हिन्दी आलोचना, उद्भव और विकास' ले० डा० भगवत् स्वरूप मिश्र (सन् १९५४), पृ० १४५।

कि किस कवि अथवा ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता क्या है। इनमे विषय, भाषा, शैली, रचना-कौशल का भी वर्णन मिलता है। ये सूक्तिया केवल वैयक्तिक रुचि की सूचक नही हैं वरन् किसी कवि के प्रति किसी युग की धारणा को भी प्रकट करती हैं। प्राय. इनका आधार गम्भीर अध्ययन, सूक्ष्म-विवेचन तथा सतुलित निर्णय होता था, यद्यपि कभी-कभी अनुप्रास के लोभ में भी चमत्कार का प्रदर्शन करने वाली उक्तिया कही जाती थी। ये सूक्तिया निन्दा तथा स्तुति के उद्देश्य मे कही जाती थी।

इस प्रकार भारतीय व्यावहारिक समालोचना की निश्चित तथा विशिष्ट आलोचना-पद्धतिया है, जिनका आधार शास्त्रीय-मानदण्ड तथा निश्चित, स्पष्ट, रूढ तथा परम्परागत पारिभाषिक शब्दो तथा वाक्यो का प्रयोग है। यह आलोचना सार्वकालिक, सार्वदेशिक, चिरन्तन तथा स्थायी-तत्त्वो को लेकर चलती है। उपर्युक्त आलोचना की शैलियो मे से टीका, सूक्ति, वचनिका, वार्तिक, भाष्य आदि अधिक प्रचलित रही, क्योकि इनमे कवि के अर्थों की व्याख्या करने की विशेष सुविधा है। टीका, वचनिका, वार्तिक, भाष्य आदि पद्धतिया, अर्थो तथा भावो के स्पष्टीकरण तथा व्याख्या के लिए प्रसिद्ध है तथा सूक्ति, निर्णय करने के लिए। सूक्ति में ही आधुनिक समालोचना की निर्णयात्मक, तुलनात्मक, गवेषणात्मक, विश्लेषणात्मक, गुणदोष-वर्णनात्मक, प्रभावात्मक, भावात्मक, प्रशसात्मक तथा परिचयात्मक शैलियो के बीज मिलते हैं। इस प्रकार टीका तथा सूक्ति-पद्धति ही भारतीय व्यावहारिक-आलोचना के प्रमुख-रूप माने जा सकते हैं। वैसे तो वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वार्तिक, वचनिका आदि का भी लक्ष्य व्याख्या था, किन्तु टीका-पद्धति आधुनिक व्याख्यात्मक-आलोचना का प्राचीन रूप माना जा सकता है। जिन अर्थो मे आधुनिक-आलोचक व्याख्यात्मक-आलोचना को ग्रहण करता है, उन अर्थो मे इनके बीज आलोचना की इन शैलियो मे विद्यमान थे। इन सभी पद्धतियो ने हिन्दी काव्य की व्यावहारिक आलोचना को प्रभावित किया है। हिन्दी मे ये पद्धतियाँ अपनी भाषा की निजी प्रकृति तथा प्रवृत्तियो के अनुसार विकसित हुई हैं।

पाश्चात्य साहित्यालोचन मे व्यावहारिक आलोचना का विकासः—

पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे आलोचना के दो रूप माने गए हैं, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक आलोचना में मानदड तथा सिद्धान्त स्थिर किए जाते है तथा व्यावहारिक मे उन सिद्धान्तो के आधार पर रचनात्मक कृतियो का निरीक्षण, परीक्षण, व्याख्या तथा मूल्याकन होता है। व्यावहारिक आलोचना मे आलोचक साहित्य के भाव तथा कलापक्ष के स्वरूप को समझ कर उसकी व्याख्या तथा निर्णय करता है। इसमें कृतियो की व्याख्या के लिए ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, तुलनात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, आगमनात्मक, निगमनात्मक, वैज्ञानिक आदि शैलियो का अनिवार्य रूप मे प्रयोग किया जाता है तथा रचना से चलकर रचयिता के मानसिक सस्थान तथा मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इसमे रचना के अन्त बाह्य स्वरूपो की पूर्णतया अभिव्यक्ति करने के पश्चात् उसका मूल्याकन किया जाता है। इस मूल्याकन के लिए साहित्य के सिद्धान्तो

तथा काव्य के विभिन्न वादो का आधार लिया जाता है। जहा आलोचक का लक्ष्य निर्णय देना नहीं होता, वहां प्रभावात्मक शैली के अनुसार रचना के, हृदय पर पडे हुए प्रभावो का अकन मात्र किया जाता है। व्यावहारिक-समीक्षक के मन की कई अवस्थाए होती हैं। पहली अवस्था मे उसका मन सव प्रकार की अवस्थाओ से युक्त रहता है, दूसरी मे किसी विशिष्ट ध्येय या रुचि से अकित होता है, तीसरी मे वह किसी ग्रन्थ या कृति का निरीक्षण, अध्ययन, अनुशीलन आदि करता है, चौथी मे पूर्व-ज्ञान के आधार पर किसी कृति का अर्थ लगाता है, पाँचवी मे विश्लेषण करता है, छठी मे उसके बहिरग तथा अतरग तत्त्वो का वर्गीकरण करता है, सातवी मे उसके वैशिष्ट्य-निरूपण की स्पष्टता के लिए उसकी समान तथा विषम कृतियो से तुलना करता है, आठवी मे उसकी व्याख्या, विश्लेषण, तुलना आदि के आधार पर सामान्य-सिद्धान्तो का निरूपण करता है तथा अन्त मे अपने इस प्रामाणिक-ज्ञान का व्यवहार किसी विशिष्ट कृति पर करके उसका मूल्य निश्चित करता है। इस प्रकार वैज्ञानिक रूप मे मूल्याकन का सम्वन्ध मुख्यत दो विचारो से है, प्रथम किसी कृति के सौन्दर्य-सम्वन्धी सामान्य-सिद्धान्तो का प्रामाणिक सौन्दर्य-सिद्धान्तो से समर्थन होता है तथा द्वितीय मे उसके सभी प्रकार के वैशिष्ट्यो का निरूपण होता है। व्यावहारिक-समीक्षक को शब्दो और वाक्यो के विभिन्न प्रकार के अर्थों की पहचान भी रखनी आवश्यक होती है। तभी वह रचनाकार के आशय को ठीक-ठीक समझ सकता है। पाश्चात्य-साहित्यालोचन मे वैज्ञानिक रूप मे व्यावहारिक आलोचना का विभिन्न प्रकार की शैलियो के द्वारा विशेष विकास हुआ है। पाठ-सशोधन, पुस्तक-परिचय सम्वन्धी तर्काश्रित विचार भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी मे व्यावहारिक आलोचना का विकासः—

हिन्दी मे भी सस्कृत की व्यावहारिक-आलोचना की भाँति सूक्ति, टीका, वार्त्ता, वचनिका आदि आलोचना की पद्धतिया विशेष रूप मे प्रचलित रही। हिन्दी की सूक्तिया भी सस्कृत की भाति तुलनात्मक, प्रशसात्मक तथा निर्णयात्मक हैं। तुलनात्मक सूक्तियो मे कभी तो कवियो की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख किया जाता है,[1] कभी भावात्मक और प्रभावात्मक रूप मे रुचि के आधार पर कुछ कवियो का इतना उत्कर्ष दिखाया जाता है कि उनके आगे औरसव को हीन सिद्ध किया जाता है,[2] कभी अनुप्रास की प्रवृत्ति के आधार पर कवियो का साहित्य मे स्थान निर्धारित किया जाता है,[3] कभी एक ही कवि की प्रशसा

---

१ उत्तम पद कवि गग के, कविता को वलवीर
केशव अर्थ गम्भीर को, सूर तीन गुन धीर ॥

२ सार सार तो कविरा कहिगो, सूरा कही अनूठी।
रही मही कठमलिया कहिगो, और कही सव जूठी ॥

३ सूर सूर तुलसी शशी, उडगन केशवदास।
अव के कवि खद्योत सम जह तह करत प्रकाश ॥

में भावात्मक सूक्तिया लिखी जाती हैं[1] तथा कभी किसी विशेष ग्रन्थ की काव्यात्मक विशेषता का प्रतिपादन करने वाली सूक्तिया लोक में प्रचलित होकर पीढ़ियो तक चली आती रहती हैं।[2] कुछ सूक्तियो मे काव्य के स्वरूप, उद्देश्य आदि प्रभाव का वर्णन भी मिलना है। जिन सूक्तियो में तुलनात्मक विवेचन होता है उनका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। वे प्राय व्यक्तिगत रुचि या लोकरुचि की ही सूचक हैं। इस तुलनात्मक विवेचन मे प्राय रस, अलकार, भाषा आदि के आधार पर किसी कवि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है। कुछ सूक्तियो में कवियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन विविध प्रकार की भाषा के प्रयोग करने की सामर्थ्य के कारण हुआ है।[3]

सूक्तियो के अतिरिक्त इस काल की व्यावहारिक-आलोचना की दूसरी पद्धति टीका है, जिसका हिन्दी आलोचना मे विशेष विकास हुआ है। रीतिकाल से आधुनिक काल तक हिन्दी मे अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थो की टीकाए लिखी गई है। इस पद्धति के दो लक्ष्य थे, एक तो मूल-पाठ की व्याख्या करके अर्थ-सौन्दर्य को व्यक्त करना तथा दूसरे उस काव्य के शास्त्रीय-सौन्दर्य की स्पष्ट-व्याख्या करके उसके अन्तर्गत आने वाले रस, अलकार, छन्द, गुण, रीति, भाव आदि का निरूपण करना। टीका-पद्धति की विशिष्ट-शैली तथा विशेषताए हैं। कभी-कभी टीकाकार कवित्वपूर्ण-रीति से अपने कार्य का सम्पादन करते थे। इस प्रकार की शैली से व्याख्या का उद्देश्य पूर्ण नही होता क्योकि इसमे पद्यात्मकता के अतिरिक्त, जटिलता तथा पिष्टपेषण की प्रवृत्ति अधिक रहती है। वास्तव मे टीकाओ के लिए तो गद्य ही उपयुक्त है, किन्तु रीतिकाल में चूंकि गद्य का उपयोग नही होता था इसलिए इसमे गद्य की सी प्रौढ़ता के दर्शन नही होते। हिन्दी की टीका-पद्धति आलोच्यकाल के पूर्व मे भी व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में प्रयुक्त होती रही। इन टीकाओ मे कुछ अशों मे विश्लेषण, विवेचन, व्याख्या, प्रभावात्मकता, निर्णय आदि के दर्शन होते है, जिनका अधिकाधिक विकास आगे के काल मे हुआ।

सस्कृत आलोचना की वार्तिक-पद्धति के अनुसार हिन्दी में उसी की पर्यायवाची वार्त्ता, वचनिका या चर्चा का प्रचार हुआ। जहा पद्य के मूल लक्षणो के स्पष्टीकरण के साथ उसके अर्थ के भी स्पष्टीकरण का प्रयत्न होता है उसे ही वचनिका, चर्चा या वार्त्ता कहा गया है। आचार्य कुलपति मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'रस रहस्य' मे लक्षण तो पद्य में दिए है किन्तु उनका स्पष्टीकरण जिस वार्तिक में किया है, उसे उन्होने 'वचनिका' पुकारा है। वचनिका का दूसरा नाम 'चर्चा' है, जिसका उद्देश्य भी उसी के समान लक्षणों तथा अर्थों

---

१ किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को तीर,
किधौं सूर को पद लग्यो, वेध्यो सकल सरीर।

२ सतसैया के दोहरे, ज्यो नावक के तीर,
देखन मे छोटे लगं, घाव करें गम्भीर॥

३ तुलसी गग दुऔ भए, सुकविन्ह के सरदार।
इनकी काव्यन्ह मे मिली, भाषा विविध प्रकार॥

को स्पष्ट करना है। इस 'चर्चा' का नमूना चिन्तामणि त्रिपाठी की 'शृंगार मंजरी' में आई 'चर्चा' से मिल जाता है। इसमें उन्होंने किसी अन्य ग्रन्थ की चर्चा नहीं की है वरन् अपने ग्रन्थों के लक्षणों की व्याख्या करके उन्हें पूर्ण वनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार वार्त्ता भी 'वचनिका' का पर्याय है। हिन्दी में इसका विशेष विकास हुआ है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' इस पद्धति के प्रमुख उदाहरण हैं। यह वार्त्ता-साहित्य केवल लक्षणों की व्याख्या नहीं करता, वरन् भक्तों के जीवन, विचार भाव तथा उनकी भक्तिप्रणाली और सिद्धान्तों से भी परिचित कराता है। हिन्दी के वार्त्ता साहित्य में भक्तों का केवल परिचयात्मक विवेचन ही नहीं है, वरन् उनके काव्य के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में विचार भी किया गया है। जहां-जहां जीवनी पर प्रकाश डाला गया है, वहां भी उद्देश्य तथा महत्त्व का प्रकाशन ही है। यह आलोचना-पद्धति आधुनिक जीवन-चरितात्मक शैली का ही प्राचीन रूप है। इसमें जीवन का परिचयात्मक रूप भक्ति के विशिष्ट सिद्धान्त तथा व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप आदि तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। इस पद्धति में वैयक्तिक रुचि तथा प्रशंसात्मक शैली का प्रयोग है तथा इसका दृष्टिकोण कोरा आलोचनात्मक ही नहीं है। इनमें भक्तों के सिद्धान्तों की व्याख्या, भक्त के रूप में उनका विशिष्ट महत्त्व, उनकी भक्ति तथा दार्शनिक-विचारों का उल्लेख, उनके जीवन की प्रसिद्ध चमत्कारपूर्ण घटनाओं तथा परम्परा से चली आई हुई घटनाओं का समावेश रहता है। इनमें कहीं-कहीं कवियों के काव्य पर संक्षेप में बहुत सारपूर्ण आलोचना दिखाई पड़ती है तथा काव्य के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख भी किया गया है। 'भक्त माल' में सूर के काव्य का विवेचन इसी प्रकार का है।[१] उसमें सूर के काव्य के भाव तथा कलापक्ष दोनों का विवेचन तथा मूल्यांकन किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वार्त्ताओं की आलोचना कहीं-कहीं बहुत प्रौढ़ हो गई है। इस पद्धति में प्रायः काव्यांगों के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ स्वयं लेखक तथा विभिन्न अन्य आचार्यों के मतों का प्रतिपादन भी होता है। सरदार कवि की 'मानस मयंक' इसी प्रकार की टीका है। इस प्रकार की टीका-पद्धति का प्रयोग आलोच्य-काल में भी होता रहा। स्वयं शुक्ल जी आदि की व्याख्यात्मक आलोचना पर भी इसका प्रभाव इस रूप में पड़ा है कि उनकी आलोचनाओं में भी पहले सिद्धान्त पक्ष का निरूपण तथा स्थिरीकरण होता है तथा फिर उनका रचनात्मक साहित्य पर प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार सूक्ति, टीका, वचनिका, वार्त्ता, चर्चा आदि व्यावहारिक आलोचना की शैलियों में आलोच्य काल से पूर्व जिस व्यावहारिक शैली का विकास होता रहा वह एक ओर तो प्राचीन भारतीय परम्परा का निर्वाह करती रही तथा दूसरी ओर उसमें

---

१. उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप रासि रसना परकासी॥ भक्त माल, पृ० १६१।

आगे के विकास के बीज भी फूटते रहे। इन शैलियो मे आधुनिक जीवन, चरितात्मक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, शास्त्रीय, विश्लेषणात्मक आदि शैलियो के दर्शन होते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्रीय, सौन्दर्यवादी आदि शैलियो का व्यवहार इसमे नही हुआ था।

उपर्युक्त आलोचना की पद्धतियो के अतिरिक्त भी पूर्व आलोच्य-काल मे स्वतन्त्र-प्रणाली के काव्यालोचन के दर्शन होते हैं। इस समय कवियो के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।[1] हिन्दी के सारे कवियो की तालिका एक ही छन्द में देकर ऐतिहासिक आलोचना के मूल रूप के दर्शन मिलते है।[2] इस काल मे कुछ लेखको ने भावात्मक रूप मे कुछ कवियो के विशिष्ट गुणो का उल्लेख किया है[3] तथा कुछ ने स्वय अपनी कविता की विशेषताए भाषा, सुन्दर-वर्ण, विभिन्न अर्थ तथा अलकारो की बहुलता का अपनी कविता मे उल्लेख किया है।[4] इस प्रकार के कथनो में विशेष आलोचनात्मक दृष्टि नही दिखाई पडती। इनमें परिचयात्मक तथा प्रशसात्मक शैली के दर्शन होते हैं। ये कथन दो प्रकार के थे, एक तो कवियो का अपने काव्य का परिचय देना तथा दूसरा अन्य कवियो द्वारा उनके काव्य के महत्त्व का उल्लेख होना।

आलोच्य-काल से पूर्व हिन्दी की व्यावहारिक-आलोचना कुछ पद्धतियो तथा शैलियो का अनुसरण तथा प्रयोग करने के कारण यद्यपि सस्कृत आलोचना के प्रदर्शित

---

१. सूर सूर तुलसी शशी उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जह तह करत प्रकाश॥

२ सूर, केसौ, मडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिन्तामणि, मतिराम, भूषण से ग्यानिएँ।
लीलाधर, सेनापति, निपट निवाज, निधि,
नीलकण्ठ, मिश्र, सुदेव, देव मानिएँ॥
आलम, रहीम, रसखान, रसलीन औ
मुबारक से सुमति भए कहा लौ बखानिएँ।
ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास हूं न अनुमानो
ऐसे ऐसे कविन हू की बानी तें जानिएँ।

काव्य निर्णय—ले० दास पृ० ७, प्रथम सस्करण (१९५६)।

३. किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को तीर,
किधौ सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर।

४ 'बानि सो सहित सबरन मह रहैं जहा
धरत बहुत भाति अरथ समाज को।
संख्याकार लीजै अलंकार हैं अधिक यामे
राखी भाति ऊपर सरस ऐसे साज को।

पृ० ४ 'सेनापति' कृत कवित्तरत्नाकर (सन् १९३६)

मार्ग पर चलती रही थी पर उसकी निजी-विशिष्टता तथा मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना अपनी प्रकृति, काल की गति तथा मार्ग के अनुकूल विकसित होती रही। भक्तिकालीन कवियो की आलोचना शास्त्रीय दृष्टिकोण से नही हुई थी। भक्त-कवि स्वतन्त्र प्रकृति के महात्मा थे। उनके काव्य की परख दार्शनिको तथा महात्माओ के द्वारा हो सकती थी। वल्लभाचार्य ने सूर के विनय-प्रधान पदो को घिघियाना कह कर उन्हे नवीन विषय तथा भावना की ओर प्रेरित किया था। इस प्रकार सूर के काव्य का उत्कर्ष वल्लभाचार्य की प्रेरणा तथा सम्मति के बिना नही हो सकता था। रीतिकालीन कवि आश्रयदाताओ के सरक्षण मे रहते थे, इसलिए उनके काव्य की परख या तो राजदरबारो मे होती थी या लोकरुचि के अनुसार। कुछ मान्य सिद्धान्तो के आधार पर ही मूल्याकन करने के कारण रीतिकालीन व्यावहारिक-आलोचना रूढ, अवैयक्तिक तथा विषयपरक रही। ये सिद्धान्त भी युग द्वारा निर्मित न होकर प्राचीन-युग की परम्परा के रूप मे प्राप्त हुए थे।

आलोच्यकाल मे हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना का विकास—

आलोच्य-काल के प्रारम्भिक दिनो मे रीतिकाल की ही रूढिबद्ध टीका, सूक्ति, गुण-दोष-विवेचन की शैली व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे चलती रही।[1] आलोच्य-काल के दस वर्ष पूर्व ही भारतीय स्वतन्त्रता का सग्राम असफल रूप मे समाप्त हो गया था। सन् १८८५ तक राजनीति के क्षेत्र मे प्राय सन्नाटा रहा, किन्तु इस वर्ष अखिल भारत वर्षीय काग्रेस के जन्म के साथ-साथ राजनीतिक वैधानिक सुधार की माग मध्यम मार्गी उदार, पश्चिमी शिक्षा, साहित्य तथा सस्कृति से प्रभावित नेताओ के द्वारा की गई। साहित्य के क्षेत्र मे भी इसी के समानान्तर परिवर्तन हुए। प्रारम्भिक रीतिकालीन पद्धति की आलोचना मे पाश्चात्य साहित्यिक चेतना का सूक्ष्म प्रभाव पडने लगा। साहित्य के क्षेत्र मे भी सुधार की माग उठी किन्तु वैधानिकता का पल्ला नही छोडा गया। इसलिए भारतेन्दुकालीन आलोचना मे शास्त्रीय वैधानिकता तथा सुधार की भावना का मिश्रण है। प्राचीन आदर्शो, सिद्धान्तो तथा मानदण्डो के प्रति अब भी मान्यता रही थी।

भारतेन्दुकाल मे ही हिन्दी के अपने निजी स्वरूप, प्रकृति तथा गतिविधि के अनुकूल स्वतन्त्र व्यावहारिक-आलोचना का विकास होने लगा था। इन आलोचको की दृष्टि हिन्दी की उन्नति, प्रचार, रक्षा तथा महत्त्व पर गई थी। हिन्दी को उर्दू के साथ सघर्ष में अपने अस्तित्व की रक्षा करनी पडी। स्वय भारतेन्दु की आलोचना मे भाषा के महत्त्व का स्वर सबसे ऊचा था। वे कहते थे कि 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल।' यह भाषा सम्बन्धी विवेचन भारतेन्दु तथा द्विवेदी

१ "कहने की आवश्यकता नही कि हमारे हिन्दी साहित्य मे समालोचना पहले पहले केवल गुण-दोष-वर्णन के रूप मे प्रकट हुई है।" 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—ले० रामचन्द्र शुक्ल (स० १९९९), पृ० ५८३।

काल मे चलता रहा। इन कालो मे प्राचीन आदर्शो का नवीन रूप मे परिष्कार तथा सामजस्य करके अपनाने की भावना रही। इस काल से पूर्व तक हिंदी-आलोचना तथा साहित्य का समकालीन जीवन से व्यवधान उपस्थित हो गया था। इन आलोचकों ने उसे मिटा दिया तथा समकालीन साहित्य को युगानुकूल भाव, विचार, आदर्श तथा सिद्धान्तो से बाध दिया। ये आलोचक निर्माता थे तथा इन्हे हिन्दी भाषा तथा साहित्य का नव-निर्माण तथा सुधार करना था।

कुछ विद्वानो का विचार है कि भारतेन्दु-काल मे पाश्चात्य-साहित्य की समृद्धि देख कर हिन्दी के साहित्यिको ने उसका अनुकरण करना आरम्भ कर दिया।[1] हम इससे सहमत नही है। इस युग की राष्ट्रीय तथा सामाजिक भावना इतनी तीव्र थी कि यह युग अन्धानुकरण नही कर सकता था। इस युग के आलोचक अपने निजी सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्त्व के आधार पर अपनी उच्चता प्रदर्शित करना चाहते थे। वे पश्चिम से प्रेरित तो अवश्य थे किन्तु उन्होने उसका अन्ध अनुकरण नही किया। यदि ऐसा होता तो हिन्दी के आधुनिक-रीतिकारो की परम्परा जो कविराजा मुरारीदान, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', भगवान दीन, अर्जुनदास केडिया, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, हरिऔध, गुलावराय आदि को लेकर बहुत आगे तक चलती रही, वह न चलती। सत्य तो यह है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रति तथा उसके अध्ययन के प्रति पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन ने और भी अधिक प्रेरणा दी। शुक्ल जी, श्यामसुन्दर दास, प्रसाद जी, वाजपेयी जी, मिश्र जी तथा डा० नगेन्द्र आदि आलोचक निरतर भारतीय काव्य शास्त्र का आधार लेते रहे तथा उनका विवेचन करते रहे। विश्वविद्यालयो मे आलोच्यकाल के बाद भी शोध-कार्यो मे प्राचीन साहित्य-शास्त्र का विशेष महत्त्व रहा है।

इस काल मे छापेखाने के कारण पत्रिकाओ के निकलने से परम्परागत सूक्ति, टीका, वृत्ति आदि की शैली मे परिवर्तन होने लगे थे। यह बौद्धिक-विकास का युग था, इसलिए जो बुद्धि को न प्रभावित करे वह ग्रहण नही हो सकता था। शास्त्रीय आधारो पर दोषगुण विवेचन करने के अतिरिक्त पुस्तको का युगानुकूल होना भी देखा जाता था। आलोच्य-काल से पूर्व की व्यावहारिक-आलोचना की तीन विभिन्न प्रवृत्तिया कवियो की जीवनी का उल्लेख, पुस्तको की परिचयात्मक आलोचना तथा प्रसिद्ध ग्रन्थो के अर्थ और भावो को समझाने की प्रवृत्ति इस काल मे भी चलती रही। किंतु इस काल में इस तीसरी शैली मे ग्रन्थो के अभिप्राय, रहस्य, अर्थ तथा टीका के अतिरिक्त पाठ-सशोधन और

---

१ "हिन्दी का साहित्यकार भी अपनी भाषा में प्रौढ प्रयोगात्मक आलोचना का दर्शन करना चाहता था। इसके लिए पश्चिम ही उसके समक्ष आदर्श था, इसलिए उसने पश्चिम का अनुकरण आरम्भ कर दिया। उसने समीक्षा की शैली और सिद्धान्त दोनो ही अपनाए।" 'हिन्दी आलोचना, उद्भव तथा विकास', पृष्ठ २२८—ले० भगवत स्वरूप मिश्र।

पुरातन प्रसिद्ध ग्रन्थो की प्रामाणिकता आदि पर तर्कपूर्ण विवेचन होने लगे। पृथ्वी राज रासो की प्रामाणिकता का विवेचन इसी प्रकार का है।

द्विवेदी-काल में व्यावहारिक आलोचना प्राय परिचयात्मक थी। उसका स्वरूप समकालीन साहित्य तथा भाषा की स्थिति के अनुरूप था। प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता की माग की जा रही थी। आलोचना का लक्ष्य साहित्य को उन्नत करना था। शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना को विशेष प्रौढता प्रदान की। उन्होने परम्परागत मानदण्डो की अपेक्षा रचनात्मक-साहित्य के आधार पर अपने मानदण्ड स्थिर किए। वाजपेयी जी ने आधुनिक साहित्य के स्वरूप की प्रामाणिक व्याख्या की। द्विवेदीकाल के पश्चात् छाया-वादी काल मे व्यावहारिक आलोचना की अभूतपूर्व समृद्धि हुई। जिन प्रमुख आलोचको ने इसके विकास में योग दिया वे निम्नाकित है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र —

नाटक तथा निवन्ध की भाति भारतेन्दु जी ने आलोचना के क्षेत्र मे भी विशेष कार्य किया है। इन्होने प्रेमघन तथा वालकृष्ण भट्ट की भाति अपने समकालीन किसी ग्रन्थ की आलोचना नही की पर इनका ध्यान प्राचीन-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की ओर विशेष रूप से गया। ये साहित्य को विकासशील रूप मे देखते है। इन्होने साहित्य का सम्वन्ध व्यक्ति से ही न मान कर साहित्यकार के युग से भी माना है। इनका युग रीतिकालीन काव्य-पद्धति तथा सिद्धान्तो की प्रतिक्रिया का युग था। इसलिए इनके युग में सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक आलोचना की अधिकता है। इस व्यावहारिक आलोचना के मानदण्ड केवल नवीन ही नही थे। इसमें युगानुकूल भावनाओ के अतिरिक्त प्राचीन मानदण्डो का भी प्रयोग हुआ था। ये साहित्य में जीवन सम्वन्धी उपयोगिता के अतिरिक्त देश तथा समाज को जाग्रत करने की शक्ति भी वाछनीय समझते थे।

भाषा के स्वरूप तथा महत्त्व सम्वन्धी इनकी आलोचना विशेष महत्त्व की है। इन्होने हिन्दी साहित्य का अध्ययन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से करने पर जोर दिया है। इन्होने काव्य में स्वभाविकता पर भी विशेप जोर दिया है तथा शव्दाडम्बर और वर्ण-मैत्री को निन्दनीय माना है। इनका विचार है कि काव्य की भापा शुद्ध होनी चाहिए। ये अपने युग के अन्य आलोचको की भाति स्वभावोक्ति को सत्काव्य का लक्ष्य मानते है। इसीलिए इन्होने रीतिकालीन काव्य का मूल्याकन स्वभावोक्ति के आधार पर किया है।[1] इन्होने अतिआलकारिकता को काव्य के लिए निन्दनीय माना है तथा भाषा विज्ञान और भाषा के विकास का भी विवेचन किया है, जो प्रारम्भिक अवस्था में है।

---

१ "इस समय के कवियो का चित्त स्वभावोक्ति पर तनिक नही जाता था। केवल बडे वडे कवि शव्दाडम्बर करते थे और इन शब्दाडम्बरो वालो का पद्माकर राजा है और इसने वर्ण-मैत्री के हेतु अनेक व्यर्थ शब्द अपने काव्य में भर लिए हैं और इनकी देखा-देखी और कवि भी ऐसा करने लगे।" 'कवि वचन सुधा' (अगस्त १८८२)।

इसमें तर्क का आधार लेकर गम्भीर विवेचन नही हुआ है तथा केवल अनुमान का आश्रय लिया गया है।[1]

भारतेन्दु के युग के सभी लेखकों का उद्देश्य साहित्य में सुधार करना तथा उसकी उन्नति करना था। इसलिए इनके सत्काव्य के आदर्श स्वभावोक्ति, चमत्कार की अपेक्षा रागात्मकता, सुरुचि तथा नैतिकता थे। ये काव्य के विषय भी ऐसे ही अपनाना अच्छा समझते थे, जो समकालीन महत्त्व के हो। ये परम्परागत शृगारी विषयो के स्थान पर देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि विषयो को महत्त्व देते थे। इन्होने भी दोष-निदर्शन प्रणाली को अपनाया है, किन्तु परवर्त्ती-काल की सी कटुता, व्यग्य तथा आक्षेप की भावना इनमें नही है। इस दोष-दर्शन-प्रणाली में इन्होंने व्यग्य का समावेश भी किया है।[2] इन्होंने कवियो की विस्तार-पूर्वक आलोचना नही की है। वास्तव में वह युग विस्तारपूर्वक आलोचना लिखने का नही था। फिर भी जहा-तहा टिप्पणियो मे इनके द्वारा कवियो का मूल्याकन किया गया है। कालिदास के काव्य मे चरित्र-चित्रण की उन्होने प्रशसा की है तथा उन दोनो को मानव समाज का गम्भीर आलोचक बताया है। ये साहित्य की उदार और जनवादी परम्परा के पोषक थे तथा कबीर, दादू, नानक आदि सन्तो की विचारधारा को उदार मानते थे।[3] इन्होंने कवियो के काव्य के बाह्य-पक्ष का ही निरीक्षण प्रमुख रूप मे किया है। काव्य की मार्मिक भावनाओ का विश्लेषण तथा विवेचन करने की शक्ति का उदय अभी नही हुआ था। इनके व्यावहारिक आलोचना के आधार, भाषा, भाव, अलकार, रस, स्वभावोक्ति, नैतिकता, सुरुचि आदि मानदण्ड थे। इनकी आलोचना में कही-कही प्रशसात्मक शैली में प्रभावात्मक-आलोचना के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते है। कही-कही किसी कवि के काव्य से प्रभावित होकर, इन्होने भावात्मक रूप में काव्य पर विचार प्रकट किए है। सूर के काव्य पर इन्होने यह दोहा लिख दिया है —

"हरि पद पकज भक्ति अलि, कविता रस भर पूर
दिव्य चक्षु कवि कुल कमल, सूर भौमि की पूर।"[4]

---

१ "ऐसा विचार है कि हिन्दी कविता प्राकृत भाषा से बिगडती हुई बनी होगी। परन्तु इसमे कोई पुष्ट प्रमाण नही है। केवल हिन्दी कविता मे बहुत से शब्द मिलते हैं। इससे निश्चय हो सकता है जैसे क्रिति, कान्ह, कव्व इत्यादि।" 'कवि वचन सुधा' (अगस्त १८८२)।

२. "और आनन्द सुनिए। इतिविष्कम्भक का अनुवाद हुआ है 'पीछे विष्कम्भक आया'। धन्य अनुवादकर्ता और धन्य गवर्नमेन्ट, जिसने पढने वालो की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा।" देखिए 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' डा० राम विलास शर्मा (१९५३) पृ० १७७।

३. देखिए वही, पृ० १७६।

४. देखिए 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', डा० रामरतन भटनागर (१९५०) पृ० १३८।

इन्होने व्यावहारिक आलोचना मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का समावेश किया तथा बहुत से विषयो पर शोधपूर्ण लेख लिखे, जिनमे इनकी गम्भीर चिन्तन-शक्ति का पता चलता है।

बालकृष्ण भट्ट :—

भट्ट जी की आलोचना का उद्देश्य भी 'प्रेमघन' के समान सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना तथा असत् का बहिष्कार करना है। इसलिए यह आलोचना उद्देश्य की गम्भीरता लिए हुए होती थी। इन्होने प्रेमघन जी की 'सयोगिता स्वयवर' की आलोचना देखकर अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' मे 'सच्ची आलोचना' शीर्षक से उसकी वास्तविक तथा सर्वांगीण आलोचना प्रस्तुत की है। कवियो की आलोचना के अतिरिक्त जहा इन्होने पुस्तको की आलोचना की है, वहा वे विशेष रूप मे सफल हुए हैं। इसमे इन्होने मीठी चुटकियो तथा व्यग्यो का प्रयोग किया है। इनकी आलोचना मे केवल शिष्ट और सयत व्यग्य है, परवर्त्ती काल जैसी कटुता नही है।[1] इनकी आलोचना के प्रधान-तत्त्व शिष्ट व्यग्य, परिहास, सयम, सुरुचि तथा दोषो की उद्भावना है। कही-कही दोषो की उद्भावना मे ये भी कठोर रूप मे सम्मुख आते है। पर व्यक्तिगत आक्षेप आदि कटुताए इनकी आलोचना मे नही मिलती। इनकी आलोचना प्रमुख रूप मे परिचयात्मक, प्रशसात्मक तथा विश्लेषणात्मक है और उसमे परवर्त्ती आलोचना की शैलियो के प्रारम्भिक रूप मिलते है। विभिन्न कवियो की इनकी आलोचना तटस्थ, सयत, गम्भीर तथा निष्पक्ष रूप मे की गई है। इनकी आलोचनाओ से इनकी विद्वता तथा तीव्र बुद्धि का आभास मिलता है। पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य की तुलना सर्वप्रथम इनकी लेखनी से हुई थी।[2] इन्होने सस्कृत-साहित्य की तुलना अग्रेजी तथा हिन्दी काव्य से की है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' :—

प्रेमघन जी व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र के सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण आलोचक है। इन्होने पहली बार हिन्दी मे किसी पुस्तक की निष्पक्ष तथा तटस्थ भाव से गुण तथा दोष के निरूपण के आधार पर विश्लेषणात्मक आलोचना की है। इनकी व्यावहारिक आलोचना इनके द्वारा स्वीकृत युगानुकूल आदर्शों तथा सिद्धान्तो के आधार पर निर्मित है। ये कुछ सिद्धान्तो का स्थापन करके बाद मे, उनका किसी काव्य मे प्रयोग करते है। इसी पद्धति का प्रयोग शुक्ल जी ने परवर्त्ती काल मे अपनी प्रौढ लेखनी से किया है। आज भी इस शैली मे प्राय व्यावहारिक आलोचना लिखी जाती है।

'प्रेमघन' जी के आलोचना के आदर्श युगानुकूल तथा सामयिक साहित्य की मूल भावना के द्योतक है। उनके मानदण्डो मे रीतिकालीन सिद्धान्तो के प्रति प्रतिक्रिया की भावना दिखाई पडती है। वे अलकृत भाषा के स्थान पर भावो तथा विचारो को महत्त्व

---

१ देखिए 'साहित्य समालोचक' (स० १८९३) हेमन्त अक ।

२ देखिए 'भारतेन्दु युग' ले० रामविलास शर्मा, प्र० युग मन्दिर, उन्नाव, पृ० १५२ ।

देते हैं, अभिव्यक्ति की नई शैली के समर्थक हैं तथा नई भाषा, नए अलंकार तथा न उपमानों के अधिकाधिक उपयोग पर जोर देते हैं। वे मानते हैं कि विचार की शिथिलता किसी जाति की मानसिक अवनति की द्योतक है तथा किसी भी साहित्य को पतनशील बना सकती है।[1]

इन्होंने उपन्यास, नाटक आदि की आलोचना भी नवीन आलोचना-पद्धति के अनुसार कथानक, चरित्र-चित्रण, उपन्यास तथा नाटकों के प्रकार, भाषा तथा शैली के औचित्य तथा स्वाभाविकता के आधार पर की है। इन्होंने 'संयोगिता स्वयवर' की आलोचना नाटक की ऐतिहासिकता, ऐतिहासिक नाटकों की विशिष्टताओं, देश काल तथा परिस्थिति, तत्कालीन भावधारा, भाषा शैली की सरलता, चरित्र-चित्रण आदि पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर तथा प्रबन्ध-औचित्य, गर्भांक, देश की रीतिनीति, स्वभाविकता, सुरुचि आदि भारतीय मानदण्डों के आधार पर की है। इस प्रकार इनकी नाटकों तथा उपन्यासों की व्यावहारिक आलोचना में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों मानदण्डों का प्रयोग किया गया है। इनकी आलोचना में गम्भीर विश्लेषण के स्थान पर रुचि के आधार पर निर्देशात्मक विचार निवेदन मात्र है। कहीं-कहीं इनकी आलोचना में कुछ व्यंग्यात्मक कठोरता भी है। 'संयोगिता स्वयवर' की आलोचना के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि "नाटक में पाडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दर्शाना चाहिए। कृपा करके बिचारी निरपराधिनी कवित्व शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजिएगा. लाला जी आपने कभी इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।"[2]

इस प्रकार वे नाटक की स्वाभाविकता के लिए मानव प्रकृति के अध्ययन का होना भी अनिवार्य मानते हैं। इन्होंने पात्रों के चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य की भी आवश्यकता समझी है। इन्होंने 'संयोगिता स्वयवर' की ही भांति 'बग-विजेता' का भी प्रशंसात्मक तथा दोष-निरूपण की शैली में विवेचन किया है। इसमें दोष-निरूपण के साथ-साथ क्रियात्मक सुझाव भी प्रस्तुत किए गए हैं। इनकी नाटक तथा उपन्यासों की आलोचना प्रौढ़ तथा महत्वपूर्ण है। कथानक का विवेचन प्रबन्ध-औचित्य के आधार पर किया गया है। इन्होंने चरित्र-चित्रण के लिए स्वभाविकता तथा मानव-प्रकृति का ज्ञान आवश्यक समझा है। जहाँ कहीं साहित्य में सुरुचि, सस्कार, प्रगतिशीलता, स्वाभाविकता या मानव प्रकृति का ज्ञान दिखाया गया है, उसकी इन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

प्रेमघन जी की प्रशंसात्मक, दोषगुण-निरूपक आलोचना-पद्धति के अतिरिक्त उनकी परिचयात्मक आलोचना का भी विशेष विकास हुआ है। इनके पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में प्राचीन आचार्यों तथा कवियों के परिचयात्मक विवेचन के लिए पृथक् रूप से एक स्तम्भ

---

१. देखिए 'आनन्द कादम्बिनी' श्रावण (सं० १९६४)।

२. देखिए 'आनन्द कादम्बिनी', सं० १९४२।

खुला हुआ था, जिसमे सच्ची आलोचना के अतिरिक्त विज्ञापन तथा पुस्तक-परिचय भी छपते रहते थे। इस परिचयात्मक-आलोचना मे कवियो के काव्य के भाव, आदर्श, विशेषताए, विचार, जीवन-सम्बन्धी विवेचन, सामयिक परिस्थिति का निरीक्षण, आदि तत्त्व रहते थे तथा रस, अलकार आदि का शास्त्रीय दृष्टि से मूल्याकन भी रहता था। इसमे स्वतन्त्र मत प्रकाशन का भी समावेश था। इस प्रकार ये कवि के काव्य के द्वारा उसके विचारो तथा भावो का विवेचन और उसके रचना काल की प्रवृत्तियो का ऐतिहासिक विवेचन भी करते थे।

इनकी आलोचना में पाश्चात्य तथा भारतीय आलोचना के तत्त्वो का सम्मिश्रण है तथा साथ-साथ हिन्दी की निजी प्रकृति का भी विशेष ध्यान रखा गया है। इसमे आलोचना के उन सब तत्त्वो का समावेश मिलता है, जिनका विकास परवर्त्ती काल में होता रहा। इसके प्रमुख तत्त्व तथा आदर्श इनके युग की माग के अनुकूल थे। इनका युग प्राचीन-साहित्य की रूढ़िवादिता का विरोध करके नवीन-साहित्य का निर्माण करना चाहता था। इसलिए इनकी आलोचना में प्राचीन की कटु आलोचना तथा नवीन गुणो की प्रशसा मिलती है। सुरुचि, स्वाभाविकता, नैतिकता, सरलता, नवीनता आदि गुणो का पक्ष समर्थन करके इन्होने नवीन आधार पर हिन्दी साहित्य को प्रतिष्ठित करने के प्रारम्भिक प्रयत्न किए, जो परवर्त्ती आलोचको द्वारा विशेष रूप मे अपनाए गए। इनकी 'सयोगिता स्वयवर' तथा 'बग-विजेता' की सी विस्तृत आलोचना इस काल मे अन्य किसी आलोचक द्वारा नही लिखी गई। हिन्दी मे वास्तविक आलोचना का सूत्रपात इन्ही आलोचनाओ से होता है।[1] 'सयोगिता स्वयवर' मे दोषो को कडाई के साथ देखा गया है।[2] साहित्य के उन्नतिशील स्वरूप की स्थापना के कर्त्तव्य ने इनसे कटु व्यग्य, आक्षेप तथा दोष-विवेचन कराया है। इनकी आलोचना मे प्रशसात्मक, निर्णयात्मक तथा प्रभावात्मक आलोचना के बीज मिलते है। इन्होने केवल आलोचना के शास्त्रीय आधार को ही नही अपनाया है वरन् बुद्धि तथा तर्क के आधार पर निजी मन्तव्यो की भी स्थापना की है।

ग्राउज़ तथा ग्रियर्सन —

ग्राउज ने 'रामायण आव तुलसीदास' की भूमिका में तुलसी के काव्य का विशेष विवेचन किया है। इन्होने तुलसी के काव्य की तुलना वाल्मीकि आदि सस्कृत कवियो के काव्य से की है। ये सरल भाषा को काव्य का विशेष गुण मानते थे तथा इसीलिए इन्होने तुलसी के काव्य की भाषा को सस्कृत के कवियो की अलकृत शैली तथा पुनरावृत्ति-पूर्ण भाषा से अधिक काव्योपयुक्त माना है। इन्होने तुलसी के काव्य-विषय तथा दार्शनिक विचारो के प्रतिपादन तथा रूढियो और धार्मिक परम्पराओ के प्रभाव पर विचार किया

---

१ देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय' पृ० ७८।

२ देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ले० शुक्ल जी (स० १९९९) पृ० ५८२।

है।[1] इन्होंने भी अन्य भारतेन्दु-कालीन लेखकों की भांति रूढ़िबद्ध अलंकारों तथा उपमानों का विरोध किया है तथा रामायण का मूल्यांकन, चरित्र-चित्रण, कथानक, विश्वजनीन मानव-भावनाओं तथा काव्यात्मक-सौन्दर्य के आधार पर किया है।[2]

ग्रियर्सन के ग्रन्थ 'माडर्न वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान' में विशेष प्रौढ़, संयत, विश्लेषणात्मक, वैज्ञानिक, तुलनात्मक, विद्वत्तापूर्ण तथा व्यवस्थित, आलोचना के दर्शन होते हैं। इनकी आलोचना परिचयात्मक, तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक तो है ही वरन् कहीं-कहीं पर भावात्मक तथा प्रभाववादी भी हो गई है। इसमें निष्पक्षता तथा तटस्थता से कवियों के गुणों तथा दोषों का विवेचन किया गया है। इनकी आलोचना का स्तर इनके समकालीन आलोचकों से ऊंचा है तथा इनकी भाषा और शैली सशक्त तथा मौलिक विशिष्टता लिए हुए है। इनकी आलोचना में पाश्चात्य साहित्यालोचन का आधार लिया गया है। इनकी कवियों की आलोचना वैज्ञानिक, प्रौढ़, सुरुचिपूर्ण तथा मौलिक है। इन्होंने कवियों के काव्य का अध्ययन, भाषा, शैली, काव्य-विषय, प्रभाव, कला, अलंकार, रूढ़िबद्धता, वर्णन-शक्ति, चरित्र-चित्रण आदि तत्त्वों के आधार पर किया है तथा किसी कवि के युग की परिस्थितियों का उल्लेख करके साहित्य में उसके स्थान का निर्धारण भी किया है। इनके काव्यालोचन पर पाश्चात्य-साहित्यालोचन का विशिष्ट प्रभाव होने से विशेष गम्भीरता तथा प्रौढ़ता आ गई है। इसलिए इनका सा दृष्टि-विस्तार इनके समकालीन आलोचकों में नहीं दिखाई पड़ता। इनकी मान्यताएं परवर्त्ती युग में भी मान्य हुई हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी :—

हिन्दी के आलोचकों में द्विवेदी जी का विशेष महत्त्व है। वे हिन्दी के विशाल आलोचना-भवन की सुदृढ़ नींव के संस्थापक हैं। परम्परागत साहित्यिक धारणाओं तथा आदर्शों की उपेक्षा करके उन्होंने ही पहले पहल चिन्तन तथा मनन के आधार पर निजी विचारों का प्रतिपादन करके परम्परागत आलोचना की शैली तथा विषय तत्त्व में परिवर्तन उपस्थित किया। यद्यपि उनकी आलोचना आज के मानदण्डों के विचार से आधुनिक नहीं कही जाएगी किन्तु हिन्दी के लिए वह पहली आधुनिक आलोचना थी। वे सच्चे आलोचक की भांति कभी भी अपने युग की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं से असम्पृक्त नहीं रहे। उन्होंने हिन्दी की आवश्यकताओं को समझ कर अपनी आलोचना को उन पर आधारित किया तथा गुण-दोष विवेचन की पक्षपातपूर्ण शैली की अपेक्षा चिन्तन तथा पक्षपातहीन निर्णय करने का आदर्श प्रदान किया। उनकी व्यावहारिक आलोचना की पांच प्रमुख विशेषताएं हैं, घोर निर्भीकता (जो कभी आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है तथा कुछ विद्वानों को अरुचिकर भी लगी है), प्रगाढ़ पांडित्य, जो पूर्वी तथा पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का आधार लिए हुए है, लेखकों के रचना-सम्बन्धी दोषों को न स्वीकार

---

१. देखिए 'रामायण आव तुलसी दास' भूमिका पृ० १३।
२. देखिए वही, पृ० २०।

करना, अपने विचारो तथा मतो का आत्म-विश्वास के साथ जोरदार भाषा मे प्रतिपादन करना (जो कभी अप्रिय भी हो जाता है), विषय विवेचन मे सरलता तथा स्पष्टता रखना (जिससे जो वे कह रहे है, पाठक उसे समझ कर ग्रहण कर सके) तथा सावधानी एवं सतर्कता से किसी विषय का विवेचन करना।

उनकी आलोचना का एक विशिष्ट लक्ष्य था और उन्होने जो कुछ लिखा है, उसका सीधा सम्बन्ध उस लक्ष्य से ही है। उनका लक्ष्य हिन्दी साहित्य को उन्नतिशील बनाना, उसमे नई परम्पराओ को स्थापित करना, रीतिकाल की परम्परा और रूढिवादिता से काव्य तथा काव्यालोचन को मुक्त करना तथा अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक; धार्मिक तथा सास्कृतिक परिस्थितियो के साथ साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करना था। सत्साहित्य का निर्माण करने के आदर्श स्थापित करके तथा साहित्य मे आधुनिक तथा युगानुकूल भावधाराओ का समावेश करके उन्होने उसमे विषयगत तथा शैलीगत नवीनता का समावेश किया। उनकी आलोचना विधायक है। जहा कही उसने विध्वसात्मक रूप धारण भी किया है, वहा भी अशक्त तथा अनुपयुक्त साहित्य का विनाश करके युगानुकूल सत्य तथा तथ्यो को स्थापित करने के लिए ही किया है। उनकी सभी कृतिया अपने युग की प्रतिनिधि होने का गौरव रखती है।[1] उनके सम्बन्ध मे वाजपेयी जी का यह मत ठीक ही है कि उन्होने सरस्वती की सहायता से भाषा के शिल्पी, विचारो के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक आदि तीन-तीन सस्थाओ का सचालन कार्य सरलता तथा सफलता से किया है।[2] उनके लक्ष्य के सम्बन्ध मे वे लिखते है कि " सस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान, खडी बोली का उन्नयन, नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यजन, ससार की वर्त्तमान प्रगति का परिचय, साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा .... जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी-अपनी निश्चित धारणा के अनुसार सरस्वती के द्वारा करना उनका सिद्धान्त था।[3]

उनकी व्यावहारिक आलोचना-पद्धति मे प्राय नवीन तथा पुरातन दोनो प्रकार की शैलियो के रूप मिलते है। उन्होने सस्कृत काल की आलोचना की उन पद्धतियो को भी अपनाया, जो रीतिकाल मे हिन्दी मे अपनाई गई थी तथा पाश्चात्य-शैलियो को भी अपनाया, जो अग्रेजी की देन थी। उनके हाथ मे आकर पुरातन रूढिवादी टीका पद्धति भी नवीन तत्त्वो को ग्रहण करके विकसित हुई। प्राचीन साहित्य की टीका केवल आलोचित ग्रन्थो के अर्थ तथा व्याख्या के अतिरिक्त गुण-दोष-वर्णन तक सीमित रहती थी। द्विवेदी जी ने अपने आपको इसी काम तक सीमित नही रखा है। उन्होने केवल अर्थ बता कर तथा

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य—बीसवी शताब्दी'—ले० नन्ददुलारे वाजपेयी (प्रथम सस्करण) पृ० ३।

२ देखिए वही, पृ० ४।

३ देखिए वही, पृ० ३।

काव्य के गुणो तथा दोषो को ही बताने से अपने कार्य की इतिश्री नही समझी। टीका-पद्धति पर लिखी हुई उनकी आलोचनाए परिचयात्मक अधिक हैं तथा व्याख्यात्मक कम। 'नैषध चरित चर्चा', 'विक्रमाकदेव चरित चर्चा' केवल परिचयात्मक आलोचनाए है, जिनका उद्देश्य काव्य से परिचय कराना है, उसके सौन्दर्य की व्याख्या करना नही। हा, कवि तथा काव्य से परिचय के बीच मे उन्होंने आवश्यकतानुसार कवित्वपूर्ण सुन्दर स्थलो की व्याख्या अवश्य की है। 'कालिदास की वैवाहिकी कविता' तथा 'कालिदास की कविता मे चित्र बनाने योग्य स्थल' (सरस्वती जून १९१५ तथा अप्रैल १९११) इसी परिचयात्मक आलोचना के अन्तर्गत आते है। इसमें सरस्वती मे छपने वाले पुस्तक-परिचय भी आते है। इनमे पुस्तको में केवल गुण-दोष विवेचन अथवा अर्थ-निर्देश ही नही होते थे वरन् पुस्तको की व्यापक रूप मे परीक्षा अथवा परिचयात्मक विवरण भी होता था। इन्ही आलोचनाओ में जीवन चरितात्मक आलोचना का भी मूल रूप मिलता हे। इन्होने 'कोविद कीर्तन', 'प्राचीन पडित और कवि', 'सुकवि सकीर्तन' आदि आलोचनाए केवल व्याख्या करने के उद्देश्य से नही लिखी वरन् रचयिताओ का परिचय देने के उद्देश्य से लिखी है। सस्कृत-आलोचना, आलोच्य वस्तु तक सीमित रहती थी, रचनाकार तक जाकर उसके व्यक्तित्व का परिचय देना अथवा उसका उसके ग्रन्थ से परिचय जोडना इससे बाहर की चीज थी। द्विवेदी जी ने उसके विपरीत इस प्रकार की जीवन चरितात्मक आलोचना को आवश्यक समझा तथा बहुत से छोटे बडे लेखो मे इसका प्रयोग किया है।[1]

द्विवेदी जी का उद्देश्य हिन्दी भाषा-भाषियो को सस्कृत साहित्य के ग्रन्थो का परिचय करा कर उनका सौन्दर्य दिखाना था, इसलिए वे उन पुस्तको की विशेष प्रशसा करते थे, जिनमे उनको सुरुचि के दर्शन होते थे। इसीलिए 'नैषधचरित चर्चा' तथा 'विक्रमाकदेव चरित' आदि ग्रन्थो मे उन्होने गुणो का प्रदर्शन अधिक तथा दोषो का प्रदर्शन केवल नाम मात्र को ही किया है। उनके अनुवादो का उद्देश्य भी हिन्दी भाषा भाषियो को सस्कृत के सुन्दर ग्रन्थो का सफल अनुवाद करके, उसकी विषय वस्तु से परिचित कराकर, उसका प्रेम उनके हृदय मे उत्पन्न कराना था, जिससे मूल तथा ग्रन्थ को पढने की रुचि बढे। इसी कारण वे ग्रन्थो के अनुवाद का कार्य विशेष महत्त्व का समझते थे और जहा कही कोई अनुवाद उनके आदर्श से नीचे गिरा हुआ मिलता था, उसकी वे कटु आलोचना करते थे। इसी कारण ला० सीताराम के अनुवादो की उन्होने विशेष रूप मे कटु आलोचना की थी। उनका विचार था कि बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है क्योकि अनुवाद के द्वारा यदि उसके भाव तथा गुण ठीक-ठीक रूप मे पाठक तक नही पहुचेंगे, तो वह लेखक पढ़ने वालों की दृष्टि मे हेय हो जाएगा, उसका महत्त्व गिर जाएगा तथा उसके ग्रन्थो का ठीक-ठीक परिचय भी जनता को नही होगा। वास्तव मे वे अच्छे कवि ही को अच्छा अनुवादक समझते थे, क्योकि वही कवि के मर्म को अच्छी तरह समझ सकता है।[2] उन दिनो

१. देखिए सरस्वती (सन् १९१३) पृ० २८०।

२. देखिए 'रसज्ञ रजन' (स० १९७९) पृ० १४।

आलोचक का कार्य केवल आलोचना करना ही नही वरन् ग्रन्थो का परिचय देना भी था। हिन्दी की उस समय की स्थिति के यह कार्य अनुकूल भी था। द्विवेदी जी की परिचयात्मक आलोचना शैली, हिन्दी के उस नवीन युग के प्रवर्तन के समय के अनुकूल थी और इसकी विशेषताओ मे वे सभी गुण थे, जो इस प्रकार की स्थिति तथा साहित्य के स्वरूप के उपयुक्त होते है। उसमे व्यग्य, कटाक्ष, स्पष्टता, निर्भीकता तथा शिक्षण की प्रवृत्ति है। हिन्दी की यह परिचयात्मक आलोचना-पद्धति, उसकी आलोचना की मौलिक पद्धति है, क्योकि वह हिन्दी की उस समय की विकास की अवस्था के अनुकूल तथा उसकी परिस्थिति तथा प्रकृति को आधार बनाकर खडी हुई है। ऐसी परिचयात्मक आलोचनाओ मे गूढ चिन्तन तथा विश्लेपण के लिए स्वभावत स्थान नही होता। विश्लेपणात्मक आलोचना का उदय साहित्य की व्यवस्थित तथा प्रौढ दशा मे होता है, इसलिए उसका विकास द्विवेदी काल के पश्चात् हुआ परन्तु इसके लिए द्विवेदी जी ने ही बीज बो दिए थे।

द्विवेदी जी ने सस्कृत साहित्य की उस आलोचना शैली की परम्परा का भी निर्वाह किया है, जिसमे खडन-मडन की प्रधानता होती थी। यह शास्त्रार्थ-पद्धति पूर्ववर्त्ती आलोचको के विचारो तथा सिद्धान्तो को परवर्त्ती आलोचको द्वारा तर्कपूर्ण रीति से खडित कराकर परवर्त्ती आलोचको के विचारो का मण्डन कराती है। इस पद्धति मे आलोचक विपक्ष के दोप तथा अपने पक्ष के गुणो को ही देखता है। कभी-कभी समीक्षक ईर्ष्या मात्सर्यादि से रहित होकर निष्पक्ष भाव से इस आलोचना मे प्रवृत्त होता है तथा कभी ईर्ष्या-मात्सर्यादि के साथ द्विवेदी जी को भी परिस्थितिवश इस प्रकार की आलोचनाओ का प्रयोग करना पडा, किन्तु उन्होने, प्रसग उपस्थित होने पर, पूर्ण पाडित्य तथा तर्कपूर्ण रीति से इस प्रकार की आलोचनाए लिखी है। उनमे ईर्ष्या-मात्सर्य के दोप नही है। इस प्रणाली मे कही-कही आक्षेपो की तीव्रता तथा कठोरता के दर्शन अवश्य होते हैं।[1] इन आक्षेपो के अतिरिक्त इस शैली की आलोचना मे ओज और शक्ति को उत्पन्न करने के लिए अवसरानुकूल सस्कृत, फारसी आदि के शब्दो का प्रयोग भी होता था।[2] इस पद्धति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उन्होने स्थान-स्थान पर अपनी योग्यता तथा विद्वत्ता का सहारा लेकर सन्दर्भो, सिद्धान्तो तथा उदाहरणो का प्रयोग अकाट्य रूप मे किया है।[3]

---

१. "लेकिन दूसरो को भी कुछ समझने और उनकी बात मानने वाले जीव और ही होते हैं। बहुत तरफ की बाते फाकने का ख्याल आते ही इन जीवो को तो जूडी आ जाती है। वे इन्हे हजम ही नही होती, हजम होती है सिर्फ एक चीज प्रलाप। उसे वे इतना खा जाते है कि उगलना पडता है।" सरस्वती, भाग ७ स० २, पृ० ६३।

२ "इस पर उम्र भर कवायददानो की सोहबत तथा जुबादानो की खिदमत करके नाम पाने वाले हमारे समालोचको मे एक समालोचक ने दूर तक मसखरापन छाटा है। आपकी समझ मे यहा पर मसखरापन गलत है। अब आपको चाहिए जरा देर के लिए जबांदानी का चोगा उतार के मैक्समूलर के सामने आवें।" वही पृ० ६३।

३ देखिए 'आलोचनांजली' (सन् १९३२) पृ० ३।

द्विवेदी जी ने परम्परागत चली आई हुई प्रशसात्मक उक्तियो, सुभाषितो तथा लोकोक्तियो की शैली मे भी युगानुकूल सशोधन के साथ आलोचना लिखी है, जो प्रधानत. प्रशसात्मक है। इन्होने इसका सक्षिप्त तथा सूत्र रूप नही अपनाया है। यह भी विस्तृत व्याख्यात्मक रूप में गद्य मे ही लिखी गई है। जिस प्रशसात्मक शैली का प्रयोग द्विवेदी जी ने किया वही आगे चलकर विकसित, परिवर्द्धित और सस्कृत हो गई। आचार्य शुक्ल की शेष स्मृतियो की भूमिका तथा डा० रसाल की उद्धव-शतक का प्राक्कथन इसी शैली मे लिखा गया है। द्विवेदी जी ने उन्ही रचनाओ की प्रशसात्मक आलोचना की है, जो उनके सिद्धान्तो के अनुरूप थी तथा साहित्य का हित-साधन करती थी। इस प्रकार की आलोचना मे भी वे पक्षपात से यथासम्भव दूर रहने का प्रयत्न करते थे। रायकृष्ण दास की साधना पर आपने इसी कारण कुछ नही लिखा कि उनका व्यक्तिगत सौहार्द उनकी आलोचना मे बाधक होता है।[1] इस प्रकार की स्पष्टवादिता और कर्त्तव्यनिष्ठा कम आलोचको मे होती है। जिन ग्रन्थो का विषय, युग के अनुकूल तथा साहित्य, देश, समाज और जाति का हित करने वाला था, उसकी उन्होने मुक्त कठ से प्रशसा की है।[2] कही-कही प्रभावोत्पादकता लाने के लिए उन्होने इस शैली मे स्वय भी पदो का समावेश कर दिया है। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' नामक रचना को पाठको से पढने का अनुरोध करते हुए वे लिखते है :—

"ताहि रसिकवर सुजन अवसि अवलोकन कीजे
मम समान मन मुग्ध ललकि लोचन फल लीजे।"[3]

द्विवेदी जी की इन आलोचनाओ मे किसी का पक्ष लेकर अनुचित प्रशसा नही मिलती। जिन ग्रन्थो की उन्होने आलोचना की है, वे निश्चय ही उनके उन सिद्धान्तो के अनुकूल हैं, जिनको उन्होने आजीवन अच्छा समझा है। पक्षपातहीन प्रशसा के सम्बन्ध मे उन्होने स्वय लिखा है कि "मित्रता के कारण किसी की पुस्तक की अनुचित प्रशसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नही है।"[4]

खण्डन मण्डन की शास्त्रार्थ वाली पद्धति के अतिरिक्त, एक प्रणाली केवल खण्डन की ही होती है, जिसमे केवल दोषो को दिखाकर खण्डन मात्र होता है। किसी साहित्य के प्रारम्भिक युग मे जब साहित्यगत अव्यवस्था का राज्य होता है, तब ऐसी प्रणाली की विशेष आवश्यकता होती है। द्विवेदी जी ने इस दोष-उद्‌भावना वाली प्रणाली को भी अपनाया है तथा साहित्य का बहुत-सा कूडा-करकट इसकी शक्ति से साफ किया है। यदि दोष-प्रणाली का प्रयोग ईर्ष्या, मात्सर्य तथा द्वेष आदि से निष्पक्ष होकर किया जाता है, तो यह प्रणाली सफल होती है तथा इससे हित ही होता है। द्विवेदी जी की दोष-

---

१ देखिए सरस्वती भाग ४६ सं० २, पृ० ८२।

२. देखिए वही, अगस्त १९१४।

३ देखिए वही, भाग ६, पृ० २।

४ देखिए विचार-विमर्श (सन् १९३१) पृ० ४५।

प्रदर्शन प्रणाली का उद्देश्य अपना पांडित्य प्रदर्शित करके दूसरो के अज्ञान का प्रतिपादन करना नही था। उनकी इस प्रणाली का यही लक्ष्य था कि पूर्ववर्ती आलोचको द्वारा स्थापित सिद्धान्तो का खण्डन करके चिन्तन के आधार पर नए-नए सिद्धान्तो का स्थापन किया जाए। हिन्दी की समृद्धि उस स्थिति तक उस समय पहुची ही नही थी कि इस प्रकार की आलोचना सम्भव हो सकती ? इस प्रणाली मे व्यग्य, आक्षेप तथा विनोदशीलता का आना स्वाभाविक है, इसलिए इसमें स्थान-स्थान पर विशेष व्यग्यात्मकता तथा तीव्रता आ गई है।

द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य को भी अग्रेजी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओ के समान समृद्ध बनाना चाहते थे। उन्होने मराठी, बगला आदि के साहित्य का अध्ययन किया था तथा उसकी तुलना मे हिन्दी साहित्य मे अधिक अभाव पाते थे। इन्ही अभावो को पूरा करना उनका लक्ष्य था तथा उनकी आलोचना इस लक्ष्य की पूर्ति थी। कही-कही जहा उनके इस उद्देश्य मे बाधा डाली गई है, उन्होने कुछ कटुता का प्रयोग किया है। महान् कवियो मे दोष दिखाने का कार्य सरल नही है। दोष वही आलोचक दिखा सकता है जिसमे उन्हे खोज निकालने तथा समझने की शक्ति हो तथा उन दोषो को कह देने की निर्भीकता हो। द्विवेदी जी मे ये सब गुण विद्यमान थे। वे निर्भीकता से बुरे साहित्य के दोषो को बता सकते थे। इसके लिए उन्हे प्रहार भी सहने पडे। पर उन्होने उन्हे सहर्ष स्वीकार किया। वे साहित्य में रूढिवादिता के विरोधी थे और यह आवश्यक नही समझते थे कि यदि किसी पुराने कवि के दोष पहले नही बताए गए है, तो अब भी न बताए जाएँ। जहा वे आलोचक का यह कर्त्तव्य समझते थे कि वह लेखक के काव्य का परिचय दे, उसका विषय स्पष्ट करे, उसके काव्य की विशेषताओ का प्रतिपादन करे तथा उसके गुणो का निर्देश करे, वहा यह भी आवश्यक समझते थे कि वह उसके दोषो का निर्भय होकर विवेचन करे।

यह दोष-दर्शन की प्रणाली उस स्थान पर दोषपूर्ण हो जाती है, जहा गुणो की विद्यमानता पर भी आलोचक की आखे केवल दोषो को ही देखती है। द्विवेदी जी किसी दलबन्दी के फेर मे नही पडे, इसलिए इस प्रकार की एकागिता के दर्शन उनकी इस पद्धति मे नही होते है। उनकी इस शैली में यदि उनके विरुद्ध कोई बात कही जा सकती है तो वह यह है कि जहा कही उन्हे बुराई दिखाने का अवसर आया, वहा उन्होने किसी के साथ भी कोई मरव्वत नही दिखाई। उन्होने लेखो तथा कविताओ को शुद्ध किया, सब प्रकार की कमजोरियो को दूर किया और ऐसा करना सदैव अपना कर्त्तव्य समझा। बडे से बडे लेखक के भी उन्होने दोषो को निर्भीकता से दिखाया। कभी-कभी उनकी निर्भीकता उचित मात्रा का भी उल्लघन कर गई। अच्छी समालोचना के लिए भेजे गए गुप्त पत्र भी उन्होने व्यग्य के साथ प्रकाशित कर दिए।

इनकी दोष-दर्शन पद्धति में प्राय दो रूप पाए जाते है। एक मे तो हिन्दी के साहित्य के अभावो को देखकर दिखाना तथा उसकी पूर्ति के लिए प्रोत्साहित करना, जैसे: "हिन्दी

साहित्य' जैसे व्यग्यात्मक लेखो में तथा दूसरे में साहित्य में फैली अराजकता को दूर करना।[1] इस प्रकार से 'कवियो की उर्मिला विषयक उदासीनता' मे उन्होने यह अभाव बताया कि काव्य का यह पक्ष अथवा विषय कवियो की दृष्टि से छूट रहा है। गुप्त जी ने उनकी प्रेरणा से इसकी पूर्ति कर दी। इसी प्रकार 'हिन्दी नव-रत्न' की आलोचना मे उन्होने मिश्रबन्धुओ की आलोचना के अभावो का निर्देश किया है।[2]

इस दोष दर्शन की प्रणाली का यह प्रभाव पडा कि कुछ लेखक तो यह समझने लगे कि इस प्रकार की आलोचना साहित्यालोचन में बाधा पहुचाएगी तथा कुछ आलोचक इस आलोचना के क्षेत्र मे आने मे भी सकोच करने लगे। द्विवेदी जी की दोष-प्रदर्शन की शैली मे उनकी वैयक्तिक रुचि का इतना आधार नही है, जितना उनकी विद्वत्ता, शास्त्रीय-ज्ञान, सहृदयता, उपयोगिता, साहित्य-सेवा तथा आदर्शों की रक्षा का आधार है। उनके दोष-प्रदर्शन का आधार शास्त्रीय है तथा उन्होने उन्ही अलकार, रीति, रस और प्रबन्ध के औचित्य आदि का निरीक्षण किया है, जो उनके पूर्ववर्ती आलोचक भी कर गए थे। द्विवेदी जी की आलोचना सदैव एक शिष्ट तथा सास्कृतिक धरातल पर नही रही। उन्हे कभी स्पष्ट कथन के अतिरिक्त अप्रिय कथन भी कहना पडा तथा अपने आक्षेपो को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए व्यग्यो का समावेश भी करना पडा, जो उस युग की विशिष्ट परिस्थिति को देखने पर उसके प्रतिकूल नही था। जो लेखक हठधर्मी पर उतरकर कुछ सीखना न चाहे तथा प्रगति को रोक रखना चाहे, उसके प्रति उन्हे कठोर होना ही पडा।

द्विवेदी जी की आलोचना के सभी पहलुओ पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनकी आलोचना का प्रसार साहित्य के सभी क्षेत्रो मे है। उनकी आलोचना सम्बन्धी धारणाए अपने युग की प्रतिनिधि थी। वे साहित्य के आलोचक ही नही वरन् उसके निर्माता, साहित्यिको के विधाता तथा आचार्य, भाषा की व्यवस्था करने वाले तथा आधुनिक आलोचना के पिता है। आज आलोचना, जिस क्षेत्र मे फैल कर फूल रही है, उसकी दिशा का निर्देश उन्होने ही किया था। आधुनिक आलोचना की तुलनात्मक, ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, स्वच्छन्दतावादी आदि आलोचनाओ के बीज उनकी आलोचनाओ मे ही दिखाई पडते हैं। उनका महत्त्व उनके आलोचनात्मक-साहित्य की अपेक्षा उनकी प्रेरणा पर निर्मित साहित्य के लिए अधिक है। वे साहित्य के आलोचक से कही अधिक जीवन, भाषा, साहित्य-रचना, आदर्श, सामयिक-नीति तथा अपने समस्त युग की गतिविधि के आलोचक थे। अपने समय के साहित्य के विकास की प्रत्येक धारा के मूल मे, उनकी प्रेरणा तथा प्रतिभा का स्रोत बहता है।

---

१. देखिए सरस्वती १९०२, पृ० ३५।
२. देखिए 'समालोचना-समुच्चय' (सन् १९३०), पृ० २०७।

मिश्रबन्धु :—

द्विवेदी जी के बाद हिन्दी के दूसरे प्रौढ आलोचक मिश्रबन्धु हैं। इनकी आलोचना केवल दोष-दर्शन मात्र न रहकर गुण तथा दोष दोनो का विवेचन करती है। इन्होने अपने समय की परिचयात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना को अपनाया। इन्होने द्विवेदी जी की दोषोद्भावना की शैली को न तो अपनाया ही, न अपनी आलोचना का दृष्टिकोण केवल दोष देखने का ही रखा। इसके विपरीत उन्होने प्रशसात्मक शैली को अधिक अपनाया। परिचयात्मक शैली को मिश्रबन्धुओ ने जीवन-चरितात्मक विवेचन तथा ऐतिहासिक आधार पर, चिन्तन द्वारा प्रौढ बनाया तथा साथ ही नागरी प्रचारिणी पत्रिका की ऐतिहासिक खोज तथा विवेचन की वैज्ञानिक शैली को अपनाया, जिसमे विश्लेषणात्मक विवेचन की प्रौढता के दर्शन होने लगे थे। इन्होने अपनी आलोचना मे द्विवेदीकालीन सुरुचि, नैतिकता, स्वाभाविकता तथा अलकार और चमत्कार-निरपेक्षता को अपने मानदण्डो के रूप मे अपनाया और तटस्थता, व्यक्ति-निरपेक्षता, निष्पक्षता तथा विश्लेषण के आधार पर पाश्चात्य ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, तुलनात्मक आलोचना की शैलियो का प्रयोग किया। हिन्दी की आलोचना शुक्ल जी के समय मे जिस प्रौढता को पहुची, उसके निर्माण का कार्य इस समय इनके द्वारा सम्पन्न हुआ।

इनकी समालोचना का आदर्श ऊचा था। उनका विश्वास था कि सत्य समालोचना मान्य ग्रन्थ को जीवन और बल देती है। वे समालोचक को कवियो का गुरु मानते हैं।[1] इस विषय में वे कहते हैं कि "वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रन्थो को भलीभाति समझ सके और उनके विषय से अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल ग्रन्थो का भली-भाति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पडेगा।"[2] इनकी आलोचना मे उनके इस आदर्श का पालन किया गया है। इनकी व्यावहारिक आलोचना, योग्यता, सहृदयता, अध्ययन और विद्वत्ता पर आश्रित है। उनका विचार है कि "समालोचना का काम किसी का परिचय देना ही नही है, वरन् ग्रन्थो के गुण तथा दोष बताकर औचित्य का आधार भी ग्रहण करना है।"[3] इस प्रकार इनकी दृष्टि मे यद्यपि आलोचना का काय महान् तथा महत्त्वपूर्ण था किन्तु इनकी आलोचना का लक्ष्य द्विवेदीकालीन आलोचना के समान ही गुण-दोष का विवेचन करना था। इसमे से इन्होने दोषो का परिहार करके गुणो का उल्लेख अधिक किया है। इस प्रकार हिन्दी के प्राय प्रत्येक काल के साहित्य की विशेषता देखने के लिए उस काल की भाषा, रस, विषय, नाटक, गद्य आदि में से कुछ का आधार लिया गया है। साहित्य के विभिन्न कालो की आलोचना का कोई विशिष्ट आधार नही है। जिस काल में इनमे से जो तत्त्व दिखाई पडे उनको केवल गिना दिया गया है।

---

१ देखिए 'हिन्दी नवरत्न' पृष्ठ सस्करण, पृ० १८।
२ देखिए वही, पृ० १९।
३. देखिए वही, पृ० १८।

इन्होने 'मिश्रवन्धु विनोद' की भूमिका मे काव्योत्कर्ष के आधार का भी निर्देश किया है। इनके काव्यालोचन के सिद्धान्त प्रत्येक कविता तथा छद के साथ बदलते जाते हैं। यहा तक तो इनका व्यावहारिक आलोचना का सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक तथा समुचित है, क्योकि प्रत्येक रचना अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है तथा उसके मानदण्ड उसमे ही अन्तर्हित रहते है अथवा उसके आधार पर ही वनाने उचित होते है। पर इनके काव्यालोचन मे ऐसा नही है। इनके आधार शास्त्रीय है। वे शील, गुण-कथन एव भारी वर्णनो के सम्मिलित प्रभावो पर ही ध्यान रखना उचित समझते है तथा शब्द-प्रयोग का भी सम्मिलित प्रभाव छन्द के लालित्य के लिए हितकर मानते है। इन सब शास्त्रीय गुणों के आधार के अतिरिक्त वे आलोचक की रुचि को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं।[1] भाषा की मधुरता तथा आलकारिकता पर उन्होने विशेष जोर दिया है। अन्य स्थानो पर भी स्पष्ट रूप मे उन्होने पद-मैत्री को काव्य के लिए उचित वताया है।[2] इस प्रकार अलकारौचित्य, भाषा की मधुरता और पद-मैत्री को वे काव्य मे आवश्यक समझते है।

मिश्रवन्धुओ ने पाश्चात्य काव्यालोचन के सिद्धान्तो के अतिरिक्त पाश्चात्य आलोचना के दो मानदण्डो का भी प्रयोग किया है। वे यह देखना भी चाहते हैं कि कवि को कुछ कहना था या नही और उसने उसे कैसे कहा? पहले प्रश्न का तात्पर्य यह है कि कवि का क्या सन्देश था? इस प्रकार उन्होने हिन्दी के सभी कवियो के सदेशो का निरीक्षण किया है। उनका विचार है कि वही काव्य अच्छा होता है, जिसमे कवि अपना कोई सन्देश, सिद्धान्त या आदर्श स्थापित करता है तथा ऐसा करने मे उसका साहित्यिक-सौन्दर्य भी नष्ट नही होता। इस दृष्टि से वे तुलसी को महान् कवि मानते है, क्योकि उनके काव्य में सन्देश तथा साहित्य दोनो ही पूर्ण मात्रा में मिलते है।[3] इस प्रकार उन्होने हिन्दी मे प्राय. सभी कवियो को उनके सदेश के आधार पर तोला है। इस प्रकार की आलोचना का भी एक प्रकार का वर्गीकरण हो गया है, क्योकि सूर, देव, विहारी, केशव आदि का कोई सदेश नही माना गया है। इसमे केवल साहित्योन्नति का सदेश है। ये जीवन, भक्ति, समाज-सुधार, राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम सम्बन्धी कोई सन्देश सुनाने नही आए थे। इनके विपरीत भूषण तथा कबीर मे विशेष सन्देश है। इस आधार पर स्पष्ट रूप मे इन्होने हिन्दी के कवियो के दो वर्ग कर दिए है।

कवियो की अपेक्षाकृत महत्ता के प्रतिपादन के लिए इन्होने श्रेणी-विभाजन की प्रणाली निकाली, जो इनकी व्यावहारिक आलोचना की निजी विशेपता है। प्रशसात्मक

---

१. देखिए 'मिश्रवन्धु विनोद' (स० १९८३), भूमिका पृ० ३० ।

२ देखिए 'हिन्दी नव-रत्न', भूमिका पृ० ४० ।

३. "तुलसी ने दास भाव की भक्ति को कथा से मिला कर सदेश और साहित्य दोनों को बहुत दृढ रक्खा है। इसीलिए आप मध्यकाल के सर्वोत्कृष्ट धार्मिक उपदेशक हुए और हमारे समाज को आपने जैसा बनाया वैसा ही वह आज भी है।" वही, पृ० ४२ ।

आलोचना मे सब कवियो की प्रशसा करने से उनमे अपेक्षाकृत मात्रा-भेद होना कठिन हो जाता है इसलिए कवियो की उच्चता तथा निम्नता के आधार पर श्रेणी-भेद किए गए है। इनके नव-रत्नो का मूल आधार यह श्रेणी-विभाजन है। इस ग्रन्थ मे इन कवियो को काल-क्रम से स्थान न देकर काव्योत्कर्ष के अनुकूल मिला है। इसमें इन नौ कवियो की तीन श्रेणिया मानी गई है तथा उनमे तीन-तीन तथा दो-दो कवियो को स्थान दिया गया है। बृहत्त्रयी में स्थान पाने वाले सूर, तुलसी तथा देव है, मध्यत्रयी अर्थात् दूसरी श्रेणी में स्थान पाने वाले बिहारी, भूषण तथा केशव है और लघुत्रयी मे स्थान पाने वाले मतिराम तथा हरिश्चन्द्र है। बृहत्त्रयी के सभी कवि समान महत्त्व के है पर मध्यत्रयी तथा लघुत्रयी के कवियो का उत्कर्ष उनके दिए गए नामो के क्रम के समान है। बृहत्त्रयी के कवियो का उत्कर्ष-अपकर्ष ये बहुत विचार करने पर भी निश्चित नही कर सके। पहले ये देव को सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे, पर बाद में इनका निर्णय बदल गया और इन्होने तुलसी को निश्चय ही हिन्दी का महत्तम कवि माना।[1] इस प्रकार रुचि का परिवर्तन होने पर इन्होने इन कवियों के स्थान बदले है। बाद के सस्करणो में नवरत्नो में भी परिवर्तन हुआ। इनके इस वर्गीकरण की आलोचना आचार्य द्विवेदी ने भी की। बाद के वर्गीकरण मे इस क्रम से कवि सम्मिलित किए गए —(१) तुलसीदास, (२) सूरदास, (३) देव, (४) बिहारी, (५) त्रिपाठी-बन्धु, भूषण, मतिराम, (६) केशवदास, (७) कबीरदास, (८) चन्द, तथा (९) हरिश्चन्द्र।

इन्होने श्रेणी-विभाजन के कारणो का निर्देश करते हुए बताया है कि यह उनकी मौलिकता है तथा उनसे पूर्व 'सरोज' आदि ग्रन्थो में यह विभाजन नही किया गया था। यदि वे ऐसा नही करते, तो कवियो की प्रशसा की उचित मात्रा का अनुपात नही रहता। सबको एक सी प्रशसा मिल सकती थी अथवा जिसको अधिक मिलनी चाहिए थी, उसे कम मिलती।

यह श्रेणी-विभाजन रूढ नही रहा है। स्वय आलोचको ने इसमे यथास्थान तथा यथासमय परिवर्तन किए है। उन्होने नवरत्न का इतिहास लिखते समय बताया है कि किस प्रकार उनका विचार 'भाषा कवि पचक' लिखने का था तथा भूषण की कविता पढने तथा अच्छी लगने के पश्चात् किस प्रकार उसका नाम 'भाषा कवि अष्टक' रखने का विचार किया। बाद को उन्हे भारतेन्दु और चन्द की रचनाए उत्कृष्ट मालूम दी तथा फिर इस ग्रन्थ का नाम 'नवरत्न' रखा गया।[2] इस प्रकार के परिवर्तन से ही यह पता चलता है कि इस प्रकार का वर्गीकरण स्थायी-साहित्य का स्थायी मानदण्ड नही हो सकता। केवल तुलना तथा रुचि पर आश्रित विभाजन कोई महत्त्व नही रखता। जब तुलना का आधार कोई विशिष्ट माननीय सिद्धान्त अथवा मानदण्ड न हो, तब तो और भी यह विभाजन निरर्थक हो जाता है। पर फिर भी इस विभाजन का यह मूल्य तो निश्चित है ही कि हिन्दी

---

१ देखिए 'हिन्दी नवरत्न' भूमिका (सम्वत् १९९८) पृ० २००।
३ देखिए वही, पृ० २३।

में पहली बार इसके द्वारा कवियो का काव्य के महत्त्व पर विभाजन तथा पारस्परिक स्थान निर्धारण हुआ। आलोचना के प्रारम्भिक युग मे इसके अतिरिक्त कोई ठोस काम होना सम्भव भी नही होता।

पं० पद्मसिंह शर्मा :—

शर्मा जी ने अपनी व्यावहारिक-आलोचना के लिए प्रशंसात्मक, प्रभावात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना की शैली अपनाई है। इनकी तुलनात्मक आलोचना का उद्देश्य बिहारी को हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत के अन्य कवियों से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। इनकी तुलनात्मक आलोचना की यह विशेषता है कि इन्होंने उन्हीं कवियों की तुलना की है, जो एक रस, विषय अथवा विचारधारा के कवि थे। इन्होंने रीतिकालीन कवियों की तुलना भक्त कवियो से नही की है। इनकी तुलना की प्रणाली में विशेष तर्क, विश्लेषण तथा गम्भीरता के दर्शन नही होते। यह आलोचना भी अधिकांश मे मिश्रबन्धुओ की भाति वैयक्तिक रुचि पर निर्भर है। इन्होंने रस, अलकार, ध्वनि आदि शास्त्रीय-मानदण्डो का प्रयोग किया है।

शर्माजी जी ने बिहारी के काव्य-सौष्ठव पर अपनी दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित रखी है। उन्होंने काव्य ने शृंगारात्मकता के पक्ष का समर्थन किया है। वे उन आलोचको के मत को नही मानते है, जो यह कहते हैं कि बिहारी के काव्य मे अश्लीलत्व दोष है तथा अभिसार तथा रति आदि का ही खुला वर्णन है। उनका विचार है कि कवि को संसार की बहुत सी वस्तुओं का चित्रण करना पडता है। जब ससार में शृंगार तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुएं तथा दृश्य प्रचुर परिमाण में फैले हुए हैं तो कवि उनकी ओर से आंखे कैसे फेर सकता है।[1] उनका विचार है कि परकीया आदि के वर्णन करने से कवि का उद्देश्य कुरुचि का उत्पादन करना नही होता वरन् इसके विपरीत ऐसे वर्णनो से समाज को नीति-भ्रष्ट तथा कुरुचि-सम्पन्न होने से बचाना होता है।[2] वे शृंगार का काव्य नें विशेष स्थान मानते हैं।

उन्होंने बिहारी के काव्य की मौलिकता का भी प्रतिपादन किया है। उनका विचार है कि कोई कवि अपने पूर्व के कवियों के भावों तथा विचारों के प्रदर्शन से नही बच सकता हैं। काव्य में मौलिकता भावों की नही होती, वरन् भावो को नई तथा सुन्दर शैली में व्यक्त करने की होती है। वे पुरानी बातो में उक्ति-वैचित्र्य से नवीनता लाना ही कवि की कारीगरी मानते हैं। उनका विचार है कि शब्दार्थ में जो किसी प्रकार की कुछ निराली नूतनता पैदा करके, प्राचीन भाव को चमत्कृत कर देता है, वही महाकवि है। इस प्रकार वे बिहारी को महाकवि मानते हैं।

इसी प्रकार वे प्रबन्ध काव्य से मुक्तक काव्य की श्रेष्ठता मानते हैं। उनका विचार

---

१ देखिए 'बिहारी सतसई' (स० १९७५), पृ० ६।

२. देखिए वही, पृ० ६–७।

है कि मुक्तक काव्य मे ध्वनि तथा रस की प्रधानता होती है तथा इसमे कविता-शक्ति पराकाष्ठा को पहुच जाती है। प्रबन्ध काव्य मे तो कथानक की सघटना, वर्णन शैली की मनोहरता तथा सरलता के कारण काव्य का आनन्द मिल जाता है पर मुक्तक मे अनेक भावो तथा रसो का सन्निवेश करके लोकोत्तर आनन्द प्रदान किया जाता है। इसीलिए वे बिहारी को महाकवि कहते है। वे काव्य में अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति, उक्ति वैचित्र्य, ऊहात्मक कल्पना आदि गुणो को मान देते है तथा उनके आधार पर बिहारी के काव्य को उत्कृष्ट मानते है। उन्होने स्वभावोक्ति को काव्य का मानदण्ड नही माना है। शर्मा जी की व्यावहारिक-आलोचना की सब से बडी विशेषता उनकी विचारो की दृढता तथा निश्चित रुचि है। उनकी व्याख्या करने तथा भाव को हृदय तक पहुचाने की शक्ति अनूठी है। उनकी प्रतिपादन करने की शैली तथा प्रभावोत्पादकता का गुण इस बात मे है कि उन्होने उन सस्कृत श्लोको से बिहारी के दोहो को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया, जो आचार्यो के प्रमाण पाकर विशिष्ट सौन्दर्यपूर्ण माने जाते रहे थे।

शर्मा जी की आलोचना मे तुलनात्मक के अतिरिक्त प्रभावात्मक तथा प्रशसात्मक आलोचना के भी दर्शन होते है।[1] उन्होने द्विवेदी जी की भाति दोषो का दर्शन करना आलोचना का लक्ष्य नही माना है। उनका विचार है कि दोष-निरूपण में हाथ डालने से कवि के साथ अन्याय की अधिक सम्भावना है। दोष-दर्शन करने से आलोचना मे लाभ कम तथा हानि अधिक होती है।[2] ज्वाला प्रसाद जी द्वारा बिहारी के काव्य के सौन्दर्य को नष्ट होते देखकर ही उन्होने 'सतसई-सहार' लिखकर आलोचना की ओर पग बढाया था। वे बिहारी के काव्य के सौन्दर्य से इतने प्रभावित थे कि उसकी व्याख्या प्रभावात्मक रूप में करते थे।[3] किसी दोहे को पढकर जो भाव उनके हृदय मे उत्पन्न होते है, उन्होने उन्हे भावात्मक रूप मे व्यक्त किया है। वे बिहारी के काव्य के सौन्दर्य तथा उसके काव्य सौष्ठव को पाठक के हृदय में उतार देना चाहते थे। उनके सौन्दर्य की व्याख्या का आधार रस, ध्वनि, अलकार, उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार, वक्रभापा आदि मानदण्ड है, जो सब रीतिकाल के काव्य के विशेष गुण है। जो स्वभावोक्ति द्विवेदी जी के समय में सत्-काव्य का मानदण्ड थी, वह उन्होने नही अपनाई।

बिहारी के जीवन का अध्ययन तथा उसकी परिस्थितियो का विवेचन करके, उनके काव्य का उससे सम्बन्ध दिखाने का कार्य उन्होने नही किया। उन्होने उनके काव्य

---

१ "सतसई मे किसे कहे कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है? खाड की रोटी को जिधर से तोडिए, उधर से ही मीठी है। इस जौहरी की दुकान में सब ही अपूर्व रत्न है। बानगी में किसे पेश करे? एक को खास तौर पर आगे करना, दूसरे का अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टि से, हम समझते है, अपराध है", 'बिहारी की सतसई' (स० १९७५) पृ० १९८।

२ देखिए वही, पृ० २४८।

३ देखिए वही, पृ० १०।

की अन्त.वृत्तियो तथा विशिष्ट निजी विशेषताओ का निरूपण भी नही किया। किन्तु उनके द्वारा साहित्य के ऐतिहासिक तथा परम्परागत विवेचन का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है। वे पहले आलोचक है, जिन्होंने एक ही प्रकार के काव्य की परम्परा का उद्घाटन करके, उस काव्य को सम्पूर्ण परम्परा के अन्तर्गत रखकर अध्ययन किया है। इसको हम पूर्ण ऐतिहासिक आलोचना नही कह सकते, क्योकि इन्होंने पिछले कवियो का ऐतिहासिक क्रम-विकास नही दिखाया है। इसमे केवल एक ही धारा अथवा परम्परा के कवियो का एक साथ अध्ययन किया गया है। आगे चलकर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विशेष रूप मे यही शैली अपनाई है।

इनकी आलोचना मे निर्णयात्मक आलोचना के भी प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते है। विहारी की प्रशंसा तथा गुणो का निर्णय इनकी निजी अनुभूति का फल है। इस निर्णय का आधार शास्त्रीय मानो के अतिरिक्त कवि की वैयक्तिक रुचि तथा सहृदयता है। इन्होंने विहारी के साथ पक्षपात किया है तथा उन आक्षेपो का भी परिहार किया है, जो देव को ऊचा सिद्ध करने के लिए विहारी पर किए गए थे। इस प्रकार निष्पक्षता, जो आलोचना का प्रमुख गुण है, इनमे पूर्णतया नही मिलती। आचार्य शुक्ल इनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य मानते हैं।[1] पर हमे आलोचना के किसी प्रकार के पक्षपात मे कोई मूल्य दिखाई नही पडता। हा, यह बात हो सकती है कि इनके इस प्रकार के पक्षपात से साहित्यिक रुचि का पलडा केवल देव की ओर ही नही झुका है तथा अन्य कवियो के गुणो को देखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत हो गई है। उनकी निर्णयात्मक-आलोचना का रूप उनके ऐसे निर्णयो मे मिलता है, जिसमे वे विहारी को कालिदास के समान ही महाकवि मानते हैं।[2]

शर्मा जी की आलोचना की प्रणाली को शुक्ल जी ने रूढिगत माना है। वह केवल इन्ही अर्थो मे रूढिगत मानी जा सकती है कि उसमे कवि की विशेषताओ के अन्वेषण तथा अन्त प्रवृत्तियो के उद्घाटन के चिन्ह नही दिखाई पडते तथा उसमे केवल शास्त्रीय आधार पर परम्परागत टीका तथा गुण-दोष वर्णन ही है। इसकी तुलनात्मक प्रणाली केवल रूढि का पालन मात्र नही है तथा इनकी आलोचना की निजी विशिष्टताओं से पूर्ण है। हिन्दी के एक कवि की अन्य भाषाओ के कवियो से तुलना कर उसके काव्य का सौन्दर्य प्रकट करने की प्रणाली रूढिगत नही है। शर्मा जी के समय मे भी साहित्यिक सुधार का वेग मन्द नही पडा था। भाषा सम्बन्धी चर्चा भी चलती रहती थी। इनके जीवन काल का काव्य, रचना-कौशल तथा चमत्कार से हीन था, इसलिए कदाचित् आलोचको की दृष्टि काव्य की आत्मा पर न जाकर काव्य की रचना शैली तथा सौष्ठव पर पहुची थी।

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रा० रा० च० शुक्ल (स० १९८९), पृ० ५८३।
२. देखिए 'सतसई सहार' (स० १९७५), पृ० २।

५० कृष्ण बिहारी मिश्र :—

मिश्रबन्धुओ द्वारा देव को महान् कवि मानने के पश्चात् हिन्दी के अन्य आलोचकों का ध्यान बिहारी के काव्य को परखने तथा उसका महत्त्व प्रतिपादन करने की ओर गया। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए 'बिहारी की सतसई' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य मे देव तथा बिहारी के तुलनात्मक अध्ययन की एक धारा ही बह निकली थी। इसी पद्धति पर मिश्र जी का 'देव और बिहारी' ग्रन्थ लिखा गया, जिसमे तुलनात्मक आलोचना-शैली को अपनाया गया है। इन्होने मिश्रबन्धुओ तथा शर्मा जी की आलोचना को पक्षपातपूर्ण माना है तथा उनके आक्षेपो का विरोध किया है। वे शर्मा जी की आलोचना को इसलिए पक्षपातपूर्ण मानते है कि इसमें हठपूर्वक एक आलोचक की पूर्ण योग्यता एक कवि को बडा तथा दूसरे को छोटा प्रदर्शित करने मे लग गई है।

इनकी आलोचना की शैली तुलनात्मक है जिसमे तुलना के लिए कोमल-कान्त-पदावली की अनिवार्यता, विदग्धता, छन्द-कौशल-चमत्कार, नायिका-भेद, रस, अलकार, वृत्ति, गुण, ध्वन्यात्मकता, ऋतु-वर्णन, भाषा, रचना आदि शास्त्रीय-मानदण्डों को अपनाया गया है।[1] तुलनात्मक आलोचना के वारे मे उनका विचार है कि इसके अन्तर्गत एक कवि की तुलना के लिए अन्य कवियो की उसी प्रकार की तथा उन्ही भावो को व्यक्त करने वाली सूक्तिया लेकर किसी विशेष पद की तुलना करनी चाहिए। ये तुलना में समता के अतिरिक्त विषमता का भी आधार लेते है। इनका विचार है कि बिना विषम-भावों का निरीक्षण किए समतामूलक भावो पर दृष्टि नही जाती। इन्होंने शर्मा जी की भाति एक ही कवि मे सारे गुणो का दर्शन न करके दो कवियो के गुणो तथा दोषो की पारस्परिक तुलना की है। शर्मा जी ने तो बिहारी के दोहो का ही गुणगान किया था कि इसमे बडा भाव भी सरलता से समा जाता है किन्तु मिश्र जी ने बिहारी के दोहो तथा देव के छन्दों की पारस्परिक तुलना करके दोनो की विशेषताए बताई हैं।[2]

इनकी तुलनात्मक आलोचना मे गम्भीर बातो से लेकर साधारण बातों तक की तुलना की गई है। यहा तक कि यह भी बताया गया है कि बिहारी सतसई कई यन्त्रालयों मे छप चुकी है तथा देव की कविताओ के दो-चार ग्रन्थ ही छपे है। इन दोनो कवियो की

---

१ देखिए 'देव और बिहारी' (स० १९९५) पृ० १०६, ११०, १११, १२३, १२४ तथा १२७।

२ "छोटे छन्द मे आवश्यक बाते न छोडते हुए उक्ति कैसे निभाई जाती है, यह चमत्कार बिहारी लाल मे है तथा वडे छन्द मे अनेक परन्तु भाव तथा भाषा के सौन्दर्य को वढाने वाले कथनो के साथ भाव विकास कैसे पाता है, यह अपूर्वता देव जी की कविता में है। बिहारी जी की कविता यदि जूही या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल का सुमन है। दोनो मे सुवास है।" वही पृ० २३६।

तुलना मे इनके जीवन की भी कोई बात छूटी नही है। दोनो कवियो के काव्य के रस, काल, मात्रा, छन्द, आश्रयदाता, पुरस्कार-प्राप्ति, इष्टदेव, आकार-प्रकार, लोक-प्रियता, ब्रजभाषा का प्रयोग आदि विषयो की भी तुलना की है। इनकी तुलना मे जीवन की आन्तरिक भावनाओ के विश्लेषण तथा इनके युग की परिस्थितियो के निर्देश के स्थान पर केवल जीवन की साधारण बातो का उल्लेख किया गया है।[1] इस प्रकार मिश्र जी की आलोचना मे शर्मा जी से अधिक प्रौढता है।

वे भी शर्मा जी की भाति कवियो मे भाव साम्य को अनिवार्य मानते है। वे मानते हैं कि ससार के महान् से महान् कवियो ने भी अपने पूर्ववर्त्ती कवियो के भावो को अपनाया है। वे उसी कवि को चोर कहते है, जो किसी कवि के भाव को ग्रहण करके उसे सुन्दर बनाने की अपेक्षा बिगाड देता है। वे तीन प्रकार का भाव-सादृश्य मानते है, सौन्दर्य-सुधार, सौन्दर्य-रक्षा तथा सौन्दर्य-सहार तथा इनमें से अन्तिम को ही बुरा समझते है। वे शृगार रस का वर्णन बुरा नही मानते तथा उसके महत्त्व का विशेष प्रतिपादन करते है, किन्तु अपने युग की नैतिकता के कारण उन्होने भी परकीया की अपेक्षा स्वकीया के प्रेम को ही उचित समझा है।[2]

लाला भगवान दीनः—

दीन जी प्राचीन परिपाटी के आलोचक थे, जिन्होने प्राचीन-साहित्य के सिद्धान्तो के आधार पर साहित्यालोचन किया है। इनकी आलोचना मे पाश्चात्य-तत्त्वो का समावेश नही है। द्विवेदी जी, शर्मा जी तथा मिश्र जी की भाति यह भी अपने युग की परिस्थितियो के द्वारा निर्मित है तथा इनकी आलोचना-शैली भी परम्परागत तथा सामयिक का मिश्रित रूप है। पुरानी टीका-परम्परा मे इन्होने केशव-कौमुदी, प्रिया-प्रकाश, बिहारी-बोधनी, मानस की टीका, दोहावली, छत्रसाल-दशक आदि टीकाए लिखी है तथा सूर-पच-रत्न, केशव-पच-रत्न, तुलसी-पच-रत्न, ठाकुर-ठसक, अन्योक्ति-कल्पद्रुम, विरह-विलास, स्नेह सागर, सूक्ति-सरोवर आदि ग्रन्थो का सम्पादन किया है। इन ग्रन्थो मे से कुछ की भूमिका मे इनकी व्यावहारिक आलोचना के दर्शन होते है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में इन्होने लक्षण-ग्रन्थ लिखे तथा व्यावहारिक के क्षेत्र में टीकाए तथा भूमिकाए। किन्तु दोनो प्रकार की आलोचना मे इनका दृष्टिकोण प्राचीन तथा परम्परागत ही है। आलोचक होने के लिए जिस विस्तृत ज्ञान तथा विद्वत्ता की आवश्यकता है, वे इनमें पूर्ण मात्रा मे विद्यमान थे। इसीलिए तुलनात्मक विवेचन में ये उर्दू, फारसी आदि का भी आधार लेते थे।

इन्होने टीकाओ के मूल पाठ देकर फिर उसके अर्थ तथा भावार्थ परम्परागत शैली मे दिए है तथा स्थान-स्थान पर छन्दो तथा अलकारो का निरूपण करके तुलनात्मक विचार तथा टिप्पणिया दी है। यही इनकी आलोचनाओ की सीमा है। इनमे कही-कही एक-एक

---

१ देखिए 'देव और बिहारी' (स० १९९५) पृ० १०२।

२ देखिए वही, पृ० ८१।

शब्द का विचार तथा उसके प्रयोग का निरीक्षण तथा पाठातर का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार इनकी टीका पद्धति मे व्याख्या के बीज तो है ही पर पाठ्य-सुधार सम्बन्धी आलोचना के प्रारम्भिक-रूप के भी दर्शन होने है। इसी प्रकार 'बिहारी बोधनी' मे बिहारी की भाषा मे बुन्देलखण्डी शब्दो के प्रयोग पर भी विचार किया गया है। इस शैली मे बीच-बीच मे किसी एक विपय को पकड कर, उसका विवेचन कर देने की स्वतन्त्रता है। इसीलिए बिहारी के दोहो के सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए ज्योतिष आदि की व्याख्या भी की गई है। वे कवि के सम्बन्ध मे कुछ निश्चय करने से पूर्व उसकी कृति का निरीक्षण करते है। कवि की जीवनी के सम्बन्ध मे विचार करते हुए वे ऐसे तथ्य कि बिहारी बुन्देलखड मे रहते थे या कही से आकर बसे थे आदि का भी विचार करते है तथा उनके प्रयुक्त बुन्देल-खण्डी शब्दो के आधार पर इसका निर्णय करते है। उनकी व्यावहारिक आलोचना मे शास्त्रीय मानदण्डो के आधार पर तुलना द्वारा निर्णय दिया गया है। वे बिहारी को इसलिए सर्वश्रेष्ठ श्रृगारी कवि मानते है कि वे प्रत्येक प्रकार की घटना को श्रृगार मे घटा सकते है। इसीलिए वे इनको देव से बडा कवि मानते है। इन टीकाओ मे भी वे अपने निजी विचार देते चलते है, जैसे कवितावली मे उन्होने यह विचार प्रकट किया है कि तुलसीदास की प्रत्येक पुस्तक किसी न किसी प्रकार के मनुष्यो के लिए लिखी गई है, जैसे रामचरित-मानस साहित्यिको, हरिभक्तो तथा प्रथम श्रेणी के मनुष्यो के लिए, विनयपत्रिका तथा गीतावली गायको के लिए तथा 'राम-लला नहछू' स्त्रियो के द्वारा गाए जाने के लिए तथा कवितावली भाटो के लिए लिखी गई है। इस प्रकार की बात उन्होने रुचि तथा अनुमान पर ही कही है तथा इसमे कोई तर्क नही है। तुलसी ने अपना काव्य इस प्रकार के पाठको के लिए पृथक्-पृथक् उद्देश्य से लिखा होगा, यह अनुमान ही भ्रान्तिपूर्ण है।

इसी प्रकार 'केशव-कौमुदी' मे निर्णयात्मक आलोचना के अनुसार उन्होने केशव को कवि, भक्त और आचार्य सिद्ध किया है। आचार्यत्व सिद्ध करने के लिए उन्होने यह प्रमाण दिया है कि आचार्यत्व के प्रदर्शन के लिए ही उन्होने बहुत से छन्दो का प्रयोग किया है। वे केशव के काव्य की कठिनाई का कारण उनका पाडित्य मानते है। केशव के सम्बन्ध मे उनका मत इस दोहे के द्वारा प्रकट किया गया है। यह दोहा उनकी 'केशव-कौमुदी' मे सिद्धान्त वाक्य के रूप मे प्रकाशित हुआ है

"सूर सोई जिन बाचियो केसव तुलसी सूर
सूर सोई जिन बाचियो केसव तुलसी सूर।"

इसी प्रकार 'सूर-सग्रह' मे उन्होने सूर की भाषा का विवेचन करके उनको भक्ति तथा गीति-काव्य का महाकवि माना है। इसमे भी उन्होने अपने स्वतन्त्र विचारो का प्रतिपादन किया है जैसे कि सूर ने कृष्ण चरित का विषय गाने की कामना से चुना है।

'सूर-पचरत्न', 'दोहावली' तथा 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' की भूमिकाए विस्तृत है। सूर-पच-रत्न मे भक्ति-काव्य, ब्रज-भाषा, सूर-साहित्य, सूर की शैली आदि विषयो का सरल तथा परिचयात्मक शैली मे विवेचन किया गया है।

दीन जी ने मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रारम्भ किए हुए देव और बिहारी के वाद-विवाद में भाग लिया तथा अपनी 'बिहारी और देव' पुस्तक में देव की कविता में वे ही दोष बताए, जो दोष बिहारी में मिश्रबन्धुओं ने निकाले थे। टीकाकार होने के कारण उन्होंने मिश्रबन्धुओं के अर्थों का भी खंडन किया है तथा पाठों का भी सुधार किया है।[1] इस पुस्तक का उद्देश्य ही मिश्रबन्धुओं के बिहारी में दिखाए दोषों का निराकरण करना है। उन्होंने बिहारी की अपेक्षा देव में भी दोष दिखाए हैं। उन्होंने देव द्वारा तोड़े-मरोड़े शब्दों की सूची देकर यह सिद्ध किया है कि शब्दों के तोड़ने के दोष से बिहारी मुक्त हैं।[2] इसी प्रकार उन्होंने देव के भावापहरण के भी उदाहरण दिए हैं तथा यह बताया है कि देव में भी बिहारी की भांति भावापहरण के दोष हैं। देव पर इन्होंने उसी पद्धति से दोषारोपण किया है, जिससे मिश्रबन्धुओं ने बिहारी पर दोष लगाए थे। इनकी इस तुलनात्मक विवेचना में भी मिश्रबन्धु तथा कृष्णबिहारी मिश्र जी की सी त्रुटियां हैं। इसमें भी इन्हीं की भांति पक्षपात, तुलना, निर्णय, रुचि का आधार, दोषारोपण, अपने पक्ष का समर्थन, तटस्थता तथा गम्भीरता का अभाव है। इन आलोचनाओं में इन आलोचकों ने केवल अपने पक्ष का समर्थन वकीलों की भांति झूठ सच बोल कर किया है। दूसरे पक्ष के प्रति सहृदयता तथा उदारता का व्यवहार नहीं किया है। दीन जी ने अवश्य देव के उन्हीं पदों का विवेचन किया है, जिनमें कुछ विशेष त्रुटियां थीं, किन्तु वे भी बिहारी को निश्चित ही देव से श्रेष्ठ मानते हैं। वे देव को बिहारी का टीकाकार बताते हैं। यह निश्चित ही पक्षपात है।

इस प्रकार दीन जी की व्यावहारिक-आलोचना में शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर तुलना तथा निर्णय की पद्धतियों का प्रयोग मिलता है। इनके निर्णयों में तर्क की अपेक्षा रुचि का व्यवहार अधिक मिलता है। इसलिए इनके निर्णय सर्वथा निष्पक्ष नहीं हैं। इनकी तुलना में भी जिस तटस्थता की आवश्यकता होती है, वह नहीं मिलती। इन तुलनाकारों का लक्ष्य निष्पक्ष-विवेचन नहीं, वरन् एक कवि के ऊपर दूसरे की श्रेष्ठता थोपना है। इन्होंने टीकाओं के द्वारा व्याख्यात्मक-शैली का प्रयोग किया है। इन टीकाओं में प्रायः सभी टीका-पद्धति के गुण-दोष वर्तमान हैं। पाठ-संशोधन तथा अर्थ-विवेचन की परवर्ती काल में होने वाली आलोचनाओं की ये टीकाएं प्रारम्भिक रूप कही जा सकती हैं। केशव, बिहारी, तुलसी आदि के काव्य का समुचित तथा विवेकसम्मत पाठ उपलब्ध करने के कारण इनका विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार इनके द्वारा इन कवियों के अर्थों के सौन्दर्य के अतिरिक्त अलंकार, रस आदि का परिचय भी कराया गया है, जिससे इनके काव्य की जानकारी बढ़ी है। इस प्रारम्भिक युग में यह भी कोई कम महत्त्व की बात नहीं है।

---

१ "नहीं महाराज। यह अर्थ तो नहीं है। ठीक अर्थ है 'चेपी जानी बछड़े से दूध पिलाए लेती हैं'।" बिहारी और देव (सन् १९२६) पृ० ५३ व ५५।

२ देखिए वही, पृ० १७-१८।

रामचन्द्र शुक्लः—

शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचनाए प्राय भूमिकाओ के रूप मे लिखी गई है। इतिहास के अतिरिक्त उन्होने सूर, तुलसी तथा जायसी पर पृथक् व्यावहारिक आलोचनाए लिखी हैं। इनकी आलोचना-पद्धति परम्परागत आलोचना की शैलियो से पृथक् है। इन्होने एक नवीन आलोचना के युगानुकूल स्वरूप को जन्म दिया। इनकी आलोचना की सबसे बडी विशेषता यह है कि इनके आलोचना के मानदण्ड पूर्णतया शास्त्रीय तथा परम्परागत ही नही है तथा इनकी निजी-प्रतिभा, मौलिक-सूझ तथा गम्भीर चिन्तन के परिणाम स्वरूप इनके द्वारा स्थापित हुए है। ये हिन्दी के प्रथम आलोचक है, जिन्होने हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना को हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर आधारित किया है। उनकी व्यावहारिक आलोचना भारतीय तथा पाश्चात्य विचारो के आधार पर प्रतिष्ठित होने पर भी अपनी मौलिकताओ से समृद्ध है। वे हिन्दी की एक विशिष्ट शैली के जन्मदाता है, जो उनकी व्यक्तिगत सत्ता तथा विशिष्टता से अंकित है। इनकी प्रतिभा का सब से बडा गुण उनकी मौलिकता तथा गम्भीर चिन्तन शक्ति है, जिसके कारण इनकी आलोचना पद्धति केवल रूढ ही नही रह गई है। वह प्रत्येक कवि की आलोचना के साथ बदलती जाती है तथा उसका स्वरूप निर्माण, पाश्चात्य, भारतीय, युगानुकूल तथा शाश्वत, सभी प्रकार के तत्त्वो से हुआ है। इन्होने आलोचना के आधार-स्वरूप, जो मानदण्ड हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य के आधार पर बनाए है, यद्यपि उनमे उनकी नवीनता, स्वतन्त्रता, चिन्तन, निजी दृष्टिकोण तथा मौलिक सूझ के दर्शन होते है, तथापि उन पर उनकी विशिष्ट रुचि की छाप भी विद्यमान है। उनकी आलोचना का स्तर पिछले आलोचको की परिचयात्मक, प्रशसात्मक, गुणदोष-विवेचन वाली पद्धतियो की आलोचना से विशेष रूप मे ऊचा है। उनकी सी गम्भीर विवेचन, विश्लेषण तथा चिन्तन की शक्ति हिन्दी आलोचना मे पहली बार दिखाई पडी।

उनकी सूर, तुलसी, जायसी की व्यावहारिक आलोचना निगमन शैली की होने के कारण, उनके मानदण्ड अधिकाश मे इन कवियो के रचनात्मक साहित्य के आधार पर ही निर्मित हुए है, किन्तु फिर भी उनके निजी विचार, आदर्श, रुचि, सस्कार, दृष्टिकोण, प्रकृति तथा वाह्य और आन्तरिक प्रभावो का भी प्रभाव उनके निर्माण के मूल मे है। हिन्दी मे पहली बार शुक्ल जी ने निगमन-शैली से किसी कवि की आलोचना मे, उसी के साहित्य के आधार पर मानदण्डो का निर्माण किया। किन्तु इन प्रयोगो मे पूर्ण तटस्थता, निष्पक्षता तथा वस्तुपरकता का अभाव है। इस प्रकार अपनी रुचि तथा आदर्श के अनुकूल उन्होने जो सिद्धान्त, प्रतिमान तथा मानदण्ड स्थापित किए, उनकी व्यावहारिक आलोचना प्राय उन पर ही आधारित है तथा नवीन और प्राचीन कवियो के काव्य का विवेचन उन्ही के आधार पर किया गया है। कभी-कभी उनकी रुचि का प्रदर्शन प्रत्यक्ष रूप मे भी हो जाता है। वहा उनकी आलोचना विवेचनात्मक न होकर निर्णयात्मक रूप धारण कर लेती है।

इनके निर्मित मानदण्डों में लोकधर्म अथवा लोकादर्शवाद का सिद्धान्त विशेष महत्त्व का है, जिसका निर्माण उन्होंने तुलसी के काव्य के आधार पर किया है। वे उस काव्य को श्रेष्ठ समझते हैं, जिसका विषय व्यक्तिगत-कल्याण को लक्ष्य में न रख कर अधिकाधिक लोक-कल्याण को सामने रखना है। उनके विचार में उसी काव्य का विषय सुन्दर है, जिसमें लोक-पक्ष का अधिकाधिक चित्रण हो। वे उसी काव्य, समाज, धर्म तथा साहित्य को श्रेष्ठ मानते हैं, जिससे लोक में अधिकाधिक व्यक्तियों का कल्याण हो। उनका यह सिद्धान्त तुलसी के काव्य तथा भक्ति के आदर्श पर निर्मित है। वे उनके सिद्धान्त को कि

"आप आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ
तुलसी सब कहँ जो भलो सुजन सराहिय सोइ।"

का ही साहित्य की आलोचना में प्रयोग करते हैं। वे तुलसी के समान गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म से लोक-धर्म अथवा विश्व-धर्म की भावना को श्रेष्ठ मानते हैं। उनका विचार है कि जैसे विश्व-धर्म का पालन करने वाले पूर्ण-पुरुष या पुरुषोत्तम है वैसे ही लोक-धर्म का लक्ष्य सामने रख कर काव्य करने वाला कवि महान् है।

उनका विचार है कि जिस काव्य का विषय जितने ही विस्तृत तथा विविध लोक-पक्ष को लेकर चलेगा, वह काव्य उतना ही प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण होगा। वे मानते हैं कि जो काव्य जीवन के जितने अधिक से अधिक अंगों को लेकर चलेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। इसीलिए उन्होंने निर्गुण-भक्त तथा रहस्यवादी कवियों को सगुण-भक्त कवियों से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। लोकसेवा के महत्त्व का प्रभाव उन पर कदाचित् तुलसी के अतिरिक्त गांधीवादी विचार-धारा से भी मिला है। उन्होंने काव्य की दृष्टि से तुलसी की श्रेष्ठता भी इसी आधार पर स्थापित की है। वे तुलसी को इसलिए भी श्रेष्ठ कवि मानते हैं कि उनके काव्य में राम का वह आदर्श है, जो लोक-रक्षक तथा लोक-रंजक दोनों रूपवाला है। वे सूर को तुलसी से इसीलिए श्रेष्ठ नहीं मानते कि उनके कृष्ण में लोक-रंजक स्वरूप की व्यंजना लोक-रक्षक स्वरूप से अधिक है। सूर के काव्य में जीवन की विविधता न होने के कारण भी उनका काव्य तुलसी से श्रेष्ठ नहीं माना गया है। उनकी यह भूल है कि वे किसी एक कवि के काव्य के सिद्धान्तों का प्रयोग, दूसरे कवि के काव्य तथा सिद्धान्तों के परखने के लिए करते हैं। यदि उन्हें आगमनात्मक प्रणाली के आधार पर ही मूल्यांकन करना था, तो सूर के काव्य का विवेचन पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों के आधार पर ही होना चाहिए था। एक कवि के काव्य के द्वारा गृहीत सिद्धान्तों का दूसरे पर आरोप करने से, उस काव्य की आत्मा प्रकट नहीं होती। काव्यालोचन के लिए या तो चिरन्तन तथा स्थायी सिद्धान्तों का प्रयोग होना चाहिए अथवा किसी कवि के काव्य के द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों का आधार, केवल उसके काव्य की आलोचना के लिए ही होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वे यह भी मानते हैं कि वह कवि श्रेष्ठ है, जिसका भक्ति का आदर्श श्रेष्ठ है। वे प्रेम-लक्षणा भक्ति से श्रद्धा-समन्वित-भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं तथा इसलिए उस काव्य को श्रेष्ठ समझते हैं, जो श्रद्धा-समन्वित-भक्ति की अभिव्यंजना करता है। प्रेम-लक्षणा-भक्ति का आदर्श लोकपक्ष से रहित होता है, इसलिए वे उसे उत्तम नहीं

मानते। उनका यह भी विचार है कि भक्ति-काव्य मे जितना भगवान् का स्वरूप पूर्ण होगा, उतना ही काव्य भी पूर्ण होगा। इसीलिए वे तुलसी के काव्य को श्रेष्ठ मानते है, क्योकि उनके राम, शील, शक्ति तथा सौन्दर्य के चरम स्वरूप है। इसी प्रकार वे सगुण भगवान् की भक्ति के काव्य को निर्गुण भगवान् की भक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। उनका विचार है कि निर्गुण-भक्ति-व्यक्तिगत है, इसलिए तुलसी की लोक-भावना के सिद्धात के विरोध मे आती है। अतएव उसका स्थान काव्य के विषय के अन्तर्गत गौण तथा कम महत्त्व का है। इस आधार पर, वे कबीर आदि निर्गुण कवियो के काव्य को महत्त्व नही देते। इस प्रकार की आलोचना एकागी होती है। उन्हे निर्गुण काव्य का विवेचन अपने सिद्धान्त पर न करके सत-कवियो की परिस्थिति, प्रकृति, सिद्धान्त तथा भाव-धारा के आधार पर करना चाहिए था। अपने किसी सिद्धान्त के आधार पर किसी काव्य का मूल्याकन करने वाले स्थलो पर, उनकी आलोचना निर्णयात्मक हो जाती है। इस प्रकार की आलोचना मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का भी अभाव है।

उनका प्रेम का आदर्श भी लोक-पक्ष के आदर्श के अन्तर्गत आता है तथा लोक-कल्याण की भावना से अनुरजित है। इस आदर्श पर भी तुलसी के चातक तथा मेघ के प्रेम के आदर्श का प्रभाव पडा है। इसी प्रेम के व्यापक आदर्श पर उन्होने सूर तथा जायसी के प्रेम-काव्यो की आलोचना की है। इसीलिए वे व्यापक तथा सर्वागीण प्रेम के आदर्श के कारण, तुलसी के प्रेम-वर्णन को कही-कही जायसी के प्रेम-वर्णन से अधिक महत्त्व देते है, क्योकि उनके विचार से वह तुलसी के प्रेम की अपेक्षा कही एकागी तथा सकुचित है। वे ऐकातिक प्रेम के विरोध मे है।[१] उनके प्रेम का आदर्श यही है कि वह जीवन को अधिक सुखमय बनाता है तथा जीवन की विभिन्न समस्याओ को सुलझाता है। इसी प्रकार वे शृगार के खुले तथा अमर्यादित वर्णन को भी अच्छा नही समझते। इसीलिए उन्हे जायसी का ऊहात्मक वर्णन अच्छा नही लगा है।[२] सूर के प्रेम के आदर्श मे श्रद्धा का अभाव होने के कारण उन्होने उसके प्रेम के चित्रण को तुलसी से अधिक महत्त्व नही दिया है।[३]

इसी प्रकार वे प्रबन्ध काव्य को मुक्तक काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है तथा प्रबन्धकार कवि को मुक्तक काव्य की रचना करने वाले कवि से अधिक महत्त्व देते है। उनका विचार है कि प्रबन्धकार कवि के काव्य मे लोक-पक्ष के आदर्श का समुचित निर्वाह हो सकता है। वे यह भी मानते है कि जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है तथा काव्य उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। किन्तु वाजपेयी जी आदि अन्य आलोचको ने इनके इस विचार को मान्यता नही दी है। उनका विचार है कि ससार का सम्पूर्ण समुन्नत काव्य अलौकिक तत्त्व को व्यजित करता है।[४] इनके प्रकृति सम्बन्धी विचारो को भी परवर्त्ती

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य—बीसवी शताब्दी' ले० नन्ददुलारे वाजपेयी (प्रथम सस्करण) पृ० ८४।

२ देखिए 'जायसी ग्रन्थावली' (स० २००६) पृ० ३६, ३७।

३ देखिए 'गोस्वामी तुलसीदास' (स० १९४०) पृ० ३१।

४ देखिए 'आधुनिक साहित्य' (स० २००७) पृ० २७७।

आलोचको द्वारा प्राय मान्यता नही मिली। इनका विचार है कि मानव-जीवन के पुराने सहचर, प्रकृति के पुरातन रूप, मानव की सोई हुई चेतना को, प्रकृति के नवीन रूपो से अपेक्षाकृत अधिक वेग से जगाने मे समर्थ है। प्रकृति चित्रण मे वाल्मीकि उनके आदर्श है। इनकी इस धारणा मे यह दोष है कि वे सदैव एक ही प्रकार के वर्ण्य-विषय तथा वर्णन प्रकारो को मान्यता देते है। वे यह भूल जाते है कि प्रत्येक देश तथा काल की अलग-अलग प्रेरक शक्तिया, रुचिया तथा प्रवृत्तिया होती है तथा काव्य की शैलिया भी उनके अनुसार ही बदलती रहती है।

वे साधारणीकरण का भी विशेष अर्थो मे प्रयोग करते है तथा रसात्मकता की ऊची नीची कई भूमिया मानते है। रामचरित-मानस के तीन पात्रो का उल्लेख करके, वे कहते हैं कि राम के चित्रण मे पाठक की वृत्ति रमती है तथा वह रसानुभव करता है, रावण के चित्रण मे वह रसानुभव करता है तथा सुग्रीव आदि के चित्रण मे अशत रसानुभव करता हैं। इनकी यह धारणा भारतीय आचार्यो के रस सम्बन्धी आदर्श के विरोध मे है तथा उनकी नैतिक दृष्टि और आदर्शो की सूचक है। इसी प्रकार के काव्य भावना तथा अभि-व्यजना अथवा भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष को पृथक् प्रक्रियाए मानते है तथा कुछ आधुनिक आलोचको के समान उनके समन्वय पर जोर नही देते। भारतीय रस-सिद्धान्त को आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण आधार मानने पर भी, उसके सवेदनात्मक स्वरूप पर उनकी दृष्टि नही गई। उनकी रस-समीक्षा, भाव-व्यजना अथवा अनुभूति पर आश्रित न होकर नैतिक तथा लोकवादी आधार को ग्रहण करती है। विशुद्ध काव्यात्मक भाव-सवेदन तथा काव्य की रचना-प्रक्रिया के विवेचन-विश्लेषण की अपेक्षा नैतिक-भाव सत्ता की ओर उनका ध्यान अधिक गया है।

शुक्ल जी ने द्विवेदी-कालीन नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का, जो द्विवेदीकालीन आलोचना की विशेषताए है, विकास किया है। वे आदर्श तथा नीति के समर्थक होने के कारण व्यवहारो के व्यक्त-सौन्दर्य के ही पारखी है। इसका अभाव उन्हे सूरदास के काव्य मे तथा छायावाद और रहस्यवाद मे मिलता है, इसलिए वे इनके प्रशसक नही है। वे भारतीय प्रवृत्ति मार्ग (क्रियाशील लोकधर्म) तथा निवृत्ति मार्ग (वैराग्य-मूलक निष्क्रिय आध्यात्मिकता) को एक ही भूमि पर खडी हुई दार्शनिक शाखाए न मान कर उन्हे परस्पर-विरोधिनी मानते है। उन्होने इस प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, ज्ञान तथा कर्म और व्यक्ति-साधना तथा लोक-धर्म, को पृथक्-पृथक् वस्तुए माना है। इस आधार पर वे सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य को व्यक्ति-साधना-सम्बन्धी तथा लोक-धर्म-सम्बन्धी नामक दो वर्गों मे बाट कर, उनमे से एक को मान्यता देते है। उनका प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का भेद तथा विवे-चन स्थूल मात्र है तथा उसमे कोई वैज्ञानिक, सास्कृतिक, व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार नही प्रदर्शित किया गया है। उनका लोक-धर्म का सिद्धान्त इसलिए स्थूल तथा मनोवैज्ञानिक है कि उसमे सूक्ष्म, दार्शनिक, सास्कृतिक, वैज्ञानिक तथा समाज-शास्त्रीय अध्ययन तथा परीक्षण का आधार नही लिया गया है। उनका अधिकाश चिन्तन तथा

विवेचन व्यक्तिगत रुचियो तथा प्रेरणाओ से ऊपर उठ कर वैज्ञानिक तथा सार्वभौम विचारधारा के अनुरूप नही बनता है।

शुक्ल जी की आलोचना मे उनकी व्यक्तिगत रुचि, धारणा, मान्यता तथा आदर्शो का विशेष स्थान है। वे व्यक्तिगत अथवा सास्कृतिक अभिरुचि तथा आदर्शो से तटस्थ रह कर, निष्पक्ष विवेचन नही कर सके। उन्हे कुछ सिद्धान्तो का विशेष आग्रह था, जिन पर वे दृढता से टिके थे। इसीलिए अपनी व्यावहारिक आलोचना मे वे काव्य के कलात्मक स्वरूप तथा कवि की मनोभूमि के विलेषण की अपेक्षा सिद्धान्तो के तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन से अधिक निरत रहे। इसीलिए नव-युग के सास्कृतिक तथा जटिल जीवन के सदर्भ मे, वे नवीन काव्य के मर्म को समझ कर स्पष्ट नही कर सके। वे द्विवेदी-कालीन आलोचना के आदर्शो के उन्नायक तथा हिन्दी की आलोचना के प्रौढ स्वरूप का निर्माण करने वाले तो है, किन्तु अपने जीवन-काल के नवीन युग की भावनाओ की गहराई की अनभूति उन्हे नही मिल सकी।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे शुक्ल जी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे अपने समय के प्रामाणिक तथा विशिष्ट महत्त्व-सम्पन्न आलोचक है। उन्हे हिन्दी में गम्भीर विश्लेषण, विवेचन तथा बुद्धि के आधार पर आलोचना की नवीन तथा प्रौढ शैली को जन्म देने का श्रेय है। उन्होने अपनी व्यावहारिक आलोचना से काव्यालोचन को नवीन रूप तथा शक्ति प्रदान की है। वास्तव मे हिन्दी जगत् ने बहुत अशो मे उनके दृष्टिकोण को अपना लिया है। यह उनकी प्रतिभा का परिणाम है कि नवीन छायावादी काव्य को अपना अस्तित्व जमाने मे विशेष समय लगाना पडा। उनकी आलोचना पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य-शास्त्र के गम्भीर परीक्षण तथा मथन के आधार पर प्राप्त सिद्धान्तो पर खडी है। उनकी तुलसी, सूर, जायसी आदि कवियो की आलोचना में पृथक्-पृथक् मानदण्डो के साथ-साथ रस, अलकार आदि भारतीय-तत्वो का आधार भी लिया गया है। इन आलोचनाओ मे कवि के विषय, भाव तथा कला-पक्ष, सब की आलोचना की गई है। उनकी आलोचना केवल निर्णयात्मक तथा गुण-दोष निर्देशक नही है। वह विश्लेषण, व्याख्या तथा विवेचन का आधार लेकर चलती है। वे एक ओर द्विवेदीकालीन समालोचना के आदर्शो के उन्नायक रूप को अपनाए हुए थे तथा दूसरी ओर छायावादी काव्य के नवीन आदर्शो तथा प्रक्रियाओ से प्रभावित थे। उन्होने साहित्य के मूल्याकन का, प्राचीन सर्वमान्य सिद्धान्तो अथवा युगानुकुल आवश्यकताओ के आधार पर ही प्रयत्न नही किया, वरन् कुछ शाश्वत तथा आदर्शवादी सिद्धान्तो को भी मान्यता दी है जो न तो केवल शास्त्रीय थे, न युगानुकूल। उनके पूर्व हिन्दी के आलोचक, रुचि, तुलना, नैतिकता, सरलता, स्वाभाविकता आदि के आदर्शो पर ही अपनी आलोचना को प्रतिष्ठित करते थे। शुक्लजी ने अपनी आलोचना के मानदण्डो तथा सिद्धान्तो का विकास करके आलोचना के सिद्धान्त-पक्ष को मौलिकता, नवीनता शक्ति तथा प्रसार दिया है। हिन्दी के तीन महाकवियो की व्यावहारिक आलोचना के लिए उन्होने परम्परागत किसी मानदण्ड का ज्यो-का-त्यो प्रयोग नही किया, वरन् पिछली आलोचना के दोषो तथा अभावो का निर्देश करके अपनी नवीन आलोचना-शैली स्थापित

की। इसीलिए उन्होने मिश्रबन्धुओ की स्थान-स्थान पर कटु आलोचना की है। उनके पूर्व आलोचना प्राय व्यक्तिगत थी। उसमे समाज के समष्टिगत रूप का आधार नही लिया गया था। उन्होने पहली बार हिन्दी आलोचना को व्यक्तिगत रुचि तथा व्यक्तिगत निरीक्षण की सकुचित सीमा से निकाल कर, सामाजिक भूमि की व्यापकता तथा एकता के आधार पर खडा किया।

डा० श्यामसुन्दर दास —

श्यामसुन्दर दास जी ने सैद्धान्तिक-आलोचना की भाति व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वे हिन्दी के उत्थान के प्रारम्भिक दिनो से ही लेखो, भूमिकाओ, पुस्तको आदि के सम्पादन के द्वारा साहित्य-सम्बन्धी विचारो का प्रतिपादन करते रहे। इनकी आलोचना प्राय लेखो, निबन्धो, इतिहास और आलोचना की पुस्तको मे मिलती है। हिन्दी भाषा और साहित्य, कबीर ग्रन्थावली की भूमिका, तुलसी दास, हिन्दी के निर्माता तथा हिन्दी निबन्ध-माला आदि ग्रन्थो मे इनकी व्यावहारिक आलोचनाए मिलती है। इनके शोध-सम्बन्धी तथा आलोचनात्मक लेख प्राय नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे छपते थे। इसी मे ये प्राचीन पुस्तको की शोधो का विवरण भी देते थे, जिसका हिन्दी-साहित्य के विकास मे योग देने के कारण कम महत्त्व नही है।

इनकी आलोचना मे हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर, शुक्ल जी के समान मानदण्ड स्थिर करने की प्रवृत्ति नही है। इसलिए इनकी आलोचना मे इनके स्वय निर्मित मानदण्डो का अभाव है। इनके सिद्धान्त तथा मानदण्ड न तो पूर्णतया भारतीय हे, न पाश्चात्य। यह व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे प्रथम प्रौढ आलोचक है, जिन्होने भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचना के मिश्रण के आधार पर अपनी आलोचना को आधारित किया है। इनका यह मिश्रण तर्क, विवेक, तुलना, विश्लेषण तथा परीक्षण के आधार पर हुआ है। इन्होने केवल उन्ही सिद्धान्तो की उपेक्षा की है, जिन का नवयुग के साहित्य के लिए महत्त्व अथवा उपादेयता नही है। इसी प्रकार इन्होने प्रत्येक पाश्चात्य-सिद्धान्त को भारतीय साहित्य की आलोचना के अनुकूल नही समझा है। शुक्ल जी ने भी पाश्चात्य सिद्धान्तो का तर्कपूर्ण रूप मे विवेचन तथा विश्लेपण किया था तथा उनमे जो अनुपयुक्त थे, उनका खडन किया था। उस प्रकार की खडनात्मक प्रवृत्ति इनकी आलोचना मे कम मिलती है। इन दोनो प्रकार के मानदण्डो को अपनाने पर भी उनकी प्रतिमा इतनी व्यापक तथा विशिष्ट नही थी कि वे उनको अपने व्यक्तित्व मे रग कर प्रकट करते। किसी विपय का सर्वांगीण विश्लेपण करके, उसकी चिन्तनपूर्ण व्याख्या तथा मूल्याकन करने की शक्ति उनमे शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक नही थी। उनकी व्यावहारिक आलोचना की शैली मे शिक्षक, प्रचारक, शोधकर्ता तथा व्याख्याता के रूप अधिक मिलते हे, गम्भीर आलोचक के कम। वे पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि मे हिन्दी साहित्य के विभिन्न तत्त्वो को समझ कर, उनकी स्पष्ट, सरल तथा स्वच्छ अभिव्यक्ति करने मे सफल हुए है। विभिन्न तत्त्वो तथा सिद्धान्तो के आधार पर किसी रचना को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि

वह मौलिक जान पडे उनकी शैली का विशेष गुण है। उनका 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है। वे सिद्धान्त तथा सामग्री इधर-उधर से अपनाते है तथा उसे सजाने, प्रतिपादित करने तथा अभिव्यक्त करने मे अपनी विशेष कला तथा शैली का प्रदर्शन करते है।

इन्होने कवियो के प्रामाणिक जीवन-चरित प्रस्तुत करने मे विशेष सफलता प्राप्त की है। अपने इतिहास में इन्होने कवियो की जीवनी के साथ-साथ उनके काव्य का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। काव्यालोचन मे रस, अलकार, भाषा, शैली के आधार पर विवेचन किया गया है। कही कही कवियो के काव्य का अध्ययन करके, उनके विषय-वस्तु की विशेषताओ का निर्देशन किया गया है तथा कही पाश्चात्य-काव्य की परिभाषा के आधार पर मूल्याकन किया गया है। रीतिकाल के काव्य का मूल्याकन उन्होंने तीन प्रकार से किया है, स्थायी साहित्य के आधार पर, अमर साहित्य के आधार पर तथा भारतीय साहित्यालोचन के आधार पर।[1] स्थायी तथा अमर साहित्य की इनकी व्याख्या पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर है तथा उसके सिद्धान्तो के ही आधार पर काव्य का मूल्याकन किया गया है, किन्तु वे यह भी आवश्यक मानते है कि किसी काल की आलोचना उस काल की परिस्थितियो तथा मानदण्डो के आधार पर करनी चाहिए। इनकी आलोचना कही परिचयात्मक आलोचना के प्रौढ रूप में सामने आती है, तो कही गम्भीर व्याख्या के रूप में। गूढ चिन्तन, विश्लेषण तथा विवेचन का अपेक्षाकृत अभाव होने के कारण, इनको शुक्लजी का सा महत्त्व नही मिल सका है। इनकी आलोचना की शैली में कही-कही खडन की भी प्रवृत्ति के दर्शन हो जाते है। काव्य को कला के रूप में ग्रहण करने पर भी इन्होने रस का प्रतिपादन विशेष प्रतिभा के साथ किया है तथा रस को भी काव्यालोचन का एक आधार माना है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी —

बख्शी जी ने किसी कवि पर विस्तृत रूप में समालोचना नही लिखी है। सरस्वती के सम्पादन-काल तथा उसके बाद में उन्होने जो हिन्दी के कवियो का पाश्चात्य कवियो से तुलनात्मक अध्ययन किया है, उसे ही उन्होने पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। आलोच्य-काल मे इस प्रकार के उनके ग्रन्थ, 'हिन्दी साहित्य विमर्श' तथा 'विश्व-साहित्य' हैं। इन निबन्धो में साहित्य के स्वरूप, जाति, भाषा, मूल तथा विकास का विवेचन और काव्य, विज्ञान, कला, नाटक तथा हिन्दी की गतिविधि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन निबन्धो मे इनके निजी सिद्धान्त तथा मानदण्ड कुछ नही है। इनमे प्राय अग्रेजी-साहित्य के कवियो तथा साहित्य के रूपो के आधार पर हिन्दी कवियो के काव्य तथा अन्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

इनकी आलोचना द्विवेदी जी, पद्मसिह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र तथा दीन जी, और शुक्ल जी तथा वाजपेयी जी की आलोचना के बीच के स्तर की है। पूर्ववर्ती आलोचको

---

१ देखिए 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (स० १९८७), पृ० ४३६, ४३८, ४४१।

की सी उनमे शास्त्रीयता नही है तथा परवर्त्ती आलोचको की सी प्रतिभा, चिन्तन-शक्ति तथा मौलिकता नही है। वे न तो अधिक प्राचीन हैं,न नवीन। प्राय उनके सिद्धान्त अंग्रेजी-साहित्य के सर्वमान्य सिद्धान्त है, जिनका आरोप वे हिन्दी पर करते है। वे कला की उपयोगिता नही मानते। उनके विचार से वह आनन्द की ही वस्तु है।[1] उनकी आलोचना-पद्धति मे भावो को केन्द्रीभूत करके सक्षिप्त रूप मे सामने रखने की अपेक्षा प्रसार तथा विषयान्तर की प्रवृत्ति अधिक है। इसीलिए कमी-कमी वे मल-विषय की सीमा के पार पहुच जाते है। उनकी आलोचना शैली में उनकी विद्वत्ता तथा अध्ययन की झलक मिलती है। जिस प्रकार श्यामसुन्दर दास तथा गुलावराय अध्यापक-आलोचक कहे जा सकते है, वख्शी जी, द्विवेदी जी की भाति सम्पादक-आलोचक कहे जा सकते है। सम्पादक-आलोचक मे साहित्य के गम्भीर तथा गूढ विषयो मे, गम्भीरता के साथ सीमित रहने का अवकाश नही होता। उसके कार्य में गहराई की अपेक्षा प्रसार तथा फैलाव अधिक आ जाता है। बख्शी जी की आलोचना भी इसी प्रकार की है।

डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल —

वडथ्वाल जी ने विद्यार्थी जीवन मे ही एक विस्तृत निबन्ध 'छायावाद' पर लिखा था। 'दी निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री' इनका डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इनके अन्य ग्रन्थ प्राय आलोच्य-काल के पश्चात् प्रकाशित हुए। निर्गुण भक्ति-काव्य के क्षेत्र मे इनका शोध-पूर्ण कार्य विशेष महत्त्व का है तथा इस काव्य पर नवीन प्रकाश डालता है। उनकी आलोचना, वैज्ञानिक, गम्भीर, गवेषणात्मक तथा तल-स्पर्शिनी है। वे जिस विषय को लेकर चलते है, सम्पूर्ण रूप मे परखकर देखते है। उनकी आलोचना अधिकाश में शोधपूर्ण लेखो, भाषणो, भूमिकाओ तथा निबन्धो में प्राप्त है।

नन्ददुलारे वाजपेयी —

वाजपेयी जी से पूर्व आधुनिक हिन्दी साहित्य की आलोचना का कार्य अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न नही हुआ था। शुक्ल जी ने आधुनिक साहित्य का सर्वागीण विवेचन नही किया था तथा केवल अपनी पूर्व-निश्चित दार्शनिक धारणाओ के आधार पर उस पर समय-समय पर विचार प्रकट किए थे। उन्होने केवल उसके अभिव्यक्ति-पक्ष पर ही दृष्टि-पात किया था। वाजपेयी जी हिन्दी के पहले आलोचक है, जिन्होने नवीन साहित्य का सर्वाङ्गीण विवेचन, इस साहित्य की प्रेरक शक्तियो के दर्शन करके तथा नवीन व्यक्तित्वो और नए विकास के अनुरूप, उनकी रचनाओ की वास्तविक छानबीन करके किया। शुक्ल जी की भाति इस साहित्य की आलोचना में इनकी बधी हुई धारणाए इनकी सीमा नही

---

१ "कालिदास का मेघदूत या शाहजहा का ताजमहल भारतीयो की कोई भी आवश्यकता पूर्ण नही करता, उनसे केवल आनन्द की ही प्राप्ति होती है।" सरस्वती भाग २९, पृ० ३६८।

बनी। इन्होंने प्रत्येक कवि, लेखक तथा रचना को अपने निजी स्वरूप मे स्वतन्त्रता से परखा और समझा। बीसवी शताब्दी के प्रसरणशील तथा नवोन्मेषपूर्ण साहित्य के लिए, जिस प्रकार के गम्भीर तथा उदार विश्लेषण, निरीक्षण, परीक्षण तथा मूल्याकन की आवश्यकता थी, जिस ऐतिहासिक अध्ययन की अपेक्षा थी तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन की तटस्थता की अनिवार्यता थी, वह वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति मे पूर्ण रूप से थी, इसलिए वे आधुनिक-साहित्य के सर्वप्रथम प्रौढ आलोचक के रूप मे आलोचना के इतिहास मे प्रतिष्ठित हो सके। इन्होने शुक्ल जी की भाति लोकादर्शवाद, प्रबन्ध-काव्य की श्रेष्ठता, नैतिक आदर्शवाद आदि सिद्धान्तो से अपने को वाध कर साहित्यालोचन नही किया, वरन् जीवन के वैचित्र्य और वहुरूपता, लोकादर्शो की ऐतिहासिक-प्रगति और परिवर्तन तथा काव्य के स्वरूप के नवीन विकास तथा विन्यास का अध्ययन करके, अपने आलोचना-कार्य को सम्पादित किया।

शुक्ल जी ने प्राचीन तथा मध्य-युग के साहित्य के परखने के लिए, जो उदात्त तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त और आदर्श स्थापित किए थे, वे यद्यपि हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर निर्मित होने के कारण अपना ऐतिहासिक तथा सामयिक मूल्य रखते है, किन्तु उनसे उनकी आलोचना मे एक प्रकार की एकागिता, एकरूपता तथा निजी विचारो की छाप आ गई है। इसके विपरीत वाजपेयी जी ने बदलते हुए साहित्य के लिए वदलते हुए मानदण्ड अपनाए। इसलिए इनकी आलोचना रूढ, सिद्धान्तयुक्त तथा एकरूप नही है। आधुनिक साहित्य की आलोचना का इनका उद्देश्य सामयिक प्रेरणा का निरूपण तथा साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना है।[1] वास्तव मे ये हिन्दी के पहले प्रौढ आलोचक है, जिन्होने साहित्य की आलोचना मे सामयिक प्रेरणाओ के अध्ययन तथा रचनाकार की मानसिक प्रक्रिया के निरीक्षण की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनकी प्रथम प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' मे रचयिताओ की वास्तविक रचना-क्षमता को स्पष्ट करके उनकी स्थिति मे सामजस्य स्थापित किया गया है। इसमे जिन साहित्यकारो की आवश्यकता से अधिक उपेक्षा हो रही थी, उनकी प्रगसा की गई है तथा जिनकी बेहद प्रशसा हो रही थी, उनके सम्बन्ध मे दूसरा पक्ष सामने रखा गया है। इस प्रकार की प्रशसा तथा अप्रशसा के द्वारा उन्होने रचयिता के व्यक्तित्व को ही सीमित और साकार करने तथा उसकी वास्तविक रचना-क्षमता को स्पष्ट करने

---

१ "यदि एक ही वाक्य कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निवन्धो का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण मे भी उदासीन नही रहा है। मेरी समझ मे समस्त वादो के पूरे साहित्य-समीक्षा का प्रकृत पथ यही है, इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सास्कृतिक मूल आका जा सकता है।" 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' ले० नन्ददुलारे वाजपेयी (प्र० स०) पृ० २९।

के प्रयत्न किए है।[1] इसमें केवल यही लक्ष्य नही रखा गया है कि जिसकी उपेक्षा की गई हो उसकी प्रशसा की जाए तथा जिसकी प्रशसा की गई हो उसकी निन्दा की जाए। ऐसा तो किसी सत्समालोचना का लक्ष्य नही हो सकता। इस पुस्तक के निबन्धो मे चार साहित्यिक पीढियो का पृथक्करण तथा इनमें से प्रत्येक की विशेष प्रवृत्तियो का उल्लेख किया गया है।[2] इसमें प्राय सभी लेखको के साहित्यिक व्यक्तित्व, विशेषत्व और विकास-क्रम की व्याख्याए तथा उनकी कृतियो का समग्र और तुलनात्मक विवेचन तथा मूल्याकन किया गया है। इसमें इन्होने प्रसाद, निराला और पत के काव्य को अपने विवेचन का केन्द्र बनाया हैं तथा अन्य कवियो और लेखको को इसी केन्द्र की परिधि के रूप मे ग्रहण किया है, क्योकि ये ही आधुनिक हिन्दी में स्वच्छन्द भाव-धारा के प्रतिनिधि कवि है। इस पुस्तक मे इन्होने किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन या साहित्य-दर्शन की भूमिका प्रस्तुत नही की है, केवल हिन्दी साहित्य की नव्यतम भाव-भूमिका में प्रवेश करके, उसके मूलवर्त्ती तथ्यो को प्रकाश में लाने का ही प्रयत्न किया है।[3]

इन्होने व्यावहारिक-आलोचना के अपने निजी-दृष्टिकोण तथा आधार को भी स्पष्ट किया है। 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' के वक्तव्य में इन्होने अपनी समीक्षा-प्रणाली के तत्त्वो का निर्देश भी किया है। इनकी व्यावहारिक आलोचना का उद्देश्य किसी रचना में उसके कविं की अन्तवृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्प), उसकी मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता तथा विशालता (कलात्मक-सौष्ठव), उसकी कृति की रीतियो, शैलियो और रचना के वाह्य अगो, समय, समाज तथा उनकी प्रेरणाओ, कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो तथा उसके जीवन-सम्बन्धी सामजस्य तथा सन्देश का अध्ययन करना रहा है।[4] इस प्रकार वे किसी कृति के भाव तथा कला-पक्ष दोनो का विवेचन, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक पद्धतियो से करना उचित समझते है। इस पुस्तक की आलोचना मे लेखको की वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनियो, क्रियाकलापो, मनोभावनाओ, धारणाओ, विचारो और जीवन-सम्बन्धी आदर्शो के अध्ययन का भी प्रयत्न किया गया है, किन्तु इसका विकास आलोच्य-काल के पश्चात् प्रकाशित आलोचनाओ मे विशेप रूप से दिखाई पडता है। इस पुस्तक में आधुनिक साहित्य के विवेचन तक सीमित रहने के कारण अधिक विभिन्न काव्य-रूपो तथा शैली-भेदो का निरीक्षण नही किया गया है। किन्तु प्रत्येक रचना में, जिसे वे भावात्मक रूप-सृष्टि कहते है, वे रचनाकार के जीवन के अनुभवो तथा मतव्यो की परीक्षा तथा व्याख्या करना ठीक मानते है और उस रचना की रूप-सृष्टि मे अनुक्रम, अग-सगति, बोध-गम्यता, विविध नैतिक तथा दार्शनिक धारणाओ,

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी'—विज्ञप्ति (प्र० स०) पृ० ३० ।
२ देखिए 'नया साहित्य, नए प्रश्न'—ले० नन्ददुलारे वाजपेयी (स० २०११) पृ० १ ।
३ देखिए वही, पृ० १० ।
४ देखिए 'हिन्दी साहित्य · बीसवी शताब्दी', विज्ञप्ति (प्र० स०), पृ० २९ ।

अलकारो तथा प्रसाधनो के निरीक्षण के कार्य को कवि के कार्य से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है, क्योकि कवि अपने काव्य के लिए उत्तरदायी होता है और आलोचक अपने युग की सम्पूर्ण चेतना के लिए जिम्मेदार होता है। वे आलोचक को साहित्य का सरक्षण करने वाला, उसकी प्रगति का पुरस्कर्त्ता तथा जातीय जीवन का नियामक मानते है। उनकी व्यावहारिक आलोचनाओ मे उनके ही आदर्श का पालन हुआ है। इस पुस्तक मे उन्होने आधुनिक युग के जीवन तथा काव्य का एक विकासशील प्रतिमान ग्रहण किया है, यद्यपि इसकी आलोचना में कुछ रुचि की प्रमुखता के कारण एकागिता भी आ गई है तथा जिसे उन्होने परवर्त्ती काल में सुधारने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में उनकी यह धारणा रही है कि काव्य का महत्त्व काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नही। वे मानते है कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता, स्वतन्त्र प्रक्रिया और परीक्षा के स्वतन्त्र साधन है। उनका कथन है कि "काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सृजनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष, अपकर्ष का नियत्रण बाह्य, स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक सस्कार और आदर्श थोडी मात्रा मे कर सकते है।"[1] इस प्रकार वे काव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व की सत्ता तथा उसके महत्त्व को उसके अन्तर्गत मानकर आलोचक की निगमनात्मक शैली को उचित समझते है, क्योकि उसके द्वारा काव्य की आलोचना उसके द्वारा प्राप्त सिद्धान्तो तथा सत्यो से ही हो सकती है, किसी प्रकार के ऊचे से ऊचे सिद्धान्तो तथा मानो के द्वारा नही। इसीलिए उन्होंने एक कवि के रचनात्मक साहित्य के द्वारा प्राप्त सिद्धान्तो को दूसरे कवि के काव्य के परीक्षण का आधार नही बनाया है।

वे अपनी व्यावहारिक आलोचना के आदर्श की व्याख्या करते हुए लिखते है कि "साहित्यिक रचना की समीक्षा का आदर्श यह नही होना चाहिए कि वह वस्तु किस व्यक्ति-विशेष या लक्ष्य-विशेष से लिखी गई है, न यही कि वह हमें अच्छी लगती है या नही। एक मात्र आदर्श उक्त रचना मे प्राणो के स्वरूप का दर्शन करना उसी की समीक्षा करना होना चाहिए। अत प्रत्येक रचना का व्यक्तित्व, उसकी निजता, उसकी प्रमुख-आकृति ,उसका तारतम्य समझ लेने के पश्चात् ही उसकी आलोचना की जानी चाहिए।"[2] वे व्यावहारिक आलोचना मे आलोचक की स्वतन्त्र रुचि के विरोध मे नही है। उनका कथन है कि "व्यावहारिक आलोचना का मुख्य कार्य यही है कि वह प्रत्येक कवि का अपना सौन्दर्य जो कुछ उसमे है, उद्भासित कर दे और इस दृष्टि से आलोचक अपने द्वारा उठाए हुए काम के दायरे मे बधा हुआ भी है। पर मै यह भी मानता हू कि प्रत्येक समीक्षक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रख सकता है। और इस हैसियत से वह अपनी रुचि के अनुसार अपना निजी वक्तव्य और सन्देश भी सुना सकता है। उसका यह दोहरा कार्य-कलाप अथवा व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य है। एक मे वह मुख्यत. दोषो को सामने रखता

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' (वक्तव्य), पृ० ८ ।

२ देखिए वही, पृ० १५१ ।

है और दूसरे मे वह अपनी रुचि या पद्धति के अनुसार स्वतन्त्र होकर, जो चाहता है पढता है और जो चाहता है वह लिखता है। किसी कृति की समीक्षा करते हुए तो उसे अपनी स्वतंत्र रुचि का विज्ञापन करने का अधिकार नही होता पर अन्य समयो मे वह ऐसा कर सकता है। कभी-कभी समीक्षा के इस दोहरे आचरण से भ्रान्ति भी फैलने की सम्भावना रहती है, किन्तु इस कारण वह अपनी स्वतन्त्र अभिरुचि का समर्पण नही कर सकता। हा, किसी विशेष कला-रचना की विवेचना करते समय उसे अपनी अभिरुचि काम मे नही लानी चाहिए।'[1] उनका विचार है कि शुद्ध तथा सूक्ष्म बुद्धि से उद्भावित समीक्षा परिष्कृत, स्वस्थ तथा पुष्ट मस्तिष्क की ही उपज होती है तथा जिसने वास्तविक तत्त्व का अनुसधान किया है, वही आलोचक ऐसी आलोचना लिख सकता है। आलोचक को काव्य मे जीवन की समुज्ज्वल आह्लादिनी अभिव्यक्ति देखनी होती है। वह यही देखता है कि कवि ने जीवन-सौन्दर्य की कला पाठको के हृदय मे खिला दी है या नही। इस प्रकार उन्होने प्रत्येक कृति को अपने निजी दृष्टिकोण के आधार पर तटस्थ होकर भावात्मक तथा ऐतिहासिक रूप मे देखा है। उनके विचार प्रत्येक कृति के साथ-साथ युग तथा सास्कृतिक भूमि के आधार पर बदलते गए है। उनके साहित्यालोचन मे भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो आदर्शों का मिश्रण उनकी निजी प्रतिभा के अनुकूल हुआ है। उनका विचार है कि किसी साहित्य की मौलिकता अन्य साहित्य की आलोचना के प्रभावो से नष्ट नही होती?[2]

वाजपेयी जी की प्रारम्भिक आलोचना मे उनकी सुधारात्मक तथा निर्णयात्मक शैली के भी दर्शन होते है। अपने समय की आलोचना के अभावो को उन्होने सुधारक की भाति ही देखा है। वे मनोविश्लेषणात्मक तथा समाजवादी आलोचना के विरोधी है। उनके विचार से मनोवैज्ञानिक-आलोचना ऐकातिक तथा व्यक्तिमुखी है, क्योकि यह किसी कृति का उस युग के धर्म, दर्शन तथा सस्कृति से सम्बन्ध नही देखती है। वे इसे स्वस्थ, वाह्यमुखी तथा स्वच्छन्द-साहित्य का मानदण्ड नही मानते। इसी प्रकार से वे वर्ग-वादी समाज-शास्त्रीय आलोचना का भी सीमित कार्य-क्षेत्र मानते है, क्योकि वह सूर, तुलसी जैसे महान् कवियो की प्रतिभा को अपनी सीमा मे नही समा सकती, क्योकि इन कवियो की महान् प्रतिभा वर्ग-विभाजन के दर्शन से ऊपर उठकर समस्त मानवता की वस्तु है। इसी प्रकार वे जीवन-चरितात्मक आलोचना का काम भी एकागी ही मानते है तथा यह आवश्यक समझते है कि उसके द्वारा प्राप्त तथ्यो की पुष्टि अन्य प्रमाणो द्वारा अवश्य होनी चाहिए।

हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना के इतिहास मे वाजपेयी जी का स्थान विशेष महत्त्व का है, क्योकि इन्होने सबसे पहले नवीन साहित्य का, जिसकी अब तक प्राय. आलोचको द्वारा उपेक्षा हो रही थी, नवीनतम आलोचना की पद्धतियो तथा जीवन साहित्य के अनुकूल शैली तथा कला को अपना कर, विवेचन किया है। इन्होने आधुनिक युग के

---

१ देखिए 'माधुरी' वर्ष १, खड १, पृ० १८२।

२ देखिए वही, पृ० १०६।

साहित्य को नए युग की आवश्यकताओ के अनुकूल, विश्लेषण-समारोह, ऐतिहासिक-अध्ययन, मनोवैज्ञानिक तटस्थता तथा सामाजिक-प्रेरणा के अनुरूप प्रस्तुत करके साहित्य के इतिहास मे उसका सही मूल्य निर्धारित किया है। इन्होने छायावादी काव्य को हिन्दी का एक नया कला-आन्दोलन, 'रिनेसा' माना है तथा वे इस कला-आन्दोलन के प्रमुख तथा प्रौढ व्याख्याता तथा दार्शनिक है। 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' के पश्चात् इनकी 'जयशकर प्रसाद' पुस्तक निकली। इसमे इनकी वस्तुमुखी दृष्टि का अधिक विकास हुआ है तथा यथार्थवाद को विशेष अनुभूति के साथ अपनाया गया है। इसके पश्चात् वाजपेयी जी की अन्य रचनाओ में नाटक, उपन्यास, प्रबन्ध-काव्य आदि अन्य रूपो का भी विवेचन हुआ है।

प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र.—

मिश्र जी शुक्लोत्तर आलोचना के दृढ स्तम्भो मे से है। इन्होने शुक्ल पद्धति की आलोचना का निर्वाह ही नही किया, वरन् उसे अधिकाधिक सामयिक तथा प्रौढ बनाया है। वे शुक्ल जी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण के समर्थक है। इन्होने उनके दृष्टिकोण को पूर्णतया स्पष्ट ही नही किया है, वरन् उनके सम्बन्ध मे फैली हुई भ्रान्तियो का भी निराकरण किया है। इनकी आलोचना के स्वरूप के निर्माण मे दीन जी की प्रेरणा, शुक्ल जी का प्रभाव तथा स्वय इनका विशाल पाडित्य तथा भारतीय आलोचना की परम्परा का पूर्ण आधार दिखाई पडता है।

इनकी आलोचना का प्रारम्भिक काल स० १९८८ के लगभग है, जिसका समारम्भ टीकाओ, दीपिकाओ तथा टिप्पणियो से आरम्भ होता है। भूषण-ग्रन्थावली, कविता-वली, सुदामाचरित की भूमिकाए स० १९८८ की है तथा हमीर हठ स० १९९० की है। सम्वत् २००० में इन्ही टीकाओ की परम्परा मे 'घनानन्द कवित्त' प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका मे घनानन्द की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्देश विचारात्मक तथा ऐतिहासिक शैली में हुआ है। इसमे घनानन्द का रीति मुक्त कवियो मे स्थान निर्धारित करके, उनकी शैली, भाषा, छन्द आदि के आधार पर उनका काव्य-विवेचन किया गया है। इनकी यह भूमिका इनके चिन्तन का उज्ज्वल परिणाम है। स्वतन्त्र ग्रन्थो में सम्वत् १९९३-९४ में 'बिहारी की वाग्विभूति' तथा १९९९ मे 'वाड्मय विमर्श' लिखा गया। 'पद्माकर पचामृत' की भूमिका मे कवि का प्रवन्ध-विधान, अलकार-निरूपण, नायिका-भेद, रस एव भाव-निरूपण, शृगार भावना, चित्रण, भक्ति-भावना, प्रभाव आदि शीर्षक से उनकी आलोचना प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार इनके मानदण्ड कवि के काव्य के अनुसार ही निर्मित हुए है, इसीलिए पद्माकर के काव्य को शृगार, नायिका-भेद, अलकार-निरूपण के आधार पर तोला गया है। प्रारम्भ मे जीवन-चरितात्मक आलोचना के अनुसार उनके जीवन का उनकी कृतियो से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इन्होने पद्माकर की भाषा को हिन्दी के सभी कवियो से श्रेष्ठ माना है किन्तु उसका प्रमाण नही दिया है।[1] इनके चित्रण के

१ देखिए 'पद्माकर-पचामृत' (सन् १९३५), पृ० १०८।

अन्तर्गत भावो तथा स्वरूपो के चित्रण के उदाहरण दिए गए हैं। इन्होंने पद्माकर की श्रृगार भावना को भद्दा नही बताया है, यद्यपि विपरीत रति 'नीबी सभालना' आदि का वर्णन परम्परागत माना गया है। ये दोनो बाते विरोधात्मक है।

शाँतिप्रिय द्विवेदीः—

द्विवेदी जी का आलोचना जगत् मे प्रादुर्भाव उस समय हुआ था, जब छायावाद युग का प्रवर्त्तन हो चुका था। उस समय एक ओर छायावाद का मूल्याकन प० नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे प्रतिभासम्पन्न युवक ने दर्शन, शास्त्र, भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्डो के आधार पर अपनी व्यापक तथा तलस्पर्शिनी कलात्मक दृष्टि से किया तथा दूसरी ओर भावुकता तथा सहृदयता के आधार पर शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे युवक ने। इनकी आलोचना के आधार, शास्त्र, परम्परा, तर्क तथा दर्शन की अपेक्षा सहृदयता, भावुकता तथा भावावेश अधिक थे। किन्तु इन आधारो पर भी उन्होने छायावादी काव्य की स्तुत्य व्याख्या की हैं।

इनकी आलोचना-प्रणाली पर छायावाद, विशेषकर पत जी के काव्य तथा शैली का विशेष प्रभाव पडा। इनके कलात्मक दृष्टिकोण के निर्माण मे पत जी की सुकुमार सौन्दर्य-चेतना तथा कोमल-भावना का विशेष महत्त्व है। छायावादी-काव्य इनके जीवन के विशेष निकट था, इसलिए यह उसके सफल व्याख्याता बन सके। वे छायावाद मे अपने ही जीवन का साकल्य लेकर चले है। उनकी आलोचना-शैली प्रमुखतया व्याख्यात्मक हैं। उनकी आलोचना का क्षेत्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य तथा उसमे भी विशेष रूप से काव्य है। उनका मानसिक-सस्थान कविता के आलोचक के अनुरूप है। उनकी आलोचना मे भावुकता के साथ-साथ चिंतन की मात्रा भी विशेष परिमाण मे रहती है।

द्विवेदी जी की आलोचना मे उनके व्यक्तित्व की छाया स्पष्ट दिखाई पडती है। उनका यह व्यक्तित्व, समय तथा परिस्थितियो के साथ-साथ परिवर्तित हुआ है, इसलिए उनका दृष्टिकोण भी परिवर्तित होता रहा है। उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे घटनाओ तथा व्यक्ति-विशेषो का हाथ रहा है। इसलिए उनकी आलोचना व्यक्तित्वपूर्ण है, पूर्णतया तटस्थ, परोक्ष तथा सामूहिक नही। उनकी व्याख्यात्मक आलोचना निबन्धो के रूप में प्रस्तुत हुई है। वे आत्म-प्रधान लेखक है। छायावादी कवि जितना काव्य क्षेत्र मे वैयक्तिक है, ये भी उतने ही आलोचना के क्षेत्र मे वैयक्तिक है। इनकी पद्धति सामान्य, सामूहिक तथा व्यापक नही, विशिष्ट, व्यक्तिगत तथा केन्द्रित है। यह प्रवृत्ति इस युग के अनुकूल ही है।

इनकी 'हमारे साहित्य निर्माता' मे सरस तथा सुबोध शैली मे आधुनिक हिंदी के कुछ विशिष्ट कवियो तथा साहित्यकारो का परिचय दिया गया है। 'कवि और काव्य' मे 'काव्य-चिन्तन', 'प्राचीन हिन्दी कविता' और 'आधुनिक हिन्दी कविता' नामक निबन्ध महत्त्वपूर्ण है। इन निबन्धो मे लेखक की रुचि, प्रवृत्ति तथा मानसिक सस्थान की प्रधानता है। 'साहित्यिकी' के निबन्धो में रचनात्मक-साहित्य का सा रस है। इसमे साहित्य के

विभिन्न विषयो पर वैयक्तिक रूप मे गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। इन निबन्धो की शैली मे बौद्धिकता तथा भाव-प्रवणता का सयोग है। 'युग और साहित्य' मे उत्तर-द्विवेदी-काल की हिन्दी के साहित्य की धारा को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे देखा गया है। उन्होने उत्तर-द्विवेदी-काल को 'गाधी-रवीन्द्र युग' की सज्ञा दी है तथा इस युग की चरम परिणति पन्त और महादेवी मे मानी है। इनके निर्णय इनकी व्यक्तिगत रुचि तथा धारणा के द्योतक है। इनका प्रसाद तथा निराला के विशेष महत्त्व को स्वीकार न करना एकागिता का ही परिचय देना है। इसी प्रकार इनकी यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है कि छायावाद की रचनाओ के लिए कोई स्थिर शास्त्र नही बन सकता।

गुलाबराय:—

गुलाबराय जी ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनो आलोचनाओ के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी व्यावहारिक-आलोचना के मानदण्डो मे भी श्यामसुन्दर दास जी की भाति पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यालोचन के सिद्धान्तो का समन्वय है। इन दोनो आलोचको ने सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यालोचन के आधार पर लिखे है, इसलिए इनकी व्यावहारिक-आलोचना मे भी दोनो का समन्वित रूप मिलता है। इन्होने पाश्चात्य साहित्यालोचन के केवल उन्ही सिद्धान्तो को अपनाया है, जो भारतीय साहित्य की परम्परा तथा आदर्शों के अनुकूल है। इनके व्यावहारिक आलोचना के ग्रन्थ प्रबन्ध-प्रभाकर, प्रसाद की नाट्य-कला, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, हिन्दी काव्य-विमर्श हैं। इन आलोचनाओ मे प्राय उन्ही सिद्धान्तो का व्यवहार किया गया है, जिनका प्रतिपादन उनके सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रथो में किया गया है। 'प्रबन्ध प्रभाकर' मे विद्यार्थियो से सम्बन्ध रखने वाले साहित्यिक निबन्धो का सकलन है। आलोच्य काल मे निबन्धो की यह विशेष उपयोगी पुस्तक रही है। ये भी श्यामसुन्दर दास के समान अपनी आलोचना में अध्यापको की सी शैली का प्रयोग करते है। इस शैली मे वे सरल तथा स्पष्ट रूप मे विषयो का विवेचन, विश्लेषण और व्याख्या करते हैं तथा किसी भी जटिल और गूढ विषय को बोधगम्य तथा सटीक बनाते हैं। इस शैली की यह विशेषता है कि पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि वह आलोचना की पुस्तक स्वय समझ कर नही ग्रहण कर रहा है वरन् यह तथ्य लेखक द्वारा समझाए जा रहे है। इस प्रकार की आलोचना मे तर्क-पूर्ण रूप मे गम्भीर-विवेचन तथा विश्लेपण और नए-नए तथ्यो पर विचार नही होता है। इनमे पूर्ववर्त्ती युग की सी दोप-दर्शन की प्रवृत्ति भी नही है। इनकी आलोचना गुण-दोष के निर्देश के ऊपर उठी हुई है। यदि कही किसी दोप का निर्देश करना ये आवश्यक भी समझते है, तो केवल व्यग्य मात्र करके छोड देते हे। इन्होने भी श्यामसुन्दर दास जी की भाति नवीन सिद्धान्तो तथा मानदण्डो की उद्भावना नही की, वरन् प्रमुख भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तो पर ही व्याख्या तथा मूल्याकन किया है। इनके सिद्धान्तो में नैतिकता का आधार लिया गया है। यह इन पर इनसे पूर्व के युग का प्रभाव पडा है।

इनकी व्यावहारिक आलोचना व्याख्यात्मक तथा निर्णयात्मक है। व्याख्या मे कही-कही जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि आलोचनाओ का प्रयोग किया गया है। इन आलोचनाओ मे कवि के उद्देश्य तथा दृष्टिकोण को समझने का विशेष प्रयत्न किया गया है। उनके विषय, भाव, कथन, सूक्तियो आदि के परीक्षण के साथ-साथ भाषा, अलकार, रस, लक्षणा, व्यजना आदि का भी निरीक्षण किया गया है। इन आलोचनाओ मे मौलिक तथा चिन्तन-पूर्ण तथ्य प्राप्त नही होते। साहस के साथ नवीन स्थापनाओ का भी प्राय अभाव ही है, जैसे विद्यापति को भक्त तथा शृगारी दोनो ही रूप मे रख दिया गया है, तथा केशव के काव्य पर किए गए हृदयहीनता के आक्षेप का उत्तर नही दिया गया है। इन्होने सूर के काव्य के मूल्याकन मे भी मध्यम मार्ग अपना कर समन्वय-वादी धारा का पालन किया है।

इसलिए इनकी आलोचना मे व्याख्या तथा स्पष्टीकरण की शक्ति तो पर्याप्त मात्रा मे है, किन्तु गम्भीर-चिन्तन, मनन, विश्लेषण के आधार पर नवीन मान्यताए तथा स्थापनाए करने की शक्ति अधिक नही है। वे युग-निर्माता आलोचक नही है। इनमे न शुक्ल जी की सी तलस्पर्शिनी-प्रतिभा है, न वाजपेयी जी की सी गहरी नजर तथा साहसपूर्ण मौलिकता। इनमे पाडित्य तथा अध्ययन है, जिसके आधार पर वे जो कुछ कहते है, उसका महत्त्व माना जाता है तथा उसे स्वीकार किया जाता है। उनके पाडित्य तथा विद्वत्ता ने उनकी नवीन-विधान करने की शक्ति के अभाव को दूर कर दिया है। उनकी आलोचना मे मौलिक-चिन्तन का गाम्भीर्य न होने पर भी स्पष्ट विवेचन की शक्ति, सटीक वर्णन, ईमानदारी, सच्चाई, सरलता तथा सुबोधता के गुण है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे द्विवेदी जी की पहली कृति 'सूर साहित्य' सन् १९३८ ई० मे प्रकाशित हुई थी। सन् १९४४ ई० मे 'सूर और उनका काव्य' नामक लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। सन् १९४१ ई० मे 'कबीर' तथा विद्यार्थियो के लिए काव्य की एक पुस्तक 'नव-दर्पण मे हिन्दी कविता' निकली। इनके अतिरिक्त साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' सन् १९४० ई० मे निकला। इस ग्रन्थ मे साहित्य की भूमिका के अतिरिक्त हिन्दी के कुछ प्रतिनिधि कवियो के साथ-साथ आधुनिक काव्य की भी व्यावहारिक आलोचना मिलती है। इस प्रकार आलोच्य-काल मे द्विवेदी जी का प्रधान कार्य-क्षेत्र व्यावहारिक आलोचना रहा है, जिसमे वे अपनी एक निजी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता लेकर अवतीर्ण हुए। इनके 'सूर साहित्य','हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' तीनो ग्रन्थो ने व्यावहारिक आलोचना को अपने निजी दृष्टिकोण की मौलिकता मे समृद्ध किया।

द्विवेदी जी का साहित्यिक कार्य छायावाद के अन्तिम प्रहर मे आरम्भ हुआ किन्तु आलोच्यकाल के अन्तर्गत वे छायावादी आलोचना से ही केवल असम्पृक्त नही रहे वरन् उन्होने आधुनिक साहित्य पर भी कुछ विशेष नही लिखा। वास्तव मे उनका विचार

था कि समकालीन साहित्य पर गवेषणापूर्वक कुछ विचार प्रस्तुत करना कठिन है।[1] उनका आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध मे विचार है कि " विविध परिवर्तनो के आलोडन-विलोडन से इसकी ऊपरी सतह कुछ ऐसी फेनिल हो गई है कि नीचे की गहराई साफ नजर नही आती।"[2]

द्विवेदी जी ने 'सूर साहित्य' तथा 'कबीर' दोनो ग्रन्थो मे मध्य युग की सास्कृतिक धारा का अध्ययन प्रस्तुत किया है, किन्तु वे इस अध्ययन में मध्य युग तक ही सीमित नही रहे है। उन्होने प्राय प्रत्येक विषय की मूल परम्परा की खोज की है तथा उसके सदर्भ मे सूर साहित्य तथा सत मत को परख कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इन्होने अपनी नौका शुक्ल जी से दूसरी दिशा मे खेई है। शुक्ल जी ने प्राचीन परम्परा की अपेक्षा समकालीन परिस्थिति तक अपने को अधिक सीमित रखा था। इसीलिए वे वैष्णव भक्ति की परम्परा के विकास मे तुलसी, सूर तथा कबीर का स्थान समुचित रूप में नही दिखा पाए थे। उनका कार्य सत्य के अनुसधान की अपेक्षा व्याख्यात्मक तथा निर्णयात्मक अधिक था। उन्होने सूर, तुलसी, जायसी के काव्य का विवेचन, विश्लेषण तथा मूल्याकन तो किया, किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य के सदर्भ मे उसे नही परखा। यह कार्य द्विवेदी जी ने किया। शुक्ल जी ने अपने लोक-मगल तथा लोक-सग्रह के आदर्श के कारण कबीर तथा सूर के साहित्य के मूल्याकन मे व्यापकता तथा तटस्थता का निर्वाह नही किया था। निर्गुण मत को उन्होंने लोकमत के विरोधी के रूप में देखा था तथा उसके निर्माण मे पैगम्बरी एकेश्वरवाद, सूफियो के प्रेमतत्त्व आदि के आधार का दर्शन किया था। द्विवेदी जी ने कृष्ण-भक्ति साहित्य तथा निर्गुण मत के साहित्य को भारतीय सस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा मे रखकर उसका अध्ययन किया है तथा इन दोनो के स्वरूपो का लोक-धर्म की चेतना तथा सस्कृति से स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका मत है कि इसलाम के भारत मे आने की घटना से निर्गुण तथा सगुण भक्ति के परम्परागत सास्कृतिक विकास मे कोई विशेष अन्तर नही पडा। मध्यकालीन सभी मत, सम्प्रदाय तथा धर्म भारतीय-धर्म-साधना के स्वाभाविक विकास के परिणामस्वरूप अस्तित्व मे आए हैं।

द्विवेदी जी की व्यावहारिक आलोचना प्रमुखत व्याख्यात्मक है। किन्तु वे किसी कवि के काव्य के सौन्दर्य के अन्वेषण की ओर अधिक प्रवृत्त न होकर उसकी परम्पराओ के स्वरूप के साथ, उसके काव्य, सिद्धान्त तथा आदर्श का तर्कपूर्ण समन्वय स्थापित करने मे विशेष रूप मे सफल हुए हैं। कबीर तथा सूरदास के काव्य की केवल व्याख्या तक ही वे सीमित नही रहे। इन्होंने व्याख्यात्मक आलोचना की ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक,

---

१ "आज का हिन्दी साहित्य हमारे लिए इतना निकट है कि हम उसको ठीक-ठीक नही देख सकते। साख्यकारिका मे बताया गया है कि अत्यन्त दूर और अत्यन्त नजदीक ये दोनो ही अवस्थाए प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे बाधक है।" 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन् १९४०), पृ० १३४।

२ देखिए वही, पृ० १३४।

मनोविश्लेषणात्मक, तुलनात्मक सभी रूपों का प्रयोग करके सूर और कबीर के साहित्य की विभिन्न धाराओं का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होंने इन दोनो कवियों की वंश, जाति, धर्म-भावना की विभिन्न परम्पराओ, युग-चेतनाओ, परिवृत्तियों तथा उनके व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करके उनके काव्य की पांडित्यपूर्ण आलोचना प्रस्तुत की है। इन्होंने प्राचीन साहित्य के अथवा स्वय कवि के काव्य के आधार पर निर्मित मानदण्डों के आधार पर मूल्याकन मात्र नही किया है। इनके निष्कर्ष, गवेषणा, खोज, विवेचन तथा विश्लेषण के आधार पर स्थापित हुए हैं। इन्होंने कुछ तत्त्वो, विचारो तथा परम्पराओ को अतीत के गर्भ मे खोज निकाल कर अपने निजी निष्कर्ष दिए हैं तथा काव्य, व्यक्ति, साधना, पद्धति आदि विषयो का पांडित्यपूर्ण मूल्यांकन किया है। इस दृष्टि से व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे इनकी अपनी निजी महत्ता तथा विशिष्टता है। इनकी आलोचना साहित्यिक-ज्ञान का केवल विस्तार ही नही करती, वरन् चिन्तन को प्रेरणा देती है, अस्पष्टता को स्पष्टता प्रदान करती है तथा भ्रांत धारणाओं के स्थान पर तर्कपूर्ण तथ्य स्थापित करती हैं। फिर भी इनके अध्ययन मे सर्वांगीणता तथा तटस्थता की पूर्ण मात्रा दिखाई नहीं देती है। यत्र तत्र वे परिस्थितिवश बगला साहित्य मे ही अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। अन्य भाषाओ के साहित्य के संदर्भ मे उन्होंने अपने विवेचन को रखकर नही परखा है।

डा० नगेन्द्रः—

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे डा० नगेन्द्र का कार्य महत्त्वपूर्ण रहा है। आलोच्य-काल के अन्तर्गत विभिन्न लेखों के अतिरिक्त, इनके व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, एक 'सुमित्रानन्दन पत' तथा दूसरा 'साकेत : एक अध्ययन'। इस प्रकार इनकी आलोचना के विषय आधुनिक कवि तथा उनका काव्य रहा है। पहली पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पत' पत जी के काव्य के विभिन्न-पक्ष, भाव-जगत्, विचार-धारा, कला, भाषा, बाह्य-प्रभाव तथा उनकी कृतियो के अध्ययन को लेकर चलती है तथा दूसरी मैथिलीशरण गुप्त के काव्यग्रन्थ 'साकेत' की कला-वस्तु, उसके गार्हस्थ्य तथा विरह के चित्रण, उनके भावपूर्ण स्थलों, सास्कृतिक-आधार, चरित्र-चित्रण, शैली तथा प्रभाव का विवेचन करती है। अन्त मे इस पुस्तक में हिन्दी काव्य मे साकेत का स्थान भी निर्धारित किया गया है। इस प्रकार इन्होंने किसी एक आधुनिक कवि तथा उसके किसी एक ग्रन्थ के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन किया है।

वे परम्परावादी आलोचक नही हैं तथा उनकी आलोचना कवि तथा आलोच्य-ग्रन्थ के साथ बदलती चलती है। उन्होंने पाश्चात्य तथा भारतीय मानदण्डो के समुचित उपयोग के साथ, आलोच्य-ग्रन्थ के मानो के आधार पर भी, उसका विवेचन किया है। वे मनोविज्ञान से परिचित हैं तथा इसीलिए उसके आधार पर स्थान-स्थान पर कवि की मानसिक प्रक्रियाओ को यथार्थ तथा तर्कपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर सके हैं। साकेत के पात्रो के

अध्ययन में उन्होंने मनोवैज्ञानिक कुशलता का परिचय दिया है ।[1] वे मनोविज्ञान के आधार पर ही दाम्पत्य जीवन के मूल मे काम की भावना को मान्यता देते है। उन्होने कवि की विचारधारा को अभिव्यक्त करने का लक्ष्य अपने सामने रखा है। वे कवि के व्यक्तित्व के उसकी रचना पर प्रभाव तथा उसकी रचना के आधार पर उसके व्यक्तित्व को आकने मे सफल हुए हैं। उनकी आलोचना मे सिद्धान्तो का शुष्क प्रयोग मात्र नही है। वे आलोच्य-वस्तु के अतरग तक पहुचने की प्रतिभा रखते है। विभिन्न तत्त्वो की गहराई तक पहुच कर उन्हें सूक्ष्म तथा सरल रूप मे व्यक्त करने की उनमे विशेष कुशलता है। उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी है तथा उनमे नवीन मान्यताओ और निष्कर्षो को स्थापित करने का साहस है। अग्रेजी आलोचना के विशेष ज्ञान के कारण यद्यपि वे प्राय पाश्चात्य साहित्यालोचन का अधिक आधार लेते है पर उनकी सभी मान्यताए उनके निजी विशिष्ट चिन्तन का फल है। उन्होने किसी लेखक पर अपना विशेष महत्त्व कही नही आरोपित किया है। वे न तो किसी 'वाद' या 'सिद्धान्त' विशेष मे बध कर आलोचना-कार्य करते है न किसी पूर्वाग्रह को लेकर चलते है। वे व्याख्यात्मक आलोचना की ऐतिहासिक, तुलनात्मक, जीवन-चरितात्मक आदि सभी शैलियो का स्थान-स्थान पर प्रयोग करते है। उनमे किसी काव्य की सर्वांगीण परीक्षा करने की शक्ति, उसके अतरग रहस्यो को खोलने की प्रतिभा तथा कवि से तादात्म्य प्राप्त करने की सरसता है। उन्हे विशेष कलात्मक, पैनी तथा अचूक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, जिसके आधार पर वे साकेत के कलापक्ष का विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन कर सके है। काव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहराई तक पहुचने मे उनका सवेदनात्मक हृदय उन्हें विशेष रूप से समर्थ बना देता है।[2] काव्यत्वपूर्ण हृदय पाने के कारण वे काव्य की सूक्ष्माति सूक्ष्म भावनाओ का अपनी लेखनी द्वारा सजीव रूप प्रस्तुत करते चलते है। कही-कही वे भावात्मक रूप मे ही गम्भीर तत्त्वो का विश्लेषण कर देते है। प्रत्येक व्याख्या के पश्चात् दिए हुए उनके निष्कर्ष उनके स्पष्ट तथा प्रौढ मस्तिष्क का परिचय देते है। गम्भीर विवेचन को कही-कही वे विनोद के छीटो से हलका भी करते चलते है। कही-कही उनकी वाक्-विदग्धता भी उनकी कुशलता का प्रमाण प्रस्तुत करती है।[3] कही-कही भाव तथा भाषा के स्वरूप का शब्द-चित्रण करके वह किसी कविता की सूक्ष्म आत्मा को सजीव तथा साकार बना

---

१ "कवि ने लक्ष्मण और कैकेयी के चरित्रो मे सस्कार और परिस्थिति का सघर्ष बडी कुशलता से प्रदर्शित किया है।" 'साकेत एक अध्ययन' (सन् १९४०) पृ० १५६।

२ "इस प्रकार कवि ने विच्छेद के दोनो अवसरो पर अनुभावो से ही काम लिया है। व्यथा ध्वनित की गई है, कथित नही। कथन तो ऐसे अवसर पर होना ही असम्भव अथवा अप्राकृतिक है।" 'सुमित्रानन्दन पत', पृ० ६८-६९।

३. "अनेक स्थानो पर नाटककार को घटनाओ की गतिविधि सभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वाछित व्यक्ति को उसे भूमि फाडकर उपस्थित कर देना पडा है अथवा किसी का जबरदस्ती गला फोडना पडा है।" 'आधुनिक हिन्दी नाटक' (सन् १९४०), पृ० १८।

देते है। इस प्रकार अपनी विवेक तथा पांडित्यपूर्ण व्यावहारिक आलोचना द्वारा उन्होंने व्यावहारिक आलोचना के विकास मे विशेष योग दिया है। वे शुक्ल जी की प्रतिभा को स्थान-स्थान पर स्वीकार तो करते हैं, किन्तु स्वय उनकी आलोचना उनसे स्वतन्त्र शैली की हैं, यद्यपि कुछ विद्वानो का ऐसा विचार नही है। उन्होंने किसी पद्धति विशेष का अनुकरण नहीं किया है।[1] उनकी आलोचना व्याख्यात्मक है, जिसमे प्राय सभी शैलियो का प्रयोग किया गया है, मनोविश्लेषणात्मक का ही नही जैसा कुछ विद्वानो का मत है।[2]

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा:—

आलोच्य काल मे शर्मा जी ने व्यावहारिक आलोचना की दो पुस्तके 'हिन्दी की गद्य शैली का विकास' तथा 'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन' लिखी है। ये दोनो ग्रन्थ अपने-अपने क्षेत्र में विशेष महत्त्व रखते है। 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास' नामक ग्रन्थ से पूर्व प० रमाकान्त त्रिपाठी ने 'हिन्दी गद्य मीमासा' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसमे हिन्दी के गद्य-लेखको की भाषा सम्बन्धी विशेषताओ का विवेचन तथा उनकी शैलियो का वर्गीकरण किया गया था। इस ग्रन्थ मे उदाहरण के रूप मे प्रत्येक लेखक के कुछ लेखो का सग्रह भी प्रस्तुत किया गया था। इस पुस्तक की भूमिका मे कुछ भाषागत तथा शैलीगत विशेषताओ के अतिरिक्त लेखक का उद्देश्य प्राय. नमूने के लेखो का सग्रह करना था। इसमे हिन्दी मे गद्य-लेखन के विलम्ब के कुछ कारण, हिन्दी गद्य का विकास तथा हिन्दी गद्य के भविष्य पर भी विचार प्रकट किए गए है। गद्य के विकास पर विचार करने के प्रारम्भिक प्रयत्न बाल मुकुन्द जी के द्वारा किए गए थे। किन्तु इस दिशा में शर्मा जी की यह पुस्तक एक विशेष रूप मे प्रौढ तथा सफल प्रयत्न है। आलोच्यकाल तथा इसके पश्चात् भी कोई ग्रन्थ इस दिशा मे इससे अधिक प्रसिद्धि प्राय नही प्राप्त कर सका। यही तथ्य इसके वास्तविक मूल्य का निर्णायक है।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य नमूनो के रूप मे लेखो का सग्रह करना नही है। प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में, "इसमे हिन्दी गद्य का विकास-क्रम दिखा कर भिन्न-भिन्न लेखको की प्रवृत्तियो के स्पष्टीकरण और वाग्विधान की विशिष्टताओ के अन्वेपण का अधिक और विस्तृत प्रयत्न किया गया है। लेखो के अश स्थान-स्थान पर निरूपित तथ्यो के उदाहरण-स्वरूप ही उद्धृत किए गए है।"[3] इस पुस्तक में गद्य की शैलियो का सूक्ष्म अनुसधान करके उनकी विशिष्टताओ का निर्देश किया गया है तथा बहुत से लेखको की शैलियो की विशिष्टताओ का मार्मिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इसमें हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक काल से

१ "इनकी शैली मे शुक्ल पद्धति का स्पष्टत अनुकरण है।" हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास (स० २०१०), पृ० ४७८—ले० डा० भगवतस्वरूप मिश्र।

२ देखिए वही, पृ० ४७८।

३ देखिए "हिन्दी की गद्य शैली का विकास" (स० २००६) पचमावृत्ति 'ग्रन्थ का परिचय' पृ० १।

१९३५ ई० तक के विशिष्ट शैलीकारो का विवेचन, उनकी भाषा-शैली के वृद्धि-क्रम का निरूपण तथा लेखको के व्यक्तिगत स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया गया है। इसमे गद्य लेखको की शैलियो के विवेचन मे जिन बातो का विशेष ध्यान रखा गया है, वे स्वय उनके कथनानुसार ये है "कौन लेखक किस प्रकार के शब्दो को अधिक अपनाता है ? उसकी वाक्य-रचना मे क्या अपनापन दिखाई पडता है ? वह मुहावरो तथा लोकोक्तियो का प्रयोग करता है अथवा नही, करता है तो किस अभिप्राय से, उसके अलकार-योग मे क्या वैचित्र्य मिलता है, उसमे शैली के गुणावगुण किस रूप मे प्रसरित है अथवा उसकी रचना-शैली मे विचार-पक्ष प्रबल है या भाव, परिहास और व्यग्य।"[1]

इसी प्रकार इनकी दूसरी पुस्तक 'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन' नाट्यालोचन के क्षेत्र मे युगान्तरकारी कृति है। इसमे पहली बार हिन्दी के किसी नाटककार के नाटको का विशद, गम्भीर तथा शास्त्रीय आधार पर पाडित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के इन्होने तीन उद्देश्य बताए है, प्रथम प्रसाद के नाटको मे नाटकीय वस्तु मे अन्वित ऐतिहासिक अशो का सुसम्बद्ध उल्लेख उपस्थित करना, उनके नाटको मे प्राचीन-विधान का अभिनव दर्शन करना तथा उनके नाटको मे उनकी भावुकता तथा विचार-धारा का समन्वय दिखाना।[2]

यद्यपि इन्होने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो सिद्धान्तो का आधार लेकर प्रसाद के नाटको का आलोचनात्मक अध्ययन किया है, किन्तु फिर भी इसमे प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तो की ही है। इसके सम्बन्ध मे वे स्वय लिखते है कि "नाटक रचना का भारतीय विधान पूर्ण एव सम्पन्न है। उसके सार्वकालिक तथा सार्वजनिक सिद्धान्त आज भी भारतवर्ष मे मान्य और उपादेय है। भले ही कीथ प्रभृति पश्चिमी विद्वान आत्मदैन्यानुभूति मूलक उद्गम निकालते और मीन मेष करते रहे, भारत आज भी आदर्शप्रिय तथा सूक्ष्म-विवेचना का निपुण प्रेमी बना है।"[3] इन्होने इसी तथ्य के प्रकाश मे प्रसाद के नाटको का विवेचन किया है। इन्होने वस्तु, नेता, कार्य-अवस्था, रस, पच-सधि आदि भारतीय-तत्त्वो के साथ साथ सघर्ष, सक्रियता, समष्टि प्रभाव तथा द्वद्वात्मक चित्राकन पद्धति का भी आधार लिया है। इस पुस्तक मे नाटको के ऐतिहासिक आधार के विवेचन के पश्चात्, पहले कथानको के रचना-विधान का परीक्षण किया गया है तथा फिर चरित्र-चित्रण की सामान्य विशेषताओ कानिर्देश करके विभिन्न चरित्रो पर सर्वागीण रूप मे विचार प्रस्तुत किए गए है। उपसहार मे प्रसाद के नाटको के कथानक, पात्र, सवाद, रस-विवेचन, देशकाल, गान, भाषा-शैली आदि का गम्भीर विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

गद्य तथा नाटको के क्षेत्र मे गम्भीर तथा मौलिक कार्य करने के कारण व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र मे शर्मा जी का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

१ देखिए 'हिन्दी की गद्य शैली का विकास' (परिवर्द्धित सस्करण), 'भूमिका' पृ० २।

२ देखिए 'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन', आमुख पृ० १, २ तथा ३।

३ देखिए वही, पृ० २ तथा ३।

डा० रामकुमार वर्माः—

वर्मा जी ने भी अन्य आलोचकों की भांति सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं की पुस्तकें लिखी हैं। व्यावहारिक आलोचना की उनकी 'कबीर का रहस्यवाद, 'साहित्य-समालोचना' 'कबीर-पदावली की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक रचनाएं हैं। साहित्य-समालोचना में कविता, कहानी, नाटक और आलोचना की प्रायः सैद्धान्तिक आलोचना ही की गई है। बीच-बीच में उदाहरण-स्वरूप रचनात्मक साहित्य के गुण-दोषों का भी विवेचन मिलता है। 'कबीर का रहस्यवाद' उनकी एक प्रौढ़ तथा मौलिक-विचारों से पूर्ण पुस्तक है। इसमें कबीर के रहस्यवाद के स्वरूप का गम्भीर चिन्तन तथा मनन के साथ स्पष्ट किया गया है। इनमें रहस्यवाद, आध्यात्मिक-विज्ञान, आनन्द, हठ्योग, सूफीमत आदि विषयों पर नवीन रूप से प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में जायसी के रहस्यवाद से कबीर के रहस्यवाद की तुलना करके दोनों के साम्य तथा वैषम्य पर प्रकाश डाला गया है। इसमें कबीर के रहस्यवाद पर हठ्योग तथा सूफीमत का प्रभाव स्पष्ट करके, उनके जीवन पर भी अपने विचार प्रकट किए गए हैं। ऐसे गम्भीर विषय पर इतना विद्वत्तापूर्ण विवेचन हिन्दी में इनके द्वारा ही पहली बार हुआ।

इसी प्रकार 'कबीर पदावली' की भूमिका में कबीर के जन्म, मृत्यु, गुरु, दीक्षा, महत्त्व, तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों, ईश्वर, माया, हठ्योग, सूफीमत, रहस्यवाद रूपक, योग आदि विषयों का गम्भीर-विवेचन किया गया है। कबीर सम्बन्धी आलोचना में भी इनकी शैली विशेष गवेषणात्मक तथा शोधपूर्ण है। इनमें कबीर के काव्य तथा उनके महत्त्व का विवेचन युग की परिस्थितियों तथा प्रेरणाओं के अध्ययन के आधार पर किया गया है।

डा० सत्येन्द्रः—

आलोच्य काल में सत्येन्द्र जी की व्यावहारिक-आलोचना की दो पुस्तकें 'गुप्त जी की काव्य कला' तथा 'साहित्य की झांकी' प्रकाशित हुई। साहित्य की झांकी में कुछ लेख हैं, जिनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर साहित्य का अध्ययन किया गया है। 'विष्णु का विकास' तथा 'भूषण कवि तथा उनकी परिस्थिति' शीर्षक लेख इसी प्रकार के हैं। पहले निबन्ध में विष्णु शब्द के भिन्न अर्थों की खोज तथा गवेषणापूर्ण अध्ययन किया गया है। 'भूषण कवि तथा उनकी कविता' में ऐतिहासिक आलोचना के अनुरूप भूषण के युग की राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक-परिस्थितियों का विवेचन किया गया है। वे किसी कलात्मक कृति को सर्वांगपूर्ण रूप से देख कर उसकी कला के स्वरूप का निर्णय, भाव तथा भाषा दोनों पक्षों में करते हैं। उनकी आलोचना पर अंग्रेजी-साहित्य की शैली का विशेष प्रभाव है तथा वे इनके मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक शब्दों के हिन्दी के पर्यायवाची बनाने में स्वतन्त्रता का प्रयोग करते हैं। उनकी व्याख्या में उद्धरणों के लिए अधिक स्थान

नही है। उनकी व्यावहारिक आलोचना मे भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तो का आधार कम है तथा स्वतन्त्र चिन्तन और गवेषणा अधिक है।

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख':—

आलोच्य-काल मे शिलीमुख जी की व्यावहारिक आलोचना की दो पुस्तके 'प्रसाद की नाट्य-कला' तथा 'आलोचना-समुच्चय' प्रकाशित हुई। प्रसाद की नाट्य-कला मे प्रसाद के नाटको का भारतीय तथा पाश्चात्य-नाट्यालोचन के सिद्धान्तो के आधार पर विवेचन किया है। 'आलोचना समुच्चय' मे समसामयिक कलाकारो की कृतियो की रचनाओ का विवेचन है। इनकी आलोचना पद्धति प्रौढ है तथा इन्होने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो साहित्यालोचनो के सिद्धान्तो का आधार लिया है। इनकी आलोचना शैली भी इनके विशिष्ट व्यक्तित्व से पूर्ण है।

गगा प्रसाद पाण्डेय:—

आलोच्य-काल में पाण्डेय जी ने 'छायावाद और रहस्यवाद', 'काव्य-कला', 'निबन्धनी' तथा 'कामायनी एक परिचय' नामक व्यावहारिक-आलोचना की पुस्तके लिखी। पाण्डेय जी हिन्दी आलोचना मे 'छायावाद तथा रहस्यवाद' के प्रबल समर्थको मे है। छायावाद की विशिष्टताओ तथा भावनाओ को ही उन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना के मानदण्डो के रूप मे अपनाया है। इस पुस्तक में छायावाद तथा रहस्यवाद के सिद्धान्तो का विवेचन-विश्लेषण है। 'काव्य-कलना' मे हिन्दी के आधुनिक कवियो के काव्य की सोदाहरण सक्षिप्त-समीक्षा है, जिसमे व्याख्यात्मक तथा निर्णयात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।[1] प्रत्येक कवि के काव्य का विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने उसके काव्य के सम्बन्ध में अपने निर्णय दिए है। निबन्धनी में साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न विषयो का गम्भीर विवेचन किया गया है।

इलाचन्द जोशी:—

जोशी जी ने आलोच्य-काल मे 'साहित्य-सर्जना' तथा 'साहित्य-सतरण' नामक दो पुस्तको मे साहित्य के विभिन्न रूपो पर आलोचनात्मक विचार प्रकट किए है। वे साहित्य मे आनन्दवादी धारा के लेखक है तथा सौन्दर्य और उससे उत्पन्न आनन्द को ही सब कुछ मानते है। इन्ही सिद्धान्तो के आधार पर उन्होने साहित्य के विभिन्न रूपो, विषयो तथा समस्याओ पर अपने विचार प्रकट किए है। वे काव्य के नीतिपक्ष के विरोधी है तथा यह मानते है कि कला का सृजन आनन्द प्राप्त करने के लिए ही हुआ है। उनके विचार से

---

१ "मैं अपने अध्ययन तथा अनुभव के बल पर कह सकता हू कि महादेवी जी ने अपनी भाव सुन्दरता के लिए ही काव्य कला की सृष्टि की है।" 'काव्य कलना' (१९४१), पृ० ६७।

कला का यह आनन्द प्रयोजनातीत है।[1] वे कला मे केवल अभिव्यक्ति का ही सौन्दर्य न देखकर वस्तु का भी सौन्दर्य देखते है। इस प्रकार उनकी सौन्दर्य की भावना व्यापक है। वे इसी सौन्दर्य मे सत्य तथा मगल के दर्शन करते है। अपने 'मेघदूत' नामक निबन्ध मे उन्होने इन्ही सौन्दर्यवादी सिद्धान्तो का आधार ग्रहण किया है।[2]

इन आलोचको के अतिरिक्त भी इस काल मे अनेको आलोचको ने व्यावहारिक आलोचना मे योग देकर इसका प्रसार तथा विकास किया है। इनमें प्राय सभी, दो प्रभावो से प्रभावित है, एक तो युग की प्रवृत्ति से, दूसरे अपने निजी व्यक्तित्व से। जो आलोचक प्रतिभाशाली है, उन्होने युग के प्रभाव को ग्रहण करके भी अपनी मौलिक विशिष्टता का प्रतिपादन किया है। ऐसे आलोचको की आलोचना का महत्त्व इनकी निजी प्रतिभा तथा आलोचना-शक्ति पर निर्भर है। रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना शैली से प्रभावित होने वाले, कृष्णशकर शुक्ल ने व्यावहारिक आलोचना की 'कविवर रत्नाकर', 'केशव की काव्य-कला' तथा 'हमारे साहित्य की रूप-रेखा' नामक तीन पुस्तके लिखी है। शुक्ल जी की सूर, तुलसी तथा जायसी की आलोचनाओ के पश्चात् हिन्दी में विभिन्न कवियो की आलोचनाए लिखने की एक धारा प्रवाहित हो गई। इन आलोचनाओ मे यद्यपि पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो मानदण्डो का प्रयोग किया गया है, तथापि नए मौलिक सिद्धान्तो के आधार का इनमें प्राय अभाव है। युग की सर्वमान्य धारणाओ के अनुसार कवियो के साहित्य का इनका विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

किसी कवि के काव्य का पुस्तकाकार विवेचन करने वाली अन्य पुस्तके उमाशकर शुक्ल की 'नन्ददास', डा० उमेश मिश्र की 'विद्यापति ठाकुर', गगा प्रसाद अखौरी की 'पद्माकर की काव्य-साधना', गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' की 'महाकवि हरिऔध', 'गुप्त जी की काव्य धारा,' जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की 'तुलसीदास', डा० बलदेव प्रसाद मिश्र की 'तुलसी-दर्शन', डा० माताप्रसाद गुप्त की 'तुलसीदास' तथा 'तुलसी सदर्भ', विनोदशकर व्यास की 'प्रसाद और उनका साहित्य', व्रजरत्न दास की 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', शिखरचन्द जैन की 'सूर एक अध्ययन', भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र की 'मीरा की प्रेम साधना' शिवनन्दन सहाय की 'गोस्वामी तुलसीदास', रामनरेश त्रिपाठी की 'तुलसीदास और उनकी कविता' प्रभाकरेश्वर उपाध्याय की 'प्रेमघन सर्वस्व', दयाशकर मिश्र की 'अयोध्यासिह उपाध्याय', प्रेम नारायण टडन की 'द्विवेदी-मीमासा', कृष्णशकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' राम नाथ लाल सुमन की 'प्रसाद की काव्य-साधना', विनोदशकर व्यास की 'प्रसाद और उनका साहित्य', रामविलास शर्मा की 'प्रेमचन्द', सत्यप्रकाश मिलिन्द की 'प्रयोगकालीन बच्चन' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय है। ये सभी ग्रन्थ कवियो के काव्य तथा साहित्य का स्पष्टीकरण तथा मूल्याकन करने के लिए लिखे गए है, किन्तु इनकी आलोचना का स्तर एक सा नही है। इनमें से कुछ मे विशेष गम्भीरता के साथ शोध तथा चिन्तन के दर्शन होते है तथा कुछ

---

१. देखिए 'साहित्य सर्जना' (१९४०) पृ० ११।
२. देखिए वही, पृ० ८२ तथा ८३।

युग के सर्वमान्य सिद्धान्तो के आधार पर व्यावहारिक रूप मे कवि के काव्य का विभिन्न रूपो तथा दृष्टिकोणो से अध्ययन मात्र करते है। डा० माताप्रसाद तथा बलदेवप्रसाद मिश्र के ग्रन्थ विशेष अध्ययन, खोज तथा चिन्तन के परिणाम है तथा नवीन तथ्यो को लेकर चलते हैं।

इसी प्रकार कुछ कवियो की विशिष्ट पुस्तको की आलोचनाए भी इस काल में प्रकाशित की गईं। इनमें प्रमुख सद्गुरुशरण अवस्थी की 'तुलसी के चार दल', धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की 'साकेत की आलोचना', 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा', प्रेमनारायण टण्डन की 'प्रेमचन्द और ग्राम समस्या', शिखर चन्द जैन की 'प्रसाद का नाट्य चिन्तन', 'हिन्दी के प्रमुख तीन नाटककार', विनोद शकर व्यास की 'उपन्यास कला', विनयमोहन शर्मा की 'साहित्य-कला', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' की 'स्त्री कवि-कौमुदी' तथा 'नवयुग काव्य विमर्श', जनार्दन प्रसाद 'द्विज' की 'प्रेम चन्द की उपान्यासकला', गिरिजादत्त शुक्ल की 'हिन्दी की कहानी लेखिकाए तथा उनकी कहानिया' कृष्णानन्द गुप्त की 'प्रसाद के दो नाटक', अयोध्यासिह उपाध्याय की 'ठेठ हिन्दी का ठाट', गगाप्रसाद अखौरी की 'हिन्दी के मुसलमान कवि', भगवतशरण उपाध्याय की 'नूरजहा', रामदीन पाण्डेय की 'काव्य की उपेक्षिता' चन्द्रशेखर पाण्डेय की 'रामायण के हास्य स्थल', राजबहादुर लमगोडा की 'विश्वसाहित्य मे रामचरित मानस' आदि अन्य पुस्तके भी इस युग मे लिखी गईं। प० भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' की 'सन्त साहित्य' नामक पुस्तक में प्रभावशाली शैली के दर्शन होते है। इसमें लेखक भाव-विभोर होकर सन्तो के काव्य का वर्णन करता है।

इन आलोचको के अतिरिक्त कुछ प्रगतिशील आलोचको ने भी साहित्य का अध्ययन अपने समाजवादी दृष्टिकोण से किया है। शिवदान सिंह चौहान ने अपने निवन्धो 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता', 'छायावादी कविता में असन्तोष-भावना', 'पन्त की वर्तमान कविता धारा', 'भारत की जन-नाट्य शाला', 'हिन्दी का कथा साहित्य' आदि मे प्रगतिशील भावना के आधार पर छायावाद, पन्त के काव्य तथा कथा-साहित्य पर अपने विचार प्रकट किए है। चौहान जी मे किसी विषय की गहराई में सरलता से प्रविष्ट हो जाने की शक्ति है। पन्त जी ने 'युगवाणी' तथा ग्राम्या मे भारतीय सस्कृति के आधार पर वर्ग-सस्कृति के प्रति अपने विचार प्रकट किए है। नरेन्द्र शर्मा ने 'हिन्दी कविता के बीस वर्ष' तथा 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में साहित्य के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचना की है।[1] डा० रामविलास ने प्रेमचन्द की विस्तृत आलोचना अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से लिखी है। इनकी आलोचना में इनकी निर्भीकता, स्वाधीनता तथा प्रतिभा के दर्शन होते है। 'अज्ञेय' जी ने 'तार सप्तक' की भूमिका तथा 'त्रिशकु' मे छपने वाले अपने निवन्धो मे प्रयोगवाद की व्याख्या की है। इन आलोचको ने प्रगतिवाद तथा समाजवादी धारा पर भी अपने विचार प्रकट किए है। प्रेमचन्द के कतिपय लेखो तथा भाषणा मे भी इस धारा का विवेचन है। आलोच्य-काल के अन्त तक हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना

१. 'नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि'—ले० प्रकाशचन्द गुप्त (१९४२) पृ० ६७।

स्वतन्त्र चिन्तन के राजमार्ग से इधर-उधर वादो की पगडडियो पर भटक रही थी तथा छायावादी युग के आलोचक, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र आदि इन पर अंकुश लगा रहे थे।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-काल के प्रारम्भ मे व्यावहारिक आलोचना रीतिकालीन सरणी पर चल रही थी। इसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन, पक्ष का समर्थन, विपक्ष का विरोध, परम्परा-निर्वाह, साम्प्रदायिक-दृष्टिकोण का प्राधान्य तथा मौलिक-चिन्तन और दूरदर्शिता की कमी थी। भारतेन्दुकालीन आलोचना में शास्त्रीय वैधानिकता तथा सुधार की भावना का मिश्रण मिलता है। इस काल मे प्राचीन आदर्शों, सिद्धान्तो तथा मानदण्डो की मान्यता तो बनी रही, किन्तु पाश्चात्य आदर्शो का प्रभाव पडना आरम्भ हो गया था। इसी समय से हिन्दी के निजी स्वरूप, प्रकृति तथा गतिविधि के अनुकूल स्वतन्त्र व्यावहारिक आलोचना का विकास होने लगा तथा साहित्य और समकालीन जीवन के बीच का व्यवधान मिटने लगा। भारतेन्दु-कालीन व्यावहारिक-आलोचना समकालीन भावो, विचारो तथा आदर्शो से असपृक्त नही रही। परम्परागत-शास्त्रीय आधारो पर कृतियो के दोष-विवेचन के अतिरिक्त यह भी देखा गया कि वे कहा तक युगानुकूल हैं। इस समय की दोष-गुण प्रणाली मे परवर्त्तीकाल जैसी कटुता तथा कठोरता नही है। इस समय व्यावहारिक आलोचना मे प्रमुख तीन प्रकार की शैलिया प्रचलित थी। कवियो की जीवनियो से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तको की परिचयात्मक आलोचना तथा टीका-पद्धति के अतिरिक्त साहित्य की उन्नति तथा भाषा के सुधार, महत्त्व तथा प्रयोग की ओर भारतेन्दु-काल तथा द्विवेदी-काल दोनो मे विशेष जोर दिया गया। इन युगो की व्यावहारिक आलोचना का यह एक प्रमुख विषय था। भारतेन्दु-काल की आलोचना के प्रमुख मानदण्ड, स्वभावोक्ति, सुरुचि, नैतिकता, औचित्य, सरलता, नवीनता, भाषा, भाव, अलकार, रस आदि हैं। इस काल मे क्लिष्ट-भाषा-शैली, पाण्डित्य-प्रदर्शन, आलकारिकता के बाहुल्य को निन्द्य समझा जाने लगा तथा नवीन भाषा, नवीन अलकार तथा नवीन उपमानो का प्रयोग ठीक समझा जाने लगा था। इस समय की व्यावहारिक आलोचना का लक्ष्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना तथा असत् का बहिष्कार करना था। इसलिए कही-कही शिष्ट तथा सयत-व्यग्य, परिहास, खण्डन आदि की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। यह आलोचना प्राय परिचयात्मक तथा गुण-दोष निरूपक है, किन्तु इसमे प्रशसात्मक, निर्णयात्मक, ऐतिहासिक, जीवन-चरितात्मक, प्रभावात्मक, तुलनात्मक आलोचना के प्रारम्भिक स्वरूपो के भी दर्शन होते है। इस काल की व्यावहारिक आलोचना प्राय लेखो, पत्र-पत्रिकाओ के परिचयात्मक-स्तम्भो तथा पुस्तको के रूप मे लिखी जाती थी।

भारतेन्दु काल के पश्चात् द्विवेदी जी की व्यावहारिक-आलोचना का लक्ष्य हिन्दी साहित्य को उन्नतिशील बनाना, प्राचीन रूढियो के विरोध मे नवीन परम्पराओ को स्थापित करना तथा युगानुकूल परिस्थितियो के अनुकूल साहित्य का निर्माण करना था। इनके युग का साहित्य, वातावरण, गम्भीर विवेचन तथा विश्लेषण के अनुपयुक्त था। इसलिए इनकी आलोचना, टीका, खडन-मडन तथा दोष-विवेचन सम्बन्धी थी। यह अधिकाश मे

परिचयात्मक, प्रशसात्मक, सुधारात्मक तथा विधायक थी। इनकी आलोचना के मानदण्ड भी सुरुचि, औचित्य, नीति, सरलता, स्वाभाविकता, अलकार तथा चमत्कार-निरपेक्षता आदि थे। इनकी व्यावहारिक आलोचना, साहित्य का परिचय कराती है, दोषो का विवेचन करती है, रूढियो का खडन करती है तथा सत्साहित्य की प्रशसा करती है।

मिश्रबन्धुओ ने द्विवेदी जी की गुण-दोष-विवेचन की शैली की अपेक्षा प्राय गुण प्रदर्शन शैली को ही अधिक अपनाया है। इनकी आलोचना के आधार भी शास्त्रीय तथा युगानुकूल है। इन्होने कवियो की अपेक्षाकृत उच्चता का निर्णय दो आधारो पर किया है, एक तो यह कि कवि को कुछ कहना था या नही और दूसरे उसने उसे कैसे कहा। कवियो का श्रेणी-विभाजन इनकी निर्णयात्मक आलोचना का मूल आधार है। यह श्रेणी-विभाजन, तुलना, रुचि तथा परीक्षण के आधार पर हुआ है। इस प्रकार द्विवेदीकालीन परिचयात्मक आलोचना अव धीरे-धीरे मूल्याकन की ओर मुडने लगी। मिश्रवन्धुओ की आलोचना परिचयात्मक, प्रशसात्मक, निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक है।

मिश्रवन्धुओ द्वारा आलोचना की तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग होने पर इसका विशेप प्रसार प० पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र तथा प० भगवानदीन द्वारा हुआ। पद्मसिंह शर्मा की तुलना भी मिश्रबन्धुओ की भाति रुचि पर निर्भर है तथा काव्य के शरीर-पक्ष का आधार ग्रहण करके चलती है। इन्होने अपने मूल्याकन मे स्वभावोक्ति की अपेक्षा अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उक्ति-वैचित्र्य, ऊहात्मक-कल्पना आदि का विशेप आधार ग्रहण किया है। इन्होने हिन्दी मे प्रथम वार एक ही प्रकार के काव्य की परम्परा का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। मिश्र जी ने शर्मा जी की भाति एक ही कवि मे सारे गुणो के दर्शन न करके दो कवियो के गुणो तथा दोपो का विवेचन किया है। ये भी शृगार को महत्त्व देते है। दीन जी ने भी शास्त्रीय मानदण्डो के आधार पर तुलना द्वारा निर्णय का ही कार्य किया है। इन तीनो आलोचको की तुलनात्मक आलोचना मे कही-कही कटुता, व्यग्य, दोपारोपण, पक्षपात तथा तटस्थता और गम्भीरता का अभाव मिलता है। दीन जी ने पूर्ववर्त्ती टीका-पद्धति का भी निर्वाह किया है तथा इसमे अर्थ-विवेचन के अतिरिक्त पाठ-सशोधन के प्रयत्न भी किए है। इस प्रकार इन तीन कवियो के द्वारा तुलना तथा निर्णय के आधार पर कवियो का मूल्याकन हुआ। किन्तु इनकी आलोचना मे तुलना के निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक प्रयोग के स्थान पर प्राय अपने पक्ष के समर्थन पर ही अधिक जोर दिया जाता रहा।

दीनजी ने जिस प्रकार से भूमिकाओ के रूप मे आलोचनाए लिखी थी, उसी प्रकार शुक्ल जी ने भी लिखी, किन्तु इनकी आलोचना-पद्धति का स्तर दीन जी से ऊचा है। शुक्ल जी ने अपने पूर्ववर्ती आलोचको की भाति केवल परम्परागत शास्त्रीय मानदण्डो को ही अपनी आलोचना का आधार नही वनाया। यह हिन्दी के पहले आलोचक है, जिनकी व्यावहारिक आलोचना हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर आधारित है। इन्होने अपने प्रमुख मानदण्डो का, तुलसी के रचनात्मक-साहित्य के आधार पर स्वय निर्माण किया है तथा उनके आधार पर ही हिन्दी के कवियो का निरीक्षण तथा परीक्षण किया है। इनकी

आलोचना के मानदण्ड लोकादर्शवाद, प्रबन्ध-काव्य की श्रेष्ठता, नैतिकता, रसात्मकता की ऊची-नीची भूमि, आदर्शात्मक-बुद्धिवाद आदि है। इन्होने एक कवि के साहित्य के आधार पर निर्मित मानदण्डो का ही अन्य सभी कवियो पर प्रयोग किया है। इससे इनकी आलोचना मे कही-कही एक प्रकार की एकागिता, एकरूपता तथा निजी विचारो की छाप आ गई है। इन्होने पहली बार हिन्दी आलोचना को व्यक्तिगत रुचि, निरीक्षण तथा परीक्षण की सकुचित सीमा से बाहर निकाल कर व्यापक सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इनकी आलोचना परिचयात्मक, प्रशसात्मक तथा गुण-दोष-विवेचन की शैली से ऊपर उठकर समृद्ध विश्लेषण, विवेचन, तर्क तथा गम्भीर विचारो से पूर्ण है। इसमे निर्णय की अपेक्षा व्याख्या का आधार विशेष रूप मे लिया गया है। अपने निर्मित मानदण्डो के अतिरिक्त इन्होने प्रमुख भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो का भी आधार ग्रहण किया है। इनका मूल्याकन विशेप निरीक्षण तथा परीक्षण के आधार पर प्रतिष्ठित है। शुक्ल जी ने प्राय प्राचीन साहित्य का ही विशेष परीक्षण किया है। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिविधियो का गम्भीर परीक्षण तथा विवेचन नही कर सके। उन्होने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से पहली बार हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना का स्तर अभूतपूर्व ऊचाई तक उठाया। उन्होने साहस के साथ नई परम्पराए स्थापित की तथा परिचयात्मक और प्रशसात्मक आलोचना के स्थान पर गम्भीर व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात किया।

शुक्ल जी की अपेक्षा श्यामसुन्दर दास जी की शैली मे शिक्षक, प्रचारक, शोध-कर्ता तथा व्याख्याता के तत्त्व अधिक है। इनकी आलोचना के मानदण्ड शुक्ल जी की भाति रचनात्मक-साहित्य पर निर्मित नही है। इन्होने भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तो के समन्वित रूप को अपनी आलोचना का आधार बनाया है। यह किसी काव्य का स्थायी तथा अमर साहित्य के मानदण्डो के अतिरिक्त किसी काल-विशेप की परिस्थितियो तथा मानदण्डो के आधार पर भी अध्ययन करते है। इन्ही की भाति गुलावराय भी अध्यापक-आलोचक है तथा उनके मानदण्ड भी पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य के सिद्धान्तो से समन्वित तथा तत्कालीन आदर्शो के अनुरूप है। इनमे भी साहस के साथ नवीन स्थापनाए करने का प्राय अभाव है तथा मूल्याकन मे नैतिकता के आधार को ग्रहण करने की प्रवृत्ति है।

शुक्ल जी की शैली के समर्थको तथा अनुयायियो मे विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का स्थान विशेप महत्त्व का है। इनकी व्यावहारिक-आलोचना पर पाश्चात्य-साहित्या-लोचन की अपेक्षा भारतीय सिद्धान्तो का विशेप प्रभाव है। पुरातन आदर्शो तथा तथ्यो को इन्होने विशेप रूप मे नवीन दृष्टिकोण से अपनाया है। इनके द्वारा टीका-पद्धति तथा पाठ-सशोधन की शैली का विशेप विकास हुआ है। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की भाति वर्शी जी भी सम्पादक आलोचक है, जिनके मानदण्ड प्राय पाश्चात्य है। इनकी व्याव-हारिक आलोचना मे गहराई की अपेक्षा प्रसार अधिक है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के परीक्षण के क्षेत्र मे विशेप कार्य करने का श्रेय प० नन्ददुलारे वाजपेयी को है। वे आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम प्रौढ आलोचक है।

उनके मानदण्ड शुक्ल जी की भाति निश्चित न होकर प्रत्येक कवि, लेखक तथा ग्रन्थ के साथ परिवर्तित होते रहे हैं। इन्होने जीवन के वैचित्र्य और बहुरूपता, लोकादर्शों की ऐतिहासिक प्रगति और परिवर्तन तथा काव्य के स्वरूप के नवीन-विकास तथा विन्यास का अध्ययन करके अपनी व्यावहारिक आलोचना को निजी तथा विशिष्ट-स्वरूप प्रदान किया है। ये हिन्दी के प्रथम आलोचक है, जिन्होंने साहित्य की आलोचना मे सामयिक प्रेरणाओं के अध्ययन तथा रचनाकार की मानसिक प्रक्रियाओं की ओर विशेष ध्यान दिया है। ये किसी रचना को आलोचना के चिरन्तन तथा स्थायी मानो के आधार पर देखने की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व, निजता, प्रमुख-आकृति, तारतम्य के आधार पर देखते है। वाजपेयी जी छायावादी-काव्य के प्रमुख तथा प्रौढ व्याख्याता है। इन्होने हिन्दी की व्याख्यात्मक आलोचना को शुक्ल जी के द्वारा प्रदत्त विशिष्ट तथा सीमित मानदण्डों की अपेक्षा व्यापक, परिवर्तनशील तथा स्वतन्त्र आधार प्रदान किए।

छायावादी काव्य के दूसरे आलोचक शान्तिप्रिय द्विवेदी है। इनकी आलोचना मे तर्क, दर्शन, परम्परा, सामूहिकता के स्थान पर वैयक्तिकता, सहृदयता, भावुकता तथा भावावेश है। इनके आलोचनात्मक निबन्धो मे बौद्धिकता तथा भाव-प्रवणता का सुन्दर सयोग है। डा० जगन्नाथप्रसाद ने साहित्य के गद्य तथा नाटक नामक दो विशिष्ट अगो पर गम्भीर तथा वैज्ञानिक आलोचनाए लिखी है। इन दोनो क्षेत्रों मे इनका विशेष स्थान है। इनकी आलोचना भी विशिष्ट भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्डो के आधार पर खडी है। डा० रामकुमार की व्यावहारिक आलोचना विशेष गवेषणा तथा शोधपूर्ण है।

डा० सत्येन्द्र की शैली ऐतिहासिक है तथा इन्होंने प्राय पाश्चात्य-साहित्यालोचन का आधार लिया है। इलाचन्द्र जोशी की आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव विशेष रूप मे पडा है। इन्होंने साहित्य की आलोचना नीतिवादी की अपेक्षा आनन्दवादी दृष्टिकोण मे की है। गगाप्रसाद पाडेय ने भी केवल आधुनिक साहित्य की आलोचना की है। डा० नगेन्द्र की आलोचना का क्षेत्र भी आधुनिक साहित्य है। उनकी आलोचना मे भी सिद्धान्तों का शुष्क प्रयोग नही है, वरन् आलोच्य वस्तु के अन्तरग तक जाने की प्रवृत्ति है। वे साहस के साथ नवीन मान्यताओ तथा निष्कर्षों को स्थापित करने की सामर्थ्य रखते है। उनमे न कोई 'वाद' या 'सिद्धान्त' का बन्धन है, न पूर्वाग्रह। उनकी शैली शुक्ल जी की शैली से स्वतन्त्र तथा निजी विशिष्टता-सम्पन्न है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सैद्धान्तिक आलोचना की अपेक्षा व्यावहारिक आलोचना तथा इतिहास के क्षेत्र मे विशेष कार्य किया है। इनका प्रादुर्भाव छायावाद के अन्तिम प्रहर मे होने पर भी इन्होने आधुनिक साहित्य की अपेक्षा मध्यकालीन साहित्य का विवेचन भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा के सदर्भ मे किया है। इनकी व्यावहारिक आलोचना व्याख्यात्मक है, जो ऐतिहासिक, जीवनचरितात्मक, मनोविश्लेपणात्मक तथा तुलनात्मक-शैलियो का आधार लेकर चलती है। हिन्दी के यह पहले प्रौढ आलोचक है, जो केवल मानदण्डो के आधार पर ही साहित्य को न परखकर उसे परम्परा से सम्बद्ध करके उसके महत्त्व का प्रतिपादन करते है।

इस प्रकार छायावादी काल के आलोचकों ने व्यावहारिक-आलोचना को अधिकाधिक प्रौढ़ तथा समृद्ध बनाया। इनकी आलोचना में पाश्चात्य साहित्यालोचन के नवीन सिद्धान्तों का अधिकाधिक प्रयोग होता रहा। अधिकांश आलोचकों ने पाश्चात्य तथा भारतीय सिद्धान्तों के समन्वित रूप को ही ग्रहण किया। हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर आलोचना को आधारित करने का जो कार्य शुक्ल जी ने किया था, उसकी प्रगति नहीं हो पाई, किन्तु आलोचना का विभिन्न दिशाओं में व्यापक प्रसार अवश्य हुआ। इस काल के आलोचक अपने व्यक्तित्व तथा युग दोनों के प्रभाव को लेकर चले हैं। प्रतिभाशाली आलोचकों ने युग के प्रभाव को ग्रहण करके भी अपनी मौलिक विशिष्टताओं का प्रतिपादन किया है।

छायावादी काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्य का विवेचन करने वाले आलोचकों के पश्चात् 'अज्ञेय' आदि प्रयोगवादियों ने नवीन सिद्धान्तों तथा प्रकाशचन्द, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि आलोचकों ने वर्ग-सिद्धान्त तथा प्रगतिशील भावना के आधार पर आधुनिक तथा प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन प्रारम्भ किया। किन्तु चिरन्तन साहित्य के मानदण्डों के आधार पर स्वतन्त्र आलोचना का मार्ग फिर भी अवरुद्ध नहीं हुआ।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अधिकांश लेखकों ने व्यावहारिक-आलोचना के दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं, एक तो किसी कवि अथवा लेखक के सम्पूर्ण साहित्य के विवेचन को लेकर चलने वाले तथा दूसरे किसी ग्रन्थ-विशेष की आलोचना से सम्बन्ध रखने वाले। इनके अतिरिक्त नाटककारों के नाटकों, उपन्यासकारों के उपन्यासों, कहानी लेखकों की कहानियों पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गए। इन पुस्तकों में कुछ लेखकों का आलोचनात्मक स्तर अन्य लेखकों से ऊंचा है। इस प्रकार आलोच्य-काल के अन्त में व्यावहारिक आलोचना का अधिकाधिक प्रसार हो रहा था, यद्यपि गहराई की आवश्यकता को भी अनुभव किया जा रहा था।

उपसंहार

आलोच्य-काल के पश्चात् भी हिन्दी आलोचना के सभी क्षेत्रों मे विशेष प्रगति होती रही है। आलोचना के स्वरूप का विवेचन पाश्चात्य साहित्यालोचन के नवीनतम सिद्धान्तो के आधार पर किया जाता रहा है। किन्तु प० नन्द दुलारे वाजपेयी, बलदेव उपाध्याय, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाब राय, डा० नगेन्द्र, प्रभृति आलोचको ने भारतीय साहित्यालोचन के विकास मे ही विशेष योग नही दिया है, वरन् उसके विकास की सम्भावनाओ तथा आवश्यकताओ पर भी जोर दिया है। डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र आदि विद्वानो ने हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य के आधार पर हिन्दी के आलोचना-शास्त्र के निर्माण की ओर ध्यान दिया है तथा उसकी सम्भावनाओ पर जोर दिया है।[1] किन्तु हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के आधार पर हिन्दी की निजी आलोचना का स्वत पूर्ण विवेचन अभी तक नही हुआ है। पाश्चात्य साहित्यालोचन के विवेचन के अन्तर्गत भी पाश्चात्य आलोचक अरस्तू, प्लेटो, मैथ्यू आर्नल्ड, इलियट आदि के काव्य-सिद्धान्तो का परिचयात्मक विवेचन इस काल मे होता रहा है।[2] पाश्चात्य साहित्यालोचन की प्रवृत्तियो के इतिहास को एक स्थान पर गम्भीरता के साथ भी प्रस्तुत किया गया है।[3] विभिन्न सम्प्रदायो पर भी लेखो के रूप मे प्रकाश डाला गया है, किन्तु यह प्रयत्न प्रारम्भिक मात्र ही है।[4] इनमे सस्कृत के सम्प्रदायो के विवेचन को प्रमुखता तथा हिन्दी साहित्य मे इनके विकास को गौण महत्त्व दिया जाता है। भूमिकाओ के रूप मे इन सम्प्रदायो के हिन्दी मे विकास तथा पाश्चात्य साहित्य मे तुलनात्मक विवेचन का कार्य डा० नगेन्द्र ने अपनी तीन पुस्तको 'काव्यालकार सूत्र वृत्ति', 'हिन्दी ध्वन्यालोक' तथा 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्' तथा बलदेव उपाध्याय ने भारतीय साहित्य-शास्त्र के दोनो भागो मे गम्भीरता से किया है। प्रत्येक सम्प्रदाय का सस्कृत तथा हिन्दी के आधार पर ऐतिहासिक-विकास-क्रम प्रस्तुत करके, उसकी पाश्चात्य-साहित्यालोचन से तुलना प्रस्तुत करने का कार्य अभी नही हुआ है।

इसी प्रकार आलोचना की परिभाषा, स्वरूप, प्रकार, उद्देश्य आदि विषयो का विवेचन अधिकाश मे पाश्चात्य-साहित्यालोचन के आधार पर होता रहा है। बाबू श्याम

---

१ देखिए आलोचना अक १४, पृ० १७–२६।

२ देखिए 'अवन्तिका', 'काव्यालोचनाक' (१९५४) पृ० २६३–२९४।

३ देखिए 'नया साहित्य, नए प्रश्न'—डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी (प्रथम प्रकाशन) पृ० ५८।

४ देखिए 'अवन्तिका' 'काव्यालोचनाक' (१९५४) पृ० १९, २५, ५५, ६४, ७०, १३५।

सुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' की ही परम्परा मे बाबू गुलाब राय की 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' पुस्तके प्रकाशित हुई। इनमें साहित्यालोचन के प्रत्येक विषय का पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो आधारो पर विवेचन हुआ है। इस काल मे आलोचना के प्रकारो का विवेचन पाश्चात्य-साहित्यालोचन के आधार पर हुआ है तथा उसका रूप अभी स्पष्ट नही हुआ है।

डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' मे हिन्दी मे समीक्षा की चार प्रमुख प्रवृत्तिया, शुक्ल पद्धति, सौष्ठववादी, मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणात्मक मानी है। इसके अतिरिक्त वे प्रभावाभिव्यजक, अभिव्यजनावादी, सौन्दर्यान्वेषी, चरितमूलक और ऐतिहासिक नामक अन्य गौण प्रवृत्तिया और मानते है, जो उनके विचार से या तो इन्ही के उपविभाग है या उनमें से किसी के प्रतिवादी रूप अथवा इनमे से किसी के साधन है।[1] मेरा मत है कि ये चारो प्रवृत्तिया, आलोचना की प्रवृत्तिया नही है। 'शुक्ल-पद्धति' आलोचना की कोई सामान्य प्रवृत्ति नही हो सकती। शुक्ल जी की आलोचना का एक विशेष स्वरूप और शैली है, जो हिन्दी के अन्य आलोचको से पूर्णतया भिन्न है। यह तो ठीक है कि इनकी आलोचना के स्वरूप, मानदण्ड, विचारधारा तथा शैली का अनुकरण अन्य आलोचको ने कुछ सीमा तक किया है, किन्तु वे पूर्णतया शुक्ल जी की आलोचना के स्वरूप को न तो ज्यों का त्यो अपना सके है और न ही उसका अपनाना सम्भव है। प्रत्येक आलोचक में अपनी निजी विशिष्टता होती है। यह बात प्राय इन आलोचको द्वारा भुला दी गई है। इसीलिए इस काल के कुछ आलोचको को आख मीचकर शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति के वर्ग मे सम्मिलित कर लिया जाता है। श्याम सुन्दर दास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, कृष्ण शकर शुक्ल, प० राम कृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' आदि आलोचक केवल शुक्ल-पद्धति के ही अन्तर्गत नही आ सकते जैसा डा० भगवत्स्वरूप मिश्र का विचार है।[2] इनकी निजी पद्धति भी हो सकती है। इस प्रकार यदि शुक्ल-पद्धति आलोचना की कोई प्रवृत्ति हो सकती है, तो अन्य किसी आलोचक की पद्धति भी आलोचना की कोई प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिए मेरा विचार है कि शुक्ल-पद्धति आलोचना की कोई प्रवृत्ति नही हो सकती।

इसी प्रकार से सौष्ठववादी प्रवृत्ति को सौष्ठववादी कहना भी युक्तियुक्त नही है। इसे छायावादी प्रवृत्ति कहा जा सकता है। छायावादी काव्य के जो सिद्धान्त है, वे ही इस समीक्षा के मानदण्ड है। इसलिए इसे छायावादी प्रवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त है। किन्तु वास्तव मे यह प्रवृत्ति भी नही कही जा सकती है। यह तो आलोचना के कतिपय सिद्धान्तो का एक विशिष्ट रूप मात्र है, जैसा प्रत्येक प्रकार के काव्य का हो सकता है। मेरा विचार है कि जैसे रीतिवादी, नव-रीतिवादी, इतिवृत्तात्मक, प्रगतिवादी काव्य के

---

१ देखिए 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास'—डा भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ६०२।

२ देखिए वही, पृ० ४२६।

पृथक्-पृथक् सिद्धान्त होते है, ऐसे ही छायावादी काव्य के भी है। इसलिए छायावादी या सौष्ठववादी-धारा काव्य की एक प्रवृत्ति या धारा मात्र है, जिसका व्यावहारिक आलोचना मे व्याख्या तथा निर्णय के लिए आधार लिया जाता है। यह आलोचना की कोई प्रवृत्ति नही है।

इसी प्रकार मार्क्सवादी आलोचना भी प्रवृत्ति न होकर एक समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिक वाद है, जिसका आधार व्यावहारिक आलोचना मे लिया जाता है। इस प्रकार के अन्य सिद्धान्त और वाद भी हो सकते है, जिनके आधार पर साहित्य को परखा जा सकता है, किन्तु ये वाद अथवा सिद्धान्त आलोचना की प्रवृत्तिया नही कहे जा सकते। इसी प्रकार अभिव्यंजनावादी, सौन्दर्यान्वेषी आदि भी काव्य के सिद्धान्त विशेष है, जिनका आधार व्यावहारिक आलोचना में लिया जाता है तथा आलोचना की प्रवृत्तिया नही है। मनोविश्लेषणात्मक, चरितमूलक और ऐतिहासिक आदि भी गौण प्रवृत्तिया न होकर व्यावहारिक आलोचना की शैलिया है, जिनके आधार पर आलोचना का व्यावहारिक रूप खडा होता है। ये व्याख्यात्मक आलोचना की शैलिया है। इसी प्रकार गुलाबराय जी ने मूल्य-सम्बन्धी आलोचना का एक पृथक् प्रकार माना है, जो वास्तव में एक प्रकार न होकर साहित्य का एक सिद्धान्त है, जिसका आधार व्यावहारिक-आलोचना मे लिया जाता है।[1] इस प्रकार आलोच्य-काल के पश्चात् भी आलोचना के प्रकारो के विवेचन में स्पष्टता के दर्शन नही होते। आलोचक काव्य की शैलियो तथा काव्य के सिद्धान्तो, वादो तथा प्रवृत्तियो को पृथक्-पृथक् नही ग्रहण करते। आलोचना के प्रकार तथा शैलिया, काव्य अथवा साहित्य के सिद्धान्तो, वादो तथा विचार-धाराओ से पृथक् वस्तु है।

आलोच्य-काल के पश्चात् भी भारतीय-सम्प्रदायों के विकास का क्रम अवरुद्ध नही हुआ है। वे नवीन ज्ञान, विज्ञान, दर्शन तथा साहित्य के आधार पर नवीन रूप में विकसित हो रहे है। इस काल के प्रमुख आलोचको ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किए है। अलकार-सम्प्रदाय के विवेचन मे अलकारो मे 'कल्पना' के स्थान का विवेचन, नवीन उपमानो का महत्त्व, प्रचलित तथा परम्परागत उपमानो की आवश्यकता, उपमान तथा प्रतीको का अन्तर तथा महत्त्व आदि विषयो का छायावादी तथा प्रयोगवादी लेखको द्वारा विवेचन चलता रहा है। इस दिशा मे आलोच्य-काल के पश्चात् कोई विशेष नवीनता परिलक्षित नही हुई है। पाश्चात्य-साहित्यालोचन का अधिकाधिक आधार ग्रहण किया जा रहा है। रीति (शैली) के सम्बन्ध मे भी आलोच्य-काल के पश्चात् डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, गुलाबराय, बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानो ने विशेष विवेचन प्रस्तुत किया है। भारतीय रीति-सम्प्रदाय के तत्त्वो का पाश्चात्य साहित्यालोचन शैली के तत्त्वो से गम्भीर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार गुणो का वर्णन भी विशेष विस्तार तथा गहराई से हुआ है। आलोच्य-काल में गुण तथा रस के सम्बन्ध का विवेचन गम्भीर रूप मे नही हो सका है, किन्तु आलोच्य-काल के पश्चात् गुणो की चित्त वृत्ति रूप मे

---

1 देखिए 'सिद्धान्त और अध्ययन' ले० गुलाबराय (स० २००३), पृ० २३९।

स्थापना, उनका द्रुति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति नामक मन स्थितियो के रूप मे निर्देश तथा उनके रस से कारण-कार्य, प्रयोजन-प्रयोज्य आदि सम्बन्धो का इस काल मे विश्लेषण विवेचन तथा विचार डा० नगेन्द्र द्वारा किया गया है ।[1] इसी प्रकार वक्रोक्तिवाद के विवेचन का विस्तार आलोच्य-काल के पश्चात् और भी समृद्ध हो गया है। शुक्ल जी तथा सुधाशु जी की भाति वक्रोक्तिवाद का क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद से विस्तार के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। डा० नगेन्द्र की 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' की भूमिका तथा रामनरेश वर्मा की 'काव्य मे वक्रोक्तिवाद तथा अभिव्यजना' पुस्तक विशेप महत्त्व की है।

काव्य के अन्तरग से सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रदायो मे रस का विवेचन आलोच्य-काल के पश्चात् भी मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि के आधार पर अधिकाधिक विस्तृत होता गया है। रस सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ पर शोध-कार्य, चिन्तन तथा मनन किया गया है। डा० छैल विहारी गुप्त राकेश ने रसास्वाद के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे नवीन विचार प्रस्तुत करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त को मनोविज्ञान के आधार पर मान्यता प्रदान नही की है।[2] उन्होने श्यामसुन्दर दास जी के विरुद्ध रस-सिद्धान्त के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान के अधिकाधिक आधार ग्रहण करने की आवश्यकता का अनुभव किया है।[3] इन्होने फीलिग, इमोशन, सेन्टीमेन्ट का तुलनात्मक विवेचन विस्तार से किया है। इसी प्रकार प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने रमास्वाद के सिद्धान्त का विकास किया है। वे रस के आस्वाद की कोई सीमा नही मानते । उन्होने रस-निष्पत्ति के विभिन्न मतो की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका विचार है कि उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, मुक्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद चारो मत क्रमश काव्य की प्रेपणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते है और इनमे से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढता है।[4] डा० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'रीति काल की भूमिका' मे मनोविज्ञान तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर रस-सम्बन्धी सभी समस्याओ का तर्क-

---

१ देखिए 'काव्यालकार सूत्र की वृत्ति'—ले० डा० नगेन्द्र पृ० ३०-८० ।

२ "आई हेव इवोल्व्ड एण्ड एलाबोरेटेड माई ओन थ्योरी ओन पोयीटिक रेलिश एण्ड हेव एक्सप्रेस्ड माई डिस्सेन्ट फ्रोम दी ट्रेडीशन आव् इन्डीयन पोयीटिक्स एट हन्ड्रेड अदर प्लेसेज ।" 'साईकोलोजिकल स्टडीज इन रस', प्रीफेस, पृ० ५ ।

३ देखिए 'साईकोलोजिकल स्टडीज इन रस' 'इण्ट्रोडक्शन' (सन् १९५०), लेखक डा० राकेश गुप्त, पृ० १ ।

४ "कवि कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य-प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षो की व्याख्या करने वाले ये मत, हमारी दृष्टि मे, काव्य की एक अत्यन्त आवश्यक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप मे उपस्थित किए गए है।" नया साहित्य नए प्रश्न—ले० नन्ददुलारे वाजपेयी, सन् १९५५ पृ० १२३ ।

पूर्ण तथा गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होने भी देशविदेश के पडितो के मतो का विवेचन तथा विश्लेषण करके साधारणीकरण की विभिन्न समस्याओ का विवेचन किया है। वे साधारणीकरण का कारण भाषा का भावमय प्रयोग मानते है, जो प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर है।[1] साधारणीकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि रचना के समय कवि और फिर अभिनय के समय नट अपने हृदय-स्थित रस का आस्वाद करते है तथा साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय मे वासना रूप से स्थित स्थायी भावो को जाग्रत कर रस दशा तक पहुचाने में अनिवार्य योग देता है।[2] वे सचारियो को मनोविकारो का पर्याय तथा स्थायी भावो की स्थिति को मौलिक मनोवेगो की स्थिति मानते है। ये भी मनोवेगो की सख्या निश्चित करना कठिन समझते है। इनका विचार है कि भारतीय साहित्यालोचन मे सचारियो का वर्णन और विवेचन अपूर्ण और सदोष है। राम दहिन मिश्र ने 'काव्य-दर्पण' मे विभाव, अनुभाव, सचारी तथा स्थायी भाव पर वैज्ञानिक रूप मे विस्तृत विवेचन किया है। उन्होने रस सम्बन्धी सभी समस्याओ पर अपने विचार प्रकट किए है। इन्होने रस-निष्पत्ति मे प्राचीन आचार्यो के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वानो के मतो का भी उल्लेख किया है तथा उनकी पारस्परिक तुलना प्रस्तुत की है।[3] इसी प्रकार इनके द्वारा प्रत्यक्षानुभूति, प्रातिभ-अनुभूति, काव्यानुभूति, सौन्दर्यानुभूति, रसानुभूति का पारस्परिक अध्ययन किया गया है। इन्होने साधारणीकरण के विभिन्न तत्त्व, मूलतत्त्व, उसके सम्बन्ध मे मतभेद तथा उसके कारणो का विवेचन भी किया है। इनका रस सम्बन्धी विवेचन मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य-साहित्यालोचन के आधार पर प्रतिष्ठित है किन्तु अधिकाश मे परिचयात्मक है। इस प्रकार आलोच्य-काल के पश्चात् भी रस-सम्बन्धी समस्याओ का अधिकाधिक गम्भीर विवेचन किया गया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के विकास मे योग देने वाली डा० नगेन्द्र की 'हिन्दी ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की भूमिका है, जिसमे ध्वनि-सिद्धान्त की सामान्य व्याख्या के अतिरिक्त ध्वनि का रस से सम्बन्ध, ध्वनि की व्यापकता, ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद, ध्वनि का मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा पाश्चात्य साहित्य मे ध्वनि के विकास आदि विषयो का गम्भीर विवेचन किया गया है। इस प्रकार आलोच्य-काल की भारतीय-साहित्यालोचन के विवेचन की धारा आलोच्य-काल के पश्चात् और भी पुष्ट होती जा रही है।

आलोच्य-काल के पश्चात् साहित्य का विवेचन भी पूर्ववत् चलता रहा। साहित्य के लक्ष्य तथा जीवन से उसके सम्बन्ध का विवेचन विशेष रूप मे किया गया। कविता का विवेचन गुलाबराय जी ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' मे तथा प० रामदहिन मिश्र ने 'काव्य-दर्पण' मे भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन के आधार पर किया है। इनके अतिरिक्त

---

१ देखिए 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता'—ले० डा० नगेन्द्र (सन् १९४९ ई०) पृ० ५२।

२ देखिए वही, पृ० ५९।

३. देखिए 'काव्य-दर्पण'—ले० प० रामदहिन मिश्र (सन् १९४७) पृ० १५५।

काव्य-सम्बन्धी अधिकाश विवेचन प्रयोगवादी तथा प्रगतिवादी आलोचको ने अपने-अपने दृष्टिकोणो से किया है। किन्तु काव्य के विभिन्न रूपो तथा वादो से पृथक् काव्य की विभिन्न समस्याओ तथा प्रक्रियाओ का मौलिक विवेचन अधिक नही हुआ है। पाश्चात्य साहित्य के विभिन्न वादो तथा सिद्धान्तो की व्याख्या भी चलती रही है।

आलोच्य-काल के पश्चात् भी उपन्यास तथा कहानी सम्बन्धी आलोचना का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। इसमे पाश्चात्य साहित्यालोचन के अतिरिक्त हिन्दी के रचनात्मक-साहित्य का भी अधिकाधिक आधार लेने के प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पडते है। इसी प्रकार नाट्यालोचन के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप का विशेष विकास हुआ है तथा नवीन स्थापनाए की गई है।[1] एकाकी नाटको की कला के सम्बन्ध मे विचार पूर्ववत् एकाकी नाटको के सग्रहो की भूमिकाओ मे प्रकट किए गए है।

इतिहास के क्षेत्र मे चतुरसेन शास्त्री का 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य' उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य मे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न कालो के साहित्य मे विभिन्न समस्याओ को नवीन दृष्टिकोणो से देखा है। इसमे प्राय प्रत्येक काव्य-धारा का एक-एक काल मे सीमित न करके यथासम्भव सभी कालो मे एक साथ अध्ययन किया है।

इस काल मे व्यावहारिक-आलोचना के क्षेत्र मे सबसे अधिक विस्तार हुआ है। नवीन तथा प्राचीन साहित्य के सभी अगो पर लेख, निबन्ध तथा पुस्तके अधिकाधिक सख्या मे लिखी जा रही हैं। आलोच्य-काल के आलोचको के अतिरिक्त प्रगतिवादी और प्रयोगवादी आलोचको ने अपने निजी सिद्धान्तो के आधार पर साहित्य का मूल्याकन किया है। अन्य भाषा के साहित्यो से तुलनात्मक अध्ययन भी हो रहा है। इस प्रकार हिन्दी आलोचना विशेष गति के साथ समृद्धि की ओर बढ रही है।

---

१ देखिए 'हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास डा० दशरथ ओझा (सन् १९५४) पृ० १–९।

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

अर्जुनदास केडिया	भारती भूषण, प्रथम स०, सम्वत् १९८७, काशी
अमृत राय	नई समीक्षा, सन् १९५० ई०
अम्बिकादत्त व्यास	गद्य काव्य मीमासा, सम्वत् १९९९
अयोध्यासिंह उपाध्याय	ठेठ हिन्दी का ठाट, सम्वत् १९९९
	रस-कलश, स० तृतीय, सम्वत् २००८, बनारस
	हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, स० प्रथम, सन् १९३४ ई०
आनन्द कुमार	समाज और साहित्य, सन् १९३९ ई०
इलाचन्द्र जोशी	साहित्य सर्जना, मार्च १९४० ई०, प्रथम सस्करण
इलाचन्द जोशी, गगा प्रसाद पाडेय	साहित्य सतरण, सन् १९४३ ई०, प्रथम सस्करण
उदयभानु सिंह	महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, सम्वत् २००८
उदयशकर भट्ट	अभिनव एकाकी नाटक, सन् १९४० ई०
	स्त्री का हृदय, सन् १९४२
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (सम्पादक)	देवताओ की छाया मे, स० द्वितीय, सन् १९४९ ई०
	छ एकाकी, सन् १९३८ ई० प्र० बनारस
उमाशकर शुक्ल	नन्ददास, सन् १९४२ ई०
	कवित्तरत्नाकर, भूमिका (सन् १९३६)
उमेश मिश्र	विद्यापति ठाकुर, सन् १९३७ ई०, प्रयाग
एस०पी० खत्री, डा०	आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त, प्र० राजकमल प्रकाशन
कन्हैयालाल पोद्दार	काव्य-कल्पद्रुम, (रस-मजरी), प्रथम भाग, स० चतुर्थ, सम्वत्, १९९८, मथुरा
	काव्य-कल्पद्रुम, द्वितीय भाग, स० तृतीय, सम्वत् १९९३
	सस्कृत साहित्य का इतिहास, सन् १९२० ई०

करुणापति त्रिपाठी	शैली, सम्वत् १९९८, प्र० बनारस
कालिदास कपूर	साहित्य समीक्षा, सन् १९३३ ई०
किशोरी दास बाजपेयी	साहित्य मीमांसा, सन् १९२८ ई० प्र० आगरा
	साहित्य की उपक्रमणिका, सन् १९३२ ई० प्र० बम्बई
कुलपति, आचार्य	रस-रहस्य, सम्वत् १९९७, इलाहाबाद
कृष्णानन्द गुप्त	प्रसाद जी के दो नाटक, सन् १९३३ ई०
कृष्ण बिहारी मिश्र	देव और बिहारी, स० तृतीय, सम्वत् १९९४
	मतिराम-ग्रन्थावली, स० तृतीय, सन् १९५१ ई०
कृष्ण शंकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, स० तृतीय, सम्वत् १९९७
	केशव की काव्य कला, सन् १९३४ ई०
	कविवर रत्नाकर, सन् १९३५ ई०
	हमारे साहित्य की रूप रेखा, सन् १९३९ ई०
केशवदास	कविप्रिया, सम्वत् १९८६, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ
	रसिकप्रिया, सम्वत् १९९८, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ
केसरी नारायण शुक्ल, डा०	आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, सम्वत् २००८
	आधुनिक काव्य धारा, स० २०००
गंगानाथ झा	कवि रहस्य, सन् १९२९ ई०
गंगा प्रसाद अग्निहोत्री	समालोचना, सम्वत् १९९६
गंगा प्रसाद पाण्डेय	काव्य-कल्पना, सन् १९४१ ई०
	छायावाद और रहस्यवाद, सन् १९४१ ई०
	महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, स० प्रथम
	निबन्धनी, प्र० राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई।
	आधुनिक कथा साहित्य, स० २००१
गंगाप्रसाद अरोरा	हिन्दी के मुसलमान कवि, सन् १९२६ ई०, प्र० बनारस
	पद्माकर की काव्य-साधना, सन् १९३४ ई०, प्र० बनारस
गंगाप्रसाद श्रीवास्तव	हास्य-रस, सन् १९३४ ई०
गणेशप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य १९३१, प्र० इलाहाबाद
	हिन्दी के कवि और काव्य, सन् १९४१ ई० प्र० इलाहाबाद

गिरधारी लाल	कहानी—एक कला, सन् १९४१ ई०
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	महाकवि हरिऔध, सन् १९३४ ई० प्र० इलाहाबाद
	गुप्त जी की काव्य धारा, सन् १९३७ ई० प्र० इलाहाबाद
	हिन्दी की कहानी लेखिकाए तथा उनकी कहानिया, सन् १९३५ ई०
गुलाबराय	हिन्दी नाट्य विमर्श, सन् १९४२ ई०
	हिन्दी काव्य-विमर्श, स० २००९ तृतीय सस्करण, प्र० दिल्ली
	काव्य के रूप, सन् १९५० ई०
	सिद्धान्त और अध्ययन, सन् १९५१ ई०
	प्रसाद जी की कला, सन् १९३८ ई० प्र० आगरा
	हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, सन् १९३८ ई०
	नवरस, सन् १९३४ ई०
गोपाल लाल खन्ना	काव्य-कला, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
	भारतेन्दु जी की भाषा शैली, सन् १९३१ ई०, बनारस
गोविन्ददास	नाट्य कला मीमासा, सम्वत् १९९२, प्रकाशक महाकौशल, साहित्य-मन्दिर
	सप्तरश्मि, सन् १९४१ ई०, प्र० इलाहाबाद
चतुरसेन शास्त्री, आचार्य	हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, सन् १९४६ ई०
चन्द्र शेखर पाण्डय	रामायण के हास्य स्थल, सन् १९३९ ई०
चिन्तामणि त्रिपाठी	कविकुल कल्पतरु, सन् १८५७ ई० नवल किशोर प्रेस, लखनऊ
	शृगार मजरी
जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'	कविवर बिहारी, समालोचनादर्श, स० १९९६
जगन्नाथ, पडितराज	हिन्दी रसगगाधर, सन् १९३० ई०, इलाहाबाद
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	तुलसीदास, सन् १९३५ ई०
जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	काव्य-प्रभाकर, सम्वत् १९६६
जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डा०	हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पचमावृत्ति, सम्वत् २००६, प्र० इलाहाबाद
	प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन, सन् १९४९ ई०
	हिन्दी गद्य के युग निर्माता, प्रथम सस्करण, सन् १९५० ई०

जनार्दन प्रसाद झा द्विज एम० ए०	'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' प्र० काशी सन् १९४९ ई०, तृतीय संस्करण
जनार्दन स्वरूप अग्रवाल	हिन्दी मे निबन्ध साहित्य, स० प्रथम, सम्वत् २००२
जयशकर प्रसाद	काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, सम्वत् १९८६
जसवन्त सिंह	भाषा भूषण, सन् १८८६, प्र० बनारस
जैनेन्द्र कुमार जैन	साहित्य शिक्षा, सन् १९४३ ई०
ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'	नवयग काव्य-विमर्श, सन् १९३८ ई०, प्र० लखनऊ
	स्त्री कवि कौमुदी, सन् १९३० ई०, प्र० इलाहाबाद
त्रिलोकी नारायण दीक्षित	आधुनिक हिन्दी मे आलोचना साहित्य
दशरथ ओझा, डा०	हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, सन् १९५४
दया शकर मिश्र	अयोध्यासिंह उपाध्याय की जीवनी, सन् १९२४ ई०, प्र० इलाहाबाद
दिनकर, रामधारी सिंह	मिट्टी और फूल, सन् १९४२ ई०
दूलह	कविकुल कण्ठाभरण, सन् १९३६ ई०, प्र० लखनऊ
देवदत्त	भाव-विलास, सन् १८९३, प्र० बनारस
	भवानी-विलास, सन् १९००
	रस-विलास, स० १९९३
	शृगार-विलासिनी, सम्पादक प० गोकुल चन्द्र दीक्षित 'चन्द्र', प्र० भरतपुर, सम्वत् १९९१
	काव्य-रसायन,
	प्रेमचन्द्रिका
देवराज, डा०	आधुनिक-समीक्षा, सन् १९५४, प्र० दिल्ली
	साहित्य-चिन्ता, सन् १९५०, प्र० दिल्ली
	छायावाद का पतन, सन् १९४८
	द्विवेदी अभिनन्दन ग्रथ (स० १९९०)
धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	गुप्त जी के काव्य की कारुण्य-धारा, सन् १९४१ ई०
धीरेन्द्र वर्मा, डा०	विचारधारा, सन् १९४१, प्र० इलाहाबाद
नगेन्द्र	विचार और अनुभूति, सन् १९४५ ई०
	सुमित्रानन्दन पत, सन् १९४० ई०
	साकेत, एक अध्ययन, स० प्रथम, सम्वत् १९९६
	हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, सम्वत् २०१२
	हिन्दी काव्यालकार सूत्र, सम्वत् २०११, प्र० दिल्ली
	हिन्दी ध्वन्यालोक, सन् १९५२ ई०, प्र० दिल्ली

नगेन्द्र	आधुनिक हिन्दी नाटक, सन् १९४० ई०, प्र० आगरा
	रीतिकाव्य की भूमिका, सन् १९४९ ई०
	आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य-प्रवृत्तिया, सन् १९५१
	आधुनिक हिन्दी साहित्य, सन् १९४६ ई०
नन्ददुलारे वाजपेयी	हिन्दी साहित्य-बीसवी शताब्दी, प्रथम सस्करण
	महाकवि सूरदास, सन् १९५२ ई०
	आधुनिक साहित्य, सम्वत् २००७
	सूर सुषमा, सम्वत् १९८९
	जय शकर प्रसाद, सम्वत् २००७
	नया साहित्य नए प्रश्न, सन् १९५५ ई०, प्र० विद्या मन्दिर, ब्रह्मनाल, बनारस
	सूर सदर्भ, सन् १९४१ ई०, प्र० इलाहाबाद
नलिनीमोहन सान्याल	समालोचनातत्त्व, सन् १९३६ ई०, प्र० इलाहाबाद
नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित	द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, सन् १९००
नाथूराम प्रेमी	साहित्य परिचय, सन १९५०
नाभादास	भक्तमाल, सन् १८९६, प्र० बम्बई
पद्मसिंह शर्मा	पद्म-पराग, सम्वत् १९८६
	विहारी की सतसई, सम्वत् १९७५, ज्ञान मण्डल, काशी
	मतिराम-ग्रन्थावली, स० तृतीय, सन् १९०१ ई०
	सतसई सहार, सम्वत् १९७५
पद्माकर	पद्माभरण, सम्वत् १९००
	जगद्विनोद, सम्वत् १९९५
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	विश्व साहित्य, स० तृतीय, स० २०१०
	हिन्दी साहित्य विमर्श, सन् १९२४ ई०
पीताम्बर दत्त बडथ्वाल	गोरखवानी, स० १९९९
	हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, स० २००७
पुरुषोत्तम लाल	आदर्श और यथार्थ, सन् १९३७ ई०, गीताधर्म प्रेस, वनारस
प्रकाशचन्द्र गुप्त	नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि, सन् १९४२
प्रताप नारायण सिंह	रस कुसुमाकर, स० १९९५
प्रभाकर माचवे	जैनेन्द्र के विचार, सन् १९३८ ई०
प्रभाकरेश्वर उपाध्याय	प्रेमघन सर्वस्व, सन् १९३९ ई०

प्रभात शास्त्री	(संकलन कर्त्ता) 'संचयन' प्र० साहित्यकार संघ, प्रयाग
प्रेमचन्द	साहित्य का उद्देश्य, सन् १९५४ ई०, प्र० संस्करण, प्र० इलाहाबाद
प्रेमनारायण टण्डन	प्रेमचन्द और ग्राम समस्या, सन् १९४१ ई०, प्र० आगरा
	द्विवेदी मीमांसा, सन् १९३९ ई०, प्र० इलाहाबाद
बलदेव उपाध्याय	हिन्दी साहित्य में निबन्ध, सन् १९८५ ई०, प्र० आगरा
बलदेवप्रसाद मिश्र	नाट्य-प्रबन्ध, सम्वत् १९६०
बलदेवप्रसाद मिश्र, डा०	तुलसी-दर्शन, सन् १९३९ ई०, प्र० इलाहाबाद
बाबूराम वित्थरिया	हिन्दी काव्य में नवरस, सन १९२७ ई०, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद
बिहारी लाल भट्ट	साहित्य सागर, द्वितीय तरंग
ब्रजरत्नदास	हिन्दी नाट्य साहित्य, सं० १९९५, प्र० बनारस
ब्रजरत्नदास सम्पादक	भारतेन्दु ग्रन्थावली, सम्वत् २००७, प्र० संस्करण
ब्रह्मदत्त शर्मा	हिन्दी साहित्य में निबन्ध, सन् १९४५ ई०, प्र० आगरा
भगवतशरण उपाध्याय	नूरजहां, सन् १९४१
भगवत्स्वरूप मिश्र, डा०	हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास, सन् १९५४ ई०
भगवती प्रसाद बाजपेयी	हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियां, सं० प्रथम, सम्वत् २००७
भगवान दीन	अलंकार मंजूषा, सं० पांचवां, सन् १९२७
	व्यंग्यार्थ मंजूषा, सन् १९२७
	सूर संग्रह, सम्वत् १९८६
	केशव कौमुदी
भगीरथ मिश्र, डा०	हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, सं० प्रथम, सम्वत् १९९३
भिखारी दास	काव्य-निर्णय, सं० १८९९, प्र० बनारस
	शृंगार निर्णय, १८९६, प्र० बाकीपुर
भीमसेन	हिन्दी नाटक साहित्य, सन् १९४२ ई०
भुवनेश्वर मिश्र माधव	मीरा की प्रेम साधना, सन् १९३४ ई०
	संत साहित्य, सं० १९९८, प्र० बाकीपुर
भूषण	शिवराज भूषण, सन् १९०८, प्र० बनारस
	भूषण-ग्रन्थावली, सम्वत् २००५, प्र० काशी

भोलानाथ, डा०	हिन्दी साहित्य, सन् १९५४ ई०, प्र० प्रयाग
भोलानाथ शर्मा	भरतमुनि कृत नाट्य-शास्त्र, सन् १९५४ ई०, प्र० कानपुर
महादेवी वर्मा	आधुनिक-कवि, सम्वत् १९९७
	यात्रा, सन् १९४० ई०, प्र० इलाहाबाद
महावीर प्रसाद द्विवेदी	कालिदास और उनकी कविता, सम्वत् १९९१
	आलोचनाजलि, सन् १९३२
	समालोचना-समुच्चय, सन् १९३० ई०
	रसज्ञरजन, सम्वत् १९७९
	विचार-विमर्श, सन् १९३१
	साहित्य-सदर्भ, सन् १९२८
	नाट्यशास्त्र, सन् १९२३
	हिन्दी कालिदास की आलोचना, सन् १९०१
	साहित्यसीकर, सन् १९३० ई०
	नैषध चरित चर्चा, स० १९९०
माताप्रसाद, डा०	हिन्दी पुस्तक साहित्य, सन् १९४२, १९४५
	तुलसी सदर्भ, सन् १९३५ ई०
	तुलसीदास, सन् १९४२ ई०, प्र० इलाहाबाद
मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, स० १९८३, प्र० लखनऊ
	मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, स० १९८४, प्र० लखनऊ
मुरारीदान	जसवन्त जसोभूषण, सम्वत् १८९२
मोतीलाल मेनारिया	डिंगल मे वीर रस, सन् १९४० ई०, प्र० इलाहाबाद
	राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा, स० प्रथम, सन् १९३९
रघुवीरसिंह	शेष स्मृतिया, स० प्रथम, सन् १९३९
रमाकान्त त्रिपाठी	हिन्दी गद्य मीमासा, सन १९३२ ई०
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	साहित्य, सन् १९२९, प्र० वम्बई
राजवहादुर लमगोडा	विश्वसाहित्य मे रामचरित मानस (हास्य रस), सन् १९४० ई०
राजेन्द्रसिंह 'गौड'	निवन्ध कला, सन् १९४४
रामकुमार वर्मा, डा०	साहित्य समालोचना, सन् १९४२
	चारुमित्रा, सन् १९४२
	पृथ्वीराज की आखे, सम्वत् २००८

रामकुमार वर्मा, डा०	कबीर का रहस्यवाद, सन् १९३१
	कबीर पदावली की भूमिका, सन् १९३७, स० प्रथम
	आधुनिक कवि, भाग ३
	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सन् १९३८, प्र० इलाहाबाद
	आठ एकाकी नाटक, सन् १९४२
	रेशमी टाई, सन् १९४१ ई०
राम कृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	आधुनिक हिन्दी कहानिया, स० प्रथम, सन १९३१ ई०
राम कृष्ण शुक्ल	प्रसाद की नाट्य-कला, सन् १९२९, प्र० मुरादाबाद
	आधुनिक हिन्दी कहानिया, सन् १९३१ ई०, प्र० मुरादाबाद
	आलोचना समुच्चय, सन् १९३९ ई०, प्र० लाहौर
रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि (प्रथम भाग), सन् १९३९
	चिन्तामणि (दूसरा भाग), सम्वत् २००२
	गोस्वामी तुलसीदास, सन् १९४०
	भ्रमरगीतसार, सम्वत् १९८८
	काव्य मे रहस्यवाद, सम्वत् १९८६, प्रथम सस्करण
	जायसी-ग्रन्थावली, सम्वत् २००६
	हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्वत् १९९९
रामनरेश त्रिपाठी	तुलसीदास और उनकी कविता, सन् १९३८
	कविता कौमुदी, भाग १, सन १९१८
	कविता कोमदी, भाग ३, सन् १९२३
रामनाथ लाल 'सुमन'	नई कहानिया, सम्वत् १९९८
	कवि प्रसाद की काव्य-साधना, प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९३८
रामदहिन मिश्र	काव्यदर्पण, सन् १९४७
रामदीन पाण्डेय	काव्य की उपेक्षिता (यशोधरा), सन् १९४०, प्र० इलाहाबाद
रामचन्द्र तिवारी	हिन्दी का गद्य-साहित्य, सन् १९५५, प्र० गोरखपुर
रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'	साहित्यादर्श, स० प्रथम, प्र०, प्रयाग
रामलाल सिंह	समीक्षा दर्शन, प्र० प्रयाग, सन् १९५२
रामविलास, शर्मा डा०	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सन् १९५४
	भारतेन्दु युग, प्र० युग मन्दिर, उन्नाव
	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, प्र० आगरा, स० २०१२

रामविलास शर्मा, डा० — प्रगति और परम्परा, सन् १९४९, प्रथम संस्करण
प्रेमचन्द, सन् १९४१, प्र० बनारस

राम शकर शुक्ल 'रसाल' — अलंकार पीयूष, सन् १९२९, ३०, प्र० इलाहाबाद
आलोचनादर्श, सन् १९३८ ई०, प्र० इलाहाबाद
नाट्य-निर्णय, सन् १९३०, प्र० इलाहाबाद
हिन्दी साहित्य का इतिहास, सन् १९३१ ई०, प्र० इलाहाबाद
हिन्दी साहित्य परिचय, सन् १९३१, स० प्रथम, प्र० इलाहाबाद

राम चरण महेन्द्र, एम०ए० — हिन्दी एकाकी
हिन्दी एकाकी एव एकाकीकार, स० प्रथम, सन् १९५३, सरस्वती पुस्तक,
हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार, सन् १९५५, प्र० आगरा

राय कृष्ण दास — नई कहानिया, १९४१

राय कृष्ण दास तथा पद्म नारायण आचार्य — नई कहानिया, सम्वत् १९९८

लछिराम — रावणेश्वर कल्पतरु, सन् १८९३, भारत जीवन प्रेस

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० — आधुनिक हिन्दी साहित्य, सन् १९४१, प्र० इलाहाबाद
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, सन् १९५२, प्र० इलाहाबाद

लक्ष्मी नारायण 'सुधाशु' — जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, सन् १९४२
काव्य मे अभिव्यजनावाद, स० तृतीय, सम्वत् २००७

लक्ष्मी नारायण लाल, डा० — हिन्दी कहानियो की शिल्पविधि का विकास, प्र० स० सन् १९५३ ई०

ललित प्रसाद शुक्ल — हिन्दी के आलोचक, सन् १९५५ ई०

लीलाधर गुप्त — पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, सन् १९५२

विनय मोहन शर्मा — साहित्य कला, १९४०, प्र० लखनऊ

विनोद शकर व्यास — 'उपन्यास कला' सम्वत् १९९७
प्रसाद और उनका साहित्य, सन् १९४१

विनोद शकर व्यास तथा रामचन्द्र जैन — कहानी-कला, स० प्रथम, प्रकाशक, हिन्दी साहित्य कुटीर

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र — केशव की काव्य कला, सम्वत् १९९०, प्र० काशी
बिहारी की वाग्विभूति, सम्वत् १९९३

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वाङ्मय-विमर्श, सं० तृतीय, सम्वत् २०००
	घनानन्द कवित्त, सम्वत् १९९९
	पद्माकर पंचामृत, सम्वत् २०००, प्र० सरस्वती मन्दिर जतनवर, बनारस
	हिन्दी मे नाट्य-साहित्य का विकास, प्रथम संस्करण सं० १९८६
	भूषणग्रन्थावली, सन् १९३१, प्र० बनारस
वेद व्यास	हिन्दी नाट्यकला, सन् १९३७
व्योहार राजेन्द्र सिंह	आलोचना के सिद्धान्त, सन् १९५५, प्र० दिल्ली
शची रानी गुर्टू	हिन्दी के आलोचक, सन् १९५५, प्र० दिल्ली
शान्तिप्रिय द्विवेदी	कवि और काव्य, सन् १९३७ ई०
	युग और साहित्य, स० द्वितीय, सन् १९५०
	सामयिकी, सं० २००१, प्र० काशी
	साहित्यिकी, सन् १९३८
	हमारे साहित्य-निर्माता, १९३२
शिखरचन्द जैन	हिन्दी नाट्य-चिन्तन, सन् १९५१
	सूर—एक अध्ययन, सन् १९३८
	हिन्दी के प्रमुख तीन नाटककार, सन् १९४१
	प्रसाद का नाट्य-चिन्तन, सन् १९४१
शिवदान सिंह चौहान	प्रगतिवाद, सन् १९४६
	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, सन् १९५४
शिवदान सिंह चौहान तथा विजय चौहान	हिन्दी गद्य साहित्य, प्र० बम्बई
शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास, सम्वत् २००२, प्र० सरस्वती मंदिर
शिवनन्दन प्रसाद	हिन्दी साहित्य, प्रेरणाए और प्रवृत्तियां, सम्वत १९५५
शिवनाथ	हिन्दी नाटको का विकास, सन् १९५१
	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्वत् २०००
शिव सिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज, सम्वत् १९७८
श्यामल कान्त वर्मा	आधुनिक समीक्षा, सन् १९५५, प्र० बनारस
श्याम सुन्दर दास	हिन्दी भाषा और साहित्य, सम्वत् १९८७
	साहित्यालोचन, सम्वत् १९९९
	तुलसीदास, सन् १९४१ ई०
श्रीकृष्ण लाल, डा०	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, सन् १९४२, प्र० इलाहाबाद

श्रीपति शर्मा	कहानी-कला और प्रेमचन्द, सन् १९४८ ई०, प्र० सं०, प्र० काशी
सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' सम्पादक	तार-सप्तक, सं० प्रथम, सन् १९४३ ई०
	त्रिशंकु, सन् १९४५ ई०
	आधुनिक हिन्दी साहित्य, स० प्रथम, सन् १९४० ई०
सत्य प्रकाश 'मिलिन्द'	साहित्य परिचय, प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, सन् १९५० ई०
सत्येन्द्र	प्रेमचन्द, उनकी कहानी कला, सं० प्रथम, प्र० आगरा साहित्य की परख
सद्गुरु शरण अवस्थी	विचार-विमर्श, सन् १९४० ई०
	दो एकाकी नाटक, सम्वत् १९९७
	तुलसी के चार दल, सन् १९३५, प्र० इलाहाबाद
सत गोकुल चन्द्र शास्त्री	आधुनिक एकाकी
सीताराम जायसवाल	आधुनिक आलोचना और साहित्य, सन् १९५१ ई०
सीताराम चतुर्वेदी	अभिनव नाट्य-शास्त्र, सं० २००८
सुमित्रानन्दन पंत	पल्लव, सन् १९२६ ई०, प्र० सस्करण
	आधुनिक कवि, सम्वत् २००३
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	प्रबन्ध-पद्म, सम्वत् १९९१
	प्रबन्ध-प्रतिमा, सम्वत् १९९७
	परिमल, सन् १९३७
	गीतिका, सन् १९२६
सूर्यकान्त, डा०	साहित्य मीमासा, सन् १९४१ ई०, प्र० लाहौर
	हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, सन् १९३१
	कविवर रत्नाकर, सन् १९३६ ई०, प्र० इलाहाबाद
सोमनाथ	हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास, संस्करण दूसरा, सन् १९४९ ई०
हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा०	हिन्दी साहित्य की भूमिका, सन् १९४० ई०
	सूर-साहित्य, सम्वत् १९९३
	हिन्दी साहित्य का आदिकाल, सन् १९०९
	विचार वितर्क
	कबीर, १९४२ ई०
	हिन्दी साहित्य, सन् १९५२ ई०, प्र० आगरा
हरिकृष्ण प्रेमी	मन्दिर, सन् १९४२ ई०

संस्कृत

अग्निपुराण	आनन्दाश्रम सस्करण, पूना
अभिनव गुप्त	ध्वन्यालोक-लोचन, काव्य-माला, सस्करण
अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द (स० १९०७), द्वितीयावृत्ति
आनन्द वर्धन	ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर व डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित सन् १९५२ ई०)
उद्भट	काव्यालकार
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवित, सम्पादित डा० नगेन्द्र, १९५५
जगन्नाथ, पंडितराज	रसगगाधर, सन् १९४७ ई०, स० षष्ठ, निर्णय सागर, मुद्रणालयकृत
जयदेव	चन्द्रालोक, सन् १९४५ ई०, सम्पादक नन्दकिशोर शर्मा
दण्डी	काव्यादर्श, सन् १९१०
धनजय	दशरूपक, स० २०११, प्र० बनारस तथा हिन्दी दशरूपक
बाण	हर्षचरित, सन् १९०९
भरत	नाट्य-शास्त्र, सन् १९५०, प्र० रोयल ऐशियाटिक सोसाइटी आव बगाल
भानुदत्त	रसतरगिणी, प्र० बनारस
भानुभट्ट	रसमजरी, सन् १९०४, प्र० बनारस
भामह	काव्यालकार, स० १९८५, प्र० बनारस
भोज	शृगार-प्रकाश
	सरस्वतीकण्ठाभरण, द्वितीय सस्करण
मम्मट	काव्यप्रकाश, स० २०००, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
महिम भट्ट	व्यक्ति विवेक, स० १९९३, प्र० बनारस
रुद्रट	काव्यालकार, निर्णय सागर प्रेस, स० १८८६
राज शेखर	काव्य मीमासा, प्र० राष्ट्र भाषा परिषद्
वाग्भट्ट	वाग्भट्टालकार, सन् १९४७
वामन	काव्यालकार, स० डा० नगेन्द्र, सन् १९५४ ई०
विद्यानन्द	प्रताप रुद्र यशोभूषण, प्र० सस्करण, सन् १९०९
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण, स० १९७८, प्र० लखनऊ
शेष कृष्ण	स्फोट तत्त्व निरूपण
श्राद्ध विवेक	
श्री शकर वर्मा आलोचना	

सूक्ति शुक्तावली
हेमचन्द — काव्यानुशासन, निर्णय सा०, प्रेस, सन् १९०१
क्षेमेन्द्र — औचित्य विचार चर्चा, सन् १९३३, हरिदास सस्कृत, ग्रन्थमाला, २४-२५-२५ काशी

अंग्रेजी

अरस्तू — र्‍हीटोरिक्स, सन १०३७ ई०
अमरनाथ झा — ऐन एन्थोलोजी ऑव् क्रिटीकल स्टेटमेन्ट्स, प्र० इलाहाबाद, सन् १९३१
आई० ए० रिचार्ड्स — प्रिंसिपल ऑव् लिटररी क्रिटीसिज्म, प्र० सन् १९२५, मु० १९५०
प्रेक्टीकल क्रिटीसिज्म, सन् १९५२ ई०
आर० ए० स्कोट जम्स — दी मेकिंग आव् लिटरेचर, सन् १९४८ ई०
इ० एम० फोर्सटर — आस्पेक्टस आव् दी नोविल, सन् १९१६, प्र० लन्दन
एबरक्राम्बी — प्रिंसिपल्स आव् लिटरेरी क्रिटीसिज्म, सन् १९४२ ई०
एडरडाइस निकोल — थ्योरी आव ड्रामा, प्र० १९३१ ई०, मु० १९३७
ए० सकरन, डा० — सम आस्पेक्टस आव् लिटरेरी क्रिटीसिज्म आर दी थ्योरी आव् रस एण्ड ध्वनि, सन् १९२९
एडविन म्यूर — दी स्ट्रक्चर आव् दी नोविल, सन् १९४६ ई०
एम०, कृष्णमाचारी — हिस्ट्री आव् क्लासिकल सस्कृत लिट्रेचर, सन् १९३७, प्र० मद्रास
एस० के० डे — स्टडीज इन दी हिस्ट्री आव् सस्कृत पोईटिक्स, सन् १९२५, प्र० लन्दन
एस० सी० वार्ड — इगलिश ड्रेमेटिक लिट्रेचर
आस्पेक्टस आव् दी मार्डन शोर्ट स्टोरी, सन् १९२४
एगले ड्यूक्स — ड्रामा, सन् १९३६
के — ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिटरेचर, सन् १९२०
केंजामिया — क्रिटीसिज्म इन दी मेकिंग, सन् १९२९
क्रोचे — एस्थेटिक्स
क्रोस, डब्ल्यू० आई० — माडर्न इगलिश नोविल, सन १९२८, प्र० लन्दन
कुप्पुस्वामी, म० म० — हाईवेज एण्ड बाइवेज आव् लिटरेरी क्रिटीसिज्म, सन् १९४५
ग्राउज — रामायण आव् तुलसीदास, भाग १, पचम सस्करण, सन् १८९१, प्र० कलकत्ता

ग्रियर्सन	माडर्न वरनाक्यलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान, सन् १९२९
गेली तथा कुट्ज	मैथड्स एण्ड मेटीरियल्स आव् लिटरेरी क्रिटीसिज्म, सन् १९१९
ज० टी० शिप्ले	दी क्वेस्ट फार लिटरेचर, सन् १९४५
टेन, एच०ए०	हिस्ट्री आव् इगलिश लिटरेचर, भाग प्रथम, सन् १८९२
डब्ल्यू० एल० फेल्प्स	एडवान्स आव् दी इगलिश नोविल
पर्सी ल्यब्रोक	दी क्रैफ्ट आव् फिक्शन, संशोधित स०, सन् १९५४
पी० वी० काने, म० म०	ए हिस्ट्री आव् संस्कृत पोयटिक्स, सन् १९२३
पेटर	एप्रीशीयेशन्स
फ्रेन्क एच० विजेटिली	एसेन्शियल्स आव् इगलिश स्पीच एंड लिटरेचर, सन् १९१५
भगवान दास, डा०	दी फिलोसोफी आव ऐस्थेटिक प्लेजर, सन् १९६९
	दी साइन्स आव् इमोशन्स
मैथ्यू आर्नल्ड	एसेज इन क्रिटीसिज्म, १९३५
मोल्टन, रिचार्ड, ग्रीन	दी माडर्न स्टडी आव् लिटरेचर, सन् १९१५
'राकेश' छैल विहारी गुप्त, डा०	साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस, सन् १९५०
राघवन, डा०	भोजस शृंगार-प्रकाश, भाग १, २, कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई
रैले	स्टाइल, सन् १९२३
लेम्बोर्न	रुडीमेन्ट्स आव् क्रिटीसिज्म, सन् १९२६
वर्ड्सवर्थ	प्रीफेस टू लिरीकल बेलेड्स, सन् १८१५
विण्टरनिट्ज	हिस्ट्री आव संस्कृत, सन् १९३३, प्र० कलकत्ता
वोर्सफोल्ड	जजमेण्ट इन लिटरेचर, प्रथम प्रकाशन, सन् १९००
	दी प्रिन्सीपल्स आव क्रिटीसिज्म, सन् १९२३, सु० १९३१
सर आशुतोष मुकर्जी	सिलवर जुबली वोल्यूम, तृतीय भाग
स्टोमेन हेनरी	एमेरिकन लिटरेचर, दी ट्वन्टीयथ सेन्चुअरी, सन् १९५१ ई०
स्पिन्गार्न	दी न्यू क्रिटीसिज्म,
सेन्टसबरी	ए हिस्ट्री आव इंगलिश क्रिटीसिज्म, सन् १९११
	लोसार्ड क्रिटकी, सन् १९३१
	इंगलिश नोविल, सन् १९३१ ई०
हडसन	एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आव् इगलिश लिटरेचर सन् १९४८

हर्वर्ट रीड — इगलिश प्रोज स्टाइल, सन् १९३४
ह्यू वालपोल — टेण्डेसी आव् दी इगलिश नोविल, सन् १९३६
ह्यू वाल्कर — दी इगलिश ऐसे एण्ड दी ऐसेइस्ट, मन् १९२८

कोश

अमर कोश निर्णय सागर, प्रेस, बम्बई, सन् १९२१
चेम्बर्स ट्वन्टीअथ सेन्च्युअरी डिक्शनरी
ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (सन १९४७) प्र० लन्दन (भाग १६, १७, २०, २८)
दी आक्सफोर्ड डिक्शनरी
दी सेन्च्युअरी डिक्शनरी, सन् १९०४, भाग ४, ५, ८, १०, ११, १४
डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेचर ले० शिपले, मन् १९४३
न्यू एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, सन् १९४७
वेबस्टर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी, सन् १९४५ भाग १, २ स० द्वितीय
मोनियर विलियम्स डिक्शनरी, सन् १९५१
शब्द कल्पद्रुम

पत्र-पत्रिकाएं

अवन्तिका (पटना) काव्यालोचनाक
आनन्द कादम्बिनी
आलोचना (त्रैमासिक, दिल्ली) आलोचना विशेषाक, अक्तूबर, सन् १९५३ ई०
कवि वचन सुधा, बनारस
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी
माधुरी, लखनऊ
सरस्वती, इलाहाबाद
समालोचना
साहित्य समालोचक
साहित्य सदेश, आगरा
हिन्दी अनुशीलन, इलाहाबाद
हिन्दी प्रदीप (हेमन्त अक), स० १९९०
हस, एकाकी-नाटक-अक, बनारस तथा स्पेक्टेटर